श्रीमद्भगवद्गीता हिंदी भक्ति काव्य

मूल संस्कृत श्रीमद्भगवद्गीता श्लोक अंतर्गत

(हिंदी भावार्थ एवं टीका सहित)

हिंदी काव्यान्तरण

डॉ यतेंद्र शर्मा

टीका आधार

परम पावन ब्रह्म स्वरूप स्वामी श्री रामसुखदास जी महाराज के प्रवचन

श्री राम कथा संस्थान, ऑस्ट्रेलिया – ६०२५

श्रीमद्भगवद्गीता हिंदी भक्ति काव्य

मूल संस्कृत श्रीमद्भगवद्गीता श्लोक अंतर्गत

(हिंदी भावार्थ एवं टीका सहित)

हिंदी काव्यान्तरण

डॉ यतेंद्र शर्मा

टीका आधार

परम पावन ब्रह्म स्वरूप स्वामी श्री रामसुखदास जी महाराज के प्रवचन

प्रकाशक

श्री राम कथा संस्थान पर्थ (पंजीकृत)

कार्यालय: ३५ मायना रिट्रीट, हिलरीज, पर्थ, ऑस्ट्रेलिया – ६०२५
वेबसाइट (Website): https://shriramkatha.org
ई-मेल (Email): srkperth@outlook.com

क्रमिका

अस्वीकरण..... 5
प्रार्थना..... 6
गुरु चरण वंदन..... 9
गणपति वंदन..... 10
माँ सरस्वती वंदन..... 11
श्री कृष्ण वंदन..... 12
श्रीमद्भगवद्गीता महात्म्य..... 15
श्रीमद्भगवद्गीता महात्म्य अनुसंधान..... 23
श्रीमद्भगवदगीता हिंदी भक्ति काव्य..... 37
अध्याय १: अर्जुनविषादयोग..... 37
अध्याय २: सांख्ययोग..... 71
अध्याय ३: कर्मयोग..... 122
अध्याय ४: ज्ञानकर्मसन्यासयोग..... 162
अध्याय ५: कर्मसन्यासयोग..... 213
अध्याय ६: आत्मसंयमयोग..... 259
अध्याय ७ : ज्ञानविज्ञानयोग..... 315
अध्याय ८: अक्षरब्रह्मयोग..... 365
अध्याय ९: राजविद्याराजगुह्ययोग..... 398
अध्याय १०: विभूतियोग..... 449
अध्याय ११: विश्वरूपदर्शनयोग..... 501
अध्याय १२: भक्तियोग..... 561
अध्याय १३: क्षेत्र-क्षेत्रज्ञविभागयोग..... 616

अध्याय १४: गुणत्रयविभागयोग..... 680
अध्याय १५: पुरुषोत्तमयोग 721
अध्याय १६: दैवासुरसम्पद्विभागयोग 775
अध्याय १७: श्रद्धात्रयविभागयोग..... 812
अध्याय १८: मोक्षसंन्यासयोग..... 838
आरती श्रीमद्भवद्गीता 953
कवि: डॉ यतेंद्र शर्मा 956

अस्वीकरण

इस काव्य पुस्तक की सामग्री जनहित एवं सामान्य ज्ञान के लिए प्रदान की गई है। हमारा तद्भाव पाठक को कोई परामर्श देने का नहीं है| इस काव्य पुस्तक की सामग्री किसी भी तरह से विशिष्ट परामर्श का विकल्प नहीं है| आपको इस ज्ञान के आधार पर कोई भी निर्णय लेने से पहले प्रासंगिक निपुण या विशेषज्ञ का परामर्श प्राप्त कर लेना चाहिए|

इस काव्य पुस्तक के रचयिता, प्रकाशक और उनका कोई प्रतिनिधि किसी भी विषय में इस काव्य पुस्तक से सम्बंधित कोई प्रत्याभूति नहीं लेते| इस काव्य पुस्तक का पठन-पाठन-गायन-श्रवण पाठक स्वयं के संज्ञान से दायित्व ले कर ही करें|

यद्यपि हमने इस काव्य पुस्तक में सटीक ज्ञान देने का पूर्ण प्रयास किया है, लेकिन किसी भी प्रकार कोई त्रुटि अथवा अकृता रह गई हो, तो उसके लिए रचयिता एवं प्रकाशक क्षमा प्रार्थी हैं और इसके परिणाम स्वरूप किसी विधि, सामाजिक, धार्मिक, इत्यादि का दायित्व नहीं लेते|

प्रार्थना

भगवान् श्री कृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में स्वयं कहा है कि जो मनुष्य श्रद्धा-युक्त और दोष-दृष्टि से रहित होकर श्रीमद्भगवद्गीता का पठन-श्रवण करेगा, वह सब पापों से मुक्त होकर उत्तम कर्म करने वाले श्रेष्ठ पुरुषों के समान शुभ लोकों को प्राप्त होगा| (१८-७१)| प्रभु यह भी कहते हैं कि जो मनुष्य मेरा यह कार्य करेगा (श्रीमद्भगवद्गीता के पठन-श्रवण का कार्य), उसके समान मुझे कोई प्रिय नहीं है, और उससे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई भविष्य में भी नहीं होगा |(१८-६९)|

इसका तात्पर्य है कि प्रभु ने अपने मुखारविंद से यह स्पष्ट कर दिया है कि कलियुग में भव- सागर से तरने का सब से सहज उपाय प्रभु का स्मरण करते हुए श्रीमद्भगवद्गीता का पठन-पाठन-गायन-श्रवण करना है| भगवान् श्री कृष्ण और महाभक्त श्री अर्जुन के मध्य हुए संवाद को इस श्रीमद्भगवद्गीता के रूप में महर्षि वेद व्यास जी ने बड़े ही सुन्दर ढंग से संस्कृत काव्य में रचा है| जन साधारण को संस्कृत ज्ञान की अनभिज्ञता एवं उसके पढ़ने में कठिनाई होने के कारण ब्रह्म स्वरूप गुरुदेव की ऐसी इच्छा थी कि इस अति पावन ग्रन्थ को सरल हिंदी काव्य में अनुवादित किया जाए ताकि जन साधारण के लिए इसका पठन-पाठन-गायन-श्रवण और इसका भावार्थ सरलता से समझ में आ जाए| मेरा सौभाग्य है कि उन्होंने मुझे इस कार्य हेतु समर्थ पाया और मुझे ऐसा करने का आदेश दिया|

मैं कोई प्राकृतिक कवि तो नहीं हूँ, लेकिन भगवद-भक्ति में प्रभु की काव्य द्वारा महिमा का गुण-गान करने का प्रयास अवश्य करता रहता हूँ| श्रीमद्भगवद्गीता को हिंदी काव्य में रचने के लिए मैंने अपना पूर्ण हृदय और आत्मा समर्पित कर दी है|

मैं आशा करता हूँ कि मेरा यह प्रयास पाठकों को अवश्य रुचिकर लगेगा| श्रीमद्भगवद्गीता को मैंने हिंदी काव्य सिद्धांत का अनुसरण करते हुए मूल संस्कृत ग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीता के श्लोकों का यथार्थ भावार्थ रखते हुए उन्हें छंद

रुप में प्रस्तुत करने का अथक प्रयास किया गया है| यहां यह शंका हो सकती है कि श्रीमद्भगवद्गीता का तो अनेक अति उच्च कोटि के महापुरुषों ने हिंदी एवं विश्व की कई भाषाओं में अनुवाद ही नहीं उस पर विस्तृत टीकाएँ की हैं, फिर इस महाकाव्य को हिंदी छंद में रचने की क्या आवश्यकता हो गई?

गुरुदेव की प्रेरणा से इसका समाधान सहज है| मूल संस्कृत में रचित श्रीमद्भगवद्गीता एक काव्य ग्रन्थ है जो महर्षि वेद व्यास जी ने संस्कृत भाषा में लिपिबद्ध किया है| प्रभु के समीप पहुँचने के लिए हृदय की पुकार आवश्यक है, और हृदय की पुकार भक्ति काव्य पठन-पाठन-गायन-श्रवण से ही होती है| तभी सनातन धर्म के ही नहीं अपितु सभी धर्मों के धर्म ग्रन्थ काव्य में ही रचित हैं| काव्य रूप में भक्ति ग्रन्थ के पठन-पाठन-गायन-श्रवण से हृदय में अति आनंद की अनुभूति होती है तथा वातावरण में विशेष तरंगें पैदा होती हैं जिससे मनुष्य की आत्मा की पुकार प्रभु के समीप तुरंत पहुँच जाती हैं| प्रभु प्रसन्न होते हैं तथा भक्त को अपने हृदय में वास देते हैं| इस लक्ष्य को मध्य रखते हुए इस महान मूल संस्कृत काव्य ग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीता का हिंदी काव्य छंद में अनुवाद किया गया है| हिंदी काव्य सिद्धांत के अनुसार छंद एक ऐसा काव्य रूप है जिसे किसी भी शास्त्रीय संगीत के राग में गाया जा सकता है| अतः मैंने इस महान ग्रन्थ को हिंदी काव्य के सिद्धांत के अनुसार छंद में रचने का प्रयास किया है|

इस हिंदी छंद काव्य का रचयिता, मैं, एक साधारण गृहस्थ प्राणी हूँ, कोई सनातन धर्म का गहन ज्ञानी नहीं| मुझ में इतनी सामर्थ्य नहीं कि मैं प्रभु के मुखारविंद से निकले हुए सर्वगुह्यतम वचनों पर कोई टीका टिप्पणी कर सकूं| हाँ, मेरा यह अत्यंत सौभाग्य अवश्य रहा है कि मैंने श्रीमद्भगवद्गीता का ज्ञान गुरुदेव की आज्ञा से परम पावन ब्रह्म स्वरूप स्वामी श्री रामसुखदास जी महाराज के प्रवचनों एवं उनकी पुस्तकों से प्राप्त किया है| संतों के मुख से सुना है कि स्वयं भगवान् श्री कृष्ण ने परम पावन ब्रह्म स्वरूप स्वामी श्री रामसुखदास जी महाराज के समक्ष प्रकट होकर श्रीमद्भगवद्गीता का ज्ञान उन्हें समझाया था जिसके फल स्वरुप उन्होंने इस महाकाव्य पर टीका की थी| अतः यहां टीका

के रूप में मैंने परम पावन ब्रह्म स्वरूप स्वामी श्री रामसुखदास जी महाराज के शब्दों को ही दुहराया है|

मेरा ऐसा मानना है कि यह हिंदी काव्य ग्रन्थ सभी के लिए अत्यंत उपयोगी सिद्ध होगा| इसके पठन-पाठन-गायन-श्रवण से प्रभु को प्रसन्न कर भक्त परमात्म-तत्व को प्राप्त करेंगे| इस हिंदी काव्य में भी मूल संस्कृत काव्य के अनुसार ७०० छंद हैं| अगर एक छंद का भी प्रति दिन गायन किया जाए, तो अवश्य ही प्रभु का आशीर्वाद प्राप्त होगा|

ॐ शांतिः शांतिः शांतिः|

डॉ यतेंद्र शर्मा,
श्री राम कथा संस्थान
३५ मायना रिट्रीट, हिलरीज़, पश्चिमी ऑस्ट्रेलिया -६०२५

गुरु चरण वंदन

चौपाई: हैं आधार जीवन गुरु चरन।
करें उन्हें हम शत शत नमन॥
हैं वही एकल सम हरि भव-तारन।
कृपा सों जिन हों दर्श भगवन॥
धर हृदय मम गुरुदेव चरन।
करूं प्रयास यह काव्य लेखन॥
खोलो गुरुवर मेरे बंद नयन।
हो सके दैव्य पूर्ण मेरा मन॥
हो न सके गुरु बिन अवबोधन।
बिन उन कृपा निष्फल जीवन॥
करें वह सफल मेरा यह मन्मन्।
करूं मैं करबद्ध उनसे निवेदन॥

भावार्थ: *जीवन के आधार गुरुदेव के चरणों को हम शत शत नमन करते हैं| केवल वही प्रभु के समान भव-सागर के तारणहार हैं| उन्हीं की कृपा से प्रभु के दर्शन होते हैं| गुरुदेव के चरणों को अपने हृदय में धारण कर मैं इस काव्य रचना का प्रयास कर रहा हूँ| वह मेरे बंद नेत्रों को खोलें (अज्ञानता दूर करें) और मेरा हृदय दिव्यता पूर्ण हो| गुरु के बिना जीवन में ज्ञान नहीं मिलता| उनकी कृपा के बिना जीवन निष्फल है| वह मेरा मनोरथ पूर्ण करें, यह मेरा उनसे करबद्ध निवेदन है|*

गणपति वंदन

चौपाई: जय जय जय श्री पार्वती नंदन |
करूँ मैं करबद्ध आपका वंदन ||
करो दूर प्रभु तम जो मेरे मन |
हो सके प्रकाश हमारे जीवन ||
हो तुम प्रथम पूज्य श्री भगवन |
मिले शुभ फल जब करें सुमरन ||
बहती सुख धारा भक्तों के मन |
करें वह जब आपका पूजन ||
करूं मैं ईश गणनायक वंदन |
दो आशीष मुझे हे दिव्य भगवन ||
कृपा सों आपकी सफल कल्पन |
हो सफल प्रयास यह काव्य रचन ||

***भावार्थ**: श्री पार्वती पुत्र आपकी जय हो, जय हो, जय हो| हम करबद्ध आपकी वन्दना करते हैं| मेरे हृदय के अन्धकार को दूर करो ताकि हमारे जीवन मैं प्रकाश हो सके | आप ही प्रथम पूज्य भगवान् हो| आपका स्मरण शुभ फलदायी है| जब आपका पूजन होता है तब भक्तों के हृदय में सुख की धारा बहती है| हे प्रभु गणपति, मैं आपका वन्दन करता हूँ| हे दिव्य देवता. मुझे आशीष दीजिए| आपकी कृपा से मेरे विचार सफल हों| मेरा यह काव्य रचना का प्रयास सफल हो|*

माँ सरस्वती वंदन

चौपाई: करूं मैं माँ विद्या देवी वंदन।
दो मैया हमें तुम ज्ञान पावन॥
हे माँ पद्माक्षी चन्द्रवदन।
तुम्हीं जननी धर्म सनातन॥
कीं तुम्हीं वेद पुराण रचन।
पड़े त्रिभुवन सब कमल सम चरन॥
हुईं सहायक तुम चतुरानन।
करें वह जब यह सृष्टि सृजन॥
खोया हूँ भव मीर आवर्तन।
तारो माँ हो धन्य मेरा जीवन॥
हों शुद्ध हमारे कर्म तन मन।
लिख सकें हम काव्य यह पावन॥

भावार्थ: *हे विद्या की देवी मैं आपका वंदन करता हूँ। माता, हमें पवित्र ज्ञान दीजिए। हे कमल के आसन पर सुशोभित गौर वर्ण माँ, आप ही सनातन धर्म की जननी हैं। आपने ही वेद पुराणों की रचना की है। तीनों लोक आपके कमल सम चरणों में पड़े हैं। जब ब्रह्मदेव सृष्टि का सृजन करते हैं, तब आप उनकी सहायता करती हैं। मैं भव-सागर की भंवर में खोया हुआ हूँ, माँ मुझे तारो, जिससे मेरा जीवन धन्य हो। हमारा कर्म, तन, मन शुद्ध हो। हम इस पवित्र काव्य की रचना कर सकें।*

श्री कृष्ण वंदन

चौपाई: हे वासी नंदगांव नन्द नंदन।
श्री राधा स्वामिन वृंदावन॥
रहें सदा पग तुम्हरे हमरे मन।
करूँ समर्पण मैं तन मन धन॥
हे कृष्ण गोविन्द हरि नारायन।
अच्युत वासुदेव श्री भगवन॥
हो रक्षक तुम सुता हव्यवाहन।
करो कृपा हरि हम दीन निर्धन॥
कियो वध तुम अनेक दुष्ट जन।
सम कंस रजक सृगल कालयवन॥
की भू मुक्त तुम अधर्म आचरन।
हो हेतु विश्व आनंदवर्धन॥
सुन्दर भाल चंद्र मुख भगवन।
है गति श्रेष्ठ सरस्वती वाहन॥
परमानन्दकन्द श्री नन्दनंदन।
रहे मन सदैव श्री भगवद भजन॥
दोहा: वर्ण श्याम भाल मोर मुकुट असुर मर्दन।
माखन चोर नटखट गोपाल हैं मन भावन॥ (१)

भावार्थ: *नन्द सुत नंदगाव वासी (कृष्ण) एवं वृंदावन स्वामिन श्री राधे के चरणों में सदैव हृदय रहे| मैं तन मन धन आपको समर्पित करता हूँ| हे भगवन कृष्ण, गोविन्द, नारायण, अच्युत, वासुदेव, आपने अग्नि-पुत्री (द्रौपदी) की रक्षा की| हम दीन निर्धनों पर (भी) कृपा करो| आपने कंस, रजक, सृगल, कालयवन जैसे अनेक दुष्ट प्राणियों का वध किया| पृथ्वी को अधर्म आचरण से मुक्त कर, आपने विश्व के आनंद को बढ़ाया | सुन्दर मस्तिष्क एवं चंद्र मुख वाले भगवान् जिनकी चाल हंस से भी श्रेष्ठ है, वह श्री कृष्ण परमानंद देने वाले हैं| मन सदा इन हरि का भजन करो| श्याम वर्ण, मस्तिष्क पर मोर मुकुट धारित, असुरों का विनाश करने वाले, माखन चोर गोपाल, मन को भाने वाले हैं|*

चौपाई: हो इष्ट तुम मीरा रसखान मन |
हो तुम्हीं भक्त सूरदास नयन ||
कियो तुम कालिया सर्प मर्दन |
बने सारथी अर्जुन तुम भगवन ||
किए तुम्हीं श्री गीता वादन |
दिए तुम ज्ञान भ्रमित अर्जुन ||
किए तुम नष्ट दम्भ दुर्योधन |
किए भू स्थापित तुम धर्म शासन ||
हो तुम्हीं प्रेम सब ही गोपिन |
हो तुम्हीं मित्रता उदाहरन ||
हो तुम तारक सुदामा निर्धन |
है शोभित हस्त चक्र सुदर्शन ||
जय जय रक्षक धर्म सत सनातन |
जय जय नाथ बिहारी त्रिभुवन ||
जय कृष्ण मुरारी नन्द नंदन |
बसो मनहर श्री हरि हमरे मन ||
दोहा: सर्वव्यापी जगदीश्वर हरि आधार भूजन |
करो स्वीकार नमन योगेश्वर राधारमन || (२)

भावार्थ: *मीरा के इष्ट, रसखान का हृदय, सूरदास के नेत्र आप ही हैं| कालिया सर्प का मर्दन करने वाले भगवान् अर्जुन के सारथी हैं| आपने ही गीता वादन कर भ्रमित अर्जुन को ज्ञान दिया| आपने दुर्योधन के अहंकार को नष्ट कर धर्म का शासन स्थापित किया| आप ही गोपियों के प्रेम हैं, मित्रता के उदाहरण हैं| निर्धन सुदामा के तारक हैं| आपके हाथों में सुदर्शन चक्र शोभित है| सत्य सनातन के रक्षक आपकी जय हो, जय हो| तीनों लोकों के स्वामी आपकी जय हो| नन्द सुत कृष्ण मुरारी आपकी जय हो| है मनोहर हरि हमारे हृदय में वास करो| पृथ्वी वासियों के आधार, सर्व-व्यापक जगत के ईश्वर, राधा रमण योगेश्वर हमारा नमन स्वीकार करो|*

श्रीमद्भगवद्गीता महात्म्य

धरोवाच
भगवन्परमेशान भक्तिरव्यभिचारिणी ।
प्रारब्धं भुज्यमानस्य कथं भवति हे प्रभो ।।१।।

धरोवाच
भोगते हुए प्रारब्ध कर्म नर इस भू श्री नारायन |
करें कैसे प्राप्त भक्ति एकनिष्ठ पूछीं माँ भुवन ||१||

भावार्थ: *माँ पृथ्वी ने पूछा, 'हे श्री विष्णु, इस पृथ्वी पर प्रारब्ध-कर्म को भोगते हुए मनुष्य को एकनिष्ठ भक्ति कैसे प्राप्त हो सकती है?'*

श्रीविष्णुरुवाच
प्रारब्धं भुज्यमानो हि गीताभ्यासरतः सदा ।
स मुक्तः स सुखी लोके कर्मणा नोपलिप्यते ।।२।।

श्रीविष्णुरुवाच
भोगता प्रारब्ध जो रहे आसक्त अभ्यास गीता जन |
हो वह मुक्त-लोक सुखी अकर्मी बोले विष्णु भगवन ||२||

भावार्थ: *विष्णु भगवान बोले, 'प्रारब्ध को भोगता हुआ जो मनुष्य गीता के अभ्यास में आसक्त रहता है, वह (भू) लोक में मुक्त और सुखी होता हुआ अकर्मी होता है (अर्थात कर्म में लेपायमान नहीं होता)।'*

महापापादिपापानि गीताध्यानं करोति चेत् ।
क्वचित्स्पर्शं न कुर्वन्ति नलिनीदलमम्बुवत् ।।३।।

नहीं करता स्पर्श जल जैसे पर्ण कमल सम भूजन |
नहीं करते स्पर्श अघ जो करे सदा गीता अध्ययन ||३||

भावार्थ: *कमल के पत्ते को जैसे जल स्पर्श नहीं करता उसी प्रकार जो मनुष्य गीता का सदैव अध्ययन करता है, उसे पाप कभी स्पर्श नहीं करते|*

गीतायाः पुस्तकं यत्र पाठः प्रवर्तते ।
तत्र सर्वाणि तीर्थानि प्रयागादीनि तत्र वै ।।४।।

है गीता जिस गृह स्थित और करते श्रवण-पठन |
समझो हैं स्थिति वहीं प्रयाग आदि तीर्थ पावन ||४||

भावार्थ: जिस गृह में गीता पुस्तक स्थित है, उनका श्रवण और पठन होता है, वहां समझो कि प्रयागादि पवित्र तीर्थ निवास करते हैं|

सर्वे देवाश्च ऋषयो योगिनः पन्नगाश्च ये ।
गोपालबालकृष्णोऽपि नारदध्रुवपार्षदैः ।।
सहायो जायते शीघ्रं यत्र गीता प्रवर्तते ।।५।।

करते वास महापुरुष जहां होता गीता अनुसरन |
सर्व देव ऋषि मुनि नाग बालगोपाल श्री कृश्न ||
नारद ध्रुव आदि सभी पार्षद हों सहायक तत्क्षन ||५||

भावार्थ: *जहां गीता प्रवर्तमान है, वहां सभी महापुरुष वास करते हैं| देव, ऋषि, मुनि, नाग, बाल गोपाल श्री कृष्ण, नारद, ध्रुव आदि सभी पार्षद तुरंत सहायक होते हैं|*

यत्रगीताविचारश्च पठनं पाठनं श्रुतम् ।
तत्राहं निश्चितं पृथ्वि निवसामि सदैव हि ।।६।।

हो जिस गृह गीता विमर्श पठन-पाठन और श्रवन |
समझो मेरा स्थाई निवास अवश्य उस गृह हे भुवन ||६||

भावार्थ: *हे पृथ्वी, जिस गृह में गीता का विचार, पठन, पाठन तथा श्रवण होता है, उस गृह में मेरा अवश्य ही स्थाई निवास समझो|*

गीताश्रयेऽहं तिष्ठामि गीता मे चोत्तमं गृहम् ।
गीताज्ञानमुपाश्रित्य त्रींल्लोकान्पालयाम्यहंम् ।।७।।

समझो जहां गीता वहीं मम आश्रय व् गृह पावन |
ले आश्रय ज्ञान गीता करता मैं त्रिलोक पालन ||७||

भावार्थ: *जहां गीता है वहीं मेरा आश्रय एवं पावन गृह है| गीता के ज्ञान का आश्रय लेकर मैं तीनों लोकों का पालन करता हूँ |*

गीता मे परमा विद्या ब्रह्मरूपा न संशयः ।
अर्धमात्राक्षरा नित्या स्वनिर्वाच्यपदात्मिका ।।८।।

है गीता अवर्णनीय छंद अर्धमात्राक्षर सनातन |
नित्य ब्रह्मरूपी परम श्रेष्ठ मेरी विद्या असंशयन ||८||

भावार्थ: *गीता अवर्णनीय छंद, अविनाशी, अर्धमात्राक्षर, सनातन, नित्य, ब्रह्मरूपिणी मेरी परम श्रेष्ठ विद्या है, इसमें सन्देह नहीं है|*

चिदानन्देन कृष्णेन प्रोक्ता स्वमुखतोऽर्जुनम् ।
वेदत्रयी परानन्दा तत्त्वार्थज्ञानसंयुता ।।९।।

पावन गीता है कथित स्व-मुख चिदानंद श्री कृश्न |
युक्त ज्ञान वेद तत्व रूप पदार्थ अति आनंददायन ||९||

भावार्थ: *पवित्र गीता चिदानन्द श्रीकृष्ण के स्व-मुख से कथित है| यह वेदों एवं पदार्थों के तत्व रूप ज्ञान से युक्त है, तथा आनंददायिनी है|*

योऽष्टादशजपो नित्यं नरो निश्चलमानसः ।
ज्ञानसिद्धिं स लभते ततो याति परं पदम् ।।१०।।

हो स्थिर मन करे जो नित्य गीता वर्ग अष्टदश पठन |
पा ज्ञानस्थ सिद्धि हो प्राप्त परम मेरी गति वह जन ||१०||

भावार्थ: *जो मनुष्य स्थिर मन से नित्य गीता के १८ अध्यायों का पठन करता है, वह ज्ञानी सिद्धि को प्राप्त कर मेरे परम पद को पा जाता है|*

पाठेऽसमर्थः संपूर्णे ततोऽर्धं पाठमाचरेत् ।
तदा गोदानजं पुण्यं लभते नात्र संशयः ।।११।।

यदि असमर्थ पठन सम्पूर्ण गीता करे अर्ध पठन |
निःसंदेह पाए पुण्य समान दान माँ गौ वह भूजन ||११||

भावार्थ: *संपूर्ण गीता पठन में यदि असमर्थ हो तो आधा पाठ करे| उस मनुष्य को गौ माता के दान से होने वाले पुण्य की प्राप्त होती है, इसमें सन्देह नहीं|*

त्रिभागं पठमानस्तु गंगास्नानफलं लभेत् ।
षडंशं जपमानस्तु सोमयागफलं लभेत् ।।१२।।

पाए फल गंगा स्नान करे यदि पाठ तृतीय अवयविन |
भोगे फल शुभ सोमयाग करे वह यदि खंड षट् पठन ||१२||

भावार्थ: *तीसरे भाग का पाठ करने से गंगा स्नान का फल प्राप्त करता है| छठवें भाग का यदि पाठ करे, तो शुभ सोमयाग का फल पाता है|*

एकाध्यायं तु यो नित्यं पठते भक्तिसंयुतः ।
रूद्रलोकमवाप्नोति गणो भूत्वा वसेच्चिरम ।।१३।।

पाए रूद्रलोक करे एक अध्याय नित्य श्रद्धा पठन |
करे निवास चिरकाल कैलाश वह बन शिव शंकर गन ||१३||

भावार्थ: *जो श्रद्धा से नित्य एक अध्याय का पाठ करता है, वह रुद्रलोक को प्राप्त होता है| शिवजी का गण बनकर चिरकाल तक वह कैलाश में निवास करता है|*

अध्याये श्लोकपादं वा नित्यं यः पठते नरः ।
स याति नरतां यावन्मन्वन्तरं वसुन्धरे ।।१४।।

करे प्राप्त मनुष्य योनि मन्वन्तर वह भूजन भुवन |
जो करे पठन नित्य एक श्लोक अथवा श्लोक चरन ||१४||

भावार्थ: *हे पृथ्वी, जो मनुष्य प्रति दिन एक श्लोक अथवा श्लोक के एक चरण का पाठ करता है, वह मन्वंतर तक मनुष्य योनि को प्राप्त करता है|*

गीताया श्लोकदशकं सप्त पंच चतुष्टयम् ।
द्वौ त्रीनेकं तदर्धं वा श्लोकानां यः पठेन्नरः ।।१५।।

दस सात पाँच चार तीन दो एक या अर्ध श्लोक पठन |
करे वास चंद्रलोक दस सहस्त्र वर्ष निःसंशय वह जन ||१५||

भावार्थ: *जो मनुष्य (गीता के) दस, सात, पाँच, चार, तीन, दो, एक या आधे श्लोक का पाठ करता है वह निःसंदेह दस हजार वर्ष तक चन्द्रलोक में वास करता है|*

चन्द्रलोकमवाप्नोति वर्षाणामयुतं ध्रुवम् ।
गीतापाठसमायुक्तो मृतो मानुषतां व्रजेत् ।।१६।।

करते पठन-श्रवण गीता हो जाए यदि मरण भक्तजन |
ले जन्म वह नर योनि नहीं जाए अधम योनि कदाचन ||१६||

भावार्थ: *गीता के पठन-श्रवण करते हुए यदि भक्त की मृत्यु हो जाती है, तो वह अधम योनियों (पशु आदि) में न जाकर मनुष्य योनि में जन्म लेता है|*

गीताभ्यासं पुनः कृत्वा लभते मुक्तिमुत्तमाम् ।
गीतेत्युच्चारसंयुक्तो म्रियमाणो गतिं लभेत् ।।१७।।

ले पुनर्जन्म जब योनि नई नर रहे स्मरण गीता पठन |
कर अभ्यास गायन गीता मरण पाए वह सद्गति पावन ||१७||

भावार्थ: *जब वह नर नई योनि में पुनर्जन्म लेता है, तो उसे (पूर्व जन्म का) गीता पठन स्मरण रहता है| वह गीता का गायन अभ्यास कर मरण पर पवित्र सद्गति (मोक्ष) की प्राप्ति करता है|*

गीतार्थश्रवणासक्तो महापापयुतोऽपि वा ।
वैकुण्ठं समवाप्नोति विष्णुना सह मोदते ।।१८।।

कर श्रवण गीता अनुसरण करे तत्व उसका जो जन |
हो भूरि पापी पर पा साकेत मरण रहे संग भगवन ||१८||

भावार्थ: *गीता का तत्व सुन कर जो प्राणी उसका अनुसरण करता है, वह महापापी हो, फिर भी मरण पर वैकुण्ठ को प्राप्त कर भगवान् के साथ रहता है|*

गीतार्थं ध्यायते नित्यं कृत्वा कर्माणि भूरिशः ।
जीवन्मुक्तः स विज्ञेयो देहांते परमं पदम् ।।१९।।

करे अनेक कर्म पर रहे सलंग्न विचार गीता तत्व जन |
समझो उसे जीवन-मुक्त पाए परमगति पश्चात मरन ||१९||

भावार्थ: *जो प्राणी अनेक कर्म करते हुए गीता के तत्व के विचार में सलंग्न रहता है, उसे जीवन-मुक्त समझो| मृत्यु के बाद वह परम पद को पाता है|*

गीतामाश्रित्य बहवो भूभुजो जनकादयः ।
निर्धूतकल्मषा लोके गीता यातः परं पदम् ।।२०।।

हुए अघहीन ले आश्रय गीता सम जनक आदि राजन |
हो यशस्वी भूलोक पाए वह परम गति पश्चात मरन ||२०||

भावार्थ: *गीता का आश्रय ले कर जनक आदि राजा पाप रहित होकर भूलोक में यशस्वी बने हैं, और मरण पश्चात परम पद को प्राप्त हुए हैं|*

गीतायाः पठनं कृत्वा माहात्म्यं नैव यः पठेत् ।
वृथा पाठो भवेत्तस्य श्रम एव ह्युदाहृतः ।।२१।।

नहीं करे पठन जो महात्म्य तद्पश्चात गीता पठन |
समझो उसे श्रम रूप निष्फल समझने में तत्व पावन ||२१||

भावार्थ: *गीता का पाठ करके जो महात्म्य का पाठ नहीं करता, वह पावन तत्व समझने में निष्फल रहता है| इसे श्रम रूप ही समझो|*

एतन्माहात्म्यसंयुक्तं गीताभ्यासं करोति यः ।
स तत्फलमवाप्नोति दुर्लभां गतिमाप्नुयात् ।।२२।।

करे अभ्यास पठन गीता सहित महात्म्य जो भूजन |
भोग फल शुभ इहलोक पाए दुर्लभ गति पश्चात मरन ||२२||

भावार्थ: *जो प्राणी महात्म्य सहित गीता का अभ्यास करता है वह इस लोक में शुभ फल भोगते हुए मरण पश्चात दुर्लभ गति (मोक्ष) पाता है|*

सूत उवाच
माहात्म्यमेतद् गीताया मया प्रोक्तं सनातनम् ।
गीतान्ते पठेद्यस्तु यदुक्तं तत्फलं लभेत् ।।२३।।

सूत उवाच
कहा मैंने महात्म्य गीता बोले संत सूत महात्मन |
पाए उपरि फल निश्चित करे जो पाठ गीता निगमन ||२३||

भावार्थ: *महात्मा सूत बोले, गीता का यह महात्म्य मैंने कहा है| गीता पाठ के अन्त में जो इसका पाठ करेगा उसे उपर्युक्त फल की अवश्य प्राप्ति होगी|*

इति श्री वाराहपुराणे श्रीमद्भगवद्गीतामहात्म्यं संपूर्णम् ।
वाराहपुराण में श्रीमद्भगवद्गीता महात्म्य संपूर्ण हुआ|

श्रीमद्भगवद्गीता महात्म्य अनुसंधान

शौनक उवाच
गीतायाश्चैव माहात्म्यं यथावत्सूत मे वद ।
पुराणमुनिना प्रोक्तं व्यासेन श्रुतिनोदितम् ।।१।।

शौनक उवाच
दो ज्ञान मुझे महात्म्य गीता हे संत सूत महात्मन ।
वर्णित श्रुति रचित महर्षि वेद व्यास कवि महन ।।
हूँ रोमांचित बोले ऋषि शौनक कर गीता स्मरन ।।१।।

भावार्थ: *ऋषि शौनक बोले, 'हे महात्मा संत सूत, श्रुति में वर्णित महान कवि महर्षि वेद व्यास द्वारा रचित गीता के महात्म्य का मुझे ज्ञान दीजिए। गीता का स्मरण कर मैं रोमांचित हूँ।'*

सूत उवाच
पृष्टं वै भवता यत्तन्महद् गोप्यं पुरातनम् ।
न केन शक्यते वक्तुं गीतामाहात्म्यमुत्तमम् ।।२।।

सूत उवाच
है अत्यंत गुह्य महात्म्य गीता बोले सूत महात्मन ।
नहीं समर्थ कोई कह सके महात्म्य उत्तम सनातन ।।२।।

भावार्थ: *महात्मा सूत बोले, 'गीता का महात्म्य अत्यंत गोपनीय है। इस उत्तम एवं सनातन महात्म्य को कोई कह सके, ऐसा समर्थ कोई नहीं है।'*

कृष्णो जानाति वै सम्यक् क्वचित्कौन्तेय एव च ।
व्यासो वा व्यासपुत्रो वा याज्ञवल्क्योऽथ मैथिलः ।।३।।

जानें भली भांति महात्म्य गीता श्री कृष्ण भगवन।
किंचित व्यास शुक याज्ञवल्क्य विदेह व् कुछ अर्जुन ॥३॥

भावार्थ: *गीता महात्म्य को भगवान् श्री कृष्ण भली भांति जानते हैं| अर्जुन कुछ और (महर्षि) व्यास, (महर्षि) शुकदेव, (महर्षि) याज्ञवल्क्य, जनक थोड़ा जानते हैं|*

अन्ये श्रवणतः श्रृत्वा लोके संकीर्तयन्ति च।
तस्मात्किंचिद्वदाम्यद्य व्यासस्यास्यान्मया श्रुतम् ।।४।।

सुन कर्णोपकर्ण करें सब मनुष्य भूलोक वर्णन।
सुनो आज जो सुना मैंने स्वयं व्यास मुख पावन ॥४॥

भावार्थ: *सब लोग कर्णोपकर्ण सुनकर भूलोक में वर्णन करते हैं| स्वयं (महर्षि) व्यास के पवित्र मुख से जो मैंने सुना, वह आज सुनो|*

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ।।५।।

करो कंठस्थ गीता कही जो विष्णु रूप कृष्ण भगवन।
नहीं लाभ अन्य ग्रन्थ जब वाणी लब्ध मुख पद्म पावन ॥५॥

भावार्थ: *विष्णु रूप भगवान कृष्ण ने जो गीता कही, उसे कण्ठस्थ करो| जब (भगवान् के) कमल रुपी मुख से निकली वाणी उपलब्ध है तब अन्य ग्रंथों का कोई लाभ नहीं (अर्थात अन्य ग्रंथों को कंठस्थ करने का कोई लाभ नहीं)|*

यस्माद्धर्ममयी गीता सर्वज्ञानप्रयोजिका।
सर्वशास्त्रमयी गीता तस्माद् गीता विशिष्यते ।।६।।

है गीता धर्ममय प्रयोजक सर्व ज्ञान हे महात्मन।
है सर्व शास्त्रमय समझो श्रेष्ठ मध्य सभी ग्रंथन ॥६॥

भावार्थ: *हे (सूत) महात्मन, गीता धर्ममय, सर्व ज्ञान की प्रयोजक तथा सर्व शास्त्रमय है| इसे सभी ग्रंथों में श्रेष्ठ समझो|*

संसारसागरं घोरं तर्तुमिच्छति यो जनः ।
गीतानावं समारूह्य पारं यातु सुखेन सः ।।७।।

चाहे करना पार भव विकट अवरोधक सागर जो जन |
चढ़े वह नौका रूप गीता तर भव पाए निर्मोचन ||७||

भावार्थ: *जो मनुष्य घोर अवरोधक संसार सागर को पार करना चाहता है, वह गीता रूपी नौका पर चढ़ जाए और मोक्ष की प्राप्ति करे|*

गीताशास्त्रमिदं पुण्यं यः पठेत् प्रयतः पुमान् ।
विष्णोः पदमवाप्नोति भयशोकादिवर्जितः ।।८।।

करे पठन सुहृदय श्रद्धा ग्रन्थ श्री गीता पावन |
हो रहित भय शोक आदि पाए परम गति विष्णु भगवन ||८||

भावार्थ: *पवित्र श्री गीता ग्रन्थ का मन एवं श्रद्धा से पठन करे| वह भय, शोक आदि से रहित होकर विष्णु भगवान् के परम पद को प्राप्त होता है|*

गीताज्ञानं श्रुतं नैव सदैवाभ्यासयोगतः ।
मोक्षमिच्छति मूढात्मा याति बालकहास्यताम् ।।९।।

नहीं सुना अभ्यास योग से ज्ञान गीता जो भूजन |
चाहे मोक्ष है वह मूढ़ बुद्धि-बाल विद्वषक मत्त जन ||९||

भावार्थ: *जिस प्राणी ने अभ्यास योग से गीता का ज्ञान नहीं सुना और मोक्ष की इच्छा रखता है, वह मूढ़, बालक-बुद्धि, मत्त एवं विद्वषक है|*

ये श्रृण्वन्ति पठन्त्येव गीताशास्त्रमहर्निशम् ।
न ते वै मानुषा ज्ञेया देवा एव न संशयः ।।१०।।

रात दिन करें जो सदा श्री गीता ग्रन्थ श्रवण-पठन |
समझो उन्हें निःसंशय देव नहीं वह सामान्य जन ||१०||

भावार्थ: *जो रात दिन सदा श्री गीता ग्रन्थ पढ़ते और सुनते हैं, उन्हें साधारण मनुष्य नहीं निःसंदेह देवता समझो|*

मलनिर्मोचनं पुंसां जलस्नानं दिने दिने ।
सकृद् गीताम्भसि स्नानं संसारमलनाशनम् ।।११।।

हो मैल दूर तन करें स्नान जल नित्य दिन भूजन |
किया स्नान गीता एकद हो दूर मैल भव असूयन ||११||

भावार्थ: *प्रति दिन जल से स्नान प्राणी के शरीर का मैल दूर करता है, गीता में एक बार किया स्नान संसार कष्ट रूपी मैल को दूर करता है|*

गीताशास्त्रस्य जानाति पठनं नैव पाठनम् ।
परस्मान्न श्रुतं ज्ञानं श्रद्धा न भावना ।।१२।।
स एव मानुषे लोके पुरुषो विड्वराहकः ।
यस्माद् गीतां न जानाति नाधमस्तत्परो जनः ।।१३।।

नहीं करता पठन-पाठन-श्रवण गीता स्वयं जो जन |
नहीं ज्ञान भाव-श्रद्धा प्रति इस महान ग्रन्थ पावन ||१२||
समझो है वह नर सम सूकर भटक रहा जो इस भुवन |
है नहीं नीच सम उस नर जो नहीं जानता गीता पावन ||१३||

भावार्थ: *जो मनुष्य स्वयं गीता का पठन, पाठन एवं श्रवण नहीं करता| इस महान पवित्र ग्रन्थ का जिसे ज्ञान नहीं है, श्रद्धा भाव नहीं है, उस प्राणी को भूलोक*

में भटकते हुए शूकर जैसा समझो| जो पवित्र गीता को नहीं जानता, उस प्राणी के समान नीच कोई नहीं है|

धिक् तस्य ज्ञानमाचारं व्रतं चेष्टां तपो यशः ।
गीतार्थपठनं नास्ति नाधमस्तत्परो जन ।।१४।।

है धिक्कार ज्ञान व्रत आचार चेष्टा तप यश उस जन |
है नहीं अधम उस सम अन्य जो करे नहीं गीता पठन ||१४||

भावार्थ: *उस प्राणी के ज्ञान, आचार, व्रत, चेष्टा, तप और यश को धिक्कार है, उस के समान अधम और कोई नहीं है जो गीता का पठन नहीं करता|*

गीतागीतं न यज्ज्ञानं तद्विद्धयासुरसंज्ञकम् ।
तन्मोघं धर्मरहितं वेदवेदान्तगर्हितम् ।।१५।।

है निन्दित ज्ञान वेद में जो नहीं दिया गीता भगवन |
समझो उसे निष्फल रहित-धर्म आसुरी अकर्मन ||१५||

भावार्थ: *जो ज्ञान भगवान् ने गीता में नहीं दिया वह वेद में निन्दित है| उस (प्रभु के द्वारा अकथित ज्ञान) को निष्फल, अधर्मी, आसुरी एवं अकर्मी समझो|*

योऽधीते सततं गीतां दिवारात्रौ यथार्थतः ।
स्वपन्गच्छन्वदंस्तिष्ठञ्छाश्वतं मोक्षमाप्नुयात् ।।१६।।

हर स्थिति दिन-रात सुप्त-जाग्रत चल-अचल जल्पन |
पाए मोक्ष करे जो गीता सहित-अर्थ सतत अध्ययन ||१६||

भावार्थ: *जो रात-दिन, सोते-जागते, चलते-बैठते, बोलते, हर स्थिति में गीता का यथार्थतः सतत अध्ययन करता है, वह मोक्ष को प्राप्त होता है|*

योगिस्थाने सिद्धपीठे शिष्टाग्रे सत्सभासु च ।
यज्ञे च विष्णुभक्ताग्रे पठन्याति परां गतिम् ।।१७।।

करे पठन गीता समक्ष योगी संत सिद्ध पुरुष महन |
यज्ञस्थली भक्त-भगवद पाए वह अवश्य निर्मोचन ||१७||

भावार्थ: *जो गीता का पठन योगी, संत, सिद्ध, श्रेष्ठ पुरुष, यज्ञस्थान, भगवद-भक्त के समक्ष करता है, उसे मोक्ष की प्राप्ति अवश्य होती है|*

गीतापाठं च श्रवणं यः करोति दिने दिने ।
क्रतवो वाजिमेधाद्याः कृतास्तेन सदक्षिणाः ।।१८।।

करे प्रति दिन पठन श्रवण गीता जो भक्तगण पावन |
पाए फल सम किए अश्वमेध यज्ञ सहित दान वह जन ||१८||

भावार्थ: *जो पवित्र भक्तगण गीता का पठन और श्रवण प्रति दिन करता है, उसे दान के साथ अश्वमेध यज्ञ करने के समान फल मिलता है|*

गीताऽधीता च येनापि भक्तिभावेन चेतसा ।
तेन वेदाश्च शास्त्राणि पुराणानि च सर्वशः ।।१९।।

जो करे एकाग्र मन से सहित भाव भक्ति गीता अध्ययन |
है पाया ज्ञान सर्व वेद शास्त्र पुराण आदि उस जन ||१९||

भावार्थ: *जो भक्ति भाव से एकाग्र चित्त होकर गीता का अध्ययन करता है, वह प्राणी सर्व वेद, शास्त्र तथा पुराण का ज्ञान पाता है|*

यः श्रृणोति च गीतार्थं कीर्तयेच्च स्वयं पुमान् ।
श्रावयेच्च परार्थं वै स प्र याति परं पदम् ।।२०।।

हेतु पर-उपकार करे स्वयं सहित-अर्थ गीता गायन |
पाए परम पद साकेत धाम निःसंशय यह सत्य वचन ||२०||

भावार्थ: *परोपकार हेतु जो स्वयं अर्थ सहित गीता का गायन करता है, उसे निःसंदेह परम पद साकेत धाम की प्राप्ति होती है, यह सत्य वचन है|*

नोपसर्पन्ति तत्रैव यत्र गीतार्चनं गृहे ।
तापत्रयोद्भवाः पीडा नैव व्याधिभयं तथा ।।२१।।

करते उत्पन्न त्रिताप सम दुःख कष्ट भय मध्य भूजन |
हों न व्याप्त यह अवगुण हो जिस गृह गीता पूजन ||२१||

भावार्थ: *त्रिताप (आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक) प्राणियों में दुःख, पीड़ा, भय उत्पन्न करते हैं| जिनके गृह में गीता का पूजन होता है, वहां यह अवगुण नहीं रहते|*

न शापो नैव पापं च दुर्गतिनं च किंचन ।
देहेऽरयः षडेते वै न बाधन्ते कदाचन ।।२२।।

नहीं लगे अघ श्राप और हो न कभी दुर्गति उस जन |
नहीं दें दुःख छह रिपु तन करे जो श्री गीता पूजन ||२२||

भावार्थ: *जो श्री गीता का पूजन करते हैं उन्हें शाप, पाप नहीं लगता और उनकी दुर्गति कभी नहीं होती| छह शत्रु (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर) उनकी देह को दुःख नहीं देते|*

भगवत्परमेशाने भक्तिरव्यभिचारिणी ।
जायते सततं तत्र यत्र गीताभिनन्दनम् ।।२३।।

होती उत्पन्न हृदय भक्ति एकनिष्ठ परमेश्वर भगवन |
जो करें नित्य निरंतर श्रीमद्भगवद्गीता अभिनन्दन ||२३||

भावार्थ: *जो नित्य निरन्तर श्रीमद्भगवद्गीता का अभिनंदन करते हैं, उनके हृदय में भगवान परमेश्वर की एकनिष्ठ भक्ति उत्पन्न होती है|*

स्नातो वा यदि वाऽस्नातः शुचिर्वा यदि वाऽशुचिः ।
विभूतिं विश्वरूपं च संस्मरन्सर्वदा शुचिः ।।२४।।

किया स्नान या नहीं हो पवित्र या अपवित्र भूजन |
है सदा पवित्र करे जो हरि-विभूति विश्वरूप स्मरन ||२४||

भावार्थ: *स्नान किया हो या न किया हो, पवित्र हो या अपवित्र हो, जो परमात्म-विभूति और विश्वरूप का स्मरण करता है, वह सदा पवित्र है|*

सर्वत्र प्रतिभोक्ता च प्रतिग्राही च सर्वशः ।
गीतापाठं प्रकुर्वाणो न लिप्येत कदाचन ।।२५।।

करे भोजन सर्वत्र और देता दान सर्व प्रकार जन |
नहीं होता लेपायमान कभी करे यदि गीता पठन ||२५||

भावार्थ: *प्राणी सब जगह भोजन करे और सर्व प्रकार का दान दे, यदि गीता का पाठ करता है तो वह कभी लेपायमान नहीं होता|*

यस्यान्तःकरणं नित्यं गीतायां रमते सदा ।
सर्वाग्निकः सदाजापी क्रियावान्स च पण्डितः ।।२६।।

रहे सदा श्रीमद्भगवद्गीता में जिसका चित्त रमन |
है वह सम्पूर्ण अग्निहोत्री तपी क्रियावान धिषन ||२६||

भावार्थ: *जिसका चित्त सदा गीता में ही रमण करता है, वह संपूर्ण अग्निहोत्री, सदा जप करने वाला, क्रियावान तथा पण्डित है|*

दर्शनीयः स धनवान्स योगी ज्ञानवानपि ।
स एव याज्ञिको ध्यानी सर्ववेदार्थदर्शकः ।।२७।।

है वह दर्शनीय धनवान योगी ज्ञानी ध्यानी जन |
समझे वह सर्व वेद सहित-अर्थ है अति प्राज्ञगन ||२७||

भावार्थ: *वह व्यक्ति दर्शनीय, धनवान, योगी, ज्ञानी, ध्यानी तथा सर्व वेद के अर्थ को जानने वाला अत्यंत बुद्धिमान है|*

गीतायाः पुस्तकं यत्र नित्यं पाठे प्रवर्तते ।
तत्र सर्वाणि तीर्थानि प्रयागादीनि भूतले ।।२८।।

हो जिस स्थान श्रीमद्भगवद्गीता ग्रन्थ नित्य पठन |
करें निवास सर्व तीर्थ सम प्रयागादि उस आंगन ||२८||

भावार्थ: *जिस स्थान पर श्रीमद्भगवद्गीता ग्रन्थ का नित्य पाठ होता है, उस स्थान पर प्रयागादि सर्व तीर्थ निवास करते हैं|*

निवसन्ति सदा गेहे देहेदेशे सदैव हि ।
सर्वे देवाश्च ऋषयो योगिनः पन्नगाश्च ये ।।२९।।

करते निवास देव ऋषि योगी सर्प सदैव उस आंगन |
होता जहां नित्य निरंतर गीता पठन पाठन श्रवन ||२९||

भावार्थ: *जहां नित्य निरंतर गीता पठन, पाठन एवं श्रवन होता है, उस स्थान पर देव, ऋषि, योगी, सर्प सदैव निवास करते हैं|*

गीता गंगा च गायत्री सीता सत्या सरस्वती ।
ब्रह्मविद्या ब्रह्मवल्ली त्रिसंध्या मुक्तगेहिनी ।।३०।।
अर्धमात्रा चिदानन्दा भवघ्नी भयनाशिनी ।
वेदत्रयी पराऽनन्ता तत्त्वार्थज्ञानमंजरी ।।३१।।
इत्येतानि जपेन्नित्यं नरो निश्चलमानसः ।
ज्ञानसिद्धिं लभेच्छीघ्रं तथान्ते परमं पदम् ।।३२।।

गीता गंगा गायत्री सीता सत्या सरस्वती पावन।
ब्रह्मविद्या ब्रह्मवल्ली त्रिसंध्या और मुक्तगेहिन ||३०||
अर्धमात्रा चिदानंदा भवघ्नी और भयनाशिन।
वेदत्रयी परा अनन्ता और तत्त्वार्थज्ञानमंजरिन ||३१||
करे स्मरण स्थिर मन जो अष्टादश नाम गीता पावन।
पा तुरंत ज्ञान सिद्धि पाए परम पद मरण वह भक्तगन ||३२||

भावार्थ: *पवित्र गीता, गंगा, गायत्री, सीता, सत्या, सरस्वती, ब्रह्मविद्या, ब्रह्मवल्ली, त्रिसंध्या, मुक्तगेहिनी, अर्धमात्रा, चिदानन्दा, भवघ्नी, भयनाशिनी, वेदत्रयी, परा, अनन्ता और तत्त्वार्थज्ञानमंजरी (तत्वरूपी अर्थ के ज्ञान का भंडार), इस प्रकार गीता के अठारह नामों का स्थिर मन से जो नित्य स्मरण करता है वह भक्त शीघ्र ज्ञान सिद्धि को पाकर मरण पश्चात परम पद को प्राप्त होता है|*

यद्यत्कर्म च सर्वत्र गीतापाठं करोति वै ।
तत्तत्कर्म च निर्दोषं कृत्वा पूर्णमवाप्नुयात् ।।३३।।

करते हुए कर्तव्य कर्म जो जन करता गीता पठन।
कर पूर्ण सर्व कर्म पाता वह निःसंदेह फल पावन ||३३||

भावार्थ: *जो मनुष्य कर्तव्य कर्म करते हुए गीता पठन करता है, वह निःसंदेह सब कर्म पूर्ण करते हुए उनका पवित्र (शुभ) फल प्राप्त करता है|*

पितृनुद्दश्य यः श्राद्धे गीतापाठं करोति वै ।
संतुष्टा पितरस्तस्य निरयाद्यान्ति सदगतिम् ।।३४।।

कर लक्ष्य पितर जो जन करे श्राद्ध काल गीता पठन |
हो संतुष्ट पितर पाते सद्गति हों मुक्त नर्क बाधन ||३४||

भावार्थ: *जो मनुष्य श्राद्ध काल में पितरों को लक्ष्य करके गीता का पाठ करता है, उसके पितृ सन्तुष्ट हो सद्गति पाते हैं तथा नर्क पीड़ा से मुक्ति पाते हैं|*

गीतापाठेन संतुष्टाः पितरः श्राद्धतर्पिताः ।
पितृलोकं प्रयान्त्येव पुत्राशीर्वादतत्पराः ।।३५।।

हो तृप्त श्राद्ध प्रसन्न पाठ जाते पितर पितृ-भुवन |
तत्पर निकलते तब उनके मुख शुभ आशीर्वचन ||३५||

भावार्थ: *(गीता) पाठ से प्रसन्न तथा श्राद्ध से तृप्त हुए पितृगण पितृलोक में जाते हैं| तत्पर होकर उनके मुख से उन (पुत्रों) के लिए शुभ आशीर्वचन निकलते हैं|*

लिखित्वा धारयेत्कण्ठे बाहुदण्डे च मस्तके ।
नश्यन्त्युपद्रवाः सर्वे विघ्नरूपाश्च दारूणाः ।।३६।।

करे जो लिखित गीता हस्त कंठ या मस्तक पर धारन |
हो जाते नष्ट सर्व विघ्न शोक अघ दुःख आदि उस जन ||३६||

भावार्थ: *जो मनुष्य लिखित गीता को गले में, हाथ में या मस्तक पर धारण करता है, उसके सर्व विघ्न, शोक, पाप, दुःख आदि नष्ट हो जाते हैं|*

देहं मानुषमाश्रित्य चातुर्वर्ण्ये तु भारते ।
न श्रृणोति पठत्येव तामृतस्वरूपिणीम् ।।३७।।

हस्तात्त्याक्तवाऽमृतं प्राप्तं कष्टात्क्वेडं समश्नुते ।
पीत्वा गीतामृतं लोके लब्ध्वा मोक्षं सुखी भवेत् ।।३८।।

पा नर देह मध्य चार वर्ण इस भरत खंड जो भूजन |
नहीं करता सोम स्वरूप श्री गीता का श्रवण पठन ||३७||
समझो पिए कटुक विष छोड़ सोम वह अभागा जन |
पाए मोक्ष हो सुखी करे जो जन गीता श्रवण-पठन ||३८||

भावार्थ: *इस भरत खण्ड में चार वर्णों में जो मनुष्य देह प्राप्त करके भी अमृत स्वरूप गीता का श्रवण या पठन नहीं करता है, वह अभागा अमृत छोड़कर कड़ुवे विष को पीता है, ऐसा समझो| जो मनुष्य गीता सुनता और पढ़ता है, वह मोक्ष प्राप्त कर सुखी होता है|*

जनैः संसारदुःखार्तैर्गीताज्ञानं च यैः श्रुतम् ।
संप्राप्तममृतं तैश्च गतास्ते सदनं हरेः ।।३९।।

पीड़ित दुःख लौकिक सुने ज्ञान गीता जो भूजन |
पी सोम पाए मोक्ष जाए मरण निःसंदेह लोक भगवन ||३९||

भावार्थ: *संसार के दुःखों से पीड़ित जिन मनुष्यों ने गीता का ज्ञान सुना है, उन्होंने अमृत पी लिया है| वह मोक्ष पाकर निःसंदेह मरण पश्चात श्री हरि के धाम को जाते हैं|*

गीतामाश्रित्य बहवो भूभुजो जनकादयः ।
निर्धूतकल्मषा लोके गतास्ते परमं पदम् ।।४०।।

हुए रहित-पाप बहु राजन सम जनक आदि इस भुवन |
पाए परम हरि पद लिए आश्रय जब श्री गीता पावन ||४०||

भावार्थ: *इस लोक में जनकादि के समान कई राजा गीता का आश्रय लेकर पाप-रहित होकर भगवान् के परम पद को प्राप्त हुए हैं|*

गीतासु न विशेषोऽस्ति जनेषूच्चावचेषु च ।
ज्ञानेष्वेव समग्रेषु समा ब्रह्मस्वरूपिणी ।।४१।।

है नहीं भेद विषयक ऊंच नीच श्री गीता पावन |
समझो इसे ब्रह्म स्वरुप ज्ञान समान प्रत्येक जन ||४१||

भावार्थ: *पवित्र गीता में उच्च और नीच विषयक भेद नहीं हैं| इसे ब्रह्म स्वरूप समझो| इसका ज्ञान सब प्राणियों के लिए समान है|*

यः श्रुत्वा नैव गीतार्थं मोदते परमादरात् ।
नैवाप्नोति फलं लोके प्रमादाच्च वृथा श्रमम् ।।४२।।

सुन परम आदर अर्थ गीता हो न आनंदित जो जन |
पाता नहीं फल कर्म करता व्यर्थ ही श्रम इस भुवन ||४२||

भावार्थ: *गीता के अर्थ को परम आदर से सुनकर जो आनंदित नहीं होता, वह मनुष्य इस लोक में कर्म फल नहीं प्राप्त करता| वह व्यर्थ में श्रम करता है|*

गीतायाः पठनं कृत्वा माहात्म्यं नैव यः पठेत् ।
वृथा पाठफलं तस्य श्रम एव ही केवलम् ।।४३।।

करे पाठ गीता पर न करे जो गीता महात्म्य पठन |
रहे पाठ श्रम रूप केवल न पा सके वह फल पावन ||४३||

भावार्थ: *जो गीता का पाठ करे पर गीता महात्म्य का पठन नहीं करे, उसके पाठ का शुभ फल प्राप्त नहीं होता| पाठ केवल श्रम रूप ही रहता है|*

एतन्माहात्म्यसंयुक्तं गीतापाठं करोति यः ।
श्रद्धया यः श्रृणोत्येव दुर्लभां गतिमाप्नुयात् ।।४४।।

करे जो भूजन पाठ महात्म्य संग श्री गीता पठन |
सुने भाव समर्पित हरि पाए निःसंदेह गति कठिन ||४४||

भावार्थ: *जो प्राणी गीता पाठ के साथ महात्म्य का पाठ करता है, तथा जो प्रभु के प्रति श्रद्धा से सुनता है, उसे निःसंदेह दुर्लभ गति प्राप्त होती है|*

माहात्म्यमेतद् गीताया मया प्रोक्तं सनातनम् ।
गीतान्ते च पठेद्यस्तु यदुक्तं तत्फलं लभेत् ।।४५।।

कहा मैंने महात्म्य सनातन पढ़े जो अंत गीता पठन |
पाए फल उपर्युक्त बोले महर्षि सूत परम पावन ||४५||

भावार्थ: *परम पावन महर्षि सूत जी बोले, 'मैंने गीता का सनातन महात्म्य कहा है| गीता पाठ के अन्त में जो इसका पाठ करता है वह उपर्युक्त फल को प्राप्त होता है|'*

इति श्रीवाराहपुराणान्तर्गत श्रीमदगीतामाहात्म्यानुंसंधान समाप्त |

श्रीमद्भगवदगीता हिंदी भक्ति काव्य
ॐ नमो भगवते वासुदेवः

अध्याय १: अर्जुनविषादयोग

धृतराष्ट्र उवाच
धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः |
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय ||१-१ ||

धृतराष्ट्र उवाच
छंदः
हुए एकत्रित कुरुक्षेत्र में लिए इच्छा रण युद्धवन ||
कर रहे क्या पुत्र मेरे और पाण्डु स्थल अति पावन ||१-१ ||

भावार्थ: *धृतराष्ट्र बोले, 'हे संजय, युद्ध की इच्छा लिए कुरुक्षेत्र में एकत्रित मेरे एवं पाण्डु के पुत्र इस पवित्र स्थल में क्या कर रहे हैं?*

टीका: कुरुक्षेत्र (महाभारत का रण क्षेत्र) अति पवित्र स्थल (धर्मक्षेत्र) है| कौरवों और पांडवों के पूर्वज भरत वंश के सम्राट कुरु ने इस स्थल को आध्यात्मिक शिक्षा का विशाल केन्द्र बनाया था| शास्त्रों के अनुसार प्रजा में धर्म भावना जाग्रत करने हेतु एवं धन-धान्य की समृद्धि हेतु उन्होंने इस स्थान पर आध्यात्मिक शिक्षा तथा अष्टांग धर्म की खेती करने का निश्चय किया| तप, सत्य, क्षमा, दया, शौच, दान, योग तथा ब्रह्मचर्य, इन्हें अष्टांग धर्म कहा जाता है| सम्राट कुरु इस स्थल पर एक स्वर्ण रथ पर बैठ कर आए और कृषि हेतु एक स्वर्ण निर्मित हल से भूमि जोतने का उन्होंने निश्चय किया| जोतने के लिए उन्होंने भगवान शिव शंकर की स्तुति कर उनसे बैल (वृषभ) प्राप्त किया एवं यमराज से स्तुति कर उनसे भैंसा (महिष) प्राप्त किया| तत्पश्चात उन्होंने हल चलाना आरम्भ किया| सम्राट कुरु की साधना से प्रसन्न हो इंद्र देव एवं भगवान् विष्णु प्रगट हुए| भगवान् विष्णु ने सम्राट से पुछा, 'हे राजन, तुम यह क्या कर रहे हो?' सम्राट कुरु ने कहा, 'हे प्रभु, मैं अष्टांग धर्म की खेती के लिए भूमि तैयार कर

रहा हूं?' भगवान् विष्णु बोले, 'राजन, बीज कहाँ हैं?' सम्राट कुरु ने अपनी दाहिनी भुजा फैला दी और कहा, 'प्रभु, यह बीज है|' भगवान विष्णु ने सुदर्शन चक्र से भुजा के सैंकड़ों टुकड़े कर उन्हें कृषि क्षेत्र में बो दिया| अभी भी भूमि का एक बड़ा भाग बीज रहित था| तब सम्राट ने अपनी बायीं भुजा समर्पित कर दी| जब यह भी पर्याप्त नहीं हुई, तब अपने दोनों पैर और अंत में अपना सिर भी भगवान विष्णु को अर्पण कर दिया| इस प्रकार सम्राट ने अपना सम्पूर्ण शरीर अष्टांग धर्म की खेती के लिए भगवदर्पण कर दिया, अर्थात् धूलि में मिला दिया| जो सर्वस्व ब्रह्मार्पण कर देता है, उसी पर भगवान विष्णु प्रसन्न होते हैं| सम्राट के ऐसे तप, सत्य, क्षमा, दया, शौच, दान, योग तथा ब्रह्मचर्य के दृढ़ व्रत को देख कर भगवान ने प्रसन्न होकर राजा को पुनर्जीवित कर दिया और उनसे वर मांगने को कहा| सम्राट ने चार वर मांगे:

(१) जितनी भूमि मैंने जोती है, वह सब पुण्य क्षेत्र, धर्मक्षेत्र होकर मेरे नाम कुरुक्षेत्र से प्रसिद्ध हो|

(२) भगवान शिव सभी देवताओं सहित यहां वास करें|

(३) यहां किया हुआ स्नान, उपवास, तप, यज्ञ तथा शुभ और अशुभ, जो भी कर्म किए जाएं, वह अक्षय हो जाएं|

(४) जो भी यहां मृत्यु को प्राप्त हो, वह अपने पाप, पुण्य के प्रभाव से रहित होकर स्वर्ग को जाए|

भगवान् विष्णु ने कहा, 'तथास्तु', और वह अंतर्ध्यान हो गए| भगवान् विष्णु द्वारा इस कुरुक्षेत्र स्थल को दिए गए इन वरदानों के कारण भगवान् कृष्ण ने यह स्थल महाभारत युद्ध के लिए चुना|

कौरव धृतराष्ट्र के पुत्र थे और पांडव धृतराष्ट्र के भाई पाण्डु के पुत्र थे| भाई का पुत्र अपने स्वयं के पुत्र के समान ही होता है, ऐसा सनातन ग्रन्थ कहते हैं| यहाँ सम्राट धृतराष्ट्र ने भेद-भाव करते हुए मेरे एवं पाण्डु के पुत्र का सम्बोधन कर

द्वैधी भाव की भावना प्रगट कर दी| यही अनैतिक भेदभाव धृतराष्ट्र के पुत्रों (कौरवों) के विनाश का कारण बना|

संजय को दिव्य नेत्र महर्षि वेद व्यास ने प्रदान किए थे ताकि वह सम्राट धृतराष्ट्र को महल में ही महाभारत युद्ध का आंखों देखा विवरण दे सकें| इसलिए संजय को दिव्य नेत्र धारक नाम से भी सम्बोधित किया जाता था|

संजय उवाच
दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत् ।। १-२।।

संजय उवाच
बोले संजय देख वज्रव्यूह सेना पांडव स्थल रन |
पहुंच समीप गुरु बोले वचन तब दुर्योधन राजन ||१-२।।

भावार्थ: *संजय बोले, 'रण स्थल पर पांडव सेना के वज्रव्यूह (रचना) को देखकर राजा दुर्योधन गुरु (द्रोणाचार्य) के समीप पहुंच कर बोले|'*

टीका: दुर्योधन हस्तिनापुर राज्य के युवराज थे, पर महर्षि वेद व्यास ने उन्हें राजा कहकर सम्बोधित किया है| धृतराष्ट्र नृप अवश्य थे, लेकिन सभी राज-काज का कार्य दुर्योधन ही करते थे| इस कारण उन्हें राजा कहना अनुचित नहीं है|

पितामह भीष्म प्रधान सेनापति थे, अतः स्वाभाविक रूप में दुर्योधन को युद्ध आरम्भ होने से पहले उनके समीप जा कर उनसे विनती करनी चाहिए थी| लेकिन दुर्योधन पितामह भीष्म के पास न जाकर गुरु द्रोणाचार्य के समीप गए| द्रोण एवं भीष्म दोनों ही उभय-पक्षपाती अर्थात दोनों पक्ष के समर्थक थे| पितामह भीष्म एक तो दुर्योधन के कुल के ही थे, फिर वह सिंहासन के प्रति निष्ठा के अपने प्रण से भी जुड़े हुए थे, अतः दुर्योधन को उनकी निष्ठा के बारे में कोई संकोच नहीं था| लेकिन द्रोण, पांडव एवं कौरव दोनों के ही गुरु थे| फिर

उनका पांडवों पर प्रेम भी अधिक था| उनका आश्वासन कि वह पूर्ण समर्पित होकर दुर्योधन के पक्ष में युद्ध लड़ें, आवश्यक था| अतः दुर्योधन द्रोणाचार्य के समीप उनकी कौरवों के प्रति पूर्ण निष्ठा जाग्रत करने के लिए गए|

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ।।१-३।।

हे आचार्य कर रहे द्रुपद पुत्र सैन्य पांडव संचालन |
हैं वह प्राज्ञ आपके शिष्य की है कठिन व्यूह रचन ||
समक्ष महत पांडव सेना करें कृपया अवलोकन ||१-३।।

भावार्थ: *हे आचार्य, द्रुपद पुत्र (धृष्टद्युम्न) पांडवों की सेना का नेतृत्व कर रहे हैं| यह आपके बुद्धिमान शिष्य हैं| इन्होंने कठिन व्यूह रचना की है| अपने समक्ष इस वृहद पांडव सेना को कृपया देखिए|*

टीका: दुर्योधन अपने हृदय में सोच रहे थे कि इन पांडवों पर गुरुदेव की अनन्य प्रीति है जिनके सैन्य संचालक धृष्टद्युम्न उनके घोर शत्रु हैं| वह गुरु द्रोणाचार्य को संभवतः यह बताना चाहते थे कि यद्यपि धृष्टद्युम्न उनके शिष्य हैं, पर वह धृष्टद्युम्न पर विश्वास नहीं कर सकते| धृष्टद्युम्न के जन्म का ध्येय तो उनकी मृत्यु ही है|

पांचाल राज्य के सम्राट द्रुपद एवं द्रोण में बचपन में गुरुकुल में अति गहरी मित्रता थी| इसी मित्रता में बालक द्रुपद ने उन्हें आधा राज्य देने का वचन दे डाला| वयस्क होने पर जब निर्धनता से दुःखी होकर द्रोण ने द्रुपद के महल पहुंच उनके वचनानुसार उनसे आधा राज्य मांगा तो सम्राट द्रुपद ने उनका अपमान कर उन्हें महल से निकाल दिया| इस अपमान का बदला द्रोण ने अर्जुन के द्वारा उन्हें परास्त कर अपनी गुरु दक्षिणा में उनका आधा राज्य प्राप्त कर लिया| इस हार के अपमान से दुःखी होकर सम्राट द्रुपद ने द्रोण का विनाश करने के लिए एक ऐसे पुत्र की कामना की जो द्रोण का युद्ध में वध कर सकें| उन्होंने याज एवं उपयाज नामक मुनियों के द्वारा एक अग्नि यज्ञ करवाया। इस

यज्ञ से उन्हें अग्नि समान एक तेजस्वी पुत्र धृष्टद्युम्न एवं एक पुत्री द्रौपदी प्राप्त हुई| इस कारण धृष्टद्युम्न का जन्म ही द्रोण के विनाश के लिए हुआ था|

पांडव सेना तुलना में कौरव सेना से छोटी थी, पर फिर भी दुर्योधन उसे वृहद बता रहे हैं| कौरवों की सेना ११ अक्षोहिणी थी जब कि पांडवों की सेना ७ अक्षोहिणी थी| उस काल में एक अक्षोहिणी सेना में २१,८७० रथ, २१,८७० हाथी, ६५,६१० घुड़सवार एवं १,०९,३५० पैदल सैनिक होते थे| संभवतः दुर्योधन द्रोणाचार्य को यह बताना चाहते थे कि पांडवों की सेना को छोटी होने पर भी वह उसे साधारण नहीं समझें|

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि |
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ||१-४||
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् |
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ||१-५||
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् |
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ||१-६||

हे आचार्य हैं शूरवीर मध्य विरोधी सैन्य संगठन |
धारक वृहद धनुष जो कर सकें सहज लक्ष्य भेदन ||
हैं यह सब योद्धा वीर समान बली भीम और अर्जुन |
युयुधान विराट द्रुपद समान महारथी युद्ध निपुन ||१-४।।
धृष्टकेतु चेकितान काशीराज हैं महान युद्धिवन |
भ्राता पुरुजित कुन्तिभोज व् शैब्य हैं श्रेष्ठ जन ||१-५।।
युधामन्यु उत्तमौजा अभिमन्यु हैं अत्यंत धीर-रन |
महारथी सभी सम द्रौपदी पञ्च-पुत्र इतिथ कथन ||१-६।।

भावार्थ: *(दुर्योधन द्रोणाचार्य से कह रहे हैं) हे आचार्य, विरोधी सेना के संगठन में शूरवीर वृहद धनुष धारण किए हैं| यह सरलता से लक्ष्य भेद कर सकते हैं| यह सब योद्धा बल में भीम एवं अर्जुन के समान हैं| (इस सेना में) युयुधान (सात्यकि), विराट एवं द्रुपद समान महारथी हैं जो युद्ध (कला) में निपुण हैं|*

धृष्टकेतु, चेकितान एवं काशीराज जैसे महान योद्धा हैं| पुरुजित, (उनके) भाई कुन्तिभोज एवं शैब्य मनुष्यों में श्रेष्ठ हैं | युधामन्यु, उत्तमौजा एवं अभिमन्यु अत्यंत शूरवीर हैं| मैं कहता हूँ कि सभी द्रौपदी के पांच पुत्र समान महारथी हैं|

टीका: युयुधान (सात्यकि) नारायणी सेना के सेनापति थे| यद्यपि नारायणी सेना कौरवों के पक्ष में युद्ध कर रही थी, परन्तु भगवान् श्री कृष्ण के अति प्रिय शिष्य अर्जुन की प्रार्थना पर श्री कृष्ण पांडवों के पक्ष में अर्जुन के सारथी बने हुए थे| युयुधान एक ऐसे योद्धा थे जिन्हें महाभारत युद्ध में कोई नहीं मार सका था|

सम्राट विराट मत्स्य प्रदेश के राजा थे| यह राजकुमार उत्तर एवं राजकुमारी उत्तरा के पिता थे| राजकुमारी उत्तरा का विवाह अर्जुन पुत्र अभिमन्यु के साथ हुआ था| इन्होंने कौरव पक्ष के एक महारथी सुशर्मा, जो त्रिगर्त देश का राजा था एवं अर्जुन का कट्टर प्रतिद्वंदी था, का घोर अपमान किया था| सम्राट विराट के विरुद्ध एक युद्ध में वह उनकी कई लक्ष्य गायों का अपहरण कर रहा था, तब सम्राट विराट ने इसे युद्ध में हराया और अपमानित किया|

सम्राट द्रुपद पांडव सेना के प्रमुख सेनापति धृष्टद्युम्न एवं द्रौपदी के पिता थे| उनका द्रोणाचार्य से विशेष वैर था|

धृष्टकेतु शिशुपाल का पुत्र था| यद्यपि उसके पिता शिशुपाल श्री कृष्ण के घोर विरोधी थे और श्री कृष्ण ने उन्हें अपने सुदर्शन चक्र से वीरगति भी दी थी, लेकिन धृष्टकेतु श्री कृष्ण से अनन्य प्रेम करता था| इसी कारण वह पांडवों के पक्ष में लड़ रहा था|

चेकितान भी युयुधान की तरह नारायणी सेना का ही एक सेनापति था, लेकिन युयुधान का गहन मित्र होने के कारण उसने भी पांडवों के पक्ष में युद्ध लड़ने का निश्चय किया|

सम्राट काशीराज काशी के सम्राट थे| उनकी पुत्रियों (अम्बा, अम्बिका एवं अम्बालिका) का पितामह भीष्म ने हस्तिनापुर के युवराज चित्रांगद एवं

विचित्रवीर्य के साथ विवाह करने के लिए अपहरण किया था| इस कारण काशीराज पितामह भीष्म के कट्टर शत्रु थे|

सम्राट पुरुजित एवं सम्राट कुन्तिभोज दोनों पांडवों की माताश्री कुंती के भाई थे| सम्राट शैब्य युधिष्ठिर के श्वसुर थे| सम्राट शैब्य की पुत्री देविका युधिष्ठिर की प्रथम पत्नी थीं| युधामन्यु एवं उत्तामौजा पांचाल राज्य के राजकुमार थे| अभिमन्यु अर्जुन एवं श्री कृष्ण की बहन सुभद्रा के पुत्र थे| द्रौपदी के पांच पुत्र, प्रतिविन्ध्य, सुतसोम, श्रुतकर्मा, शतानीक एवं श्रुतसेन थे|

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ।।१-७।।

हे ब्राह्मण श्रेष्ठ सुनो तुम अब पक्ष हमारे मुख्यगन |
हैं जो नायक सैन्य हमारे कर रहे हमारा समर्थन ||१-७||

भावार्थ: *हे श्रेष्ठ ब्राह्मण, अब आप हमारे पक्ष के मुख्य गणों को सुनिए| यह सेना नायक हमारा समर्थन कर रहे हैं|*

टीका: इस श्लोक में संभवतः दुर्योधन आचार्य द्रोण को यह कहने का प्रयास कर रहे हैं कि हमारा पक्ष भी किसी प्रकार पांडवों के पक्ष से कम नहीं है| यह तो मैंने राजनीति के दृष्टिकोण से कहा था कि हमें शत्रु पक्ष को किसी भी प्रकार कम नहीं समझना चाहिए|

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंञ्जयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ।। १-८।।

हैं एक आप स्वयं साथ में भीष्म पितामह अजित रन |
साथ गुरु कृपाचार्य भी न सम जिन कोई आयुधिन ||
हैं कर्ण विकर्ण पुत्र सोमदत्त जैसे अनगिनत युद्धिवन ||१-८||

भावार्थ: *एक तो आप स्वयं ही हैं| साथ में रण में न जीत सकने वाले भीष्म पितामह हैं| गुरु कृपाचार्य भी साथ में हैं जिनके समान कोई योद्धा नहीं है| कर्ण, विकर्ण सोमदत्त पुत्र (भूरिश्रवा) इत्यादि अनगिनत योद्धा हैं|*

टीका: दुर्योधन आचार्य द्रोण की प्रशंसा करते हुए कह रहे हैं कि मेरी सेना में आप स्वयं एवं भीष्म पितामह हैं, जो अजेय हैं| कुल गुरु चिरंजीवी कृपाचार्य के समान तो कोई योद्धा ही नहीं है| कर्ण जिसका सामना अर्जुन भी नहीं कर सकता, वह भी मेरे पक्ष में है| आपके पुत्र चिरंजीवी अश्वत्थामा भी मेरे पक्ष में हैं| उन्हें तो कोई मार ही नहीं सकता| मेरा भाई विकर्ण और महावीर सोम दत्त के पुत्र भूरिश्रवा भी मेरे ही पक्ष में युद्ध में खड़े हैं| इसलिए हमें कोई भय नहीं होना चाहिए|

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ।।१-९।।

अतिरिक्त इनके शूरवीर अनेक जो खड़े पक्ष मेरे रन |
हैं सभी यह अभ्यस्त युद्ध कला व् अस्त्र-शस्त्र निपुन ||
मेरे लिए किए त्याग यह सब इच्छा राज्य और जीवन ||१-९||

भावार्थ: *इनके अतिरिक्त और भी अनेक शूरवीर हैं जो मेरे पक्ष में युद्ध में खड़े हैं| यह सभी युद्धकला एवं अस्त्र-शस्त्र में निपुण हैं| मेरे लिए इन्होंने राज्य (राज्य करने की)और अपने जीने की इच्छा त्याग दी है (अर्थात मरण भावना को भूल मेरे लिए युद्ध लड़ने को तत्पर हैं)|*

टीका: दुर्योधन यहां यह कहना चाह रहे हैं कि उपरोक्त अजेय योद्धाओं के अतिरिक्त भी मेरी सेना में अनेक शूरवीर हैं जो मेरे लिए अपना जीवन देने को तत्पर हैं| वह यहां शूरवीर जैसे बाह्लीक, शल्य, भगदत्त, जयद्रथ इत्यादि का आचार्य द्रोण को स्मरण करा रहे हैं| यह सभी शूरवीर युद्ध कला एवं अस्त्र-शस्त्र चलाने में निपुण हैं|

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ।।१-१०।।

होता प्रतीत है असमर्थ मेरा यह सैन्य संगठन।
कर रहे उभयपक्षपाती भीष्म सैन्य संरक्षन॥
हैं उधर भीम सम नायक सैन्य पा सकें विजय रन ॥१-१०॥

भावार्थ: *ऐसा प्रतीत होता है कि मेरा सैन्य संगठन (विजय दिलाने में) असमर्थ है| उभयपक्षपाती भीष्म सैन्य संरक्षण कर रहे हैं| उधर (पांडव सेना में) भीम जैसे सेना नायक हैं जो विजय दिलाने में समर्थ हैं|*

टीका: कहावत है, 'चोर की दाढ़ी में तिनका'| जब आचार्य द्रोण ने उनकी बातें सुनी-अनसुनी कर दीं तब अधर्म एवं अन्याय के कारण दुर्योधन के मन में भय उत्पन्न हो गया| वह अपने ही महान सेना नायकों की समर्थता पर अविश्वास करने लगा| उसके हृदय में विचार आने लगे| मेरी सेना में मतभेद है| मेरे प्रमुख सेनापति भीष्म पितामह यद्यपि अपनी हस्तिनापुर सिंहासन के प्रति निष्ठा के कारण लड़ अवश्य मेरे पक्ष में रहे हैं, लेकिन उनका हृदय पांडव भाइयों के पक्ष में है| मेरी सेना में उतनी एकता, निर्भयता एवं निःसंकोचता दिखाई नहीं देती, जितनी पांडव सेना में| ऐसी स्थिति में हमें विजय कैसे प्राप्त हो सकती है? उधर भीम जैसे महानायक हैं जिन्होंने मुझ सहित मेरे अन्य ९९ भाइयों को मारने का प्रण ले रखा है|

यहां दुर्योधन सैन्य प्रमुख भीष्म पितामह की तुलना भीम से कर रहे हैं जब कि पांडव सेना के प्रमुख धृष्टद्युम्न हैं| संभवतः दुर्योधन को भय धृष्टद्युम्न से उतना नहीं है, जितना भीम से|

यहां हमें शिक्षा मिलती है कि अन्यायी, पापी व्यक्ति कभी निर्भय और सुख शान्ति से नहीं रह सकता| ऐसा प्रतीत हो रहा है कि दुर्योधन के हृदय में भय है जब कि उधर पांडव पक्ष निडर होकर युद्ध में उपस्थित है| पांडवों के भीतर धर्म है, न्याय है, अतः निडरता है|

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ।।१-११।।

कर सम्बोधित महारथी प्रत्यक्ष रूप बोले दुर्योधन |
सम्हाल मोर्चा अपने स्थल करो पितामह समर्थन ||
लक्ष्य हमारा करें चंहु ओर प्रमुख सेनापति रक्षन ||१-११||

भावार्थ: *प्रत्यक्ष रूप में अपने महारथियों को सम्बोधित करते हुए दुर्योधन बोले, 'आप सब अपनी जगह मोर्चा सम्हालते हुए पितामह (भीष्म) का समर्थन कीजिए| चारों ओर से प्रमुख सेनापति की रक्षा हो, ऐसा हमारा लक्ष्य है|'*

टीका: 'सब लोग चारों ओर से प्रधान सेनापति भीष्म की रक्षा करें', ऐसा कहकर दुर्योधन पितामह से अपने प्रति सहानुभूति की अपेक्षा करते हैं| वह जानते हैं कि पितामह भीष्म शिखंडी पर वाण नहीं चलाएंगे, क्योंकि शिखंडी पूर्व जन्म में नारी थे, अतः उनकी हर प्रकार से रक्षा करें ताकि शिखंडी उनके समक्ष न आ पाए, वह ऐसा सन्देश अपने महारथियों को देना चाहते हैं|

संजय उवाच
तस्य संञ्जनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंख्ङं दध्मौ प्रतापवान् ।।१-१२।।

संजय उवाच
कुरु वृद्ध पितामह सुन शब्द प्रशंसा मुख दुर्योधन |
गरजे सम सिंह बजाया शंख हों दुर्योधन प्रसन्न ||१-१२||

भावार्थ: *दुर्योधन के मुख से प्रशंसा के शब्द सुनकर कौरवों के वृद्ध पितामह सिंह के समान गरजे एवं शंख बजाया ताकि (राजकुमार) दुर्योधन प्रसन्न हो|*

टीका: जब दुर्योधन के शब्दों का आचार्य द्रोण पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, वह मौन ही रहे, तब भीष्म पितामह को ऐसा अनुभव हुआ कि दुर्योधन हताश हो

रहा है| उसका मनोबल बढ़ाने के लिए एवं उसमें हर्ष की भावना लाने के लिए तब उन्होंने गर्जना की और शंख बजाया|

ततः शंख्ङाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ।।१-१३।।

जब सुने शंख ध्वनि सैन्य प्रमुख बढ़ा उत्साह संगठन |
लगे बजाने शंख ढोल मृदंग सब हो तब शोर डरावन ||१-१३||

भावार्थ: *जब सैन्य प्रमुख (भीष्म पितामह) की शंख ध्वनि सेना ने सुनी, तब उनका उत्साह बढ़ गया| सभी शंख, ढोल मृदंग बजाने लगे जिसका शोर भयावह था|*

टीका: यद्यपि पितामह भीष्म ने शंख दुर्योधन को प्रसन्न करने के लिए बजाया था, युद्ध की घोषणा के लिए नहीं, परन्तु सेना ने समझा कि युद्ध की घोषणा हो चुकी है, अतः सभी ने अपने अपने वाद्य, शंख, ढोल, मृदंग इत्यादि बजाने आरम्भ कर दिए| इनकी ध्वनि अत्यंत डरावनी थी|

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंख्ङौ प्रदध्मतुः ।।१-१४।।

थे आसीन भव्य रथ श्वेत अश्व अर्जुन व् कृष्ण भगवन |
हुई ध्वनि वृहद बजाए जब दैव्य शंख द्वि-महस्विन् ||१-१४||

भावार्थ: *अर्जुन एवं भगवान् श्री कृष्ण भव्य श्वेत घोड़ों के रथ पर आसीन थे| इन दोनों महापुरुषों ने भी तब दैवीय शंख बजाए जिससे घोर ध्वनि उत्पन्न हुई|*

टीका: अर्जुन का भव्य रथ जिसके प्रभु श्री कृष्ण सारथी बने हुए थे, अग्नि देव ने अर्जुन को भेंट स्वरुप दिया था| पुराणों में उल्लेख है कि यज्ञ आहुतियों में घी का सेवन करते हुए अग्निदेव को अजीर्ण (अपच) हो गया था| अपने अजीर्ण को दूर करने के लिए अग्निदेव खांडव वन को जलाकर वहां उपस्थित जड़ी बूटियों

का सेवन करना चाहते थे| लेकिन जब भी अग्निदेव वन को जलाना चाहते थे, इंद्र देव वर्षा कर उसे बुझा देते थे| अंत में अर्जुन की सहायता से वह खांडव वन जलाने में समर्थ हुए जिससे प्रसन्न हो उन्होंने यह दिव्य रथ अर्जुन को भेंट किया| ऐसा कहा जाता है कि नौ बैल गाड़ीओं में जितने अस्त्र, शस्त्र समा सकते थे, उतने अस्त्र, शस्त्र इस रथ में समा सकते थे| यह स्वर्ण से निर्मित एक तेजोमय रथ था| इसकी ध्वजा विद्युत समान चमकती थी| यह ध्वजा चार कोष तक फहराया करती थी| इतनी लम्बी होने पर भी न इसमें बोझ था और न कहीं अटकती थी| इस ध्वजा पर हनुमान जी विराजमान थे|

चित्ररथ गांधर्व ने अर्जुन को सौ अश्व भेंट स्वरुप दिए थे| यह घटना पांडवों के वनवास समय की है| पांडवों ने वनवास के समय माता कुंती के साथ पांचाल देश की ओर प्रस्थान किया| मार्ग में गंगा के किनारे सोमाश्रयायण नामक तीर्थ पर उन्होंने पड़ाव लगाया| रात्रि की बेला में वह भ्रमण करने निकले| उस समय गंगा में गंधर्वराज अंगारपर्ण चित्ररथ अपनी पत्नी के साथ जलक्रीड़ा कर रहा था| उस एकांत में पांडवों की पदचाप सुनकर वह क्रुद्ध हो उठा| पांडवों में सबसे आगे हाथ में मशाल लिये अर्जुन थे| चित्ररथ ने उनसे कहा कि रात्रि का समय गंधर्व, यक्ष तथा राक्षसों के विचरण के लिए निश्चित है, अत: उनका आगमन अनुचित है| इतना कहने के पश्चात उसने अर्जुन पर प्रहार किया| तब अर्जुन ने भी क्रुद्ध होकर उस पर आग्नेयास्त्र छोड़ दिया, जिससे वह मूर्च्छित हो गया| उसकी पत्नी कुंभीनसी ने समझा कि उसका पति मृत्यु को प्राप्त हुआ| तब वह धर्मराज युधिष्ठिर की शरण में गईं| धर्मराज ने उनकी चिकित्सा की और वह उठ कर बैठ गए| पांडवों ने चित्ररथ को छोड़ दिया| चित्ररथ ने कृतज्ञता प्रदर्शन करते हुए उन्हें चाक्षुषी विद्या सिखायी। इस विद्या के प्रभाव से, जिसे जिस रूप में देखने की इच्छा हो, देखा जा सकता था| चित्ररथ ने अर्जुन को गंधर्व लोक के सौ श्वेत अश्व भेंट में दिए| यह अश्व स्वेच्छा से आकार, प्रकार तथा रंग बदलने में समर्थ थे| बदले में अर्जुन ने भी चित्ररथ को दिव्यास्त्र (आग्नेयास्त्र) की विद्या सिखाई| इन्हीं में से चार अश्व भगवान् श्री कृष्ण ने अर्जुन के रथ में जोते थे|

कौरवों की ओर से उनके प्रधान सेनापति पितामह भीष्म ने सबसे पहले शंख बजाया| लेकिन पांडवों की ओर से भगवान् श्री कृष्ण ने सर्व प्रथम शंख बजाया जब कि पांडवों के प्रधान सेनापति तो धृष्टद्युम्न थे| यहां यह ध्यान देने वाली बात है कि भगवान् चाहे सारथी बनें, चाहे महारथी, उनकी मुख्यता कभी नहीं मिट सकती| वह अच्युत हैं| धृष्टद्युम्न तो व्यावहारिक रूप से सैन्य प्रमुख थे क्योंकि भगवान् कृष्ण ने युद्ध में अस्त्र न उठाने की शपथ ली थी| सत्यता में तो वह ही पांडव सेना के प्रमुख थे, और वह ही युद्ध संचालन कर रहे थे| इस कारण उनका ही पांडव सेना की ओर से सर्व प्रथम शंख बजाना उचित था|

पाञ्चजन्यं हृषिकेशो देवदत्तं धनञ्जयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशंख्ङं भीमकर्मा वृकोदरः।।१-१५।।

पाञ्चजन्य नामक शंख किए वद्यित श्री कृष्ण भगवन |
बजाए देवदत्त नामक शंख शूर पाण्डुपुत्र अर्जुन ||
वृकोदर भीम ने पौंड्र नामक शंख से तब की गर्जन ||१-१५||

भावार्थ: *भगवान् श्री कृष्ण ने पाञ्चजन्य नामक शंख बजाया| शूरवीर पाण्डुपुत्र अर्जुन ने देवदत्त नामक शंख बजाया| वृकोदर भीम ने पौंड्र नामक शंख से गर्जना की|*

टीका: भगवान् श्री कृष्ण ने पाञ्चजन्य नामक शंख बजाया| यह शंख अति ही विशिष्ट एवं दुर्लभ है| इस शंख की उत्पत्ति सतयुग में समुद्र मंथन में हुई थी| समुद्र मंथन में निकला यह छठा रत्न था| भगवान विष्णु ने समुद्र मंथन के समय यद्यपि इसे अपने पास ही रखा था, लेकिन कालान्तर में एक पंचजन नामक असुर की घोर तपस्या से प्रसन्न होकर उन्होंने यह शंख उसको दे दिया था| तब इस असुर का नाम शंखासुर भी पड़ गया| जब भगवान् कृष्ण एवं बलराम महर्षि सांदीपनि के आश्रम में शिक्षा ग्रहण कर रहे थे, उस समय उनके पुत्र पुनर्दत्त का किसी ने अपहरण कर लिया| महर्षि सांदीपनि को ज्ञात था कि श्री कृष्ण भगवान विष्णु के ही अवतार हैं| शिक्षा समाप्त होने पर उन्होंने इन दोनों भाइयों (श्री कृष्ण एवं श्री बलराम) से अपने पुत्र पुनर्दत्त को लौटाने की दक्षिणा मांगी।

गुरु की आज्ञा लेकर श्री कृष्ण एवं श्री बलराम समुद्र तट पर पहुंचे| समुद्र देव ने तब आशंका जताई कि महर्षि सांदीपनि के पुत्र को संभवतः असुर पंचन ने अपहरण किया है| समुद्र देव ने उसका निवास इंगित किया| श्री कृष्ण एवं श्री बलराम तब सागर के तल में उतर गए और शंखासुर की खोज की| उसके मिलने पर श्री कृष्ण ने उससे गुरु पुत्र के विषय में पूछा, किन्तु उसने बताने से मना कर दिया| वह मूर्ख श्री कृष्ण को मारने के लिए आगे बढ़ा| तब श्री कृष्ण ने युद्ध में उसका वध कर दिया| उसके मरने पर उन्होंने उसका पेट चीर दिया, किन्तु उन्हें वहां कोई बालक नहीं मिला| एक शंख उन्हें वहां अवश्य मिला जो उन्होंने ही भगवान् विष्णु रूप में इस असुर को वरदान स्वरूप दिया था| भगवान् कृष्ण ने इसे ले लिया| शंख से गर्जन करते हुए वह यमलोक की ओर दौड़े| इस शंख की गर्जना इतनी भयानक थी कि सम्पूर्ण यमलोक कम्पित हो गया| तब यमराज उनके सामने उपस्थित हुए और प्रभु की आज्ञा मान कर उन्होंने गुरु पुत्र को वापस कर दिया| गुरु पुत्र पुनर्दत्त तथा उस शंख को लेकर श्री कृष्ण गुरु सांदीपनि के आश्रम पहुंचे और उन्हें यह भेंट दी| अपने पुत्र को पाकर गुरु अत्यंत प्रसन्न हुए| शंख को पहचानकर कि यह तो पवित्र पाञ्चजन्य शंख है, उसे तुरंत श्री कृष्ण को ही भेंट कर दिया| इस प्रकार श्री कृष्ण को उनका शंख 'पाञ्चजन्य' दोबारा प्राप्त हुआ|

भगवान् श्री कृष्ण के आदेश पर मायासुर ने इंद्रप्रस्थ में एक मायावी महल का निर्माण किया था| मायासुर ने ही भीम को सम्राट वृषपर्वा की शक्तिशाली गदा एवं देवदत्त नामक यह शंख जो वरुण देव ने सम्राट वृषपर्वा को वरदान स्वरुप दिया था, अर्जुन को लाकर दिया| यह ''देवदत्त' शंख अपने घोर स्वर से युद्ध में विरोधियों का मनोबल तोड़ देता था|

समुद्र मंथन से पौंड्र शंख की भी प्राप्ति हुई थी| यह शंख नागलोक के देव को समर्पित किया गया था| नागलोक के देव ने प्रसन्न हो कर इसे भीम को दे दिया था| इसकी ध्वनि इतनी तीव्र थी कि उसके गर्जन से मनुष्य तो क्या अश्व और गजों का भी मल, मूत्र निकल जाता था| जब भीम इसे बजाते थे तो शत्रुओं का आधा बल उनमें समाहित हो जाता था|

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ।।१-१६।।

कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर बजाए शंख अनंतविजय नामन |
बजाया सुघोष नकुल मणिपुष्पक सहदेव भ्रातृन ||१-१६||

भावार्थ: *धर्मराज युधिष्ठिर ने अनंतविजय, भ्राता नकुल एवं सहदेव ने (क्रमशः) सुघोष एवं मणिपुष्पक नाम के शंख बजाए|*

टीका: अनंतविजय नामक शंख सम्राट युधिष्ठिर का था| इसकी ध्वनि दूरगामी थी| इस शंख को स्वयं उनके पिता धर्मदेव ने युधिष्ठिर को प्रदान किया था| सुघोष शंख माद्रीपुत्र नकुल का था| अपने नाम के स्वरुप ही यह शंख किसी भी नकारात्मक शक्ति का नाश कर देता था| मणिपुष्पक शंख सहदेव का शंख था| यह शंख मणि और मणिकों से भी अधिक मूल्यवान एवं प्रतिभाशाली थे| नकुल और सहदेव को यह शंख अश्विनीकुमारों से प्राप्त हुए थे|

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यिकश्चापराजितः ।।१-१७।।
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंख्ङान्दध्मुः पृथक् पृथक् ।।१-१८।।

परम धनुर्धर काशिराज महारथी शिखंडी राजन |
राजा विराट अजेय सात्यकि सैन्य प्रमुख धृष्टद्युम्न ||१-१७||
राजा द्रुपद पञ्च-पुत्र द्रौपदी एवं हस्त बर्हन |
सुभद्रा पुत्र अभिमन्यु बजाए समग्र शंख स्वगतन ||१-१८||

भावार्थ: *हे राजन (संजय सम्राट धृतराष्ट्र को सम्बोधित कर रहे हैं), श्रेष्ठ धनुर्धर काशिराज, महारथी शिखंडी, सम्राट विराट, अजेय सात्यकि, सेना के प्रमुख धृष्टद्युम्न, सम्राट द्रुपद, द्रौपदी के पांचो पुत्र एवं बलिष्ठ हाथों वाले सुभद्रा पुत्र अभिमन्यु, सभी ने अपने अपने शंख बजाए|*

टीका: शिखंडी पूर्व जन्म में काशिराज की पुत्री अम्बा थीं जिन्होंने पितामह भीष्म से प्रतिशोध लेने के कारण सम्राट द्रुपद के गृह में शिखंडी के रूप में पुनर्जन्म लिया था| इन्हें स्थूणाकर्ण नामक यक्ष ने पुरुषत्व प्रदान किया था| सुभद्रा पुत्र अभिमन्यु लम्बी एवं बलिष्ठ भुजाओं वाले अति शूरवीर युवक योद्धा थे|

संजय ने शंख वादन में जहां कौरव सेना के शूरवीरों में केवल पितामह भीष्म का विवरण किया है, वहीं पांडव सेना के १८ वीरों के नाम लिए हैं| ऐसा लगता है कि स्वयं संजय के हृदय में अधर्म पक्ष (कौरव पक्ष) का आदर नहीं है, इसलिए वह अधर्म पक्ष का अधिक वर्णन करना उचित नहीं समझते| धर्म पक्ष (पांडव पक्ष) का वर्णन करने में उन्हें आनंद आ रहा है|

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ।।१-१९।।

भयंकर ध्वनि शंख भट पांडव गूंजी सर्वश नभ भुवन |
हुए हृदय विदीर्ण असत सैन्य महारथी दुर्योधन ||१-१९||

भावार्थ: *पांडव वीरों के शंख की भयंकर ध्वनि पृथ्वी और आकाश में गूंजी| इससे अन्यायी दुर्योधन के महारथियों के हृदय विदीर्ण हो गए|*

टीका: पांडव महारथियों की भंयकर शंख ध्वनि ने दुर्योधन के महारथियों के हृदय विदीर्ण कर दिए, अर्थात उनके हृदय में जो युद्ध का उत्साह एवं बल था उसको निर्बल बना दिया| पांडव सेना का भय उनके हृदय में उत्पन्न हो गया| कौरव सेना पांडव सेना से कहीं अधिक बड़ी थी फिर भी इस शंख ध्वनि ने उन्हें विचलित कर दिया| अन्यायी एवं पापी लोगों के पैर नहीं होते| उन्हें सदैव सत्य का डर सताये रहता है| इस प्रसंग से हमें शिक्षा मिलती है कि तन, मन और वाणी, किसी से भी अन्याय और अधर्म का आचरण नहीं करना चाहिए| अन्याय और अधर्म युक्त आचरण से मनुष्य का हृदय निर्बल हो जाता है| उसके हृदय में भय पैदा हो जाता है|

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ।।१-२०।।
हृषिकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।
अर्जुन उवाच
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ।।१-२१।।

हे भूपति धृतराष्ट्र हैं तत्पर योद्धा क्षेत्र रन।
करें आरम्भ वह युद्ध एवं अस्त्र शस्त्र अभ्यासन ||
समक्ष देख तब सुनियोजित सैन्य संगठन नृशंसन।
हुए तत्पर युद्ध ले हस्त गांडीव कपिध्वज अर्जुन ||१-२०||
हुए करबद्ध खड़े वह समक्ष सारथी कृष्ण भगवन।
अर्जुन उवाच
बोले तब वह मधुर वचन हे प्रिय मेरे मधूसूदन ||
कीजिए रथ खड़ा कृपया मध्य सेना मम व् दुर्योधन ||१-२१||

भावार्थ: *(संजय धृतराष्ट्र से बोले) हे सम्राट धृतराष्ट्र, युद्ध क्षेत्र में सभी योद्धा युद्ध आरम्भ करने के लिए एवं अपने अस्त्र, शस्त्रों का अभ्यास करने के लिए (अर्थात अस्त्र, शस्त्र चलाने के लिए) तत्पर हैं| अपने समक्ष अन्यायियों का सुनियोजित सैन्य संगठन देख कर अर्जुन ने भी गांडीव धनुष हाथ में ले लिया और युद्ध के लिए तत्पर हुए| वह करबद्ध अपने सारथी भगवान् श्री कृष्ण के समक्ष खड़े होकर अति प्रिय वचन बोले, 'हे प्रिय मधुसूदन, कृपया रथ को हमारी एवं दुर्योधन की सेना के मध्य में खड़ा कीजिए|'*

टीका: अब यहां से भगवान् श्री कृष्ण एवं अर्जुन के संवाद स्वरुप श्रीमद्भगवद्गीता का आरम्भ होता है|

यद्यपि पितामह भीष्म ने केवल दुर्योधन को प्रसन्न करने के लिए ही शंख बजाया था, जिसके प्रत्युत्तर में पांडवों ने भी अपने अपने शंख बजा दिए थे, पर युद्ध की औपचारिक घोषणा नहीं हुई थी फिर भी सब ने यही समझा कि युद्ध आरम्भ होने की घोषणा हो गई है, अतः सबने अपने अस्त्र, शस्त्र उठा लिए| इस प्रकार

सब को अस्त्र उठाते देख वीरता के भाव में अर्जुन ने भी अपना गांडीव धनुष उठा लिया|

यहाँ अर्जुन को कपिध्वज विशेषण से विभूषित किया गया है| हनुमान जी अर्जुन के रथ के ध्वज पर विराजमान हैं, अतः वह कपिध्वज हैं| हनुमान जी ने यह वर दिया था कि जब युद्ध होगा तब वह अर्जुन के ध्वज पर विराजमान रहेंगे| यह घटना उस समय की है जब पांडव वनवास के समय वन में निवास कर रहे थे| एक दिन अकस्मात् वायु देव ने एक दिव्य कमल लाकर द्रौपदी के सामने डाल दिया| उसे देखकर द्रौपदी बहुत प्रसन्न हुईं और उन्होंने भीमसेन से कई और उसी प्रकार के कमल लाने का आग्रह किया| द्रौपदी की इच्छा पूर्ण करने के लिए तब भीमसेन कदलीवन गए जहां इस प्रकार के दिव्य कमल पुष्प खिलते थे|| भीमसेन को अपने बल पर अत्यंत अभिमान था| शास्त्रों के अनुसार उनमें एक सहस्त्र हाथियों का बल समाहित था| अभिमान एक योद्धा के लिए अभिशाप है| उनके बड़े भ्राता पवन पुत्र श्री हनुमान उनका यह अभिमान तोड़ना चाहते थे| हनुमान जी एवं भीमसेन, दोनों ही पवन देव के पुत्र थे, अतः उस सम्बन्ध से भ्राता थे| श्री हनुमान मार्ग में एक वृद्ध वानर का रूप बनाकर इस प्रकार लेट गए कि उनकी पूँछ ने मार्ग में अवरुद्ध पैदा कर दिया| श्री हनुमान की पूँछ मार्ग में आगे बढ़ने के लिए भीमसेन की बाधा बन रही थी| अतः भीमसेन ने लेटे हुए वानर से अपनी पूँछ हटाने के लिए कहा| श्री हनुमान जी विनम्रता से बोले, 'हे पुत्र, मैं बूढ़ा हो गया हूँ| मुझ में इतनी भी शक्ति नहीं कि मैं पूँछ को हिला सकूं| तुम तो महा बलशाली हो, तुम्हीं मेरी पूँछ को मार्ग से हटा कर किसी स्थान पर रख दो और आगे बढ़ो| भीमसेन ने अभिमान में कहा, 'क्यों नहीं वृद्ध वानर?' अब वह पूँछ को हटाने का प्रयास करने लगे, लेकिन पूँछ इतनी भारी थी कि उनके पूर्ण प्रयास से भी नहीं हटी| अब भीमसेन को आभास हो गया कि यह तो कोई दिव्य शक्ति हैं| तब उन्होंने वृद्ध वानर की स्तुति की और उन्हें सत्य रूप में प्रगट होने को कहा| हनुमान जी तब प्रगट हुए| उन्होंने भीमसेन का गर्व तोड़ उनको कभी बल का अभिमान न करने की शिक्षा दी| भीमसेन से प्रसन्न होकर तब हनुमान जी ने उन्हें वर दिया, 'हे वायु पुत्र मेरे भ्राता भीम, जब युद्ध में तुम बाण और शक्ति के आघात से व्याकुल शत्रुओं की सेना में घुसकर सिंहनाद करोगे, उस समय मैं अपनी गर्जना से उस

सिंहनाद को और भी बढ़ा दूंगा| इसके अतिरिक्त मैं अर्जुन के रथ की ध्वजा पर बैठकर ऐसी भयंकर गर्जना करूंगा जो शत्रुओं के प्राणों को हरने वाले होगी जिससे पांडव सेना शत्रुओं को सुगमता से मार सकेगी|

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ।।१-२२।।

देख सकूं मैं योद्धा एकत्रित लुब्ध युद्ध स्व-नयन |
हो बोध योग्य प्रतिद्वंदी लडूं जिनके साथ रन ||१-२२||

भावार्थ: *(अर्जुन श्री कृष्ण से कह रहे हैं) युद्ध की इच्छा रखने वाले योद्धाओं को मैं अपने नेत्रों से देख सकूं| मुझे जिनके साथ रण लड़ना है, उन योग्य प्रतिद्वंदीयों को समझ सकूं|*

टीका: अर्जुन एक धर्म योद्धा हैं| वह स्वयं अपने नेत्रों से देखकर युद्ध में सम्मिलित सभी प्रतिद्वंदी योद्धाओं के बल का आंकलन करना चाहते हैं ताकि उन्हीं से लड़ें जो बल में उनके समान हैं| निर्बल योद्धा से लड़ना अर्जुन जैसे वीर योद्धा को शोभा नहीं देगा|

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ।।१-२३।।

करने प्रसन्न जो दे रहे साथ दुर्बुद्धि दुर्योधन |
देख सकूं मैं उन उतावले हेतु युद्ध सभी राजन ||१-२३||

भावार्थ: *जो दुष्ट बुद्धि दुर्योधन को प्रसन्न करने के लिए युद्ध हेतु उतावले हो रहे हैं उन सभी राजाओं को मैं देख सकूं|*

टीका: यहां अर्जुन दुर्योधन को दुष्ट बुद्धि कह रहे हैं क्योंकि वह षड्यंत्रकारी हैं| पांडवों को अपमानित ही नहीं, वध तक करने के लिए उन्होंने अनगिनत

षड्यंत्र रचे| पांडवों का इंद्रप्रस्थ का राज्य भी उन्होंने हड़प लिया था| मित्र वही होता है जो सत्य विमर्श दे| इस युद्ध में दुष्ट बुद्धि दुर्योधन का जो राजा साथ दे रहें हैं, वह दुर्योधन के हितैषी कैसे हो सकते हैं? वह तो दुर्योधन को विनाश की ओर ले जा रहे हैं| अगर यह राजा दुर्योधन के सच्चे मित्र और हितैषी होते तो वह उसको पांडवों का अधिकार देने की बात करते, न कि युद्ध लड़ने की|

संजय उवाच
एवमुक्तो हृषिकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ।।१-२४।।
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरुनिति ।।१-२५।।

संजय उवाच
बोले संजय सुनो वृतांत अब हे भरतवंशी राजन |
सुन शूरवीर धनुर्धर गुडाकेश अर्जुन का कथन ||
करे स्थापित रथ मध्य स्थल रण तब ऋषिकेश भगवन ||१-२४||
समक्ष पितामह भीष्म आचार्य द्रोण सहित अन्य राजन |
बोले कृष्ण देखो सब कुरुवंशी जो एकत्रित अर्जुन ||१-२५||

भावार्थ: *संजय बोले, 'हे भरतवंशी राजन (धृतराष्ट्र), अब आगे का वृतांत सुनो| शूरवीर, निंद्रा को भी जीतने वाले धनुर्धर अर्जुन का यह कथन सुन तब ऋषिकेश भगवान् (श्री कृष्ण) ने रथ को रणक्षेत्र के मध्य में स्थापित कर दिया| उनके समक्ष पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण एवं (कौरवों के पक्ष में लड़ रहे) अन्य राजा थे| कृष्ण बोले, 'अर्जुन, सभी एकत्रित कुरुवंशीयों को देखो|'*

टीका: यहां अर्जुन को गुडाकेश विशेषण से सम्बोधित किया गया है| 'गुडाका' निद्रा का नाम है और 'ईश' नियंत्रक, अर्थात जिसने निंद्रा को नियंत्रित कर लिया है, वही गुडाकेश है| अर्जुन ने निंद्रा पर विजय प्राप्त कर रखी थी| भगवान् कृष्ण को यहां 'ऋषिकेश' नाम से उच्चारित किया गया है| 'ऋषीक' का अर्थ है इंद्रियां,

एवं 'ईश', नियंत्रक| जिसने इन्द्रियों को नियंत्रण में कर लिया, वह ऋषिकेश है| सभी इंद्रियां भगवान् कृष्ण के आधीन थीं|

भगवान् कृष्ण ने चतुराई से रथ को रणक्षेत्र के मध्य में ऐसे स्थान पर खड़ा किया जहां से पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण एवं समस्त दुर्योधन के पक्ष में लड़ने वाले राजाओं को देखा जा सकता था|

यहां प्रभु ने दुर्योधन को कुरुवंशी कह कर सम्बोधित किया है| कुरुवंशी तो दोनों ही पक्ष, पांडव और कौरव, थे| अतः अर्जुन भी कुरुवंशी ही थे| ऐसा प्रतीत होता है कि प्रभु ने इस शब्द का जान बूझ कर प्रयोग किया ताकि अर्जुन के हृदय में अपने वंश के लिए समभाव उत्पन्न हो जाए| वह कौटुम्बिक ममता से ग्रस्त हो और जिज्ञासु बन जाए| तब प्रभु अर्जुन को निमित्त बनाकर भावी कलियुगी जीवों के कल्याण के लिए वह श्रीमद्भगवद्गीता का उपदेश दे सकें| जब कोई फोड़ा हो जाता है तो वैद्य पहले उसको पकाते हैं, तब चीरा लगाकर एवं स्वच्छ कर उपचार करते हैं|

कौटुम्बिक-स्नेह एवं भगवद-स्नेह में गहरा अंतर है| कौटुम्बिक-स्नेह में प्राणी कुटुंब के अवगुण भूल जाता है, और भगवद-स्नेह में भगवान् अपने भक्त के अवगुण भूल जाते हैं| कौटुम्बिक-स्नेह मायाजाल में फंसाता है और भगवद्-स्नेह मायाजाल से निकाल कर प्राणी को आत्मिक शान्ति देता है|

तत्रापश्यत्स्थितान् पार्थः पितृनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातृन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ।।१-२६।।
श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरूभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ।।१-२७।।
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निमब्रवीत् ।
अर्जुन उवाच
दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ।।१-२८।।

तब देखे द्वि-सेना स्थित सब वीर पृथा पुत्र अर्जुन।
प्रणम्य पिता पितामह आचार्य मामा भाई जन ॥१-२६॥
सम पुत्र पौत्र श्वसुर सुहृदय अति प्रिय मित्र गन।
देख रणभूमि उपस्थित समक्ष रण लुब्ध सब बंधुजन ॥१-२७॥
छाई हृदय कायरता हुआ विषादित उनका मन।
अर्जुन उवाच
सोच परिणाम रण बोले अर्जुन हे प्रियतम कृष्न ॥१-२८॥

भावार्थ: *दोनों सेनाओं (स्व एवं कौरव) में स्थित वीरों को पृथा (कुंती) पुत्र अर्जुन ने देखा| पूजनीय पिता, पितामह, आचार्य, मामा, भाई, पुत्र, पौत्र, श्वसुर समान अति प्रिय जन एवं मित्रों को देख उनके हृदय में कायरता छा गई और उनका मन विषाद से पूर्ण हो गया| युद्ध का परिणाम सोच धनुर्धर अर्जुन प्रिय कृष्ण से बोले|*

टीका: भगवान् श्री कृष्ण के रथ युद्ध भूमि के मध्य में खड़ा करने के पश्चात अर्जुन ने दोनों सेनाओं में अपने प्रियतम कुटुम्बियों को देखा जिसमें पितामह, आचार्य, श्वसुर सम वृद्ध एवं पुत्र, पौत्र समान वीर आदि थे| युद्ध का परिणाम सोचते ही उनका हृदय दुःखी हो गया| इस युद्ध में तो मेरे प्रियजन ही वीरगति को प्राप्त होंगे|

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ।।१-२९।।

हो रहे अंग शिथिल देख समक्ष सब प्रिय कुटुंब जन।
सूख रहा मुख हो रोमांचित कांप रहा है मेरा तन ॥१-२९॥

भावार्थ: *सभी कुटुंब जनों को समक्ष देख मेरे अंग शिथिल हो रहे हैं| मेरा मुख सूख रहा है| रोंगटे खड़े हो रहे हैं| तन कंपकंपा रहा है|*

टीका: युद्ध के भावी परिणाम को लेकर अर्जुन के मन में चिंता हो रही है| इस चिंता एवं दुःख के प्रभाव के कारण उनके शरीर के अंग, हाथ, पैर, मुख आदि शिथिल हो रहे हैं| मुख सूख रहा है, जिससे बोलना भी कठिन हो रहा है| शरीर रोमांचित हो रहा है| चिंता, दुःख आदि किस प्रकार एक शूरवीर को भी झंझोड़ सकता है, उसका यह एक प्रत्यक्ष उदाहरण है|

गाण्डीवं स्त्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ।।१-३०।।

छूट रहा गांडीव हस्त हो रही जलन त्वचा गहन |
हूं मैं असमर्थ उपास्थित हो रहा है भ्रमित मन ||१-३०||

भावार्थ: *मेरे हाथ से गांडीव छूट रहा है| त्वचा में अत्यंत जलन हो रही है| मैं खड़े होने में भी असमर्थ हूं| मेरा मन भ्रमित हो रहा है|*

टीका: जिस गांडीव धनुष की प्रत्यंचा की टंकार से शत्रु भयभीत हो जाते थे, वह अर्जुन के हाथ से गिर रहा है| अर्जुन खड़े भी नहीं हो पा रहे| उनका मन अत्यंत भ्रमित है| यह सभी चिंता एवं दुःख के लक्षण हैं| ऐसा प्रतीत हो रहा कि अर्जुन युद्ध के भावी परिणाम सोच कर युद्ध करने को अनौचित्य समझ रहे हैं|

चिता चिंता समाप्रोक्ता बिंदुमात्रं विशेषता ।
सजीवं दहते चिंता निर्जीवं दहते चिता ॥

चिंता और चिता एक समान है, इसमें मात्र एक बिंदु का अंतर आता है| चिता मानव को मृत होने के बाद जलाती हैं किंतु चिंता मनुष्य को जीवित रहने तक जलाती रहती है|

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ।।१-३१।।

हैं विपरीत शकुन हे केशव हेतु आरम्भ धर्म रन |
नहीं देखूं कोई हित मैं कर वध युद्ध में स्व-जन ||१-३१||

भावार्थ: *हे केशव, धर्म युद्ध आरम्भ हेतु विपरीत शकुन हैं| युद्ध में अपने लोगों को मारकर मैं कोई लाभ नहीं देख रहा|*

टीका: जब किसी भी कार्य के आरम्भ करने से पहले उत्साह समाप्त हो जाता है, तो उस कार्य में कोई भलाई दिखाई नहीं देती| जब कार्य करने का उत्साह ही नहीं हो, तो अच्छे परिणाम की आशा कैसे की जा सकती है? अर्जुन के हृदय में युद्ध का उत्साह ही समाप्त हो गया है, अतः उन्हें विपरीत परिणाम ही दिखाई दे रहे हैं, अपशकुन दिखाई दे रहे हैं| अर्जुन के विचार में कुल का नाश करना घोर पाप है| कुल का नाश कर हम अपना इहलोक एवं परलोक, दोनों ही बिगाड़ रहे हैं, ऐसा अर्जुन सोच रहे हैं|

न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ।।१-३२।।

है न हृदय चाह राज्य न सुख न विजय युद्ध हे कृश्न |
क्या लाभ भोग राज्य सुख स्व-जीवन हे मधुसूदन ||१-३२||

भावार्थ: *हे कृष्ण, हृदय में न राज्य की चाह है, न सुख की और न युद्ध में विजय की| हे गोविन्द, राज्य, भोग एवं स्वयं के जीने से भी क्या लाभ?*

टीका: अर्जुन के हृदय में युद्ध विजय, राज्य, भोग, सुखादि की कामना नष्ट हो गई है| वह सोचते हैं कि अगर कुटुम्बी ही नहीं रहे तो राज्य और भोग का महत्व ही क्या है? राज्य, सुख आदि तो कुटुंब जनों के साथ भोगने के लिए ही होते हैं|

येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ।।१-३३।।

है इच्छा प्राप्त विजय रण राज्य भोगें हेतु प्रियजन |
है खड़े इस रणक्षेत्र छोड़ आशा धन और जीवन ||१-३३||

भावार्थ: *जिन प्रियजनों के लिए हमें युद्ध में विजय, राज्य और भोगों की इच्छा है, वह तो धन और जीवन की आशा त्याग कर इस रणक्षेत्र में खड़े हैं|*

टीका: अर्जुन का ऐसा विचार है कि राज्य, सुख, भोग आदि व्यक्तिगत प्रसन्नता के लिए नहीं हैं| यह तो कुटुम्बियों, प्रियजनों एवं मित्रों के साथ भोगने के लिए होते हैं| अगर यह सब युद्ध में मृत्यु को प्राप्त हुए तो फिर प्रसन्नता कैसी? अर्जुन को ऐसा प्रतीत हो रहा है कि उनके कुटुम्बियों, प्रियजनों एवं मित्रों को धन एवं जीवन का लोभ नहीं है, इसीलिए तो वह इस रण में मरने के लिए खड़े हुए हैं| अगर उन्हें ही धन, सुख, भोग, जीवन का लोभ नहीं, तो फिर मुझे ही क्यों?

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ।।१-३४।।
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ।।१-३५।।

पितामह आचार्य सम पिता पुत्र श्वसुर कुल जन |
मातुल पौत्र ननान्दपति यह सभी अति प्रियगन ||१-३४||
करें यह प्रहार मुझ पर फिर भी न करूं वध स्व-जन |
भू राज्य तो क्या मिले यदि राज्य त्रिलोक मधुसूदन ||१-३५||

भावार्थ: *आचार्य, पितामह, पिता, पुत्र, मामा, श्वसुर, पौत्र, साले समान स्व-जन सभी अति प्रिय हैं| अगर यह मुझ पर प्रहार करेंगे तो भी मैं अपने जनों का वध नहीं करूंगा| हे मधुसूदन, पृथ्वी का राज्य तो क्या अगर त्रिलोक का राज्य भी मिले (तो भी मैं इनका वध नहीं करूंगा)|*

टीका: शास्त्र कहते है कि कामना की क्रियाएं दो प्रकार की होती हैं, इष्ट की प्राप्ति एवं अनिष्ट की निवृति| इष्ट की प्राप्ति में संग्रह करना एवं सुख भोगना

आता है| अनिष्ट की निवृति में अनिष्ट करने वालों का विनाश करने की इच्छा होती है| इष्ट प्राप्ति अथवा अनिष्ट की निवृति में बाधा पड़ने पर क्रोध आता है| क्रोध को सफल बनाने के लिए मनुष्य बाधा डालने वाले का विनाश करता है| युद्ध में भी योद्धाओं में यही प्रवृतियां छुपी रहती हैं| युद्ध के माध्यम से प्रतिद्वंदी, जिसे अनिष्ट कारक समझा जाता है, उसे परास्त कर राज्य, धन इत्यादि प्राप्त करने की इच्छा होती है जिससे सुख भोगे जा सकें| अर्जुन को यहां इन दोनों में से कोई भी कामना नहीं है| वह तो यहां तक सोच रहे हैं कि अगर ये कुटुम्बी जन अपनी अनिष्ट निवृति के लिए क्रोध में आकर उन पर प्रहार कर उनका वध करना चाहें, तो भी वह स्वयं अपनी अनिष्ट निवृति के लिए उन पर क्रोध नहीं करेंगे और उनसे युद्ध नहीं करेंगे| अनिष्ट की निवृति कर उन्हें किसी इष्ट प्राप्ति की कामना नहीं है| पृथ्वी तो क्या तीनों लोकों का राज्य भी मिले तो भी वह अपने स्व-जनों पर वार नहीं करेंगे, ऐसा उनका मत है|

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः ।।१-३६।।

क्या मिलेगी प्रसन्नता मारकर धृतराष्ट्र परिजन |
बनें पापिष्ठ हम कर वध अनाचारी हे जनार्दन ||१-३६||

भावार्थ: *क्या हमें धृतराष्ट्र के सम्बन्धियों को मारकर प्रसन्नता मिलेगी| हे जनार्दन, इन अत्याचारियों का वध कर तो हम पापी ही बनेंगे|*

टीका: अर्जुन कृष्ण से कह रहे हैं कि हे जनार्दन, इन अत्याचारियों को मारकर क्या हम अनर्थ नहीं करेंगे जिसका बाद में हमें पश्चाताप करना पड़ेगा? यहां अर्जुन धृतराष्ट्र के सम्बन्धियों के लिए 'अत्याचारी' शब्द का प्रयोग कर रहे हैं| वशिष्ठ स्मृति के अनुसार:

अग्निदो, गरदश्चैव, शस्त्रपाणिर्धनापहः।
क्षेत्रदारापहर्ता च, षड़ेते ह्याततायिनः॥

आग लगाने वाला, विष देने वाला, हाथ में शस्त्र लेकर मारने को तत्पर, धन का हरण करने वाला, भूमि छीनने वाला, एवं स्त्री का हरण करने वाला, यह छह अत्याचारियों के लक्षण हैं| दुर्योधन के परिजनों में यह सभी छह अवगुण हैं, अतः उन्हें अत्याचारी कहना उपयुक्त है|

यद्यपि अत्याचारियों का वध करना धर्म के अनुकूल है, परन्तु कुल का नाश करने से पाप लगता है| इसी दुविधा में अर्जुन पड़ गए हैं|

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ।।१-३७।।

नहीं उचित करें वध अपने बांधव धृतराष्ट्र नंदन |
कर वध उनका कैसे रह सकेंगे हम प्रसन्न हे कृश्न ||१-३७||

भावार्थ: *हे कृष्ण, अपने बंधु धृतराष्ट्र के पुत्रों का वध करना उचित नहीं है| उनका वध कर हम प्रसन्न कैसे रह सकेंगे|*

टीका: अर्जुन अपनी शंका भगवान् कृष्ण को व्यक्त कर रहे हैं| हे कृष्ण, अपने ही ताऊश्री धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारना उचित नहीं है| यह अनर्थकारी कार्य होगा| हम जैसे धर्मवान ऐसा अनुचित कार्य कैसे कर सकते हैं? इन कुटुम्बियों के मरने की आशंका से ही बड़ा दुःख हो रहा है, संताप हो रहा है| क्रोध तथा लोभ के वशीभूत होकर हम उनको मार दें तो कितना अधिक दुःख होगा? उनको मारकर हम कैसे सुखी होंगे? यह हमारे घनिष्ठ सम्बन्धी हैं|

इस ममता जनित मोह के कारण अपने क्षत्रियोचित कर्तव्य की ओर अर्जुन की दृष्टि नहीं जा रही है| जहां मोह होता है, वहां मनुष्य का विवेक दब जाता है| विवेक दबने से मोह की प्रबलता हो जाती है| मोह के प्रबल होने से अपने कर्तव्य का स्पष्ट भान नहीं होता|

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ।।१-३८।।
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ।।१-३९।।

यद्यपि हुए हैं विवेक विचार लुप्त हेतु लोभ इन जन ।
नहीं लगता दोष कोई करें नाश हम इन खल जन ।।
पर यदि करें द्वेष मित्र क्या नहीं यह पाप कृश्न ।।१-३८।।
समझ दोष पुण्य पाप करें हम विचार क्यों हनन ।
करें न क्यों विचार हम हों निवृत्त पाप हे जनार्दन ।।१-३९।।

भावार्थ: *यद्यपि लोभ के कारण इन व्यक्तियों का विवेक विचार लुप्त हो गया है और ऐसे दुष्ट जनों का नाश करने से कोई दोष नहीं लगता, परन्तु हे कृष्ण, मित्रों से द्वेष करना क्या पाप नहीं है? पाप और पुण्य के दोषों पर विचार कर हम वध करने का विचार क्यों करें? हे जनार्दन, हम इस पाप से निवृत्त होने का विचार क्यों न करें?*

टीका: अर्जुन कह रहे हैं कि धन, भूमि, सम्मान, पद, प्रतिष्ठा, अधिकार इत्यादि की चाह लोभ वृत्ति देती है| लोभ वृत्ति से विवेक विचार का नाश हो जाता है| इस लोभ वृत्ति के कारण दुर्योधन का साथ देने वालों की विवेक शक्ति लुप्त हो गई है| ऐसे प्राणियों का वध करना अवश्य ही धर्म के अनुकूल है| लेकिन यहां हमारे मित्र भी तो हैं| इनके साथ द्वेष क्यों? इनका वध कर अगर हमें राज्य मिल भी जाता है तो वह राज्य हमारे साथ कितने दिन रहेगा? अर्थात यह राज्य सदैव तो नहीं रहेगा| अल्प कालीन लाभ के लिए हम इनका वध कर पाप अपने सिर क्यों लें? दुर्योधन का साथ देने वाले यह नहीं देख पा रहे, पर हम तो बुद्धिमान हैं| यह पाप, पुण्य समझते हैं| अतः यह पाप हमें न लगे, इस पर हम विचार क्यों नहीं करें|

ऐसा प्रतीत होता है कि अर्जुन युद्ध नहीं करने के हेतु तर्क दे रहे हैं|

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ।।१-४०।।

हो यदि विनाश कुल तब हो नष्ट कुल धर्म सनातन |
धर्म नाश से बढ़े अधर्म करे वह नष्ट शुभ आचरन ||१-४०||

भावार्थ: *यदि कुल का विनाश होता है तो सनातन (सदैव से चला आ रहा) कुल धर्म नष्ट हो जाता है| धर्म का नाश अधर्म को प्रबल कर देता है, जिससे शुभ आचरण नष्ट हो जाते हैं|*

टीका: जब युद्ध अथवा किसी भी प्रकार से कुल का नाश होता है तो उसके साथ कुल धर्म (कुल की पवित्र रीतियाँ, पवित्र परम्पराएं, मर्यादाएं इत्यादि) का भी नाश हो जाता है| इससे सम्पूर्ण कुल में अधर्म छा जाता है| इसका तात्पर्य यहां यह है कि जब युद्ध में योग्य पुरुष मारे जाएंगे, तब उनके मारे जाने के पश्चात क्योंकि कुल को देखने और नियंत्रित करने वाला कोई नहीं रहेगा, उनकी विधवाएं, बहनें, बेटियां इत्यादि में अधर्म छा जाने की आशंका रहेगी|

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ।।१-४१।।

बढ़े जब अधर्म कुल हो जातीं दूषित नारी कृश्न |
लें पथ अधर्म मनुषी तब हों वर्ण-शंकर उत्पन्न ||१-४१||

भावार्थ: *हे कृष्ण, जब कुल में अधर्म बढ़ जाता है तो (कुल) नारी दूषित हो जाती हैं| जब नारियां अधर्म का पथ ले लेती हैं (अर्थात अधर्मी हो जाती हैं) तब वर्ण-शंकर पैदा होते हैं|*

टीका: जब कुल में अधर्म बढ़ जाता है, तब आचरण अशुद्ध होने लगते हैं, जिससे अंतःकरण अशुद्ध हो जाता है| अंतःकरण अशुद्ध होने से बुद्धि तामसी हो जाती है| बुद्धि तामसी होने से प्राणी कर्तव्य और अकर्तव्य में अंतर ना

समझते हुए अकर्तव्य की ओर मुखित हो जाता है| इस विपरीत बुद्धि से कुल की नारियां दूषित हो जाती हैं| स्त्रियों के दूषित होने पर वर्ण-शंकर (अलग अलग वर्ण के पुरुष एवं नारी से उत्पन्न संतान) जन्म लेते हैं|

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः।।१-४२।।

होते वर्ण-शंकर कुलघाती दें कुल नर्क निवासन |
हो जाए पतन पितर जब मिले न उन्हें श्राद्ध तर्पन ||१-४२||

भावार्थ: *वर्ण-शंकर कुल-घाती होते हैं जो कुल को नर्क का वास देते हैं, अर्थात नर्कगामी बनाते हैं| श्राद्ध तर्पण न मिलने से कुल के पितरों का पतन हो जाता है|*

टीका: वर्ण-मिश्रण से पैदा हुई वर्ण-शंकर पुत्र/ पुत्रीयों में धार्मिक बुद्धि नहीं होती| वह मर्यादा का पालन नहीं करते क्योंकि वह स्वयं अमर्यादित पैदा हुए हैं| वह धर्म आचरण नहीं करते| पितरों का श्राद्ध तर्पण आदि नहीं करते जिससे पितरों का पतन हो जाता है|

जब तक पितरों को पिण्ड पानी मिलता है, तब तक वह इस पुण्य प्रभाव से उच्च लोक में निवास करते हैं| पिण्ड पानी न मिलने से वह न्यूनतम लोक अर्थात नर्क का आवास करते हैं| वर्ण-शंकर संतान धर्म अनुयायी न होने के कारण यह सब धर्म अनुकूल आचरण नहीं करती|

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ।।१-४३।।

है वर्ण-शंकर जन्म दोष जो करे नाश धर्म सनातन |
हो कुल-घाती करें तब लुप्त कुल जाति धर्म वह जन ||१-४३||

भावार्थ: *वर्ण-शंकर दोष सनातन धर्म (कुल में चली आ रही पुरातन प्रथा) का विनाश कर देता है| वह प्राणी (वर्ण-शंकर) कुल-घाती होकर तब कुल एवं जाति धर्म को लुप्त कर देता है, अर्थात नष्ट कर देता है|*

टीका: वर्ण-शंकर पैदा होने के दोष अर्थात विभिन्न वर्णों के स्त्री पुरुष का मिलन, संतान को कुल-घाती बना देता है जिससे कुल एवं जाति धर्म नष्ट हो जाते हैं|

एक जाति में एक विशेष कुल की धार्मिक परम्पराओं को कुल धर्म कहा जाता है| एक ही जाति के सम्पूर्ण कुलों के समुदाय के धर्म को जाति धर्म कहा जाता है| उदाहरण के रूप में ब्राह्मण एक जाति है, अतः ब्राह्मण धर्म जाति धर्म है| ब्राह्मण जाति के गर्ग कुल में पैदा हुए प्राणियों को ब्राह्मण जाति के धर्म के साथ गर्ग कुल की परम्पराओं का भी पालन करना पड़ता है, वह कुल धर्म है|

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ।।१-४४।।

करें वास नर्क अनंत काल कुल धर्म-हीन जनार्दन |
किए हम पठन श्रवण यह तथ्य श्रुति व् अन्य ग्रंथन ||१-४४||

भावार्थ: *कुल धर्म-हीन अनंत काल तक नर्क में वास करते हैं, हे जनार्दन, ऐसा तथ्य हमने श्रुति एवं अन्य ग्रंथों में पढ़ा एवं सुना है|*

टीका: जो प्राणी कुल धर्म का पालन नहीं करते, वह विवेक का निरादर करते हैं और राग, द्वेष के वशीभूत हो जाते हैं| परिणाम स्वरुप इस लोक में उनकी निंदा, अपमान, तिरस्कार आदि होता है, और परलोक में दुर्गति और नर्क की प्राप्ति होती है| अपने पापों के कारण उन्हें बहुत समय तक नर्क का कष्ट भोगना पड़ता है, ऐसा धार्मिक ग्रन्थ कहते हैं|

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः।।१-४५।।

हूँ अचंभित ले रहे हम निर्णय रंजित जो लड़ें रन।
क्या नहीं यह पाप कि हम प्रतिबद्ध करें वध स्व-जन॥
हेतु लोभ तुच्छ पाएं सुख राज्य जीतें यदि यह रन॥१-४५॥

भावार्थ: *मैं अचंभित हूं कि हम रण में लड़ने का खेद पूर्ण निर्णय ले रहे हैं| अपने स्व-जनों के वध का संकल्प, इस कारण कि यदि हम युद्ध जीते तो राज्य सुख का तुच्छ लोभ प्राप्त होगा, क्या पाप नहीं है?*

टीका: अर्जुन के हृदय में है कि दुर्योधन आदि दुष्ट तो लोभ की नैया पर सवार हैं, अतः उनका युद्ध के लिए तत्पर होना कोई आश्चर्यजनक नहीं है| लेकिन हम लोग तो धर्म-अधर्म, कर्तव्य-अकर्तव्य, पुण्य-पाप समझते हैं| यह जानते हुए भी हम स्व-जनों का वध एक तुच्छ लोभ (हम राज्य जीत सकते हैं) के लिए कैसे कर सकते हैं? क्या यह पाप नहीं है?

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ।।१-४६।।

यदि सुसज्जित अस्त्र शस्त्र ले रहे पक्ष धृतराष्ट्र जन।
करें वध मेरा शस्त्र रहित विमुख युद्ध जनार्दन॥
होगा अति हितकारी है विचार यह मेरा प्रछन्न॥१-४६॥

भावार्थ: *हे जनार्दन, यदि अस्त्र, शस्त्र से सुसज्जित धृतराष्ट्र के पक्षधारी जन मुझ शस्त्र विहीन रण से विमुख का वध भी करें, तो भी मेरे लिए अत्यंत हितकारी होगा, ऐसा मेरा स्वयं का विचार है|*

टीका: अर्जुन अपने को धर्मात्मा मानकर युद्ध न करने के कई तर्क भगवान् श्री कृष्ण को दे रहे हैं| अर्जुन के भीतर कौटुम्बिक मोह जाग गया है और उस मोह

से ग्रस्त होकर वह धर्म एवं साधुता की बड़ी बातें कर रहे हैं| अतः सांसारिक लोगों को जिन्हें कौटुम्बिक मोह है, संभवतः अर्जुन के तर्क अच्छे लगेंगे| परन्तु भगवान् की दृष्टि में लोक कल्याण को प्राथमिकता है| इसी कारण आगे भगवान् श्री कृष्ण अर्जुन को उसका कर्तव्य बताएंगे| यहां ध्यान देने योग्य बात है कि श्री कृष्ण ने अर्जुन से कभी नहीं कहा कि तुम युद्ध लड़ो| उन्होंने तो केवल उसका कर्तव्य बतलाया| निर्णय उसका था कि वह कर्तव्य का पालन करे या अकर्तव्य का पथ चुने|

संजय उवाच
एवमुक्तवार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ।।१-४७।।
ॐ तत्सदिति श्रीमदभगवदगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ।।

संजय उवाच
बोले संजय दे यथा तर्क विरुद्ध युद्ध तब हे राजन ।
त्याग धनुष बाण हो विषाद ग्रस्त धनुर्धर अर्जुन ।।
झुकाए शीश बैठ गए मध्य भाग रथ तब क्षेत्र रन ।।१-४७।।

करते हुए ओम तत सत पूर्ण भगवन्नाम उच्चारन ।
ब्रह्मविद्या योगशास्त्रमय महाग्रंथ गीतबंधन ।।
श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषदरूप ग्रन्थ अति पावन ।
श्री कृष्णार्जुन संवाद अर्जुनविषादयोग नामन ।।
हुआ अत्र सम्पूर्ण प्रथम अध्याय करे कल्याण जन ।।

भावार्थ: *संजय बोले, हे राजन (धृतराष्ट्र), इस प्रकार युद्ध के विरुद्ध तर्क देकर, धनुष बाण त्यागकर, शोकाकुल अर्जुन शीश झुकाए रणक्षेत्र में रथ के मध्य भाग में बैठ गए|*

'ओम तत सत' भगवन्नाम का उच्चारण करते हुए अति पवित्र ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रमय महाकाव्य ग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषदरूप श्री कृष्णार्जुन संवाद 'अर्जुनविषादयोग'नाम का पहला अध्याय जो जन कल्याण करेगा, समाप्त हुआ|

टीका: युद्ध करना सम्पूर्ण अनर्थों का मूल है, युद्ध करने से इहलोक में कुटुंब का नाश होगा एवं परलोक में नर्क की प्राप्ति होगी, इस प्रकार के विचार भगवान् श्री कृष्ण के समक्ष प्रकट करते हुए शोक से अत्यंत व्याकुल होकर अर्जुन ने युद्ध न करने का निर्णय कर लिया| वह अपने अस्त्र, शस्त्र त्यागकर शोकाकुल अवस्था में रथ के मध्य में जा कर बैठ गए| अर्जुन की ऐसी शोकाकुल अवस्था का मुख्य कारण भगवान् श्री कृष्ण का पितामह भीष्म एवं द्रोणाचार्य के समक्ष रथ खड़ा कर देना था| इससे उनके अंदर का कुटुंब मोह जाग गया| इस मोह के कारण अर्जुन युद्ध से उपरत होने एवं अपने मर जाने में ही अपना हित देखने लगे| यह मोह की महिमा है| जो अर्जुन आरम्भ में युद्ध क्षेत्र में प्रवेश करते समय अति उत्साहित थे, वह अब कुटुंब मोह के कारण शोक से अत्यंत व्याकुल हो गए|

अध्याय २: सांख्ययोग

संजय उवाच
तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ।।२-१।।

संजय उवाच
छंद:बोले संजय देख विषाद कायरता हिय वीर अर्जुन ।
नेत्र अश्रुमय हो रहा जिस हेतु अवरुद्ध अवलोकन ।।
हुए तत्पर भगवन श्री मधुसूदन देने तब प्रवचन ।।२-१।।

भावार्थ: *संजय बोले, 'विषाद से पूर्ण अर्जुन के हृदय में कायरता देख, जिनके नेत्र अश्रुमय थे जिससे दृष्टि अवरुद्ध हो रही थी, तब भगवान् श्री मधुसूदन प्रवचन देने को तत्पर हुए (अर्थात मधुर वचन में बोले)।'*

टीका: प्रथम अध्याय में जैसा वर्णित है, अर्जुन जैसे महावीर के हृदय में भी कौटुम्बिक मोह छा गया था| उनके नेत्र अश्रुमय हो गए जिससे दृष्टि निर्बल हो गई| जब भगवान् श्री कृष्ण ने अर्जुन को इस प्रकार विषाद ग्रस्त और कायरता पूर्ण व्यवहार करते देखा, तब वह विनम्र वचनों में बोले|

श्रीभगवानुवाच
कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ।।२-२।।
क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ।।२-३।।

श्रीभगवान् उवाच
मिली कहां से कायरता मधुर वचन बोले भगवन ।
इस विषम अवसर नहीं करते वीर इस भांति चिंतन ।।
है यह विचार विरुद्ध प्राप्ति स्वर्ग या यश अर्जुन ।।२-२।।

नहीं धरो हिय यह कायरता हे प्रिय प्रथानन्दन।
नहीं उचित हिय दुर्बलता सुनो शूरवीर मैत्रिन्॥
त्याग शीघ्र कायरता हो खड़े तुरंत तुम हेतु रन॥२-३॥

भावार्थ: *भगवान् मधुर वचन बोले, 'यह कायरता तुम्हें कहां से मिली? इस कठिन परिस्थिति में वीर इन विचारों का चिंतन नहीं करते| यह विचार स्वर्ग एवं यश प्राप्ति के विरुद्ध हैं| हे प्रिय अर्जुन, इस प्रकार की कायरता हृदय में धारण न करो| हे शूरवीर सखा सुनो, यह हृदय की दुर्बलता उचित नहीं है| शीघ्र कायरता त्याग कर तुम तुरंत युद्ध के लिए खड़े हो जाओ|'*

टीका: अर्जुन का शाब्दिक अर्थ है, स्वच्छ, निर्मल अन्तःकरण वाला| अर्जुन नाम से पाण्डु-पुत्र को सम्बोधित कर भगवान् श्री कृष्ण कह रहे हैं कि अपने नाम के अर्थ के विपरीत तुम कैसे हो गए? इस युद्ध के अवसर पर तो तुम्हारे अंदर शूरवीरता और उत्साह होना चाहिए| यह कायरता कहां से आ गई? श्रेष्ठ पुरुष अपने कर्तव्य के प्रति निष्ठावान होते हैं| इस समय तुम्हारा कर्तव्य युद्ध लड़ना है, कायर होकर युद्ध एवं अपने कर्तव्य कर्म से भागना नहीं| कर्तव्य विमुख लोगों को न तो इहलोक में यश मिलता है और न मरण उपरान्त स्वर्ग| अतः तुम्हारी कायरता सर्वथा अनुचित है|

विश्व में तीन प्रकार के लोग होते हैं| प्रथम, विचारशील, जो विश्व में प्रत्येक का कल्याण चाहते हैं, एवं उसी के अनुसार कर्म करते है| वह इहलोक में यश एवं मरण उपरान्त स्वर्ग प्राप्त करते हैं| द्वितीय, पुण्यात्मा, जो अपने शुभ कर्मों से विचारशील प्राणियों की तरह ही इहलोक में यश एवं मरण उपरान्त स्वर्ग प्राप्त करते हैं| परन्तु तृतीय प्रकार के प्राणी साधारण होते हैं जो संसार सांसारिक प्रवृतियों में पड़े रहते हैं| वह कर्म अपने स्वार्थवश ही करते हैं| अर्जुन के जीवन का उद्देश्य तो प्रथम एवं द्वितीय प्राणियों के समान है, न कि साधारण प्राणियों के समान| अतः निश्चित कर्म करो, और युद्ध के लिए खड़े हो जाओ, ऐसा भगवान् निर्देश दे रहे हैं|

भगवान् ने यहां अर्जुन को पृथानंदन कहा है, पृथा क्षत्राणी का पुत्र| क्षत्रिय का कर्म है, धर्म के लिए लड़ना एवं अपनी माँ की आज्ञा मानना| प्रभु कह रहे हैं कि यहां माँ ने ही तुम्हें युद्ध करने की आज्ञा दी है, अतः उनकी आज्ञा का उल्लंघन करना क्षत्रिय धर्म नहीं है| युद्ध न करना नपुंसकता है| तुम तो शूरवीर हो, अतः अपनी शूरवीरता दिखाते हुए युद्ध लड़ो| हृदय की तुच्छता त्यागो अन्यथा तुम स्वयं तुच्छ हो जाओगे| तुम्हारा यह मानना कि तुम धर्मात्मा हो और युद्ध रूपी पाप नहीं करना चाहते, यह तुम्हारे हृदय की दुर्बलता है| इसका त्याग करो|

अर्जुन उवाच
कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ।।२-४।।

अर्जुन उवाच
बोले अर्जुन करूँ कैसे युद्ध रण क्षेत्र मधुसूदन |
कैसे कर सकूंगा प्रत्यक भीष्म द्रोण बाण-वेधन ||
हैं दोनों ही अति मानित जानो तुम यह अरिसूदन ||२-४||

भावार्थ: *अर्जुन बोले, 'हे मधुसूदन, मैं रण क्षेत्र में भीष्म एवं द्रोण के विरुद्ध बाण कैसे चला सकता हूँ? आप जानते हैं कि यह दोनों ही अति पूज्य हैं|'*

टीका: यहां अर्जुन ने भगवान् कृष्ण को दो नामों से सम्बोधित किया है| प्रथम, मधुसूदन, जिन्होंने मधु कैटभ जैसे दैत्यों का वध किया जो दुष्ट एवं अनिष्टकारी थे| वह कह रहे हैं कि अपने तो दैत्यों का वध किया था, लेकिन द्रोणाचार्य और भीष्म तो हमारे हितकारी हैं| द्वितीय, अरिसूदन, जिन्होंने शत्रुओं का वध किया| अति पूज्य द्रोण एवं भीष्म तो मेरे शत्रु नहीं हैं, फिर मैं इनका वध करने के लिए युद्ध क्षेत्र में बाण कैसे चला सकूंगा?

गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ।।२-५।।

है श्रेष्ठ बनूं भिक्षक अधि वध महानुभाव गुरुजन |
करूं यदि वध सम गुरु हो रक्त रंजित पुरञ्जन ||
हूं विजयी यदि रण संभव भोगूं फल विक्षिप्त धन ||२-५||

भावार्थ: *महानुभाव गुरुजन का वध करने की अपेक्षा अच्छा है कि मैं भिक्षुक बन जाऊं| यदि मैं गुरु समान का वध करूं तो मेरी आत्मा रक्त रंजित हो जाएगी| यदि युद्ध में विजयी हुआ तो संभवतः चलायमान धन का फल भोगूं| (अर्थात इस चलायमान धन की प्राप्ति के लिए आदरणीय गुरुजनों का वध करना उचित नहीं है)|*

टीका: ऐसा प्रतीत होता है कि यद्यपि भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को क्षत्रिय धर्म पालन करने हेतु युद्ध लड़ने की आज्ञा दी, परन्तु अर्जुन ने युद्ध में लड़ कर विजय प्राप्त करना राज्य प्राप्ति हेतु समझा| कौटुम्बिक मोह वश अर्जुन भगवान् कृष्ण की लोक कल्याण भावना को नहीं समझ पा रहे| कौटुम्बिक मोह भौतिक दृष्टि के कारण ही होता है| जब तक भौतिक दृष्टि है, आध्यात्मिक दृष्टि जाग्रत नहीं हो सकती| इसी भौतिक दृष्टि के कारण अर्जुन सोच रहे हैं कि युद्ध में प्रवृत्त कर भगवान् उन्हें राज्य, धनादि दिलाना चाहते हैं, जबकि भगवान् का उद्देश्य लोक कल्याण है| यहां भीष्म, द्रोण के लिए महानुभाव शब्द का प्रयोग करना उचित है क्योंकि उनके अंदर श्रेष्ठ शुद्ध भाव हैं| वह युद्ध करते हुए पक्षपात नहीं कर रहे| अपने वचनों और ऋणों के कारण उन्हें दुर्योधन की ओर से युद्ध लड़ने के लिए बाध्य होना पड़ा है|

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ।।२-६।।

नहीं जानते श्रेष्ठ लड़ें या करें परित्याग हम रन |
होंगे विजयी युद्ध हम या जीतेगा पक्ष दुर्योधन ||
नहीं चाहते करें वध हम समक्ष धृतराष्ट्र स्व-जन |
कर वध महापुरुष योग्य पूजन नहीं चाह जीवन ||२-६||

भावार्थ: *हम नहीं जानते कि युद्ध करना श्रेष्ठ है अथवा त्यागना, युद्ध में हम विजयी होंगे अथवा दुर्योधन का पक्ष| हमारे समक्ष खड़े धृतराष्ट्र के सम्बन्धियों का हम वध करना नहीं चाहते| पूजन के योग्य महापुरुषों का वध कर हमें जीने की चाह नहीं है|*

टीका: अर्जुन के हृदय में द्वन्द चल रहा है| उनका हृदय कह रहा है कि युद्ध नहीं करना चाहिए, और प्रभु कह रहे हैं कि युद्ध करो| एक बार फिर अर्जुन युद्ध न करने का पक्ष भगवान् कृष्ण के समक्ष रख रहे हैं| अर्जुन कह रहे हैं कि हम यह नहीं जानते कि युद्ध हम जीतेंगे या विपक्षी| ऐसी अनिश्चितता में हम पूजनीयों का वध क्यों करें? अपने कर्तव्य का निर्णय करने में असमर्थ अब अर्जुन व्याकुलता पूर्वक भगवान् श्री कृष्ण से प्रार्थना करते हैं|

कार्पण्दोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ।।२-७।।

नहीं ग्रस्त दोष कायरता हूँ भ्रमित धर्म विद्वन् |
करो मार्ग निर्देश हो जो हितकर मम मधुसूदन ||
हूँ शिष्य आपका दो ज्ञान मुझे आया मैं शरन ||२-७||

भावार्थ: *कायरता के दोष से ग्रस्त नहीं हूँ| धर्म ज्ञान में भ्रमित हूँ| हे मधुसूदन, मेरा मार्ग निर्देशित करो जो मेरे लिए हितकर हो| मैं आपका शिष्य हूँ, ज्ञान दीजिए, आपकी शरण में आया हूँ|*

टीका: अर्जुन कौटुम्बिक प्रेम के कारण कुटुम्बिओं का वध करने में अपने आप को असमर्थ पा रहे हैं, अतः युद्ध से उपराम होना चाहते हैं| कायरता इसका कारण नहीं है| युद्ध से अलग हो जाने को वह हितकर समझ रहे हैं, इधर भगवान् कृष्ण उनसे क्षात्र धर्म निभाते हुए युद्ध करने को कह रहे हैं| अतः वह धर्म संकट में पड़े हुए हैं| धर्म के विषय में भ्रमित हैं| इस कारण वह भगवान् से विनम्र होकर उनका मार्ग निर्देश करने को कह रहे हैं, जिससे उनका हित हो|

जब शिष्य भ्रमित हो और वह गुरु का शरणागत हो जाए तो उसके उद्धार हेतु गुरु को हितकर शिक्षा देने के लिए विवश होना पड़ता है|

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ।।२-८।।

पाऊँ यदि मैं धन-धान्य समृद्ध राज्य जीत कर रन |
शत्रु-रहित आधिपत्य देव इन्द्रिय सुख समग्र जीवन ||
हो सकूं रहित शोक नहीं देखता ऐसा परिशोधन ||२-८||

भावार्थ: *यदि मैं युद्ध जीतकर धन-धान्य, समृद्धता, शत्रु-रहित राज्य, देवों का आधिपत्य एवं समस्त इन्द्रियों का जीवन सुख पाऊँ, फिर भी मैं शोक रहित हो जाऊं, ऐसा कोई समाधान नहीं देख पा रहा|*

टीका: अर्जुन भगवान् कृष्ण से कह रहे हैं कि यद्यपि आप मुझ से युद्ध लड़ने को कह रहे हैं लेकिन मैं ऐसा सोचता हूँ कि युद्ध में विजय होने पर भी जो धन-धान्य, समृद्ध राज्य, इन्द्रिय सुख इत्यादि मुझे मिलेंगे, उनकी प्राप्ति पर मैं शोक रहित हो जाऊं, ऐसा मुझे दिखाई नहीं पड़ता| उन्हें कुटुम्बियों की होने वाली मृत्यु का शोक अधिक डरा रहा है| वह ऐसा सोचते हैं कि उनकी मृत्यु का दुःख सदैव उनके हृदय में रहेगा| वह भगवान् कृष्ण के युद्ध में लड़ने की सलाह का हेतु युद्ध विजय और उससे प्राप्त राज्य समझ रहे हैं| वह इसके पीछे छिपी हुई लोक कल्याण भावना को नहीं देख पा रहे हैं|

संजय उवाच
एवमुक्तवा हृषिकेशं गुडाकेशः परन्तप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्तवा तूष्णीं बभूव ह ।।२-९।।

संजय उवाच
बोले संजय सुनो वृतांत धृतराष्ट्र शत्रु-तापन।
नहीं लड़ूंगा युद्ध कहें स्पष्ट वह ऋषिकेश कृश्न ॥
हो गए मौन कह यह शब्द धनुर्धर गुडाकेश अर्जुन ॥२-९॥

भावार्थ: *संजय बोले, 'हे शत्रुओं को ताप देने वाले धृतराष्ट्र वृतांत सुनो| युद्ध नहीं लड़ूंगा, ऐसे स्पष्ट शब्द ऋषिकेश कृष्ण को कह कर धनुर्धर गुडाकेश (निद्रा को जीतने वाले) अर्जुन मौन हो गए|'*

टीका: अर्जुन ने संभवतः अपने और भगवान् कृष्ण, दोनों ही पक्ष पर अपनी बुद्धि अनुसार विचार किया और वह इस निर्णय पर पहुँच गए कि युद्ध करना उचित नहीं है| दृढ़ता पूर्वक अपना निर्णय उन्होंने भगवान् कृष्ण को सुना दिया, 'मैं युद्ध नहीं करूंगा'| अब आगे कहने को कुछ रहा ही नहीं, अतः वह मौन होकर बैठ गए|

तमुवाच हृषिकेशः प्र हसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ।।२-१०।।

हे भरतवंशी नृप सुने मध्य खंड सैन्य वचन अर्जुन।
देख दुःखित अर्जुन हंसकर बोले यह वचन भगवन ॥२-१०॥

भावार्थ: *हे भरतवंशी नृप (धृतराष्ट्र), सेना के मध्य भाग में अर्जुन के यह वचन (भगवान् कृष्ण ने) सुने| अर्जुन को दुःखित देख तब हँसते हुए भगवान् (कृष्ण) यह वचन बोले|*

टीका: जब अर्जुन ने रण क्षेत्र में प्रवेश किया था तो वह बड़े उत्साहित थे| परन्तु अब कौटुम्बिक मोह में पड़कर विषाद मग्न हो गए| उनकी यह बदलती दशा देख कर भगवान् कृष्ण को हंसी आ गई| दूसरे, कहाँ तो अर्जुन कह रहे हैं कि हे गुरुदेव, मैं आपका शिष्य हूँ, आपकी शरण में हूँ, मेरा मार्ग दर्शन कीजिए,

और अब उन्होंने बिना गुरु के मार्ग दर्शन के निर्णय भी ले लिया, 'मैं युद्ध नहीं करूंगा'| अर्जुन की इस मनोदशा पर प्रभु हँसे बिना नहीं रह सके|

यहां यह प्रश्न उठता है जब अर्जुन ने युद्ध करने से मना कर दिया, तो प्रभु को कह देना चाहिए था, 'यथेच्छसि तथा कुरु', जैसी तुम्हारी इच्छा| परन्तु भगवान् जानते हैं कि जब मनुष्य चिंताग्रस्त होता है तो उसकी सोचने की शक्ति नष्ट हो जाती है| यही दशा अर्जुन की हो रही है| अर्जुन के प्रति अत्यधिक स्नेह होने के कारण प्रभु की कृपालुता उमड़ पड़ी| इसलिए भगवान् ने उनके किसी भी शब्द का बुरा नहीं माना और उनका मार्ग निर्देश करना आरम्भ कर दिया| हमारे जीवन में भी हम जब भगवान् की शरण में जाते हैं, तो भगवान् हमारे अवगुणों को ध्यान में नहीं रखते| उनकी दयालुता हमारे ऊपर सदैव रहती है|

श्रीभगवानुवाच
अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ।।२-११।।

श्रीभगवानुवाच
कर रहे तुम शोक अर्जुन जो अशोच्य बोले भगवन |
देखता हूँ कर रहे पर बात जैसे महान प्राज्ञन ||
करते नहीं शोक पंडित हो जीवित या मृतक जन ||२-११||

भावार्थ: *भगवान् बोले, 'अर्जुन, तुम जिसके लिए शोक करना उचित नहीं है, उसके लिए शोक कर रहे हो, और मैं देख रहा हूँ कि बातें महान विद्वान की तरह कर रहे हो| पंडित (विद्वान् प्राणी) जीवित अथवा मृतक व्यक्ति का शोक नहीं करते|*

टीका: अर्जुन कौटुम्बिक मोह से ग्रस्त हैं| मोह से ममता, कामना, प्रियता एवं आसक्ति जाग्रत हो जाती है| इन्हीं अवगुणों के जाग्रत होने पर शोक, चिंता, भय, उद्वेग, हलचल, संताप, आदि दोष पैदा होते हैं| प्रभु कह रहे हैं कि यह कौटुम्बिक मोह उचित नहीं है| जन्म-मरण, लाभ-हानि इत्यादि तो कर्मों के

अनुसार एक चक्र है, इसका शोक कैसा? पंडित लोग जीवित अथवा मृतक, किसी भी स्थिति में शोक नहीं मनाते| तुम ने स्वयं ही कहा कि कुल धर्म नष्ट होने से स्त्रियां दूषित हो जाती हैं| स्त्रियों के दूषित होने से वर्ण-शंकर पैदा होते हैं जो कुल-घाती एवं कुल को नर्क में ले जाने वाले होते हैं| पिंड पानी न मिलने से पितरों का पतन हो जाता है| अगर तुम्हें कुल और पितरों की चिंता है, उनका पतन होने का भय है, तो क्या तुमने स्वयं ही यह सिद्ध नहीं कर दिया कि शरीर नाशवान है और उस में रहने वाली शरीरी (आत्मा) नित्य है| फिर इस नाशवान शरीर को लेकर शोक क्यों? जो मृत्यु को प्राप्त हुए हैं उनके लिए शोक करना तो महान त्रुटि है|

श्लेष्माश्रु बान्धवैर्मुक्तं प्रेतो भुङ्क्ते यतोऽवशः ।
तस्मात्र रोदितव्यं हि क्रियाः कार्याश्च शक्तितः ।। (पंचतंत्र, मित्रभेद ३६५)

मृतात्मा को अपने बंधु-बांधवों के द्वारा त्यक्त कफ युक्त आँसुओं को विवश होकर पीना पड़ता है| इसलिये रोना नहीं चाहिए, प्रत्युत अपनी शक्ति के अनुसार मृतात्मा की और्ध्वे-दैहिक क्रिया करनी चाहिए|

मृतानां बांधवा ये तु मुञ्चन्त्यश्रूणि भूतले ।
पिबन्त्यश्रूणि तान्यद्धा मृताः प्रेताः परत्र वै ।। (स्कन्दपुराण, ब्राह्म| सेतु| ४८।४२)

मृतात्मा के बंधु, बान्धव भूतल पर जिन आँसुओं को त्याग करते हैं, उन आँसुओं को मृतात्मा परलोक में पीते हैं|

इस कारण शरीर और शरीरी (आत्मा), दोनों ही अशोच्य हैं| शरीर का निरंतर विनाश होता है और शरीरी अविनाशी है|

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ।।२-१२।।

किस काल में नहीं था मैं तुम या यह सब राजन |
सत्य हम थे हर काल और रहेंगे भविष्य में अर्जुन ||
है असत्य यह पार्थ नहीं रहेंगे हम पश्चात इस रन ||२-१२||

भावार्थ: *किस काल में मैं, तुम अथवा यह राजन नहीं थे| यह सत्य है अर्जुन कि हम हर काल में थे और भविष्य में भी रहेंगे| हे अर्जुन, यह असत्य है कि इस युद्ध के पश्चात हम नहीं रहेंगे|*

टीका: प्रभु कह रहे हैं कि यह शरीर नाशवान है एवं आत्मा अविनाशी है| हम विभिन्न शरीरों में हर लोक में उपस्थित थे| प्रकृति के नियम के अनुसार हमारे शरीर का समय आने पर नाश हो गया, परन्तु इस शरीर में स्थित अविनाशी आत्मा ने दूसरे शरीर रूप में कर्मानुसार फिर जन्म लिया| यही क्रम चलता रहेगा जब तक कि मोक्ष की प्राप्ति न हो जाए| इसलिए हम सब इस युद्ध के पश्चात भी अपने कर्मानुसार फिर से जन्म लेंगे, तो शोक किस बात का?

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ।।२-१३।।

होती है अवस्था बालपन युवा वृद्ध हर जीवन |
करें अनुभव यही स्थिति जब लें जन्म वारंवारन ||
नहीं होते मोहित कभी इस विषय में धीर जन ||२-१३||

भावार्थ: *हर जीवन में बालपन, युवा एवं वृद्ध अवस्था होती है| बार बार जन्म लेने पर हम इसी स्थिति का अनुभव करते हैं| धीर प्राणी इस विषय पर मोहित नहीं होते|*

टीका: शरीर कभी एक रूप नहीं रहता| जन्म लेने के साथ ही मृत्यु क्रम आरम्भ हो जाता है| जन्म के पश्चात बाल्य अवस्था, तद्पश्चात युवा अवस्था एवं वृद्ध अवस्था प्राप्त होती है| जीवन चक्र में वृद्धावस्था के पश्चात मृत्यु और फिर नया जन्म, यही क्रम चलता रहता है| जीव अपने कर्मों का फल भोगने के लिए

अनेक योनियों में पुनर्जन्म लेता रहता है| योनियाँ बदलती हैं, आत्मा नहीं| जन्म लेना और मरना प्राणी का धर्म नहीं है, अपितु शरीर का धर्म है| हमारी आयु तो अनादि एवं अनंत है, जिसके अंतर्गत अनेक शरीर उत्पन्न होते और मरते रहते हैं| इसी कारण ज्ञानी लोग जीवन-मरण का शोक नहीं मनाते|

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ।।२-१४।।

दें विषय इन्द्रिय फल दुःख सुख सम घाम हिम्यन |
समझो इन्हें आते जाते एवं अनित्य हे युद्धिवन ||
करो इन्हें सहन समझ कर्मफल भरतवंशी अर्जुन ||२-१४||

भावार्थ: *इन्द्रिय विषय शीत एवं उष्ण के समान दुःख, सुख का फल देने वाले हैं| हे युद्धिवन, यह आने जाने वाले हैं एवं अनित्य हैं| हे भरतवंशी अर्जुन, इन्हे कर्म फल समझ कर सहन करो|*

टीका: जिस प्रकार शरीर कभी एक रूप नहीं रहता, प्रति क्षण बदलता रहता है, ऐसे ही इन्द्रियों के विषय, दुःख, सुख भोग भी कभी एकरूप नहीं रहते| उनका संयोग, वियोग होता रहता है| जिन विषयों की हमें कामना होती है, उनके संयोग से सुख मिलता है और वियोग से दुःख| जिन विषयों को हम नहीं चाहते, उनके वियोग से सुख होता है, एवं संयोग से दुःख| यह विषय तो आने जाने वाले हैं, अनित्य हैं (स्थाई नहीं हैं)| लेकिन स्वयं सदा ज्यों का त्यों रहता है, अतः निर्विकार एवं नित्य है| इन अनित्य विषयों को कर्म फल समझते हुए सहने में ही भलाई है| अर्थात उनके संयोग, वियोग से सुखी या दुःखी नहीं होना चाहिए, प्रत्युत निर्विकार रहना चाहिए| यही ज्ञान है|

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ।।२-१५।।

रहते सदैव सम सुख दुःख प्राज्ञ हे प्रिय अर्जुन।
नहीं करते चंचल उन्हें यह विषय इन्द्रिय अनित्यन ॥
समझ सकें जो यह सत्य हो जाते वह अमर अर्जुन ॥२-१५॥

भावार्थ: *हे श्रेष्ठ अर्जुन, बुद्धिमान प्राणी सुख, दुःख में सदैव समान रहते हैं| वह इन अनित्य (अस्थाई) इन्द्रिय विषयों से विचलित नहीं होते| जो इस सत्य को समझ सके, हे अर्जुन, वह अमर हो जाता है|*

टीका: मनुष्य शरीर सुख, दुःख से ऊंचा उठकर महान आनंद एवं परम शान्ति के लिए मिला है| मनुष्य शरीर का उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति है|

बड़े भाग मानुष तन पावा | सुर दुर्लभ सब ग्रन्थन्हि गावा ॥
साधन् धाम मोक्ष कर द्वारा | पाई न जेहिं परलोक सँवारा ॥

अतः सुःख, दुःख जैसे इन्द्रिय विषयों के बारे में न सोचते हुए, अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए रत रहना चाहिए| सुख, दुःख को समान समझते हुए, उन्हें कर्मों का फल समझते हुए, निरंतर ऊंचे उद्देश्य के लिए प्रयास करते रहने चाहिए| जो इस सत्य को समझ, इन इन्द्रिय विषयों, सुख, दुःख से विचलित नहीं होता एवं निरंतर उच्च उद्देश्य, मोक्ष की प्राप्ति के लिए प्रयास करता रहता है, उसे अंततः अमरत्व की प्राप्ति होती है|

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ।।२-१६।।

जिसके हिय ज्ञान सत अभाव असत वही प्राज्ञ अर्जुन।
यद्यपि करे अनुभव द्वि-तत्व विभूत सदैव स्व-जीवन ॥२-१६॥

भावार्थ: *जिसके हदय में सत का ज्ञान एवं असत का अभाव है, अर्जुन, वही ज्ञानी है| यद्यपि इन दोनों तत्वों का प्राणी अपने जीवन में सदैव अनुभव करते रहता है|*

टीका: यह सत है कि शरीर इस वर्तमान उत्पत्ति से पहले भी किसी और रूप अथवा योनि में था, मरने के बाद भी वह किसी और रूप अथवा योनि में जन्म लेगा तथा शरीरी (आत्मा) अमर है| यह असत है कि शरीर भूत, भविष्य और वर्तमान, इन तीनों कालों में कभी भाव रूप से नहीं रहा| जिस प्राणी के हृदय में सत का भाव एवं असत का अभाव है, वही बुद्धिमान है|

सत एवं असत, शरीरी (आत्मा) एवं शरीर, दोनों ही तत्व को ब्रह्म ज्ञानियों ने जाना और अनुभव किया है| तत्पश्चात निचोड़ निकालकर सत तत्व ही विद्यमान है, ऐसा निष्कर्ष निकाला है| यह अवश्य दार्शनिक लगेगा, लेकिन असत की सत्ता वास्तव में सत की ही सत्ता है| सत की सत्ता से ही असत सत्तावान प्रतीत होता है| जब तक सत का ज्ञान नहीं होगा, असत कैसे समझ में आएगा? प्रभु ने सत को 'परा-प्रकृति', 'क्षेत्रज्ञ', 'पुरुष' एवं 'अक्षर' कहा है| जब कि असत को 'अपरा-प्रकृति', क्षेत्र', 'प्रकृति' एवं 'क्षर' कहा है|

अर्जुन असत को लेकर शोक कर रहें हैं कि युद्ध करने से सब मर जाएंगे| इस पर प्रभु का भाव है कि क्या युद्ध न करने से यह नहीं मरेंगे? असत (शरीर) तो मरेगा ही, परन्तु इसमें जो सत रूप है (शरीरी), वह कभी नहीं मरेगा, अतः शोक करना सर्वथा अनुचित है|

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ।।२-१७।।

है व्याप्त जिनमें सब जग जानो उन्हें शाश्वत भगवन |
कर नहीं सके विनाश कोई अविनाशी नारायन ||२-१७||

भावार्थ: *जिनमें समस्त संसार व्याप्त है, उन्हें शाश्वत भगवान् समझो| इन अविनाशी नारायण का कोई विनाश नहीं कर सकता|*

टीका: भगवान् श्री कृष्ण यहां अर्जुन को अविनाशी तत्व के विषय में समझा रहे हैं| शाश्वत भगवान् के अतिरिक्त कोई भी अविनाशी नहीं है, अतः प्रभु के

अतिरिक्त सभी का नाश होना है| स्वयं प्रभु एवं आत्मा ही अव्यय हैं| स्वरुप से दोनों अव्यय अवश्य हैं, लेकिन भगवान् प्रकृति को अपने वश में कर स्वतन्त्रता पूर्वक प्रकट एवं अंतर्ध्यान होते हैं, लेकिन आत्मा प्रकृति के परवश होकर अपने कर्मानुसार विभिन्न योनियों में जन्म लेती है, और अंत में शरीर को त्याग कर नए शरीर में प्रवेश करती है|

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ।।२-१८।।

है अप्रमेय शाश्वत आत्मा समझो इसे नित्य अर्जुन |
उत्पन्न जो तन हेतु आत्मा वह नाशवान अनित्यन ||
नहीं करो शोक जो विनाशी करो तुम धर्म पालन ||२-१८||

भावार्थ: *अर्जुन, आत्मा (शरीरी) अप्रमेय (जिसे मापा न जा सके) एवं शाश्वत है, इसे नित्य (अविनाशी) समझो| आत्मा से उत्पन्न शरीर नाशवान एवं अनित्य है| जो विनाशी है, उसका शोक नहीं करो और धर्म पालन करो|*

टीका: प्रभु अर्जुन को कह रहे हैं कि यद्यपि आत्मा शाश्वत एवं नित्य है, परन्तु आत्मा के द्वारा जो शरीर की कर्मानुसार विभिन्न योनियों में उत्पत्ति होती है, वह विनाशी एवं अनित्य है| अब विनाशी वस्तु का शोक क्या करना? यह जो तुम समक्ष योद्धाओं को देख रहे हो, यह सब विनाशी एवं अनित्य हैं| इनकी आत्मा अवश्य ही शाश्वत एवं नित्य है, जो मरने वाली नहीं है| अतः इनकी मृत्यु का शोक छोड़, धर्म पालन अर्थात युद्ध करो|

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ।।२-१९।।

हैं नासमझ जो कहें आत्मा हन्ता या स्वर्गामिन |
है सत्य यही न मरे आत्मा न ही पाए स्थिति मरन ||२-१९||

भावार्थ: *जो यह कहते हैं कि आत्मा मारने वाली अथवा मृतक है, वह नासमझ हैं| सत्य यही है कि आत्मा न तो मरती है और न ही मृत्यु को प्राप्त होती है|*

टीका: प्रभु कह रहे हैं कि जो आत्मा को मारने वाला अथवा मृतक समझते हैं, वह अज्ञानी हैं| क्योंकि आत्मा में कर्तापन का भाव नहीं होता| जिस प्रकार कोई कारीगर बिना उपकरण के कार्य नहीं कर सकता, उसी प्रकार आत्मा बिना शरीर के स्वयं कुछ नहीं कर सकती| इसका तात्पर्य है कि आत्मा शरीर के साथ तादाम्य होकर शरीर से क्रियाएं कराती है| अगर यह शरीर के साथ अपना सम्बन्ध न जोड़े तो यह किसी भी क्रिया की कर्ता नहीं है| अतः जो लोग शरीर की तरह शरीरी (आत्मा) को मारने वाला अथवा मृतक समझते हैं, वह वास्तव में शरीर और आत्मा के विवेक को महत्व नहीं देते, प्रत्युत अविवेक को महत्व देते हैं, अतः नासमझ हैं|

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।।२-२०।।

है अमर सनातन आत्मा हो न कभी जन्म और मरन |
यह नित्य निरंतर शाश्वत अनादि रहित-जन्म अर्जुन ||
न हो नाश कभी आत्मा पर निश्चित मरण मानुषी तन ||२-२०||

भावार्थ: *आत्मा सनातन (सदैव स्थित) एवं अमर है| इसका कभी जन्म एवं मरण नहीं होता| हे अर्जुन, यह नित्य, शाश्वत, अनादि एवं जन्म-रहित है| आत्मा कभी नष्ट नहीं होती यद्यपि मनुष्य के शरीर का मरण निश्चित है|*

टीका: शरीर में ६ विकार होते हैं, उत्पन्न होना, अधिकार की इच्छा, बदलना, बढ़ना, घटना एवं नष्ट होना|

जाएतेस्ति विपरिणमते वर्धते अपक्षीयते विनश्यति |

आत्मा में कोई विकार नहीं होता| न तो यह उत्पन्न होती है (अर्थात जन्म लेती है), न अधिकार की इच्छुक है, न बदलती है, न बढ़ती है, न घटती है और न नष्ट होती है (न ही मृत्यु को प्राप्त होती है)| अतः आत्मा अमर एवं सनातन है| मनुष्य के शरीर के नाश होने पर भी (मृत्यु प्राप्त होने पर भी) आत्मा नष्ट नहीं होती|

प्रभु बार बार अर्जुन से यही कह रहे हैं इन योद्धाओं के शरीर अवश्य युद्ध में नष्ट हो सकते हैं, परन्तु इनकी आत्मा नष्ट नहीं होगी| इनके कर्मानुसार इन्हें दूसरा शरीर प्राप्त होगा, अतः शोक न कर, युद्ध करो|

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ।।२-२१।।

मानो यदि आत्मा नित्य शाश्वत अजन्मा अर्जुन |
कर सको तब वध कैसे किसका और कैसे हो मरन ||२-२१||

भावार्थ: *हे अर्जुन, यदि आत्मा को नित्य, अजन्मा एवं अविनाशी मानो तो कैसे और किसका वध कर सकते हो, और कैसे उसका मरण होगा?*

टीका: जिसका जन्म हुआ है, उसका मिटना (मरण) तो स्वतः ही है| लेकिन जिसका जन्म ही नहीं हुआ, जो अविनाशी है, उसको कैसे मिटाओगे? विभिन्न जीवन में ८४ लक्ष्य योनियों में यह शरीर घूमता रहा, परन्तु कोई शरीर दूसरी योनि में साथ नहीं रहा| आत्मा ही विभिन्न शरीर धारण करती रही| अभी भी मृत्यु पश्चात आत्मा हम सब को नई योनि में नया शरीर देगी|

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृहणाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ।।२-२२।।

हो जाएं जब जीर्ण वस्त्र करें तब धारण नए जन |
सादृश्य करे प्रवेश आत्मा नए तन छोड़ पुरातन ||२-२२||

भावार्थ: *जिस प्रकार पुराने वस्त्र विदीर्ण होने पर प्राणी नए वस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार आत्मा पुराने शरीर को छोड़कर नए शरीर में प्रवेश करती है|*

टीका: मनुष्य जीर्ण हो जाने पर पुराने वस्त्रों को त्यागकर नए वस्त्र धारण करता है, वैसे ही आत्मा पुराने जीर्ण शरीर को छोड़कर नए शरीर में प्रवेश करती है| आत्मा कर्मानुसार नया शरीर अवश्य धारण करती है, लेकिन आत्मा स्वयं ज्यों की त्यों रहती है| यदि आत्मा निर्लिप्त रूप है, बस शरीर बदलती है, तो फिर इस शरीर के मरण पर शोक कैसा?

यह अवश्य सत्य है कि वस्त्रों के बदलने पर दुःख नहीं होता, परन्तु शरीर छोड़ने पर दुःख होता है| वास्तव में शरीर को त्यागने में कष्ट नहीं होता, प्रत्युत जीने की इच्छा से होता है| जब मनुष्य शरीर के साथ एकात्म भाव में हो जाता है, शरीर के मरने से अपना मरना समझने लगता है, तब दुःख होता है| ज्ञानी लोग आत्मा को शरीर के साथ एकात्म नहीं करते, इसी कारण उन्हें स्वयं के मरने अथवा किसी अन्य के मरने पर शोक नहीं होता|

नैनं छिदन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ।।२-२३।।

न जला सके पावक न कर सकें शस्त्र आत्मा खंडन |
न कर सके जल इसे उन्न न सामर्थ्य सुखा सके पवन ||२-२३||

भावार्थ: *आत्मा को न तो अग्नि जला सकती है, न शस्त्र काट सकते हैं, न जल गीला कर एकता है और न ही वायु में इसे सुखाने का सामर्थ्य है|*

टीका: पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश, यह पांच महाभूत कहलाते हैं| इनमें प्रथम चार शक्तिमान हैं, परन्तु पांचवे आकाश में कोई क्रिया करने की शक्ति नहीं है, अतः प्रभु ने यहां प्रथम चार की ही चर्चा की है| यह चार महाभूत भी आत्मा का कुछ नहीं बिगाड़ सकते|

आत्मा की तुलना आकाश से की गई है| पृथ्वी, जल, अग्नि एवं वायु, यह चारों तत्व आकाश से ही उत्पन्न हैं, पर वह अपने कारण आकाश में किसी प्रकार का विकार पैदा नहीं कर सकते| पृथ्वी आकाश का भेदन नहीं कर सकती, जल गीला नहीं कर सकता, अग्नि जला नहीं सकती और पवन सुखा नहीं सकता| जिस प्रकार यह चार तत्व आकाश को क्षति नहीं पहुंचा सकते, उसी प्रकार आत्मा को भी कोई क्षति नहीं पहुंचा सकते| यहां चूंकि युद्ध के परिपेक्ष में चर्चा हो रही है अतः प्रभु कहना चाह रहे हैं कि इन सभी योद्धाओं की आत्मा को कोई भी लौकिक अथवा अलौकिक अस्त्र, शस्त्र नहीं काट सकता, अग्न्यास्त्र जला नहीं सकता, वरुणास्त्र गीला नहीं कर सकता एवं वायव्यास्त्र सुखा नहीं सकता| आत्मा ज्यों की त्यों निर्विकार रहती है, अतः इन योद्धाओं की मृत्यु के प्रसंग को लेकर शोक करना मूर्खता है|

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थानुरचलोऽयं सनातनः ।।२-२४।।

है असंभव खंडन जलन उन्नन शुष्कन आत्मा अर्जुन |
है आत्मा नित्य सर्वगत अचल स्थिर एवं सनातन ||२-२४||

भावार्थ: *हे अर्जुन, आत्मा को खंडित करना, जलाना, गीला करना, सुखाना असंभव है| आत्मा अविनाशी, परिपूर्ण, अचल, स्थिर एवं सनातन है|*

टीका: चूंकि आत्मा को न काटा जा सकता है, न जलाया जा सकता है, न गीला किया जा सकता है और न ही सुखाया जा सकता है, अतः शरीर संसार के साथ तादाम्य होने पर भी आत्मा नित्य, निरंतर, एकरस एवं एकरूप है| आत्मा सब काल में ज्यों की त्यों ही रहती है| यह स्वयं देहगत नहीं है, परन्तु सर्वगत है| यह ज्ञान और ऐसा अनुभव होना ही जीवन मुक्ति दाता है| शरीर संसार में अवश्य है, आत्मा संसार में नहीं हैं| शरीर के साथ आत्मा का एकाकार कभी न हुआ है, और न होगा| शरीर आत्मा से भिन्न है, परन्तु कामना, ममता, तादाम्य के कारण हमें शरीर के साथ आत्मा का एकीकरण प्रतीत होता है| वास्तव में आत्मा

को शरीर की आवश्यकता नहीं है| शरीर के बिना भी आत्मा अस्तित्व में रहती है|

अव्यक्तोऽयमचिन्तयोऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ।।२-२५।।

है असंभव देख सको आत्मा द्वारा लौकिन नयन |
है यह विषय निर्विकार चिंतन हो न शोकमय अर्जुन ||२-२५||

भावार्थ: *आत्मा को लौकिक नेत्रों से देखना असंभव है| हे अर्जुन, यह निर्विकार एवं चिंतन का विषय है, तुम शोकमय न हो|*

टीका: यदि आत्मा को अच्छेद्य, अशोष्य, नित्य, सनातन, अविकार्य समझ लें, और अनुभव करें कि यह लौकिक नेत्रों से न देख सकने वाली केवल चिंतन का विषय है, तब शोक हो ही नहीं सकता|

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ।।२-२६।।

अगर समझो तुम अर्जुन ले आत्मा नित्य जन्म मरन |
फिर भी नहीं कारण कोई हो जिससे तुम शोक मग्न ||२-२६||

भावार्थ: *हे अर्जुन, अगर तुम यह समझो कि आत्मा नित्य जन्म-मरण वाली है, फिर भी ऐसा कोई कारण नहीं है जिससे तुम शोक मग्न हो|*

टीका: प्रभु कह रहे हैं कि हे अर्जुन, यद्यपि आत्मा अजन्मी, अविनाशी है, लेकिन अगर तुम इस नियम के विरुद्ध ऐसा समझो कि यह जन्म एवं मरण वाली है, फिर भी शोक का कोई कारण नहीं है| क्योंकि जो जन्मा है, उसे तो मरना ही है| एक सूक्ष्म रूप वीर्य का जंतु जब रज के साथ मिलता है तो बच्चे की उत्पत्ति होती है| बच्चा बड़ा होता है, बालपन से युवकपन से वृद्धपन में प्रवेश करता

है, अंततः मृत्यु को प्राप्त होता है| अतः जो विनाशकारी वस्तु है, उसके लिए शोक कैसा?

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ।।२-२७।।

जो जन्मा वह पाएगा मृत्यु अवश्य हे कुन्तीनन्दन |
लेगा वह पुनर्जन्म अवश्य हुआ हो जिसका मरन ||
न करो शोक उसका न संभव जिसका परिशोधन ||२-२७||

भावार्थ: *हे अर्जुन, जिसका जन्म हुआ है, वह मृत्यु को अवश्य प्राप्त होगा| जिसका मरण हुआ है, वह पुनर्जन्म (दोबारा जन्म) अवश्य लेगा| तुम शोक नहीं करो क्योंकि इसका कोई समाधान संभव नहीं है|*

टीका: प्रभु कह रहे हैं कि हे अर्जुन, जन्म-मृत्यु रूप प्रवाह का परिहार (निवारण) संभव नहीं है| यह धृतराष्ट्र के पुत्र यदि जन्मे हैं तो इनकी मृत्यु अवश्य होगी| किसी के पास ऐसा कोई उपाय नहीं है कि इन्हें अमरत्व दिया जा सके| फिर शोक किस बात का?

शोक उसी का कीजिए, जो अनहोनी होय |
अनहोनी होती नहीं, होनी है सो होय ||

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ।।२-२८।।

था क्या कोई अस्तित्व तुम्हारा जन्म से पूर्व अर्जुन |
क्या रहेगा अस्तित्व तुम्हारा तत्पश्चात निधन ||
हुए हम प्रकट रूप शरीर केवल मध्य जन्म व् मरन |
नहीं है यह विषय शोक समझो ध्यान से तुम अर्जुन ||२-२८||

भावार्थ: *हे अर्जुन, जन्म से पूर्व क्या तुम्हारा कोई अस्तित्व था (क्या तुम इस शरीर रूप में थे)? क्या मरने के पश्चात तुम्हारा कोई अस्तित्व रहेगा (क्या तुम इस शरीर रूप में रहोगे)? यह शरीर जन्म एवं मृत्यु के मध्य में ही प्रकट हुआ है| हे अर्जुन, तुम ध्यान से समझो, यह विषय शोक का नहीं है|*

टीका: जो आदि और अंत में नहीं होता, वह मध्य में ही होता है| प्राणियों के शरीर इस स्थिति में जन्म से पहले भी नहीं थे (कोई और योनि में भिन्न रूप में हो सकते हैं)| मृत्यु के पश्चात भी शरीर इस स्थिति में नहीं रहेगा (कर्मानुसार किसी और योनि में किसी और रूप में होगा)| यह विशेष शरीर हमें इस जीवन में जन्म एवं मृत्यु के मध्य ही मिला है, जो अस्थाई है| अस्थाई वस्तु का क्या शोक?

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः श्रृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ।।२-२९।।

हों विस्मित देख दैह्य कोई करें युक्त-विस्मि वर्णन |
कोई सुनें युक्त-विस्मि करें प्रयास सब अवबोधन ||
पर सत्य यही अत्यंत कठिन समझ सकें यह भेद गहन ||२-२९||

भावार्थ: *आत्मा को देख कोई आश्चर्यचकित होता है, कोई आश्चर्य से वर्णन करता है, कोई आश्चर्य से सुनता है| सभी समझने का प्रयास करते हैं| लेकिन सत्य यही है कि इस गहन भेद को समझना कठिन है|*

टीका: प्रभु कहते हैं कि जिस प्रकार अन्य ज्ञान देखने, सुनने एवं पढ़ने से प्राप्त किए जा सकते हैं, आत्मा का ज्ञान लेना कठिन है| आत्मा इन्द्रिय, मन, बुद्धि का विषय नहीं है| इसको तो स्वयं से ही जाना जा सकता है| इसका ज्ञान लौकिक नहीं, प्रत्युत विलक्षण है| यह उसी प्रकार है जैसे कि अगर आप गुरुकुल में गुरु से शास्त्र अध्ययन कर रहे हैं, तो शास्त्रों पर श्रद्धा स्वयं शास्त्र नहीं कराते| गुरुजनों पर श्रद्धा स्वयं गुरुजन नहीं कराते| साधक हृदय में ऐसा अनुभव करता है कि मुझे शास्त्र और गुरु पर श्रद्धा करनी चाहिए, तभी वह श्रद्धा कर पाता है

और गुरु की कृपा से शास्त्रों का ज्ञान ग्रहण कर पाता है| आत्मा का ज्ञान भी उसी प्रकार है| कोई शास्त्र आदि इसका ज्ञान नहीं करा सकते| इसे अनुभव करना पड़ता है| आत्मा का ज्ञान परमात्म-तत्व है जिसे श्रद्धा से ही जाना जा सकता है|

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ।।२-३०।।

आत्मा जो स्थित तन है वह नित्य अविनाशी अर्जुन |
है नहीं उचित करो शोक मरण रण किसी युद्धिवन ||२-३०||

भावार्थ: *हे अर्जुन, शरीर में स्थित आत्मा नित्य (सनातन) एवं अविनाशी है| किसी भी योद्धा के युद्ध में मरण के कारण शोक करना उचित नहीं है|*

टीका: शरीर विनाशी है क्योंकि उसका स्वभाव ही नाशवान है| वह प्रतिक्षण ही नष्ट हो रहा है| परन्तु जो अपना नित्य स्वरुप (आत्मा) है, उसका कभी नाश नहीं होता| यदि इस सत्य को जान लिया तो फिर शोक होना संभव ही नहीं है| यहां भगवान् शरीरी (आत्मा) और शरीर के भेद को स्पष्ट कर रहे हैं| शरीर और शरीरी दोनों पृथक हैं| यदि यह पृथक न हों तो शरीर अंत के बाद स्वर्ग कैसे जाया जाएगा? अतः सभी आस्तिक दार्शनिक, वह चाहे अद्वैतवादी हों अथवा द्वैतवादी, सभी ने शरीरी एवं शरीर के भेद को माना है|

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ।।२-३१।।

न भूलो हो तुम क्षत्रिय अतः करो क्षात्र कर्म पालन |
है करना कर्म कर्तव्य तुम्हारा होना विमुख दल्भन ||
नहीं कर्म अन्य श्रेष्ठ क्षत्रिय अतिरिक्त लड़ें धर्म रन ||२-३१||

भावार्थ: *(हे अर्जुन) तुम नहीं भूलो कि तुम क्षत्रिय हो अतः क्षात्र कर्म का पालन करो| कर्म कर्तव्य (क्षात्र कर्तव्य) ही तुम्हारा धर्म है| कर्म से विमुख होना पाप है| क्षत्रिय के लिए धर्म युद्ध लड़ने से श्रेष्ठ कुछ नहीं है|*

टीका: अर्जुन क्षत्रिय थे, अतः भगवान् उन्हें क्षत्रिय धर्म समझा रहे हैं| स्वार्थ, अभिमान एवं फलेच्छा का त्याग कर समाज के हित के लिए अपने कर्तव्य कर्म का पालन करना ही श्रेष्ठ एवं धर्म अनुसार है| यही कर्मयोग है| अन्यायी कौरव समक्ष खड़े हैं जो समाज के लिए अभिशाप हैं| उनके साथ युद्ध कर उन्हें निर्मूल करने का प्रयास करना क्षत्रियों का कर्म कर्तव्य है| इस प्रयास में सफलता मिले या नहीं, वह एक अलग विषय है| फल की इच्छा किए बिना कर्तव्य पालन करना ही धर्म है, और इससे विमुख होना अधर्म है, पाप है|

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ।।२-३२।।

है यह द्वार स्वर्ग जो हुआ तुम्हें प्राप्त अर्जुन |
हैं वह क्षत्रिय पुण्यवत मिला जिन्हें यह धर्म रन ||२-३२||

भावार्थ: *हे अर्जुन, यह स्वर्ग द्वार है जो तुम्हें प्राप्त हुआ है| जिन क्षत्रियों को धर्म रण मिलता है (अर्थात धर्म रण लड़ने को मिलता है), वह सौभाग्यशाली हैं|*

टीका: प्रभु अर्जुन को याद दिलाना चाह रहे हैं कि हे अर्जुन, जूए में तुम्हें अनीति से हराकर कौरवों ने तुम्हें समस्त पांडवों सहित १२ वर्ष का वनवास एवं १ वर्ष का अज्ञातवास दिया| उसे धर्म पूर्वक पूर्ण करने के पश्चात जब तुम लोगों ने अपना इंद्रप्रस्थ का राज्य वापस मांगा तो इन धूर्तों ने तुम्हें नहीं दिया| अतः यह स्वतः ही प्राप्त सुनहरा अवसर है कि तुम इन अन्यायियों के वध का प्रयास कर अपने लिए स्वर्ग का द्वार खोल लो| ऐसा धर्म युद्ध लड़ने का सुअवसर अत्यंत भाग्यशाली क्षत्रियों को ही मिलता है, अतः युद्ध करो|

अथ चेत्त्वमिमं धम् र्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ।।२-३३।।

यदि नहीं करोगे यह धर्म युद्ध तुम हे युद्धिवन |
खो यश धर्म होगे अधिकारी पाप तुम प्रियजन ||२-३३||

भावार्थ: *हे प्रिय योद्धा (अर्जुन), यदि तुम यह धर्म युद्ध नहीं करोगे तो यश एवं धर्म को खो कर पाप के अधिकारी होगे|*

टीका: स्वधर्म का त्याग करने से धर्म का विनाश एवं अपकीर्ति होती है| इससे मनुष्य पाप का अधिकारी होकर अधर्मी कहलाता है| अतः अर्जुन अधर्मी न बनो, और स्व-धर्म का पालन करते हुए युद्ध लड़ो|

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ।।२-३४।।

करेगा गायन संसार सदैव तेरे अपयश का कथन |
है दुःखदायी यह अधिक अपेक्षा मरण मानित जन ||२-३४||

भावार्थ: *(यदि तू युद्ध नहीं लड़ेगा) संसार सदैव तेरे अपयश की गाथा गाएगा| यह एक सम्मानित व्यक्ति को मरण की अपेक्षा अधिक दुःखदायी है|*

टीका: संसार की दृष्टि में जो श्रेष्ठ होता है, ऐसे मनुष्य की जब अपकीर्ति होती है, तब वह उसके लिए मरण से भी भयंकर दुःखदायी होती है| मरने के बाद मनुष्य का शारीरिक अस्तित्व तो नहीं रहता, पर अपकीर्ति आने वाले कई युगों तक विद्यमान रहती है| धर्म च्युत होने से बढ़कर कोई अपकीर्ति नहीं| भगवान् कह रहे हैं कि अर्जुन अपना धर्म निभाओ और होने वाली अपकीर्ति से बचो|

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ।।२-३५।।

समझेंगे महारथी तुम हटे युद्ध कारण भय अर्जुन |
हो तुम जिनके आदर्श अभी होगे लघु उनके नयन ||२-३५||

भावार्थ: *हे अर्जुन, महारथी यही समझेंगे कि तुम भय के कारण युद्ध से हट गए हो| जिनके तुम अभी आदर्श हो, उनकी दृष्टि में लघु हो जाओगे (अतः उनकी दृष्टि में गिर जाओगे)|*

टीका: प्रभु कहने का प्रयास कर रहे हैं कि हे अर्जुन, यदि तुम्हें युद्ध नहीं लड़ना था तो युद्ध भूमि में आने से पहले ही संन्यास ले लेते| युद्ध में जिस जोश से तुम उतरे, तुम्हारा उद्देश्य युद्ध लड़ना था| यदि अब रण क्षेत्र से हटोगे तो महारथी तुम्हारे संन्यास को महत्व न देते हुए तुम्हें भय के कारण युद्ध से हटना समझेंगे| अति सम्माननीय व्यक्ति जैसे भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, शल्य आदि महारथी जिनकी दृष्टि में तुम्हारा ऊंचा स्थान है, उनके समक्ष तुम युद्ध न लड़ने पर लघुता को प्राप्त होगे | हे अर्जुन, इन सम्माननीय व्यक्तियों के समक्ष अपना सम्मान नहीं खोओ अतः युद्ध करो|

अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ।।२-३६।।

कह अवाच्य करेंगे निंदा तेरे सामर्थ्य की शत्रुगन |
नहीं संभव हो अधिक दुःखदायी कोई और कारन ||२-३६||

भावार्थ: *न बोलने वाले शब्द कहकर तुम्हारे शत्रु तुम्हारी निंदा करेंगे| इससे अधिक दुःख देने वाला कोई और कारण संभव नहीं है|*

टीका: जब शत्रु तुम्हें न कहने वाले शब्द कहकर तुम्हारी निंदा करेंगे, तो तुम कैसे सहन कर पाओगे? शत्रु के मुख से अनुचित निंदा सुनने से अधिक दुःखदायी कुछ और नहीं होता| हे अर्जुन, तुम निंदा का पात्र मत बनो, और युद्ध करो|

हतो व प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ।।२-३७।।

मिली यदि वीरगति युद्ध पाएगा निवास व्योमन ।
हुआ यदि विजयी पाएगा राज्य भू कुन्तीनन्दन ।।
पुकार रहा क्षत्रिय धर्म हो तत्पर युद्ध दृढ़ मन ।।२-३७।।

भावार्थ: *हे कुन्तीनन्दन, यदि युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुए, तो स्वर्ग का निवास मिलेगा| अगर विजयी हुए तो पृथ्वी का राज्य भोगोगे| क्षत्रिय धर्म पुकार रहा है, युद्ध के लिए निश्चित मन से तत्पर हो जाओ|*

टीका: पिछले अध्याय में अर्जुन ने यह शंका जताई थी कि पता नहीं हम युद्ध में जीतेंगे अथवा वीरगति को प्राप्त होंगे| प्रभु ने उस शंका का यहां निवारण कर दिया| वीरगति को प्राप्त होगे, तो स्वर्ग का निवास मिलेगा और विजयी होगे तो पृथ्वी का राज्य भोगोगे| क्षत्रिय धर्म निभाते हुए अर्जुन यही एक विकल्प है कि तुम युद्ध लड़ो| किसी भी परिस्थिति में कर्तव्य का पालन नहीं त्यागना चाहिए|

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ।।२-३८।।

दुःख-सुख जय-पराजय समझें समान सदैव प्राज्ञ जन ।
पालन कर्म कर्तव्य से नहीं भोगोगे पाप युद्धवन ।।२-३८।।

भावार्थ: *बुद्धिमान लोग दुःख-सुख, जय-पराजय को समान समझते हैं| हे योद्धा, कर्म कर्तव्य के पालन से पाप के भोगी नहीं बनोगे|*

टीका: अर्जुन को आशंका थी कि युद्ध में कुटुम्बियों का वध कर वह पाप के भागी बनेंगे, यहां प्रभु ने इसको स्पष्ट कर दिया कि दुःख-सुख, जय-पराजय को समान समझते हुए अपने कर्म कर्तव्य का पालन करोगे तो तुम्हें पाप नहीं

लगेगा| सकाम एवं निष्काम, दोनों ही भावों से, अपने कर्म कर्तव्य का पालन करना चाहिए| यद्यपि सकाम भाव स्वार्थ से परिपूर्ण हो सकता है, फिर भी यदि सकाम भाव से भी कोई अपने कर्म कर्तव्य का पालन करता है, उसे भी समाज में सम्मान मिलता है| श्रेष्ठ तो यही है कि निष्काम भावना से जनहित हेतु कर्म कर्तव्य का पालन किया जाए| लेकिन धर्मोचित सकाम अथवा निष्काम किसी भी भावना से कर्म कर्तव्य किया गया हो, पाप किसी से भी नहीं लगता|

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां श्रृणु ।
बुद्धया युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ।।२-३९।।

है दैह्य भिन्न शरीर से यह ज्ञान सांख्ययोग अर्जुन |
दे यह ज्ञान सम बुद्धि करे दूर मोह ममता आवरन ||
सुनो तुम अब ज्ञान कर्मयोग करे जो मुक्त कर्म-बंधन ||२-३९||

भावार्थ: *हे अर्जुन, आत्मा (शरीरी) एवं शरीर भिन्न हैं, यह ज्ञान सांख्ययोग कहलाता है| इस ज्ञान से सम बुद्धि प्राप्त होती है, एवं मोह ममता का आवरण दूर हो जाता है| अब तुम कर्मयोग ज्ञान के बारे में सुनो जिससे कर्म-बंधन का त्याग हो जाता है|*

टीका: सम बुद्धि (विवेक ज्ञान) सांख्ययोग, कर्मयोग या भक्तियोग, किसी भी साधन से प्राप्त हो सकती है| शरीर और शरीरी के विभाग जानकर शरीर विभाग से सम्बन्ध विच्छेद करना सांख्ययोग है| कर्तव्य एवं अकर्तव्य को समझ कर अकर्तव्य का त्याग करना एवं कर्तव्य का पालन करना कर्मयोग है| प्रभु के प्रेम में डूब जाना भक्ति योग है| प्राणी किसी भी एक साधन का अनुष्ठान करके बुद्धि समता (बुद्धि विवेक) को जाग्रत कर सकता है| सम बुद्धि आने से प्राणी सभी कर्मों से मुक्त हो प्रभु को प्राप्त होता है| सांख्ययोग एवं कर्मयोग, धर्मशास्त्र (पूर्व मीमांसा) की ओर इंगित करते हैं और भक्तियोग मोक्षशास्त्र (उत्तर मीमांसा) की ओर इंगित करता है| धर्म से लौकिक एवं पारमार्थिक, दोनों प्रकार की उन्नति होती है|

यतोभ्युदयनिः श्रेयससिद्धिः स धर्मः |

धर्म शास्त्र में कर्तव्य पालन मुख्य है| भक्तियोग में प्रभु से प्रेम और उनसे संगम की इच्छा मुख्य है, जो मुक्तिदाता है|

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।।२-४०।।

होती जब इच्छा जानें और समझें धर्म अवबोधन |
हो विकास सम बुद्धि जो रहे अनवरत पूर्ण जीवन ||
है यह महत मंगल कृत्य जो करे रक्षा भय जन्म-मरन ||२-४०||

भावार्थ: *जब धर्म ज्ञान को जानने एवं समझने की इच्छा होती है, तब सम बुद्धि (विवेक बुद्धि) का विकास होता है (विवेक बुद्धि जाग्रत होती है) जो सम्पूर्ण जीवन तक निरन्तर रहती है| यह (धर्म ज्ञान प्राप्त करने का आरम्भ) महान अनुष्ठान है जो हमें जन्म-मरण के भय से रक्षा करता है (अतः जन्म-मरण का भय नष्ट हो जाता है)|*

टीका: सम बुद्धि प्राप्त होने से प्राणी की विवेकता जाग्रत हो जाती है| इससे प्राणी कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाता है| बंधन का कारण प्रकृति और उसके कार्य से माना हुआ सम्बन्ध है| सम बुद्धि आने से प्रकृति और उसके कार्य से सम्बन्ध नहीं रहता, अतः मनुष्य कर्म-बंधन से छूट जाता है|

सम बुद्धि के लिए धर्म ज्ञान प्राप्त करने की जैसे ही जिज्ञासा जाग्रत होती है, अर्थात इस ज्ञान को प्राप्त करना प्राणी आरम्भ कर देता है, तो इस आरम्भ का कभी नाश नहीं होता, अर्थात फिर यह इच्छा जीवन पर्यन्त शांत नहीं होती| सम बुद्धि ज्ञान का उद्देश्य कल्याण है, जो एक बार प्राणी के हृदय में जाग्रत हो गया, तो बुझता नहीं|

सकाम भाव से किए जाने वाले अनुष्ठान विधि में यदि कोई त्रुटि हो जाए तो उसका विपरीत परिणाम हो सकता है| लेकिन सम बुद्धि जाग्रत हेतु किए गए अनुष्ठान विधि में भूल भी हो जाए, तो कोई उसका विपरीत फल नहीं मिलता| इसका कारण है कि सम बुद्धि प्राप्त करने का उद्देश्य निष्काम जन कल्याण है| उदाहरण के रूप में यदि सेवक के हाथ से जलाते हुए लालटेन का शीशा टूट जाए, तो स्वामी क्रोधित हो उठता है क्योंकि यहां स्वामी की सकाम इच्छा है| उसने सेवक इसीलिए रखा है कि वह कार्य ठीक से करे| लेकिन अगर लालटेन एक मित्र जला रहा है और तब शीशा टूट जाता है, तो स्वामी को क्रोध नहीं आता| क्योंकि मित्र से स्वामी की अपेक्षा सेवा कराने की नहीं है| मित्र तो निष्काम भाव से सेवा कर रहा था|

थोड़ी सी भी सम बुद्धि जाग्रत हो जाए तो प्राणी को यह जन्म-मृत्यु के भय से छुटकारा दे देती है, अर्थात उसका कल्याण कर देती है| यह अभय दानी है| महान से महान भय भी अभय के समक्ष नहीं टिक सकता| सम बुद्धि सत्य है, नित्य है, जबकि भय असत्य है, नाशवान है|

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ।।२-४१।।

पा सकें लक्ष्य सहज सम बुद्धि जन हेतु दृढ़ प्रयोजन |
सम बुद्धि प्राप्त जन कर सकें केंद्रित अपने मन ||
यदि हुआ नहीं मन केंद्रित है असंभव लक्ष्य भेदन |
हैं ऐसे जन बहुशाखी बुद्धि उनकी अध्रुव अनित्यन ||२-४१||

भावार्थ: *सम बुद्धि प्राणी निश्चित प्रयोजन के लिए लक्ष्य की प्राप्ति सहजता से कर लेते हैं| सम बुद्धि से मन केंद्रित हो जाता है| यदि मन केंद्रित नहीं हैं तो लक्ष्य भेद करना असंभव है| ऐसे प्राणी (जिनका मन केंद्रित नहीं है) बहुशाखी (बहुत शाखाओं वाले) हैं जिनकी बुद्धि अनियंत्रित (दृढ़ नहीं है) है|*

टीका: सम बुद्धि प्राप्त करके का अर्थ है परमात्व-तत्व प्राप्त करना| जब प्राणी को ईश्वरत्व की प्राप्ति हो जाती है तब वह संसार के राग, द्वेषों से दूर हो जाता है| वह साधक बन जाता है| अपने मन को केंद्रित करना सीख लेता है जिससे ध्येय की प्राप्ति सरल हो जाती है| यहां ध्येय जन कल्याण एवं प्रभु के समीप पहुँचना है| सकाम भाव वाले प्राणी अपने मन को जन कल्याण हेतु केंद्रित कर पाने में असमर्थ होते हैं| कामना के कारण ऐसे प्राणी की बुद्धि अनंत शाखाओं वाली होती हैं| उदाहरण के रूप में संतान प्राप्ति एक बुद्धि, धन प्राप्ति दूसरी बुद्धि, व्यवसायिक ज्ञान प्राप्ति तृतीय बुद्धि, इत्यादि| ऐसे प्राणी की बुद्धि में परमात्म- तत्व प्राप्ति का निश्चय नहीं होता|

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ।।२-४२।।
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ।।२-४३।।
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ।।२-४४।।

अविवेकी जन जो रखें मुख मधुर आडम्बरी वचन |
है प्रेम सकाम कर्म वर्णित वेद हेतु स्वार्थी जन ||२-४२||
रहें जो सदैव तन्मय आसक्ति भाव काम हे अर्जुन |
लगे उपभोग ही श्रेष्ठ जिन्हें न हो कोई अन्य चिंतन ||
करें अनुष्ठान हेतु भोग यश तथा सादृश्य करन ||२-४३||
पुष्पित मधुर आडम्बर हर लिए जिनके अन्तः करन |
रहते आसक्त भोग ऐश्वर्य रति सदैव जिनके तन ||
नहीं हो सकते वह कभी साधक युक्त दृढ़ मनस्विन ||२-४४||

भावार्थ: *हे अर्जुन, अविवेकी प्राणी जिनके मुख में मधुर दिखावटी वचन रहते हों, जिन्हें वेदों में वर्णित स्वार्थी लोगों की सकाम भावना से प्रेम हो, जो सदैव काम भावना से आसक्त हों, विलास ही जिन्हें श्रेष्ठ लगता हो, इसके अतिरिक्त जिन्हें और कोई विचार न आता हो, जो अनुष्ठान (धर्म यज्ञ इत्यादि) अथवा अन्य*

इस प्रकार के कार्य केवल भोग, यश, काम के किए ही करते हों, जिनके अंतःकरण को पुष्पित मधुर आडम्बरों ने हर लिया हो (अर्थात सांसारिक वस्तुओं की ओर लालायित रहते हों), जिनके शरीर केवल भोग, विलास, यश के प्रति आसक्त रहते हों, ऐसे प्राणी दृढ़ बुद्धि वाले साधक नहीं हो सकते|

टीका: जिन प्राणियों में सत-असत, नित्य-अनित्य, अविनाशी-विनाशी का विवेक नहीं है, ऐसे अविवेकी प्राणी सांसारिक भोग, विलास, यश, काम को ही श्रेष्ठ समझते हैं| उनके सभी कार्य, धर्म यज्ञादि भी केवल सकाम भावना से होते हैं, अर्थात इन सांसारिक भोगों का लाभ उठाने के लिए ही होते हैं| इस प्रकार के प्राणी कभी परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकते|

प्रभु ने मानव शरीर में एक विलक्षण शक्ति दी है जिससे वह सुख, दुःख से ऊंचा उठकर अपना एवं अपने समाज का उद्धार कर सकता है| जन कल्याण भावना से वह प्रभु को भी वश में कर सकता है| लेकिन सांसारिक प्राणी इस विवेक शक्ति का अनादर कर नाशवान भोग, ऐश्वर्य और संग्रह में लिप्त हो जाता है| स्व एवं जन कल्याण में यदि कोई सबसे बड़ी बाधा है तो भोग, ऐश्वर्य, संग्रह की इच्छा| जैसे जाल में फंसी मछली निकल नहीं सकती, उसी प्रकार इन सांसारिक अवगुणों में फंसा प्राणी प्रभु की ओर नहीं मुड़ सकता| इन सांसारिक प्रवृत्तियों में लिप्त एवं आसक्त प्राणी परमात्मा की प्राप्ति के लिए हृदय में दृढ़ निश्चय करने में असमर्थ होता है| सच्चा कर्मयोगी अपना कर्तव्य कर्म धर्म पूर्वक पालन करते हुए निष्काम भाव रखता है| वह दूसरों के सुख से सुखी, दूसरों के दुःख से दुःखी होता है| दूसरों के सुख में सुख देखने के कारण उसमें भोग की कामना नहीं रहती| दूसरों को दुःखी देखकर करुणित होने से संग्रह की इच्छा भी नष्ट हो जाती है|

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ।।२-४५।।

सत रजस तमस हैं त्रिगुण वर्णित वेद हे अर्जुन।
जो होता रहित राग द्वेष द्वन्द होता रहित-त्रिगुन॥
रहित-योगक्षेम हो स्थित हरि हो जाता वह आत्मवन ॥२-४५॥

भावार्थ: *हे अर्जुन, वेदों में वर्णित त्रिगुण, सत, रजस एवं तमस हैं| जो राग, द्वेष, द्वन्द से रहित होता है वह इन त्रिगुणों से भी रहित होता है (अर्थात उसे प्रभु की माया नहीं सताती)| वह योग और क्षेम से रहित, ईश्वर में स्थित होकर (अर्थात चित्त को ईश्वर में लगाकर) आत्मवन हो जाता है (अर्थात परमात्मा प्राप्ति को ही अपना लक्ष्य बना लेता है)|*

टीका: जब प्राणी राग द्वेष एवं द्वन्द से रहित हो जाता है, तब उसमें सत एवं नित्य का विकास हो जाता है| रजस एवं तमस की प्रवृत्ति द्वन्द का कारण बनती है| द्वन्द में प्राणी प्रकृति एवं पुरुष, जड़ एवं चेतन, इनमें भेद नहीं कर पाता| सम बुद्धि के लिए इनमें भेद समझना आवश्यक है| सम बुद्धि प्रभु के सम्मुख ले जाती है|

अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति की इच्छा 'योग' है| और प्राप्त वस्तु के रक्षा करने को 'क्षेम' कहा जाता है| प्राणी को ईश्वर प्राप्ति के लिए न तो अप्राप्त वस्तु की कामना करनी चाहिए और न ही उसकी रक्षा हेतु कोई विचार रखना चाहिए| ऐसी समबुद्धि की प्रवृत्ति योग, क्षेम रहित कही जाती है|

यहां प्रभु अर्जुन को त्रिगुण एवं योग, क्षेम से रहित हो केवल परमात्मा को ही अपना लक्ष्य बनाने का निर्देश दे रहे हैं|

यावारनर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके ।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ।।२-४६।।

नहीं याचित जल लघु जालम् जब जल पूर्ण भाजन।
हो जाए प्राप्त ब्रह्मज्ञान तब है वेद ज्ञान अप्रयोजन ॥२-४६॥

भावार्थ: *जब जलाशय जल से परिपूर्ण हो तो छोटे गड्ढों से जल की आवश्यकता नहीं होती| (उसी प्रकार) जब ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो जाए तो वेद ज्ञान का कोई प्रयोजन नहीं रहता|*

टीका: जिस प्रकार पूरे भरे हुए जलाशय में अतिरिक्त जल की आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार परमात्म-तत्व प्राप्त किए प्राणी को वेद ज्ञान, यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत इत्यादि जितने पुण्यकारी कर्म हैं, उनकी कोई आवश्यकता नहीं होती| परमात्म-तत्व प्राप्त किया प्राणी त्रिगुण रहित हो जाता है| वह निर्द्वन्द हो जाता है|

सांसारिक भोगों का कोई अंत नहीं है| अनंत ब्रह्माण्ड है, और उसमें अनंत तरह के भोग हैं, अनंत कामनाएं हैं| परमात्म-तत्व की प्राप्ति हेतु साधक को इनका त्याग करना पड़ेगा| निष्काम कर्म करने से इन कामनाओं का अंत हो जाता है और प्राणी ईश्वरत्व को प्राप्त होता है|

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतूर्भूर्माते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ।।२-४७।।

है अधिकार तेरा केवल कर्तव्य कर्म पर हे अर्जुन |
है नहीं सामर्थ्य कर सके परिणाम को तू नियंत्रन ||
नहीं कर प्रयास बने हेतु कर्म प्रतिफल युद्धिवन |
कर निष्काम कर्म रहित-आसक्ति यही धर्म पावन ||२-४७||

भावार्थ: *हे अर्जुन, केवल कर्म करना ही तेरा अधिकार है| उसके परिणाम के नियंत्रण में तेरी सामर्थ्य नहीं (अर्थात किए गए कर्म का फल तेरे हाथ में नहीं है)| हे योद्धा, कर्म के फल प्राप्ति का हेतु बनने का प्रयास न कर| आसक्ति-रहित निष्काम कर्म करना ही पवित्र धर्म है|*

टीका: मनुष्य जीवन में दो महत्वपूर्ण संयोग हैं| पूर्व जन्म के फलस्वरूप अनुकूल अथवा प्रतिकूल परिस्थितियां उत्पन्न होती हैं| इस जन्म के कर्मानुसार

वह भविष्य का निर्माण करता है| दोनों ही परिस्थितियों में उसके कर्म के फल का नियंत्रण उसके हाथ में नहीं है| पूर्व जन्म के कर्मों के फलस्वरूप अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थिति को बदलने में वह परतंत्र है| प्रभु ने उसे बुद्धि एवं मानव जीवन का शरीर देकर एक अवसर दिया है कि वह सम बुद्धि द्वारा अपने धार्मिक कर्तव्यों का पालन करे जिससे भविष्य में संभवतः उसे प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना न करना पड़े| प्रभु ने इस मानव को कर्म करने की स्वतन्त्रता दी है| इसलिए प्रभु कह रहे हैं कि आसक्ति-रहित होकर निष्काम कर्म करते हुए बिना परिणाम की इच्छा किए अपने धार्मिक कर्तव्य का पालन करो| उसी से तुम्हारा कल्याण होगा|

मानव के जीवन में जो भी शुभ अथवा अशुभ परिस्थिति आती है, वह उसे सुखदायी अथवा दुःखदायी मान लेता है| वास्तव में परिस्थिति उसे सुख अथवा दुःख नहीं देती, उसकी मन स्थिति ही ऐसा समझती है| वह स्वयं परिस्थिति के साथ अपने आप को मिला देता है और सुख, दुःख का भोगी बन जाता है| यदि प्राणी उस परिस्थिति के साथ तादाम्य न होकर, उसे अपने कर्मों का फल समझते हुए विपरीत परिस्थितियों का भी सदुपयोग करे, तो वही परिस्थिति उसके उद्धार का हेतु बन जाएगी| उदाहरण के रूप में विपरीत परिस्थितियों में दुःखी न होते हुए वह यह सोचे कि संभवतः यह उसके पूर्व जन्म के कुछ अकर्तव्य कर्मों का फल है, और इस विपरीत परिस्थिति ने उसे प्रायश्चित करने का अवसर दिया है तो उसकी दुःख भावना समाप्त हो जाएगी और वह इस विपरीत परिस्थिति में भी आनंदमय रहेगा|

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ।।२-४८।।

कर त्याग आसक्ति रख सिद्धि असिद्धि में एकीभावन |
स्थित हो योग करे कर्म कहें वेद इसे समत्व अर्जुन ||२-४८||

भावार्थ: *हे अर्जुन,आसक्ति त्याग, सिद्धि एवं असिद्धि में सम भाव रखते हुए योग में स्थित होकर कर्म करने को वेद समत्व (योग) कहते हैं|*

टीका: भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन, योग में स्थित होकर केवल ईश्वर के लिए कर्म करो| उसमें भी 'ईश्वर मेरे पर प्रसन्न हों' इस कामना को छोड़कर कर्म करो| फल तृष्णा रहित प्राणी के द्वारा कर्म किए जाने पर अंतःकरण की शुद्धि से उत्पन्न होने वाली ज्ञान प्राप्ति तो सिद्धि है, और उसके विपरीत (ज्ञान प्राप्ति का न होना) असिद्धि है| ऐसी सिद्धि, असिद्धि में सम भाव रखते हुए, अर्थात दोनों को तुल्य समझकर, कर्म करो| यही समत्व योग है|

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ।।२-४९।।

ले आश्रय बुद्धि योग करो त्याग सकाम कर्म अर्जुन |
है सकाम कर्म निकृष्ट होते फल इसके दीन कृपन ||२-४९||

भावार्थ: *हे अर्जुन, बुद्धि योग (सम बुद्धि) का आश्रय लो, एवं सकाम कर्म करना त्याग दो| सकाम कर्म निकृष्ट है, इसके परिणाम क्षुद्र होते हैं|*

टीका: समत्व योग का पालन करो| सकाम कर्म (मनोरथ पूर्ण करने के लिए किए गए कर्म) कल्याणकारी नहीं होते| समत्व भाव एवं सकाम भाव से किए कर्म की तुलना उसी प्रकार है जैसे पर्वत एवं अणु की तुलना करना| समत्व योग (समता) से परमात्म-तत्व की प्राप्ति होती है (अर्थात मोक्ष की प्राप्ति होती है) जबकि सकाम कर्म जन्म-मृत्यु देने वाला है| इसलिए समता में ही स्थित रहना चाहिए| समता का ही आश्रय लेना चाहिए|

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ।।२-५०।।

कर त्याग पाप पुण्य हो तू युक्त सम बुद्धि अर्जुन |
है समत्व योग कर्म कौशल करे मुक्त कर्म-बन्धन ||२-५०||

भावार्थ: *हे अर्जुन, पाप, पुण्य (की भावना) त्यागकर तू सम बुद्धि से युक्त हो जा (अर्थात सम बुद्धि को ग्रहण कर ले)| समत्व योग ही कर्म कुशलता है जो कर्म-बंधन से मुक्ति देती है|*

टीका: सम बुद्धि से युक्त प्राणी समता प्राप्त करता है| समता एक ऐसी विद्या है जिससे प्राणी संसार में रहते हुए भी संसार से निर्लिप्त रहना सीख जाता है| जैसे कमल का पत्ता जल से ही उत्पन्न होता है और जल में ही रहता है, पर वह जल से लिप्त नहीं होता| सम बुद्धि प्राप्त प्राणी पुण्य, पाप से असंग हो जाता है|

कर्मों की सिद्धि (मनोरथ पूर्ण) असिद्धि (मनोरथ अपूर्ण) में सम भाव रखना ही कर्मों में कुशलता है, और यह सम बुद्धि से ही प्राप्त हो सकती है| कर्म करते हुए जब अंतःकरण में समता रहती है, तो प्राणी कर्म एवं उसके फल से बंधता नहीं है, अतः कर्म बंधन से मुक्त हो जाता है|

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्तवा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ।।२-५१।।

करें त्याग फल सांसारिक युक्त समता साधक जन |
पाएं वह निर्विकार पद हो मुक्त जन्म-मरण बंधन ||२-५१||

भावार्थ: *समता-युक्त (सम बुद्धि) साधक सांसारिक फलों का त्याग कर जन्म-मरण के बंधन से मुक्त हो निर्विकार पद को प्राप्त करते हैं|*

टीका: सात्विक कर्म का फल निर्मल है| राजस कर्म का फल दुःख है| तामस कर्म का फल मूढ़ता है| इन त्रिगुणों का फल सांसारिक फल है| प्रभु कह रहे हैं कि इन त्रिगुणों के फलों को समता युक्त प्राणी त्याग देते हैं| इन त्रिगुणों के फल त्यागने को सामान्यतः कर्म फल की इच्छा का त्याग एवं कर्मों के फल स्वरुप अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थितियों से सुखी अथवा दुःखी न होना कहा जा सकता है| यदि कर्म फल का त्याग कर दिया तो फिर कोई भी बंधन नहीं रहता|

प्रभु ने यहां यह स्पष्ट कर दिया कि मुक्ति के लिए त्रिगुण कर्मों के फल को त्यागना एवं सम भावना (समत्व योग) से कर्म करना आवश्यक है|

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ।।२-५२।।

जब हो पार तेरी बुद्धि मोहरूपी दलदल हे अर्जुन |
तब मिलेगा वैराग्य सब भोग से पाओगे तत्व भगवन ||२-५२||

भावार्थ: *हे अर्जुन, जब तुम्हारी बुद्धि मोहरूपी दलदल से पार हो जाएगी (अर्थात तुम्हारा मोह भंग हो जाएगा) तब समस्त भोग से तुम्हें वैराग्य मिल जाएगा (अर्थात भोगों को त्याग दोगे) और परमात्म-तत्व की प्राप्ति करोगे| |*

टीका: कौटुम्बिक ममता जो अर्जुन को सता रही है, उसे यहां मोह कहा गया है| इस मोहरूपी दलदल में जब बुद्धि फँस जाती है, तब प्राणी किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है| जब तक इस दलदल से बाहर न निकल जाया जाए, कल्याण होना असंभव है| इस दलदल से बाहर निकलने का दृढ़ निश्चय ही बुद्धि को मोहरूपी दलदल से पार कराना है| भगवान् कह रहे हैं कि जब बुद्धि मोह कलिल को पार कर जाती है, तब बुद्धि में विवेक जाग्रत हो जाता है| तब सांसारिक भोगों से प्राणी को वैराग्य हो जाता है| यही मुक्ति का द्वार है|

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ।।२-५३।।

है मोहवश तेरी बुद्धि विचलित इस काल पृथानंदन |
जब हो स्थिर आत्मरूप मिले नित्य संयोग भगवन ||२-५३||

भावार्थ: *हे अर्जुन, इस समय तेरी बुद्धि मोहवश विचलित है| जब (बुद्धि) आत्मरूप में स्थिर हो जाएगी तो तेरा ईश्वर से नित्य संयोग हो जाएगा|*

टीका: मोह दो प्रकार का होता है, सांसारिक मोह एवं दार्शनिक मोह| शरीर, कौटुम्बुक ममता, धन-संपत्ति आदि में राग सांसारिक मोह है| द्वैत, अद्वैत, विशिष्टा द्वैत, द्वैता-द्वैत आदि दार्शनिकता में उलझ जाना दार्शनिक मोह है| अर्जुन दोनों प्रकार के मोहों में पड़े हुए हैं| इन दोनों मोहों का त्याग करने पर भोगों से वैराग्य हो जाता है, और बुद्धि स्थिर हो जाती है| बुद्धि स्थिर होने पर योग की प्राप्ति होती है अर्थात परमात्मा से दूरी मिट जाती है| प्राणी को केवल अपने कल्याण का उद्देश्य होना चाहिए| धन-संपत्ति, कुटुंब-परिवार आदि से कोई स्वार्थ का सम्बन्ध नहीं हो तो वह सांसारिक मोह से तर जाता है| तत्व का अनुभव करने से वह दार्शनिक मोह से तर जाता है| जब साधक इन दोनों मोहों से दूर हो जाता है तो वह मुक्ति का एवं प्रभु भक्ति का अधिकारी हो जाता है, भगवान् से नित्य संयोग हो जाता है| यही प्रभु अर्जुन को यहां समझा रहे हैं|

अर्जुन उवाच
स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ।।२-५४।।

अर्जुन उवाच
बोले अर्जुन बताओ केशव मुझे समाधिस्थ लक्षन |
कैसे बोलते बैठते चलते हैं वह स्थिर बुद्धि जन ||२-५४||

भावार्थ: *अर्जुन बोले, 'हे केशव, मुझे अब परमात्म-तत्व प्राप्त प्राणियों के लक्षण बताओ| वह स्थिर बुद्धि वाले कैसे बोलते हैं, कैसे बैठते हैं एवं कैसे चलते हैं?'*

टीका: प्रभु के यह समझाने पर कि हे अर्जुन, जब तुम योग को प्राप्त हो जाओगे, तो स्थित-प्राज्ञ हो जाओगे, अर्जुन के हृदय में एक शंका हुई| मैं कैसे जानूंगा कि मैं स्थिति-प्राज्ञ हो गया? मेरे स्थिर बुद्धि होने पर क्या लक्षण होंगे? यही शंका अर्जुन भगवान् कृष्ण के समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं|

श्रीभगवानुवाच
प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ।।२-५५।।

श्रीभगवानुवाच
बोले भगवन जो कर सके जन त्याग सम्पूर्ण मन्मन् |
रहे संतुष्ट स्वयं हर काल वह स्थिर बुद्धि प्रथानन्दन ||२-५५||

भावार्थ: *भगवान् बोले, 'प्रथानन्दन, जो अपनी सम्पूर्ण कामनाओं का त्याग कर सके एवं हर समय अपने आप में संतुष्ट रहे, वह प्राणी स्थिर बुद्धि है|'*

टीका: अपनी सम्पूर्ण कामनाओं का त्यागकर जब प्राणी का उद्देश्य भगवद प्राप्ति हो जाता है, तब उसकी बुद्धि निश्चल हो जाती है, प्रभु पर केंद्रित हो जाती है| इसे स्थिर बुद्धि प्राणी कहा जाता है| परन्तु जिसका उद्देश्य सांसारिक है, उसकी बुद्धि असंख्य कामनाओं में भ्रमित एवं बंटी होती है, क्योंकि सांसारिक भोग अनेक हैं| यहां मन की स्थिरता एवं बुद्धि की स्थिरता को भी समझ लेना आवश्यक है| मन की स्थिरता लौकिक सिद्धियां प्राप्ति में सहायक होती हैं जब कि बुद्धि की स्थिरता से पारमार्थिक सिद्धि (कल्याण की प्राप्ति) प्राप्त होती है| इसलिए प्रभु ने यहां बुद्धि की स्थिरता को महत्व दिया है, न कि मन की स्थिरता को| मन स्थिर होने पर बाहरी क्रियाएं रुक जाती हैं, अतः कर्मयोगी कर्तव्य कर्म नहीं कर पाता| लेकिन प्रभु तो समत्व योग में स्थित कर्म करने की आज्ञा देते हैं 'योगस्थः कुरु कर्माणि'| अतः बुद्धि की स्थिरता परमात्मा प्राप्ति में आवश्यक है, न कि मन की स्थिरता|

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ।।२-५६।।

हो नहीं विचलित मन हों प्राप्त जब दुःख हे अर्जुन |
हो नहीं कामना सुख हो रहित राग भय क्रोध मन ||
यह लक्षण स्थिर बुद्धि समाधिस्थ मननशील जन ||२-५६||

भावार्थ: *हे अर्जुन, दुःख प्राप्त होने पर मन विचलित नहीं हो, सुख प्राप्ति की कामना न हो, हृदय ममता, भय एवं क्रोध से रहित हो, यह लक्षण परमात्मा को प्राप्त स्थिर बुद्धि मननशील प्राणी के होते हैं|*

टीका: कर्मयोग का प्रकरण होने से यहां मननशील कर्मयोगी को परमात्म-तत्व प्राप्त हुआ प्राणी कहा गया है| मननशीलता का शाब्दिक अर्थ है, सावधानी से मनन करने वाला, अर्थात विवेकशील चिंतन| विवेकशील चिंतन से मन में कोई कामना आसक्ति नहीं आती| निरंतर अनासक्त रहना ही स्थिर बुद्धि कर्मयोगी के लक्षण हैं| यही स्थिर बुद्धि प्राणी को परमात्म-तत्व की प्राप्ति कराती है|

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।२-५७।।

रहे जो सम हर काल शुभ अशुभ रहित आसक्ति जन |
न हो प्रसन्न न करे द्वेष कभी है वह स्थिर बुद्धि महन ||२-५७||

भावार्थ: *जो हर समय शुभ, अशुभ में आसक्ति रहित हो, न कभी प्रसन्न और न द्वेष करने वाला हो, ऐसा ज्ञानी स्थिर बुद्धि वाला होता है|*

टीका: आसक्ति-रहित प्राणी, अर्थात जिसकी शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, स्त्री, पुत्र, गृह, धन इत्यादि सांसारिक वस्तुओं में ममता न हो, जो हर समय चाहे अनुकूल परिस्थिति हो अथवा प्रतिकूल, सम भावना रखता हो, शुभता में प्रसन्नता एवं अशुभता में द्वेषता प्रदर्शित न करने वाला हो, ऐसे प्राणी को स्थिर बुद्धि कहा जाता है|

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ।।२-५८।।

जैसे है सामर्थ्य कुर्म समेट सके अंग अपने तन |
समान हटा सके इन्द्रिय सुख से कर्मयोगी मन ||
हों न अल्प सम्बन्ध इन्द्रिय यह स्थिर बुद्धि लक्षन ||२-५८||

भावार्थ: *जैसे कछुआ अपने शरीर में सभी अंगों को समेट लेने की सामर्थ्य रखता है, उसी समान कर्मयोगी अपने मन को इन्द्रिय सुखों से हटा लेता है| इन्द्रियों से किंचित मात्र सम्बन्ध न हो, यह स्थिर बुद्धि के लक्षण हैं|*

टीका: जब साधक अपनी इन्द्रियों को समेट लेता है, अर्थात उन्हें वश में कर लेता है तो स्वतः सिद्ध तत्व का अनुभव करने लगता है| यह अनुभव काल के अधीन अथवा काल की सीमा में नहीं होता क्योंकि यह किसी क्रिया अथवा त्याग का फल नहीं है| यह उत्पन्न होने वाली वस्तु नहीं है| उदाहरण के रूप में सूर्य के समक्ष यदि नेत्र बंद कर लिए जाएं तो सूर्य दिखाई नहीं देते, लेकिन सूर्य तो सदैव से थे| यहां नेत्र रूपी इन्द्रियों के आवरण ने सूर्य को ढक लिया है| जब यह आवरण हटा दिया जाता है, तो सूर्य, या कहिए परमात्मा के दर्शन हो जाते हैं| इन्द्रियों द्वारा भोगों के साथ सम्बन्ध रूप पर्दा रहने से इसका अनुभव नहीं होता और पर्दा हटते ही अनुभव होने लगता है| अतः कर्मयोगी इन्द्रिय सुख का पर्दा हटा देते हैं और स्थिर बुद्धि हो जाते हैं|

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ।।२-५९।।

है संभव साधक करें प्रयास हेतु इन्द्रिय नियंत्रन |
हों निवृत विषय इन्द्रिय पर रहे अंदर रसबुद्धि मन ||
किन्तु स्थितप्राज्ञ करते हुए सदैव अनुभव भगवन ||
रखें नहीं कभी कोई रूचि किसी विषय रस मनन ||२-५९||

भावार्थ: *यह संभव है कि साधक भोग इन्द्रियों को वश में करने का प्रयास करें, और इन्द्रिय विषयों से निवृत भी हो जाएं, परन्तु हृदय के अंदर रसबुद्धि फिर भी बनी रहती है| स्थितिप्राज्ञ (स्थिर बुद्धि वाले साधक) प्राणी परमात्त्व-तत्व का*

अनुभव करते हुए सभी विषय रसों में कोई रूचि नहीं रखते (अर्थात स्थिर बुद्धि वाले साधक वही हैं जिनके हृदय के किसी कोने में भी रसबुद्धि न हो)|

टीका: भोगों की सत्ता और महत्ता मानने से अंतःकरण में भोगों के प्रति एक सूक्ष्म खिंचाव, प्रियता एवं मिठास पैदा होती है, उसका नाम रस है| उदाहरण के रूप में यदि लोभी व्यक्ति को धन मिल जाए और कामी व्यक्ति को स्त्री मिल जाए तो उसके अंदर एक प्रसन्नता आ जाती है, यही रस है| भोग भोगने के पश्चात प्राणी इस आनंद की स्मृति संजोये रहता है| अगर साधक अपने हृदय में इस स्मृति को संजोये हुए है, यद्यपि उसने इन्द्रियों को वश में करने का प्रयास किया और सफल भी हुआ, परन्तु जब तक यह स्मृति मिट नहीं जाती तब तक साधक स्थिर बुद्धि स्थिति को प्राप्त नहीं हो सकता| जब तक संयोगजन्य सुख में रस बुद्धि रहती है, तब तक प्रकृति तथा उसके कार्य की पराधीनता ही रहती है| रस बुद्धि निवृत होने पर पराधीनता सर्वथा मिट जाती है एवं भोगों के सुख की परवशता नहीं रहती| अतः स्थिर बुद्धि साधक वही है जिसने इस रस की स्मृति को पूर्णतः भुलाकर परमात्म-तत्व को प्राप्त कर लिया है|

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ।।२-६०।।

हो यदि रस बुद्धि भाव हिय करें प्रयास इन्द्रिय दमन |
रहे स्मरण सदैव यह सनातन सत्य हे कुन्तीनन्दन ||
हर लेतीं क्लेशित इंद्रियां उसका बलपूर्वक मन ||२-६०||

भावार्थ: *हे अर्जुन, इन्द्रियों को वश में करने के प्रयास में यदि रस बुद्धि हो, तो इस सनातन सत्य को सदैव स्मरण रखो कि यह दुःखदायी इंद्रियां बलपूर्वक उसके (साधक के) मन को हर लेती हैं (अर्थात मन को विचलित कर देती हैं)|*

टीका: इन्द्रिय दमन के प्रयास के समय यदि हृदय में रस बुद्धि संयोजित हो तो कितना भी प्रयास किए जाएं फिर भी यह कुलषित इंद्रियां हृदय को अपनी ओर खींच लेती हैं| जब तक बुद्धि सर्वथा परमात्म-तत्व में स्थिर न हो जाए तब

तक बुद्धि में सांसारिकता की यत्किंचित सत्ता रहती है| जब तक विषयेन्द्रीय सम्बन्ध के सुख संस्कार रहते हैं तब तक साधन परायण साधक की इंद्रियां सर्वथा वश में नहीं होतीं| इन्द्रियों के विषय समक्ष होने पर भोगे हुए भोगों के संस्कारों के कारण इंद्रियां मन, बुद्धि को बल पूर्वक विषयों की ओर खींच ले जाती है| ऐसे अनेक ऋषियों के उदाहरण समक्ष हैं जो विषयों के सामने आने पर विचलित हो गए| अतः जब तक साधक पूर्ण रूप से परमात्म-तत्व में लीन होकर स्थिर बुद्धि को प्राप्त नहीं कर लेता तब तक वह जितेन्द्रिय नहीं कहा जा सकता|

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।२-६१।।

हे साधक कर वश इंद्रियां हो समर्पित नारायन |
रस रहित जिसके वश इंद्रियां है स्थिर बुद्धि जन ||२-६१||

भावार्थ: *हे साधक, इन्द्रियों को वश में कर भगवान् को समर्पित हो| जिसके रस रहित इंद्रियां वश में हों, वही प्राणी स्थिर बुद्धि है|*

टीका: कर्मयोग साधक को भगवान् ने अपने में समर्पित होने को कहा है क्योंकि भगवान् के प्रति समर्पण हुए बिना इन्द्रियों का सर्वथा वश में करना कठिन है| कुछ लोग शंका कर सकते हैं कि यह कठिन है, परन्तु असंभव नहीं| कर्मयोग में त्याग से शान्ति मिलती है| बिना भगवान् को समर्पित अगर इंद्रियां वश में कर भी लीं तो प्रत्युत सांसारिक दुःख, अशांति मिटने का सुख प्राप्त हो सकता है, लेकिन परमानंद सुख का अनुभव नहीं हो सकता| परमानंद सुख जो भक्ति से ही मिलता है, उसे मिले बिना इंद्रियां सर्वथा वश में नहीं हो सकतीं| रस बुद्धि का भाव अवश्य रहेगा| भक्ति में, प्रभु के प्रति पूर्ण समर्पण करने से वैराग्य भाव जाग्रत हो जाता है और इंद्रियां सुगमता से वश में हो जाती हैं|

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ।।२-६२।।

क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।।२-६३।।

हो विषय सुख आसक्ति यदि करे मनुष्य रस चिंतन |
आसक्ति जगाए कामना हो उत्पन्न रोष अकृत मन्मन् ||२-६२||

है मूढ़ भाव प्रतिफल रोष जो करे भ्रष्ट बुद्धि जन |
भ्रष्ट बुद्धि से हो नष्ट विवेक करे वह मनुष्य पतन ||२-६३||

भावार्थ: *यदि मनुष्य रस चिंतन करता है तो सुख विषय (भोगों) में आसक्ति हो जाती है| आसक्ति कामनाओं को जाग्रत करती है| कामनाओं के अपूर्ण रहने से क्रोध उत्पन्न होता है| क्रोध का प्रतिफल मूढ़ भाव (सम्मोह) है, जिससे मनुष्यों की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है| बुद्धि भ्रष्ट होने से विवेक नष्ट हो जाता है, तब मनुष्य का पतन हो जाता है|*

टीका: प्रभु के प्रति समर्पण न होने पर भोग विषयों का ही चिंतन होता है| मनुष्य के एक ओर संसार है, दूसरी ओर परमात्मा| यदि परमात्मा का आश्रय नहीं लिया तो संसार का ही आश्रय लिया जाएगा| संसार का आश्रय, अर्थात विषय भोगों का चिंतन| इस प्रकार चिंतन से मनुष्य को विषयों में आसक्ति, राग, प्रियता उत्पन्न हो जाती है| आसक्ति पैदा होने से मनुष्य उन विषयों का सेवन करने लगता है| यदि भोगों को मिलने में कोई बाधा आती है, तो क्रोध उत्पन्न होता है| क्रोध होने पर मनुष्य अपना नियंत्रण खो देता है, जिससे मूढ़ भाव उत्पन्न हो जाता है| विवेक शक्ति खो देने के कारण मनुष्य कामना के वशीभूत होकर न करने वाले कार्य कर बैठता है, जिससे उसके मान, सम्मान, प्रतिष्ठा को धक्का लगता है और वह अपनी एक उच्च सामाजिक स्थिति से नीचे गिर जाता है, अतः पतन हो जाता है| प्रभु कह रहे हैं कि इस अंततः पतन से बचने के लिए भगवान् का परायण होना ही एक मात्र उपाय है|

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ।।२-६४।।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ।।२-६५।।

जो रहित राग द्वेष मन समझो वह कर्मयोगी जन |
कर वश इंद्रियां करे भोग विषय यथोचित सज्जन ||
है यही विधि हो जाए निर्मल साधक का अंतःकरन ||२-६४||
हों नाश तब सब दुःख हो जाए चित्त प्रसन्न पावन |
निःसंदेह हो तब तत्काल स्थिर बुद्धि प्रति भगवन ||२-६५||

भावार्थ: *कर्मयोगी साधक वही है जो मन में राग द्वेष से रहित हो, अपनी इन्द्रियों को वश में कर भद्र पुरुष के उपयुक्त विषय भोगे| इस विधि से साधक का अन्तःकरण निर्मल हो जाता है| तब सम्पूर्ण दुःख नष्ट हो जाते हैं तथा मन प्रसन्न एवं पवित्र हो जाता है| निःसंदेह तब तत्काल साधक की बुद्धि भगवान् में स्थिर हो जाती है|*

टीका: भगवद विषयक प्रसन्नता हो अथवा व्याकुलता, इन दोनों ही स्थितियों में से कोई एक भी यदि मन में बढ़ जाए तो शीघ्र ही परमात्मा की प्राप्ति होती है| प्रसन्नता एवं व्याकुलता, दोनों ही स्थिति में अंतःकरण द्रवित हो जाता है| जैसे द्रवित मोम में रंग डालने से मोम में रंग स्थाई हो जाता है, उसी प्रकार जब अंतरंग द्रवित हो तो उसमें भगवान् का रंग डालने से भगवदमय हो जाता है| बुद्धि स्थिर हो जाती है| यह तभी संभव है जब प्राणी राग, द्वेष से रहित होकर इन्द्रियों को वश में कर ले और भद्र पुरुषों जैसा आचरण करते हुए केवल यथोचित विषयों को भोगे| राग, द्वेष से रहित प्राणी को संसार में बने रहने के लिए यदि विषयों का भोग भी करना पड़े तो उसका पतन नहीं होता, वह परमात्म-तत्व को प्राप्त हो जाता है| राग, द्वेष से रहित होने पर विषय भोग प्रसाद की भांति हो जाते हैं| सदैव प्रसन्नता रहे, कभी खिन्नता न हो, नीरसता का अनुभव न हो, यही प्रसाद है| जब साधक इस विधि का अनुसरण करता है, तब उसकी बुद्धि प्रभु में स्थिर हो जाती है|

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ।।२-६६।।

है असंभव होना बुद्धि स्थिर यदि नहीं नियंत्रित मन |
नहीं रहती निष्काम भावना सादृश्य अयुक्त भूजन ||
कारण इसके रहे अशांति हो नहीं नर सुखी जीवन ||२-६६||

भावार्थ: *यदि मन संयमित नहीं हैं तो स्थिर बुद्धि होना असंभव है| इस प्रकार के अयुक्त प्राणी में निष्काम भावना नहीं होती| इस कारण अशांति रहती है और मानव का जीवन सुखी नहीं रहता|*

टीका: अहंता (मैं का भाव) के भाव होने पर इंद्रियां वश में नहीं की जा सकतीं| अहंता का भाव एक प्रकार का रस भोग ही है जहां स्वयं को उच्च एवं अन्य को नीच ठहराने की भावना रहती है| अहंता के अभाव से निवृत प्राणी में एक निश्चयता का बोध होता है जो स्थिर बुद्धि देने में सहायक होता है| रस भोग अथवा किसी भी प्रकार के राग, द्वेष होने से निष्काम भावना पैदा नहीं हो सकती| यह दोष सकाम भावना देने वाले हैं| यदि निष्काम भाव से कृत्य नहीं किए जाते, तो शाश्वत शांति संभव नहीं| अगर शान्ति नहीं तो अनंत सुख की प्राप्ति कैसे हो सकती है?

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ।।२-६७।।

जिस प्रकार बहती नौका जिस ओर बहाव पवन |
वैसे ही विचरे साधक यदि युक्त विषय इन्द्रिय मन ||
होती भ्रष्ट बुद्धि सादृश्य इन्द्रिय विषय युक्त जन ||२-६७||

भावार्थ: *जैसे वायु का बहाव नौका को अपनी दिशा की ओर खींच ले जाता है, उसी प्रकार साधक का मन विषय में विचरण करने वाली इन्द्रिय की ओर हो जाता है| विषय इन्द्रिय युक्त प्राणी की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है|*

टीका: वायु नौका को दो प्रकार से प्रभावित करती है| नौका को पथ भ्रष्ट कर देती है अथवा जल में डुबो देती है| परन्तु चतुर नाविक इस वायु की क्रिया को अपने अनुकूल बना लेता है, जिससे वायु नौका को अपने मार्ग से अलग नहीं ले जा सकती प्रत्युत उसको गंतव्य स्थान तक ले जाने में मदद करती है| उसी प्रकार इन्द्रियों के अनुगामी प्राणी को भी मन बुद्धि दो प्रकार से विचलित करती है| परमात्म-तत्व की प्राप्ति के निश्चय को दबाकर भोग बुद्धि में लगा देती है और निषिद्ध भोगों में लगाकर पतन की ओर ले जाती है| परन्तु जिस साधक का मन इंद्रियां के वश में न हो, उसकी बुद्धि विचलित नहीं होती प्रत्युत यही इंद्रियां उसे परमात्मा के पास पहुंचाने में मदद करती हैं| क्योंकि जिसका चित्त परमात्मा में लीन हो जाता है, उसे भीतर बाहर किसी भी इन्द्रिय का भान ही नहीं होता| यही इंद्रियां उसे सुख की अनुभूति कराती हैं| कोई भी अनुभव की अनुभूति करने के लिए इन्द्रियों की आवश्यकता है| परमात्म-तत्व का अनुभव भी इन्द्रियों द्वारा ही होता है| अतः यही इंद्रियां कर्मयोगी स्थिर बुद्धि साधक को परमात्म-तत्व का बोध कराती हैं|

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।२-६८।।

हों नियंत्रित समस्त विषय भोग इंद्रियां युद्धिवन |
समझो बुद्धि उसकी स्थिर है वह समर्पित भगवन ||२-६८||

भावार्थ: *हे महायोद्धा, जो प्राणी समस्त विषय भोग इन्द्रियों को नियंत्रण कर ले, उसकी बुद्धि स्थिर समझो| वह प्रभु को समर्पण है|*

टीका: साधक जब दृढ़ता से सभी विषय भोग सम्बंधित इन्द्रियों को वश में कर लेता है, और प्रभु को समर्पित हो जाता है तो उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है| विषयों से तब उसका लेशमात्र भी राग, आसक्ति एवं खिंचाव नहीं रहता| जैसे सर्प के अगर दन्त निकाल दिए जाएं, तो उसके काटने से फिर विष नहीं फैलता| यह राग, द्वेष विषयी इंद्रियां ही विष हैं| इनके निकाल देने से साधक निर्मल हो कर प्रभु को प्राप्त करता है|

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।।२-६९।।

है जग सम दुःखदायी निशा जो विमुख प्रभु भूजन ।
जागता रहे संयमी रात्रि ले इच्छा पाए परम भगवन ।।
जागें जो नर हेतु भव सुख समझो काल रात्रि संतन ।।२-६९।।

भावार्थ: *प्रभु से विमुख प्राणी के लिए यह संसार दुःखदायी रात्रि के समान है| संयमी (साधक) इस रात्रि में परम भगवान् की इच्छा लिए हुए जागता रहता है (अर्थात संयमी साधक प्रभु की प्राप्ति हेतु साधना करता रहता है)| जो प्राणी सांसारिक सुखों के लिए जागते हैं, वह संतों के लिए काल रात्रि है|*

टीका: सांसारिक प्राणी हर समय भोग और संग्रह में ही लगे रहते हैं| लौकिक वस्तुओं की प्राप्ति में ही अपनी उन्नति मानते हैं| परन्तु जीवन-मुक्त, तत्वज्ञ महापुरुष तथा सच्चे साधकों के लिए वह काल रात्रि है, अंधकार है| इस रात्रि का उनके लिए कोई उपयोग नहीं| उनकी दृष्टि में ब्रह्मलोक तक सम्पूर्ण संसार विद्यमान नहीं है, 'नासतो विद्यते भावः'| सांसारिक विषयों में उनकी बुद्धि जाती ही नहीं है| संसारी लोग तो रात्रि को विषय भोग हेतु देखते हैं, लेकिन संयमी साधक इसे प्रभु प्राप्ति का साधन मानकर साधना करते हैं, और परमानंद की प्राप्ति के लिए जागते रहते हैं|

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ।।२-७०।।

जैसे समाए जल पूर्ण नदी अचल सागर अन्तःकरन ।
होता नहीं विचलित महान सागर इस कृत्य तटिन ।।
न कर सकें वैसे विचलित भोग इन्द्रिय महास्विन ।
पाए वह साधक परम शान्ति न कि काम कामी जन ।।२-७०।।

भावार्थ: *जिस प्रकार जल से पूर्ण नदी अचल सागर में समा जाती है, और नदी के इस कृत्य (सागर में समाने) से महान सागर विचलित नहीं होता, उसी प्रकार इन्द्रिय भोग महापुरुषों को विचलित नहीं कर सकते| इस प्रकार का साधक परम शान्ति को प्राप्त करता है, न कि काम से पीड़ित कामी प्राणी|*

टीका: कामना के कारण यह संसार जड़ दिखता है, वास्तव में यह चिन्मय परमात्मा ही है| 'वासुदेवः सर्वम'| जब प्राणी कामना रहित हो जाता है तब उस निष्काम प्राणी के पास आवश्यक वस्तुएं स्वतः ही आने लगती हैं| परन्तु कामना रहित होने के कारण उसके अंदर वस्तुओं के प्राप्त होने अथवा न होने पर कोई विकार उत्पन्न नहीं होता| वह किसी भी स्थिति में विचलित नहीं होता| ऐसे साधक को परम शान्ति की प्राप्ति होती है| इसके विपरीत कामना वाले प्राणी को वस्तुएं प्राप्त हों या न हों, उसके भीतर सदैव अशांति बनी रहती है| वह ९९ के फेर में पड़ा रहता है|

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ।।२-७१।।

कर त्याग सम्पूर्ण कामना हो स्पृहा रहित जो जन |
राग द्वेष अहंकार सम दुर्गुण रहित करे आचरन ||
पाए वह परम शान्ति सुन यह वेद वचन हे अर्जुन ||२-७१||

भावार्थ: *हे अर्जुन, सम्पूर्ण कामनाओं को त्यागकर जो प्राणी विषय रहित हो जाते हैं, जो राग, द्वेष, अहंकार जैसे दुर्गुणों से रहित आचरण करते हैं, उन्हें परम शान्ति मिलती है, ऐसा वेद कहते हैं|*

टीका: कामना का त्याग होने पर भी शरीर निर्वाह मात्र के लिए कुछ न कुछ वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ आदि की आवश्यकता रह जाती है, जिसे स्पृहा कहा जाता है| स्थित प्राज्ञ महापुरुष में शरीर निर्वाह मात्र वस्तुओं की भी कोई आवश्यकता नहीं रहती| उन्हें तो यथार्थ में शरीर की भी आवश्यकता नहीं रहती| स्मरण रहे कि शरीर की आवश्यकता प्राणी को पराधीन बना देती है| आवश्यकता तभी

पैदा होती है जब मनुष्य उस वस्तु को स्वीकार कर लेता है जो उसकी नहीं है| कर्मयोगी साधक किसी भी वस्तु को अपनी या अपने लिए नहीं मानता, प्रत्युत संसार की और संसार के लिए ही मानता है| इसलिए उसे किसी भी वस्तु की आवश्यकता नहीं रहती| कामना और स्पृहा दोनों का त्याग करने का तात्पर्य है कि वस्तुओं की और निर्वाह की कामना (शरीर की आवश्यकता) भी न हो| निर्वाह की कामना को भी सुख भोग ही कहा गया है| कोई भी कामना, चाहे वह शान्ति, मुक्ति, तत्व ज्ञान आदि की हो, वह कामना ही है| निष्काम भाव में मुक्ति तक की भावना नहीं होनी चाहिए| ऐसा निष्काम प्राणी ही परम शान्ति को प्राप्त करता है|

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ।।२-७२।।

ॐ तत्सदिति श्रीमदभगवदगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ||

होते वह लीन ब्रह्म जो करें यह पालन प्रथानन्दन|
होते नहीं मोहित वह और पाएं अंतकाल धाम भगवन ||२-७२||

करते हुए ओम तत सत पूर्ण भगवन्नाम उच्चारन|
ब्रह्मविद्या योगशास्त्रमय महाग्रंथ गीतबंधन||
श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषदरूप ग्रन्थ अति पावन|
श्री कृष्णार्जुन संवाद सांख्य योग नामन||
हुआ अत्र सम्पूर्ण द्वितीय अध्याय करे कल्याण जन||

भावार्थ: *हे अर्जुन, जो इस प्रकार की साधना करते हैं, वह ब्रह्म में लीन हो जाते हैं| वह कभी मोहित नहीं होते एवं अंतकाल में ब्रह्म-धाम पाते हैं (अर्थात निर्वाण पा जाते हैं)|*

ओम तत सत' भगवन्नाम का उच्चारण करते हुए अति पवित्र ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रमय महाकाव्य ग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषदरूप श्री कृष्णार्जुन संवाद 'सांख्य योग' नाम का द्वितीय अध्याय जो जन कल्याण करेगा, समाप्त हुआ|

टीका: निर्मम और निरहंकार होने से साधक का असत विभाग से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है और सत विभाग में अर्थात ब्रह्म में अपनी स्वतः स्वाभाविक स्थिति का अनुभव हो जाता है, जिसको 'ब्रह्म स्थिति' कहते हैं| इस ब्रह्म स्थिति को प्राप्त होने पर शरीर का कोई स्वामी नहीं रह जाता अर्थात शरीर का व्यक्तित्व मिट जाता है| प्राणी अहंकार के आश्रित नहीं रहता| इस स्थिति का अनुभव होने पर कभी मोह नहीं होता| अगर अंत काल में मनुष्य निर्मम निरहंकार होकर ब्रह्म स्थिति का अनुभव कर ले, तो उसको तत्काल निर्वाण अर्थात ब्रह्मलोक में निवास मिल जाता है|

अध्याय ३: कर्मयोग

अर्जुन उवाच
ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ।।३-१।।
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ।।३-२।।

अर्जुन उवाच
छंद:
है यदि बुद्धि श्रेष्ठ अपेक्षित कर्म बोले अर्जुन।
तो क्यों देते आदेश करूं मैं घोर कर्म पालन ।।३-१।।
हो रही बुद्धि मोहित सुन आपके भ्रमित वचन।
दें निश्चित ज्ञान करूं प्राप्त कल्याण जनार्दन ।।३-२।।

भावार्थ: *अर्जुन बोले, 'हे जनार्दन, यदि कर्म से बुद्धि श्रेष्ठ है तो आप मुझे घोर कर्म करने का आदेश क्यों दे रहे हैं? आपके भ्रमित वचन सुनकर मेरी बुद्धि मोहित हो रही है| आप मुझे निश्चित ज्ञान दें, जिससे मेरा कल्याण हो|'*

टीका: प्राणी के अंतःकरण की यह दुर्बलता है कि वह जो प्रश्न पूछता है, उसका उत्तर अपने अनुकूल ही चाहता है| अपने सिद्धांत का ही समर्थन चाहता है| इस दुर्बलता के कारण प्राणी को प्रतिकूलता सहने में अत्यंत कठिनाई होती है| जब वह प्रतिकूलता सहन नहीं कर पाता तो तर्कों से स्वयं को श्रेष्ठ साबित करने का प्रयास करता है| यहां अर्जुन को युद्ध न लड़ने की बुराई भलाई के वेष में दिखाई दे रही है, और वह अपने इस सिद्धांत का समर्थन प्रभु से चाहते हैं| प्रभु ने समता की बात कही थी, परन्तु अर्जुन ने उसे 'बुद्धि श्रेष्ठ है', ऐसा ज्ञान पकड़ लिया| प्रभु के शब्द 'बुद्धि से युक्त हुआ तू कर्म-बन्धन छोड़ दे', अर्जुन ने समझा कि यदि बुद्धि कर्म से श्रेष्ठ है, अतः यदि बुद्धि कह रही है कि तू युद्ध न कर, तो कर्म छोड़ दे| अर्जुन तर्क दे रहे हैं कि यदि मान्यता में कर्म से बुद्धि श्रेष्ठ है तो फिर मुझे क्षात्र धर्म कर्म में भी नहीं पड़ना चाहिए| बुद्धि कह रही है कि युद्ध एक

अत्यंत क्रूर कर्म है, जिसमें मेरे ही सम्बन्धियों, प्रियजनों एवं माननीयों की हत्या का पाप मुझे लगेगा| अतः युद्ध न कर|

अर्जुन भ्रमित अवश्य हैं, परन्तु उनको प्रभु पर पूर्ण श्रद्धा है| उनका अंतःकरण कह रहा है कि प्रभु के शब्द निरर्थक नहीं हो सकते| संभवतः वह प्रभु के शब्दों के गूढ़ अर्थ को ठीक से समझ नहीं पा रहे हैं| अतः वह भगवान् से कहते हैं कि मेरी बुद्धि भ्रमित अवश्य हो रही है, पर अब आप मुझे स्पष्ट ज्ञान दीजिए ताकि मेरा कल्याण हो| अतः वह प्रभु के चरणों में पड़ उनसे ज्ञान लेने को तत्पर हैं|

श्रीभगवानुवाच
लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ।।३-३।।

श्रीभगवानुवाच
सुन हे पावन अर्जुन कथन मेरा बोले श्री भगवन |
की मैंने अवश्य चर्चा द्वि-विधा योग कर्म विद्मन् ||
होती निष्ठा सांख्ययोगी ज्ञान व् कर्मयोगी करन ||३-३||

भावार्थ: *भगवान् बोले, 'हे पवित्र अर्जुन, मेरा कथन सुन| मैंने अवश्य ही द्वि-विधा योग ज्ञान की चर्चा की| सांख्ययोगी की निष्ठा ज्ञान पर होती है, जब कि कर्मयोगी की कर्म पर|'*

टीका: यहां प्रभु ने दो निष्ठाएं बतलाईं, 'लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा', सांख्ययोग-निष्ठा एवं कर्मयोग-निष्ठा| जैसे दो निष्ठाएं है, ऐसे ही दो प्रकार के पुरुष हैं, 'द्वाविमौ पुरुषौ लोके', अर्थात क्षर (नाशवान स्वरुप) एवं अक्षर (अविनाशी स्वरुप)| क्षर की सिद्धि-असिद्धि, प्राप्ति-अप्राप्ति में सम रहना 'कर्मयोग' है| क्षर से विमुख होकर अक्षर में निष्काम भावना से स्थित होना ज्ञानयोग है| क्षर एवं अक्षर से उत्तम परमात्मा है, 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः'| परमात्मा के सर्वथा सर्वभाव से शरण हो जाना 'भगवन्निष्ठा' (भक्तियोग) है| अतः, क्षर की प्रधानता से कर्मयोग, अक्षर की प्रधानता से ज्ञानयोग एवं परमात्मा की प्रधानता

से भक्तियोग है| यद्यपि कर्मयोगी एवं ज्ञानयोगी, दोनों ही भगवान् के सिद्धांत का पालन करते हैं, परन्तु इन दोनों में भगवान् की परायणता नहीं होती| भक्ति योग में ही भगवद् परायणता होती है|

यहां यह ध्यान देने योग्य है कि सांख्ययोग-निष्ठा एवं कर्मयोग-निष्ठा, साधकों की अपनी निष्ठाएं हैं, परन्तु भगवद्-निष्ठा नहीं| सांख्ययोग एवं कर्मयोग निष्ठा में साधक को 'मैं हूँ और संसार है' का अनुभव होता है, परन्तु भगवद्-निष्ठा में साधक को केवल भगवान् का ही अनुभव होता है |अतः वह श्रद्धा पूर्वक भगवान् को सर्व मानकर अपने आपको भगवान् को समर्पित कर देता है| इसलिए सांख्ययोग एवं कर्मयोग निष्ठा में 'जानना' (विवेक) मुख्य है, और भगवद्-निष्ठा में 'मानना' (श्रद्धा एवं विश्वास) मुख्य है|

सांख्ययोग-निष्ठा एवं कर्मयोग-निष्ठा साधन साध्य हैं और साधक पर निर्भर हैं| लेकिन भगवद्-निष्ठा में साधक भगवान् और उनकी कृपा पर निर्भर रहता है| किसी को बुरा न समझे, किसी का बुरा न चाहे और किसी का बुरा न करे, कर्मयोग-निष्ठा है| मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए और मुझको अपने लिए कुछ नहीं करना, यह सांख्ययोग-निष्ठा है| अपने आपको पूर्ण रूप से प्रभु को समर्पित कर देना भगवद्-निष्ठा है|

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ।।३-४।।

हो न अनुभव निष्कर्मता पूर्व कर्म आरम्भ अर्जुन|
न मिल सके सिद्धि कभी करें त्याग यदि कर्म नित्यन ||३-४||

भावार्थ: *हे अर्जुन, कर्म आरम्भ करने से पहले निष्कर्मता का अनुभव नहीं होता| अधीष्ट कर्म का त्याग करने से कभी सिद्धि प्राप्त नहीं होती|*

टीका: कर्मयोग में कर्म करना अति आवश्यक है| निष्काम भाव से कर्म करने पर ही कर्मयोगी को सिद्धि मिलती है| सिद्धि प्राणी को कर्म किए बिना नहीं

मिल सकती| कर्मों को करते हुए ही प्राणी निष्कर्मता को प्राप्त करता है| जिस स्थिति में प्राणी के कर्म अकर्म हो जाएं, अर्थात बंधन कारक न हों, उस स्थिति को 'निष्कर्मता' कहते हैं|

भगवान् ने कामना का त्याग करते हुए कर्म करने पर बल दिया है| यह तभी संभव है जब सभी कर्म लोक कल्याण के लिए किए जाएं, अपने स्वार्थ के लिए नहीं| जब तक स्वार्थ वश अपने लिए कर्म करेंगे, तब तक कामना का त्याग असंभव है| बिना कामना के त्याग किए निष्कर्मता प्राप्त नहीं हो सकती|

प्रभु कह रहे हैं कि निष्कर्मता का अनुभव तब तक नहीं हो सकता जब तक आप कर्म न करें| प्रत्येक क्रिया का आरम्भ और अंत होता है| अगर क्रिया आरम्भ ही नहीं होगी, तो कैसे अनुभव करेंगे कि यह कामना रहित है, निष्कर्म है? मुख्य यही है कि निष्काम भाव से दूसरों के हित के लिए कर्म करें|

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्र कृतिजैर्गुणैः ।।३-५।।

नहीं रह सके क्षण मात्र किए बिना कर्म कोई जन |
हैं हम आधीन प्रकृति जो करे बाध्य करना करन ||३-५||

भावार्थ: *कोई भी प्राणी एक क्षण भी कार्य किए बिना नहीं रह सकता| हम प्रकृति के आधीन हैं जो हमें कार्य करने के लिए बाध्य करती है|*

टीका: प्रकृति की सक्रिय एवं अक्रिय, यह दो अवस्थाएं हैं| कार्य करना सक्रिय अवस्था है, और कार्य न करना (जैसे निंद्रा में स्थित) अक्रिय अवस्था| वास्तव में अक्रिय अवस्था में भी प्रकृति अक्रिय नहीं रहती, प्रत्युत उसमें सूक्ष्म रूप में सक्रियता रहती है| उदाहरण के रूप में यदि आप किसी सोते हुए व्यक्ति को जगा दें, तो वह उठ कर कहेगा कि आपने उसकी नींद पूर्ण होने से पूर्व जगा दिया| इससे यह सिद्ध हुआ कि उस व्यक्ति को नींद में भी यह अनुभव था कि उसकी नींद पूर्ण नहीं हुई| जब नींद पूर्ण होने पर व्यक्ति जगता है तो यह नहीं

कहता| इसी प्रकार समाधि, प्रलय, महाप्रलय आदि की अवस्थाओं में भी सूक्ष्म रूप से क्रिया होती रहती है|

प्रकृति की कभी अक्रिय अवस्था नहीं होती क्योंकि वह प्रतिक्षण बदलती रहती है| प्रकृति के द्वारा समस्त सृष्टि की क्रियाएं स्वाभाविक रूप से हो रहीं हैं| उदाहरण के रूप में बाल्यपन से युवा से वृद्ध अवस्था, भोजन का पाचन , सांसों का आवागमन, देखना, सुनना आदि| इस प्रतिक्षण बदलते हुए पुंज का नाम ही पदार्थ है| पदार्थों के साथ अपना सम्बन्ध मानने से कोई भी प्राणी किसी भी अवस्था में क्षण मात्र भी कर्म किए बिना नहीं रह सकता| लेकिन यदि कर्मयोगी प्रतिक्षण परिवर्तनशील पदार्थों की कामना, ममता और आसक्ति का त्याग कर इस अधीनता को स्वीकार कर कर्म करता है, तो एक प्रकार से अधीनता को नकार सकता है| 'कार्यते ह्यवशः कर्म', अर्थात कर्म करने में तो हम परतंत्र हैं, पर उनमें राग, द्वेष करने में अथवा न करने में हम स्वतंत्र हैं|

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ।।३-६।।

देह रूप से करे प्रयास जो कर्मेन्द्रिय नियंत्रन |
पर करता रहे चिंतन विषय इन्द्रिय सदैव स्व-मन ||
समझो उसे तुम मूढ़मति मिथ्याचारी हे अर्जुन ||३-६||

भावार्थ: *शारीरिक रूप से जो कर्मेन्दियों (श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना एवं घ्राण) को नियंत्रण करने का प्रयास करता है, परन्तु मन से विषय इन्द्रियों का चिंतन करता रहता है, हे अर्जुन, वह मूढ़मति मिथ्याचारी प्राणी है|*

टीका: जो प्राणी शारीरिक रूप से कर्मेन्द्रियों को नियंत्रण करने का हठ पूर्वक प्रयास करते हैं, परन्तु मन से विषय इन्द्रियों का चिंतन करते रहते हैं, वह अभाग्य से इस स्थिति को अक्रिय मान लेते हैं| लेकिन चूंकि मष्तिष्क तो इन्द्रिय विषय चिन्तन में खोया हुआ है, अतः यह कृत्य अक्रिय नहीं बल्कि सक्रिय है| इस प्रकार के प्राणी ढोंग आचरण करने वाले होते हैं| शारीरिक रूप से

कर्मेन्द्रियों को नियंत्रण करने का ढोंग प्राणी लोक व्यवहार, प्रतिष्ठा, आदि के लिए करता है, जबकि उसके मन में विषय इन्द्रियों के भोगने का विचार पलता रहता है| अतः साधक को शारीरिक रूप से ही नहीं, मन से भी विषय भोगों के विचार को सर्वथा त्याग देना चाहिए|

यस्त्विन्द्रियाणी मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ।।३-७।।

है श्रेष्ठ वही जो कर सके मन से इन्द्रिय नियंत्रन |
हो निष्काम रहित-आसक्ति करे कर्मेन्द्रिय सेवन ||
वही सत साधक करे जो इस रीति कर्मयोग आचरन ||३-७||

भावार्थ: *वही श्रेष्ठ है जो मन से इन्द्रियों को नियंत्रित कर निष्काम भाव से आसक्ति-रहित कर्मेन्द्रियों का सेवन करे| जो साधक इस प्रकार कर्मयोग आचरण करता है, वही पावन है|*

टीका: मन से इन्द्रियों को नियंत्रण करने का तात्पर्य है कि इन्द्रियों का स्वयं से कोई सम्बन्ध न हो| कोई स्वयं के स्वार्थ को पूर्ण करने के लिए विषय भोग के लिए कृत्य नहीं किया गया हो| ममता एवं अहंता का सर्वथा अभाव हो| इस प्रकार आसक्ति रहित निष्काम भाव से कर्म करना ही कर्मयोगी का आचरण है, 'सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान'| आसक्ति रहते हुए योग सिद्ध नहीं हो सकता|

प्रभु पहले कह चुके हैं कि प्राणी बिना कर्म के एक क्षण भी नहीं रह सकता| यहां मुख्य है कि कर्म का त्याग नहीं किया जा सकता, परन्तु उनमें आसक्ति का त्याग किया जा सकता है| अतः कर्मयोगी की वास्तविक महिमा आसक्ति रहित कार्य करने में ही है| इससे ही सम बुद्धि प्राप्त होती है जो साधक का ईश्वर से मिलन कराती है| इसलिए प्रभु कहते हैं कि जो मन से निष्काम भाव से आसक्ति रहित कर्म करता है, वही श्रेष्ठ है|

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः ।।३-८।।

करो कर्तव्य कर्म जो नियत शास्त्रविधि हे अर्जुन।
है उत्कृष्ट करना कर्म अपेक्षा बनना अकर्मण्य जन ।।
कर नहीं सके निर्वाह जीवन न करे यदि कर्म भूजन ।।३-८।।

भावार्थ: *हे अर्जुन, शास्त्रविधि के अनुसार कर्तव्य कर्म का पालन करो। कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है। यदि प्राणी कर्म नहीं करेगा उसका जीवन निर्वाह नहीं होगा।*

टीका: युद्ध न लड़ने का निश्चय लेने के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि अर्जुन की रूचि शास्त्रविधि से नियत क्षात्र धर्म निभाने में नहीं है। प्रभु उसको अपना क्षात्र कर्तव्य धर्म निभाने का आदेश दे रहे हैं।

शास्त्रों में विहित तथा नियत, दो प्रकार के कर्म करने की आज्ञा दी गई है। विहित कर्म का तात्पर्य है जैसे सत्य बोलना, चोरी न करना, हिंसा न करना, उपवास करना, उपासना करना इत्यादि। नियत कर्म का तात्पर्य है वर्ण, आश्रम, स्वभाव एवं परिस्थिति के अनुसार कर्म करना, जैसे भोजन करना, वर्णों के अनुसार कार्य करना (ब्राह्मण को शास्त्र अध्ययन, क्षत्रियों को प्रजा की रक्षा करना, वैश्यों को व्यापार करना, शूद्रों को उनके दिए गए कार्य करना) इत्यादि। कर्मयोग की दृष्टि से वर्ण धर्मानुकूल शास्त्रविधि नियत कर्म करना अनिवार्य है, वह चाहे सौम्य हो अथवा कठिन। अर्जुन को क्षत्रिय होने के कारण उसका शास्त्रविधि नियत धर्म है धर्मानुसार युद्ध कर अपनी प्रजा की रक्षा करना। यद्यपि यह कृत्य हिंसात्मक कठिन प्रतीत हो सकता है, प्रत्युत यह उसका धर्म है, और उसके कल्याण का मार्ग है।

अर्जुन ने प्रश्न पूछा था कि यदि प्रभु कर्म की अपेक्षा ज्ञान को अधिक श्रेष्ठ मानते हैं तो उसे यहां हिंसात्मक कठिन कर्म, युद्ध में भाग लेने को क्यों कह रहे हैं? यहां प्रभु ने उस प्रश्न का उत्तर दिया है। शास्त्रविधि नियत कार्य करना श्रेष्ठ है

अपेक्षाकृत कर्म न करने से| फिर कर्म किए बिना शरीर निर्वाह कैसे हो सकता है? साधारण मनुष्यों के लिए भी संसार में रहकर कर्म से ही रोटी, कपड़ा, मकान अर्जित किए जा सकते हैं, जिससे उसका निर्वाह होता है| राजा के लिए भी राज्य संचालन, प्रजा की देखभाल, लोक कल्याण के लिए राज कोष में पर्याप्त धन, शत्रुओं से रक्षा इत्यादि के लिए कर्म तो करने ही पड़ेंगे|

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ।।३-९।।

करे कर्म अन्यत्र हेतु मन्मन् तब बंधे कुटुंब बंधन |
कर कर्म रहित-आसक्ति हेतु यज्ञ तू कुन्तीनन्दन ||३-९||

भावार्थ: *मनोकामना हेतु अन्यत्र कर्म करने वाला समुदाय बंधन में पड़ जाता है| हे कुन्तीनन्दन, आसक्ति रहित यज्ञ हेतु कर्म कर|*

टीका: कामना पूर्ण करने के उद्देश्य से किए गए कर्म में सकाम भाव रहता है| सकाम भाव होने से निषिद्ध कर्म होने की पूर्ण संभावना रहती है| सकाम कर्म ममता एवं आसक्ति के कारण किए जाते हैं| यह समुदाय/ कुटुंब बंधन का प्रतीक है| कर्मयोगी न तो कोई कामना करता है, और न ही कोई निषिद्ध कर्म करना चाहता है| वह तो लोक कल्याण के लिए कर्म करता है, यही कर्तव्य कर्म है| प्रभु आसक्ति एवं कामना रहित कर्म करने को अर्जुन को प्रोत्साहित कर रहे हैं| प्राणी कर्म-बंधन (समुदाय/ कुटम्ब बंधन) से तभी मुक्त हो सकता है जब संसार से मिले हुए तन, वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि को लोक कल्याण में लगा दे, और बदले में कोई इच्छा न करे| स्मरण रहे कि संसार कभी आत्मिक सुख नहीं दे सकता जिस की प्राप्ति के लिए मनुष्य शरीर मिला है| आत्मिक सुख ही सत्य सुख है जो अमरत्व देता है, निश्चिंतता देता है, निर्भयता देता है| यह संसार से सम्बन्ध विच्छेद पर ही संभव है|

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विवष्टकामधुक् ।।३-१०।।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ।।३- ११।।

किए जब आदिकाल ब्रह्मा ब्रह्माण्ड सृष्टि सृजन।
की रचना विधान कर्तव्य कर्म आदेश से भगवन।।
दिए आशीष पाओ उन्नति कर यज्ञ विधि अनुसरन।
कर यह यज्ञ संभव हों पूर्ण सभी आपके मन्मन्।।३-१०।।
कर सको प्रसन्न तुम देव कर यज्ञ विधि विधान भूजन।
करेंगे देव प्रत्युत कल्याण तुम्हारा और प्रियजन।।
पाएं परम सुख शान्ति कर निःस्वार्थ सेवा सब जन।।३-११।।

भावार्थ: *जब आदिकाल (सृष्टि के आरम्भ) में ब्रह्मा ने ब्रह्माण्ड सृष्टि का निर्माण किया, तब प्रभु के आदेश से कर्तव्य कर्म के विधि विधान की रचना की| उन्होंने (प्रजा को) आशीर्वाद दिया कि नियमों के साथ यज्ञ कर तुम उन्नति पाओ| इस यज्ञ के करने से तुम्हारी सभी मनोकामनाएं पूर्ण हों| प्राणी विधि विधान से यज्ञ कर देवों को प्रसन्न करें| तब प्रतिफल, देव तुम्हारा और (तुम्हारे) प्रियजनों का कल्याण करें| निःस्वार्थ सेवा कर तब प्राणी परम सुख, शान्ति पाएं|*

टीका: सम्पूर्ण सृष्टि की रचना ब्रह्म देव ने इस आशय से की है कि अपने लिए कुछ वस्तु और क्रिया नहीं है, दूसरों के लिए ही है, 'इदं ब्रह्मणे न मम'| उदाहरण के रूप में माँ का दूध बच्चे के लिए होता है, माँ के लिए नहीं, बच्चे की चेष्टाएँ माँ को सुख देती हैं, बच्चों को नहीं| यह निःस्वार्थ कर्म भावना का प्रतीक है| सृष्टि की रचना ब्रह्म देव ने भोग के लिए नहीं की, प्रत्युत उद्धार के लिए की है| अतः निःस्वार्थ भावना से ब्रह्म देव के द्वारा बनाए नियमों का पालन करते हुए यज्ञ द्वारा देवताओं को प्रसन्न करो, जो प्रतिफल में तुम्हें प्रसन्नता देंगे एवं तुम्हारी मनोकामनाएं पूर्ण करेंगे| यहां प्रभु ने 'परस्परं भावयन्तः' की शिक्षा दी है| आप दूसरों का भला करो, वह तुम्हारा भला करें| निःस्वार्थ सेवा भावना से प्रायः किसी के द्वारा बुरा करने की सामर्थ्य नहीं रहती| अगर फिर भी कोई ऐसा दुःसाहस करे तो उसे पछताना पड़ेगा, अपने कर्म पर रोना पड़ेगा| प्रभु आपके साथ सदैव हैं, यह स्मरण रखें|

यहां मनोकामनाएं पूर्ण करने का उद्देश्य कोई सांसारिक भोग विलास हेतु कामनाएं पूर्ण करने का नहीं है, यद्यपि सकाम भावना से किए यज्ञ में यह करने की भी सामर्थ्य है| लेकिन ऐसा करने से प्राणी का पतन संभव है, मोह बंधन में पड़ना निश्चित है| अतः यह यज्ञादि केवल लोक कल्याण की भावना से निःस्वार्थ ही करने चाहिए|

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः ।।३-१२।।

हो संतुष्ट यज्ञ दें देव तब द्रव्य हेतु कर्तव्य पालन |
करें प्रयोग यह द्रव्य हेतु लोक कल्याण अन्य जन ||
करे उपभोग स्वयं द्रव्य स्वार्थवश है नर रिक्तन् ||३-१२||

भावार्थ: *संतुष्ट होकर देव कर्तव्य पालन करने के लिए द्रव्य प्रदान करेंगे| देवों द्वारा दिए द्रव्य का दूसरों के कल्याण के लिए उपयोग करें| जो मनुष्य स्वार्थवश इस द्रव्य का स्वयं उपभोग करे, वह चोर है|*

टीका: सनातन धर्म का एकमात्र उद्देश्य है, मनुष्य का कल्याण| इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु ब्रह्म देव ने सृष्टि के आरम्भ में नियमावली रचित की है, जिसका निःस्वार्थ भाव से पालन करने की उन्होंने आज्ञा दी है| यही कर्म कर्तव्य की परिभाषा है, 'आत्मापि चायं न मम सर्वा पृथ्वी मम', अर्थात यह शरीर मेरा नहीं है, समस्त पृथ्वी मेरी है|

कर्म के साथ स्वार्थ का सम्बन्ध जोड़ लेने से वह कर्म तुच्छ और बंधक कारक हो जाता है| अतः स्व-कल्याण हेतु कर्म निःस्वार्थ ही होना चाहिए| मुझे सुख मिले, यह भावना न होकर सब को सुख मिले, भावना होनी चाहिए| अवश्य ही कर्म फलित होने पर देव जीवन निर्वाह हेतु द्रव्य प्रदान करते हैं| इस द्रव्य पर सब का अधिकार है| आसक्ति एवं ममता वश जो प्राणी इसका भोग स्वयं एवं अपने निकटतम सम्बन्धियों के साथ करता है, प्रभु कहते हैं वह चोर है| उसने लोक कल्याण के लिए देव द्वारा दिए गए द्रव्य की चोरी की है|

देवता, ऋषि, पितर, पशु-पक्षी, वृक्ष-लता आदि हमारे कर्मों के फल स्वरुप हमारे जीवन निर्वाह एवं लोक कल्याण के लिए अपनी ओर से कुछ न कुछ देते ही रहते हैं| इसी कारण हम सदैव उनके ऋणी रहते हैं| इस ऋण से मुक्त होने के लिए ही पंच महा यज्ञ का प्रावधान है, ऋषि यज्ञ, देव यज्ञ, भूत यज्ञ, पितृ यज्ञ एवं मनुष्य यज्ञ| जब प्राणी बुद्धि पूर्वक निःस्वार्थ भावना से लोक कल्याण के लिए अपने कर्तव्य कर्मों का पालन करता है तो इन ऋणों से उसे मुक्ति मिलती है| कर्तव्य कर्मों का ब्रह्म देव द्वारा दिए विधि विधान से पालन न करने पर प्रकृति अपना प्रकोप दर्शाती है, जिसके परिणाम स्वरुप अनावृष्टि, अतिवृष्टि, भूकंप, दुर्भिक्ष आदि विपदाएं आती हैं| अतः स्व एवं जन कल्याण के लिए और इन विपदाओं से बचने के लिए प्राणी को अपने कर्म कर्तव्य का सनातन धर्म नियमावली के अनुसार पालन करना चाहिए|

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ।।३-१३।।

पालन कर्तव्य कर्म निःस्वार्थ ही है यज्ञ-शेष अर्जुन|
जो करे अनुभव योग यह समझो तुम उसे श्रेष्ठजन||
हो जाए वह मुक्त पाप बने तब उसका जीवन अभिशुन|
करें कर्म स्वार्थवश हैं पापी भोगें पाप आजीवन||३-१३||

भावार्थ: *हे अर्जुन, निःस्वार्थ कर्तव्य कर्म पालन ही यज्ञ-शेष है| जो इस योग का अनुभव करें, अर्थात निःस्वार्थ भाव से कर्तव्य कर्म का पालन करें, वह श्रेष्ठ प्राणी हैं| वह सभी पापों से मुक्त होकर सफल जीवन बिताते हैं| जो पापी स्वार्थवश कर्म करते हैं, वह आजीवन पाप के भागी बनते हैं|*

टीका: कर्तव्य कर्मों का निष्काम भाव से विधि पूर्वक पालन करने पर यज्ञ-शेष योग या समता की प्राप्ति होती है| लोक कल्याण में कर्म को अर्पित कर देने से यज्ञ सिद्ध हो जाता है| यज्ञ सिद्धि पर स्वतः बचा हुआ (अवशिष्ट) योग स्वयं के लिए होता है| यही समता या यज्ञ-शेष है, जो अमृत है, 'यज्ञशिष्टामृतभुजः'| इस

यज्ञ-शेष के अनुभव से साधक पाप मुक्त हो जाता है, यशस्वी हो जाता है| वही श्रेष्ठ प्राणी है|

सकाम भाव अर्थात स्वार्थ भाव से किए गए कर्मों को प्रभु ने पाप कर्म की संज्ञा दी है| इनके फल बंधक कारक होते हैं, पाप से लिप्त होते हैं| जो प्राणी इस प्रकार के पाप कर्म करते हैं, वह आजीवन फल स्वरुप पाप भोगते रहते हैं| अतः प्रभु की स्पष्ट आज्ञा है कि मनुष्य को अपनी बुद्धि का प्रयोग करते हुए निष्काम लोक कल्याण हेतु ही कर्म करने चाहिए| यही मानव जन्म का उद्देश्य है|

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद् भवः ।।३-१४।।
कर्म ब्रह्मोद् भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुदभवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ।।३-१५।।

हों उत्पन्न अन्न से भूजन करे वर्षा अन्न उत्पन्न |
वर्षा होती यज्ञ से और होते यज्ञ कर्म से संपन्न ||३-१४||
कर्म ज्ञान मिले वेद से हैं वेद स्वयं अक्षर निर्गुन |
हैं इस रीति स्थित कर्तव्य कर्म में सदैव भगवन ||३-१५||

भावार्थ: *समस्त प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं| अन्न वर्षा से उत्पन्न होते हैं| वर्षा यज्ञ से होती है| यज्ञ कर्म से संपन्न होते हैं| कर्म ज्ञान वेदों द्वारा मिलता है| वेद स्वयं अक्षर निर्गुण हैं| इस प्रकार परमात्मा पवित्र कर्तव्य कर्म में सदैव स्थित हैं|*

टीका: प्राणी का जीवन निर्वाह जिस खाद्य पदार्थ से होता है, उसे अन्न कहा जाता है| उदाहरण के रूप में मनुष्य के लिए अनाज, मिट्टी के कीड़े के लिए मिट्टी, पक्षियों के लिए कीट, इत्यादि| सभी प्राणी अन्न से ही उत्पन्न होते हैं और अन्न पर ही निर्भर हैं| अन्न की उत्पत्ति वर्षा से होती है जो यज्ञ कर्मों का फल स्वरुप है| यहां यज्ञ शब्द सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मों का उपलक्षक है| यज्ञ (कर्तव्य कर्म) करने का विधि विधान वेद से मिलता है| वेद स्वयं भगवान् ही हैं| अंततः

इस प्रकार पवित्र कर्तव्य कर्म में स्वयं प्रभु स्थिति हैं| वह सर्वगत हैं| कर्तव्य कर्म में स्थित होने का तात्पर्य है कि कर्म उनकी ही उपलब्धि हैं| उदाहरण के रूप में भूमि में जल तो सर्वत्र है, परन्तु वह कुएँ, नदी, सरोवर से ही प्राप्त होता है, हर स्थान से नहीं| जल कर्तव्य कर्म है, और जहां से कर्तव्य कर्म प्राप्त हो रहा है वह प्रभु हैं|

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ।।३-१६।।

है कर्तव्य भूजन करे सृष्टि-चक्र अनुसरण हे अर्जुन |
जो नहीं चले इस रीति रहे पर विषय इन्द्रिय रमन ||
समझो वह नर अघायु करे वह व्यर्थ अपना जीवन ||३-१६||

भावार्थ: *हे अर्जुन, इस सृष्टि-चक्र का अनुसरण करना प्राणी का कर्तव्य है| जो इस रीति पर नहीं चलता एवं विषय इन्द्रियों में रमण रहता है, उसे अघायु (पापमय जीवन बिताने वाला) समझो| वह अपना जीवन व्यर्थ करता है| वह दूसरों से द्रोह करते हैं और पराई स्त्री, पराए धन तथा पराई निंदा में आसक्त रहते हैं| वह पामर और पापमय मनुष्य नर शरीर धारण किए हुए राक्षस ही हैं|*

टीका: सृष्टि चक्र के अनुसार नहीं चलने वाले प्राणी का जीवन केवल पापमय है| इन्द्रियों के द्वारा विषय भोगने वाला व्यक्ति हिंसा रूप पाप से नहीं बच सकता| स्वार्थी, अभिमानी और विषय द्वारा संग्रह की इच्छा रखने वाला मनुष्य दूसरों का अहित करने में नहीं चूकता, अतः ऐसे मनुष्य का जीवन पापमय है| गोस्वामी तुलसी दास जी कहते हैं:

पर द्रोही पर दार रत पर धन पर अपबाद ।
ते नर पाँवर पापमय देह धरें मनुजाद ।।

वह दूसरों से द्रोह करते हैं और पराई स्त्री, पराए धन तथा पराई निंदा में आसक्त रहते हैं| वह पामर और पापमय मनुष्य नर शरीर धारण किए हुए राक्षस ही हैं|

प्रभु ने सृष्टि-चक्र के अनुसार न चलने वाले व्यक्तियों को 'स्तेन एव सः' अर्थात चोर, 'भुञ्जते ते त्वघम' अर्थात पाप को ही खाने वाला एवं 'अघायुरिन्द्रियारामो' अर्थात पापयु एवं इन्द्रियाराम कहा है| हमारा यह धर्म है कि प्रभु की आज्ञा मान सृष्टि-चक्र के अनुसार कर्म कर प्रभु के प्रिय बनें और अपना कल्याण करें|

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ।।३-१७।।

रहता जो स्व-रमण हो तृप्त एवं सदैव लीन चिंतन |
नहीं कोई कर्म कर्तव्य विधि विधान हेतु उस जन ||३-१७||

भावार्थ: *जो स्वयं में रमण, सदैव संतुष्ट रहकर साधना में लीन रहता है, उसके लिए कोई भी कर्तव्य कर्म विधि विधान लागू नहीं है|*

टीका: कर्मयोग के निष्काम भाव से महापुरुष का व्यवहार स्वयं में ही खोया रहने वाला एवं तृप्त होने वाला हो जाता है| वह पूर्ण संतोष को प्राप्त हो अपनी ऊर्जा केवल भगवद-साधना में लगा देता है| जब इस प्रकार प्राणी की मन स्थिति हो जाती है, तब वह कृत-कृत्य, ज्ञात-ज्ञातव्य, और प्राप्त-प्राप्तव्य हो जाने से कर्तव्य कर्म के विधि विधान से ऊंचा उठ जाता है| प्रत्यक्ष रूप में उस पर शास्त्र का शासन नहीं रहता| निष्काम कर्मयोगी होने के कारण उसकी समस्त क्रियाएं स्वाभाविक ही शास्त्रानुकूल एवं जन कल्याण के लिए होती हैं|

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ।।३-१८।।

हेतु सम सिद्ध पुरुष नहीं कर्म अकर्म प्रयोजन।
नहीं होता उनका स्वार्थ सम्बन्ध किसी भी भूजन ॥३-१८॥

भावार्थ: *इस प्रकार के सिद्ध पुरुष का कर्म अथवा अकर्म में कोई प्रयोजन नहीं होता (अर्थात कर्म करे अथवा न करे, किसी में कोई रूचि नहीं होती)। उसका किसी प्राणी के साथ स्वार्थ का सम्बन्ध नहीं होता।*

टीका: वैसे तो जैसा प्रभु ने पहले कहा है कि प्रकृति क्रियाशील है, इसलिए कोई भी प्राणी क्षण मात्र के लिए भी कर्म किए बिना नहीं रह सकता, लेकिन जब प्रकृति में रहते हुए निष्काम भावना जाग्रत हो जाती है, तब साधक सहजावस्था को प्राप्त हो जाता है। ऐसे में कर्मयोग से सिद्ध महापुरुष में कोई भी कामना न रहने के कारण उसका किसी भी प्राणी से किंचित मात्र भी स्वार्थ सम्बन्ध नहीं रहता। निःस्वार्थ भाव से वह समस्त सृष्टि के हित के लिए स्वतः कर्तव्य कर्म में लग जाता है। इस प्रकार के महापुरुष का अनुभव होता है कि पदार्थ, शरीर, इन्द्रियाँ, अंतःकरण आदि केवल संसार के हैं। यह संसार से ही मिले हैं, अतः व्यक्तिगत नहीं हैं। इनके द्वारा केवल संसार (लोक कल्याण) के लिए ही कर्म करना है, अपने लिए नहीं। उसका इन क्रियाओं को लोक कल्याण हेतु करते हुए स्वयं के लिए कोई प्रयोजन नहीं रहता। प्रयोजन न रहने से यह महापुरुष जन साधारण के लिए एक आदर्श बन जाता है। प्रभु अर्जुन को कह रहे हैं कि हे अर्जुन, निष्काम कर्तव्य कर्म करते हुए इसी प्रकार का आदर्श बन।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ।।३-१९।।

आसक्ति रहित युक्त श्रद्धा करे कर्तव्य कर्म जन।
करे इन्हें समर्पण हरि होंगे तब प्राप्त भगवन ॥३-१९॥

भावार्थ: *प्राणी आसक्ति-रहित श्रद्धा पूर्वक कर्तव्य कर्म करे। इन्हें (इन कर्मों को) प्रभु को समर्पण करे तो परमात्मा की प्राप्ति होगी।*

टीका: मनुष्य की सामान्य प्रवृति है कि वह आसक्ति होने के कारण संसार से सम्बन्ध जोड़ता है, 'असक्तो ह्याचरन्कर्म'| संसार से सम्बन्ध के कारण उसे अपने सम्बन्धियों पर ममता होती है, अतः वह सकाम कर्म करता है| लेकिन कर्मयोगी कर्तव्य कर्म का पालन करते हुए निष्काम भावना से कर्म करता है| लोक कल्याण ही उसके लिए सर्वोपरि होता है| इस निष्काम भावना के कारण संसार में रहते हुए भी उसका संसार से सम्बन्ध विच्छेदित रहता है| शास्त्र विहित कर्तव्य कर्म करने से आसक्ति एवं संसार से ममता स्वतः ही समाप्त हो जाती है| तब उसे भगवद प्राप्ति हो जाती है|

गोस्वामी तुलसी दास जी कहते हैं:

धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना। ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना ॥
जातें बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई ॥

अर्थात धर्म (के आचरण) से वैराग्य और योग से ज्ञान होता है| ज्ञान मोक्ष का देने वाला है, ऐसा वेदों ने वर्णन किया है| हे भाई, जिससे मैं शीघ्र ही प्रसन्न होता हूँ, वह मेरी भक्ति है जो भक्तों को सुख देने वाली है|

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि ।।३-२०।।

कर प्राप्त परम सिद्धि कर्मयोग सम जनक राजन |
करे निष्काम कर्म पाए तब श्रेणी महापुरुष जन ||३-२०||

भावार्थ: *राजा जनक की भांति कर्म योग से परम सिद्धि प्राप्त कर, निष्काम कर्म करने से प्राणी महापुरुष की श्रेणी पाएगा|*

टीका: कर्मयोग एक सनातन योग है जिसके द्वारा राजा जनक जैसे महापुरुषों को परमात्मा की प्राप्ति हुई| अतः निष्काम कर्मयोग भावना से कर्म करने से वर्तमान में भी भगवद प्राप्ति संभव है|

मनुष्य योनि का कर्मों से घनिष्ठ सम्बन्ध है| वह सकाम कर्मों के द्वारा प्रारब्ध का साथ मिलने से अभीष्ट सांसारिक वस्तुओं के प्राप्त करने में सफल भी हो जाता है| जिससे उसे अहंकार हो जाता है कि उसके पुरुषार्थ से हर वस्तु मिल सकती है| लेकिन यह प्रसन्नता क्षण भंगुर होती है, अस्थाई होती है| इससे नाशवान वस्तुओं की प्राप्ति होती है, अविनाशी वस्तु (परमात्मा) की नहीं| क्योंकि यह सकाम कर्म नाशवान (शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि) के सम्बन्ध से होते हैं, जबकि परमात्मा की प्राप्ति नाशवान से सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद करने से होती है| इसी कारण प्रभु अर्जुन को उपदेश दे रहें हैं कि निष्काम कर्मयोग को अपना लक्ष्य बना| निष्काम कर्मयोग ही मुक्ति का स्वतंत्र साधन है| जनकादि महापुरुषों ने केवल लोक कल्याण के लिए कर्म किए और महापुरुषों की श्रेणी में स्थापित हुए| हे अर्जुन, तू भी इसी प्रकार निष्काम कर्म कर महापुरुषों की श्रेणी में अपना स्थान बना|

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ।।३-२१।।

करें अनुसरण सामान्य जन आचरण महास्विन |
किए प्रमाण प्रस्तुत महापुरुष हेतु हित लोकजन ||३-२१||

भावार्थ: *जो उत्कृष्ट पुरुष आचरण करते हैं, उसका साधारण मनुष्य अनुसरण करते हैं| महापुरुषों ने प्रमाण सांसारिक मनुष्यों के हित के लिए प्रस्तुत किए हैं|*

टीका: समाज, सम्प्रदाय, जाति, वर्ण, आश्रम आदि में महान पुरुष जिस प्रकार का आचरण करते हैं, उस समाज, सम्प्रदाय, जाति, वर्ण, आश्रम आदि के अनुयायी वैसा ही व्यवहार करने लगते हैं| यहां इस वक्तव्य को गहन से समझने की आवश्यकता है| सांसारिक प्रतिष्ठा वाले पुरुष, उदाहरण के रूप में अति धनी, ऊंचे पद वाला जैसे नेता, मंत्री आदि, को अपने स्वार्थ हेतु लोग आदर की दृष्टि से देख सकते हैं, और श्रेष्ठ मानते हैं| परन्तु वास्तव में न तो वह श्रेष्ठ हैं और न ही श्रेष्ठ व्यक्ति के ओज को समझने की उनमें सामर्थ्य है| क्योंकि उनके

अन्तःकरण में जड़ वस्तुओं का महत्व है| इस प्रकार के व्यक्ति जो इन्हें श्रेष्ठ मानते हैं, वह स्वयं सांसारिकता में बुरी तरह उलझे होते हैं| उदाहरण के रूप में एक व्यक्ति किसी धनी व्यक्ति को आदर्श मानता है, उसके लिए धन का ही महत्व है| जिस प्रकार इस धनी व्यक्ति ने धन अर्जित किया है, वह उसका अनुगमन करता है| वर्तमान समय में सभी जानते हैं कि अधिकांश इस प्रकार के धनी व्यक्ति अवैध ढंग से धन कमाते और एकत्रित करते हैं| यही कारण है कि वर्तमान में झूठ, कपट, धोखा, चोरी इत्यादि का समाज में स्वतः ही प्रचार हो रहा है|

यहां प्रभु इस प्रकार के सामाजिक सांसारिक व्यक्तियों को श्रेष्ठ नहीं कह रहे हैं| निष्काम भाव से कर्तव्य कर्म करने वाला प्राणी जो भगवद समर्पित है, वही श्रेष्ठ है| मुख्यतः श्रेष्ठ व्यक्तियों की श्रेणी में आचार्य, गुरु, शासक, महंत, पुजारी आदि आते हैं| लेकिन इन्हें श्रेष्ठ बनने के लिए अपने आचरणों में विशेष सावधानी की आवश्यकता है| इन्हें धर्म युक्त आचरण करते हुए निष्काम भाव से कर्तव्य कर्म का पालन कर साधारण व्यक्तियों को प्रमाण छोड़ने चाहिए, जिससे साधारण जन अनुयायी बन अपना कल्याण कर सकें| जिनके अंतःकरण में कामना, आसक्ति, स्वार्थ, पक्षपात, आदि दोष नहीं हैं, नाशवान पदार्थों का हृदय में कोई मोह नहीं है, इस प्रकार के श्रेष्ठ पुरुषों के वचनों का प्रभाव स्वतः ही जन साधारण पर पड़ता है| उनके आचरण जन साधारण के लिए प्रमाण हैं| उनके अनुयायी बन जन साधारण स्वयं भव-सागर से तर जाते हैं|

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ।।३-२२।।

कर अवलोकन मेरा आचरण गहन हे पृथानंदन |
है नहीं कर्म कोई त्रिलोक हो जो मुझे कठिन ||
नहीं कोई वस्तु त्रिलोक जो अप्राप्य मुझे अर्जुन |
फिर भी रहूँ करता सदैव कर्तव्य कर्म निरन्तरन ||३-२२||

भावार्थ: *हे पृथानंदन, गहनता से मेरे आचरण को देख| त्रिलोक में कोई कर्तव्य मेरे लिए कठिन नहीं है| हे अर्जुन, ऐसी तीनो लोकों में कोई वस्तु नहीं जिसे मैं प्राप्त न कर सकूं| फिर भी मैं सदैव कर्तव्य कर्म करने में निरन्तर लगा रहता हूँ*

टीका: धर्मसंरक्षणार्थाय धर्मसंस्थापनाय च ।
तैस्तैर्वेषैश्च रूपैश्च त्रिषु लोकेषु भार्गव ॥

'मैं धर्म की रक्षा और स्थापना के लिये तीनों लोकों में विभिन्न रूपों में अवतार धारण करके उन-उन रूपों और वेषों द्वारा तदनुरूप बर्ताव करता हूँ| '

भगवान् सदैव कर्तव्य परायण रहते हैं, कभी कर्तव्यच्युत नहीं होते| अतः भगवद् साधक को भी कभी कर्तव्यच्युत नहीं होना चाहिए| कर्तव्यच्युत होने से वह भगवत्-तत्व से वंचित हो जाता है| नित्य कर्म परायण रहने से साधक को भगवत-तत्व का अनुभव सुगमता पूर्वक हो जाता है|

अपने लिए कोई कर्तव्य न होते हुए भी भगवान् केवल लोक कल्याण के लिए अवतार लेते हैं| वह साधु, संतों एवं कर्तव्य परायण श्रेष्ठ पुरुषों का उद्धार, और पापी पुरुषों का विनाश कर धर्म की संस्थापना करते हैं| जब प्रभु सदैव लोक हित में लगे रहते हैं, तो उनके भक्तों का भी कर्तव्य है कि यथा शक्ति वह भी लोक कल्याण में सदैव लगे रहें|

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ।।३-२३।।
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ।।३-२४।।

नहीं करूं यदि मैं कर्तव्य धर्म पालन पृथानंदन|
हो हानि विश्व करें सब जन मेरे अकर्तव्य अनुसरन ||३-२३||

होंगे पथ भृष्ट तब हेतु मेरे अकर्म सभी भूजन।
हों उत्पन्न वर्ण-शंकर करें जो नाश समस्त वासिन ।।३-२४।।

भावार्थ: *हे अर्जुन, यदि मैं अपने कर्तव्य धर्म का पालन नहीं करूं, तो विश्व की बड़ी हानि होगी| सभी प्राणी मेरे अकर्तव्य (कर्तव्य धर्म का पालन न करना) का अनुसरण करेंगे| मेरे अकर्म के कारण सभी प्राणी पथ भृष्ट हो जाएंगे, जिससे वर्णशं-कर उत्पन्न होंगे जो प्रजा का विनाश कर देंगे|*

टीका: प्रभु अर्जुन से कह रहे हैं कि ऐसा नहीं है कि मैं केवल तुम्हें ही कर्तव्य धर्म का पालन करने के लिए कह रहा हूँ, मैं स्वयं भी सदैव कर्तव्य कर्म में ही लगा रहता हूँ| यदि मैं ऐसा न करूं तो मेरी अकर्मण्यता विश्व के विनाश का कारण बन जाएगी| इस महाभारत युद्ध में भी मैं अपना कर्तव्य कर्म तेरा सारथी बन कर निभा रहा हूँ| क्या मुझ जैसे क्षत्रिय के लिए तेरा सारथी बनना आवश्यक था? क्या तू ऐसा सोचता है कि तेरे कहने पर मैं तेरा सारथी बना? नहीं| मेरे इस कर्तव्य पालन का भी विश्व पर प्रभाव पड़ेगा क्योंकि त्रिलोक में मुझे प्राणी एक आदर्श के रूप में देखेंगे| त्रिलोक में मेरे नेतृत्व का सदैव अनुसरण किया जाएगा| मेरे द्वारा इस समय तुझे दिया जाने वाला योग ज्ञान अनंत काल तक प्राणियों का मार्ग दर्शन करता रहेगा|

प्रभु ने यहां कर्तव्य कर्म पालन न करने पर कुल में दूषित स्त्रियों द्वारा वर्ण-शंकर उत्पन्न होने की बात कही है| प्रभु का संकेत हैं कि यदि तुम्हीं अपने कर्तव्य कर्म का पालन नहीं करोगे, तो समाज में स्त्रियों से उनके कर्तव्य धर्म पालन करने की आशा कैसे कर सकते हो? जब तुम ही कर्तव्यच्युत हो जाओगे, तो तुम्हारा अनुसरण करती हुई स्त्रियां भी अवश्य ही कर्तव्यच्युत हो जाएंगी| परिणाम, वर्ण-शंकर पैदा होंगे| जैसा तुमने कहा, वह कुल का विनाश कर देंगे| अतः तुम अपना कर्तव्य कर्म करो, और युद्ध के लिए तत्पर हो जाओ|

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ।।३-२५।।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ।।३-२६।।

करें अज्ञानी आसक्ति युक्त कर्म भरतवंशी अर्जुन |
हो एकाग्र करते पर रहित-आसक्ति कर्म बुद्धिजन ||
रहता लक्ष्य जन कल्याण सदैव इन तत्वज्ञ महास्विन ||३-२५||
यद्यपि करते सदा यथोचित कर्तव्य कर्म यह बुद्धिवन |
पर नहीं करते कभी भ्रम उत्पन्न वह कर्म अबुद्धिजन ||
करने देते वह इच्छित कर्म इन आसक्ति युक्त जन ||
देते उन्हें ही ज्ञान जो कर सकें उनका अनुसरन ||३-२६||

भावार्थ: *हे भरतवंशी अर्जुन, अज्ञानी लोग आसक्ति युक्त कर्म करते हैं| एकाग्रता के साथ बुद्धिमान लोग आसक्ति-रहित कर्म करते हैं| इन तत्वज्ञ महापुरुषों का लक्ष्य लोक कल्याण होता है| वह अज्ञानी पुरुषों के आसक्ति युक्त कर्म करने पर भ्रम उत्पन्न नहीं करते| वह उन्हें उनके इच्छित कर्म करने देते हैं| वह उन पुरुषों को ही ज्ञान देते हैं जो उनका अनुसरण कर सकें (अर्थात शास्त्र संगत कर्म कर सकें)|*

टीका: स्वार्थवश (सकाम) कर्म करने वालों को अज्ञानी कहा गया है, यद्यपि वह प्राणी शास्त्रज्ञ हो सकते हैं| लेकिन बुद्धिमान प्राणी आसक्ति रहित कर्म ही करते हैं| प्रभु ने उन्हें तत्वज्ञ महापुरुष कहा है| इस प्रकार के तत्वज्ञ महापुरुष, निष्काम कर्म करने वाले ज्ञानी, एकाग्रता से केवल लोक कल्याण के लिए कर्म करते हैं|

तत्वज्ञ महापुरुष, अज्ञानी प्राणियों के सकाम कर्म हेतु किए जाने वाले कर्मों में हस्तक्षेप नहीं करते| वह स्वयं कर्तव्य कर्म की शास्त्र संगत परिभाषा समझते हुए केवल उसी प्रकार निष्काम कर्म करते रहते हैं| वह सकाम में रत उन्हीं अज्ञानी प्राणियों को ज्ञान देते हैं जो उनका अनुसरण कर सकें, निष्काम कर्म की ओर अपना ध्यान एकाग्र कर सकें| यहां प्रभु यह स्पष्ट कर रहे हैं कि सामान्य प्राणियों को उन्मार्ग से हटाकर सन्मार्ग में लगाना भी एक प्रकार का लोक

कल्याण है| लोक कल्याण का वृहद अर्थ है कि शास्त्रों के अनुसार सत्य आचरण करना, निःस्वार्थ भावना से कर्तव्य कर्म करना एवं अपने लिए कुछ संग्रह नहीं करना| अतः ज्ञानी पुरुषों को चाहिए कि वह आसक्ति युक्त कर्मों में लिप्त प्राणियों को आदरपूर्वक समझाकर उनसे निषिद्ध कर्मों का स्वरुप से त्याग करवाएं, और विहित कर्मों में से सकाम भावना के त्याग करने की प्रेरणा दें|

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ।।३-२७।।

है कर्ता कर्म प्रकृति गुण होता ऐसा भाव बुद्धिजन |
समझो उसे अहंकारी रखे भाव स्व-कर्ता अर्जुन ||३-२७||

भावार्थ: *हे अर्जुन, सब कर्म का कर्ता प्रकृति गुण है, बुद्धिमान लोगों में ऐसा भाव होता है| जो स्वयं-कर्ता भाव रखते हैं, वह अहंकारी हैं|*

टीका: प्रभु कह रहे हैं कि तत्व ज्ञानी महापुरुष कभी भी स्वयं में कर्ता का भाव नहीं लाता| उसका भाव सदैव रहता है कि जो भी घटित हो रहा है, वह प्रकृति के द्वारा नियंत्रित है, प्रकृति के गुण, सत, रजस और तमस, के द्वारा संचालित है| लेकिन अज्ञानी प्राणी अहंकार के वश स्वयं को कर्ता समझ लेता है| अहंकार के कारण ही मनुष्य शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि में 'मैं' के भाव का बीजारोपण कर लेता है| यही उसके विनाश का कारण बनता है| अहंकार पूर्वक किया गया कार्य कभी कल्याण नहीं कर सकता क्योंकि सब अनर्थों का, जन्म-मरण का, मूल अहंकार ही है| निःस्वार्थ भाव से किए गए कार्य अहंकार रहित होते हैं, कल्याण करते हैं| अतः साधक को चाहिए कि वह क्रिया को महत्व न देकर अपने विवेक को महत्व दे| विवेक को महत्व देने से विवेक स्वतः स्पष्ट होता रहता है और साधक का मार्ग दर्शन करता रहता है| यह विवेक ही तत्व ज्ञान में परिणत हो जाता है|

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ।।३-२८।।

जो निपुण विभाग गुण और कर्म वह तत्वज्ञानी जन |
करते पालन गुण वह सदैव शास्त्रविधि नियमन ||
नहीं संभव हो जाएं आसक्त वह मोह माया लौक्यन ||३-२८||

भावार्थ: *जो गुण एवं कर्म विभागों में निपुण हैं, वह प्राणी तत्व ज्ञानी हैं| वह सदैव शास्त्रविधि नियम से गुणों का पालन करते हैं| ऐसा संभव नहीं हैं कि वह सांसारिक मोह माया में आसक्त हो जाएं|*

टीका: सत, रज एवं तमस, यह तीन प्रकृतिजन्य गुण हैं| इन तीनों गुणों का कार्य होने से सम्पूर्ण विश्व त्रिगुणात्मिक है| अतः शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राणी, पदार्थ आदि सब गुणमय हैं| यही 'गुण विभाग' कहलाता है| इनसे होने वाली क्रिया को 'कर्म विभाग' कहते हैं| गुण और कर्म निरंतर परिवर्तनशील हैं| उदाहरण के रूप में पदार्थ नष्ट होने वाले हैं तथा क्रियाएं आरम्भ और समाप्त होने वाली हैं| जो ज्ञानी महापुरुष इस तथ्य को समझ लेता है एवं अनुभव कर लेता है, वही तत्व ज्ञानी महापुरुष है| वह सदैव निर्लिप्त, निर्विकार रहता है| वास्तव में उसका प्राकृत पदार्थ एवं क्रिया से सम्बन्ध नहीं रहता|

अज्ञानी पुरुष गुण और कर्म से बंध जाता है| इस कारण वह सांसारिक मोह, ममता, आसक्ति में पड़ जाता है|

जब ऐसा अनुभव होने लगे कि शरीरादि मैं नहीं हूँ, तब की गई प्रक्रिया उसकी नहीं होती, अर्थात वह इन क्रियाओं का कर्ता नहीं होने का अनुभव करता है| इस प्रकार का अनुभव करते हुए वह ज्ञानी पुरुष अपने को पदार्थ (गुण) एवं क्रिया (कर्म), दोनों से ही बंधन तोड़ लेता है| उसे 'नैव किंचित्करोमीति', अर्थात 'मैं कुछ करता ही नहीं हूँ', की अनुभूति होने लगती है| यही शास्त्रविधि गुण पालन है| इस तत्व को जानने वाला ज्ञानी पुरुष सांसारिक मोह, ममता आसक्ति में पड़े, ऐसा संभव ही नहीं है|

प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ।।३-२९।।

रहें मोहित प्रकृतिजन्य गुण हैं वह अज्ञानी जन।
रहें आसक्त गुण और कर्म वह मूर्ख क्षुद्र-बुद्धिवन॥
नहीं होते विचलित तत्व ज्ञानी इन अज्ञानी करन॥३-२९॥

भावार्थ: *अज्ञानी पुरुष प्रकृतिजन्य गुणों से मोहित रहते हैं| यह मंदबुद्धि मूर्ख लोग (सत, रजस और तमस) प्रकृति गुणों में आसक्त रहते हैं (अर्थात सकाम कर्म करते हैं)| तत्व ज्ञानी इन अज्ञानी पुरुष के कर्मों से विचलित नहीं होते (अर्थात उन्हें उनके कर्म करने की स्वतन्त्रता देते हैं)|*

टीका: यहां प्रभु ने तत्व ज्ञानी महापुरुषों को मंदबुद्धि मूर्ख अज्ञानी पुरुषों को उनके सकाम कर्मों में हस्तक्षेप करने को मना किया है| प्रभु को संसार का संचालन भी करना है| यदि प्रत्येक प्राणी संसार से विरक्त हो प्रभु में लीन हो जाए, तो फिर विश्व कैसे चलेगा? तत्व ज्ञानीयों को उन्हें उपदेश से शुभ कर्मों की ओर प्रेरित करने के लिए अवश्य कहा है, परन्तु उनके कर्मों में प्रत्यक्ष रूप से हस्तक्षेप को निषेध कहा है| सांसारिक व्यक्तियों के लिए सकाम कर्म करना आवश्यक है| गृहस्थ को घर चलाने के लिए धन चाहिए, रहने के लिए मकान चाहिए, इत्यादि| यदि इन कर्मों को रोकने के लिए तत्व ज्ञानी उनसे हठ करेंगे तो ऐसा संभव है कि उन्हें शास्त्रों में अश्रद्धा एवं अविश्वास हो जाए| ऐसे ज्ञान का क्या लाभ जो उनके परिवार के भरण पोषण में बाधा हो? अतः ज्ञानी पुरुषों को शास्त्रविहित सकाम कर्म करने के लिए उन्हें प्रोत्साहित करना चाहिए, न कि उनके कर्मों का त्याग करने की हठ| जब वह शास्त्रविहित सकाम कर्म करेंगे, तो स्वतः ही धीरे धीरे उनमें ज्ञान जाग्रत हो जाएगा, और सकाम कर्म करने की भावना शनैः शनैः निष्काम कर्म की ओर ले जाएगी, जिससे उनका उत्थान होगा| यही तत्व ज्ञानीयों का आसक्त सांसारिक प्राणियों के प्रति लक्ष्य होना चाहिए|

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ।।३-३०।।

कर विचार विवेक बुद्धि करो कर्तव्य कर्म अर्जुन |
कर पालन क्षात्र धर्म हो तत्पर तुरंत इस धर्म रन ||
रहित भाव काम मोह विषाद करो कर्म मुझे अर्पन ||३-३०||

भावार्थ: *हे अर्जुन, विवेक बुद्धि से अपने कर्तव्य कर्म पर विचार करो| क्षात्र धर्म का पालन करते हुए तुरंत धर्म युद्ध को तैयार हो जाओ| काम, मोह, संताप से रहित हो कर अपने कर्म को मुझे अर्पित करो|*

टीका: प्रभु ने यहां अर्जुन को उसका कर्तव्य कर्म विवेक बुद्धि के साथ विचार करने को कहा है| यदि विवेक से विचार किया जाए तो अंतरात्मा प्राणी को उसके कर्तव्य कर्म का ज्ञान करा ही देती है| तब अविनाशी परमात्म-तत्व का अनुभव होने लगता है| स्मरण रहे, प्रभु पहले ही कह चुके हैं कि संसार में मोह माया ही पतन का कारण है| जब प्राणी इससे ऊपर उठकर संसार को प्रभुमय देखने लगता है, तो उसका उत्थान आरम्भ हो जाता है|

द्व्यक्षरस्तु भवेंमृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतं |
मामेति च भवेंमृत्यूनं मामेति च शाश्वतं ||

दो अक्षरों का 'मम', ऐसा भाव मृत्यु है, और तीन अक्षरों का 'न मम' ऐसा भाव अमृतमय सनातन ब्रह्म है|

भगवान् ने सभी शास्त्रविधि निष्काम कर्मों को उनको अर्पण करने के लिए कहा है| जब यह भाव आ जाए, 'मैं भगवान् का हूँ और मेरी समस्त वस्तुएं, कर्मादि प्रभु के ही हैं', यही भगवान् को अर्पण भाव है|

कर्मों और पदार्थों का स्वरुप से त्याग करना प्रभु को अर्पण नहीं है| क्योंकि कर्ता का भाव स्वयं का हो सकता है| कर्मों और पदार्थों को भगवान् का ही

मानकर केवल उन्हीं को ध्यान में रखकर कर्म करना अर्पण है| स्मरण रहे कि वस्तुओं को अपनी समझते हुए यदि प्रभु को अर्पण किया जाता है, तो यह सकाम कर्म होता है| क्योंकि इससे प्रभु से सांसारिक फल तो प्राप्त किए जा सकते हैं लेकिन प्रभु की प्राप्ति नहीं हो सकती, कर्म बंधन से मुक्ति नहीं मिल सकती| उदाहरण के रूप में अगर एक बालक को पिता की खोयी हुई चाबी आँगन में मिल जाए, और वह उसे पिता को सौंप दे ताकि पिता उससे प्रसन्न हों उसे कोई पुरस्कार दें, यहां बालक का भाव पिता को प्रसन्न कर उनसे पुरस्कार प्राप्त करने का है, अतः सकाम भाव है| लेकिन यदि वह इस भाव से चाबी पिता को दे कि चाबी भी पिता की, आँगन भी पिता का, मैं भी पिता का, फिर पुरस्कार की भावना समाप्त हो जाएगी| यदि पिता पुरस्कार दें भी तो भी वह नम्रता पूर्वक क्षमा मांगकर पुरस्कार स्वीकार न करे और कहे कि पिता इसमें मैंने किया ही क्या है? आपकी चाबी को आपके ही आँगन में पड़ा देखा, उठाकर आपको दे दी| इससे पिता के हृदय में पुत्र का समर्पण भाव आएगा और वह पिता का प्रिय पुत्र बन जाएगा| इसी प्रकार सम्पूर्ण पदार्थ, शरीर, शरीरी (आत्मा) भगवान् के हैं, अतः उन पर से अपनापन हटाने और उन्हें भगवान् को अर्पण करने के भाव से प्रभु प्रसन्न हो जाते हैं, उसके ऋणी हो जाते हैं| यही समर्पण भाव है| इसी समर्पण भाव से कर्म करने को प्रभु अर्जुन को प्रेरित कर रहे हैं|

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ।।३-३१।।

हो रहित दोष दृष्टि करे जो नर यह मत अनुसरन |
निष्ठा पूर्वक करे जो सम्पूर्ण कर्म मुझे समर्पन ||
मिले मुक्ति उस प्राज्ञ जन तुरंत सभी कर्म बंधन ||३-३१||

भावार्थ: *जो प्राणी दोष दृष्टि से रहित होकर मेरे मत का अनुसरण करता है और निष्ठापूर्वक अपने कर्मों को मुझे समर्पित कर देता है, उस ज्ञानी पुरुष की सभी कर्म बंधनों से तुरंत मुक्ति मिल जाती है|*

टीका: किसी भी वर्ण, आश्रम, धर्म, सम्प्रदाय का कोई भी प्राणी यदि कर्म बंधन से मुक्त होना चाहता है, तो उसे प्रभु द्वारा दिए गए सिद्धांत, 'निष्काम भाव से कर्तव्य कर्म को करते हुए उसे प्रभु को समर्पण कर दो', का अनुसरण करना होगा| शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, पदार्थ, कर्म आदि कुछ भी अपना नहीं है, इस सत्यता को जानकर कर्म करो, और उसके परिणाम प्रभु को समर्पण करो, अर्थात प्रभु पर छोड़ दो| तब कर्म बंधन से मुक्ति मिलना निश्चित है|

प्रभु ने श्रद्धा पूर्वक समर्पण करने को कहा है| श्रद्धावान साधक ही सत-शास्त्र, सत-चर्चा और सत्संग की बातें सुनकर उन्हें आचरण में ला सकता है, इसलिए श्रद्धा का अत्यंत महत्व है| जहां श्रद्धा होती है वहां किसी भी अंश में दोष दृष्टि नहीं होती|

प्रभु इन शब्दों के द्वारा अर्जुन से अप्रत्यक्ष रूप में कह रहे हैं कि मैं तुम्हें सर्वस्व मुझे अर्पण कर कर्तव्य कर्म अर्थात युद्ध करने की आज्ञा दे रहा हूँ| मेरी आज्ञा का पालन करने से ही तुम्हें कर्म बंधन से मुक्ति मिलेगी| भगवान् के यह गूढ़ शब्द हम सब पर भी प्रयुक्त होते हैं| हम सब को भी प्रभु को समर्पण कर अपने यथायोग्य कर्तव्य कर्म करते रहना चाहिए|

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञाननिमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ।।३-३२।।

कर दोषारोपण मुझ पर जो नर करें नहीं कर्म पालन |
समझो उन्हें मोहित ज्ञान अबुद्धि अविवेकी भूजन ||
इच्छा भोग संग्रह ममता से हो अवश्य उनका पतन ||३-३२||

भावार्थ: *मुझ पर दोषारोपण कर जो प्राणी अपने कर्म का पालन नहीं करते, उन्हें ज्ञान में मोहित मूढ़ एवं अविवेकी समझो| भोग, संग्रह, ममता की लिप्सा से इनका पतन निश्चित है|*

टीका: प्रभु के उपरोक्त सिद्धांत का जो प्राणी अनुसरण नहीं करते, वह अपने कृत्य राग एवं द्वेष पूर्ण भावना से करते हैं| राग और द्वेष, यह दोनों ही प्राणी के महान शत्रु हैं, 'तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ'| नाशवान होने के कारण पदार्थ और कर्म तो सदैव साथ नहीं रहते, पर राग, द्वेष पूर्वक कर्म करने से प्राणी तादाम्य, ममता और कामना से आबद्ध होकर बार बार नीच योनियों और नर्क को प्राप्त करता रहता है| इसलिए प्रभु ऐसे प्राणियों के पतन होने की बात कहते हैं|

यहां इन शब्दों का यह भी अर्थ निकाला जा सकता है कि प्रभु कह रहे हैं कि मुझ में आस्था रखो या न रखो, शास्त्रविधि से मेरे द्वारा दिए गए मत के साथ कर्तव्य कर्म का पालन करो, कर्म बंधन से मुक्ति संभव है| यदि ऐसा नहीं करोगे तो पतन निश्चित है| मुझ में आशा रख कर मेरे मत का पालन करोगे तो कर्म बंधन से मुक्ति के साथ मैं स्वयं भी तुम्हें मिलूंगा| यदि मुझ में आस्था नहीं है, लेकिन तुम मेरे मत का पालन करते हो तो कर्म बंधन से मुक्ति मिल सकती है, परन्तु मेरा प्रेम नहीं पा सकोगे| ऐसे में तुम्हारी स्थिति एक भटके हुए योगी की तरह हो जाएगी|

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ।।३-३३।।

हो पराधीन निज निज स्वभाव करें सब कर्म भूजन |
प्राज्ञ करें चेष्टा हो सके यथावत धर्म कर्म पालन ||
नहीं आए काम हठ कभी सुनो हे वीर पृथानंदन ||३-३३||

भावार्थ: *अपने अपने स्वभाव से परवश हो कर प्राणी सब कर्म करते हैं| बुद्धिमान लोग प्रयत्न करते हैं कि वह यथावत धर्म कर्म का पालन करें| हे अर्जुन, इस विषय में हठ किसी के काम नहीं आता|*

टीका: प्रभु कहते हैं कि जिसका जैसा स्वभाव होता है, वह उसी के अनुसार कर्म करता है| यदि स्वभाव अशुद्ध हो, तो वह अशुद्ध कर्मों में और स्वभाव

शुद्ध हो तो शुद्ध कर्मों में मनुष्य को लगा देता है| हठ पूर्वक अपने स्वाभाविक कर्म को त्याग कर दूसरे कर्म में लगना संभव नहीं है|

यहां प्रभु अर्जुन को समझाने का प्रयास कर रहे हैं कि हे अर्जुन, तू क्षत्रिय है, राज परिवार से है, योद्धा है| तेरा स्वाभाविक कर्म प्रजा की रक्षा करना, अत्याचारियों का विनाश करना, देश के शत्रुओं को वीरगति देना है| तेरा यह स्वभाव तुझे विवश करेगा कि तू इस धर्म युद्ध में भाग ले| हठ पूर्वक यदि तू इस स्वभाव का त्याग करने का प्रयास कर युद्ध से पलायन करने का विचार करेगा तो तुझे उसमें सफलता नहीं मिलेगी, 'प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति'|

बुद्धिमान पुरुष भी स्वभाव के अनुसार ही कार्य करते हैं| किसी हेतु के बिना कोई व्यवहार नहीं कर सकता| उदाहरण के रूप में गुरु शिष्य की स्थिति में आकर ही उसे वर्णमाला सिखाता है| यदि वह शिष्य को अपने स्तर पर ज्ञानी समझ उसे वर्णमाला सिखाने का प्रयास करेगा, तो उसमें गुरु को सफलता नहीं मिलेगी| इसी प्रकार ज्ञानी महापुरुष भी साधारण पुरुष की स्थिति में आकर उन्हें ज्ञान देते हैं| यहां प्रभु भी स्वयं को अर्जुन के स्तर पर आकर उसे प्रारम्भिक क्षत्रिय कर्म समझाने का प्रयास कर रहें हैं| उसके क्षत्रिय स्वभाव से उसे अवगत करा रहे हैं| हठपूर्वक भावनावश यदि कोई अपना प्रारम्भिक कर्म त्याग करने का प्रयास करता है, तो बाद में विवेकशील बुद्धि से विचार करने पर उसे बहुत पछतावा होता है|

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेतौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ।।३-३४।।

रहते इन्द्रिय विषय राग द्वेष अंतर्मन सब भूजन |
नहीं होते प्राज्ञ वश इन शत्रु देते जो दुःख गहन ||३-३४||

भावार्थ: *हर प्राणी के अंतर्मन में विषय इन्द्रियों के राग, द्वेष रहते हैं (अर्थात छिपे रहते हैं)| बुद्धिमान लोग इनके वश में नहीं आते क्योंकि यह शत्रु गहन दुःख देने वाले हैं|*

टीका: इन्द्रिय विषय संबंधी राग, द्वेष सभी प्राणियों के अंतरंग में सदैव वास करते हैं| इन्हीं राग, द्वेष के कारण मनुष्य अपने सुख, दुःख का दोष दूसरों को देने लगता है| जो सुख देता है, उससे राग हो आता है| जो दुःख देता है, उससे द्वेष हो जाता है| लेकिन यथार्थ में राग, द्वेष स्वयं के अज्ञान के कारण होते हैं, किन्हीं दूसरों के कारण नहीं| राग, द्वेष होने के कारण प्राणी प्रभु का सिद्धांत अनुसरण नहीं कर पाता, जिससे उसे संसार जड़ और नाशवान दिखता है, भगवद स्वरुप नहीं| यदि प्राणी राग, द्वेष के वशीभूत न हो, तो जड़ता है ही नहीं, प्रत्युत सभी चिन्मय परमात्मा ही है, 'वासुदेवः सर्वं'| बुद्धिमान लोग इस राग, द्वेष के चक्र में नहीं पड़ते| अनुकूलता हो या प्रतिकूलता, दोनों ही स्थिति में वह भगवान् को स्मरण करते हुए, अपने कर्मों को उन्हें समर्पण करते हुए, अपने कर्तव्य कर्म का पालन करते रहते हैं| कर्तव्य कर्म पालन से च्युत होना ही अधर्म की ओर जाना है| यह शत्रु रूप है जो अत्यंत दुःखदायी होता है|

श्रेयान्स्वधर्मो विगुण परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।।३-३५।।

समझो स्व-धर्म श्रेष्ठ अपेक्षा अन्य धर्म हे अर्जुन |
है संभव अन्य धर्म हो सकता अधिक गुण संपन्न ||
है अन्य धर्म भीरु व् स्व-धर्म शुभ चाहे इसमें मरन ||३-३५||

भावार्थ: *हे अर्जुन, अपने धर्म को दूसरे धर्म की अपेक्षा श्रेष्ठ समझो| यह संभव है कि दूसरा धर्म अधिक गुण संपन्न हो सकता है| दूसरा धर्म भय देने वाला है और स्व-धर्म शुभ होता है चाहे उसमें मरण हो|*

टीका: स्व-धर्म की परिभाषा ऋषियों ने इस प्रकार दी है, स्वयं को परमात्मा का अंश मानना, भगवान् को समर्पित हो भगवान् को ही कर्ता मानना, भगवान् के अतिरिक्त किसी को भी अपना नहीं मानना, अपने को सदैव जिज्ञासु मानना, अपने को प्रभु का सेवक मानना| इनके अतिरिक्त वर्ण, आश्रम, शरीर आदि को लेकर जो धर्म हैं, वह परधर्म की श्रेणी में आते हैं, क्योंकि इन धर्मों को कार्यान्वित करने के लिए दूसरों के सहारे की आवश्यकता पड़ती है, अर्थात

उनमें परतंत्रता है| स्व-धर्म वह है जो स्वतंत्र है, जिसमें भक्त प्रभु का होता है, जिज्ञासु होता है, सेवक होता है| इसमें ही साधक का कल्याण होता है|

जब साधक अपना कल्याण करने का दृढ़ निश्चय करके स्व-धर्म के पालन में तत्परता पूर्वक लग जाता है, तब कोई कष्ट, दुःख, कठिनाई आदि आने पर भी वह विचलित नहीं होता| वह इन दोषों को तपस्या के रूप में देख प्रसन्न होता है|

स्व-धर्म और परधर्म को समझने के लिए यह समझना आवश्यक है कि परमात्मा और उनका अंश 'स्वयं' है| प्रकृति और उसके कार्य (शरीर और संसार) अन्य हैं| स्वयं का धर्म स्व-धर्म, और अन्य का धर्म परधर्म| अतः सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो निर्विकारता, निर्दोषिता, अविनाशिता, नित्यता, निष्कामता, निर्ममता, आदि जितने स्वयं के धर्म हैं, वह स्व-धर्म हैं| जन्म लेना, जन्म के पश्चात जीवन निर्वाह के लिए कर्म करना, क्षीण होना, नष्ट होना, भोग एवं संग्रह की इच्छा करना, मान-यश की इच्छा करना इत्यादि जितने शरीर और संसार के धर्म हैं, वह सब परधर्म की श्रेणी में आते हैं| परधर्म सांसारिक सुख देने के लिए लालायित कर सकते हैं, परन्तु वह अंत में दुःखदायी होते हैं| स्व-धर्म ही कल्याणकारी है| अतः अपने कल्याण हेतु स्व-धर्म में ही संलग्न हो|

अर्जुन उवाच
अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पुरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ।।३-३६।।

अर्जुन उवाच
हे माधव क्यों करता प्राणी पाप पूछे यह अर्जुन ।
है कौन प्रेरणा जो करे प्रेरित कृत्य इस आचरन ।।३-३६।।

भावार्थ: *अर्जुन ने पूछा, 'हे माधव, प्राणी पाप क्यों करता है? कौन सी ऐसी प्रेरणा है जो उसे ऐसा कृत्य एवं आचरण करने को प्रेरित करती है?*

टीका: अर्जुन को यहां एक शंका है| साधारणतः कोई भी प्राणी पाप का भागी नहीं होना चाहता, फिर ऐसा क्या कारण है कि प्राणी पाप करने को बाध्य हो जाता है?

पापों में प्रवृत्ति का मूल कारण है, 'काम', अर्थात सांसारिक सुख भोग और संग्रह की कामना| प्राणी मोह, ममता, लौकिक सुख आदि में इतना डूब जाता है कि उसे पता ही नहीं चल पाता कि पाप करने के लिए उसे किसने प्रेरित किया? वह यह समझता है कि मैं तो पाप और पाप कर्म को भली भांति जानता हूँ, अवश्य ही कोई अदृश्य शक्ति मुझ से पाप करा रही है| जैसे कि दुर्योधन ने सोचा:

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः ।
केनापि देवहन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ।।

'मैं धर्म को जानता हूँ, पर उसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं होती और अधर्म को भी जानता हूँ, पर उससे मेरी निवृत्ति नहीं होती। मेरे हृदय में स्थित कोई देव है, जो मेरे से जैसा करवाता है, वैसा ही मैं करता हूँ।'

दुर्योधन द्वारा कहा गया यह 'देव' वस्तुतः 'काम' (भोग और संग्रह की इच्छा) ही है, जिससे मनुष्य विचारपूर्वक जानता हुआ भी धर्म का पालन और अधर्म का त्याग नहीं कर पाता।

तात्पर्य यह है कि विचारवान् मनुष्य स्वयं पाप करना नहीं चाहता| राक्षस प्रकृति ही उसे बल पूर्वक पाप में प्रवृत्त करा देती है। यह राक्षस प्रकृति क्या है? यह अर्जुन का प्रश्न है।

श्रीभगवानुवाच
काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्धेयनमिह वैरिणम् ।।३-३७।।

श्रीभगवानुवाच
काम भावना दे रजोगुण है कारण अघ बोले भगवन |
दे असफल काम जन्म क्रोध जो महापाप अर्जुन ||
हैं काम क्रोध अति वैरी जो बनें हेतु पाप भूजन ||३-३७||

भावार्थ: *भगवान् बोले, 'हे अर्जुन, काम भावना रजोगुण देती है जो पाप का कारण है| काम की असफलता क्रोध देती है, जो महापाप है (अपूर्ण काम क्रोध का कारण है)| गहन शत्रु काम एवं क्रोध प्राणी को पाप कराने के हेतु हैं|*

टीका: 'इदं मे स्यादिदम मे स्यादितीचा कामशब्दिता', यह मुझे मिल जाए वह मुझे मिल जाए इस प्रकार की इच्छा ही 'काम भावना' कहलाती है| यह सब इच्छाएं रजोगुण प्रवृत्ति के कारण होती हैं| यदि प्राणी के हृदय में सतगुण का वास हो, तो वह लोक कल्याण के बारे में इच्छाएं करता है, न कि स्वयं के सुख की इच्छा पूर्ति के लिए| इसलिए प्रभु ने यहां रजोगुण शब्द का प्रयोग किया है| शास्त्रों में कामनाओं के चार प्रकार का विवरण है|

(१) शरीर निर्वाह की आवश्यक कामना| इसे पूर्ण करने में प्राणी का सामर्थ्य है| यह कामना आवश्यक है| शास्त्रविधि एवं सतोगुण द्वारा इस इच्छा को पूर्ण करने में कोई दोष नहीं लगता|

(२) व्यक्तिगत एवं न्याय युक्त कामना| जिनको पूर्ण करना प्राणी की सामर्थ्य से बाहर है| उदाहरण के रूप में 'संसार में अन्याय एवं अत्याचार न हो', ऐसी लोक कल्याण की इच्छा| इसे प्रभु को अर्पित कर देना चाहिए| प्रभु ही उपयुक्त माध्यम से इस प्रकार की इच्छा को पूर्ण करेंगे|

(३) दूसरों के हित में उनकी कामना पूर्ति की इच्छा, जो प्राणी के सामर्थ्य में है, जैसे किसी निर्धन की पुत्री का विवाह कराना| यहां स्वयं की कामना त्याग एवं निःस्वार्थ लोक कल्याण करने की सामर्थ्य होनी चाहिए|

(४) ऐसी कामना जिसकी पूर्ति से न तो स्वयं का कल्याण हो, एवं न ही दूसरों का| अर्थात अपने सुख भोग के लिए की गई कामना| इसका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए| ऐसी कामनाएं अगर शांत नहीं की गईं तो इनकी तृप्ति कभी नहीं होती|

बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ बिषय भोग बहु घी ते |

जैसे धन मिलने पर धन की कामना बढ़ती ही चली जाती है, ऐसे ही ज्यों त्यों भोग मिलते हैं, उनकी कामना बढ़ती ही चली जाती है|

कामना ही सम्पूर्ण पापों का कारण है| कामना की अपूर्ति पर क्रोध उत्पन्न होता है, जो अग्नि में घी का कार्य करता है|

'काम भावना' रजोगुण से उत्पन्न होती है| अतः पापों का कारण तो रजोगुण है और कृत्य तमोगुण है| रजोगुण से बचना ही पापों से निवृत होना है|

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ।।३-३८।।

जैसे ढके धूमक अनल जेर गर्भ और धूलि दर्पन |
सादृश्य ढके बुद्धि विवेक हों जब लौकिक मन्मन् ||३-३८||

भावार्थ: *जिस प्रकार धुंआ अग्नि को, जेर (अंडाशय झिल्ली) गर्भ को एवं धूल दर्पण को ढक लेती है, उसी प्रकार सांसारिक कामना की इच्छा विवेक बुद्धि को ढक लेती है|*

टीका: धुआं अग्नि को ढक अवश्य लेता है, परन्तु धुएं से यह ज्ञान होता है कि वहां अग्नि है| जेर गर्भ को ढक अवश्य लेता है, पर मादा के उदर से आभास होता है कि मादा गर्भ धारण किए है| धूल दर्पण को ढक अवश्य लेती है, परन्तु दर्पण के होने के अनुभव को नहीं रोक सकती| उसी प्रकार लौकिक भोग

विलास की कामना विवेक बुद्धि को ढक अवश्य देती है, परन्तु विवेक बुद्धि तो होती ही है, बस लौकिक भोग विलास की कामना के कारण उसे उपयोग में नहीं लाया जा सकता| अतः यदि लौकिक भोग विलास की कामना का त्याग कर विवेक बुद्धि के उपयोग से शास्त्रविधि एवं सतोगुण कर्म किए जाएं, तो पाप कर्म की कोई जगह ही नहीं रह जाती|

शास्त्रों के अनुसार परमात्मा को प्राप्त करने में तीन दोष बाधक हैं, मल, विक्षेप एवं आवरण| यह दोष असत की संगत से उत्पन्न होते हैं| असत का सम्बन्ध कामना से है| अतः मूल दोष कामना का ही है| कामना का सर्वथा नाश होते ही असत से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है एवं सम्पूर्ण दोष मिट जाते हैं| विवेक प्रकट हो जाता है| 'कर्मयोगस्तु कामिनाम' अर्थात निष्काम कर्म करो, काम भावना स्वतः ही नष्ट हो जाएगी|

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ।।३-३९।।

समझो समान अनल अतृप्त कामना कुन्तीनन्दन |
यह रिपु रूप ढके नित्य पावन विवेक बुद्धिजन ||३-३९||

भावार्थ: *हे कुन्तीनन्दन, कामना को अग्नि के समान समझो जो अतृप्त रहती है| यह शत्रु रूप बुद्धिमान पुरुषों के पावन विवेक को ढक लेती हैं|*

टीका: जिस प्रकार अग्नि में घी की आहुति देने से अग्नि कभी तृप्त नहीं होती, उसी प्रकार कामना के अनुकूल भोग भोगते रहने से कामना कभी तृप्त नहीं होती, प्रत्युत अधिकाधिक बढ़ती रहती है| महान संत महाकवि सुन्दरदास जी कहते है:

जो दस बीस पचास भये सत, होए हज़ार तो लाख मंगैगी |
कोटि अरब्ब खरब्ब असंख्य, पृथ्वीपति हों की चाह जगैगी ||
स्वर्ग पताल को राज करौ, तृष्णा अघ की अति आग लगैगी |

सुन्दर एक संतोष बिना सठ, तेरी तो भूख कभी न भगैगी ||

वास्तव में तृष्णा उसकी मिटती है जिसे सांसारिक भोगों की भूख न हो|

चाह गई चिंता मिटी, मनुआं बेपरवाह |
जिनको कुछ न चाहिए, सो साहनपति साह ||

प्रभु कहते हैं कि यह चाह (कामना) विवेकशील साधकों की गहन वैरी है| यह उनके पावन विवेक को आवरण बन कर ढक लेती है| कामना ही सम्पूर्ण पापों और दुःखों का कारण है| अतः दुःखों से बचना है तो दुःखों के कारण, कामना का त्याग करना होगा| कामना के रहते हुए स्वप्न में भी सुख नहीं मिल सकता| गोस्वामी तुलसी दास जी कहते हैं:

काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं|

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ।।३-४०।।

इन्द्रिय मन बुद्धि करें वास जहां कामना अर्जुन |
करें यह मोहित शरीर बन आवरण ज्ञानी भूजन ||३-४०||

भावार्थ: *हे अर्जुन, इन्द्रिय, मन और बुद्धि में कामना का वास है| यह आवरण बनकर बुद्धिमान प्राणियों के शरीर को मोहित कर देते हैं|*

टीका: समस्त क्रियाएं शरीर, मन, इन्द्रिय एवं बुद्धि से ही संचालित होती हैं| यदि इनमें काम भाव रहता है, तो यह पारमार्थिक कर्म नहीं करने देता| इसलिए कर्मयोगी निष्काम, निर्मम और अनासक्त होकर शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि के द्वारा अंतःकरण की शुद्धि के लिए कर्म करता है|

काम 'अहम्' में ही रहता है| एक बार के किए पाप तो फल भुगता कर नष्ट हो जाते हैं, लेकिन अहम् से कामना दूर हुए बिना नए नए पाप उत्पन्न होते रहते हैं| इसलिए कामना ही जीव को बांधने वाली कही गई है|

कामबन्धनमेवैकं नान्यदस्तीह बन्धनम् ।
कामबन्धनमुक्तो हि ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

संसार में कामना ही एक मात्र बन्धन है, दूसरा कोई बन्धन नहीं है। जो कामना के बन्धन से छूट जाता है, वह ब्रह्म भाव प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है।

कामना के कारण जो प्राणी को करना चाहिए, वह नहीं करता और जो नहीं करना चाहिए, वह कर बैठता है| इस प्रकार कामना ज्ञानी पुरुष के शरीर को भी मोहित कर देती है|

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मान प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ।।३-४१।।

करके वश इंद्रियां हे श्रेष्ठ भरतवंशी अर्जुन|
कर प्रयास हो विनाश महापापी काम द्विषन्||
है यह रिपु जो करे विनाश ज्ञान विज्ञान अंतर्मन||३-४१||

भावार्थ: *हे श्रेष्ठ भरतवंशी अर्जुन, इन्द्रियों को वश में कर महापापी शत्रु काम का विनाश करने का प्रयास कर| यही वह शत्रु है जो अंतर्मन के ज्ञान और विज्ञान का नाश करता है|*

टीका: कामना सम्पूर्ण पापों की जड़ है| कामना मनुष्य के विवेक को ढक कर उसे अन्धा बना देती है, जिससे उसे पाप, पुण्य का ज्ञान ही नहीं रहता| वह पापों में ही लग जाता है जिससे उसका पतन हो जाता है| इसलिये भगवान् कामना को महापापी बताकर उसका विनाश करने की आज्ञा अर्जुन को दे रहे हैं| जब तक मनुष्य में कामना रहती है, तब तक वह जन्म-मरण रूप बन्धन में पड़ा

रहता है| जब मनुष्य का जड़ पदार्थों की ओर आकर्षण रहता है, तब वह उसे विषयों के सुख भोग में ही लगाती हैं| कामना के कारण विवेक ढक जाने से मनुष्य इन्द्रियजन्य सुख के लिये पदार्थों की कामना करने लगता है| कामना पूर्ति हेतु वह झूठ, कपट, धोखा, चोरी आदि पाप कर्मों को भी करने लग जाता है| उसमें अभिमान भी आ जाता है, जो आसुरी सम्पत्ति का मूल है| इस प्रकार कामना के कारण मनुष्य पतन की ओर चला जाता है। इसलिये भगवान् इस महापापी काम का पूर्ण विनाश करने की अर्जुन को आज्ञा देते हैं|

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ।।३-४२।।
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ।।३-४३।।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मेविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ।।

हैं इंद्रियां सबल श्रेष्ठ व्यापक सूक्ष्म अर्जुन।
है मन श्रेष्ठ अपेक्षित इन्द्रिय और बुद्धि श्रेष्ठ मन ||३-४२||
है बुद्धि से परम काम यह समझ स्पष्ट युद्धिवन।
जान यह परम मत कर वश काम शूरवीर अर्जुन ||
कर नाश कामरूप दुर्जय रिपु इस भांति प्रियजन ||३-४३||

करते हुए ओम तत सत पूर्ण भगवन्नाम उच्चारन।
ब्रह्मविद्या योगशास्त्रमय महाग्रंथ गीतबंधन ||
श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषदरूप ग्रन्थ अति पावन।
श्री कृष्णार्जुन संवाद कर्म योग नामन ||
हुआ अत्र सम्पूर्ण तृतीय अध्याय करे कल्याण जन ||

भावार्थ: *हे अर्जुन, इंद्रियां सबल, श्रेष्ठ, व्यापक एवं सूक्ष्म हैं| इन्द्रियों से श्रेष्ठ मन है| मन से श्रेष्ठ बुद्धि है| बुद्धि से परम काम है| यह तू स्पष्ट रूप से समझ| हे*

शूरवीर अर्जुन, इस परम मत को जान कर तू काम को वश में कर| हे प्रिय, इस भांति कामरूप दुर्जय शत्रु का विनाश कर|

इस प्रकार उपनिषद, ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र रूप श्रीमद् भगवद् गीता के श्री कृष्ण-अर्जुन संवाद में 'कर्मयोग' नामक तृतीय अध्याय संपूर्ण हुआ |

टीका: शरीर अथवा विषयों से इन्द्रियाँ श्रेष्ठ हैं| इन्द्रियों के द्वारा विषयों का ज्ञान होता है पर विषयों के द्वारा इन्द्रियों का ज्ञान नहीं होता| इन्द्रियाँ विषयों के बिना भी रहती हैं पर इन्द्रियों के बिना विषयों की सत्ता सिद्ध नहीं होती| इन्द्रियाँ व्यापक हैं और विषय व्याप्य हैं, अर्थात् विषय इन्द्रियों के अन्तर्गत आते हैं पर इन्द्रियाँ विषयों के अन्तर्गत नहीं आतीं| विषयों की अपेक्षा इन्द्रियाँ सूक्ष्म हैं| 'इन्द्रियेभ्यः परं मनः', इन्द्रियाँ मन को नहीं जानतीं पर मन सभी इन्द्रियों को जानता है| इन्द्रियों में भी प्रत्येक इन्द्रिय अपने अपने विषय को ही जानती है, अन्य इन्द्रियों के विषयों को नहीं| जैसे कान केवल शब्द को जानते हैं पर स्पर्श रूप रस और गंध को नहीं जानते| त्वचा केवल स्पर्श को जानती है पर शब्द रूप रस और गन्ध को नहीं जानती| नेत्र केवल रूप को जानते हैं पर शब्द स्पर्श रस और गन्ध को नहीं जानते| रसना केवल रस को जानती है पर शब्द स्पर्श रूप और गन्ध को नहीं जानती| नासिका केवल गन्ध को जानती है पर शब्द स्पर्श रूप और रस को नहीं जानती| मन पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को तथा उनके विषयों को जानता है। इसलिये मन इन्द्रियों से श्रेष्ठ सबल प्रकाशक व्यापक और सूक्ष्म है| 'मनसस्तु परा बुद्धिः', मन बुद्धि को नहीं जानता पर बुद्धि मन को जानती है। मन कैसा है, शान्त या व्याकुल, इन बातों को बुद्धि जानती है| इन्द्रियाँ ठीक काम करती हैं या नहीं, इसको भी बुद्धि जानती है| बुद्धि मन को तथा उसके संकल्पों को भी जानती है और इन्द्रियोँ को तथा उनके विषयों को भी जानती है। इसलिये इन्द्रियोँ से श्रेष्ठ मन है| मन से भी बुद्धि श्रेष्ठ है| 'य बुद्धेः परतस्तु सः', बुद्धि का स्वामी अहम् है, इसलिये कहता है 'मेरी' बुद्धि| बुद्धि करण है और अहम् कर्ता है| करण परतन्त्र होता है पर कर्ता स्वतन्त्र होता है| उस अहम् में जो जड़ अंश है, उसमें काम रहता है| जड़ अंश से तादात्म्य होने के कारण वह काम स्वरूप (चेतन) में रहता प्रतीत होता है| वास्तव में अहम् में ही काम रहता है क्योंकि वही भोगों की इच्छा करता है और सुख, दुःख का

भोक्ता बनता है| भोक्ता भोग और भोग्य, इन तीनों में सजातीयता (जातीय एकता) है| इनमें सजातीयता न हो तो भोक्ता में भोग्य की कामना या आकर्षण नहीं हो सकता| अहम् प्रकृति का अंश है| उस अहम् से भी आगे साक्षात् परमात्मा का अंश स्वयं है जो शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहम्, इन सब का आश्रय आधार कारण और प्रेरक है तथा श्रेष्ठ बलवान्, प्रकाशक, व्यापक और सूक्ष्म है|

भगवान् कामना को शत्रु बताते हुए उसे समाप्त करने की आज्ञा देते हैं| कर्मयोग के द्वारा इस कामना का नाश सुगमता से हो जाता है| कर्मयोग का साधक संसार की छोटी से छोटी अथवा बड़ी से बड़ी प्रत्येक क्रिया परमात्म-तत्व प्राप्ति का उद्देश्य रखकर दूसरों के हित के लिये ही करता है, कामना की पूर्ति के लिये नहीं| चूंकि कर्मयोगी अपने लिये कुछ नहीं करता, अपने लिये कुछ नहीं चाहता और अपना कुछ नहीं मानता, इसलिये उसमें कामनाओं का नाश सुगमता पूर्वक करने की शक्ति होती है| कामनाओं का सर्वथा नाश होने पर उसके उद्देश्य की पूर्ति हो जाती है और वह अपने आप में ही अपने आपको पाकर कृतकृत्य ज्ञात-ज्ञातव्य और प्राप्त-प्राप्तव्य हो जाता है, अर्थात् उसके लिये कुछ भी करना जानना और पाना शेष नहीं रहता|

अध्याय ४: ज्ञानकर्मसन्यासयोग

श्रीभगवानुवाच
इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ।।४-१।।

श्रीभगवानुवाच
छंद:
दिए ज्ञान प्रथम हम रवि शाश्वत कर्मयोग अर्जुन |
सौंपे ज्ञान तब सूर्य स्व-पुत्र वैवस्वत मनु पावन ||
वैवस्वत तब दिए यह ज्ञान इक्ष्वाकु बोले भगवन ||४-१||

भावार्थ: *भगवान् बोले, 'हे अर्जुन, सर्वप्रथम हमने यह अविनाशी कर्मयोग ज्ञान सूर्यदेव को दिया| सूर्यदेव ने तब यह ज्ञान अपने पावन पुत्र वैवस्वत मनु को सौंपा| वैवस्वत मनु ने तब इस ज्ञान को इक्ष्वाकु (मनु वैवस्वत के पुत्र) को दिया|*

टीका: सृष्टि में सूर्यदेव सब के आदि हैं| सृष्टि की रचना के समय भी सूर्य जैसे पूर्व कल्प में थे, वैसे ही प्रकट हुए, 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्'| इन आदि प्रभु सूर्यदेव को भगवान् ने अविनाशी कर्मयोग का सर्व प्रथम उपदेश दिया| सूर्य से ही मनुष्यों में कर्तव्य परायणता आती है| सूर्य को सम्पूर्ण संसार की आत्मा भी कहा गया है, 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'| अतः सूर्य को जो उपदेश प्राप्त होगा, वह सम्पूर्ण प्राणियों को भी स्वतः प्राप्त हो जाएगा, इसलिये भगवान् ने सर्व प्रथम इस ज्ञान का उपदेश सूर्य को ही दिया| यहां एक बात विशेष ध्यान देने की है| सूर्यदेव, उनके पुत्र वैवस्वत मनु एवं मनु के पुत्र इक्ष्वाकु, सभी गृहस्थ थे| अतः प्रभु यह बता रहे हैं कि गृहस्थाश्रम में रहते हुए जब यह सब कामनाओं का नाश करके परमात्म-तत्व को प्राप्त कर सकते हैं, तो अन्य गृहस्थ क्यों नहीं?

वास्तव में निष्काम एवं निःस्वार्थ भावना से कर्तव्य कर्म का पालन करना ही कर्मयोग है| ज्ञानियों को इसका अनुसरण करने में कोई विशेष परिश्रम नहीं

करना पड़ता| कर्तव्य कर्म सहज स्वाभाविक होता है, क्योंकि यह स्व-धर्म है| परिश्रम तब होता है जब अहंता, आसक्ति, ममता, कामना से युक्त होकर अर्थात् 'अपने लिये' कर्म किया जाता है| कर्मयोगी जब स्वार्थ भाव का त्याग कर केवल संसार के हित के भाव से ही समस्त कर्म करता है, तब भगवान् की सर्वव्यापी हितैषी शक्ति से उसकी एकता हो जाती है और उसके कर्मों में विलक्षणता आ जाती है|

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ।।४-२।।

जाने राजऋषि कर्मयोग परम्परागत हे युद्धिवन |
हो गया लुप्त यह प्रमुख ज्ञान दीर्घान्तर भुवन ||४-२||

भावार्थ: *हे योद्धा, कर्मयोग ज्ञान राजऋषियों को परम्परा से मिला (गुरु-शिष्य ज्ञान श्रुति)| लम्बे समय के अंतराल में यह महत्वपूर्ण ज्ञान पृथ्वी से लुप्त हो गया|*

टीका: सूर्य द्वारा ज्ञान प्राप्त कर मनु, इक्ष्वाकु आदि राजाओं ने कर्मयोग को भली भाँति जानकर उसका आचरण किया| प्राचीन काल में कर्म योगी राजा राज्य के भोगों में आसक्त हुए बिना सुचारु रूप से राज्य का संचालन करते थे| प्रजा के हित में उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति रहती थी|

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत् ।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः ।।

राजा अपनी प्रजा के हित के लिये प्रजा से उसी प्रकार कर लिया करते थे, जिस प्रकार सहस्र गुना बरसाने के लिये सूर्य पृथ्वी से जल लिया करते हैं| कर्मयोग का पालन करने के कारण उन राजाओं को विलक्षण ज्ञान और भक्ति स्वतः प्राप्त थी|

बहुत समय बीत जाने से यह योग इस मनुष्य लोक में लुप्त हो गया| यही कारण है कि वर्तमान में इस कर्मयोग की बात सुनने तथा देखने में नहीं आती है| लेकिन कर्मयोग का आचरण लुप्त प्राय होने पर भी उसका सिद्धान्त (अपने लिये कुछ न करना) सदैव रहता है, क्योंकि इस सिद्धान्त को अपनाये बिना किसी भी योग (ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि) का निरन्तर साधन नहीं हो सकता| कर्म तो मनुष्य को करने ही पड़ते हैं| ज्ञानयोगी विवेक के द्वारा कर्मों को नाशवान् मानकर कर्मों से सम्बन्ध विच्छेद करता है और भक्तियोगी कर्मों को भगवान् को अर्पण करके कर्मों से सम्बन्ध विच्छेद करता है| अतः ज्ञानयोगी और भक्तियोगी को कर्मयोग का सिद्धान्त तो अपनाना ही पड़ता है, भले ही वह कर्मयोग का अनुष्ठान न करें| इसका तात्पर्य यह कि वर्तमान में कर्मयोग लुप्त प्राय होने पर भी सिद्धान्त रूप में विद्यमान है|

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ।।४-३।।

हो तुम मेरे नितांत भक्त सखा द्वं यह ज्ञान सनातन |
है यह कर्मयोग ज्ञान श्रेष्ठ रहस्य प्रिय पृथानंदन ||४-३||

भावार्थ: *हे प्रिय अर्जुन, तुम मेरे अत्यंत भक्त सखा हो, अतः मैं यह सनातन ज्ञान तुम्हें देता हूँ| यह कर्मयोग ज्ञान एक श्रेष्ठ रहस्य है|*

टीका: भगवान् अर्जुन को अपना प्रिय सखा एवं भक्त मानते हैं| अर्जुन अब भगवान् के पूर्णतः शरण में हैं, अतः भगवान् उन्हें प्रिय भक्त सखा मानकर उनके हित के लिए उपदेश देना आरम्भ कर रहे हैं|

भगवान् अर्जुन के समक्ष 'सर्वगुह्यतम' का महत्व समझा रहे हैं| क्योंकि अर्जुन उनकी शरण में हैं, अतः उन्हें सम्पूर्ण पापों से मुक्त करने हेतु कर्मयोग का गुप्त ज्ञान उन्हें दे रहे हैं| उन्होंने ही सृष्टि के आदि में यह ज्ञान सूर्य को दिया था, वही ज्ञान प्रभु अर्जुन को दे रहे हैं| भगवान् अर्जुन से मानो यह कह रहे हैं कि तेरा सारथी बनकर यद्यपि मुझे तेरी आज्ञा का पालन करना चाहिए, परन्तु तेरे हित

के लिए मैं आज तुझे वही उपदेश दे रहा हूँ, जो उपदेश मैंने सृष्टि के आदि में सूर्य को दिया था। मैं साक्षात् वही हूँ और अवतार लेकर गुप्त रीति से प्रकट हुआ हूँ| यह अत्यंत रहस्य का विषय है। इस रहस्य को आज मैं तेरे सामने प्रकट कर रहा हूँ, क्योंकि तू मेरा भक्त और प्रिय सखा है|

भगवान् अर्जुन के सामने अपना ईश्वर भाव प्रकट कर रहे हैं, जिस को गुप्त रखना चाहिए था| यही उत्तम रहस्य है। कर्मयोग ज्ञान प्राणियों को कर्म बंधन से मुक्ति देता है, उन्हें ईश्वरत्व की प्राप्ति कराता है, 'कर्मणा बध्यते जन्तुः'| पदार्थों को अपना मानकर अपने लिये कर्म करने से बन्धन होता है, और पदार्थों को अपना न मानकर (दूसरों का मानकर) केवल दूसरों के हित के लिये निःस्वार्थ भाव पूर्वक सेवा करने से मुक्ति होती है| अनुकूलता-प्रतिकूलता, धनवत्ता-निर्धनता, स्वस्थता-रुग्णता आदि कैसी ही परिस्थिति क्यों न हो, प्रत्येक परिस्थिति में इस कर्मयोग का पालन स्वतन्त्रता पूर्वक हो सकता है| कर्मयोग में रहस्य की तीन बातें मुख्य हैं:

(१) 'मेरा कुछ नहीं है' भाव| मेरा स्वरूप सत् (अविनाशी) है और जो कुछ मिला है, वह सब असत् (नाशवान्) है, फिर असत् मेरा कैसे हो सकता है? अनित्य का नित्य के साथ सम्बन्ध कैसे हो सकता है?

(२) मुझे अपने लिये कुछ नहीं चाहिए' भाव| स्वरूप (सत्) में कभी अपूर्ति या कमी नहीं होती फिर किस वस्तु की कामना की जाए? अनुत्पन्न अविनाशी तत्व के लिये उत्पन्न होने वाली नाशवान् वस्तु कैसे काम में आ सकती है?

(३) 'अपने लिये कुछ नहीं करना है' भाव| स्वयं चेतन परमात्मा का अंश है और कर्म जड़ है। स्वयं नित्य, निरन्तर रहता है| कर्म का तथा उसके फल का आदि और अन्त होता है| इसलिये अपने लिये कर्म करने से आदि-अन्त वाले कर्म और फल से अपना सम्बन्ध जुड़ता है| कर्म और फल का तो अन्त हो जाता है, पर उनका संग रह जाता है, जो जन्म-मरण का कारण होता है, 'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'| स्मरण रहे कि 'करने' का दायित्व उसी पर आता है जो कर सकता है, अर्थात् जिसमें करने की योग्यता है और जो कुछ

पाना चाहता है| निष्क्रिय निर्विकार अपरिवर्तनशील और पूर्ण होने के कारण चेतन स्वरूप शरीर के सम्बन्ध के बिना कुछ कर ही नहीं सकता इसलिये यह विधान मानना पड़ेगा कि स्वरूप को अपने लिये कुछ नहीं करना है|

अर्जुन उवाच
अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ।।४-४।।

अर्जुन उवाच
लिए जन्म तुम इस युग पर सूर्य सनातन बोले अर्जुन |
कैसे समझूं दिए यह ज्ञान तुम रवि आदि सृष्टि सृजन ||४-४||

भावार्थ: *अर्जुन बोले, 'आप तो इस युग में जन्मे हैं, परन्तु सूर्य तो पुरातन हैं| मैं कैसे समझूं कि आपने सृष्टि के आरम्भ में यह ज्ञान सूर्य को दिया था?'*

टीका: अर्जुन को जिज्ञासा हो रही है और वह पूछना चाह रहे हैं, 'हे कृष्ण, आपका जन्म तो अभी इसी युग में हुआ है, पर सूर्य का जन्म सृष्टि के आरम्भ में ही हो गया था| आपने सूर्य को कर्मयोग ज्ञान कैसे और कब दे दिया?'

अर्जुन के इस प्रश्न में तर्क या आक्षेप नहीं है, प्रत्युत जिज्ञासा है| वह भगवान् के जन्म सम्बन्धी रहस्य को सुगमता पूर्वक समझने की दृष्टि से ही यह प्रश्न कर रहे हैं| क्योंकि अपने जन्म सम्बन्धी रहस्य को प्रकट करने में भगवान् ही सर्वथा समर्थ हैं| संभवतः अर्जुन के प्रश्न का तात्पर्य है कि सूर्य को उपदेश देने के बाद से सूर्य वंश की (मनु, इक्ष्वाकु आदि) कई पीढ़ियाँ बीत चुकी हैं और आपका जन्म तो इसी काल का है| अतः आपने सृष्टि के आदि में सूर्य को उपदेश कैसे दिया था, यह मैं अच्छी तरह से समझना चाहता हूँ|

श्रीभगवानुवाच
बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ।।४-५।।

श्रीभगवानुवाच
हो चुके जन्म मेरे तेरे अनेक इस विश्व बोले भगवन |
है बोध मुझे सब जन्म पर नहीं तुझे हे पृथानंदन ||४-५||

भावार्थ: *भगवान् बोले, ' हे अर्जुन, मेरे और तेरे अनेक जन्म इस विश्व में हो चुके हैं| मुझे सब जन्मों का बोध है, पर तुम्हें नहीं|'*

टीका: अर्जुन की जिज्ञासा पर भगवान् ने उनके समक्ष अपनी सत्यता प्रकट कर दी| उन्होंने अपने भगवान् होने का प्रमाण दे दिया| मैं शाश्वत हूं, सनातन हूं|
गूढ़उ तत्व न साधु दुरावहिं। आरत अधिकारी जहँ पावहिं।।

भगवान् सम्पूर्ण देश, काल, वस्तु ,व्यक्ति, परिस्थिति आदि में पूर्ण रूप से सदैव विद्यमान हैं| यहां प्रभु हम सभी को सन्देश दे रहे हैं कि मैं निरंतर तुम्हें देख रहा हूँ| मेरी शरण में आकर कर्मयोगी बन निष्काम कर्म करोगे तो तुम्हें अवश्य ही कर्म बंधन से मुक्ति मिलेगी और अत्यंत प्रसन्नता तुम्हारे जीवन में छा जाएगी|

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ।।४-६।।

समझो मुझे अजन्मा अव्यय स्वामी समस्त भूजन |
कर अधीन प्रकृति होता योग से प्रकट मैं भुवन ||४-६||

भावार्थ: *मुझे अजन्मा, अविनाशी ,समस्त प्राणियों का स्वामी समझो| मैं अपनी प्रकृति को अधीन कर योग से पृथ्वी पर प्रकट होता हूं (अर्थात अवतार लेता हूं)|*

टीका: भगवान् अज, अव्यय एवं सब के स्वामी हैं| प्रकृति और योगमाया, यह भगवान् की दो शक्ति हैं| 'अजन्मा' होते हुए भी वह प्रकट हो जाते हैं| 'अविनाशी' होते हुए भी वह अन्तर्धान हो जाते हैं| प्रकट होना और अन्तर्धान

होना, यह दोनों ही प्रभु की अलौकिक लीलाएँ हैं| इन्हीं के द्वारा भगवान् अपनी इच्छा से अवतार लेते हैं| भगवान् का प्रकट होना और अन्तर्धान होना लौकिक दृष्टि से है, वास्तव में भगवान् सदा ही प्रकट रहते हैं| भगवान् की ईश्वरता कभी कम नहीं होती| भगवान् अर्जुन के सारथी हैं, उनकी आज्ञा का पालन करते हैं, फिर भी भगवान् का अर्जुन पर और दूसरे प्राणियों पर ईश्वर भाव है| सारथी होने पर भी वह अर्जुन को गीता का महान् उपदेश देते हैं| भगवान् श्री राम पिता दशरथ की आज्ञा को टालते नहीं और चौदह वर्ष के लिये वन में चले जाते हैं, फिर भी भगवान् का दशरथ पर और दूसरे प्राणियों पर ईश्वर भाव वैसा ही रहता है|

सत्त्व, रजस और तमस, इन तीनों गुणों से ही अलग भगवान् की शुद्ध प्रकृति है| यह शुद्ध प्रकृति भगवान् का सच्चिदानन्द स्वरूप है| इसी को संधिनी-शक्ति, संवित्-शक्ति और आह्लादिनी-शक्ति भी कहते हैं| इसी को चिन्मय-शक्ति, कृपा-शक्ति आदि नामों से भी पुकारा जाता है| भगवान् को प्राप्त कराने वाली 'भक्ति' और 'ब्रह्मविद्या' भी यही है| प्रकृति भगवान् की शक्ति है| जैसे अग्नि में दो शक्तियाँ रहती हैं, प्रकाशिका और दाहिका। प्रकाशिका शक्ति अन्धकार को दूर करके प्रकाश कर देती है तथा भय मिटाती है| दाहिका शक्ति जला देती है तथा वस्तु को पकाती एवं ठंडक भी दूर करती है| यह दोनों शक्तियाँ अग्नि से भिन्न भी नहीं हैं और अभिन्न भी नहीं हैं| भिन्न इसलिये नहीं हैं कि यह अग्नि रूप ही हैं अर्थात् उन्हें अग्नि से अलग नहीं किया जा सकता| अभिन्न इसलिये नहीं हैं कि अग्नि के रहते हुए भी मन्त्र, औषध आदि से अग्नि की दाहिका शक्ति कुण्ठित की जा सकती है| ऐसे ही भगवान् में जो शक्ति रहती है, उसे भगवान् से भिन्न और अभिन्न, दोनों ही नहीं कह सकते| जैसे दियासलाई में अग्नि की सत्ता तो सदा रहती है, पर उसकी प्रकाशिका और दाहिका शक्ति छिपी हुई रहती है| ऐसे ही भगवान् सम्पूर्ण देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदि में सदा रहते हैं, पर उनकी शक्ति छिपी हुई रहती है| उस शक्ति को अधिष्ठित कर, अर्थात् अपने वश में कर उसके द्वारा भगवान् प्रकट होते हैं| जैसे जब तक अग्नि अपनी प्रकाशिका और दाहिका शक्ति को लेकर प्रकट नहीं होती, तब तक सदा रहते हुए भी अग्नि नहीं दिखती| ऐसे ही जब तक भगवान् अपनी शक्ति को लेकर प्रकट नहीं होते, तब तक भगवान् सदैव रहते हुए भी नहीं

दिखते| भगवान् सामान्य रूप से सब जगह रहते हुए भी कोई काम नहीं करते| जब करते हैं, तब अपनी दिव्य शक्ति से ही करते हैं| उस दिव्य शक्ति के द्वारा भगवान् विचित्र लीलाएँ करते हैं। उनकी लीलाएँ इतनी विचित्र और अलौकिक होती हैं कि उनको सुनकर, गाकर और स्मरण कर जीव पवित्र होकर अपना उद्धार कर लेते हैं| निर्गुण उपासना में यह शक्ति 'ब्रह्मविद्या' हो जाती है, और सगुण उपासना में यह शक्ति 'भक्ति' हो जाती है| जीव भगवान् का ही अंश है| जब वह दूसरों में मानी हुई ममता हटाकर एक मात्र भगवान् की स्वतः सिद्ध वास्तविक आत्मीयता को जाग्रत् कर लेता है, तब भगवान् की शक्ति उसमें भक्ति रूप से प्रकट हो जाती है| वह भक्ति इतनी विलक्षण है कि निराकार भगवान् को भी साकार रूप से प्रकट कर देती है| वह भक्ति भी भगवान् ही देते हैं। भगवान् की भक्ति रूप शक्ति के दो रूप हैं, विरह और मिलन। विरह में भक्त भगवान् के बिना व्याकुल हो जाता है| व्याकुलता की अग्नि में संसार की आसक्ति जल जाती है और भगवान् प्रकट हो जाते हैं| ज्ञान मार्ग में भगवान् की शक्ति पहले उत्कट जिज्ञासा के रूप में आती है (जिससे तत्व को जाने बिना साधक से रहा नहीं जाता) और फिर ब्रह्म विद्या रूप से जीव के अज्ञान का नाश करके उसके वास्तविक स्वरूप को प्रकाशित कर देती है| परन्तु भगवान् की वह दिव्य शक्ति जिसे विरह रूप से जाना जाता है, उससे भी बहुत विलक्षण है| 'भगवान् कहाँ हैं? क्या करूँ? कहाँ जाऊँ?', यह सोच कर भक्त व्याकुल हो जाता है| यह व्याकुलता सब पापों का नाश करके भगवान् को साकार रूप से प्रकट कर देती है| व्याकुलता से जितना शीघ्र काम बनता है, उतना विवेक विचारपूर्वक किए गए साधन से भी नहीं|

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ।।४-७।।

हो जब लुप्त धर्म बढ़े अधर्म हे भरतवंशी अर्जुन |
हूं प्रकट साकार रूप तब हरूं कष्ट मैं भूजन ||४-७||

भावार्थ: *हे भरतवंशी अर्जुन, जब धर्म लुप्त होता है और अधर्म बढ़ जाता है, तब मैं प्राणियों के कष्ट हरण करने के लिए साकार रूप में प्रकट होता हूं|*

टीका: धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि का स्वरूप है, भगवत प्रेमी, धर्मात्मा, सदाचारी, निरपराध और निर्बल मनुष्यों पर नास्तिक, पापी, दुराचारी और बलवान मनुष्यों का अत्याचार बढ़ जाना तथा लोगों में सद्गुण, सदाचारों की अत्यधिक कमी और दुर्गुण, दुराचारों की अत्यधिक वृद्धि हो जाना| ऐसे समय में भगवान् अपने साकार रूप को प्रकट कर देते हैं, अर्थात अवतार लेते हैं| उदाहरणार्थ समुद्र मन्थन के समय भगवान् ने अजित रूप से समुद्र मन्थन किया| कच्छप रूप से मन्दराचल को धारण किया तथा सहस्रबाहु रूप से मन्दराचल को ऊपर से दबाकर रखा| तत्पश्चात देवताओं को अमृत बाँटने के लिये मोहिनी रूप धारण किया| इस प्रकार भगवान् ने एक साथ अनेक रूप धारण किए | अधर्म की वृद्धि और धर्म का ह्रास होने का मुख्य कारण है, नाशवान पदार्थों की ओर आकर्षण| जैसे माता और पिता से शरीर बनता है, ऐसे ही प्रकृति और परमात्मा से सृष्टि बनती है| इसमें प्रकृति और उसका कार्य संसार तो प्रतिक्षण बदलता रहता है, कभी क्षण मात्र भी एक रूप नहीं रहता पर परमात्मा तथा उनका अंश जीवात्मा, दोनों सम्पूर्ण देश, काल आदि में नित्य, निरन्तर रहते हैं, इनमें कभी किंचित मात्र भी परिवर्तन नहीं होता| जब जीव अनित्य, उत्पत्ति, विनाशशील प्राकृत पदार्थों से सुख पाने की इच्छा करने लगता है और उनकी प्राप्ति में सुख मानने लगता है, तब उसका पतन होने लगता है| लोगों की सांसारिक भोग और संग्रह में जैसे आसक्ति बढ़ती है, तैसे ही समाज में अधर्म बढ़ता है| जैसे अधर्म बढ़ता है, तैसे ही समाज में पापाचरण, कलह, विद्रोह आदि दोष बढ़ते हैं| सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग और कलियुग, इन चारों युगों की ओर देखा जाए तो इनमें भी क्रमशः धर्म का ह्रास होता है| सत्ययुग में धर्म के चारों चरण रहते हैं, त्रेतायुग में तीन चरण, द्वापरयुग में दो और कलियुग में धर्म का केवल एक चरण शेष रहता है| जब युग की मर्यादा से भी अधिक धर्म का ह्रास हो जाता है, तब भगवान् धर्म की पुनः स्थापना करने के लिये अवतार लेते हैं|

कर्मों में सकाम भाव उत्पन्न होना ही धर्म की हानि है और अपने कर्तव्य से च्युत होकर निषिद्ध आचरण करना ही अधर्म का अभ्युत्थान है| 'काम' अर्थात् कामना से ही सब अधर्म, पाप, अन्याय आदि होते हैं| अतः इस 'काम' का नाश करने के लिये तथा निष्काम भाव का प्रसार करने के लिये भगवान् अवतार लेते हैं|

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ।।४-८।।

करूं मैं रक्षा साधु संत करूं विनाश अधर्मीजन |
हूं अवतरित युग युग मैं हेतु स्थापना धर्म अर्जुन ||४-८||

भावार्थ: *हे अर्जुन, साधु संतों की रक्षा, अधर्मियों का विनाश एवं धर्म की स्थापना हेतु मैं युग युग में अवतरित होता हूं|*

टीका: साधु मनुष्यों के द्वारा ही अधर्म का नाश और धर्म का प्रचार होता है, इसलिये उनकी रक्षा करने के लिये भगवान् अवतार लेते हैं| दूसरों का हित करना ही भगवान् का स्वभाव है| जो भगवान् के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीला आदि का श्रद्धा, प्रेम पूर्वक स्मरण, कीर्तन आदि करते हैं और लोगों में इसका प्रचार करते हैं, उन भगवान् के आश्रित भक्तों के लिये यहाँ 'साधु, संत' शब्द का प्रयोग किया गया है|

जिस का एकमात्र परमात्म-तत्व की प्राप्ति का उद्देश्य है, वह साधु है| जिसका नाशवान् संसार की प्राप्ति उद्देश्य है, वह असाधु है| असत् और परिवर्तनशील वस्तु में सद्भाव करने और उसे महत्व देने से कामनाएँ पैदा होती हैं| जैसे जैसे कामनाएँ नष्ट होती हैं, वैसे वैसे साधुता आती है और जैसे जैसे कामनाएँ बढ़ती हैं, वैसे वैसे साधुता लुप्त होती है| असाधुता का मूल हेतु कामना ही है| साधुता से अपना उद्धार और लोगों का स्वतः उपकार होता है| साधु पुरुष के भावों और क्रियाओं में पशु, पक्षी, वृक्ष, पर्वत, मनुष्य, देवता, पितर, ऋषि, मुनि आदि सब का हित भरा रहता है|

हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी।।

दुष्ट मनुष्य अधर्म का प्रचार और धर्म का नाश करते हैं, इसलिये उनका विनाश करने के लिये भगवान् अवतार लेते हैं| जो मनुष्य कामना के अत्यधिक बढ़ने के कारण झूठ, कपट, छल, बेईमानी आदि दुर्गुण, दुराचारों में लगे हुए हैं, जो निरपराध सद्गुण, सदाचारी, साधुओं पर अत्याचार किया करते हैं, जो दूसरों

का अहित करने में ही लगे रहते हैं, जो प्रवृत्ति और निवृत्ति को नहीं जानते, भगवान् और वेद, शास्त्रों का विरोध करना ही जिनका स्वभाव हो गया है, ऐसे आसुरी सम्पत्ति से प्रभावित बुरा आचरण करने वाले मनुष्यों के लिये यहाँ 'अधर्मी' शब्द का उपयोग किया गया है| भगवान् अवतार लेकर ऐसे ही दुष्ट अधर्मी प्राणियों का विनाश करते हैं| सम्पूर्ण प्राणियों के परम सुहृद् होने से भगवान् का कोई वैरी नहीं है, परन्तु जो मनुष्य भक्तों का अपराध करता है, वह भगवान् का वैरी हो जाता है|

सुनु सुरेस रघुनाथ सुभाऊ। निज अपराध रिसाहिं न काऊ ।।
जो अपराधु भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई ।।

धर्म का आश्रय भगवान् हैं| इसलिये शाश्वत धर्म की स्थापना करने के लिये भगवान् अवतार लेते हैं| स्थापना करने का अर्थ है, सम्यक् स्थापना करना| इसका तात्पर्य है कि धर्म का कभी नाश नहीं होता, केवल ह्रास होता है| धर्म का ह्रास होने पर भगवान् पुनः उसकी स्थापना करते हैं|

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ।।४-९।।

समझ सके तत्व जो मेरे दिव्य जन्म कर्म पृथानंदन |
पाए मोक्ष त्याग तन हो वासी साकेत धाम वह जन ||४-९||

भावार्थ: *हे अर्जुन, जो मेरे दिव्य जन्म कर्म का तत्व समझ सकता है, वह शरीर त्याग के पश्चात मोक्ष एवं साकेत धाम निवास पाता है|*

टीका: भगवान् जन्म-मृत्यु से सर्वथा अतीत, अजन्मा और अविनाशी हैं| उनका मनुष्य रूप में अवतार साधारण मनुष्यों की तरह नहीं होता। वह कृपा पूर्वक जीवों का हित करने के लिये स्वतन्त्रता पूर्वक मनुष्य आदि के रूप में जन्म धारण की लीला करते हैं| उनका जन्म कर्मों के परवश नहीं होता| वह अपनी इच्छा से ही शरीर धारण करते हैं| भगवान् का साकार विग्रह जीवों के शरीरों

की तरह हाड़-मांस का नहीं होता| जीवों के शरीर तो पाप, पुण्य, अनित्य, रोगग्रस्त, लौकिक, विकारी, पञ्चभौतिक और रज वीर्य से उत्पन्न होने वाले होते हैं, पर भगवान् के विग्रह पाप, पुण्य से रहित, नित्य, अनामय, अलौकिक, विकार रहित, परम दिव्य और प्रकट होने वाले होते हैं| भगवान् जब श्री राम तथा श्री कृष्ण के रूप में इस पृथ्वी पर अवतरित हुए तब वह माता कौसल्या और देवकी के गर्भ से उत्पन्न नहीं हुए| पहले उन्हें अपने शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी स्वरूप का दर्शन देकर फिर वह माता की प्रार्थना पर बाल रूप में लीला करने लगे| भगवान् श्री राम के विषय में गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं:

भए प्रगट कृपाला दीनदयाला कौसल्या हितकारी ।
हरषित महतारी मुनि मन हारी अद्भुत रूप बिचारी ।।
लोचन अभिरामा तनु घनस्यामा निज आयुध भुज चारी ।
भूषन बनमाला नयन बिसाला सोभासिंधु खरारी ।।
माता पुनि बोली सो मति डोली तजहु तात यह रूपा ।
कीजै सिसुलीला अति प्रियसीला यह सुख परम अनूपा ।।
सुनि बचन सुजाना रोदन ठाना होइ बालक सुरभूपा ।

भगवान् श्री कृष्ण के लिये कहा गया है:

उपसंहर विश्वात्मन्नदो रूपमलौकिकम् ।
शङ्खचक्रगदापद्मश्रिया जुष्टं चतुर्भुजम् ।।

माता देवकी ने कहा, 'हे विश्वात्मन्, शंख, चक्र, गदा और पद्म की शोभा से युक्त इस चार भुजाओं वाले अपने अलौकिक दिव्य रूप को अब छिपा लीजिये| तब भगवान् ने माता पिता के देखते देखते अपनी माया से तत्काल एक साधारण शिशु का रूप धारण कर लिया|'

'पित्रोः सम्पश्यतोः सद्यो बभूव प्राकृतः शिशुः।।'

जब भगवान् श्री राम अपने धाम पधारने लगे, तब वह अन्तर्धान हुए| जीवों के शरीरों की तरह उनका शरीर यहाँ नहीं रहा, प्रत्युत वह इसी शरीर से अपने धाम चले गए|

पितामहवचः श्रुत्वा विनिश्चित्य महामतिः ।
विवेश वैष्णवं तेजः सशरीरः सहानुजः ।।

'महामति भगवान् श्री राम ने पितामह ब्रह्मा जी के वचन सुनकर और तदनुसार निश्चय कर तीनों भाइयों सहित अपने उसी शरीर से वैष्णव तेज में प्रवेश किया|'

भगवान् श्रीकृष्ण के लिये भी ऐसी ही बात कही गई है|

'लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमङ्गलम् ।
योगधारणयाऽऽग्नेय्यादग्ध्वा धामाविशत् स्वकम् ।।

'धारणा और ध्यान के लिये अति मंगल रूप अपनी लोकाभिरामा मोहिनी मूर्ति को योग धारणा जनित अग्नि के द्वारा भस्म किए बिना ही भगवान् ने अपने धाम में सशरीर प्रवेश किया|'

भगवान् को त्रिलोक में न तो कुछ करना शेष है और न कुछ पाना ही शेष है| वह तो केवल जीव का उद्धार करने के लिये कृपा पूर्वक इस भूमण्डल पर अवतार लेते हैं, और भांति भांति की अलौकिक लीलाएँ करते हैं| उन लीलाओं के गाने, सुनने, पढ़ने और उनका चिन्तन करके भगवान् के साथ सम्बन्ध जुड़ जाता है| भगवान् से सम्बन्ध जुड़ने पर संसार का सम्बन्ध छूट जाता है| संसार का सम्बन्ध छूटने पर पुनर्जन्म नहीं होता, अर्थात् मनुष्य जन्म-मरण रूप बन्धन से मुक्त हो जाता है| कर्मों में जो बाँधने की शक्ति है, वह केवल मनुष्य की अपनी बनाई हुई (कामना) है| कामना की पूर्ति के लिये राग पूर्वक अपने लिये कर्म करने से ही मनुष्य कर्मों से बँध जाता है| ज्यों ज्यों कामना बढ़ती है, त्यों त्यों वह पापों में प्रवृत्त होने लगता है| इस प्रकार उसके कर्म अत्यन्त मलिन हो जाते हैं, जिससे उसे बार बार नीच योनियों और नर्कों में गिरते रहना पड़ता है|

परन्तु जब वह केवल दूसरों की सेवा के लिये निष्काम भाव पूर्वक कर्म करता है, तब उसके कर्मों में दिव्यता, विलक्षणता आती चली जाती है| इस प्रकार कामना का सर्वथा नाश होने पर उसके कर्म दिव्य हो जाते हैं, अर्थात् बन्धन कारक नहीं होते, फिर उसके पुनर्जन्म का प्रश्न ही नहीं रहता|

प्रभु के इन दिव्य जन्म एवं कर्मों को जो समझ लेता है, उसे भगवद प्राप्ति हो जाती है| मोक्ष मिल जाता है|

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ।।४-१०।।

हो रहित राग भय क्रोध रहे तल्लीन मुझ में जो जन |
ले आश्रय मेरा करे तप पाए रूप मम वह बुद्धिवन ||४-१०||

भावार्थ: *राग (ममता), भय एवं क्रोध से रहित होकर जो मेरे में तल्लीन रहे , जो मुझ पर आश्रित हो, तप करे, वह ज्ञानी मेरे स्वरुप को पा जाता है|*

टीका: परमात्मा से विमुख होने पर नाशवान पदार्थों में राग हो जाता है| राग से प्राप्त 'ममता' और अप्राप्त से 'कामना' वृद्धि होती है| उनकी प्राप्ति में बाधा पहुँचने पर (बाधा पहुँचाने वाले पर) 'क्रोध' होता है| यदि बाधा पहुँचाने वाला अपने से अधिक बलवान हो, उस पर अपना वश न चल सकता हो, तथा 'वह हमारा अनिष्ट कर देगा', ऐसा भाव हो, तो 'भय' उत्पन्न होता है| इस प्रकार नाशवान पदार्थों के राग से ही भय, क्रोध, लोभ, ममता, कामना आदि सभी दोषों की उत्पत्ति होती है| राग के मिटने पर यह सभी दोष मिट जाते हैं| पदार्थों को अपना और अपने लिये न मान कर, दूसरों का और दूसरों के लिये मानकर उनकी सेवा करने से राग मिटता है| अपना कोई प्रयोजन न रहने पर भी भगवान् केवल हमारे कल्याण के लिये ही अवतार लेते हैं| वह प्राणी के परम सुहृद हैं| उनकी सम्पूर्ण क्रियाएँ जीवों के कल्याण के लिये ही होती हैं| इस प्रकार भगवान् की परम सुहृत्ता पर दृढ़ विश्वास होने से भगवान् में आकर्षण हो जाता है| भगवान् में आकर्षण होने से संसार का आकर्षण (राग) स्वतः मिट

जाता है| राग मिटते ही भय और क्रोध दोनों मिट जाते हैं, क्योंकि यह दोनों राग के ही आश्रित रहते हैं|

जब तक मनुष्य स्वयं (स्वरूप से) भगवान् के आश्रित नहीं हो जाता, तब तक उसकी पराधीनता नहीं मिटती, और वह दुःख पाता रहता है| संसार के पदार्थों में मनुष्य का आकर्षण और आश्रय अलग अलग होता है| उदाहरण के रूप में मनुष्य का आकर्षण तो स्त्री, पुत्र आदि में होता है, और आश्रय बड़ों का होता है| परन्तु भगवान् में लगे हुए मनुष्य का भगवान् में ही आकर्षण होता है और भगवान् का ही आश्रय होता है क्योंकि उनके प्रियतम भगवान् हैं| सर्व लोक के ईश्वर होने के कारण सबसे बड़े वह ही हैं|

नाशवान वस्तुओं को अपनी और अपने लिये न मानना 'तप' है, जिससे मनुष्य परम पवित्र हो जाता है| इस तप से जड़ के साथ माने हुए सम्बन्ध का सर्वथा विच्छेद हो जाता है| इस तप से पवित्र होकर मनुष्य भगवान् के भाव (सत्ता), सच्चिदानन्द परमात्म-तत्व, को प्राप्त हो जाता है|

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ।।४-११।।

दूँ आश्रय यथा मैं लें भक्त जिस भांति मेरी शरन |
करें सब भक्तजन सब प्रकार पथ मेरा ही अनुसरन ||४-११||

भावार्थ: *जिस प्रकार भक्त मेरी शरण लेते हैं, मैं उसी प्रकार उन्हें आश्रय देता हूँ| सभी भक्तजन सब प्रकार से मेरा ही मार्ग अनुसरण करते हैं|*

टीका: भक्त भगवान् की जिस भाव से, जिस सम्बन्ध से, जिस प्रकार से शरण लेता है, भगवान् भी उसे उसी भाव से, उसी सम्बन्ध से, उसी प्रकार से आश्रय देते हैं| जैसे भक्त भगवान् को अपना गुरु मानता है, तो वह श्रेष्ठ गुरु बन जाते हैं| शिष्य मानता है, तो वह श्रेष्ठ शिष्य बन जाते हैं| माता-पिता मानता है, तो वह श्रेष्ठ माता-पिता बन जाते हैं| पुत्र मानता है, तो वह श्रेष्ठ पुत्र बन जाते हैं| भाई

मानता है, तो वह श्रेष्ठ भाई बन जाते हैं| सखा मानता है, तो वह श्रेष्ठ सखा बन जाते हैं| नौकर मानता है, तो वह श्रेष्ठ नौकर बन जाते हैं|

सभी भक्तों का उद्देश्य जग में भगवान् द्वारा बताए मार्ग का अनुसरण करना ही है| अभिमान रहित होकर निःस्वार्थ भाव से दूसरों की सेवा करने से शीघ्र ही ममता छूटकर भगवान् में प्रेम हो जाता है, जिससे भगवान् की प्राप्ति हो जाती है|

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ।।४-१२।।

यदि है इच्छा हों सफल कर्म करते वह पूजन देवगन |
है संभव मिल सके सिद्धि कर्म तुरंत इस प्रयोजन ||४-१२||

भावार्थ: *जिन प्राणियों की इच्छा कर्म फल प्राप्त करने की है, वह देवताओं की आराधना करते हैं| इस माध्यम से उन्हें तुरंत कर्म सिद्धि मिलने की संभावना है|*

टीका: कर्मों के फल की इच्छा रखने वाले प्राणी आसक्ति वाले होते हैं, 'कर्मसङ्गिषु जाएते'| कर्मों की आसक्ति के कारण वह कर्मजन्य सिद्धि पर ही लुब्ध होते हैं| ऐसे प्राणी देवतागणों की आराधना कर उनसे सिद्धि प्राप्त करते हैं| यह संभव है कि इस प्रकार की सिद्धि उन्हें शीघ्र मिल जाए, तथापि वह सदा रहने वाली नहीं होती| जब कर्मों का आदि और अन्त होता है, तब उनसे प्राप्त होने वाली सिद्धि (फल) सदा कैसे रह सकती है? इसलिये नाशवान कर्मों का फल भी नाशवान ही होता है| कामना करने वाले मनुष्य की दृष्टि शीघ्र मिलने वाले फल पर तो जाती है, पर उसके नाश की ओर नहीं जाती| विधिपूर्वक किए गए कर्मों का फल देवताओं से शीघ्र मिल जाया करता है, इसलिये वह देवताओं की ही शरण लेते हैं, और उन्हीं की आराधना करते हैं| कर्मजन्य फल चाहने के कारण वह कर्म बन्धन से मुक्त नहीं होते और परिणाम स्वरूप बार बार जन्म-मृत्यु के चक्रव्यूह में पड़े रहते हैं| वास्तविक सिद्धि कर्मजन्य नहीं है| वास्तविक

सिद्धि 'भगवत प्राप्ति' है| भगवत प्राप्ति के साधन कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग भी कर्मजन्य नहीं हैं| योग की सिद्धि कर्मों के द्वारा नहीं होती, प्रत्युत कर्मों के सम्बन्ध विच्छेद से होती है|

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ।।४-१३।।
न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ।।४-१४।।

आधार गुण विभाग मैंने ही किए चार वर्ण सृजन |
हूँ यद्यपि सृष्टि कर्ता फिर भी हूँ मैं अव्यय भगवन ||
समझ सदैव शाश्वत अकर्ता मुझे युद्धिवन अर्जुन ||४-१३||
नहीं चाह मुझे कर्म फल नहीं लिप्त कर्म कदाचन |
जो समझे यह तत्व नहीं बंधता कभी कर्म बंधन ||४-१४||

भावार्थ: *गुण विभाग (सत, रज, तम) के आधार पर मैंने ही चार वर्णों को रचित किया है| मैं यद्यपि सृष्टि कर्ता हूँ, फिर भी अव्यय ईश्वर हूँ| हे योद्धा अर्जुन, मुझे सदैव सनातन, अकर्ता ही समझ| मुझे किसी कर्म की सिद्धि की चाह नहीं है| मैं कभी कर्म में लिप्त नहीं होता| जो मेरे इस तत्व को समझ लेता है, वह कभी कर्म बंधन में नहीं बंधता|*

टीका: पूर्व जन्मों में किए गए कर्मों के अनुसार (सत, रजस, तमस) प्रभु सृष्टि की रचना करते हुए प्राणी को चार वर्णों, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, में बाँटते हैं| चारों वर्णों की रचना मैंने ही की है, ऐसा कहने में भगवान का भाव है कि सभी प्राणी मेरे ही अंश हैं| मैं प्राणियों का सुहृद् हूँ|

सृष्टि की रचना, पालन, संहार आदि सम्पूर्ण कर्मों को करते हुए भी भगवान् उन कर्मों से सर्वथा अतीत, निर्लिप्त ही रहते हैं| सृष्टि रचना में भगवान् ही उपादान कारण हैं, और वह ही निमित्त कारण हैं| उदाहरण के रूप में मिट्टी से बने पात्र में मिट्टी उपादान कारण है और कुम्हार निमित्त कारण है| मिट्टी से पात्र बनने

में मिट्टी व्यय हो जाती है और उसे बनाने में कुम्हार की शक्ति भी व्यय होती है, परन्तु सृष्टि रचना में भगवान् का कुछ भी व्यय नहीं होता। वह ज्यों के त्यों ही रहते हैं| इसलिये उन्हें 'अव्यय' कहा गया है| जीव भी भगवान् का अंश होने से अव्यय ही है| यदि इस पर विचार करें कि शरीरादि सब वस्तुएँ संसार की हैं और संसार से ही मिली हैं, अतः उन्हें संसार की ही सेवा में लगा देने से अपना क्या व्यय हुआ? हम तो (स्व-रूपतः) अव्यय ही रहे| इसलिये यदि साधक शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, धन, सम्पत्ति आदि मिले हुए सांसारिक पदार्थों को अपना और अपने लिये न माने, तो फिर उसे अपनी अव्ययता का अनुभव हो जाएगा| भगवान् के कर्म दिव्य हैं| कर्म करते हुए भी कर्म, कर्म सामग्री और कर्म फल से उनका कोई सम्बन्ध न रहना ही कर्मों की दिव्यता है| उनकी कर्म फल में किंचित मात्र भी आसक्ति, ममता या कामना नहीं है| इसलिये वह कर्म भगवान् को लिप्त नहीं करते| उत्पत्ति एवं विनाश वस्तु का कर्म फल है| भगवान् कहते हैं कि जैसे मेरी कर्म फल स्पृहा नहीं है, ऐसे ही तुम्हारी भी कर्म फल में स्पृहा नहीं होनी चाहिए| कर्मफल स्पृहा न रहने से सम्पूर्ण कर्म करते हुए भी तुम कर्मों में नहीं बँधोगे| भगवान् कह रहे हैं कि सृष्टि रचनादि समस्त कर्मों का कर्ता होते हुए भी मैं अकर्ता हूँ, अर्थात् मुझ में कर्तृत्वाभिमान नहीं है| अतः साधक को भी इन दोनों से रहित होना चाहिए| फलेच्छा का त्याग कर केवल दूसरों के लिये कर्म करने से कर्तृत्व और भोक्तृत्व, दोनों ही नहीं रहते| कर्तृत्व, भोक्तृत्व ही संसार है| अतः इनके न रहने से मुक्ति स्वतः सिद्ध ही है|

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ।।४-१५।।

जान यह तथ्य करते मुमुक्ष पूर्वत्र शुद्ध आचरन |
कर तू वही कर्म जो किए पूर्वज और पा विमोचन ||४-१५||

भावार्थ: *इस तथ्य को जान कर मुमुक्षुओं (मोक्ष की इच्छा वाले) ने पूर्व काल में शुद्ध आचरण किए| तू भी वही कर्म कर जो पूर्वजों ने किए, और निर्वाण प्राप्त कर|*

टीका: अर्जुन मुमुक्षु थे, अर्थात् अपना कल्याण चाहते थे| परन्तु युद्ध रूप से प्राप्त अपने कर्तव्य कर्म को करने में उन्हें अपना कल्याण नहीं दिखता, प्रत्युत वह उसको पाप कर्म समझकर उसका त्याग करना चाहते हैं| इसलिये भगवान् अर्जुन को पूर्व काल के मुमुक्षु पुरुषों का उदाहरण देते हैं कि उन्होंने भी अपने कर्तव्य कर्मों का पालन कर कल्याण की प्राप्ति की है| इसलिये तुम्हें भी उनकी तरह अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिए| यहाँ भगवान् कहते हैं कि मुमुक्षुओं ने भी कर्मयोग का तत्व जानकर कर्म किए हैं| इसलिये मुमुक्षा जाग्रत् होने पर भी अपने कर्तव्य कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिए, प्रत्युत निष्काम भाव पूर्वक कर्तव्य कर्म करते रहना चाहिए| कर्मयोग का तत्व है, कर्म करते हुए योग में स्थित रहना, और योग में स्थित रहते हुए कर्म करना| कर्म संसार के लिये और योग अपने लिये होता है| कर्मों को करना और न करना, दोनों अवस्थाएँ हैं| अतः प्रवृत्ति (कर्म करना) और निवृत्ति (कर्म न करना) दोनों ही प्रवृत्ति (कर्म करना) हैं| प्रवृत्ति और निवृत्ति, दोनों से ऊँचा उठ जाना योग है, जो पूर्ण निवृत्ति है| पूर्ण निवृत्ति कोई अवस्था नहीं है| भगवान् अर्जुन को आज्ञा दे रहे हैं कि तू मुमुक्षु है, इसलिये जैसे पहले अन्य मुमुक्षुओं ने लोकतार्थ कर्म किए हैं, ऐसे ही तू भी संसार के हित के लिये कर्म कर| शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि कर्म की सब सामग्री अपने से भिन्न तथा संसार से अभिन्न है| वह संसार की है और संसार की सेवा के लिये ही मिली है| उसे अपनी मानकर अपने लिये कर्म करने से कर्मों का सम्बन्ध अपने साथ हो जाता है| जब सम्पूर्ण कर्म केवल दूसरों के हित के लिये किए जाते हैं, तब कर्मों का सम्बन्ध हमारे साथ नहीं रहता| कर्मो से सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद होने पर 'योग' अर्थात् परमात्मा के साथ हमारे नित्य सिद्ध सम्बन्ध का अनुभव हो जाता है, जो कि पहले से ही है|

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ।।४-१६।।

हो जाते भ्रमित गहन कर्म अकर्म ज्ञान से बुद्धिवन |
समझ कर्म तत्व इसका हो मुक्त कर्म बंधन अर्जुन ||४-१६||

भावार्थ: *कर्म, अकर्म के गूढ़ ज्ञान से बुद्धिमान (भी) भ्रमित हो जाते हैं| हे अर्जुन, तू इसका कर्म तत्व समझ कर्म बंधन से मुक्त हो जा|*

टीका: साधारणतः मनुष्य शरीर और इन्द्रियों की क्रियाओँ को ही कर्म मान लेते हैं तथा शरीर और इन्द्रियों की क्रियाएँ बंद होने को अकर्म मान लेते हैं| परन्तु भगवान् ने शरीर, वाणी और मन के द्वारा होने वाली क्रियाओँ को ही कर्म माना है 'शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः'| भाव के अनुसार ही कर्म की संज्ञा होती है| भाव बदलने पर कर्म की संज्ञा भी बदल जाती है| जैसे कर्म स्वरूप से सात्त्विक दिखता हुआ भी यदि कर्ता का भाव राजस या तामस होता है तो वह कर्म भी राजस या तामस हो जाता है| उदाहरण के रूप में यदि कोई देवी की उपासना कर रहा है जो स्वरूप से सात्त्विक है, परन्तु यदि कर्ता उसे किसी कामना की सिद्धि के लिये करता है तो वह कर्म राजस हो जाता है| यही कर्म किसी को हानि पहुंचाने के उद्देश्य से किया जा रहा है, तो तामस हो जाता है| यदि कर्ता में फलेच्छा ममता और आसक्ति नहीं है, तो उसके द्वारा किए गए कर्म अकर्म हो जाते हैं, अर्थात् फल में बाँधने वाले नहीं होते| केवल बाहरी क्रिया करने अथवा न करने से कर्म के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं होता| इस विषय में शास्त्रों को जानने वाले विद्वान् भी भ्रमित हो जाते हैं, अर्थात् कर्म के तत्व का यथार्थ निर्णय नहीं कर पाते| जिस क्रिया को वह कर्म मानते हैं वह कर्म भी हो सकता है, अकर्म भी हो सकता है, और विकर्म भी हो सकता है| क्योंकि कर्ता के भाव के अनुसार कर्म का स्वरूप बदल जाता है| इसलिये भगवान् यहां अर्जुन को वास्तविक कर्म समझा रहे हैं| कर्म क्या है, वह क्यों बाँधता है, कैसे बाँधता है, इससे किस तरह मुक्त हो सकते हैं, इन सब का भगवान् अब विवेचन करेंगे| इस ज्ञान की प्राप्ति पर रीति से कर्म करने पर वह बाँधने वाले न हो सकेंगे| यदि मनुष्य में ममता आसक्ति और फलेच्छा है तो कर्म न करते हुए भी वास्तव में कर्म ही कर रहा है, अर्थात् कर्मों से लिप्तता है| परन्तु यदि ममता आसक्ति और फलेच्छा नहीं है, तो कर्म करते हुए भी कर्म नहीं हो रहा है, अर्थात् कर्मों से निर्लिप्तता है| इसका तात्पर्य यह है कि यदि कर्ता निर्लिप्त है तो कर्म करना अथवा न करना दोनों ही अकर्म हैं ,और यदि कर्ता लिप्त है तो कर्म करना अथवा न करना, दोनों ही कर्म हैं, और बाँधने वाले हैं|

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ।।४-१७।।

समझो भली भांति तत्व कर्म अकर्म विकर्म हे अर्जुन |
नहीं सरल समझना गति कर्म जो है अत्यंत गहन ||४-१७||

भावार्थ: *हे अर्जुन, कर्म, अकर्म एवं विकर्म का तत्व भली भांति समझो| कर्म की गति अत्यंत गूढ़ है, इसे समझना सरल नहीं है|*

टीका: कर्म करते हुए निर्लिप्त रहना ही कर्म के तत्व को जानना है, 'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्'| कर्म स्वरूप से एक दिखने पर भी अन्तःकरण के भाव के अनुसार उसके तीन भेद हो जाते हैं, कर्म, अकर्म और विकर्म| सकाम भाव से की गई शास्त्रविहित क्रिया 'कर्म' बन जाती है| फलेच्छा, ममता और आसक्ति से रहित होकर केवल दूसरों के हित के लिये किया गया कर्म, 'अकर्म' बन जाता है| विहित कर्म यदि किसी कामना से किया गया है और यह कामना अति तीव्र है तो यह कर्म 'विकर्म' होने लगते हैं। परन्तु कामना नष्ट होने पर सब कर्म, 'अकर्म' हो जाते हैं। इस प्रकरण का विशेष तात्पर्य 'अकर्म' को जानने में ही है| 'अकर्म' कामना का नाश होने पर होता है| कामना का नाश होने पर विकर्म नहीं होता, अतः विकर्म के विवेचन की आवश्यकता नहीं है| पाप जनक और नर्कों की प्राप्ति कराने वाला होने के कारण विकर्म सर्वथा त्याज्य है|

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ।।४-१८।।

समझे जो अकर्म कर्म व् कर्म अकर्म है वह बुद्धिवन |
है वह कर्ता सर्व कर्म सत साधक योगी निपुन ||४-१८||

भावार्थ: *जो अकर्म को कर्म, एवं कर्म को अकर्म समझता है, वह बुद्धिमान है| सम्पूर्ण कार्यों का कर्ता वह सत साधक निपुण योगी है|*

टीका: कर्म में अकर्म देखने का तात्पर्य है कि कर्म करते हुए अथवा न करते हुए उससे निर्लिप्त रहना अर्थात् अपने लिये कोई भी प्रवृत्ति या निवृत्ति न करना| 'अमुक कर्म मैं करता हूँ, इस कर्म का अमुक फल मुझे मिले', ऐसा भाव रखकर कर्म करने से ही मनुष्य कर्मों से बँधता है| प्रत्येक कर्म का आरम्भ और अन्त होता है, इसलिये उसका फल भी आरम्भ और अन्त होने वाला होता है| परन्तु जीव स्वयं नित्य, निरंतर रहता है| इस प्रकार यद्यपि जीव स्वयं परिवर्तनशील कर्म और उसके फल से सर्वथा सम्बन्ध रहित है, फिर भी वह फल की इच्छा के कारण उनसे बँध जाता है| इसलिये भगवान् ने कहा है कि मुझ को कर्म नहीं बाँधते, क्योंकि कर्म फल में मेरी स्पृहा नहीं है| फल की स्पृहा या इच्छा ही बाँधने वाली है, 'फले सक्तो निबध्यते'| फल की इच्छा न रखने से नया राग उत्पन्न नहीं होता और दूसरों के हित के लिये कर्म करने से पुराना राग नष्ट हो जाता है| इस प्रकार राग रूप बन्धन न रहने से साधक सर्वथा वीत राग हो जाता है| वीत राग होने से सब कर्म, अकर्म हो जाते हैं|

जीव का जन्म कर्मों के अनुबन्ध से होता है| जैसे जिस परिवार में जन्म लिया है, उस परिवार के लोगों से ऋणानुबन्ध है, अर्थात् किसी का ऋण चुकाना है अथवा किसी से ऋण वापस लेना है| अनेक जन्मों में हमने ऋण अनेक लोगों से लिया है और अनेक लोगों को दिया है| यह लेन-देन का व्यवहार अनेक जन्मों से चला आ रहा है| इसको बंद किए बिना जन्म-मरण से छुटकारा नहीं मिल सकता| इसको बंद करने का उपाय है, आगे से लेना बंद कर दें, अर्थात् अपने अधिकार का त्याग कर दें और हम पर जिनका अधिकार है, उनकी सेवा करनी आरम्भ कर दें| इस प्रकार नया ऋण लें नहीं और पुराना ऋण (दूसरों के लिये कर्म करके) चुका दें, तो ऋणानुबन्ध (लेन-देन का व्यवहार) समाप्त हो जाएगा, अर्थात् जन्म-मरण का चक्र समाप्त हो जाएगा|

जो पुरुष कर्म में अकर्म देखता है और अकर्म में कर्म देखता है, अर्थात् नित्य, निरन्तर निर्लिप्त रहता है, वही वास्तव में कर्म तत्व को जानने वाला नित्य योगी साधक है| जब तक वह निर्लिप्त नहीं हुआ है, अर्थात् कर्म और पदार्थ को अपना और अपने लिये मानता है, तब तक उसने कर्म तत्व को नहीं समझा है| परमात्मा को जानने के लिये स्वयं को परमात्मा से अभिन्नता का अनुभव करना

होता है, और संसार को जानने के लिये स्वयं को संसार (क्रिया और पदार्थ) से सर्वथा भिन्नता का अनुभव करना होता है| वास्तव में हम (स्वरूप से) परमात्मा से अभिन्न और संसार से भिन्न हैं| इसलिये कर्मों से अलग होकर, अर्थात् निर्लिप्त होकर ही कर्म तत्व को जान सकते हैं| 'कर्म आदि, अन्त वाले हैं और मैं (स्वयं जीव) नित्य रहने वाला हूँ, अतः मैं स्वरूप से कर्मों से अलग (निर्लिप्त) हूँ', इस वास्तविकता का अनुभव करना ही कर्म तत्व को समझना है|

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ।।४-१९।।

करो कर्म रहित आदि अंत संकल्प स्पर्धा अर्जुन |
जला दो इन्हें ज्ञान रूपी अग्नि बनो तुम बुद्धिवन || ४-१९||

भावार्थ: *हे अर्जुन, आदि, अंत, संकल्प एवं कामना से रहित कर्म करो| इन्हें ज्ञान रूपी अग्नि से जला दो और बुद्धिमान बनो|*

टीका: विषयों का बार बार चिन्तन होने से, उनकी बार बार याद आने से उन विषयों में 'यह विषय अच्छे हैं, काम में आने वाले हैं, जीवन में उपयोगी हैं और सुख देने वाले हैं' ऐसी बुद्धि का होना 'संकल्प' है| 'यह विषय हमारे लिये अच्छे नहीं हैं, हानिकारक हैं,' ऐसी बुद्धि का होना 'विकल्प' है| ऐसे संकल्प और विकल्प बुद्धि में होते रहते हैं| जब विकल्प मिटकर केवल एक संकल्प रह जाता है, तब 'यह विषय हमें मिलने चाहिए, यह हमारे होने चाहिए', इस तरह अन्तःकरण में उनको प्राप्त करने की जो इच्छा पैदा हो जाती है, उसका नाम 'काम' (कामना) है| कर्मयोग से सिद्ध हुए महापुरुष में संकल्प और कामना, दोनों ही नहीं रहते, अर्थात् उसमें न तो कामनाओं का कारण संकल्प रहता है और न संकल्पों का कार्य कामना ही रहती है| अतः उसके द्वारा जो भी कर्म होते हैं, वह सब संकल्प और कामना से रहित होते हैं| संकल्प और कामना, यह दोनों कर्म के बीज हैं| संकल्प और कामना न रहने पर कर्म, अकर्म हो जाते हैं, अर्थात् कर्म बाँधने वाले नहीं होते| सिद्ध महापुरुष में संकल्प और कामना न रहने से उनके द्वारा होने वाले कर्म बन्धन कारक नहीं होते| उनके

द्वारा लोक संग्रहार्थ, कर्तव्य परम्परा सुरक्षार्थ सम्पूर्ण कर्म होते हुए भी वह उन कर्मों से स्वतः सर्वथा निर्लिप्त रहते हैं|

जो कर्मों का स्वरूप से त्याग करके परमात्मा में लगा हुआ है, उस मनुष्य को समझना तो सुगम है पर जो कर्मों से किंचित मात्र भी लिप्त हुए बिना तत्परता पूर्वक कर्म कर रहा है, उसे समझना कठिन है| सन्तों की वाणी में आया है:

त्यागी शोभा जगत में करता है सब कोय ।
हरिया गृहस्थी संत का भेदी बिरला होय ।।

संसार में (बाहर से त्याग करने वाले) त्यागी पुरुष की महिमा तो सब गाते हैं, पर गृहस्थ में रहकर सब कर्तव्य कर्म करते हुए भी जो निर्लिप्त रहता है, उस (भीतर का त्याग करने वाले) पुरुष को समझने वाला कोई बिरला ही होता है|

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ।।४-२०।।

रहित आसक्ति कर्म फल रहे तृप्त अनाश्रित जो जन |
यद्यपि वह लिप्त कर्म पर यथार्थ में कर्मयोगी जन ||४-२०||

भावार्थ: *जो प्राणी कर्म फल में आसक्ति रहित स्वछंद एवं संतुष्ट है, यद्यपि वह कर्म में लिप्त है परन्तु यथार्थ में कर्मयोगी प्राणी है|*

टीका: कर्म योग से सिद्ध महापुरुष के द्वारा होने वाले सब कर्म रीति से होते हैं, क्योंकि कर्म फल में उसकी आसक्ति नहीं होती| उसके सम्पूर्ण कर्म केवल संसार के हित के लिये होते हैं| जिसकी कर्म फल में आसक्ति होती है, वह रीति से कर्म नहीं कर सकता, क्योंकि फल के साथ सम्बन्ध होने से कर्म करते हुए बीच बीच में फल का चिन्तन होने से उसकी शक्ति व्यर्थ व्यय हो जाती है, जिससे उसकी शक्ति पूरी तरह कर्म करने में नहीं लगती|

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ।।४-२१।।

कर त्याग संग्रह कर लेता जो वश तन और अंतःकरन |
रहित काम करे कर्म हो न प्राप्त अघ कभी वह जन ||४-२१||

भावार्थ: *जो संग्रह का त्याग कर (मोह ,ममता का त्याग कर) अपने शरीर और अंतःकरण को वश में कर लेता है, वह कामना रहित यदि कर्म करता है, तो उस साधक को पाप प्राप्त नहीं होता|*

टीका: संसार में आशा या इच्छा के कारण ही शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि वश में नहीं होते| कर्मयोगी में आशा या इच्छा नहीं रहती| अतः उसके शरीर, इन्द्रियाँ और अन्तःकरण स्वतः वश में रहते हैं| इनके वश में रहने से उसके द्वारा व्यर्थ की कोई क्रिया नहीं होती| कर्मयोगी अगर संन्यासी है, तो वह सब प्रकार की भोग सामग्री के संग्रह का स्वरूप से त्याग कर देता है| अगर वह गृहस्थ है, तो वह भोग बुद्धि से (अपने सुख के लिये) किसी भी सामग्री का संग्रह नहीं करता| उसके पास जो भी सामग्री है, उसको वह अपनी और अपने लिये न मानकर संसार की और संसार के लिये ही मानता है तथा संसार के सुख में ही उस सामग्री को लगाता है| भोग बुद्धि से संग्रह का त्याग करना साधक के लिये आवश्यक है|

शरीर सम्बन्धी कर्म दो प्रकार के होते हैं| एक तो शरीर से होने वाला कर्म (शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि के द्वारा), और दूसरा शरीर निर्वाह के लिये किया जाने वाले आवश्यक कर्म (खान, पान, शौच, स्नान आदि)| 'सभी शरीर से होने वाले कर्म का मुझ से कोई सम्बन्ध नहीं है', ऐसा मानकर कर्मयोगी शरीर और अन्तःकरण की शुद्धि के लिये कर्म करते हैं| कर्म योगी में कामना, ममता और आसक्ति नहीं होती| उसका कामना ममता और आसक्ति का उद्देश्य ही नहीं होता, इसलिये उसका कर्म करने से अथवा न करने से कोई प्रयोजन नहीं होता|। इसी कारण न तो उसे कर्मों में रहने वाला पाप लगता है और न उसे शास्त्रविहित कर्मों के त्याग का ही पाप लगता है|

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते।।४-२२।।

रहित द्वन्द्व ईर्ष्या रहे तृप्त जो दिया भगवन।
रहे सम सिद्धि असिद्धि नहीं बंधता वह कर्म बंधन ||४-२२||

भावार्थ: *द्वन्द्व एवं ईर्ष्या से रहित प्रभु जो दें उससे तृप्त रहे, सिद्धि असिद्धि (कर्म फल मिले अथवा नहीं मिले) में समान रूप से स्थित हो, वह कर्म बंधन में नहीं बंधता|*

टीका: कर्मयोगी निष्काम भाव पूर्वक रीति से सम्पूर्ण कर्तव्य कर्म करता है| फल प्राप्ति का उद्देश्य न रखकर कर्म करने पर फल के रूप में उसे अनुकूलता या प्रतिकूलता, लाभ या हानि, मान या अपमान, स्तुति या निन्दा आदि जो कुछ मिलता है, उससे उसके अन्तःकरण में कोई असन्तोष पैदा नहीं होता| कर्मयोगी सम्पूर्ण प्राणियों के साथ अपनी एकता मानता है,'सर्वभूतात्मभूतात्मा'| इसलिये उसका किसी भी प्राणी से किंचित मात्र भी ईर्ष्या का भाव नहीं रहता| कर्मयोगी लाभ-हानि, मान-अपमान, स्तुति-निन्दा, अनुकूलता-प्रतिकूलता, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से अतीत होता है, इसलिये उसके अन्तःकरण में उन द्वन्द्वों से होने वाले राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकार नहीं होते| द्वन्द्व अनेक प्रकार के होते हैं, जैसे भगवान् का सगुण रूप उचित है या निर्गुण रूप? अद्वैत सिद्धान्त उचित है या द्वैत सिद्धान्त? भगवान् में मन लगा या नहीं लगा? एकान्त मिला या नहीं मिला? शान्ति मिली या नहीं मिली? सिद्धि मिली या नहीं, इत्यादि| इन सब द्वन्द्वों के साथ सम्बन्ध न होने से साधक निर्द्वन्द्व होता है| कर्मयोगी सब प्रकार के द्वन्द्वों से अतीत होता है, इसलिये वह सुखपूर्वक संसार बन्धन से मुक्त हो जाता है| कर्मयोगी कर्म करते हुए भी नहीं बँधता| वह निर्लिप्त रहता है| शरीर निर्वाह के लिये कर्म करने वाला कर्मयोगी कर्मों से नहीं बँधता| शास्त्रविहित सम्पूर्ण कर्मों को करने वाला कर्मयोगी भी कर्मों से नहीं बँधता|

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ।।४-२३।।

मिटा आसक्ति सर्वथा हुआ मुक्त फल कर्म जो जन |
रख बुद्धि स्थित ज्ञान करे जो कर्म हेतु यज्ञ संचालन ||
हो जाते नष्ट कर्म सब ऐसे महापुरुष हे अर्जुन ||४-२३||

भावार्थ: *जिस प्राणी की आसक्ति (मोह ममता के प्रति प्रेम) सर्वथा मिट गई है, जो कर्मों के फल से मुक्त है, जिसकी बुद्धि ज्ञान में स्थित है, जो यज्ञ संचालन हेतु ही कर्म करता है, हे अर्जुन, ऐसे महापुरुषों के सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं|*

टीका: स्वार्थ भाव को छोड़कर केवल लोगों के हित के लिये, लोक संग्रहार्थ कर्म करते रहने से कर्मयोगी क्रियाओँ, पदार्थों आदि से असंग हो जाता है, अर्थात् उसकी आसक्ति सर्वथा मिट जाती है| जो अपने स्वरूप से सर्वथा अलग हैं, उन क्रियाओँ और शरीरादि पदार्थों से अपना सम्बन्ध न होते हुए भी कामना, ममता और आसक्ति पूर्वक उनसे अपना सम्बन्ध मान लेने से मनुष्य बँध जाता है, अर्थात् पराधीन हो जाता है| कर्मयोग का अनुष्ठान करने से जब माना हुआ (अवास्तविक) सम्बन्ध मिट जाता है, तब कर्मयोगी सर्वथा असंग हो जाता है| असंग होते ही वह सर्वथा मुक्त हो जाता है, अर्थात् स्वाधीन हो जाता है| जिसकी बुद्धि में ज्ञान नित्य, निरन्तर जाग्रत रहता है, वह 'ज्ञानावस्थित-चेतसः' है| ज्ञान से उसकी स्व-स्वरूप में स्थिति हो जाती है| वास्तव में ज्ञान संसार का ही होता है| स्वरूप का ज्ञान नहीं होता, क्योंकि स्वरूप स्वतः ज्ञान स्वरूप है| क्रिया और पदार्थ ही संसार हैं| क्रिया और पदार्थ का विभाग अलग है तथा स्वरूप का विभाग अलग है, अर्थात् क्रिया और पदार्थ का स्वरूप के साथ किंचित मात्र भी सम्बन्ध नहीं है| क्रिया और पदार्थ जड़ हैं तथा स्वरूप चेतन है| क्रिया और पदार्थ प्रकाश्य हैं तथा स्वरूप प्रकाशक है| इस प्रकार क्रिया और पदार्थ की स्वरूप से भिन्नता का ठीक ज्ञान होते ही क्रिया और पदार्थ रूप संसार से सम्बन्ध विच्छेद होकर स्वतः सिद्ध असंग स्वरूप में स्थिति का अनुभव हो जाता है| कर्म में अकर्म देखते हुए साधक को यज्ञ के लिये ही कर्म करना चाहिए| निःस्वार्थ भाव से केवल दूसरों के हित के लिये कर्म करना 'यज्ञ' है| जो यज्ञ के लिये ही सम्पूर्ण कर्म करता है, वह कर्म बन्धन से मुक्त हो जाता है, और जो यज्ञ के लिये कर्म नहीं करता, अर्थात् अपने लिये कर्म करता है, वह कर्मों से बँध जाता है, ''यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः'| जब मनुष्य कामना,

ममता और आसक्ति का त्याग करके केवल दूसरों के हित के लिये सम्पूर्ण कर्म करता है, और मिले हुए पदार्थों को दूसरों का ही मानकर उनकी सेवा में लगाता है, तब कर्मयोगी के सम्पूर्ण (क्रियमाण संचित और प्रारब्ध) कर्म विलीन हो जाते हैं, अर्थात् उसे कर्मों के साथ अपनी स्वतः सिद्ध असंगता का अनुभव हो जाता है|

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ।।४-२४।।

यज्ञ में अर्पण पात्र और हव्य हैं ब्रह्म जान अर्जुन |
देते आहुति यज्ञ अग्नि हैं स्थित जो ब्रह्म में जन ||
हैं लीन जो कर्म समाधि जान उन्हें ब्रह्म सलक्षन |
हैं ब्रह्म सब फल कर्म किए जो कामना रहित जन ||४-२४||

भावार्थ: *अर्जुन, यज्ञ में अर्पण करने वाले पात्र एवं हव्य ब्रह्म हैं, ऐसा समझ| जो ब्रह्म में स्थित हैं, वह यज्ञ में अग्नि से आहुति देते हैं| जब कर्म समाधि में लीन हों तो उन्हें ब्रह्म का ही रूप समझ| महापुरुषों के कामना रहित सब कर्म के फल भी ब्रह्म ही हैं|*

टीका: प्रभु कह रहे हैं कि हे अर्जुन, यज्ञ कर्ता के सभी कर्म 'अकर्म' होना तभी संभव है जब यज्ञ केवल यज्ञ परम्परा की रक्षा के लिये ही किए जाएं| जिस पात्र से अग्नि में आहुति दी जाती है, जैसे स्रुक्, स्रुवा आदि, उनको ब्रह्म रूप ही जान| उसी प्रकार हव्य जैसे, तिल, जौ, घी आदि पदार्थों को भी ब्रह्म की ही संज्ञा दी गई है| आहुति देने वाला भी ब्रह्म ही होता है| जिसमें आहुति दी जा रही है, वह अग्नि भी ब्रह्म है और आहुति देने की क्रिया भी ब्रह्म है|

जिस प्रकार हवन करने वाला प्राणी, स्रुवा, हवि, अग्नि आदि सब ब्रह्म का ही रूप हैं, उसी प्रकार प्रत्येक कर्म में कर्ता, करण, कर्म और पदार्थ सब ब्रह्म रूप ही हैं| उस पुरुष की ब्रह्म में ही कर्म समाधि होती है, अर्थात् उसकी सम्पूर्ण कर्मों में ब्रह्म बुद्धि ही होती है| उसके लिये सम्पूर्ण कर्म ब्रह्म रूप ही बन जाते हैं। ब्रह्म के अतिरिक्त कर्मों का अपना कोई पृथक स्वरूप नहीं रहता| ब्रह्म में

ही कर्म समाधि होने से उसके सम्पूर्ण कर्म ब्रह्म रूप ही बन जाते हैं| उसे फल के रूप में निःसन्देह ब्रह्म की ही प्राप्ति होती है|

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ।।४-२५।।

करते योगी अनुष्ठान दैव यज्ञ इस भांति हे अर्जुन |
देते हुए आहुति ब्रह्म अग्नि करें वह पावन हवन ||४-२५||

भावार्थ: *हे अर्जुन, इस प्रकार योगी दैव यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं| वह ब्रह्म अग्नि को आहुति देते हुए पवित्र यज्ञ करते हैं|*

टीका: सम्पूर्ण क्रियाओं तथा पदार्थों को अपना और अपने लिये न मानकर उन्हें केवल भगवान् और भगवान् के लिये मानना ही 'दैव यज्ञ' अर्थात् 'भगवदर्पण रूप यज्ञ' है| भगवान् देवों के भी देव हैं, इसलिये सब कुछ उनके अर्पण कर देने को ही 'दैव यज्ञ' कहा गया है| किसी भी क्रिया और पदार्थ में किंचित मात्र भी आसक्ति, ममता और कामना न रखकर उन्हें सर्वथा भगवान् का मानना ही दैव यज्ञ का भली भाँति अनुष्ठान करना है| विवेक विचार पूर्वक जड़ से सर्वथा विमुख होकर परमात्मा में लीन हो जाने को ही यज्ञ कहा गया है| लीन होने का तात्पर्य है, परमात्म-तत्व से भिन्न अपनी स्वतन्त्र सत्ता किंचित मात्र न रखना|

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ।।४-२६।।

हो अप्रवृत्त इन्द्रियाँ कर काम विषय पर नियंत्रन |
करें योगी ब्रह्म अग्नि अर्पित अपने विषय मन्मन् ||४-२६||

भावार्थ: *इन्द्रियों में अप्रवृत्त (लीन नहीं होकर) काम विषयों को नियंत्रित कर योगी अपनी इच्छाओं को ब्रह्माग्नि में अर्पण कर देते हैं|*

टीका: प्रभु ने संयम रूप से अग्नि में इन्द्रियों की आहुति देने को यज्ञ कहा है| एकान्त काल में श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्रा, इन पाँचों इन्द्रियाँ (क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) की ओर बिलकुल प्रवृत्त न हों| इन्द्रियों को नियंत्रित कर लें| पूरा संयम तभी संभव है जब इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि तथा अहम्, इन सब में राग आसक्ति का सर्वथा अभाव हो जाए| योगियों का विषय इन्द्रियों से संयोग होते रहने पर भी इन्द्रियों से कोई विकार उत्पन्न नहीं होता| उनकी इन्द्रियाँ राग, द्वेष से रहित होती हैं| राग, आसक्ति को मिटाने के लिये दो प्रकार की प्रक्रिया का यज्ञ रूप से वर्णन किया गया है|

पहली प्रक्रिया में साधक एकान्त काल में इन्द्रियों का संयम करता है| विवेक-विचार, जप-ध्यान आदि से इन्द्रियों का संयम होने लगता है। पूरा संयम होने पर जब राग का अभाव हो जाता है, तब एकान्त काल और व्यवहार काल, दोनों में उसकी समान स्थिति रहती है| दूसरी प्रक्रिया में साधक व्यवहार काल में राग, द्वेष रहित इन्द्रियों से व्यवहार करते हुए मन, बुद्धि और अहम् से भी राग, द्वेष का अभाव कर देता है| राग का अभाव होने पर व्यवहार काल और एकान्त काल, दोनों में उसकी समान स्थिति रहती है|

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ।।४-२७।।

करें योगी तन व् इंद्रियां समर्पण पावन हवन |
करें समर्पण इन्हें यज्ञ अग्नि हव्य रुप बुद्धिवन ||४-२७||

भावार्थ: *योगी अपने शरीर और इन्द्रियों को हवन (यज्ञ) में समर्पण करें| ज्ञानी इन्हें यज्ञ अग्नि और हव्य के रूप में अर्पित करें|*

टीका: योगी दसों इन्द्रियों की क्रियाओं का समाधि में हवन करते हैं| समाधि अवस्था में मन, बुद्धि सहित सम्पूर्ण इन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों) की क्रियाएँ रुक जाती हैं| इन्द्रियाँ सर्वथा निश्चल और शान्त हो जाती हैं| समाधि रूप यज्ञ में प्राणों की क्रियाओँ का भी हवन हो जाता है, अर्थात् समाधि काल में

प्राणों की क्रियाएँ भी रुक जाती हैं| समाधि में प्राणों की गति रोकने के दो प्रकार हैं| एक तो हठयोग की समाधि होती है, जिसमें प्राणों को रोकने के लिये कुम्भक किया जाता है| कुम्भक का अभ्यास बढ़ते बढ़ते प्राण रुक जाते हैं, जो बहुत समय तक रुके रह सकते हैं| इस प्राणायाम से आयु बढ़ती है| उदाहरण के रूप में वर्षा होने पर जल बहने लगता है तब जल के साथ बालू भी आ जाती है| उस बालू में मेढ़क दब जाते हैं| वर्षा समाप्त होने पर जब बालू सूख जाती है, तब मेढ़क उस बालू में ही पड़े रहते हैं| पुनः जब वर्षा होती है, तब वर्षा का जल ऊपर गिरने पर मेढ़क में पुनः प्राणों का संचार हो जाता है| जिस प्रकार मेढ़क सुप्त अवस्था में अपने जीवन की रक्षा करता है, उसी प्रकार योगी मन को एकाग्र कर प्राणों की गति रोक लेते हैं|

बाहर से समान दिखाई देने पर भी समाधिकाल में 'एक सच्चिदानंद परमात्मा ही सर्वत्र परिपूर्ण है', बुद्धिमान योगी ऐसा सोचते हैं| समाधि रूप यज्ञ करने वाले योगी इन्द्रियों तथा प्राणों की क्रियाओं का योग रूप अग्नि में हवन किया करते हैं, अर्थात् मन बुद्धि सहित सम्पूर्ण इन्द्रियों और प्राणों की क्रियाओं को रोक कर समाधि में स्थित हो जाते हैं| समाधि काल में सम्पूर्ण इन्द्रियाँ और प्राण अपनी चंचलता खो देते हैं| एक सच्चिदानंद परमात्मा का ज्ञान जाग्रत् हो जाता है|

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ।।४-२८।।

जो लीन तप हों वह व्यस्त पृथक पृथक प्रकार हवन |
करें कुछ द्रव्ययज्ञ कुछ तपयज्ञ कुछ योगयज्ञ योगिन ||
कर स्वाध्याय रूप यज्ञ करें कुछ पञ्च यम नियंत्रन ||४-२८||

भावार्थ: *हे अर्जुन, जो साधक तप में लीन होते हैं, वह पृथक पृथक प्रकार के यज्ञ में व्यस्त रहते हैं| कुछ योगी द्रव्ययज्ञ, कुछ तपयज्ञ, कुछ योगयज्ञ और कुछ स्वाध्याय रूप यज्ञ कर पाँचों यमों को नियंत्रित करते हैं|*

टीका: अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी का अभाव), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (भोग बुद्धि से संग्रह का अभाव), ये पाँच 'यम' हैं| साधक इन पांचो यम को नियंत्रण करने का विविध प्रकार के यज्ञ द्वारा प्रयास करते हैं| संसार के हित के उद्देश्य से कुआँ, तालाब, मन्दिर, धर्मशाला आदि बनवाना, अभाव ग्रस्त लोगों को अन्न, जल, वस्त्र, औषध, पुस्तक आदि देना, दान करना इत्यादि सब 'द्रव्ययज्ञ' की श्रेणी में आते हैं| द्रव्य को अपना और अपने लिये न मानकर निःस्वार्थ भाव से संसार का मानकर उनकी सेवा में लगाने से द्रव्ययज्ञ सिद्ध हो जाता है| अपने कर्तव्य (स्व-धर्म) के पालन में जो प्रतिकूलताएं, कठिनाइयाँ आएं, उन्हें प्रसन्नता पूर्वक सह लेना 'तपोयज्ञ' है| लोकहितार्थ एकादशी आदि का व्रत रखना, मौन धारण करना आदि भी 'तपोयज्ञ' की श्रेणी में आते हैं| प्रतिकूल परिस्थिति, वस्तु, व्यक्ति, घटना आने पर भी साधक प्रसन्नता पूर्वक अपने कर्तव्य का पालन करता रहे, अपने कर्तव्य से थोड़ा भी विचलित न हो, यह सबसे बड़ी तपस्या मानी गई है, जो शीघ्र सिद्धि देने वाली होती है| उदाहरण के रूप में यदि गाँव भर की गन्दगी, कूड़ा करकट बाहर एक जगह इकट्ठा हो जाए तो वह बुरा लगता है| परन्तु वही कूड़ा करकट खेत में पड़ जाए तो खेती के लिये खाद रूप से उत्तम सामग्री बन जाता है| इसी प्रकार प्रतिकूलता बुरी लगती है और उसे हम कूड़े करकट की तरह फेंक देते हैं, अर्थात् उसे महत्व नहीं देते| परन्तु वही प्रतिकूलता अपना कर्तव्य पालन करने के लिये उत्तम सामग्री है| इसलिये प्रतिकूल परिस्थिति को सहर्ष सहने के समान दूसरा कोई तप नहीं है| भोगों में आसक्ति रहने से अनुकूलता अच्छी और प्रतिकूलता बुरी लगती है| इसी कारण प्रतिकूलता का महत्व समझ में नहीं आता| योग नाम अन्तःकरण की समता का है| समता का अर्थ है, कार्य की पूर्ति और अपूर्ति, फल की प्राप्ति और अप्राप्ति, अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थिति, निन्दा और स्तुति, आदर और निरादर, आदि में सम रहना, अर्थात् अन्तःकरण में हलचल, राग-द्वेष, हर्ष-शोक, सुख-दुःख का न होना| इस प्रकार की साधना योगयज्ञ की श्रेणी में आती है| केवल लोकहित के लिये सनातन धर्म पुस्तक, पुस्तिकाएं पढ़ना-पढ़ाना, वेद, उपनिषद् आदि का यथाधिकार मनन विचार पूर्वक पठन-पाठन करना, अपनी वृत्तियों का तथा जीवन का अध्ययन करना, यह स्वाध्याय रूप 'ज्ञानयज्ञ' की श्रेणी में आता है|

अपाने जुह्वति प्राण प्राणेऽपानं तथाऽपरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ।।४-२९।।

करें अपानवायु में समर्पण प्राणवायु द्वारा हवन |
दें आहुति अपान प्राण में रोक गति प्राण अपानन ||
करें प्राप्त लक्ष्य सम प्राणायाम समझो यह अर्जुन ||४-२९||

भावार्थ: *हवन द्वारा प्राणवायु को अपानवायु में समर्पण करें| तब प्राण और अपान की गति रोक कर अपान की आहुति प्राण में दें| हे अर्जुन, इस प्रकार से प्राप्त लक्ष्य को प्राणायाम के समान समझ|*

टीका: प्राण का स्थान हृदय (ऊपर) तथा अपान का स्थान गुदा (नीचे) है| श्वास को बाहर निकालते समय वायु की गति ऊपर की ओर, तथा श्वास को भीतर ले जाते समय वायु की गति नीचे की ओर होती है| इसलिये श्वास को बाहर निकालना 'प्राण' का कार्य और श्वास को भीतर ले जाना 'अपान' का कार्य है| योगी लोग पहले बाहर की वायु को बायीं नासिका (चन्द्र नाड़ी) के द्वारा भीतर ले जाते हैं| वह वायु हृदय में स्थित प्राणवायु को साथ लेकर नाभि से होती हुई स्वाभाविक ही अपान में लीन हो जाती है| इसको 'पूरक' कहते हैं| फिर वह प्राणवायु और अपानवायु, दोनों की गति रोक देते हैं| न तो श्वास बाहर जाता है, और न श्वास भीतर ही आता है, इसको 'कुम्भक' कहते हैं| इसके बाद वह भीतर की वायु को दायीं नासिका (सूर्य नाड़ी) के द्वारा बाहर निकालते हैं| वह वायु स्वाभाविक ही प्राणवायु को तथा उसके पीछे पीछे अपानवायु को साथ लेकर बाहर निकलती है| यही प्राणवायु में अपानवायु का समर्पण करना है| इसको 'रेचक' कहते हैं|

इस प्रकार योगी लोग पहले चन्द्र नाड़ी से पूरक, फिर कुम्भक और फिर सूर्य नाड़ी से रेचक करते हैं|। इसके बाद सूर्य नाड़ी से पूरक, फिर कुम्भक और फिर चन्द्र नाड़ी से रेचक करते हैं| इस तरह बार बार पूरक, कुम्भक, रेचक करना प्राणायाम रूप यज्ञ है| परमात्म-तत्व की प्राप्ति के उद्देश्य से निष्काम भाव पूर्वक प्राणायाम के परायण होने से सभी पाप नष्ट हो जाते हैं|

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ।।४-३०।।

कर नियमित आहार दें आहुति प्राण यज्ञ जो जन |
हैं ज्ञाता वह तत्व यज्ञ किए नष्ट अघ उन महास्विन ||४-३०||

भावार्थ: *नियमित आहार कर जो प्राणी अपने प्राण की आहुति यज्ञ में देते हैं, वह यज्ञ के तत्व के ज्ञाता हैं| उन महापुरुषों के सब पाप नष्ट हो चुके हैं|*

टीका: नियमित आहार करने वाले साधक ही प्राणों की आहुति दे सकते हैं| अधिक या बहुत कम भोजन करने वाला अथवा बिलकुल भोजन न करने वाला प्राणायाम नहीं कर सकता| प्राणों की आहुति देने का तात्पर्य है कि प्राणवायु का प्राण में और अपानवायु का अपान में अपने अपने स्थानों पर रोक लेना| न श्वास बाहर निकालना और न ही श्वास भीतर लेना| इसे 'स्तम्भवृत्ति प्राणायाम' भी कहते हैं| इस प्राणायाम से स्वाभाविक ही वृत्तियाँ शान्त होती हैं और पापों का नाश हो जाता है| केवल परमात्म-तत्व की प्राप्ति का उद्देश्य रखकर प्राणायाम करने से अन्तःकरण निर्मल हो जाता है, और परमात्म-तत्व की प्राप्ति हो जाती है|

वास्तव में सम्पूर्ण यज्ञ केवल कर्मों से सम्बन्ध विच्छेद करने के लिये ही हैं, ऐसा जानने वाले ही यज्ञवित् अर्थात् यज्ञ के तत्व को जानने वाले हैं| कर्मों से सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद होने पर परमात्मा का अनुभव हो जाता है| जो लोग अविनाशी परमात्मा का अनुभव करने के लिये यज्ञ नहीं करते, प्रत्युत इस लोक और परलोक (स्वर्गादि) के विनाशी भोगों की प्राप्ति के लिये ही यज्ञ करते हैं, वह यज्ञ के तत्व को जानने वाले नहीं हैं| विनाशी पदार्थों की कामना ही बन्धन का कारण है, 'गतागतं कामकामा लभन्ते'| अतः मन में इच्छा वासना रखकर परिश्रम पूर्वक बड़े बड़े यज्ञ करने पर भी जन्म-मरण का बन्धन बना रहता है|

मिटी न मन की वासना नौ तत भये न नास |
तुलसी केते पच मुये दे दे तन को त्रास ||

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ।।४-३१।।

भोगते जो प्रसाद यज्ञ सम सोम पाते ब्रह्म सनातन |
न मिले सुख इहलोक नर जो नहीं करते यज्ञ पावन ||
पा सकें कैसे सुख परलोक कहो कुरुवंशी अर्जुन ||४-३१||

भावार्थ: *यज्ञ के अवशिष्ट अमृत को भोगने वाले प्राणी सनातन ब्रह्म को पाते हैं| जो प्राणी पवित्र यज्ञ नहीं करते, उन्हें इहलोक में सुख नहीं मिलता | हे कुरुवंशी अर्जुन, तब वह परलोक में सुख कैसे प्राप्त कर सकते हैं?*

टीका: यज्ञ करने से, अर्थात् निष्काम भाव पूर्वक दूसरों को सुख पहुँचाने से, समता का अनुभव हो जाना ही 'यज्ञ का प्रसाद रूप अमृत' है| इस प्रकार के अमृत का अनुभव करने वाले सनातन परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त हो जाते हैं| स्वरूप से मनुष्य अमर है| मरने वाली वस्तुओं के संग से ही मनुष्य को मृत्यु का अनुभव होता है| इन वस्तुओं को संसार के हित में लगाने से जब मनुष्य असंग हो जाता है, तब उसे स्वतः सिद्ध अमरता का अनुभव हो जाता है|

कर्तव्य केवल मात्र कर्तव्य समझकर किया जाए तो वह यज्ञ हो जाता है| केवल दूसरों के हित के लिये किया जाने वाला कर्म ही कर्तव्य होता है| जो कर्म अपने लिये किया जाता है वह कर्तव्य नहीं होता, प्रत्युत कर्म मात्र होता है, जिससे मनुष्य बँधता है| इसलिये यज्ञ में केवल देना ही होता है, लेना केवल निर्वाह के लिये होता है| शरीर यज्ञ करने के लिये समर्थ रहे, इस दृष्टि से शरीर निर्वाह के लिये वस्तुओं का उपयोग करना भी यज्ञ के अन्तर्गत आता है| मनुष्य शरीर यज्ञ के लिये ही है| उसे मान-सम्मान, सुख-वैभव आदि में लगाना बन्धन कारक है| केवल यज्ञ के लिये कर्म करने से मनुष्य बन्धन रहित (मुक्त) हो जाता है और उसे सनातन ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है|

भगवान् कहते हैं कि कर्म न करने से शरीर निर्वाह संभव नहीं, और यज्ञ न करने से मनुष्य-लोक में कोई लाभ संभव नहीं| यदि इहलोक में ही कोई लाभ

संभव नहीं तो फिर परलोक में कोई लाभ कैसे प्राप्त हो सकता है? स्वार्थ भाव से (अपने लिये) कर्म करने से इस लोक में संघर्ष उत्पन्न हो जाएगा और सुख, शान्ति भंग जाएगी| इस प्रकार दोनों ही इहलोक एवं परलोक में कोई कल्याण नहीं होगा|

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ।।४-३२।।

हैं वर्णित वेद वाणी बहु प्रकार यज्ञ पृथानंदन ।
होते सब यह यज्ञ उत्पन्न कर्मजन्य हेतु कल्याण जन ||
कर पावन यज्ञ इहलोक हो जाओ मुक्त कर्म बंधन ||४-३२||

भावार्थ: *वेद वाणी में इस प्रकार के अनेक यज्ञों का वर्णन किया गया है| यह सब यज्ञ जन कल्याण हेतु कर्मजन्य से उत्पन्न होते हैं| इहलोक में पावन यज्ञ कर कर्म बंधन से मुक्त हो जाओ|*

टीका: भांति भांति प्रकार के यज्ञों का वेद वाणी में विस्तार से वर्णन किया गया है| साधकों की प्रकृति के अनुसार चूंकि उनकी निष्ठाएँ भी अलग अलग होती हैं, तदनुसार उनके यज्ञ करने के साधन भी अलग अलग होते हैं| वेदों में सकाम अनुष्ठानों का भी विस्तार से वर्णन किया गया है, परन्तु उन सब से नाशवान फल की ही प्राप्ति होती है, अविनाशी की नहीं| इसलिये वेदों में वर्णित सकाम अनुष्ठान करने वाले पुण्य क्षीण होने पर बार बार मृत्युलोक में जन्म लेते रहते हैं, जन्म-मरण के बन्धन में पड़े रहते हैं| वेदों में केवल साधन रूप सकाम अनुष्ठानों का ही वर्णन है, ऐसा नहीं है| उनमें परमात्म-तत्व की प्राप्ति के साधन रूप श्रवण, मनन, निदिध्यासन, प्राणायाम, समाधि आदि अनुष्ठानों का भी वर्णन किया गया है| यज्ञ वेद से ही उत्पन्न हुए हैं, और सर्वव्यापी परमात्मा उन यज्ञों में नित्य प्रतिष्ठित (विराजमान) हैं| यज्ञों में परमात्मा नित्य प्रतिष्ठित रहने से उन यज्ञों का अनुष्ठान केवल परमात्म-तत्व की प्राप्ति के लिये ही करना चाहिए|

सभी यज्ञ लोक कल्याण हेतु कर्मजन्य हैं, अर्थात् कर्मों से होने वाले हैं| शरीर से जो क्रियाएँ होती हैं, वाणी से जो कथन होता है, और मन से जो संकल्प होते हैं, वह सभी कर्म कहलाते हैं| भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं कि युद्ध रूप कर्तव्य कर्म का त्याग करके अपने कल्याण के लिये तू जो साधना करेगा, वह कर्म तो हो सकता है, लेकिन कल्याण से युक्त कर्म नहीं होगा| यदि तू युद्ध रूप कर्तव्य कर्म को निर्लिप्त रहकर करेगा, तो उससे तेरा कल्याण होगा| स्मरण रहे कि मनुष्य को कर्म नहीं बाँधते, प्रत्युत कर्म की ओर उसके फल की आसक्ति बाँधती है| युद्ध ही तेरा सहज कर्म (स्व-धर्म) है, अतः अपने स्व-धर्म को करने को तत्पर हो|

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ।।४-३३।।

है श्रेष्ठ ज्ञानयज्ञ अपेक्षा द्रव्ययज्ञ हे योद्धा अर्जुन |
होते विलीन सब कर्म व् पदार्थ तत्व ज्ञान में निपुन ||४-३३||

भावार्थ: *हे योद्धा अर्जुन, द्रव्यज्ञान की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है| सभी कर्म एवं पदार्थ पूर्णतः तत्व ज्ञान में विलीन हो जाते हैं|*

टीका: जिन यज्ञों में द्रव्यों (पदार्थों) तथा कर्मों की आवश्यकता होती है, वह सब यज्ञ 'द्रव्यमय' होते हैं| द्रव्यमय यज्ञ से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है, क्योंकि ज्ञानयज्ञ में द्रव्य और कर्म की आवश्यकता नहीं होती| भगवान् कहते हैं कि सम्पूर्ण कर्म ज्ञानयज्ञ में समाप्त हो जाते हैं, अर्थात् ज्ञानयज्ञ कर्मजन्य नहीं है, प्रत्युत विवेक विचारजन्य है| द्रव्ययज्ञ समाप्त करके ही ज्ञानयज्ञ किया जाता है| अगर सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो ज्ञानयज्ञ भी क्रियाजन्य ही है, परन्तु इसमें विवेक विचार की प्रधानता रहती है| जब तक मनुष्य अपने लिये कर्म करता है, तब तक उसका सम्बन्ध क्रियाओँ और पदार्थों से बना रहता है| जब तक क्रियाओँ और पदार्थों से सम्बन्ध रहता है, तभी तक अन्तःकरण में अशुद्धि रहती है| इसलिये अपने लिये कर्म न करने से ही अन्तःकरण शुद्ध होता है| अन्तःकरण में तीन दोष रहते हैं, मल (संचित पाप), विक्षेप (चित्त की चंचलता) और आवरण

(अज्ञान)| अपने लिये कोई भी कर्म न करने से, अर्थात् संसार की सेवा के लिये ही कर्म करने से जब साधक के अन्तःकरण में स्थित मल और विक्षेप, दोनों दोष मिट जाते हैं, तब वह ज्ञान प्राप्ति के द्वारा आवरण दोष को मिटाने के लिये कर्मों का स्वरूप से त्याग करने में सक्षम होता है| उस समय वह कर्मों और पदार्थों से ऊँचा उठ जाता है, अर्थात् कर्म और पदार्थ उसके लक्ष्य नहीं रहते, प्रत्युत एक चिन्मय तत्व ही उसका लक्ष्य रहता है| यही सम्पूर्ण कर्मों और पदार्थों का तत्व ज्ञान में समाप्त होना है, अर्थात लीन होना है|

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ।।४-३४।।

करो प्राप्त यह तत्व ज्ञान जा कर शरण गुरु पावन |
कर प्रणिपात और सेवा करो दूर कुतुक महन ||
देंगें तुम्हें उपदेश ज्ञान गुरु तब तत्व ज्ञान गहन ||४-३४||

भावार्थ: *पावन गुरु की शरण में जाकर इस तत्व ज्ञान को प्राप्त करो| साष्टांग प्रणाम कर एवं उनकी सेवा कर हे महापुरुष, अपनी जिज्ञासा दूर करो| तब गुरु गूढ़ तत्व ज्ञान का तुम्हें उपदेश देंगे, अर्थात तुम्हारी जिज्ञासा दूर करेंगे|*

टीका: भगवान् कह रहे हैं कि हे अर्जुन, यह तत्व ज्ञान अत्यंत गूढ़ है| कर्मों का स्वरूप से त्याग करके, जिज्ञासा पूर्वक ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाकर विधिपूर्वक ज्ञान प्राप्त करने से ही तत्व ज्ञान की प्राप्ति होती है| तत्व ज्ञान प्राप्ति के लिये गुरु के पास जाकर उन्हें साष्टांग दण्डवत् प्रणाम कर उनकी सेवा में अपने इस शरीर को लगाओ| गुरु के पास विनम्रता से रहो, 'नीचवत् सेवहत सद्गुरुम्'| किसी भी प्रकार से अपने शरीर से गुरु का कभी निरादर अथवा तिरस्कार नहीं होना चाहिए| नम्रता, सरलता और जिज्ञासु भाव से उनके पास रह कर उनकी सेवा करो| अपने आपको उन्हें समर्पित कर दो, उनके अधीन हो जाओ| शरीर और वस्तुएँ, दोनों ही उनको अर्पण कर दो| साष्टांग दण्डवत् प्रणाम से अपना शरीर, और सेवा से अपनी वस्तुएँ उन्हें अर्पण कर दो| जिससे वह प्रसन्न हों, वही काम करो| सन्त महापुरुषों की सबसे बड़ी सेवा है कि उनके सिद्धान्तों के

अनुसार अपना जीवन बिताओ| स्मरण रहे कि सिद्धान्त की रक्षा के लिये वह अपने शरीर तक का सहर्ष त्याग कर देते हैं|

केवल परमात्म-तत्व को जानने के लिये, जिज्ञासु भाव से सरलता और विनम्रता पूर्वक गुरु के समक्ष अपनी जिज्ञासा रखो| अपनी विद्वत्ता दिखाने के लिये अथवा उनकी परीक्षा करने के लिये प्रश्न न करो| 'मैं कौन हूँ? संसार क्या है? बन्धन क्या है? मोक्ष क्या है? परमात्म-तत्व का अनुभव कैसे हो सकता है? मेरे साधन में क्या क्या बाधाएँ हैं? उन बाधाओं को कैसे दूर किया जाए? तत्व समझ में क्यों नहीं आ रहा है?', आदि प्रश्न केवल अपने बोध के लिये (जैसे जैसे जिज्ञासा हो, वैसे वैसे) करो| स्मरण रखो कि इन महापुरुषों को परमात्म-तत्व का अनुभव है|

अन्तःकरण की शुद्धि के अनुसार ज्ञान के अधिकारी तीन प्रकार के प्राणी होते हैं, उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ| उत्तम अधिकारी को श्रवण मात्र से तत्व ज्ञान प्राप्त हो जाता है| मध्यम अधिकारी को श्रवण, मनन और निदिध्यासन करने से तत्व ज्ञान प्राप्त होता है| कनिष्ठ अधिकारी तत्व को समझने के लिये भिन्न भिन्न प्रकार की शंकाएं किया करते हैं| इन शंकाओं का समाधान करने के लिये वेदों और शास्त्रों का उचित ज्ञान होना आवश्यक है, क्योंकि केवल युक्तियों से तत्व को नहीं समझा जा सकता| यदि गुरु तत्व दर्शी हो पर ज्ञानी न हो, तो वह शिष्य की विभिन्न शंकाओं का समाधान नहीं कर सकेगा| यदि गुरु शास्त्रों का ज्ञाता हो पर तत्व दर्शी न हो, तो उसकी बातें वैसी ठोस नहीं होंगी जिससे श्रोता को ज्ञान हो जाए| इसलिए गुरु का तत्व दर्शी और ज्ञानी, दोनों ही होना बहुत आवश्यक है|

तत्व दर्शी और ज्ञानी महापुरुष को दण्डवत् प्रणाम करने से, उनकी सेवा करने से और उनसे सरलता पूर्वक प्रश्न करने से वह तत्व ज्ञान का उपदेश देंगे| इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इन महापुरुषों को इन सब की अपेक्षा रहती है| वास्तव में उन्हें प्रणाम, सेवा आदि की किंचित मात्र भी इच्छा नहीं होती| यह सब कहने का भाव है कि जब साधक इस प्रकार जिज्ञासा करता है और सरलता पूर्वक महापुरुष के पास जाकर रहता है, तब उस महापुरुष के अन्तःकरण में उसके

प्रति विशेष भाव पैदा होते हैं, जिससे साधक को बहुत लाभ होता है| यदि साधक इस प्रकार उनके पास न रहे तो ज्ञान मिलने पर भी वह उसे ग्रहण नहीं कर सकेगा| यह शिष्य की श्रद्धा को दर्शाता है| स्मरण रहे कि श्रद्धावान् शिष्य ही ज्ञान को प्राप्त करता है, 'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्'|

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ।।४-३५।।

कर अनुभव तत्व ज्ञान नहीं होगे तुम मोहित अर्जुन |
देखोगे सब नर और मुझ में तब सच्चिदानंद भगवन ||४-३५||

भावार्थ: *इस तत्व ज्ञान का अनुभव कर हे अर्जुन, तुम मोहित नहीं होगे / सभी प्राणियों और मुझ में तब सच्चिदानंद ईश्वर को देखोगे /*

टीका: भगवान् कृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं कि हे अर्जुन, तत्व ज्ञान का अनुभव होते ही मेरी सर्वत्र परिपूर्ण सत्ता का तुझे आभास हो जाएगा| इस सत्ता के अन्तर्गत अनन्त ब्रह्माण्ड हैं| जैसे स्वप्न से जगा हुआ मनुष्य स्वप्न की सृष्टि को अपने में ही देखता है, ऐसे ही तत्व ज्ञान होने पर मनुष्य सम्पूर्ण प्राणियों (जगत्) को ईश्वर रूप में ही देखता है|

स्थूल दृष्टि से समुद्र और लहरों में भिन्नता दिखती है| लहरें समुद्र में ही उठती और लीन होती रहती हैं| परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से समुद्र और लहरों की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है| सत्ता केवल एक जल तत्व की ही है| जल तत्व में न समुद्र है, न लहरें| पृथ्वी से सम्बन्ध होने के कारण समुद्र भी सीमित है और लहरें भी, परन्तु जल तत्व सीमित नहीं है| अतः समुद्र और लहरों को न देखकर एक जल तत्व को देखना ही यथार्थ दृष्टि है| इसी प्रकार संसार रूपी समुद्र और शरीर रूपी लहरों में भिन्नता दिखती है| शरीर संसार में ही उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं| परन्तु वास्तव में संसार और शरीर की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है| सत्ता केवल परमात्म-तत्व की ही है| परमात्म-तत्व में न संसार है, न शरीर| प्रकृति से सम्बन्ध होने के कारण संसार भी सीमित है और शरीर भी| परन्तु परमात्म-तत्व सीमित नहीं

है|। अतः संसार और शरीर को न देखकर एक परमात्म-तत्व को देखना ही यथार्थ दृष्टि है|

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ।।४-३६।।

हो यदि घोर पापी मध्य पापक इस जग पृथानंदन |
तरे भवसागर ले सहारा ज्ञान रूपी नैया वह जन ||४-३६||

भावार्थ: *हे अर्जुन, जो पापीयों से भी अधिक पापी है, वह प्राणी भी इस ज्ञान रूपी नैया का सहारा ले कर भव सागर से पार हो जाता है|*

टीका: पाप करने वालों की तीन श्रेणियाँ होती हैं:

(१) 'पापकृत्', अर्थात् पाप करनेवाला,

(२) 'पापकृत्तर', अर्थात् दो पापियों में एक से अधिक पाप करने वाला, और

(३) 'पापकृत्तम', अर्थात् सम्पूर्ण पापियों में सबसे अधिक पाप करने वाला|

भगवान् कहते हैं कि 'पापकृत्तम' भी तत्व ज्ञान से सम्पूर्ण पापों से तर जाता है| भगवान् का यह कथन अति आश्वासन देने वाला है| यदि प्राणी पापों का त्याग कर साधन में लग जाए, तो भव-सागर से पार होना निश्चित है| यदि मनुष्य वर्तमान में पाप करना छोड़ दे और निश्चय कर ले कि अब मैं कभी पाप नहीं करूँगा और केवल तत्व ज्ञान को प्राप्त करूँगा, तो उसके पापों का नाश होते देरी नहीं लगती| यदि कहीं सौ वर्षों से घना अँधेरा छाया हो और वहां दीपक जला दिया जाए तो उस अँधेरे को दूर कर प्रकाश करने में दीपक को सौ वर्ष नहीं लगते, प्रत्युत दीपक जलाते ही तत्काल अँधेरा मिट जाता है| इसी प्रकार तत्व ज्ञान प्राप्त होते ही सम्पूर्ण पाप तत्काल नष्ट हो जाते हैं|

प्रकृति के कार्य, शरीर और संसार के सम्बन्ध से ही सम्पूर्ण पाप होते हैं| तत्व ज्ञान होने पर जब इनसे सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है, तब पाप समाप्त हो जाते हैं| 'मूलाभावह कुतः शाखा', परमात्मा के स्वतः सिद्ध ज्ञान के साथ एक होना ही ज्ञान रूप नौका को प्राप्त करना है| मनुष्य कितना ही पापी क्यों न हो, ज्ञान रूपी नौका से वह सम्पूर्ण पाप समुद्र रूपी भव से अच्छी तरह तर जाता है| यह ज्ञान रूप नौका कभी टूटती नहीं, इसमें कभी छिद्र नहीं होता और यह कभी डूबती भी नहीं| यह मनुष्य को पाप रूपी समुद्र से पार करा देती है| 'ज्ञानयज्ञ' से ही यह ज्ञान रूप नौका प्राप्त होती है| यह ज्ञान यज्ञ 'विवेक' से आरम्भ होता है और 'तत्व ज्ञान' में इसकी पूर्णता हो जाती है| पूर्णता होने पर लेशमात्र भी पाप नहीं रहता|

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ।।४-३७।।

जैसे करती जलती अग्नि भस्म सब सामग्री ईंधन |
करे ज्ञान रूपी अग्नि भस्म तैसे सब अघ हे अर्जुन ||४-३७||

भावार्थ: *जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि में सब ईंधन को भस्म करने की सामर्थ्य है, उसी प्रकार हे अर्जुन, ज्ञान रूपी अग्नि सभी पापों को भस्म कर देती है|*

टीका: प्रज्वलित अग्नि काष्ठादि सम्पूर्ण ईंधनों को इस प्रकार भस्म कर देती है कि उनका किंचित मात्र भी अंश शेष नहीं रहता, ऐसे ही ज्ञान रूप अग्नि सम्पूर्ण पापों को इस प्रकार भस्म कर देती है कि उनका किंचित मात्र भी अंश शेष नहीं रहता|

तत्व ज्ञान रूपी अग्नि संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण, तीनों ही कर्मों को भस्म करने का सामर्थ्य रखती है| जैसे अग्नि में काष्ठ को भस्म करने का कारण अभाव हो जाता है ऐसे ही तत्व ज्ञान में सम्पूर्ण कर्मों का अभाव हो जाता है, अर्थात ज्ञान होने पर कर्मों से अथवा संसार से सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है| सम्बन्ध

विच्छेद होने पर संसार की स्वतन्त्र सत्ता का अनुभव नहीं होता, प्रत्युत एक परमात्म-तत्व ही शेष रहता है|

क्रियाएँ प्रकृति के द्वारा ही होती हैं| उन क्रियाओं से अपना सम्बन्ध मान लेने से कर्म होते हैं| नाड़ियों में रक्त प्रवाह होना, शरीर का बालक से युवा होना, श्वासों का आना जाना, भोजन का पचना, आदि क्रियाएँ जिस समष्टि प्रकृति से होती हैं, उसी प्रकृति से खाना-पीना, चलना-बैठना, देखना-बोलना, आदि क्रियाएँ भी होती हैं| परन्तु मनुष्य अज्ञानवश उन क्रियाओं से अपना सम्बन्ध मान लेता है, अर्थात् अपने को उन क्रियाओं का कर्ता मान लेता है| इससे वह क्रियाएँ 'कर्म' बनकर मनुष्य को बाँध देती हैं| इस प्रकार माने हुए सम्बन्ध ही कर्म होते हैं, अन्यथा क्रियाएँ ही होती हैं| तत्व ज्ञान होने पर वह नष्ट हो जाते हैं। तत्व ज्ञान होने पर कर्तृत्वाभिमान नहीं रहता अतः सभी क्रियमाण कर्म अकर्म हो जाते हैं, अर्थात् फल जनक नहीं होते| प्रारब्ध कर्म का घटना (अनुकूल, प्रतिकूल परिस्थिति) तो जब तक शरीर रहता है, तब तक रहता है, परन्तु ज्ञानी पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता| तत्व ज्ञान होने पर भोक्तृत्व नहीं रहता, अतः अनुकूल, प्रतिकूल परिस्थिति सामने आने पर वह सुखी, दुःखी नहीं होता| इस प्रकार तत्व ज्ञान होने पर संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण, तीनों ही कर्मों से किंचित मात्र भी सम्बन्ध नहीं रहता| कर्मों से अपना सम्बन्ध न रहने से कर्म नहीं रहते, भस्मित हो जाते हैं| सभी कर्म अकर्म हो जाते हैं|

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ।।४-३८।।

निःसंशय है नहीं समान ज्ञान भूलोक कुछ पावन |
कर सिद्ध योग सम्यक पा लेते तत्व ज्ञान महास्विन ||४-३८||

भावार्थ: *निःसंदेह पृथ्वी लोक पर ज्ञान के समान पवित्र कुछ नहीं है| योग को भली भांति सिद्ध कर महापुरुष तत्व ज्ञान को पा जाते हैं|*

टीका: संसार की स्वतन्त्र सत्ता को मानने से तथा उससे सुख लेने की इच्छा से ही सम्पूर्ण दोष, पाप उत्पन्न होते हैं| तत्व ज्ञान होने पर जब संसार की स्वतन्त्र सत्ता का अनुभव नहीं होता, तब सम्पूर्ण पापों का सर्वथा नाश हो जाता है और महान् पवित्रता आ जाती है| इसलिये संसार में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला दूसरा कोई साधन नहीं है| संसार में यज्ञ, दान, तप, पूजा, व्रत, उपवास, जप, ध्यान, प्राणायाम आदि जितने साधन हैं तथा गंगा, यमुना, गोदावरी आदि जितने तीर्थ हैं, वह सभी मनुष्य के पापों का नाश करके उसे पवित्र करने वाले हैं| परन्तु उन सब में भी तत्व ज्ञान के समान पवित्र करने वाला कोई भी साधन, तीर्थ आदि नहीं है, क्योंकि वह सब तत्व ज्ञान के साधन हैं, और तत्व ज्ञान उन सब का साध्य है|

परमात्मा पवित्रों से भी पवित्र हैं, 'पवित्राणां पवित्रम्'| उन्हीं परम पवित्र परमात्मा का अनुभव कराने वाला होने से तत्व ज्ञान भी अत्यन्त पवित्र है| जिसका कर्मयोग सिद्ध हो गया है, अर्थात् कर्मयोग का अनुष्ठान पूर्ण हो गया है, उस महापुरुष को तत्व ज्ञान की प्राप्ति होती है| तत्व बोध हो जाने पर संसार से सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है| जैसा प्रभु ने कहा है कर्मयोग में अपना कुछ भी न मान कर सम्पूर्ण कर्म संसार के हित के लिये अर्पित करना होता है| ऐसा करने पर सामग्री और क्रिया शक्ति, दोनों का प्रवाह संसार की सेवा में लग जाता है| संसार की सेवा में प्रवाह होने पर 'मैं सेवक हूँ' ऐसा (अहम् का) भाव भी नहीं रहता, अर्थात् सेवक नहीं रहता, केवल सेवा रह जाती है| इस प्रकार जब सेवक सेवा बनकर सेव्य में लीन हो जाता है, तब प्रकृति के कार्य शरीर तथा संसार से सर्वथा वियोग (सम्बन्ध विच्छेद) हो जाता है| वियोग होने पर संसार की स्वतन्त्र सत्ता नहीं रह जाती, केवल क्रिया रह जाती है| इसी को योग की संसिद्धि अर्थात् सम्यक् सिद्धि कहते हैं| कर्म और फल की आसक्ति से ही 'योग' का अनुभव नहीं होता| वास्तव में कर्मों और पदार्थों से सम्बन्ध विच्छेद स्वतः सिद्ध है| कर्म और पदार्थ तो अनित्य (आदि, अन्त वाले) हैं, और अपना स्वरूप नित्य है| अनित्य कर्मों से नित्य स्वरूप को कुछ नहीं मिल सकता| इसलिये स्वरूप को कर्मों के द्वारा कुछ नहीं पाना 'कर्म विज्ञान' है| कर्म विज्ञान का अनुभव होने पर कर्म फल से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है, अर्थात् कर्मजन्य सुख लेने की आसक्ति सर्वथा मिट जाती है| इसके मिटते ही परमात्मा के साथ

अपने स्वाभाविक नित्य सम्बन्ध का अनुभव हो जाता है, जो 'योग विज्ञान' है| योग विज्ञान का अनुभव होना ही योग की संसिद्धि है|

जिस तत्वज्ञान से सम्पूर्ण कर्म भस्म हो जाते हैं और जिसके समान पवित्र करने वाला संसार में दूसरा कोई साधन नहीं है, उसी तत्व ज्ञान को कर्मयोगी योग संसिद्ध हो प्रभु को तत्काल प्राप्त कर लेता है|

कर्मयोग की विधि से कर्तव्य कर्म करते हुए स्वयं ही तत्व ज्ञान की प्राप्ति होने लगती है| 'आत्मनि विन्दति', अर्थात कर्मयोगी को तत्व ज्ञान प्राप्त करने के लिये कहीं और जाने की आवश्यकता नहीं है| कर्मयोग सिद्ध होने पर उसे स्वतः सिद्ध तत्व ज्ञान का अनुभव हो जाता है| परमात्मा सब प्रकार परिपूर्ण होने से अपने में भी हैं| जहां साधक 'मैं हूँ', रूप से अपने आपको मानता है, वहीं परमात्मा विराजमान हैं| परन्तु परमात्मा से विमुख होकर संसार से अपना सम्बन्ध मान लेने के कारण अपने आप में स्थित परमात्मा का अनुभव नहीं होता| कर्मयोग का भली भांति अनुष्ठान करने से जब संसार से सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है, अर्थात् संसार से तादात्म्य, ममता और कामना मिट जाती है, तब अपने आप में ही तत्व का सुख पूर्वक अनुभव हो जाता है, 'निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते'|

परमात्म-तत्व का ज्ञान करण निरपेक्ष है| इसलिये उसका अनुभव स्वयं से ही हो सकता है, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि करणों से नहीं| साधक किसी भी उपाय से तत्व को जानने का प्रयत्न क्यों न करे, पर अन्त में वह स्वयं से ही तत्व को जानेगा| श्रवण, मनन आदि साधन तत्व ज्ञान प्राप्त करने में विपरीत भावना की बाधाओं को दूर करने वाले परम्परागत साधन माने जा सकते हैं, पर वास्तविक बोध स्वयं से ही होता है| मन, बुद्धि आदि सब जड़ हैं| जड़ के द्वारा उस चिन्मय तत्व को नहीं जाना जा सकता जो जड़ से सर्वथा अतीत है| अतः परमात्मा को स्वयं के द्वारा ही जाना जा सकता है जो नित्य है| 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' जिससे सम्पूर्ण वस्तुओं का ज्ञान होता है, वही परमात्म-तत्व है|

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ।।४-३९।।

जो जितेन्द्रिय तत्पर श्रद्धावान पाएं ज्ञान वह जन |
पाते परम शान्ति पा ज्ञान तुरंत साधक बुद्धिवन ||४-३९||

भावार्थ: *जो जितेन्द्रिय एवं तत्पर प्राणी हैं, ऐसे श्रद्धावान को ज्ञान की प्राप्ति होती है| ज्ञान पाकर बुद्धिमान साधक तुरंत परम शांति प्राप्त करते हैं|*

टीका: जो जितेन्द्रिय एवं साधना परायण (तत्पर) हैं, ऐसे श्रद्धावान् पुरुष को ज्ञान प्राप्त होता है| श्रद्धा की पहचान के लिये शास्त्रों में दो विशेषण दिये हैं, 'संयतेन्द्रिय' और तत्पर| जिसकी इन्द्रियाँ पूर्णतया वश में हैं, वह 'संयतेन्द्रिय' है, और जो अपने साधन में तत्परता पूर्वक लगा हुआ है वह 'तत्पर' है| साधन में इन्द्रियों का संयत होना तत्परता की कसौटी है| अगर इन्द्रियाँ संयत नहीं हैं, विषय भोगों की ओर हैं तो साधन परायणता संभव नहीं है|

ज्ञान प्राप्त होते ही प्राणी को परम शान्ति का अनुभव होने लगता है| स्मरण रहे कि परम शान्ति प्राणी में स्वतः सिद्ध है, परन्तु मनुष्य परम शान्ति स्वरूप परमात्मा से विमुख हो जाता है और सांसारिक वस्तुओं में शान्ति ढूँढ़ने लगता है| इसलिये अनेक जन्मों तक शान्ति की खोज में भटकते रहने पर भी उसे शान्ति नहीं मिलती| उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओं में शान्ति कैसे मिल सकती है? तत्वज्ञान का अनुभव होने पर जब दुःख रूप संसार से सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है, तब स्वतः सिद्ध परम शान्ति का तत्काल अनुभव हो जाता है|

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ।।४-४०।।

हैं जो श्रद्धा-रहित विवेक-हीन कुतर्की जन।
निःसंदेह होते अग्रसर वह ओर पतन अर्जुन ॥
नहीं मिलता सुख इहलोक परलोक ऐसे जन ॥४-४०॥

भावार्थ: *हे अर्जुन, श्रद्धा और विवेक से रहित, कुतर्की प्राणी निःसंदेह पतन की ओर जाते हैं| ऐसे प्राणियों को इहलोक अथवा परलोक में सुख नहीं मिलता|*

टीका: जिस पुरुष का विवेक अभी जाग्रत् नहीं हुआ है और जो अश्रद्धालु है, ऐसे संशय युक्त पुरुष का पारमार्थिक मार्ग से पतन हो जाता है| संशय युक्त पुरुष की अपनी बुद्धि तो प्राकृत शिक्षा रहित रहती ही है, वह ज्ञानियों का भी आदर नहीं करता| तब ऐसे पुरुष के संशय कैसे नष्ट हो सकते हैं? संशय नष्ट हुए बिना उसकी उन्नति कैसे संभव है?

पारमार्थिक मार्ग पर चलने वाले साधक में संशय पैदा होना स्वाभाविक है, क्योंकि वह किसी विषय को पढ़ेगा तो कुछ समझेगा और कुछ नहीं समझेगा| जिस विषय को कुछ नहीं समझते, उस विषय में संशय पैदा नहीं होता, और जिस विषय को पूरा समझते हैं, उस विषय में संशय नहीं रहता| अतः संशय सदा अधूरे ज्ञान में ही पैदा होता है, इसी को अज्ञान कहते हैं| संशय का उत्पन्न होना हानिकारक नहीं है, प्रत्युत संशय को बनाए रखना और उसे दूर करने की चेष्टा न करना हानिकारक है| संशय को दूर करने की चेष्टा न करने पर वह संशय ही 'सिद्धान्त' बन जाता है| संशय दूर न होने पर मनुष्य सोचता है कि पारमार्थिक मार्ग में सब कुछ ढकोसला है, और ऐसा सोचकर उसे छोड़ देता है तथा नास्तिक बन जाता है| परिणाम स्वरूप उसका पतन हो जाता है| इसलिये अपने भीतर संशय का रहना साधक के लिए अच्छा नहीं है| संशय बुरा लगने पर जिज्ञासा जाग्रत् होती है, जिसकी पूर्ति होने पर संशय विनाशक ज्ञान की प्राप्ति होती है| साधक का लक्षण है, निरंतर खोज करते रहना| यदि वह मन और इन्द्रियों से देखी बात को ही सत्य मान लेता है, तो वहीं रुक जाता है, आगे नहीं बढ़ पाता| साधक को निरन्तर आगे ही बढ़ते रहना चाहिए| जैसे रास्ते पर चलते समय मनुष्य यह न देखे कि वह कितनी दूर आ गया, प्रत्युत यह देखे कि गंतव्य स्थान के लिए कितनी दूर अभी शेष है| तब वह ठीक अपने लक्ष्य

तक पहुँच जाएगा| ऐसे ही साधक यह न देखे कि कितना जान लिया अर्थात् अपने जाने हुए पर सन्तोष न करे, प्रत्युत जिस विषय को अच्छी तरह नहीं जानता, उसे जानने की चेष्टा करता रहे| इसलिये संशय के रहते हुए कभी सन्तोष नहीं होना चाहिए, प्रत्युत जिज्ञासा अग्नि की तरह दहकती रहनी चाहिए| ऐसा होने पर साधक का संशय सन्त, महात्माओं से अथवा ग्रन्थों से किसी न किसी प्रकार दूर हो ही जाता है। संशय दूर करने वाला कोई न मिले तो भगवत् कृपा से उसका संशय दूर हो जाता है|

यदि संशय दूर नहीं हुआ तो संशयात्मा को कभी शान्ति नहीं मिल सकती| न तो इहलोक में और न ही परलोक में उसे कल्याण की प्राप्ति हो सकती है| कल्याण में निश्चयात्मक बुद्धि की आवश्यकता होती है और संशयात्मा मनुष्य दुविधा में रहने के कारण कोई एक निश्चय नहीं कर सकता| जैसे, 'जप करूँ या स्वाध्याय करूँ? संसार का काम करूँ या परमात्म-तत्व प्राप्त करूँ?' आदि| विवेक बुद्धि और श्रद्धा के द्वारा संशय को अवश्य ही मिटा देना चाहिए| दो पृथक बातों को पढ़ने सुनने से संशय पैदा होता है| वह संशय या तो विवेक विचार के द्वारा दूर हो सकता है या शास्त्र तथा सन्त, महापुरुषों की बातों को श्रद्धा पूर्वक मानने से| इसलिये संशय युक्त पुरुष में यदि अज्ञता है तो वह विवेक विचार को बढ़ाये और यदि अश्रद्धा है, तो श्रद्धा को बढ़ाये, क्योंकि इन दोनों में से किसी एक को विशेषता से अपनाये बिना संशय दूर नहीं होता|

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञा नसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ।।४-४१।।

करे जो विच्छेद सम्बन्ध जग द्वारा योग पृथानंदन |
कर नष्ट संशय बने आत्मवंत हो मुक्त कर्म बंधन ||४-४१||

भावार्थ: *हे अर्जुन, जो योग द्वारा संसार से सम्बन्ध विच्छेद कर संशयों को नष्ट कर ले, वह आत्मवंत (स्वरुप परायण) बनकर कर्म बंधन से मुक्त हो जाता है|*

टीका: शरीर, इन्द्रियाँ, मन बुद्धि आदि जो वस्तुएँ हमें मिली हैं और हमारी दिखती हैं, वह सब दूसरों की सेवा के लिये ही हैं, अपना अधिकार दिखाने के लिये नहीं| इस दृष्टि से जब उन वस्तुओं को दूसरों की सेवा में (उनका ही मानकर) लगा दिया जाता है, तब कर्मों और वस्तुओं का प्रवाह संसार की ओर हो जाता है और अपने में स्वतः सिद्ध समता का अनुभव हो जाता है| इस प्रकार योग (समता) के द्वारा जिसने कर्मों से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया है, वह पुरुष 'योगसंन्यस्तकर्मा 'है| जब कर्मयोगी कर्म में अकर्म तथा अकर्म में कर्म देखता है, अर्थात् कर्म करते हुए अथवा न करते हुए, दोनों अवस्थाओं में नित्य, निरन्तर असंग रहता है, तब वही वास्तव में 'योगसंन्यस्तकर्मा' होता है|

मनुष्य के भीतर प्रायः यह संशय रहते हैं कि कर्म करते हुए कर्मों से अपना सम्बन्ध विच्छेद कैसे होगा? अपने लिये कुछ न करें तो अपना कल्याण कैसे होगा, आदि? परन्तु जब वह कर्मों के तत्व को अच्छी तरह जान लेता है, तब उसके समस्त संशय मिट जाते हैं| उसे इस बात का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है कि कर्मों और उनके फलों का आदि और अन्त होता है, पर स्वरूप सदा यथावत बना रहता है| इसलिये कर्म का सम्बन्ध 'पर' (संसार) के साथ है, 'स्व (स्वरूप) के साथ बिलकुल नहीं| इस दृष्टि से अपने लिये कर्म करने से कर्मों के साथ सम्बन्ध जुड़ जाता है और निष्काम भाव-पूर्वक केवल दूसरों के लिये कर्म करने से कर्मों से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है| इससे सिद्ध होता है कि अपना कल्याण दूसरों के लिये कर्म करने से ही होता है, अपने लिये कर्म करने से नहीं|

कर्मयोगी का उद्देश्य स्वरूप बोध को प्राप्त करने का होता है, इसलिये वह सदा स्वरूप के परायण रहता है| उसके सम्पूर्ण कर्म संसार के लिये ही होते हैं| सेवा तो स्वरूप से ही दूसरों के लिये होती है, खाना-पीना, सोना-बैठना, आदि जीवन निर्वाह की सम्पूर्ण क्रियाएँ भी दूसरों के लिये ही होती हैं, क्योंकि क्रिया का सम्बन्ध संसार के साथ है, स्वरूप के साथ नहीं|

अपने लिये कोई भी कर्म न करने से कर्मयोगी का सम्पूर्ण कर्मों से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है, अर्थात् वह सदा के लिये संसार बन्धन से सर्वथा मुक्त हो

जाता है| कर्म स्वरूप से बन्धन कारक नहीं हैं| कर्मों में फलेच्छा, ममता, आसक्ति और कर्तृत्वाभिमान ही बाँधने वाला है|

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनाऽऽत्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ।।४-४२।।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मेविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसन्यासयोग नाम चतुर्थोऽध्यायः ।।

करो दूर संशय जो हुआ हिय उत्पन्न अज्ञान अर्जुन ।
काटो इसे ज्ञान शस्त्र से हो स्थित योग युद्धिवन ।।४-४२।।

करते हुए ओम तत सत पूर्ण भगवन्नाम उच्चारन ।
ब्रह्मविद्या योगशास्त्रमय महाग्रंथ गीतबंधन ।।
श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषदरूप ग्रन्थ अति पावन ।
श्री कृष्णार्जुन संवाद ज्ञानकर्मयोगसंयास नामन ।।
हुआ अत्र सम्पूर्ण चतुर्थ अध्याय करे कल्याण जन ।।

भावार्थ: *हे अर्जुन, अज्ञान से उत्पन्न संशय को हृदय से दूर करो | हे योद्धा, इसे ज्ञान शस्त्र से काटकर योग (समता) में स्थित हो जाओ|*

इस प्रकार उपनिषद, ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र रूप श्रीमद्भगवद्गीता के श्री कृष्ण-अर्जुन संवाद में ' ज्ञानकर्मयोगसंयास' नामक चतुर्थ अध्याय संपूर्ण हुआ|

टीका: भगवान् कहते हैं कि जिसने समता के द्वारा समस्त कर्मों से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया है और ज्ञान के द्वारा समस्त संशयों को नष्ट कर दिया है, उस आत्मपरायण कर्मयोगी को कर्म नहीं बाँधते, अर्थात् वह जन्म-मरण से मुक्त हो जाता है| अर्जुन के हृदय में संशय था कि युद्ध रूप घोर कर्म से मेरा कल्याण कैसे होगा? अपने कल्याण के लिये मैं कर्मयोग का अनुष्ठान करूँ अथवा ज्ञानयोग का? भगवान् यहां इस संशय को दूर कर रहे हैं, क्योंकि संशय के

रहते हुए कर्तव्य का पालन उचित प्रकार से नहीं हो सकता| सब संशय अज्ञान से अर्थात् कर्मों के और योग के तत्व को भली भांति न समझने से ही उत्पन्न होते हैं| क्रियाओं और पदार्थों को अपना और अपने लिये मानना ही अज्ञान है| यह अज्ञान जब तक रहता है, तब तक अन्तःकरण में संशय रहते हैं, क्योंकि क्रियाएँ और पदार्थ विनाशी हैं, और स्वरूप अविनाशी है|

भगवान् अर्जुन को योग में स्थित होकर स्व-धर्म पालन, अर्थात युद्ध के लिये खड़े हो जाने की आज्ञा दे रहे हैं| 'योगस्थः कुरु कर्माणि', योग में स्थित होकर कर्तव्य कर्म कर| योग का ही अर्थ 'समता' है, 'समत्वं योग उच्यते'|

अर्जुन युद्ध को पाप समझ रहे हैं, इसलिये भगवान् अर्जुन को समता में स्थित होकर युद्ध करने की आज्ञा दे रहे हैं, क्योंकि समता में स्थित होकर युद्ध करने से पाप नहीं लगता क्योंकि यह स्व-धर्म है| समता में स्थित होकर कर्तव्य-कर्म करना ही कर्म बन्धन से छूटने का उपाय है|

संसार में रात-दिन अनेक कर्म होते रहते हैं, पर उन कर्मों में राग, द्वेष न होने से हम संसार के उन कर्मों से बँधते नहीं, प्रत्युत निर्लिप्त रहते हैं| जिन कर्मों में हमारा राग या द्वेष हो जाता है, उन्हीं कर्मों से हम बँधते हैं| राग या द्वेष से कर्मों के साथ अपना सम्बन्ध जुड़ जाता है| जब राग, द्वेष नहीं रहते अर्थात् समता आ जाती है, तब कर्मों के साथ अपना सम्बन्ध नहीं जुड़ता, अतः मनुष्य कर्म बन्धन से मुक्त हो जाता है|

अध्याय ५: कर्मसन्यासयोग

अर्जुन उवाच
संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम ।।५-१।।

अर्जुन उवाच
छंद:
कर रहे प्रशंसा आप संन्यास कर्म बोले अर्जुन |
है कर्मयोग महान यह भी हैं आपके दृढ़ वचन ||
हो सर्वथा कल्याणकारी कहो वह श्रेष्ठ साधन ||५-१||

भावार्थ: *अर्जुन बोले, 'आप संन्यास कर्म की प्रशंसा कर रहे हैं| कर्मयोग भी महान है, ऐसे भी आपके निश्चित वचन हैं| इन साधनों में से जो अति कल्याणकारी हो, वह कहो|'*

टीका: स्व-जनों को देखकर अर्जुन के हृदय में मोह उत्पन हो गया था| उन्हें स्व-धर्म (युद्ध रूप कर्म) के त्याग की बात उचित प्रतीत हो रही थी| अर्जुन भ्रमित हो रहे थे अतः अपने कल्याण की बात उन्होंने प्रभु से पूछी, 'तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्'| तब भगवान् ने निःस्वार्थ भावना से स्व-धर्म पालन करने पर बल दिया| निष्काम, निर्मम और निःसंताप होकर स्व-धर्म निभाते हुए युद्ध करने की आज्ञा दी| यही कर्मों का स्वरुप से त्याग (अर्थात संन्यास कर्म) की परिभाषा है|

संन्यास कर्म पर बल देते हुए भगवान् ने फिर अर्जुन को कर्मयोग समझाने का प्रयास किया| प्रभु ने कहा कि कर्मयोगी सुखपूर्वक संसार बन्धन से मुक्त हो जाता है| कर्मयोग के बिना सांख्ययोग का साधन सिद्ध होना कठिन है| कर्मयोगी शीघ्र ही ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है| अर्जुन को ऐसा प्रतीत हुआ कि प्रभु कह रहे हैं कि कर्मयोग ही उनके लिये शीघ्रता और सुगमता पूर्वक ब्रह्म की प्राप्ति कराने वाला साधन है| अर्जुन यहां भ्रमित हो रहे हैं| वह संन्यास कर्म एवं

कर्मयोग को ठीक से न समझते हुए उनमें भेद कर रहे हैं| अर्जुन के हृदय में भोगों से पूरा वैराग्य नहीं है, पर उनमें अपने कल्याण की इच्छा अवश्य है| इसलिये प्रभु कह रहे हैं कि वह कर्मयोग के अधिकारी हैं| अर्जुन कहते हैं कि युद्ध में स्व-जनों को मारकर मृत्युलोक के राज्य की तो बात ही क्या है, त्रिलोकी का राज्य भी नहीं चाहते| परन्तु वास्तव में अर्जुन राज्य तथा भोगों को सर्वथा नहीं चाहते हों, ऐसी बात भी नहीं है| उनका तात्पर्य है कि युद्ध में कुटुम्बी जनों को मारकर राज्य तथा विजय नहीं चाहते| परन्तु यदि कुटुम्बी जनों को मारे बिना राज्य मिल जाए तो, वह उसे लेने को तत्पर हैं| आगे अर्जुन यह भी कहते हैं कि कौन जीतेगा, इसका हमें पता नहीं| इसका तात्पर्य है कि यदि उनकी विजय निश्चित हो तथा स्व-जनों को मारे बिना राज्य मिले तो वह लेने को तैयार हैं| तब भगवान् ने उन्हें स्व-धर्म का स्मरण कराते हुए कहा कि अर्जुन तेरे तो दोनों हाथों में लड्डू हैं| यदि युद्ध में तू मारा गया तो तुझे स्वर्ग मिलेगा, और जीत गया तो राज्य मिलेगा| यदि अर्जुन के मन में स्वर्ग और संसार के राज्य की किंचित मात्र भी इच्छा नहीं होती तो भगवान् संभवतः ऐसा नहीं कहते| अर्जुन के हृदय में यद्यपि वैराग्य नहीं है, परन्तु उनमें अपने कल्याण की इच्छा है| इस कारण वह भगवान् से कल्याण प्राप्ति के किए उचित मार्ग बताने की प्रार्थना कर रहे हैं|

श्रीभगवानुवाच
संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ।।५-२।।

श्रीभगवानुवाच
हैं सांख्य व् कर्मयोग दोनों उत्तम बोले भगवन |
है कर्मयोग उत्तमतर समझो युद्धिवन अर्जुन ||५-२||

भावार्थ: *भगवान् बोले, 'हे योद्धा अर्जुन, सांख्य योग एवं कर्मयोग दोनों ही उत्तम हैं| परन्तु कर्मयोग श्रेष्ठ है, ऐसा समझो|'*

टीका: अर्जुन के पूछने पर प्रभु कहते हैं कि सांख्ययोग और कर्मयोग, यह दोनों ही साधन, निश्चय पूर्वक कल्याण करने वाले हैं| दोनों के द्वारा एक ही समता की प्राप्ति होती है| दोनों से ही परमात्म-तत्व का अनुभव हो सकता है, अतः दोनों ही परमात्म-तत्व प्राप्ति के स्वतन्त्र साधन हैं| भगवान् आगे कहते हैं कि कर्मयोग के बिना सांख्ययोग का साधन होना कठिन है| कर्मयोगी शीघ्र ही ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है, अर्थात सांख्ययोग में कर्मयोग की आवश्यकता है, पर कर्मयोग में सांख्ययोग की आवश्यकता नहीं है| इसलिये दोनों साधनों के कल्याण कारक होने पर भी भगवान् कर्मयोग को ही श्रेष्ठ बताते हैं|

कर्मयोगी लोक संग्रह के लिये कर्म करता है, 'लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि'| लोक संग्रह का तात्पर्य है, निःस्वार्थ भाव से लोक मर्यादा सुरक्षित रखने के लिये, लोगों को उन्मार्ग से हटाकर सन्मार्ग में लगाने के लिये कर्म करना अर्थात् केवल दूसरों के हित के लिये कर्म करना| इसी को भगवान् ने 'यज्ञार्थ कर्म' की संज्ञा दी है| जो केवल अपने लिये कर्म करता है, वह कर्म बंधन में बंध जाता है, परन्तु कर्मयोगी निःस्वार्थ भाव से केवल दूसरों के हित के लिये कर्म करता है, अतः वह कर्म बन्धन से सुगमता पूर्वक मुक्त हो जाता है| इसलिये कर्मयोग श्रेष्ठ है|

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ।।५-३।।

है जो नर रहित-द्वेष रहित-कामना योद्धा अर्जुन |
हैं यह लक्षण जो बनाएं नर सन्यासी अति पावन ||
रहता वह सदा सुखी और होता रहित कर्म बंधन ||५-३||

भावार्थ: *हे योद्धा अर्जुन, द्वेष एवं कामना से रहित होना प्राणी के अत्यंत पवित्र सन्यासी बनाने के लक्षण हैं| वह सदैव कर्म बंधन से रहित होकर सुखी रहता है|*

टीका: जो किसी भी प्राणी, पदार्थ, परिस्थिति, सिद्धान्त आदि से द्वेष नहीं करता, वह कर्मयोगी होता है| कर्मयोगी का कार्य है सब की सेवा करना, सब को सुख पहुँचाना| यदि उसका किसी के साथ किंचित मात्र भी द्वेष होगा तो उसके द्वारा कर्मयोग का आचरण नहीं हो सकेगा|

कर्मयोग में कामना का त्याग मुख्य है| कर्मयोगी किसी भी प्राणी, पदार्थ, परिस्थिति आदि की कामना नहीं करता| कामना त्याग और परहित में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है| निष्काम होने के लिये दूसरे का हित करना आवश्यक है| दूसरों के हित करने से कामना त्याग को बल मिलता है|

कर्मयोग में कर्ता निष्काम होता है, कर्म नहीं| क्योंकि जड़ होने के कारण कर्म स्वयं निष्काम या सकाम नहीं हो सकते| कर्म कर्ता के अधीन होते हैं, इसलिये कर्मों की अभिव्यक्ति कर्ता से ही होती है| निष्काम कर्ता के द्वारा ही निष्काम कर्म होते हैं, जिसे कर्मयोग कहते हैं| कर्ता के सर्वथा निष्काम होने पर कर्मयोग सिद्ध हो जाता है|

कर्म करते हुए भी कर्मों से किसी प्रकार का सम्बन्ध न रखना ही संन्यास है| कर्मों से किसी प्रकार का सम्बन्ध न रखने वाले को कर्मों का फल कभी किसी अवस्था में किंचित मात्र भी नहीं मिलता, 'न तु संन्यासिनां क्वचित्'| इसलिये शास्त्रविहित समस्त कर्म करते हुए भी कर्मयोगी सदा संन्यासी ही है| कर्मयोग का अनुष्ठान किए बिना सांख्ययोग का पालन करना कठिन है| इसलिये सांख्ययोग का साधक पहले कर्मयोगी होता है, फिर संन्यासी (सांख्ययोगी) होता है| परन्तु कर्मयोग के साधक के लिये सांख्ययोग का अनुष्ठान करना आवश्यक नहीं है| इसलिये कर्मयोगी आरम्भ से ही संन्यासी है| जिसमें राग, द्वेष का अभाव है, उसे संन्यास आश्रम में जाने की आवश्यकता नहीं है| कोई भी व्यक्ति, वस्तु, शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि अपनी नहीं है और अपने लिये भी नहीं है, ऐसा निश्चय होने के बाद राग, द्वेष मिटकर ऐसा ही यथार्थ अनुभव हो जाता है फिर व्यवहार में संसार से सम्बन्ध दिखने पर भी भीतर से (राग, द्वेष न रहने से) सम्बन्ध नहीं होता| यही 'पवित्र संन्यास' है| लौकिक अथवा पारलौकिक प्रत्येक कार्य करते समय कर्मयोगी का संसार से सर्वथा संन्यास रहता है, इसलिये वह

पवित्र संन्यासी है| संसार से सम्बन्ध विच्छेद अर्थात् लिप्तता का अभाव ही संन्यास है| कर्मयोगी में राग, द्वेष न रहने से संसार से लिप्तता नहीं रहती| अतः कर्मयोगी पवित्र संन्यासी है| कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग, तीनों ही योग-मार्गों में निर्द्वन्द्व होना अति आवश्यक है| जब तक द्वन्द्व है, तब तक मुक्ति नहीं होती| परमात्म-तत्व की प्राप्ति में राग और द्वेष, यह दो शत्रु हैं| निर्द्वन्द्व होने से यह दोनों मिट जाते हैं, और इनके मिटने से सुखपूर्वक परमात्म-तत्व की प्राप्ति हो जाती है| साधक सुखी होकर कर्म बंधन से मुक्ति प्राप्त कर लेता है, परमात्म-तत्व को प्राप्त कर लेता है|

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ।।५-४।।

हैं मूढ़ समझें सांख्य और कर्मयोग दें फल भिन्न।
पाएं परमात्म-तत्व करें किसी योग का अनुसरन ।।५-४।।

भावार्थ: *मूर्ख लोग सांख्ययोग एवं कर्मयोग को दो भिन्न फल देने वाला समझते हैं| किसी भी योग का अनुसरण करें, परमात्म-तत्व की प्राप्ति हो जाती है|*

टीका: कर्मों का स्वरूप से त्याग करके तत्वदर्शी महापुरुष के पास जाकर ज्ञान प्राप्त करने के साधन को 'कर्म संन्यास' कहते हैं| शरीर, शरीरी (आत्मा) के भेद विचार करके स्वरूप में स्थित होने को 'सांख्य' कहते हैं| इसलिए 'संन्यास' और 'सांख्य' पर्यायवाची हैं| यहां प्रभु कह रहे हैं कि जो सांख्ययोग और कर्मयोग को भिन्न फल देने वाला मानते हैं, वह मूर्ख हैं| पंडित लोग इन दोनों को पृथक नहीं कहते, क्योंकि वह दोनों साधनों की प्रणालियों को न देखकर उन दोनों के वास्तविक परिणाम को देखते हैं| यद्यपि साधन प्रणाली को देखते हुए स्वयं भगवान् ने सांख्ययोग और कर्मयोग को दो प्रकार का साधन अवश्य माना है, पर दोनों की केवल साधन प्रणाली पृथक है, साध्य पृथक नहीं है, 'एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्| दोनों ही, सांख्य योग एवं कर्मयोग, परमात्म-तत्व की प्राप्ति कराते हैं| अतः साधक कोई भी योग का अनुसरण करे, उसे परमात्म-तत्व की प्राप्ति अवश्य होगी|

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ।।५-५।।

सांख्य और कर्मयोगी करें प्राप्त एकल तत्व विद्वन् |
समझे जो सांख्य और कर्मयोग सम वही बुद्धिवन ||५-५||

भावार्थ: *सांख्ययोगी एवं कर्मयोगी को एक ही तत्व ज्ञान (परमात्म-तत्व) की प्राप्ति होती है| जो सांख्ययोग एवं कर्मयोग को समान समझता है, वही बुद्धिमान है|*

टीका: जो तत्व सांख्ययोगी प्राप्त करते हैं, वही तत्व कर्मयोगी भी प्राप्त करते हैं| प्रभु ने यहां सामान्य मान्यता कि कर्मयोग से कल्याण नहीं होता, कल्याण तो केवल ज्ञानयोग से ही होता है, इसको दूर कर दिया है| सांख्ययोगी और कर्मयोगी, दोनों का ही अन्त में कर्मों से अर्थात् क्रियाशील प्रकृति से सम्बन्ध विच्छेद होता है| प्रकृति से सम्बन्ध विच्छेद होने पर दोनों ही योग एक हो जाते हैं| साधन काल में भी सांख्ययोग का विवेक (जड़ चेतन का सम्बन्ध विच्छेद) कर्मयोगी को अपनाना पड़ता है, और कर्मयोग की प्रणाली (अपने लिये कर्म न करने की पद्धति) सांख्ययोगी को अपनानी पड़ती है| सांख्ययोग का विवेक प्रकृति, पुरुष का सम्बन्ध विच्छेद करने के लिये होता है, और कर्मयोग का कर्म संसार की सेवा के लिये होता है| सिद्ध होने पर सांख्ययोगी और कर्मयोगी, दोनों की एक जैसी ही स्थिति होती है क्योंकि दोनों ही साधकों की अपनी निष्ठाएँ हैं| संसार विषम है| घनिष्ठ से घनिष्ठ सांसारिक सम्बन्ध में भी विषमता रहती है| परन्तु परमात्मा सम हैं| अतः समरूप परमात्मा की प्राप्ति संसार से सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद होने पर ही होती है| संसार से सम्बन्ध विच्छेद करने के लिये दो योग मार्ग हैं, ज्ञानयोग और कर्मयोग| प्रभु कह रहे हैं कि मेरे सत्-स्वरूप में कभी अभाव नहीं होता, जबकि कामना, आसक्ति अभाव में ही पैदा होती है| ऐसा समझकर असंग हो जाना ज्ञानयोग है| जिन वस्तुओं में साधक का राग है, उन वस्तुओं को दूसरों की सेवा में लगा देना और जिन व्यक्तियों में राग है, उनकी निःस्वार्थ भाव से सेवा करना, यह कर्मयोग है| इस प्रकार ज्ञानयोग में विवेक विचार के द्वारा और कर्मयोग में सेवा के द्वारा संसार से सम्बन्ध विच्छेद

हो जाता है| जो मनुष्य इन दोनों साधनों को फल की दृष्टि से एक देखता है, वही बुद्धिमान है| यहां यह कहना उचित होगा कि भगवान् सांख्ययोग और कर्मयोग, दोनों को स्वतन्त्र साधन मानते हैं और दोनों का फल एक ही परमात्म-तत्व की प्राप्ति मानते हैं| इस वास्तविकता को न जानने वाले मनुष्य को भगवान् मूर्ख कहते हैं और इस तथ्य को जानने वाले को भगवान् यथार्थ (बुद्धिमान्) कहते हैं|

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ।।५-६।।

है दुर्लभ सिद्धि सांख्ययोग बिन कर्मयोग अर्जुन |
पा सकें तुरंत तत्व ज्ञान कर्मयोग से साधकजन ||
है यही साधन मुख्य करें जो प्राज्ञ मुनि अनुसरन ||५-६||

भावार्थ: *हे अर्जुन, बिना कर्मयोग के सांख्ययोग की सिद्धि कठिन है| साधकगण कर्मयोग से शीघ्र ही तत्व ज्ञान की प्राप्ति कर सकते हैं| ज्ञानी मुनि मुख्यतः इसी साधन का अनुसरण करते हैं|*

टीका: सांख्ययोग की सफलता के लिये कर्मयोग का साधन करना आवश्यक है, क्योंकि उसके बिना सांख्ययोग की सिद्धि दुर्लभ है| परन्तु कर्मयोग की सिद्धि के लिये सांख्ययोग का साधन करने की आवश्यकता नहीं है| यद्यपि सांख्ययोगी का लक्ष्य परमात्म-तत्व का अनुभव करना ही होता है, परन्तु राग रहते हुए इस साधन के द्वारा परमात्म-तत्व का अनुभव होना असंभव है| राग, ममता, द्वेष, ईर्ष्या, कामना इत्यादि से रहित होकर प्राणी निष्काम कर्म करते हुए जब तक कर्मयोगी नहीं हो जाता तब तक परमात्म-तत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती| अतः सांख्ययोगी के लिए भी परमात्म-तत्व की प्राप्ति के लिए कर्मयोग का अनुष्ठान करना आवश्यक है| कर्मयोग में प्रत्येक क्रिया दूसरों के हित के लिये ही की जाती है| दूसरों के हित का भाव होने से अपना राग स्वतः मिट जाता है| इसलिये कर्मयोग के आचरण द्वारा राग मिटाकर सांख्ययोग का साधन करना सुगम है| कर्मयोग का साधन किए बिना सांख्ययोग का सिद्ध होना कठिन है|

निष्काम भाव का और दूसरों के हित का मनन करने वाले कर्मयोगी को मुनि कहा गया है| कर्मयोगी छोटी या बड़ी प्रत्येक क्रिया को करते समय यह ध्यान रखता है कि उसका भाव निष्काम है या सकाम? सकाम भाव आते ही वह उसे मिटा देता है, क्योंकि सकाम भाव आते ही वह क्रिया अपने लिये हो जाती है, दूसरों के हित के लिए नहीं| इस प्रकार मनन करने से राग का त्याग सुगमता से होता है| भगवान् कर्मयोग की विशेषता बताते हुए कह रहे हैं कि कर्मयोगी शीघ्र ही परमात्म-तत्व को प्राप्त कर लेता है|।परमात्म-तत्व की प्राप्ति में विलम्ब का कारण है, संसार का राग| निष्कामभाव पूर्वक केवल दूसरों के हित के लिये कर्म करते रहने से कर्मयोगी के राग का सर्वथा अभाव हो जाता है, और राग का सर्वथा अभाव होने पर स्वतः सिद्ध परमात्म-तत्व की अनुभूति हो जाती है|

स्मरण रहे कि देहधारी देहाभिमानी मनुष्य सम्पूर्ण कर्मों का त्याग नहीं कर सकता| जो कर्म फल का त्यागी है, वह त्यागी कहलाता है| इसका तात्पर्य है कि देहधारी कर्मों का त्याग तो नहीं कर सकता, पर कर्मफल की फलेच्छा का त्याग तो कर ही सकता है| इसलिये कर्मयोग में सुगमता हो जाती है|

कर्मयोग की महिमा में भगवान् कहते हैं कि कर्मयोगी को तत्काल ही शान्ति प्राप्त हो जाती है, 'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'| वह संसार के बन्धन से सुखपूर्वक मुक्त हो जाता है, 'सुखं बन्धात्प्रमुच्यते'| अतः कर्मयोग का साधन सुगम, शीघ्र सिद्धि दायक और किसी अन्य साधन के बिना परमात्म-तत्व की प्राप्ति कराने वाला स्वतन्त्र साधन है|

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ।।५-७।।

हो जितेन्द्रिय कर सकें वश तन जो निर्मल आत्म जन |
देखें हरि हर प्राणी नहीं होते लिप्त वह कर्म बंधन ||५-७||

भावार्थ: *जिस निर्मल आत्म-स्वरुप मनुष्य ने अपनी इन्द्रियों एवं शरीर को वश में कर लिया है, हर प्राणी में ईश्वर देखता है, वह कर्म बंधन में लिप्त नहीं होता|*

टीका: इन्द्रियाँ वश में होने का तात्पर्य है, इन्द्रियों का राग, द्वेष से रहित होना| राग, द्वेष से रहित होने पर इन्द्रियों में मन को विचलित करने की शक्ति नहीं रहती, 'यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्य', 'तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य'| कर्मयोगी का कर्मों के साथ अधिक सम्बन्ध रहता है, इसलिये इन्द्रियाँ वश में न होने से उसके विचलित होने की सम्भावना रहती है|

साधक का अंतःकरण निर्मल होना चाहिए| अन्तःकरण की मलिनता में सांसारिक पदार्थों का महत्व हेतु है| जहां सांसारिक पदार्थों का महत्व रहता है, वहीं उनकी कामनाएँ रहती हैं| साधक निष्काम तभी होता है, जब उसके अन्तःकरण में सांसारिक पदार्थों का महत्व नहीं रहता| परमात्म-तत्व की प्राप्ति के दृढ़ उद्देश्य में अन्तःकरण की शुद्धि आवश्यक है|

कर्मयोग में शरीर के सुख आराम का त्याग करने की भी अत्यंत आवश्यकता है| अगर शरीर में आलस्य, प्रमाद होगा, तो कर्मयोग का अनुष्ठान नहीं हो पाएगा| कर्मयोगी को सम्पूर्ण प्राणियों के साथ एकता का अनुभव होना आवश्यक है, 'सर्वभूतात्मभूतात्मा'| कर्मयोगी के द्वारा दूसरों को सुख पहुँचाने की चेष्टा सहज भाव से किसी अभिमान या कामना के बिना होती है| वह सेवा करने के लिये किसी भी प्राणी को अपने से अलग नहीं समझता, सब को अपना ही अंग मानता है| जैसे अपने शरीर में भिन्न भिन्न अवयवों से भिन्न भिन्न व्यवहार होने पर भी सब अवयवों के साथ अपनापन समान (एक ही) रहता है, ऐसे ही कर्मयोगी के द्वारा मर्यादा के अनुसार संसार में यथायोग्य भिन्न भिन्न व्यवहार होने पर भी सबके साथ अपनापन समान रहता है| अपना राग मिटाने के लिये सब प्राणियों के साथ अपनी एकता मानना बहुत आवश्यक है| कर्मयोगी का स्वभाव है, उदारता| 'सर्वभूतात्मभूतात्मा' हुए बिना उदारता नहीं आती|

जितेन्द्रिय, विशुद्धात्मा, विजितात्मा और सर्वभूतात्मभूतात्मा, इन चार पूर्वोक्त लक्षणों से युक्त जो प्राणी है वही योगयुक्त, अर्थात कर्मयोगी है| कर्मयोग साधन में स्वाभाविक प्रवृत्ति न होने के कारण उद्देश्य और रुचि में भिन्नता है| जब तक अन्तःकरण में संसार का महत्व है, तब तक उद्देश्य और रुचि का संघर्ष प्रायः नहीं मिटता| इसमें उद्देश्य अविनाशी परमात्मा का होता है, और रुचि प्रायः

नाशवान् संसार के प्राणी, पदार्थ, परिस्थिति आदि की होती है| उद्देश्य और रुचि अभिन्न हो जाने पर साधन स्वतः होने लगता है| कर्मयोगी वही है जिसका उद्देश्य और रुचि अभिन्न हैं| निःसंदेह फल और उद्देश्य दोनों भिन्न भिन्न होते हैं| कर्मयोगी में फल की इच्छा तो नहीं होती, पर उद्देश्य अवश्य होता है| कर्मयोगी का उद्देश्य सदा परमात्म-तत्व प्राप्ति का होता है| परमात्म-तत्व किसी कर्म, अभ्यास आदि का फल नहीं है| फल उत्पन्न और नष्ट होने वाला होता है, पर परमात्मा नित्य रहते हैं| उत्पन्न और नष्ट होने वाली वस्तु को कर्मयोगी नहीं चाहता, क्योंकि उसकी चाहना ही परमात्म-तत्व प्राप्ति में बाधक है|

कर्मयोगी कर्म करते हुए भी कर्मों से नहीं बँधता| कर्मों के बन्धन में निहित कर्मों के प्रति ममता, कर्मों के फल की इच्छा, कर्मजन्य सुख की इच्छा तथा उसका भोग और कर्तृत्वाभिमान के कारण होते हैं| सारांश में, कर्मों से कुछ न कुछ पाने की इच्छा ही बन्धन का कारण है| किंचित मात्र भी पाने की इच्छा न होने के कारण कर्मयोगी कर्म करते हुए भी उनसे नहीं बँधता अर्थात् उसके कर्म, अकर्म हो जाते हैं| सांख्ययोगी तो 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते', गुण ही गुणों में विद्यमान हैं, ऐसा मानकर कर्मों से नहीं बँधता, पर कर्मयोगी परहित के लिये कर्म करने के कारण कर्मों से नहीं बँधता| केवल दूसरों के लिये कर्म किए जाने से उसके कर्म भी 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' की तरह ही हो जाते हैं| कर्मयोगी कर्म करते समय तो निर्लिप्त रहता ही है, वह कर्म न करते समय भी निर्लिप्त रहता है| उसका कर्म करने अथवा न करने का कोई प्रयोजन नहीं रहता| वह सदा ही निर्लिप्त रहता है| इसका तात्पर्य है कि सांख्ययोगी जड़ता का त्याग करके चिन्मयता के साथ अपनी एकता मानता है, और कर्मयोगी अपने कहलाने वाले शरीर, मन, इन्द्रियाँ आदि की संसार के साथ एकता मानता है, अर्थात् पदार्थ, शरीर, मन, इन्द्रियाँ, आदि को और उनकी क्रियाओं को अपनी नहीं मानता| वह उनको संसार की और संसार के लिये ही मानता है। कर्मयोगी जब पदार्थ, मन, बुद्धि आदि को और उनकी क्रियाओं को केवल संसार का ही मानता है, तो उसके द्वारा किसी का हित हो गया, किसी को सुख पहुँचा, किसी का उपकार हो गया तो वह 'मैंने किया' 'मेरे द्वारा ऐसा हुआ', इस भाव से दूर रहता है| इसलिये वह कर्म करता हुआ भी कर्ता नहीं होता, अर्थात् कर्मों से लिप्त नहीं होता|

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यन् श्रृणवन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन् श्वसन् ।।५-८।।
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ।।५-९।।

पाए सांख्ययोगी ब्रह्म करे जब इस विधि का अनुसरन |
हर काल जब छुए सूंघे देखे बैठे चले खाए भोजन ||५-८||
सुने बोले सोए ले श्वास करे जब मल मूत्र विसर्जन |
खोलते अथवा करते बंद नैन रखे हिय यह धारन ||
हूँ नहीं मैं कर्ता कभी इन सब इन्द्रियों के करन ||५-९||

भावार्थ: *सांख्ययोगी परमात्म-तत्व की प्राप्ति इस विधि के अनुसरण से प्राप्त कर सकता है| हर काल जब वह देखे, सुने, सूंघे, बैठे, चले, भोजन ग्रहण करे, बोले, मल मूल विसर्जन करे, सोए, श्वास ले, नेत्र बंद अथवा खोले, अपने हृदय में यह भाव रखे कि मैं इन इन्द्रिय कर्मों का कर्ता नहीं हूँ|*

टीका: सांख्ययोग के विवेकशील साधक को यदि परमात्म-तत्व प्राप्ति की इच्छा है तो उसमें ऐसा विवेक जाग्रत् होना चाहिए कि सब क्रियाएँ प्रकृति से ही हो रही हैं| उन क्रियाओं का मेरे साथ कोई सम्बन्ध नहीं है| किंचित मात्र भी किसी क्रिया के कर्तापन का अनुभव नहीं होना चाहिए| जब कर्तापन की मान्यता का सर्वथा अभाव हो जाता है तो वह तत्ववित् महापुरुष कहा जाता है|

देखना, सुनना, स्पर्श करना, सूँघना और खाना, ये पाँचों क्रियाएँ (क्रमशः नेत्र, श्रोत्र, त्वचा, घ्राण और रसना) ज्ञानेन्द्रियों की हैं| चलना, ग्रहण करना, बोलना और मल, मूत्र का त्याग करना, यह चारों क्रियाएँ (क्रमशः पाद, हस्त, वाक्, उपस्थ और गुदा) कर्मेन्द्रियों की हैं| सोना, एक अन्तःकरण की क्रिया है| श्वास लेना, प्राण क्रिया है| आँखें खोलना तथा मूँदना, ये दो क्रियाएँ 'कूर्म' उपप्राण की हैं| भगवान् ने यहां इन १३ क्रियाएं, जो ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, अन्तःकरण, प्राण और उपप्राण से होने वाली हैं, का उल्लेख किया है| सम्पूर्ण क्रियाएँ प्रकृति के

कार्य शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण आदि के द्वारा ही होती हैं, स्वयं के द्वारा नहीं|

भगवान् कह रहे हैं कि सम्पूर्ण क्रियाएँ इन्द्रियों के द्वारा इन्द्रियों के विषयों में ही हो रही हैं| भगवान् का तात्पर्य इन्द्रियों में कर्तृत्व बताने में नहीं है, प्रत्युत स्वरूप को कर्तृत्व रहित (निर्लिप्त) बताने में है| ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, अन्तःकरण, प्राण, उपप्राण आदि सब को यहाँ 'इन्द्रियों' के अन्तर्गत लिया गया है|

गुणों का कार्य होने से इन्द्रियों और उनके विषयों को 'गुण' ही कहा जाता है। गुणों के अतिरिक्त दूसरा कोई कर्ता नहीं है, 'नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति'| तात्पर्य यह है कि क्रिया को चाहे प्रकृति से होने वाली कहें, चाहे प्रकृति के कार्य गुणों के द्वारा होने वाली कहें, चाहे इन्द्रियों के द्वारा होने वाली कहें, बात वास्तव में एक ही है| क्रिया का तात्पर्य है, परिवर्तन| परिवर्तन रूप क्रिया प्रकृति में ही होती है| स्वरूप में परिवर्तन रूप क्रिया लेशमात्र भी नहीं है, क्योंकि प्रकृति निरन्तर क्रियाशील है, और स्वरूप कर्तापन से रहित है| प्रकृति कभी अक्रिय नहीं हो सकती और स्वरूप में कभी क्रिया नहीं हो सकती| क्रिया प्रकाश्य है, और स्वरूप प्रकाशक है|

सांख्ययोगी शरीर, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण आदि के साथ कभी अपना सम्बन्ध नहीं मानता, इसलिये वह कर्मों का कर्तापन स्वयं में कभी अनुभव नहीं करता | जब अपने में कर्तापन का भाव नहीं रहता, तब उसके द्वारा होने वाले कर्मों की संज्ञा 'कर्म' नहीं रहती, प्रत्युत 'क्रिया' रहती है| इसे 'चेष्टा' कहा जाता है|

सुख, दुःख का अनुभव भोक्ता को स्वयं पुरुष (चेतन) से होता है, अर्थात् सुखी, दुःखी तो स्वयं पुरुष (चेतन) ही होता है जड़ नहीं, क्योंकि जड़ में सुखी, दुःखी होने की शक्ति और योग्यता नहीं है| भोग के समय जो भोगाकार सुख, दुःख वृत्ति बनती है, वह तो प्रकृति की होती है, और प्रकृति से ही होती है| परन्तु उस वृत्ति के साथ तादात्म्य होने से सुखी, दुःखी होना अर्थात् 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ', ऐसी मान्यता अपने में स्वयं पुरुष ही करता है| यह मानना कि यह अनुभव पुरुष के बिना नहीं होता, अर्थात् यह पुरुष में ही हो सकता है जड़ में नहीं, इस

दृष्टि से पुरुष भोक्ता कहा गया है| सुखी, दुःखी होना अर्थात् सुख के समय सुखी और दुःख के समय दुःखी, ऐसी मान्यता अपने में करने पर भी पुरुष स्वयं अपने स्वरूप से निर्लिप्त और सुख, दुःख का प्रकाशक ही रहता है, इस दृष्टि से पुरुष में भोक्तापन नहीं है| एकदेशीयपन से ही भोक्तापन होता है, और एकदेशीयपन अहंकार से होता है| अहंकार प्रकृति का कार्य है और प्रकृति जड़ है, अतः उसका कार्य भी जड़ ही होता है, अर्थात् भोक्तापन भी जड़ ही होता है। इसलिये भोक्तापन पुरुष (चेतन) में नहीं है| अगर पुरुष सुख के समय सुखी और दुःख के समय दुःखी होता है तो इसका स्वरूप परिवर्तनशील ही होता है, क्योंकि सुख का भी आरम्भ और अन्त होता है तथा दुःख का भी आरम्भ और अन्त होता है| ऐसे ही यह पुरुष भी आरम्भ और अन्त वाला हो जाता है, जो कि सर्वथा अनुचित है| प्रभु ने इसको अक्षर, अव्यय और निर्लिप्त कहा है, और तत्वज्ञ पुरुषों ने इसका स्वरूप एक रस, एक रूप माना है|

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ।।५-१०।।

त्याग कामना करे जो सम्पूर्ण कर्म समर्पण भगवन|
होता नहीं लिप्त अघ सम पत्र कमल जल उस भक्तजन ||५-१०||

भावार्थ: *आसक्ति त्याग कर जो भक्त अपने सम्पूर्ण कर्म प्रभु को समर्पित कर देता है, जैसे कमल पत्र जल से लिप्त नहीं होता उसी प्रकार वह पाप से लिप्त नहीं होता (अर्थात जिस प्रकार जल में रहते हुए कमल पत्र को जल स्पर्श नहीं करता, उसी प्रकार भक्त को संसार में रहते हुए भी सांसारिक पाप स्पर्श नहीं करते|)*

टीका: शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण आदि सब भगवान् के ही हैं, अपने नहीं, अतः इनके द्वारा होने वाली क्रियाओँ को भक्तयोगी अपनी नहीं मानता| क्रियाओं पर हमारा स्वतन्त्र अधिकार नहीं है अर्थात् इनको अपनी इच्छानुसार न तो हम कर सकते हैं, न बदल सकते हैं और न मरने पर उनके परिणामों को साथ ले जा सकते हैं| इसलिये यह शरीरादि तथा इनसे होने वाली क्रियाओँ

अपनी नहीं हैं| सम्पूर्ण क्रियाओँ और पदार्थों को कर्मयोगी 'संसार' को, ज्ञानयोगी 'प्रकृति' को और भक्तयोगी 'भगवान्' को अर्पण करता है| प्रकृति और संसार, दोनों के ही स्वामी भगवान् हैं, अतः क्रियाओँ और पदार्थों को भगवान् को अर्पण करना ही श्रेष्ठ है|

किसी भी प्राणी, पदार्थ, शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण, क्रिया आदि में किंचित मात्र भी राग, खिंचाव, आकर्षण, लगाव, महत्व, ममता, कामना आदि का न रहना ही आसक्ति का सर्वथा त्याग करना है|।

'आसक्ति' ही जन्म-मरण का मुख्य हेतु है, 'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'| आसक्ति के कारण ही अज्ञान है, इसलिये आसक्ति मिटने पर अज्ञान भी मिट जाता है| आसक्ति से ही कामना पैदा होती है, 'सङ्गात्संजाएते कामः'| कामना ही सम्पूर्ण पापों की जड़ है| इसलिये प्रभु पापों के मूल कारण आसक्ति का त्याग करने की बात कह रहे हैं| आसक्ति के रहते मनुष्य पापों से बच नहीं सकता और इसके न रहने से मनुष्य पापों से लिप्त नहीं होता| किसी भी क्रिया को करते समय क्रियाजन्य सुख लेने से तथा उसके फल में आसक्त रहने से उस क्रिया का सम्बन्ध नहीं छूटता, प्रत्युत छूटने की अपेक्षा और बढ़ता है| किसी भी छोटी या बड़ी क्रिया के फल रूप में कोई वस्तु चाहना ही आसक्ति नहीं है, प्रत्युत क्रिया करते समय भी अपने में महत्व का, अच्छेपन का अनुभव करना और दूसरों से अच्छा कहलवाने का भाव रखना भी आसक्ति ही है| इसलिये अपने लिये कुछ भी नहीं करना है| जिस कर्म से अपने लिये किसी प्रकार का किंचित मात्र भी सुख पाने की इच्छा है, वह कर्म अपने लिये हो जाता है| अपनी सुख, सुविधा और सम्मान की इच्छा का सर्वथा त्याग करके कर्म करना ही श्रेष्ठ है| जैसे कमल का पत्ता जल में उत्पन्न होकर और जल में रहकर भी जल से निर्लिप्त रहता है, ऐसे ही भक्तयोगी संसार में रहकर सम्पूर्ण क्रियाएँ करने पर भी भगवान् के सम्मुख होने के कारण संसार में सर्वदा सर्वथा निर्लिप्त रहता है| भगवान् से विमुख होकर संसार की कामना करना ही सब पापों का मुख्य हेतु है| भक्तयोगी उस पाप, पुण्य रूप फल से कभी लिप्त नहीं होता अर्थात् बँधता नहीं|

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ।।५-११।।

त्याग आसक्ति करे कर्मयोगी कर्म द्वारा वयुन।
करें यह कर्म शुद्ध इन्द्रिय तन मन और अन्तःकरन ।।५-११।।

भावार्थ: *कर्मयोगी आसक्ति त्याग कर बुद्धि द्वारा जो कर्म करता है, उससे इन्द्रिय, शरीर, मन और अन्तःकरण की शुद्धि होती है|*

टीका: यहां प्रभु कर्मयोगी की परिभाषा दे रहे हैं| जो साधक भगवद अर्पित बुद्धि से आसक्ति त्यागकर कर्म करते हैं, वह भक्तयोगी कहलाते हैं| परन्तु जो साधक केवल संसार की सेवा के लिये निष्कामभाव पूर्वक कर्म करते हैं, वह कर्मयोगी कहलाते हैं| कर्मयोगी अपने शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि से कर्म करते हुए भी उन्हें अपना नहीं मानता, प्रत्युत संसार का ही मानता है|

कर्मयोग की साधना में फल की इच्छा का त्याग मुख्य है| साधारण लोग फल की प्राप्ति के लिये कर्म करते हैं, पर कर्मयोगी फल की आसक्ति को मिटाने के लिये कर्म करता है| जैसे वर्षा बरसती है और उससे लोगों का हित होता है, परन्तु उसमें ऐसा भाव नहीं होता कि मैं बरसती हूँ, मेरी वर्षा के कारण दूसरों का हित हो रहा है अथवा सुख मिल रहा है| ऐसे ही इन्द्रियों आदि के द्वारा होने वाले हित में भी अपनेपन का अनुभव न हो|

साधारणतः मल, विक्षेप और आवरण दोष के दूर होने को अन्तःकरण की शुद्धि माना जाता है| परन्तु वास्तव में अन्तःकरण की शुद्धि है, शरीर, इन्द्रियाँ, मन से ममता का सर्वथा मिट जाना| शरीरादि कभी नहीं कहते कि हम तुम्हारे हैं और तुम हमारे हो| हम ही उनको अपना मान लेते हैं| उनको अपना मानना ही अशुद्धि है, 'ममता मल जरि जाइ'| अतः शरीरादि के प्रति अहंता ममता पूर्वक माने गए सम्बन्ध का सर्वथा अभाव ही आत्म-शुद्धि है| अन्तःकरण की शुद्धि के लिये (अपनापन सर्वथा हटाने के उद्देश्य से) शरीर, इन्द्रियाँ, मन को अपना न मानने पर भी इनमें सूक्ष्म अपनापन रह जाता है| उस सूक्ष्म अपनेपन का सर्वथा

मिटना ही आत्म-शुद्धि, अर्थात् अन्तःकरण की शुद्धि है| अहंता में भी ममता रहती है| ममता सर्वथा मिटने पर जब अहंता में भी ममता नहीं रहती, तब सर्वथा शुद्धि हो जाती है|

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ।।५-१२।।

त्याग कर्म फल पाए कर्मयोगी परम शान्ति पावन |
सकाम नर जो युक्त कामना बंधे वह कर्म बन्धन ||५-१२||

भावार्थ: *कर्मयोगी साधक कर्म फल की इच्छा त्याग कर परम शान्ति पाता है| सकाम पुरुष कामनाओं (इच्छाओं) से आसक्त होकर कर्म बंधन में बंध जाता है|*

टीका: यहाँ कर्म फल का त्याग करने का तात्पर्य फल की इच्छा, आसक्ति का त्याग करना है| वास्तव में त्याग कर्म फल का नहीं, प्रत्युत कर्म फल की इच्छा का होता है| कर्म फल की इच्छा का त्याग करने का अर्थ है किसी भी कर्म और कर्म फल से अपने लिये कभी किंचित मात्र भी किसी प्रकार का सुख लेने की इच्छा न रखना| कर्म करने से एक तो तात्कालिक सुख मिलता है, और दूसरा परिणाम में वांछित फल मिलता है| इन दोनों ही इच्छा का त्याग करना कर्म फल की इच्छा का त्याग करना है|

संचित कर्मों के अनुसार प्रारब्ध बनता है, प्रारब्ध के अनुसार मनुष्य का जन्म होता है, और मनुष्य जन्म में नए कर्म होने से नए कर्म संस्कार संचित होते हैं| परन्तु कर्म फल की आसक्ति का त्याग कर कर्म करने से कर्म भुने हुए बीज की तरह संस्कार उत्पन्न करने में असमर्थ हो जाते हैं और उनकी संज्ञा 'अकर्म' हो जाती है| वर्तमान में निष्काम भाव पूर्वक किए कर्मों के प्रभाव से पुराने कर्म संस्कार (संचित कर्म) भी समाप्त हो जाते हैं| इस प्रकार उसके पुनर्जन्म का कारण ही समाप्त हो जाता है|

कर्म फल चार प्रकार के होते हैं|

(१) 'दृष्ट कर्म फल': वर्तमान में किए जाने वाले कर्मों का फल जो तत्काल प्रत्यक्ष मिलता हुआ दिखता है, जैसे भोजन करने से तृप्ति होना, आदि।

(२) 'अदृष्ट कर्म फल': वर्तमान में किए जाने वाले कर्मों का फल जो संचित रूप से संगृहीत होता है, पर भविष्य में इस लोक और परलोक में अनुकूलता या प्रतिकूलता के रूप में मिलता है|

(3) 'प्राप्त कर्म फल': प्रारब्ध के अनुसार वर्तमान में मिले हुए शरीर, जाति, वर्ण, धन, सम्पत्ति, अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति, आदि|

(४) 'अप्राप्त कर्म फल': प्रारब्ध कर्म के फल रूप में जो अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति भविष्य में मिलने वाली हैं|

उपर्युक्त चार प्रकार के कर्म फलों में दृष्ट और अदृष्ट कर्मफल 'क्रियमाण कर्म' के अधीन हैं तथा प्राप्त और अप्राप्त कर्म फल 'प्रारब्ध कर्म' के अधीन हैं| कर्म फल का त्याग करने का अर्थ है, दृष्ट कर्म फल का आग्रह नहीं रखना तथा मिलने पर प्रसन्न या अप्रसन्न न होना, अदृष्ट कर्म फल की आशा न रखना, प्राप्त कर्म फल में ममता न करना तथा मिलने पर सुखी या दुःखी न होना, अप्राप्त कर्म फल की कामना न करना, जैसे कि मेरा दुःख मिट जाए और सुख हो जाए आदि| साधारण मनुष्य किसी न किसी कामना को लेकर ही कर्मों का आरम्भ करता है और कर्मों की समाप्ति तक उस कामना का चिन्तन करता रहता है| परन्तु कर्मयोगी फल की इच्छा का त्याग करके कर्म करता है|

यहाँ स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि अगर कोई इच्छा ही न हो तो कर्म करें ही क्यों? इसके उत्तर में सबसे पहली बात तो यह है कि कोई भी मनुष्य किसी भी अवस्था में कर्मों का सर्वथा त्याग नहीं कर सकता| यदि ऐसा मान भी लिया जाए कि मनुष्य बहुत अंशों में कर्मों का स्वरूप से त्याग कर सकता है, तो भी मनुष्य के भीतर जब तक संसार के प्रति राग है, तब तक वह शान्ति से (कर्म किए

बिना) नहीं बैठ सकता| उससे विषयों का चिन्तन अवश्य होगा, जो कि कर्म है| विषयों का चिन्तन होने से वह क्रमशः पतन की ओर चला जाएगा| इसलिये जब तक राग का सर्वथा अभाव नहीं हो जाता, तब तक मनुष्य कर्मों से छूट नहीं सकता| कर्म करने से पुराना राग मिटता है और निःस्वार्थ भाव से केवल परहित के लिये कर्म करने से नया राग पैदा नहीं होता| निष्काम भाव से अर्थात् फल की कामना न रखकर लोक हितार्थ कर्म करने से कर्मों से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है| कर्मयोगी के कर्म उद्देश्यहीन नहीं होते, प्रत्युत परमात्म-तत्व की प्राप्ति का महान् उद्देश्य रखकर ही वह लोक हितार्थ सब कर्म करता है| उसके कर्मों का लक्ष्य परमात्म-तत्व रहता है, सांसारिक पदार्थ नहीं| शरीर में ममता न रहने से उसमें आलस्य, अकर्मण्यता आदि दोष नहीं आते, प्रत्युत वह कर्मों को सुचारु रूप से और तत्परता के साथ करता है|

यह बात अनुभव सिद्ध है कि सांसारिक पदार्थों की कामना और ममता के त्याग से शान्ति मिलती है| सुषुप्ति अवस्था में जब संसार की विस्मृति हो जाती है तब उसमें भी शान्ति का अनुभव होता है| उसी प्रकार यदि जाग्रत अवस्था में ही संसार का सम्बन्ध विच्छेद (कामना, ममता का त्याग) हो जाए तो शान्ति अवश्य मिलेगी| स्मरण रहे कि इस शान्ति का उपभोग करने से, अर्थात् इसमें सुख लेने से और इसे ही लक्ष्य मान लेने से साधक इस शान्ति के फलस्वरूप मिलने वाली नैष्ठिकी शान्ति, अर्थात् परम शान्ति से वंचित रह जाता है| शान्ति ध्येय नहीं है, प्रत्युत परम शान्ति का हेतु है, 'योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते|'

संसार के सम्बन्ध विच्छेद से होने वाली शान्ति सत्त्वगुण से सम्बन्ध रखने वाली सात्त्विक शान्ति है| जब तक साधक इस शान्ति का भोग करता है और इस शान्ति से 'मुझ में शान्ति है', इस प्रकार अपना सम्बन्ध मानता है, तब तक परिच्छिन्नता रहती है, और जब तक परिच्छिन्नता रहती है तब तक अखण्ड एक रस रहने वाली वास्तविक शान्ति का अनुभव नहीं होता|

जो कर्मयोगी नहीं है, प्रत्युत कर्मी है, ऐसा सकाम पुरुष नई नई कामनाओं के कारण फल में आसक्त होकर कर्म करते हुए जन्म-मरण रूप बन्धन में पड़ जाता है| कामना मात्र से कोई भी पदार्थ नहीं मिलता। अगर मिलता भी है तो

सदा साथ नहीं रहता। प्रत्यक्ष होने पर भी पदार्थों की कामना रखना प्रमाद ही है| गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं:

अंतहुँ तोहि तजैंगे पामर तू न तजै अबही ते।

इसका अर्थ यह नहीं कि पदार्थों को स्वरूप से छोड़ दें| अगर स्वरूप से छोड़ने पर ही मुक्ति होती तो मरने वाले (शरीर छोड़ने वाले) सभी मुक्त हो जाते क्योंकि मरने पर पदार्थ तो अपने आप ही स्वरूप से छूट जाते हैं| वास्तव में उन पदार्थों में जो कामना, ममता और आसक्ति है, उसी को छोड़ना है, क्योंकि पदार्थों से कामना, ममता, आसक्ति माना हुआ सम्बन्ध ही जन्म-मरण रूप बन्धन का कारण है| कर्मयोग के आचरण से (कर्मों का प्रवाह केवल परहित के लिये होने से) यह माना हुआ सम्बन्ध सुगमता से छूट जाता है|

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ।।५-१३।।

रहे सुखी वह साधक संयमी नवद्वार नगर तन|
कर सके जब वह पूर्ण त्याग कर्म तन मन वचन||
समझो उसे सांख्ययोगी तुम हे शूरवीर अर्जुन||
जाने यह सत्य वह प्रमत न करे न करवाए यह करन ||५-१३||

भावार्थ: *हे शूरवीर अर्जुन, जो साधक सब कर्मों को तन, मन, वचन से त्याग कर सकता है वह संयमी पुरुष नवद्वार शरीर नगर में सुख से रहता है| वह बुद्धिमान इस सत्य को समझता है कि वह न कर्म करता है और न करवाता है| उसे सांख्ययोगी समझो|*

टीका: दो कान, दो नेत्र, दो नासिका छिद्र तथा एक मुख, ये सात द्वार शरीर के ऊपरी भाग के एवं मल, मूत्र का त्याग करने के लिये गुदा और उपस्थ, ये दो द्वार शरीर के निचले भाग के, इन्हें नवद्वार नगर से सम्बोधित किया जाता है| इन नौ द्वार वाले शरीर में सांख्ययोगी सभी कर्मों का तन, मन, वचन से त्याग

कर सुखी रहता है| तन, मन, वचन से त्यागने का तात्पर्य निष्काम भावना से लोक कल्याण हित के लिए कर्म करना है| चूंकि सांख्ययोगी निष्काम भावना से कर्म करता है, अतः वह शरीर में होने वाली क्रियाओं को अपनी क्रियाएँ नहीं मानता| विवेक पूर्वक मन से क्रियाओं के कर्तापन का त्याग करना, अर्थात् कर्तापन से माने हुए सम्बन्ध का त्याग करना, सांख्ययोगी का धर्म है| सांख्ययोगी अपने में कर्तापन न मानकर उसे शरीर में ही छोड़ देता है, अर्थात् कर्तापन शरीर में ही है, अपने में कभी नहीं, ऐसा विचार रखता है|

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ।।५-१४।।

नहीं रचते हरि संयोग कर्म कर्म फल और कर्तापन |
हैं यह सब कार्य प्रकृति समझ भली भांति अर्जुन ||५-१४||

भावार्थ: *कर्म, कर्म फल और कर्तापन के संयोग को प्रभु नहीं रचते| हे अर्जुन, यह कार्य प्रकृति का है, इसे भली भांति समझ|*

टीका: किसी भी कर्म, कर्म फल एवं कर्तापन का सम्बन्ध भगवान् का बनाया हुआ नहीं है| मनुष्य स्वयं ही कर्मों के कर्तापन की रचना करता है| सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के द्वारा ही किए जाते हैं, परन्तु मनुष्य अज्ञानवश प्रकृति से तादात्म्य कर लेता है और उसके द्वारा होने वाले कर्मों का कर्ता समझ बैठता है, 'नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्ववित्'| भगवान् ऐसा कोई विधान नहीं रचते जिससे अमुक जीव को अमुक शुभ अथवा अशुभ कर्म करना पड़े| यदि ऐसा विधान भगवान् कर देते तो विधि निषेध बताने वाले शास्त्र, गुरु, शिक्षा आदि सब व्यर्थ हो जाते, उनकी कोई सार्थकता ही नहीं रहती और कर्मों का फल भी जीव को नहीं भोगना पड़ता,'न कर्माणि|' मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है|

जीव जैसा कर्म करता है, वैसा फल उसे भोगना पड़ता है| जड़ होने के कारण कर्म स्वयं अपना फल भुगताने में असमर्थ हैं| अतः कर्मों के फल का विधान भगवान् करते हैं, 'लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्'| भगवान् कर्मों

का फल तो अवश्य देते हैं, पर उस फल के साथ अपना सम्बन्ध नहीं जोड़ते| जीव अज्ञानवश कर्मों का कर्ता बनकर और कर्म फल में आसक्त होकर कर्म फल के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है, और इसी से सुखी, दुःखी होता है| यदि वह कर्म फल के साथ स्वयं अपना सम्बन्ध न जोड़े, तो वह कर्म फल के सम्बन्ध से मुक्त रह सकता है|

प्रभु कहते हैं कि 'मा कर्मफलहेतुर्भूः' अर्थात् कर्मफल का हेतु भी मत बन| अर्थात सुखी, दुःखी होना अथवा न होना और कर्म फल का हेतु बनना अथवा न बनना मनुष्य के हाथ में ही है|

कर्तापन, कर्म और कर्म फल का सम्बन्ध मनुष्य अपने स्वभाव के वश में होकर करता है| जब तक स्वभाव में राग, द्वेष रहते हैं, तब तक स्वभाव शुद्ध नहीं होता| जब तक स्वभाव शुद्ध नहीं होता, तब तक जीव स्वभाव के वशीभूत रहता है| इसी कारण मनुष्यों को अपनी प्रकृति अर्थात् स्वभाव के वशीभूत होकर कर्म करने पड़ते हैं| जब तक प्रकृति अर्थात् स्वभाव से जीव का सम्बन्ध माना हुआ है, तब तक कर्तापन, कर्म और कर्म फल के साथ संयोग, इन तीनों में जीव की परतन्त्रता बनी रहेगी जो जीव की ही बनाई हुई है| वह स्वयं इनका त्याग कर निर्लिप्तता का अनुभव कर सकता है|

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ।।५-१५।।

नहीं करते ग्रहण हरि शुभ और अशुभ कर्म भूजन |
आवरण अज्ञान से रहे ढका ज्ञान जानो यह अर्जुन ||
हो अज्ञानी इस हेतु मोहित होता साधक जीवन ||५-१५||

भावार्थ: *प्रभु किसी के शुभ एवं अशुभ कर्मों को ग्रहण नहीं करते| अज्ञान के आवरण से ज्ञान ढका हुआ है, हे अर्जुन, यह समझो| अज्ञानी हो इस कारण साधक का जीवन मोहित होता है|*

टीका: जो कर्म करता है अथवा दूसरे से कर्म करवाता है, वही कर्म फल का भोगी होता है| परमात्मा न तो किसी के कर्म को करने वाले हैं, और न कर्म करवाने वाले हैं, अतः वह किसी के भी कर्म के फल भागी नहीं हो सकते| सूर्य सम्पूर्ण जगत् को प्रकाश देता है और उस प्रकाश के अन्तर्गत मनुष्य पाप और पुण्य कर्म करते हैं, परन्तु उन कर्मों से सूर्य का किंचित मात्र भी सम्बन्ध नहीं है| परमात्म-तत्व से प्रकृति सत्ता पाती है, अर्थात् सम्पूर्ण संसार सत्ता पाता है| उसी की सत्ता पाकर प्रकृति और उसका कार्य संसार, शरीरादि क्रियाएँ करते हैं| उन शरीरादि से होने वाले पाप, पुण्यों का परमात्म-तत्व से किंचित मात्र भी सम्बन्ध नहीं है| इसका कारण है कि भगवान् ने मनुष्य को स्वतन्त्रता दे रखी है, अतः मनुष्य उन कर्मों का फल भागी अपने को भी मान सकता है और भगवान् को भी मान सकता है, अर्थात् सम्पूर्ण कर्मों और कर्म फलों को भगवान् को अर्पण कर सकता है| जो भगवान् की दी हुई स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करके कर्मों का कर्ता और भोक्ता अपने को मान लेता है, वह बन्धन में पड़ जाता है| उसके कर्म और कर्म फल को भगवान् ग्रहण नहीं करते| परन्तु जो मनुष्य उस स्वतन्त्रता का सदुपयोग करके कर्म और कर्म फल भगवान् को अर्पण करता है, वह मुक्त हो जाता है| उसके कर्म और कर्म फल को भगवान् ग्रहण करते हैं|

स्वरूप का ज्ञान यद्यपि सभी मनुष्यों में स्वतः सिद्ध है, किन्तु अज्ञान के द्वारा यह ज्ञान ढका हुआ है| उस अज्ञान के कारण जीव मूढ़ता को प्राप्त होता है| अपने को कर्मों का कर्ता मानना मूढ़ता है| भगवान् के द्वारा मनुष्य को विवेक दिया हुआ है, जिसके द्वारा इस मूढ़ता का नाश किया जा सकता है| इसलिये सांख्ययोगी कभी भी अपने को किसी कर्म का कर्ता नहीं मानता| शरीरादि सम्पूर्ण पदार्थों में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है| स्वरूप में कभी कोई परिवर्तन नहीं होता| स्वरूप अपरिवर्तनशील होने पर भी अपने को परिवर्तनशील पदार्थों से एक मान लेना अज्ञान है| शरीरादि सब पदार्थ बदल रहे हैं, ऐसा जिसे अनुभव है वह स्वयं कभी नहीं बदलता| इसलिये स्वयं के बदलने का अनुभव किसी को नहीं होता| 'मैं बदलने वाला नहीं हूँ', इस प्रकार परिवर्तनशील पदार्थों से अपनी असंगता का अनुभव कर लेने से अज्ञान मिट जाता है और तत्व ज्ञान स्वतः प्रकाशित हो जाता है| प्रकृति के कार्य से अपना

सम्बन्ध मानते रहने से ही तत्व ज्ञान ढका रहता है| इन्द्रियों का और बुद्धि का ज्ञान ही अधूरा ज्ञान है| इस अधूरे ज्ञान को महत्व देने से, इसके प्रभाव से प्रभावित होने से वास्तविक ज्ञान की ओर दृष्टि नहीं जाती, यही अज्ञान के द्वारा ज्ञान का आवृत होना है| इन्द्रियों का ज्ञान सीमित है| इन्द्रियों के ज्ञान की अपेक्षा बुद्धि का ज्ञान असीम है| परन्तु बुद्धि का ज्ञान मन और इन्द्रियों के ज्ञान को ही प्रकाशित करता है, अर्थात् बुद्धि अपने विषय पदार्थों को ही प्रकाशित करती है| बुद्धि जिस प्रकृति का कार्य है और जिस बुद्धि का कारण प्रकृति है, उस प्रकृति को बुद्धि प्रकाशित नहीं करती| बुद्धि जब प्रकृति को प्रकाशित नहीं कर सकती, तब प्रकृति से अतीत जो चेतन तत्व है, उसे भी वह प्रकाशित नहीं कर सकती, इसलिये बुद्धि का ज्ञान अधूरा ज्ञान है|

जो मनुष्य अपने विवेक को महत्व नहीं देते, वह वास्तव में जन्तु अर्थात् पशु समान ही हैं| क्योंकि उनके और पशुओं के ज्ञान में कोई अन्तर नहीं है| आकृति मात्र से कोई मनुष्य नहीं होता| मनुष्य वही है जो अपने विवेक को महत्व देता है| इन्द्रियों के द्वारा भोग तो पशु भी भोगते हैं, पर उन भोगों को भोगना मनुष्य जीवन का लक्ष्य नहीं है| मनुष्य जीवन का लक्ष्य सुख, दुःख से रहित तत्व को प्राप्त करना है| जिनको अपने कर्तव्य और अकर्तव्य का भली भांति ज्ञान है, वह मनुष्य साधक कहलाने योग्य है| अपने को कर्मों का कर्ता मान लेना तथा कर्मफल में हेतु बनकर सुखी, दुःखी होना ही अज्ञान से मोहित होना है| 'पाप, पुण्य हमें करने पड़ते हैं, इनसे हम नहीं छूट सकते', इस प्रकार की धारणा बना लेना ही अज्ञान से मोहित होना है| जीव स्वरूप से अकर्ता तथा सुख, दुःख से रहित है| केवल अपनी मूर्खता के कारण वह कर्ता बन जाता है और कर्म फल के साथ सम्बन्ध जोड़कर सुखी, दुःखी होता है| इस मूढ़ता से अज्ञानी मनुष्य सुखी, दुःखी हो रहे हैं, 'तेन मुह्यन्ति जन्तवः'|

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ।।५-१६।।

करें अंतर्मन का अज्ञान नष्ट आत्मज्ञान से जो जन|
करें दीपित परम-तत्व वह अपने हिय सम चित् सूर्यन ||५-१६||

भावार्थ: *जो पुरुष अंतर्मन के अज्ञान को आत्मज्ञान द्वारा नष्ट कर देते हैं, वह सूर्य के प्रकाश की तरह अपने हृदय में परम-तत्व को प्रकाशित कर लेते हैं|*

टीका: आत्मा और शरीर को अलग अलग मानना 'ज्ञान' है, और एक मानना 'अज्ञान' है| जब मनुष्य के हृदय में 'मैंपन' (अहंता) आ जाता है, और वह स्वयं को ही कर्ता अनुभव करते लगता है, यह अज्ञान है| जब आत्मज्ञान अर्थात ज्ञानयोग (सांख्ययोग) के द्वारा यह विचार नष्ट होने लगते हैं, 'मैंपन' का भाव समाप्त हो जाता है, प्रकृति को प्राणी कर्ता मानने लगता है तो उसका अज्ञान नष्ट हो जाता है| तब वह अपनी सत्ता का निरन्तर अनुभव करने लगता है| इस विवेक के द्वारा 'मैं, मेरेपन' का त्याग कर वह यह अनुभूति करने लगता है कि शरीर 'मैं' नहीं और यह परिवर्तनशील संसार 'मेरा नहीं'| इस विवेक के जाग्रत होने पर अज्ञान का नाश हो जाता है| विवेक के सर्वथा जाग्रत् होने पर परिवर्तनशील की निवृत्ति हो जाती है| परिवर्तनशील की निवृत्ति होने पर अपने स्वरूप का स्वच्छ बोध हो जाता है जिस कारण सर्वत्र परिपूर्ण परमात्म-तत्व प्रकाशित हो जाता है, अर्थात् उसके साथ अभिन्नता का अनुभव हो जाता है| परमात्म-तत्व स्वतः सिद्ध है, पर अज्ञान के कारण उसका अनुभव नहीं हो रहा था| विवेक के द्वारा अज्ञान मिटते ही उस स्वतः सिद्ध परमात्म-तत्व का अनुभव होने लग जाता है|

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ।।५-१७।।

हो स्थिति परमात्म-तत्व करें तदाकार बुद्धि व् मन |
हो रहित पाप पाएं परम गति वह साधक हे अर्जुन ||५-१७||

भावार्थ: *हे अर्जुन, वह साधक जो परमात्म-तत्व में स्थित होकर अपनी बुद्धि एवं मन को तन्मय कर लेते हैं, वह पाप रहित होकर परम गति को प्राप्त होते हैं|*

टीका: परमात्म-तत्व का अनुभव करने के दो साधन हैं, एक तो विवेक के द्वारा असत्य का त्याग करने पर सत्य स्थिति में प्रवेश करें, और दूसरा सत्य का चिन्तन करते करते सत्य की प्राप्ति कर लें| चिन्तन से सत्य की प्राप्ति अवश्य होती है| असत्य की प्राप्ति कर्मों से होती है, चिन्तन से नहीं| उत्पत्ति-विनाशशील वस्तु कर्म से मिलती है, और नित्य परिपूर्ण तत्व चिन्तन से मिलता है|

निश्चय करने वाली वृत्ति का नाम 'बुद्धि' है| साधक बुद्धि से यह निश्चय करे कि सर्वत्र एक परमात्म-तत्व ही परिपूर्ण है| संसार के उत्पन्न होने से पहले भी परमात्मा थे और संसार के नष्ट होने के बाद भी परमात्मा रहेंगे| बीच में भी संसार का जो प्रवाह चल रहा है, उसमें भी परमात्मा विद्यमान हैं| इस प्रकार परमात्मा की सत्ता सदैव विद्यमान है|

जब बुद्धि में एक परमात्म-तत्व का निश्चय हो जाता है, तब मन से स्वतः स्वाभाविक परमात्मा का ही चिन्तन होने लगता है| सब क्रियाएँ करते समय यह चिन्तन अखण्ड रहता है कि सत्ता रूप से सब जगह एक परमात्म-तत्व ही परिपूर्ण है| चिन्तन में संसार की सत्ता आती ही नहीं| जब साधक के मन और बुद्धि परमात्मा में लग जाते हैं तब वह हर समय परमात्मा में अपनी (स्वंय की) स्वतः स्वाभाविक स्थिति का अनुभव करता है| जब तक मन एवं बुद्धि परमात्मा में नहीं लगते, अर्थात् मन से परमात्मा का चिन्तन और बुद्धि से परमात्मा का निश्चय नहीं होता, तब तक परमात्मा में अपनी स्वाभाविक स्थिति होते हुए भी उसका अनुभव नहीं होता|

परमात्मा से अलग अपनी सत्ता न रहना ही परमात्मा के परायण होना है| परमात्मा में अपनी स्थिति का अनुभव करने से अपनी सत्ता परमात्मा की सत्ता में लीन हो जाती है, और स्वयं परमात्मा स्वरूप हो जाता है| जब तक साधक और साधन की एकता नहीं होती, तब तक साधन छूटता रहता है, अखण्ड नहीं रहता| जब साधकपन अर्थात् अहंभाव मिट जाता है, तब साधन साध्य रूप हो जाता है क्योंकि वास्तव में साधन और साध्य, दोनों में नित्य एकता है| सत्, असत् के विवेक की वास्तविक जागृति होने पर असत्य की सर्वथा निवृत्ति हो

जाती है| असत्य के सम्बन्ध से ही पाप, पुण्य रूप कल्मष होता है, जिनसे मनुष्य बँधता है| असत्य से सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद होने पर पाप, पुण्य मिट जाते हैं|

असत्य का संग ही पुनरावृत्ति (पुनर्जन्म) का कारण है, 'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'| जो वस्तु एकदेशीय होती है, उसी का आना जाना होता है| जो वस्तु सर्वत्र परिपूर्ण है, वह कहाँ से आए और कहाँ जाए? परमात्मा सम्पूर्ण देश, काल, वस्तु, परिस्थिति आदि में एक रस परिपूर्ण रहते हैं| उनका कहीं आना जाना नहीं होता| इसलिये जो महापुरुष परमात्मा स्वरूप हो जाते हैं, उनका भी कहीं आना जाना नहीं होता, 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति', उनके प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता| वह ब्रह्म ही होकर ब्रह्म को प्राप्त होते हैं|

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ।।५-१८।।

जो जन संपन्न विद्या विनय देखें सभी जन रूप भगवन |
हों वह ब्राह्मण चंडाल गौ गज स्वान या अन्य जीवन ||५-१८||

भावार्थ: *विद्या एवं विनय से संपन्न पुरुष सभी में हरि रूप देखते हैं| वह ब्राह्मण, चांडाल, गाय, हाथी, कुत्ता या कोई भी जीव हो|*

टीका: विद्या युक्त और विनय युक्त विद्वान् अभिमान रहित होकर सभी जीवों में ईश्वर रूप ही देखते हैं। वह ब्राह्मण, चण्डाल, गाय, हाथी एवं कुत्ते में सांसारिक दृष्टि से विषमता नहीं देखते| महापुरुषों की दृष्टि परमात्म-तत्व पर ही सदा सर्वदा रहती है, इसलिये उनकी दृष्टि कभी विषम नहीं होती|

समता परमात्मा का ही साक्षात् स्वरूप है| जिनका मन समता में स्थित हो जाता है, वह जीवित अवस्था में ही संसार पर विजय प्राप्त कर लेते हैं और परब्रह्म परमात्मा का अनुभव कर लेते हैं| यह समता तब आती है जब मनुष्य दूसरों का दुःख अपना दुःख, और दूसरों का सुख अपना सुख मानने लगता है| जिस प्रकार

शरीर के किसी भी अंग में पीड़ा होने पर उसको दूर करने की लगन लग जाती है, ऐसे ही किसी प्राणी को दुःख, सन्ताप आदि में देखते ही उसको दूर करने की लगन लग जाए, वही समता है| हृदय में ऐसा भाव हो कि किसी को किंचित मात्र भी दुःख या कष्ट न पहुँचे| किसी का कभी अनिष्ट न हो, चाहे मैं कितना भी कष्ट पाऊँ| प्राणियों को सुख पहुँचाने से अवश्य ही हृदय में शान्ति आएगी| जहां अपना रक्त का भी सम्बन्ध नहीं है, वहां सुख पहुँचायेंगे तो विशेष आनन्द की लहरें आने लग जाएंगी| चित्रकूट में लक्ष्मण जी भगवान् राम और सीता की सेवा कैसे करते हैं, यह बताते हुए गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं:

'सेवहिं लखनु सीय रघुबीरहि । जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहि ।।'

अर्थात् लक्ष्मण जी भगवान् राम और सीता जी की वैसे ही सेवा करते हैं जैसे अज्ञानी मनुष्य अपने शरीर की सेवा करता है|

अपने शरीर की सेवा करना, उसे सुख पहुँचाना, अज्ञानता है| अपने शरीर की सेवा तो पशु भी करते हैं|
ममता रहते हुए समता का आना असम्भव है| जिससे हमें कुछ लेना देना नहीं है, जिससे हमारा कोई स्वार्थ नहीं है, ऐसे व्यक्ति के साथ भी हम प्रेम पूर्वक अच्छे से अच्छा बर्ताव करें जिससे उसका हित हो, फिर आप अपना हृदय देखें| आपके हृदय में प्रसन्नता आएगी, सुख आएगा| यह सुख हमारा कल्याण करने वाला है| दूसरा दुःख पाए, पर मैं सुख पाऊँ, यह सुख पतन करने वाला है| इससे न तो व्यवहार में आपकी उन्नति होगी और न परमार्थ में|

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ।।५-१९।।

समझो जीता जग उस जन स्थित समता जिनके मन |
हो चुके वह स्थित निर्दोष और सम ब्रह्म में अर्जुन ||५-१९||

भावार्थ: *हे अर्जुन, जिनका मन समता में स्थित है, उन प्राणियों ने (जीवित रहते हुए) विश्व को जीत लिया है, ऐसा समझो| वह निर्दोष एवं सम ब्रह्म में स्थित हो चुके हैं|*

टीका: परमात्म-तत्व अथवा स्वरूप में स्वाभाविक स्थिति का अनुभव होने पर जब मन एवं बुद्धि में राग, द्वेष, कामना, विषमता आदि का सर्वथा अभाव हो जाता है, तब मन और बुद्धि में स्वतः ही स्वाभाविक समता आ जाती है| बाह्य दृष्टि से महापुरुष और साधारण पुरुष में खाना-पीना, चलना-फिरना आदि व्यवहार एक सा ही दिखता है, पर महापुरुषों के अन्तःकरण में निरन्तर समता, निर्दोषता, शान्ति आदि रहती है, और साधारण पुरुषों के अन्तःकरण में विषमता, दोष, अशान्ति आदि रहती है| जिनके मन एवं बुद्धि पर मान-अपमान, निन्दा-स्तुति, सुख-दुःख आदि का कोई प्रभाव नहीं पड़ता तथा जिनके मन और बुद्धि राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकारों से सर्वथा रहित हैं, उनकी स्वरूप में स्वाभाविक स्थिति अवश्य होती है|

परमात्म-तत्व में दोष, विकार या विषमता नहीं होती| जितने भी दोष या विषमताएँ आती हैं, वह सब प्रकृति से राग पूर्वक सम्बन्ध मानने से ही आती हैं| परमात्म-तत्व प्रकृति के सम्बन्ध से सर्वथा निर्लिप्त है, इसलिये उसमें किंचित मात्र भी दोष या विषमता नहीं है| परमात्म-तत्व निर्दोष और सम है, इसलिये जिन महापुरुषों का अन्तःकरण निर्दोष और सम हो गया है, वह परमात्म-तत्व में ही स्थित हैं| असत्य के संग से ही सम्पूर्ण दोषों और विषमताओं की उत्पत्ति होती है| संसार असत् है, अर्थात प्रतिक्षण परिवर्तनशील है| इसके मूल में स्वतन्त्र सत्ता नहीं है| असत्य से सम्बन्ध (तादात्म्य) रहते हुए दोषों और विषमताओं से बचना असम्भव है| महापुरुषों के अन्तःकरण में असत्व का महत्व न रहने से उन पर असत्य का कोई प्रभाव नहीं पड़ता| असत्य का कोई प्रभाव न पड़ने से उनका अन्तःकरण निर्दोष और सम हो जाता है| निर्दोष और सम होने से उनकी परमात्म-तत्व में स्वतः स्वाभाविक स्थिति हो जाती है| जैसे जहां धुआँ है, वहां अग्नि अवश्य है क्योंकि अग्नि के बिना धुआँ सम्भव ही नहीं, ऐसे ही जिनके अन्तःकरण में समता है, वह अवश्य ही परमात्म-तत्व में स्थित हैं, क्योंकि परमात्म-तत्व में स्थिति हुए बिना पूर्ण समता आनी सम्भव ही नहीं|

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ।।५-२०।।

हो न प्रसन्न पा प्रिय वस्तु हो पा अप्रिय न उद्विग्न |
है वह नर स्थिर-बुद्धि स्थित ब्रह्म बुद्धिवन अर्जुन ||५-२०||

भावार्थ: *हे अर्जुन, जो प्राणी प्रिय वस्तु पा हर्षित न हो एवं अप्रिय पा उद्विग्न न हो, वह ब्रह्म में स्थित स्थिर-बुद्धि विद्वान है|*

टीका: शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, सिद्धान्त, सम्प्रदाय, शास्त्र आदि के अनुकूल प्राणी, पदार्थ, घटना, परिस्थिति आदि की प्राप्ति होना ही प्रिय वस्तु को प्राप्त होना समझा जाता है| इनके प्रतिकूल की प्राप्ति 'अप्रिय' को प्राप्त होना माना जाता है| प्रिय या अप्रिय, कोई भी वस्तु के प्राप्त होने पर साधक के अन्तःकरण में हर्ष और शोक नहीं होने चाहिए| यहाँ प्रिय और अप्रिय वस्तु की प्राप्ति का यह अर्थ नहीं है कि साधक के हृदय में अनुकूल या प्रतिकूल प्राणी, पदार्थों के प्रति राग या द्वेष है, प्रत्युत यहाँ उन प्राणी, पदार्थों की प्राप्ति के ज्ञान को ही प्रिय और अप्रिय की प्राप्ति कहा गया है| प्रिय या अप्रिय की प्राप्ति अथवा अप्राप्ति का ज्ञान होने में कोई दोष नहीं है| अन्तःकरण में उनकी प्राप्ति अथवा अप्राप्ति का प्रभाव पड़ना, अर्थात् हर्ष, शोकादि विकार होना ही दोष है|

प्रियता और अप्रियता का ज्ञान तो अन्तःकरण में होता है, पर हर्षित और उद्विग्न कर्ता होता है| अहंकार से मोहित अन्तःकरण वाला पुरुष प्रकृति के करणों द्वारा होने वाली क्रियाओँ को लेकर 'मैं कर्ता हूँ', ऐसा मान लेता है, तथा हर्षित और उद्विग्न होता रहता है| परन्तु जिसका मोह दूर हो गया है, जो तत्व वेत्ता है, वह वास्तविक अकर्तृत्व का अनुभव करता है, उसका हर्षित और उद्विग्न होना सम्भव नहीं है|

स्वरूप का ज्ञान स्वयं के द्वारा ही स्वयं को होता है| इसमें ज्ञाता और ज्ञेय का भाव नहीं रहता| यह ज्ञान करण निरपेक्ष होता है अर्थात् इसमें शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि किसी करण की अपेक्षा नहीं होती| करणों से होने वाला ज्ञान

स्थिर तथा सन्देह रहित नहीं होता, इसलिये वह अल्प ज्ञान है| परन्तु स्वयं (अपने होनेपन) का ज्ञान स्वयं को ही होने से उसमें कभी परिवर्तन या सन्देह नहीं होता| जिस महापुरुष को ऐसे करण निरपेक्ष ज्ञान का अनुभव हो गया है, अर्थात जिसकी बुद्धि में यह ज्ञान इतनी दृढ़ता से उतर गया है कि उस में कभी विकल्प, सन्देह, विपरीत भावना, असम्भावना आदि नहीं है, उसे 'स्थिर-बुद्धि' कहा गया है| जो परमात्म-तत्व सदा सर्वत्र विद्यमान है, उसका अनुभव न होना और जिसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, उस उत्पत्ति-विनाशशील संसार को सत्य मानना, ऐसी मूढ़ता साधारण मनुष्य में रहती है| इस मूढ़ता का जिसमें सर्वथा अभाव हो गया है, उसे ही यहाँ बुद्धिमान कहा गया है।

'ब्रह्मवित्' प्राणी परमात्मा से अलग होकर परमात्मा का अनुभव नहीं करता| परमात्मा का अनुभव होने में अनुभविता, अनुभव और अनुभाव्य, यह त्रिपुटी नहीं रहती, प्रत्युत त्रिपुटी-रहित अनुभव (ज्ञान) रहता है| ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म से अभिन्न हो जाता है, इसलिये वह अपने को ब्रह्मवित् नहीं मानता, अर्थात् उसमें 'मैं ब्रह्म को जानता हूँ' ऐसा अभिमान नहीं रहता|

सम्पूर्ण प्राणी तत्व से नित्य, निरन्तर ब्रह्म में ही स्थित हैं, परन्तु अज्ञानतावश अपनी स्थिति शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि में ही मानते रहने के कारण मनुष्य को ब्रह्म में अपनी स्वाभाविक स्थिति का अनुभव नहीं होता| जिसे ब्रह्म में अपनी स्वाभाविक स्थिति का अनुभव हो गया है, ऐसे महापुरुष को ब्रह्म में स्थित कहा जाता है| ऐसे महापुरुष को प्रत्येक परिस्थिति में नित्य, निरन्तर ब्रह्म में अपनी स्वाभाविक स्थिति का अनुभव होता रहता है| ब्रह्म का अनुभव होने पर सर्वत्र एक ब्रह्म ही ब्रह्म दृष्टिगोचर होता है|

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ।।५-२१।।

हो आसक्ति रहित बाह्य वस्तु पाए आत्मिक सुख जन |
हो लीन ध्यान ब्रह्म करे वह अनुभव सुख अनादिनिधन ||५-२१||

भावार्थ: *बाह्य वस्तु (सांसारिक वस्तु) से आसक्ति रहित साधक आत्मिक सुख प्राप्त करता है| वह ब्रह्म ध्यान में लीन होकर अक्षय सुख का अनुभव करता है|*

टीका: परमात्मा के अतिरिक्त शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण आदि में तथा शब्द, स्पर्श आदि विषयों के संयोगजन्य सुख में जिसकी आसक्ति मिट गई है, ऐसे साधक को आत्मिक सुख की प्राप्ति होती है| लेकिन जिन साधकों की अभी आसक्ति नहीं मिटी है, पर जिनका उद्देश्य आसक्ति को मिटाने का है, उन साधकों को भी आसक्ति रहित मानना अनुचित नहीं होगा| उद्देश्य की दृढ़ता के कारण वह भी शीघ्र ही आसक्ति से छूट सकते हैं| प्रभु ने कहा है कि 'प्रिय को प्राप्त होकर हर्षित और अप्रिय को प्राप्त होकर उद्विग्न नहीं होना चाहिए', ऐसी समता स्थिति को प्राप्त करने के लिये बाह्य स्पर्श (सांसारिक वस्तुओं) में आसक्ति रहित होना आवश्यक है| उत्पत्ति-विनाशशील वस्तु का नाम 'बाह्य स्पर्श' है| जब तक बाह्य स्पर्श में आसक्ति रहती है, तब तक अपने स्वरूप का अनुभव नहीं होता| बाह्य स्पर्श निरन्तर बदलता रहता है, पर आसक्ति के कारण उसके बदलने पर दृष्टि नहीं जाती और उस में सुख का अनुभव होता है| पदार्थों को अपरिवर्तनशील, स्थिर मानने से ही मनुष्य उनसे सुख लेता है, परन्तु वास्तव में उन पदार्थों में सुख नहीं है| सुख पदार्थों के सम्बन्ध विच्छेद से ही होता है|

बाह्य पदार्थों का सम्बन्ध अवास्तविक है पर परमात्मा के साथ हमारा सम्बन्ध वास्तविक है| मनुष्य सुख की इच्छा से बाह्य पदार्थों के साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है, पर परिणाम में उसे दुःख ही दुःख प्राप्त होता है| इसको स्मरण रखते हुए कि बाह्य पदार्थों से हमें दुःख ही मिलेगा, बाह्य पदार्थों की आसक्ति मिट पाने की संभावना होती है|

बाह्य पदार्थों की आसक्ति मिटने पर अन्तःकरण में सात्त्विक सुख का अनुभव हो जाता है| बाह्य पदार्थों के सम्बन्ध से होने वाला सुख राजस होता है| जब तक मनुष्य राजस सुख लेता रहता है, तब तक सात्त्विक सुख का अनुभव नहीं होता| राजस सुख में आसक्ति रहित होने से ही सात्त्विक सुख का अनुभव होता है|

संसार से राग मिटते ही ब्रह्म में अभिन्न भाव से स्वतः स्थिति हो जाती है| जैसे अन्धकार का नाश होना और प्रकाश होना, दोनों एक साथ ही होते हैं, फिर भी पहले अन्धकार का नाश होना और फिर प्रकाश होना माना जाता है| ऐसे ही राग का मिटना और ब्रह्म में स्थित होना, दोनों एक साथ होने पर भी पहले राग का नाश 'बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा' और फिर ब्रह्म में स्थिति 'ब्रह्मयोगयुक्तात्मा' माना जाता है| भोगों से विरक्ति होकर सात्त्विक सुख मिलने के बाद 'मैं सुखी हूँ', 'मैं ज्ञानी हूँ', मैं निर्विकार हूँ, मेरे लिये कोई कर्तव्य नहीं है' इस प्रकार 'अहम्' का सूक्ष्म अंश शेष नहीं रहना चाहिए| उसकी निवृत्ति के लिये एक मात्र परमात्म-तत्व से अभिन्नता का अनुभव करना आवश्यक है| परमात्म-तत्व से सर्वथा एक हुए बिना अपनी सत्ता, अपने व्यक्तित्व (परिच्छिन्नता या एकदेशीयता) का सर्वथा अभाव नहीं होता|

जब तक साधक सात्त्विक सुख का उपभोग करता रहता है, तब तक उसमें सूक्ष्म 'अहम्' परिच्छिन्नता रहती है| सात्त्विक सुख का भी उपभोग न करने से 'अहम्' का सर्वथा अभाव हो जाता है, और साधक को परमात्म स्वरूप, चिन्मय और नित्य एक रस रहने वाले अविनाशी सुख का अनुभव हो जाता है| इसी अक्षय सुख को 'आत्यन्तिक सुख', 'अत्यन्त-सुख', 'ऐकान्तिक सुख' आदि नामों से भी जाना जाता है| इसका अनुभव होने पर उस परमात्म-तत्व में स्वाभाविक ही एक आकर्षण होता है, जिसे प्रेम कहते हैं| इस प्रेम में कभी कमी नहीं आती, प्रत्युत यह उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहता है| उस तत्व का प्रसंग चलने पर, उस पर विचार करने पर पहले से कुछ नयापन दिखता है, यही प्रेम का प्रतिक्षण बढ़ना है| इसमें एक समझने की बात यह है कि प्रेम के प्रतिक्षण बढ़ने पर भी यदि 'पहले कमी थी और अब पूर्ति हो गई' ऐसा प्रतीत होता है, तो यह साधन अवस्था है, यदि नयापन दिखने पर भी 'पहले कमी थी और अब पूर्ति हो गई' ऐसा प्रतीत नहीं होता, तो यह सिद्ध अवस्था है|

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ।।५-२२।।

होते उत्पन्न भोग संयोग विषय इन्द्रिय कुंतीनंदन |
समझ इन्हें विनाशी नहीं होते रमण इनमें बुद्धिवन ||५-२२||

भावार्थ: *हे कुन्तीनन्दन, इन्द्रिय एवं विषय के संयोग से भोग (सांसारिक सुख) उत्पन्न होते हैं| इन्हें विनाशी समझ (इनका आदि एवं अंत होता है, ऐसा विचार कर) विद्वान् इनमें रमण नहीं होते|*

टीका: शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध, इन विषयों से इन्द्रियों का राग पूर्वक सम्बन्ध होने पर जो सुख प्रतीत होता है, उसे 'भोग' कहते हैं| सम्बन्धजन्य अर्थात् इन्द्रियजन्य भोग में मनुष्य कभी स्वतन्त्र नहीं है| सुख-सुविधा और मान-सम्मान मिलने पर प्रसन्न होना भी भोग है| परमात्मा के अतिरिक्त जितने भी प्रकृतिजन्य प्राणी, पदार्थ, परिस्थितियाँ, अवस्थाएँ आदि हैं, उनसे किसी भी प्रकृतिजन्य करण के द्वारा सुख की अनुभूति करना भोग है| शास्त्रनिषिद्ध भोग एवं शास्त्र-विहित भोग, दोनों ही, परमात्म-तत्व प्राप्ति में बाधक होने से त्याज्य हैं| स्मरण रहे कि जड़ता के सम्बन्ध के बिना भोग नहीं होता, जब कि परमात्म-तत्व प्राप्ति के लिये जड़ता से सम्बन्ध विच्छेद करना आवश्यक है|

सम्पूर्ण भोग विनाशी हैं, अनित्य हैं, परिवर्तनशील हैं| भोग जड़ हैं, और स्वयं चेतन है| भोग विकारी हैं, और स्वयं निर्विकार हैं| भोग आदि, अन्त वाले हैं, और स्वयं आदि, अन्त से रहित है, इसलिये स्वयं को भोगों से कभी सुख नहीं मिल सकता| जीव परमात्मा का अंश है, इसलिये उसे परमात्मा से ही अक्षय सुख मिल सकता है|

जितने भी सम्बन्धजन्य सुख हैं, वह सब दुःख के उत्पत्ति स्थान हैं| सम्बन्धजन्य सुख दुःख से ही उत्पन्न होता है और दुःख में ही परिणत होता है| सम्पूर्ण विषय भोग आरम्भ में सुख रूप प्रतीत होने पर भी परिणाम में दुःख ही देने वाले हैं, क्योंकि भोगों के परिणाम में अपनी शक्ति का ह्रास और भोग्य पदार्थ का नाश होता है, यह परिणाम दुःख है| भोगों को प्राप्त करना अपने वश में नहीं है, क्योंकि इसमें प्रारब्ध की प्रधानता और अपनी परतन्त्रता है| भोगों की प्राप्ति

सदा के लिये नहीं होती और सबके लिये नहीं होती| परन्तु भगवान् की प्राप्ति सदा के लिये होती है और सब के लिये होती है|

साधारण मनुष्य को जिन भोगों में सुख प्रतीत होता है, उन भोगों को विवेकशील मनुष्य दुःख रूप ही समझता है| इसलिये वह उन भोगों में रमण नहीं करता, उनके अधीन नहीं होता| विवेकी मनुष्य को इस बात का ज्ञान रहता है कि संसार के समस्त दुःख, सन्ताप, पाप, नर्क आदि संयोगजन्य सुख की इच्छा पर ही आधारित हैं| अपने इस ज्ञान को महत्व देने से ही वह बुद्धिमान् है| परन्तु जिसने यह जान लिया है कि भोग दुःखप्रद हैं, फिर भी भोगों की कामना करता है और उनमें ही रमण करता है, वह वास्तव में अपने ज्ञान को पूर्ण रूप से महत्व न देने के कारण बुद्धिमान् कहलाने का अधिकारी नहीं है| अपने ज्ञान को महत्व देने वाला बुद्धिमान् मनुष्य भोगों की कामना और उनमें रमण नहीं कर सकता|

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ।।५-२३।।

कर ले जो नर संयत काम क्रोध इहलोक पूर्व मरन |
समझो उसे योगी पा सके वही परम सुख अर्जुन ||५-२३||

भावार्थ: *हे अर्जुन, जो प्राणी मरण से पूर्व इहलोक (भूलोक) में काम और क्रोध को नियंत्रित कर ले, उसे योगी समझो| वही परम सुख पाता है|*

टीका: प्राणी को मनुष्य योनि में जन्म मिलना एक दुर्लभ अवसर है, जिसमें वह काम, क्रोध पर विजय प्राप्त करके सदा के लिये सुखी हो सकता है| मनुष्य शरीर मुक्त होने के लिये ही मिला है, इसलिये मनुष्य काम, क्रोध का त्याग करने में योग्य, अधिकारी और समर्थ है| काम ,क्रोध का संकल्प उत्पन्न होने पर अन्तःकरण में अशान्ति, उत्तेजना, संघर्ष आदि होने लग जाते हैं, जिनके रहते हुए मनुष्य सुखी नहीं रह सकता| काम, क्रोध के संकल्प को रोकने का उपाय है, अपने में काम, क्रोध की धारणा को ही नहीं आने देना| भगवान् ने काम,

क्रोध को (जो राग, द्वेष के ही स्थूल रूप हैं) क्षेत्र, अर्थात् प्रकृति के विकार बताया है| अतः यह प्रकृति में ही होते हैं, अपने में नहीं, क्योंकि स्वरूप निर्विकार है| इससे सिद्ध होता है कि काम, क्रोध अपने में नहीं हैं| इनको अपने में मानना मानो इनको निमन्त्रण देना है|

अज्ञान के द्वारा जिनका ज्ञान ढका हुआ है, ऐसे मनुष्यों को भगवान् ने 'जन्तु' कहा है एवं काम, क्रोध को सहने में समर्थ मनुष्य को 'नर' कहा है| इसका भाव यह है कि जो काम, क्रोध के वश में हैं, वह मनुष्य कहलाने योग्य नहीं हैं| जिसने काम, क्रोध पर विजय प्राप्त कर ली है, वही वास्तव में नर है, शूरवीर है| समता में स्थित मनुष्य को योगी कहते हैं| जो अपने विवेक को महत्व देकर काम, क्रोध को उत्पन्न ही नहीं होने देता, वही समता में स्थित हो सकता है|

मनुष्य ही नहीं, पशु पक्षी भी काम, क्रोध उत्पन्न होने पर सुख, शान्ति से नहीं रह सकते| इसलिये जिस मनुष्य ने काम, क्रोध के संकल्प को मिटा दिया है, वही वास्तव में सुखी है| काम, क्रोध का संकल्प उत्पन्न होते ही मनुष्य के अन्तःकरण में अशान्ति, संघर्ष आदि दोष उत्पन्न हो जाते हैं| इन दोषों के रहते हुए वह सुखी नहीं हो सकता| उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओं का आश्रय लेकर, उनसे सम्बन्ध जोड़कर सुख चाहने वाला मनुष्य कभी सुखी नहीं हो सकता, यह नियम है|

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ।।५-२४।।

है प्रसन्न जो अंतरात्मा में करे वह ब्रह्म-तत्व रमन |
है वह सांख्ययोगी बुद्धिवन पा सके जो निर्मोचन ||५-२४||

भावार्थ: *जो प्राणी अंतरात्मा में प्रसन्न रहता है, वह परमात्म-तत्व में रमण करता है| वह विद्वान् सांख्ययोगी निर्वाण की प्राप्ति करता है|*

टीका: जिस को प्रकृतिजन्य बाह्य पदार्थों में सुख प्रतीत नहीं होता, प्रत्युत एक मात्र परमात्मा में ही सुख मिलता है, ऐसे साधक को प्रभु ने 'विद्वान्' कहा है| परमात्म-तत्व के अतिरिक्त कहीं भी उसकी बुद्धि नहीं रहती| परमात्म-तत्व में सुख का अनुभव उसे हर समय होता है, क्योंकि उसके सुख का आधार बाह्य पदार्थों का संयोग नहीं होता| स्वयं अपनी सत्ता में निरन्तर स्थित रहने के लिये बाह्य की किंचित मात्र भी आवश्यकता नहीं है| स्वयं को स्वयं से दुःख नहीं होता, स्वयं को स्वयं से अरुचि नहीं होती, यह वास्तविक 'सुख' है| जो सदा के लिये न मिले और सभी को न मिले, वह 'बाह्य' है| परन्तु जो सदा के लिये मिले और सभी को मिले, वह 'परमात्म-तत्व' है| सांसारिक ज्ञान का तो आरम्भ और अन्त होता है, पर परमात्म-तत्व के ज्ञान का न आरम्भ होता है, न अन्त| वह नित्य, निरन्तर रहता है| इसलिये सब में एक परमात्म-तत्व ही परिपूर्ण है, ऐसा ज्ञान सांख्ययोगी में नित्य, निरन्तर और स्वतः स्वाभाविक रहता है|

सांख्ययोग का साधक ब्रह्म में अपनी स्थिति का अनुभव करता है, जो परिच्छिन्नता का द्योतक है| उसमें 'मैं स्वाधीन हूँ', 'मैं मुक्त हूँ', 'मैं ब्रह्म में स्थित हूँ', इस प्रकार परिच्छिन्नता के संस्कार रहते हैं| ब्रह्म भूत साधक को अपने में परिच्छिन्नता का अनुभव नहीं होता| जब तक किंचित मात्र भी परिच्छिन्नता या व्यक्तित्व शेष है, तब तक वह तत्व निष्ठ नहीं हुआ है|

जब ब्रह्म भूत सांख्ययोगी का व्यक्तित्व निर्वाण ब्रह्म में लीन हो जाता है, तब एक मात्र निर्वाण ब्रह्म ही शेष रह जाता है, अर्थात् साधक परमात्म-तत्व के साथ अभिन्न हो जाता है, तत्व निष्ठ हो जाता है, जो कि स्वतः सिद्ध है| ब्रह्म भूत अवस्था में साधक ब्रह्म में अपनी स्थिति का अनुभव करता है| साधक ब्रह्म होकर ब्रह्म को प्राप्त होता है, 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति'|

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ।।५-२५।।

कर नियंत्रित तन बुद्धि इन्द्रिय रत परहित जो जन |
हुए नष्ट संशय अघ करें वह ऋषि प्राप्त निर्मोचन ||५-२५||

भावार्थ: *तन, बुद्धि एवं इन्द्रिय को नियंत्रण में कर जो प्राणी लोक कल्याण में रत हैं, उनके संशय एवं पाप नष्ट हो जाते हैं| वह ऋषि निर्वाण की प्राप्ति करते हैं|*

टीका: जिन साधकों ने शरीर, इन्द्रियाँ, और बुद्धि को वश में कर लिया है एवं उनके द्वारा होने वाली प्रत्येक क्रिया केवल दूसरों का हित करने वाली है, ऐसे साधकों को प्रभु ने ऋषि कहा है| स्मरण रहे कि सांख्ययोग की सिद्धि में व्यक्तित्व का अभिमान मुख्य बाधक है| इस व्यक्तित्व के अभिमान को मिटाकर तत्व में अपनी स्वाभाविक स्थिति का अनुभव करने के लिये सम्पूर्ण प्राणियों के हित का भाव होना आवश्यक है| जो सर्वत्र परिपूर्ण परमात्म-तत्व के साथ अभिन्नता का अनुभव करना चाहते हैं, उनके लिये प्राणी के हित में प्रीति होनी आवश्यक है|

जब तक तत्व प्राप्ति का निश्चय दृढ़ नहीं होता, तब तक अच्छे अच्छे साधकों के अन्तःकरण में भी कुछ न कुछ दुविधा विद्यमान रहती है| दृढ़ निश्चय होने पर साधकों को अपनी साधना में कोई संशय, विकल्प, भ्रम आदि नहीं रहता और वह असंदिग्ध रूप से तत्परता पूर्वक अपने साधन में लग जाते हैं|

प्रकृति से माना हुआ जो भी सम्बन्ध है, वह सब कल्मष है, क्योंकि प्रकृति से माना हुआ सम्बन्ध ही सम्पूर्ण कल्मषों अर्थात् पापों, दोषों, विकारों का हेतु है| प्रकृति तथा उसके कार्य शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि से स्पष्टतया अपना अलग अनुभव करने से साधक में निर्विकारता स्वतः आ जाती है|

ज्ञान (विवेक) को महत्व देने वाले ऋषि कहलाते हैं| प्राचीन काल में ऋषियों ने गृहस्थ में रहते हुए भी परमात्म-तत्व को प्राप्त किया था| अतः सांसारिक व्यवहार करते हुए विवेक बुद्धि से परमात्म-तत्व की प्राप्ति संभव है|

ब्रह्म तो सभी को सदा सर्वदा प्राप्त है, पर परिवर्तनशील शरीर आदि से अपनी एकता मान लेने के कारण मनुष्य ब्रह्म से विमुख रहता है| जब शरीरादि उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओं से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है, तब सम्पूर्ण विकारों और

संशयों का नाश होकर सर्वत्र परिपूर्ण ब्रह्म का अनुभव हो जाता है| जैसे लहरें समुद्र में लीन हो जाती हैं, ऐसे ही सांख्ययोगी निर्वाण ब्रह्म में लीन हो जाते हैं| जैसे जल तत्व में समुद्र और लहरें, यह दो भेद नहीं हैं, ऐसे ही निर्वाण ब्रह्म में आत्मा और परमात्मा, यह दो भेद नहीं हैं|

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ।।५-२६।।

हैं जो रहित काम क्रोध संयत चित्त आत्म प्राज्ञ जन |
समझो उन्हें सब ओर परिपूर्ण निर्वाण ब्रह्म अर्जुन ||५-२६||

भावार्थ: हे अर्जुन, जो ज्ञानी पुरुष काम क्रोध से रहित एवं संयत चित्त हैं, उन्हें सब ओर से निर्वाण ब्रह्म में परिपूर्ण समझो|

टीका: काम क्रोधादि दोष उत्पत्ति-विनाशशील असत् पदार्थों (शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि) के सम्बन्ध से होती है| ज्ञानी महापुरुष को उत्पत्ति-विनाशशील सत तत्व में अपनी स्वाभाविक स्थिति का अनुभव होता है, अतः उत्पत्ति-विनाश असत् पदार्थों से उसका सम्बन्ध सर्वथा नहीं रहता| अतः उन में काम, क्रोध आदि विकार उत्पन्न नहीं होते| यदि काम, क्रोध सूक्ष्म रूप से भी हों, तो अपने को जीवन मुक्त मान लेना भ्रम ही है| उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओं की इच्छा को 'काम' कहते हैं| काम अर्थात् कामना अभाव में पैदा होती है| अभाव सदैव असत्य में रहता है| सत् स्वरूप में अभाव नहीं होता| परन्तु जब स्वरूप असत्य से तादात्म्य कर लेता है, तब असत् अंश के अभाव को वह अपने में मान लेता है| अपने में अभाव मानने से ही कामना पैदा होती है, और कामना पूर्ति में बाधा लगने पर क्रोध आ जाता है| इस प्रकार स्वरूप में कामना न होने पर भी तादात्म्य के कारण अपने में कामना की प्रतीति होती है| परन्तु जिनका तादात्म्य नष्ट हो गया है और स्वरूप में स्वाभाविक स्थिति का अनुभव हो गया है, उन्हें स्वयं में असत्य के अभाव का अनुभव नहीं हो सकता| साधना करने से काम, क्रोध कम होते हैं, ऐसा साधकों का अनुभव है| जो वस्तु कम होने वाली होती है, वह मिटने वाली भी होती है, अतः जिस साधना से काम, क्रोध कम होते हैं,

उसी साधना से मिट भी जाते हैं| साधना करने वालों को यह अनुभव होता है कि (१) काम, क्रोध आदि दोष पहले जितना शीघ्र अनुभव होते थे, उतना शीघ्र अब नहीं होते, (२) पहले जितने वेग से आते थे उतने वेग से अब नहीं आते, और (३) पहले जितनी देर तक ठहरते थे उतनी देर तक अब नहीं ठहरते| कभी कभी साधक को ऐसा भी प्रतीत होता है कि काम, क्रोध का वेग पहले से भी अधिक हो गया। इसका कारण यह है कि (१) साधना करने से भोगासक्ति तो मिटती चली गई पर पूर्णावस्था प्राप्त नहीं हुई, (२) अन्तःकरण शुद्ध होने से लघु काम, क्रोध भी साधक को अधिक प्रतीत होते हैं, (३) कोई मन के विरुद्ध कार्य करता है, तो वह साधक को बुरा लगता है, पर साधक उसकी चिंता नहीं करता| बुरा लगने के भाव का भीतर संग्रह होता रहता है, फिर अन्त में थोड़ी सी बात पर भी वेग से क्रोध आ जाता है| क्योंकि भीतर जो संग्रह हुआ था, वह एक साथ बाहर निकलता है| इससे दूसरे व्यक्ति को भी आश्चर्य होता है कि इतनी थोड़ी सी बात पर इसे इतना क्रोध आ गया| कभी कभी वृत्तियाँ ठीक होने से साधक को ऐसा प्रतीत होता है कि मेरी पूर्णावस्था हो गई, परन्तु वास्तव में जब तक पूर्णावस्था का अनुभव नहीं हो जाता तब तक पूर्णावस्था नहीं हुई| जब तक असत्य का सम्बन्ध रहता है, तब तक मन वश में नहीं होता| असत्य का सम्बन्ध सर्वथा न रहने से महापुरुषों का मन स्वतः वश में रहता है|

अपने स्वरूप का वास्तविक बोध हो जाने पर महापुरुषों को 'संयत चित्त' कहा गया है| जिस उद्देश्य को लेकर मनुष्य जन्म हुआ है और मनुष्य जन्म की जितनी महिमा गाई गई है, उसको उन्होंने प्राप्त कर लिया है| शरीर के रहते हुए अथवा शरीर छूटने के बाद नित्य, निरन्तर वह महापुरुष शान्त ब्रह्म में ही स्थित रहते हैं| जैसे भिन्न भिन्न क्रियाओं को करते समय साधारण मनुष्यों की शरीर में स्थिति की मान्यता निरन्तर रहती है, ऐसे ही भिन्न भिन्न क्रियाओं को करते समय उन महापुरुषों की स्थिति निरन्तर एक ब्रह्म में ही रहती है| उनकी इस स्वाभाविक स्थिति में कभी थोड़ा भी अन्तर नहीं आता| क्योंकि जिस विभाग में क्रियाएँ होती हैं, उस विभाग (असत्) से उनका कोई सम्बन्ध ही नहीं रहता|

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ।।५-२७।।

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ।।५-२८।।

रख बाह्य विषय बाह्य करे स्थित मध्य भौं दृष्टि नयन |
करे संतुलित तब विचरित भीतर श्वसन अपान पवन ||५-२७||
कर सके जो साधक संयत बुद्धि इन्द्रियाँ और मन |
वह मुनि रहित आसक्ति भय क्रोध व् स्थित अबंधन ||५-२८||

भावार्थ: *बाह्य विषयों को बाहर ही रख कर भृकुटि के मध्य नेत्र दृष्टि को स्थिर करे| अपने भीतर विचरित प्राण एवं अपान वायु को संतुलित करे| ऐसा मुनि आसक्ति, भय एवं क्रोध से रहित है, एवं मुक्त है|*

टीका: परमात्मा के अतिरिक्त सब पदार्थ बाह्य हैं| बाह्य पदार्थों को बाहर ही छोड़ देने का तात्पर्य है कि मन से बाह्य विषयों का चिन्तन न करे| बाह्य पदार्थों के सम्बन्ध का त्याग कर्मयोग में सेवा के द्वारा और ज्ञानयोग में विवेक के द्वारा किया जाता है| यहाँ भगवान् ध्यानयोग के द्वारा बाह्य पदार्थों से सम्बन्ध विच्छेद की चर्चा कर रहे हैं| ध्यानयोग में एक मात्र परमात्मा का ही चिन्तन होने से बाह्य पदार्थों से विमुखता हो जाती है| वास्तव में बाह्य पदार्थ बाधक नहीं हैं| बाधक है, इनसे राग पूर्वक माना हुआ अपना सम्बन्ध| इस माने हुए सम्बन्ध का त्याग करने में ही बाह्य पदार्थों का त्याग है|

दृष्टि को दोनों भौंहों के बीच में रखना अथवा दृष्टि को नासिका के अग्रभाग पर रखना ध्यानकाल से सम्बंधित है| ध्यानकाल में नेत्रों को सर्वथा बंद रखने से लय दोष अर्थात् निद्रा आने की सम्भावना रहती है, और नेत्रों को सर्वथा खुला रखने से (सामने दृश्य रहने से) विक्षेप दोष आने की सम्भावना रहती है| इन दोनों प्रकार के दोषों को दूर करने के लिये आधे मुँदे हुए नेत्रों की दृष्टि को दोनों भौंहों के बीच स्थापित करने के लिये भगवान् कह रहे हैं|

नासिका से बाहर निकलने वाली वायु को 'श्वसन' और नासिका के भीतर जाने वाली वायु को 'अपान' कहते हैं| श्वसन (प्राण) वायु की गति दीर्घ और अपानवायु

की गति लघु होती है| इन दोनों को सम करने के लिये पहले बायीं नासिका से अपानवायु को भीतर ले जाकर दायीं नासिका से श्वसन (प्राण) वायु को बाहर निकालना होता है| फिर दायीं नासिका से अपानवायु को भीतर ले जाकर बायीं नासिका से श्वसन (प्राण) वायु को बाहर निकालना होता है| इन सब क्रियाओं में बराबर समय लगना चाहिए| इस प्रकार लगातार अभ्यास करते रहने से श्वसन (प्राण) और अपानवायु की गति सम, शान्त और सूक्ष्म हो जाती है|। जब नासिका के बाहर और भीतर तथा कण्ठादि क्षेत्र में वायु के स्पर्श का ज्ञान न हो, तब समझना चाहिए कि श्वसन (प्राण) एवं अपान की गति सम हो गई है| इन दोनों की गति सम होने पर (लक्ष्य परमात्मा रहने से) मन से स्वाभाविक ही परमात्मा का चिन्तन होने लगता है| ध्यानयोग में इस प्राणायाम की आवश्यकता है|

प्रत्येक मनुष्य में इन्द्रियों एवं बुद्धि का ज्ञान होता है| इन्द्रियाँ और बुद्धि, दोनों के बीच में मन का निवास है| मनुष्य को देखना यह है कि उसके मन पर इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव है, या बुद्धि के ज्ञान का प्रभाव है, अथवा आंशिक रूप से दोनों के ज्ञान का प्रभाव है| इन्द्रियों के ज्ञान में 'संयोग' का प्रभाव पड़ता है और बुद्धि के ज्ञान में 'परिणाम' का| जिन मनुष्यों के मन पर केवल इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव है, वह संयोगजन्य सुखभोग में ही लगे रहते हैं, और जिनके मन पर बुद्धि के ज्ञान का प्रभाव है, वह (परिणाम की ओर दृष्टि रहने से) सुख, भोग का त्याग करने में समर्थ हो जाते हैं, 'न तेषु रमते बुधः'| प्रायः साधकों के मन पर आंशिक रूप से इन्द्रियों और बुद्धि, दोनों के ज्ञान का प्रभाव रहता है| उनके मन में इन्द्रियों तथा बुद्धि के ज्ञान का द्वन्द्व चलता रहता है| इसलिये वह अपने विवेक को महत्व नहीं दे पाते और जो करना चाहते हैं, उसे कर नहीं पाते| यह द्वन्द्व ही ध्यान में बाधक है| अतः यहाँ मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों को वश में करने का तात्पर्य है कि मन पर केवल बुद्धि के ज्ञान का प्रभाव रह जाए इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव सर्वथा मिट जाए|

परमात्म-तत्व प्राप्ति करना ही जिनका लक्ष्य है, ऐसे परमात्म-तत्व स्वरूप का मनन करने वाले साधक को 'मोक्ष परायण' कहा गया है| परमात्म-तत्व सब देश, काल आदि में परिपूर्ण होने के कारण सर्वदा सब को प्राप्त है| परन्तु दृढ़

उद्देश्य न होने के कारण ऐसे नित्य प्राप्त तत्व की अनुभूति में देरी हो रही है| यदि एक दृढ़ उद्देश्य बन जाए तो तत्व की अनुभूति में देरी नहीं लगती| वास्तव में उद्देश्य पहले से ही बना हुआ है, क्योंकि परमात्म-तत्व प्राप्ति के लिये ही यह मनुष्य शरीर मिला है| जब साधक इस उद्देश्य को पहचान लेता है, तब उसमें परमात्म-तत्व प्राप्ति की लालसा उत्पन्न हो जाती है| यह लालसा संसार की सब कामनाओं को मिटाकर साधक को परमात्म-तत्व का अनुभव करा देती है| कर्मयोग, सांख्ययोग, ध्यानयोग, भक्तियोग आदि सभी साधनों में एक दृढ़ निश्चय या उद्देश्य की बड़ी आवश्यकता है| अगर अपने कल्याण का उद्देश्य ही दृढ़ नहीं होगा, तो साधना से सिद्धि कैसे मिलेगी?

अपनी इच्छा की पूर्ति में बाधा देने वाले प्राणी को अपने से सबल मानने पर उससे भय होता है, निर्बल मानने से उस पर क्रोध आता है| जीने की इच्छा रहने पर मृत्यु से भय होता है| दूसरों से अपनी इच्छा पूर्ति करवाने तथा दूसरों पर अपना अधिकार जमाने की इच्छा से क्रोध होता है| अतः भय और क्रोध होने में इच्छा ही मुख्य है| यदि मनुष्य में इच्छा पूर्ति का उद्देश्य न रहे, प्रत्युत एक मात्र परमात्म-तत्व प्राप्ति का उद्देश्य रह जाए तो भय, क्रोध सहित इच्छा का सर्वथा अभाव हो जाता है| इच्छा का सर्वथा अभाव होने पर मनुष्य मुक्त हो जाता है| साधक को गम्भीरता पूर्वक विचार करना चाहिए कि क्या वस्तुओं की इच्छा से वस्तुएँ मिल जाती हैं? क्या जीने की इच्छा से मृत्यु से बच सकते हैं? वास्तविकता तो यह है कि न तो वस्तुओं की इच्छा पूरी कर सकते हैं, और न मृत्यु से ही बच सकते हैं| इसलिये यदि साधक का यह दृढ़ निश्चय हो जाए कि मुझे एक परमात्म-तत्व प्राप्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं चाहिए, तो वह वर्तमान में ही मुक्त हो सकता है| मुक्त होने के लिये इच्छा रहित होना आवश्यक है| यदि वस्तुओं की इच्छा न रहे तो जीवन आनन्दमय हो जाता है, और यदि जीने की इच्छा न रहे तो मृत्यु भी आनन्दमयी हो जाती है| जीवन तभी कष्टमय होता है जब वस्तुओं की इच्छा करते हैं, और मृत्यु तभी कष्टमयी होती है, जब जीने की इच्छा होती है| इसलिये जिसने वस्तुओं की और जीने की इच्छा का सर्वथा त्याग कर दिया है, वह मुनि मुक्त हो जाता है, अमर हो जाता है|

उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थों के साथ अपना सम्बन्ध मानना ही बन्धन है| इस माने हुए सम्बन्ध का सर्वथा त्याग करना ही मुक्ति है| जो मुक्त हो गया है, उस पर किसी भी घटना, परिस्थिति, निन्दा-स्तुति, अनुकूलता-प्रतिकूलता, जीवन-मरण आदि का किंचित मात्र भी प्रभाव नहीं पड़ता| वास्तव में साधक स्वरूप से सदा मुक्त ही है| केवल उत्पन्न और नष्ट होने वाली वस्तुओं से अपना सम्बन्ध मानने के कारण उसे अपने मुक्त स्वरूप का अनुभव नहीं हो रहा है| संसार से माना हुआ सम्बन्ध मिटते ही स्वतः सिद्ध मुक्ति का अनुभव हो जाता है|

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ।।५-२९।।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मेविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसन्यासयोग नाम पंचमऽध्यायः ।।

समझे जो मुझे भोक्ता यज्ञ तप सभी लोकेश महन ।
सुहिय मधुर कृपालु पा जाए वह भक्त सुख अमन ।।५-२९।।

करते हुए ओम तत सत पूर्ण भगवन्नाम उच्चारन ।
ब्रह्मविद्या योगशास्त्रमय महाग्रंथ गीतबंधन ।।
श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषदरूप ग्रन्थ अति पावन ।
श्री कृष्णार्जुन संवाद कर्मयोगसंन्यास नामन ।।
हुआ अत्र सम्पूर्ण पंचम अध्याय करे कल्याण जन ।।

भावार्थ: *जो मुझे यज्ञ और तप का भोक्ता, सम्पूर्ण लोकों का महान् ईश्वर, सुहृदय, मधुर एवं कृपालु समझता है वह भक्त सुख और शान्ति को प्राप्त होता है|*

इस प्रकार उपनिषद, ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र रूप श्रीमद्भगवद्गीता के श्री कृष्ण-अर्जुन संवाद में 'कर्मयोगसंन्यास' नामक पंचम अध्याय संपूर्ण हुआ|

टीका: जब मनुष्य कोई शुभ कर्म करता है, तो जिन शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, पदार्थ आदि से शुभ कर्म करता है वह उन को अपना मानता है और जिसके लिये शुभ कर्म करता है, उसे उस कर्म का भोक्ता मानता है| जैसे किसी देवता की पूजा की, तो उस देवता को पूजा रूप कर्म का भोक्ता मानता है| किसी की सेवा की, तो उसे सेवा रूप कर्म का भोक्ता मानता है| किसी भूखे व्यक्ति को अन्न दिया तो, उसे अन्न का भोक्ता मानता है, आदि| इस मान्यता को दूर करने के लिये भगवान् कहते हैं कि वास्तव में सम्पूर्ण शुभ कर्मों का भोक्ता मैं ही हूँ| इसका कारण है कि समस्त प्राणियों के हृदय में भगवान् विद्यमान हैं| इसलिये किसी का पूजन करना, किसी को अन्न, जल देना, किसी को मार्ग बताना, आदि जितने भी शुभ कर्म हैं, उन सब का भोक्ता भगवान् को ही मानना चाहिए| लक्ष्य भगवान् पर ही रहना चाहिए प्राणी पर नहीं, 'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता'|

स्मरण रहे कि जिनसे शुभ कर्म किए जाते हैं, वह शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, पदार्थ आदि अपने नहीं हैं, प्रत्युत भगवान् के हैं| उनको अपना मानना भूल है| उनको अपना मानकर अपने लिये शुभ कर्म करने से मनुष्य स्वयं उन कर्मों का भोक्ता बन जाता है| अतः भगवान् कहते हैं कि तुम सम्पूर्ण शुभ कर्मों को अपने लिये कभी मत करो, केवल मेरे लिये ही करो| ऐसा करने से तुम उन कर्मों के फल भागी नहीं बनोगे और तुम्हारा कर्मों से सम्बन्ध विच्छेद हो जाएगा| कामना से ही सम्पूर्ण अशुभ कर्म होते हैं| कामना का त्याग करके केवल भगवान् के लिये ही सब कर्म करने से अशुभ कर्म तो स्वरूप से ही नहीं होते तथा शुभ कर्मों से अपना सम्बन्ध नहीं रहता| इस प्रकार सम्पूर्ण कर्मों से सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद होने पर परम शान्ति की प्राप्ति हो जाती है|

भिन्न भिन्न लोकों के भिन्न भिन्न स्वामी हो सकते हैं, किन्तु वह सब भगवान् के अधीन हैं| भगवान् सम्पूर्ण लोकों के स्वामियों के ईश्वर हैं| शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण, स्त्री, पुत्र, धन, भूमि, मकान आदि को अपना मानते हुए प्रायः लोग कहा करते हैं कि भगवान् ही सारे संसार के मालिक हैं| यह वास्तव में धोखा है| यह यथार्थ रूप में भगवान् को सर्वलोक महेश्वर मानना नहीं है| जब प्राणी वस्तुओं को अपनी मानता है, तब वह भगवान् को सर्वलोक महेश्वर नहीं मानता| मनुष्य को शरीरादि पदार्थों का सदुपयोग करने का ही अधिकार है, अपना

मानने का बिलकुल नहीं| इन पदार्थों को अपना न मानकर केवल भगवान् के ही मानते हुए उन्हीं की सेवा में लगा देने से परम शान्ति की प्राप्ति हो जाती है|

जो सम्पूर्ण लोकों के स्वामियों के भी ईश्वर हैं, वह बिना कारण स्वाभाविक ही प्राणियों का हित करने वाले, प्राणियों की रक्षा करने वाले तथा प्राणियों से प्रेम करने वाले हैं, ऐसा समझना चाहिए| उनके समान हितैषी, रक्षक तथा प्रेमी दूसरा और कोई नहीं है| महान् शक्तिशाली भगवान् बिना किसी प्रयोजन के हमारे परम सुहृद् हैं| उनके होते हुए भय, चिन्ता, उद्वेग, अशान्ति कैसे हो सकते हैं? प्राणियों का बिना कारण हित करने वाले दो ही हैं, भगवान् और उनके भक्त| भगवान् को किसी से कुछ भी पाना नहीं है, 'नानवाप्तमवाप्तव्यम्', इसलिये वह स्वाभाविक ही सबके सुहृद् हैं| भक्त भी अपने लिये किसी से कुछ भी नहीं चाहता और सब का हित चाहता तथा करता है, इसलिये वह भी सबका सुहृद् होता है, 'सुहृदः सर्वदेहिनाम्'| भक्तों में जो सुहृत्ता आती है, वह भी मूलतः भगवान् से ही आती है| भगवान् सम्पूर्ण यज्ञों और तपों के भोक्ता हैं, सम्पूर्ण लोकों के महान् ईश्वर हैं तथा हमारे परम सुहृद् हैं, इन तीनों बातों में से अगर एक बात भी दृढ़ता से मान लें तो भगवत् रूप परम शान्ति की प्राप्ति हो जाती है| अपने लिये कुछ भी चाहना, किसी भी वस्तु को अपनी मानना और भगवान् को अपना न मानना, ये तीनों बातें भगवत् प्राप्ति में मुख्य बाधक हैं| अपने लिये सुख की इच्छा का त्याग तभी होता है, जब मनुष्य किसी भी प्राणी, पदार्थ को अपना न माने| सुख की इच्छा के त्याग से ममता का त्याग और ममता के त्याग से सुख की इच्छा का त्याग होता है| जब सब वस्तु, व्यक्तियों में ममता का त्याग हो जाता है, तब एक मात्र भगवान् ही अपने रह जाते हैं| जो किसी को भी अपना मानता है, वह वास्तव में भगवान् को सर्वथा अपना नहीं मानता| माने हुए सम्बन्ध का अभाव होने से भगवान् से अपनी सत्य आत्मीयता जाग्रत् हो जाती है| इसका तात्पर्य है कि सुख की इच्छा का त्याग हो जाए, ममता का अभाव हो जाए और भगवान् में सत्य आत्मीयता हो जाए तब तुरंत परम शान्ति का अनुभव हो जाता है|

जब मनुष्य कर्म करता है पर कर्म करने की विद्या नहीं जानता अथवा कर्म करने की विद्या जानता है पर कर्म नहीं करता, तब उसके द्वारा सुचारु रूप से

कर्म नहीं होते| इसलिये भगवान् ने कर्म करने को कहा है, पर साथ में कर्मों को जानने की बात भी कही है| कर्मों का तत्व जानना विशेष आवश्यक है| यद्यपि कर्मयोग और सांख्ययोग, दोनों के द्वारा कल्याण होने की बात कही है, तथापि भगवान् ने सांख्ययोग की अपेक्षा कर्मयोग को श्रेष्ठ बताया है|

अध्याय ६: आत्मसंयमयोग

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ।।६-१।।

छंद:
कर त्याग कर्म फल करे जो प्राज्ञ कर्तव्य कर्म पालन |
है वह सन्यासी न कि जो करे त्याग अग्नि और करन ||६-१||

भावार्थ: *जो ज्ञानी कर्म फल का त्याग कर कर्तव्य पालन करता है, वह सन्यासी है, न कि वह जिसने अग्नि एवं कर्म का त्याग किया है|*

टीका: भगवान् कहते हैं कि मनुष्य कर्म फल का आश्रय न रखकर कर्तव्य कर्म करे| कर्म फल के आश्रय का त्याग करने वाला नैष्ठिकी शान्ति को प्राप्त होता है| कर्म फल का आश्रय रखने वाला सांसारिक बंधन में बंध जाता है| तीन प्रकार के कर्म फल होते हैं, स्थूल, सूक्ष्म और कारण| इन तीनों में से किसी का भी आश्रय न लेकर कर्म को केवल लोक हित के लिए ही करना चाहिए| स्थूल शरीर से क्रियाओं और पदार्थों को संसार का ही मानकर उनका उपयोग संसार के हित में करें| सूक्ष्म शरीर से चिंतन करें कि दूसरों का हित कैसे हो, सब सुखी कैसे रहें| शरीर से होने वाली समाधि का भी फल संसार के हित के लिये अर्पण करें| स्मरण रखें कि यह तीनों शरीर न अपने (व्यक्तिगत) हैं और न ही अपने लिये, प्रत्युत संसार की सेवा के लिये ही हैं| इन तीनों की संसार के साथ अभिन्नता और अपने स्वरूप के साथ भिन्नता समझना ही कर्म फल का आश्रय लेना नहीं है| इन तीनों से केवल संसार के हित के लिये कर्म करना ही कर्तव्य कर्म करना माना जाता है| जो संसार से मिली हुई वस्तुओं को संसार की सेवा में लगा देते हैं, वही संन्यासी हैं|

जो कर्म शास्त्रविधि है, वही कर्तव्य कर्म है| इसके विपरीत जो शास्त्रों में निषेध है, वह अकर्तव्य (अकार्य) है| प्रभु कह रहे हैं कि कर्म फल का आश्रय न लेकर शास्त्रविहित और लोक मर्यादा के अनुसार प्राप्त कर्तव्य कर्म को निष्काम भाव

से दूसरों के हित के लिये ही करना चाहिए| यहां कर्म और उसके फल की आसक्ति को मिटाने के लिये ही प्रभु ने प्रेरणा दी है|

कर्तव्य कर्म में लिप्त ज्ञानी ही संन्यासी है| वह कर्तव्य कर्मों को करते हुए कभी सुखी अथवा दुःखी नहीं होता, कर्मों की सिद्धि, असिद्धि में सम रहता है, कर्म फल का आश्रय न लेकर कर्म करने से उसके कर्तृत्व और भोक्तृत्व का नाश हो जाता है, उसका न तो कर्म के साथ सम्बन्ध रहता है और न फल के साथ, इसलिये वह संन्यासी है|

प्रभु कह रहे हैं कि केवल अग्नि रहित होने से कोई संन्यासी नहीं हो जाता| जिसने ऊपर से तो यज्ञ, हवन आदि का त्याग कर दिया है, पदार्थों का त्याग कर दिया है, पर उसके अंदर क्रियाओँ और पदार्थों का राग है, महत्व है, प्रियता है, वह संन्यासी नहीं हो सकता|

प्रायः ऐसी धारणा है कि जो मनुष्य कोई भी क्रिया नहीं करता, स्वरूप से क्रियाओँ और पदार्थों का त्याग करके वन में चला जाता है अथवा निष्क्रिय होकर समाधि में बैठा रहता है, वही संन्यासी होता है, परन्तु भगवान् कहते हैं कि जब तक मनुष्य उत्पन्न-विनाशशील वस्तुओँ के आश्रय का त्याग नहीं करता और मन से उनके साथ अपना सम्बन्ध जोड़े रखता है, तब तक वह कितना ही अक्रिय हो जाए चित्त की वृत्तियों का सर्वथा निरोध कर ले, पर वह संन्यासी नहीं हो सकता| चित्त की वृत्तियों का सर्वथा निरोध होने से उसको सिद्धियाँ की प्राप्त तो हो सकती हैं, पर उसका कल्याण नहीं हो सकता|

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन ।।६-२।।

संन्यास को ही समझो तुम योग युद्धिवन अर्जुन |
बिन त्याग संकल्प नहीं हो सकता कोई योगी जन ||६-२||

भावार्थ: *हे योद्धा अर्जुन, संन्यास को ही योग समझो क्योंकि संकल्प के त्याग किए बिना कोई योगी नहीं हो सकता|*

टीका: संन्यास (सांख्ययोग) और योग (कर्मयोग), दोनों ही स्वतन्त्रता से कल्याण करने वाले हैं| दोनों का फल भी एक ही है, अर्थात् संन्यास और योग दो नहीं हैं, एक ही हैं| जैसे संन्यासी सर्वथा त्यागी होता है, वैसे ही कर्मयोगी भी सर्वथा त्यागी होता है| अतः फल और आसक्ति का सर्वथा त्याग करके जो नियत कर्तव्य कर्म केवल कर्तव्य समझकर ही किया जाता है, वह 'सात्त्विक त्याग' है| इससे पदार्थों और क्रियाओं से सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है और मनुष्य त्यागी अर्थात् योगी हो जाता है| इसी तरह संन्यासी भी कर्तृत्वाभिमान का त्यागी होता है| अतः दोनों ही त्यागी हैं|

मन में जो भावनाएं आती हैं, उनके प्रति प्रियता, अप्रियता पैदा हो जाना ही संकल्प है| इस संकल्प का त्याग किए बिना मनुष्य योगी नहीं हो सकता अपितु भोगी होता है| परमात्मा के साथ सम्बन्ध का नाम योग है| जिसके अंदर पदार्थों में महत्व, सुन्दर तथा सुख बुद्धि है, वह (पदार्थों के साथ सम्बन्ध मानने से) भोगी ही है, योगी नहीं| वह योगी तब होता है, जब उसकी असत् पदार्थों में महत्व तथा सुख बुद्धि नहीं रहती, वह सम्पूर्ण संकल्पों का त्यागी हो जाता है, जब वह भगवान् के साथ अपने नित्य सम्बन्ध का अनुभव करने लगता है| संकल्प का त्याग किए बिना मनुष्य कोई भी योगी, कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, भक्तियोगी, इत्यादि नहीं हो सकता|

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ।।६-३।।

है इच्छा यदि साधक हो वह आरूढ़ योग अर्जुन |
हो सिद्धि तब जब हो वह लिप्त कर्तव्य कर्म पावन ||
हो आसीन योग करे प्राप्त शम और तत्व भगवन ||६-३||

भावार्थ: *हे अर्जुन, यदि साधक की इच्छा योग में आसीन होने की हो, तब वह पवित्र कर्तव्य कर्म में लिप्त होने पर ही सफलता प्राप्त कर सकता है| इस प्रकार योगासन हो कर शान्ति एवं परमात्म-तत्व की प्राप्ति करे|*

टीका: जो योगी समता में आरूढ़ होना चाहता है, ऐसे मननशील योगी के लिये निष्काम भाव से कर्तव्य कर्म में लिप्त होना आवश्यक है| जब तक प्राकृत वस्तुओं को पुरुष संसार की सेवा में नहीं लगा देता, तब तक वह योगारूढ़ नहीं हो सकता, अर्थात् समता में स्थित नहीं हो सकता| स्मरण रहे कि प्राकृत वस्तुओं की संसार के साथ एकता है, प्रभु के साथ नहीं|

भगवान् कहते हैं कि यज्ञ के लिये अर्थात् दूसरों के हित के लिये कर्म करने वालों के सम्पूर्ण कर्म लीन हो जाते हैं, अर्थात् किंचित मात्र भी बन्धन कारक नहीं होते| यज्ञ से अन्यत्र, अर्थात् अपने लिये किए गए कर्म बन्धन कारक होते हैं| योगारूढ़ होने में कर्म कारण है| फल की प्राप्ति, अप्राप्ति में हमारी समता है या नहीं, उसका हमारे ऊपर कोई प्रभाव है अथवा नहीं, इसका पता तभी लगता है, जब हम कर्म करते हैं|

असत्य के साथ सम्बन्ध रखने से ही अशान्ति पैदा होती है| जब यह शरीरादि असत् पदार्थों को संसार की सेवा में लगाकर उनसे अपना सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद कर लिया जाता है, तब असत् के त्याग से स्वतः शान्ति मिल जाती है| अगर साधक उस शान्ति में भी सुख लेने लग जाएगा, तो वह बँध जाएगा| अगर उस शान्ति में राग नहीं करेगा, उससे सुख नहीं लेगा, तो वह शान्ति साधक को परमात्म-तत्व की ओर ले जाती है|

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसङ्कल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ।।६-४।।

रहे जब नहीं आसक्ति विषय इन्द्रिय कर्म हे अर्जुन |
कर त्याग सभी संकल्प हो जाए वह योगासीन जन ||६-४||

भावार्थ: *हे अर्जुन, जब इन्द्रिय विषय एवं कर्म में आसक्ति नहीं रहती, तब सम्पूर्ण संकल्पों का त्याग कर वह प्राणी योगासीन हो जाता है|*

टीका: सांसारिक सुख भोगने की प्रवृत्ति होने पर इन्द्रियों के भोगों में आसक्ति बढ़ती है, अतः साधक को चाहिए कि अनुकूल वस्तु, पदार्थ, व्यक्ति आदि के मिलने की इच्छा न करे और बिना इच्छा के अनुकूल वस्तु आदि मिल भी जाए तो उससे संतुष्ट न हो| इन्द्रियों के भोगों में आसक्ति नहीं होने की यही विधि है| जिस प्रकार इन्द्रियों के अर्थों में आसक्ति नहीं होनी चाहिए, उसी प्रकार कर्मों में भी आसक्ति नहीं होनी चाहिए| क्रियमाण कर्मों की पूर्ति, अपूर्ति में और उन कर्मों के तात्कालिक फल की प्राप्ति, अप्राप्ति में किंचित मात्र भी आसक्ति नहीं होनी चाहिए|

संकल्प ही अनुकूलता, प्रतिकूलता के कारण सुखदायी और दुःखदायी होता है| सुखदायी एवं दुःखदायी, दोनों ही प्रकार के संकल्प लिप्तता कराते हैं| स्मरण रहे कि संकल्प न तो अपने स्वरूप का बोध होने देता है, न दूसरों की सेवा करने देता है, न भगवान् में प्रेम होने देता है, न भगवान् में मन लगने देता है और न ही अपने समीप के कुटुम्बियों के अनुकूल ही बनने देता है| संकल्प रखने से न अपना हित होता है, न संसार का हित होता है, न कुटुम्बियों की कोई सेवा होती है, न भगवान् की प्राप्ति होती है और न ही अपने स्वरूप का बोध होता है| इससे केवल हानि ही हानि होती है। ऐसा समझकर साधक को सम्पूर्ण संकल्पों से रहित हो जाना चाहिए| मन में होने वाली स्फुरणा यदि संकल्प का रूप धारण न करे तो वह स्फुरणा स्वतः नष्ट हो जाती है| स्फुरणा होने मात्र से मनुष्य की हानि नहीं होती और पतन भी नहीं होता, परन्तु समय नष्ट होता है, अतः स्फुरणा भी त्याज्य है| संकल्पों का त्याग किए बिना साधक योगारूढ़ नहीं हो सकता| योगारूढ़ हुए बिना परमात्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती, कृत-कृत्यता नहीं मिल सकती, मनुष्य जन्म सार्थक नहीं हो सकता, भगवान् में प्रेम नहीं हो सकता, दुःखों का सर्वथा अन्त नहीं हो सकता।

संकल्पों का त्याग कुछ नियमों के पालन से किया जा सकता है| (१) हमें प्रभु ने दुर्लभ मनुष्य जन्म दिया है ताकि इससे अपना उद्धार हो सके, अतः हमें मनुष्य

जन्म के अमूल्य, मुक्ति दायक समय को निरर्थक संकल्पों में बरबाद नहीं करना है, ऐसा विचार करके संकल्प हटा दें| (२) कर्मयोग के साधक बन अपने कर्तव्य कर्म का पालन करें| साधक को भूत, भविष्य काल के संकल्प, विकल्पों में नहीं फंसते हुए आसक्ति रहित होकर कर्तव्य कर्म करने में लगे रहना चाहिए| (३) प्रायः मन में जितने भी संकल्प आते हैं, वह भूतकाल के आते हैं, जो कि अभी नहीं है अथवा भविष्य काल के आते हैं जो कि आगे होने वाले हैं, अर्थात् जो अभी नहीं है| अतः जो अभी नहीं है, उसके चिन्तन में समय बरबाद करना व्यर्थ है| जो भगवान् अभी हैं, अपने में हैं और अपने हैं, उनका चिन्तन करना चाहिए| ऐसा विचार कर संकल्पों का सर्वथा त्याग कर दें|

सिद्धि, असिद्धि में सम रहना ही 'योग' है| इस योग अर्थात् समता पर आरूढ़ होना, स्थित होना ही, योगारूढ़ होना है| योगारूढ़ होने पर परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है|

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।।६-५।।

करें साधक स्व-उद्धार स्वयं नहीं जाए ओर पतन |
रहे स्मरण हो तुम स्वयं मित्र एवं स्वयं ही वैरिन ||६-५||

भावार्थ: *साधक को स्वयं ही अपना उद्धार करना चाहिए, पतन की ओर नहीं जाना चाहिए| स्मरण रहे कि तुम स्वयं मित्र एवं स्वयं ही शत्रु हो|*

टीका: स्वयं से उद्धार करने का तात्पर्य है कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण आदि से अपने आपको ऊँचा उठा लेना| अपने स्वरूप से जो एकदेशीय 'मैंपन' दिखता है, उससे रहित हो जाना| शरीर, इन्द्रियाँ आदि और 'मैंपन,' यह सभी प्रकृति के कार्य हैं, अपना स्वरूप नहीं है| जो अपना स्वरूप नहीं है, उसका त्याग करो| अपना स्वरूप तो परमात्मा के साथ एक है जब कि शरीर, इन्द्रियाँ आदि तथा 'मैंपन' प्रकृति के साथ एक हैं| परमात्मा की प्राप्ति के लिये शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि की आवश्यकता नहीं है| स्मरण रहे कि असत्य द्वारा सत्य

की प्राप्ति नहीं होती, प्रत्युत असत्य के त्याग से ही सत्य की प्राप्ति होती है| 'स्वयं' सदा एकरूप रहता है| अतः उत्पन्न और नष्ट होने वाले पदार्थ आदि में न फंसना, उनके अधीन न होना, उनसे निर्लिप्त रहना ही अपना उद्धार करना है| मनुष्य मात्र में एक ऐसी विचार शक्ति है, जिसको काम में लाने से वह अपना उद्धार कर सकता है| ज्ञानयोग का साधक उस विचार शक्ति से जड़, चेतन का अलगाव करके चेतन (अपने स्वरूप) में स्थित हो जाता है और जड़ (शरीर एवं संसार) से सम्बन्ध विच्छेद कर लेता है| भक्तियोग का साधक उसी विचार शक्ति से 'मैं भगवान् का हूँ और भगवान् मेरे हैं', इस प्रकार भगवान् से आत्मीयता कर अपना उद्धार कर लेता है| कर्मयोग का साधक उसी विचार शक्ति से मिले हुए शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि पदार्थों को संसार का ही मानते हुए संसार की सेवा में लगाकर उन पदार्थों से सम्बन्ध विच्छेद कर लेता है और अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है| इस दृष्टि से मनुष्य अपनी विचार शक्ति को कार्यान्वित कर किसी भी योग मार्ग से अपना कल्याण कर सकता है|

'स्वयं' ही आप अपने मित्र हैं| स्वयं को अपने उद्धार के लिये किसी योग्यता की आवश्यकता नहीं है| स्वयं को शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि की आवश्यकता नहीं है| उसी प्रकार किसी वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदि की भी आवश्यकता नहीं है। इसका तात्पर्य है कि प्राकृत पदार्थ स्वयं के साधक अथवा बाधक नहीं हैं| यह स्वयं ही अपना उद्धार कर सकता है, इसलिये यह स्वयं ही अपना बन्धु (मित्र) है| हमारे जो सहायक हैं, रक्षक हैं, उद्धारक हैं, उनमें जब हम श्रद्धा, भक्ति का भाव रखेंगे, उनकी बात मानेंगे, तभी वह हमारे बन्धु होंगे, सहायक होंगे| अतः मूल में हम ही हमारे बन्धु हैं, क्योंकि हमारे माने बिना, हमारे श्रद्धा, विश्वास बिना, हमारा उद्धार नहीं हो सकता|

हम स्वयं ही अपने शत्रु भी हैं| जो विचार अपने द्वारा अपने आपका उद्धार नहीं करता, वह अपने आप का शत्रु ही तो है| प्रकृति के कार्य शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि भी इसका अपकार करने में समर्थ नहीं हैं| यह शरीर, इन्द्रियाँ आदि जैसे इस का अपकार नहीं कर सकते, ऐसे ही इसका उपकार भी नहीं कर सकते| जब स्वयं उन शरीरादि को अपना मान लेता है, तो यह स्वयं ही अपना शत्रु बन जाता है| इसका तात्पर्य है कि उन प्राकृत पदार्थों से अपनेपन की

स्वीकृति ही अपने साथ अपनी शत्रुता है| प्रकृति के कार्य के साथ किंचित मात्र भी सम्बन्ध न मानने से यह आप ही अपना मित्र है, और प्रकृति के कार्य के साथ किंचित मात्र भी सम्बन्ध मानने से यह आप ही अपना शत्रु है|

बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ।।६-६।।

पा सके जो विजय विषय द्वारा आत्मा पृथानंदन।
है मित्र आत्मा उसकी समझो ऐसा प्रिय अर्जुन॥
किन्तु जो अजितेन्द्रिय समझो आत्मा उसकी द्विषन् ॥६-६॥

भावार्थ: *हे प्रिय अर्जुन, जो आत्मा (स्वयं) के द्वारा अपने विषयों (इन्द्रियों) पर विजय प्राप्त कर लेता है,उसकी आत्मा मित्र है, ऐसा समझो| लेकिन जो अजितेन्द्रिय है, उसकी आत्मा (स्वयं) उसकी शत्रु है|*

टीका: स्वयं में स्वयं के अतिरिक्त और कोई कोई सत्ता नहीं है| अतः जिसने स्वयं के द्वारा विषयों (शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि) पर विजय प्राप्त कर ली, वही स्वयं का मित्र है| वह अपने आप में स्थित हो गया, ऐसा समझो| ऐसे पुरुष का अन्तःकरण समता में स्थित हो जाता है| ब्रह्म निर्दोष और सम है| ब्रह्म की निर्दोषता और समता उसके अन्तःकरण पर आ जाती है| वास्तव में ब्रह्म में स्थिति तो नित्य, निरन्तर ही है, केवल मन, बुद्धि आदि को अपना मानने से ही उस स्थिति का अनुभव नहीं हो पा रहा था| संसार में लोक हित बिना विषयों पर विजय प्राप्त किए नहीं किया जा सकता| लोक हित करने के लिए स्वयं को पराजित करना होता है| इस दृष्टि से साधक स्वयं पहले पराजित होकर विषय इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करता है| जैसे कोई अस्त्र, शस्त्रों से दूसरे को पराजित करता है, तो वह दूसरों को पराजित करने में अपने लिये अस्त्र, शस्त्रों की आवश्यकता मानता है, अतः स्वयं अस्त्र, शस्त्रों से पराजित हो जाता है| उसी प्रकार कोई शास्त्र के द्वारा, बुद्धि के द्वारा शास्त्रार्थ करके दूसरों पर विजय प्राप्त करता है, तो वह स्वयं पहले शास्त्र और बुद्धि से पराजित हो जाता है| इसका तात्पर्य है कि जो किसी भी साधन से जिस किसी पर भी विजय प्राप्त

करता है, वह अपने आपको पहले पराजित करता है| स्वयं पराजित हुए बिना दूसरों पर कभी कोई विजय प्राप्त नहीं कर सकता, यही नियम है| अतः जो अपने लिये दूसरों की किंचित मात्र भी आवश्यकता नहीं समझता, वही अपने आप से अपने आप पर विजय प्राप्त करता है, और वही स्वयं अपना बन्धु है|

जो अपने अतिरिक्त दूसरे साधनों, अर्थात् शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, धन, वैभव, राज्य, भूमि, घर, पद, अधिकार, आदि की अपने लिये आवश्यकता मानता है, वह 'अनात्मा' है| ऐसा अनात्मा होकर जो किसी भी प्राकृत पदार्थ को अपना समझता है, वह आप ही अपने साथ शत्रुता का बर्ताव करता है| यद्यपि वह यह समझता है कि मन, बुद्धि आदि को अपना मानकर मैंने उन पर अपना आधिपत्य कर लिया है, उन पर विजय प्राप्त कर ली है, वास्तव में (उनको अपना मानने से) वह स्वयं ही पराजित हुआ है| जब स्वयं प्रकृतिजन्य पदार्थों के साथ मनुष्य अपना सम्बन्ध स्थापित करना आरम्भ कर देता है, यहीं से शत्रुता भी आरम्भ हो जाती है| जब उसका हेतु मान, प्रशंसा, कीर्ति आदि हो जाते है तब वह पतन की ओर अग्रसर हो जाता है| स्मरण रहे कि मानव शरीर जड़ता का सर्वथा त्याग कर केवल चिन्मयता की प्राप्ति के लिए ही मिला है| इस नित्य सत्य को भूलकर जब साधक वर्तमान में अथवा मृत्यु पश्चात भी अपनी मूर्ति, चित्र आदि के रूप में अपना स्वरुप एवं अस्तित्व स्थित रहने की कामना करता है, तब वह शत्रु भाव में स्थित है| भगवान् कह रहे हैं कि असत् वस्तु का आश्रय लेकर मनुष्य अपने हित की दृष्टि से जो बर्ताव करता है, वह बर्ताव स्वयं के साथ शत्रु की तरह ही होता है, क्योंकि असत् वस्तु का आश्रय जन्म, मृत्यु जैसे महान् दुःख देने वाला है|

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ।।६-७।।

कर लेता प्राप्त विजय स्वयं पर होता तब योगी जन |
अनुकूल प्रतिकूल परिस्थिति रहे सदा शांत मन ||
रहे सम सुख दुःख मान अपमान पाए तब वह भगवन ||६-७||

भावार्थ: *जो स्वयं पर विजय प्राप्त कर लेता है, वही योगी है| अनुकूल अथवा प्रतिकूल परिस्थिति में उसका मन सदा शांत रहता है| सुख-दुःख, मान-अपमान में सम रहे तब उसे भगवद प्राप्ति हो जाती है|*

टीका: जो अपनी मित्रवत आत्मा (स्वयं) के द्वारा शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि समस्त प्राकृत पदार्थों पर विजय प्राप्त कर लेता है, वही 'जितात्मा' अथवा योगी है| वह प्रत्येक परिस्थिति, अनुकूल अथवा प्रतिकूल, में शांत रहता है| बाहर से होने वाले संयोग, वियोग का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता| उसे मान-अपमान, सुख-दुःख का कोई अनुभव नहीं होता, वह इनसे निर्विकार होता है|

सुख और दुःख दो प्रकार के होते हैं| (१) साधारण लौकिक दृष्टि से जिसके पास धन, सम्पत्ति, वैभव, स्त्री, पुत्र आदि अनुकूल सामग्री की बहुलता हो, उसको लोग सुखी कहते हैं। जिसके पास धन, सम्पत्ति, वैभव, स्त्री, पुत्र आदि अनुकूल सामग्री का अभाव हो, उसको लोग दुःखी कहते हैं| (२) जिसके पास बाह्य सुखदायी सामग्री नहीं है, उदाहरण के रूप में घर नहीं है, भोजन व्यवस्था नहीं है, तन ढकने को ठीक से कपड़े नहीं है इत्यादि, ऐसी दयनीय अवस्था होने पर भी जिसके मन में दुःख, सन्ताप नहीं होता और जो किसी वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदि की आवश्यकता का अनुभव नहीं करता, प्रत्युत हर हाल में प्रसन्न रहता है, वह सुखी कहलाता है| परन्तु जिसके पास बाह्य सुखदायी सामग्री पूरी है, ऐसी अवस्था होने पर भी दिन रात चिंतित रहता है वह दुःखी कहलाता है| साधक को बाह्य सामग्री में सम रहना चाहिए, यही भगवान् द्वारा कथित 'दुःख, सुख सम' है|

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।।६-८।।

जो रहित विकार और तृप्त ज्ञान विज्ञान अंतःकरन |
है जितेन्द्रिय रखे बुद्धि सम मृदा स्वर्ण या ग्रावन ||
है युक्त योग वह जन पा सके परमात्म-तत्व अर्जुन ||६-८||

भावार्थ: *हे अर्जुन, जो विकार रहित है और अंतःकरण में ज्ञान, विज्ञान से तृप्त है, जो जितेन्द्रिय है, मिट्टी, स्वर्ण, पत्थर में सम बुद्धि रखता है, योग युक्त है, वह परमात्म-तत्व को प्राप्त करता है|*

टीका: यहां प्रभु कर्मयोग समझा रहे हैं| कर्तव्य कर्म का बोध ही 'ज्ञान' है| कर्मों की सिद्धि, असिद्धि में सम रहने को 'विज्ञान' कहते हैं| स्थूल शरीर से होने वाली क्रिया, सूक्ष्म शरीर से होने वाला चिन्तन और शरीर से होने वाली समाधि, इन तीनों को जब लोक हित के लिए किया जाता है तब वह 'ज्ञान' है| 'कर्मों से मिलने वाले फल का आदि और अन्त होता है, परन्तु स्वयं मैं परमात्मा का अंश हूँ, नित्य हूँ', ऐसा ज्ञान होने पर साधक कर्मों की पूर्ति, अपूर्ति में और पदार्थों की प्राप्ति, अप्राप्ति में सम रहता है, यही 'विज्ञान' है| इस ज्ञान और विज्ञान से जब वह स्वयं तृप्त हो जाता है, तब उसके लिये करना, जानना और पाना, कुछ भी शेष नहीं रहता| वह निर्विकार हो जाता है, कूटस्थ हो जाता है| मिट्टी, पत्थर, स्वर्ण, उसे सब एक समान ही लगने लगते हैं| यही सम सिद्ध कर्मयोगी है| सम रहने का अर्थ यह नहीं है कि उसको मिट्टी, पत्थर और स्वर्ण का ज्ञान नहीं है, बल्कि उनकी प्राप्ति पर उसे एक जैसा ही अनुभव होता है| स्वर्ण का उसे लोभ नहीं और मिट्टी से कोई भेद भाव नहीं| ऐसी स्थिति होने पर साधक योगारूढ़ हो कर भगवद् प्राप्ति करता है|

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ।।६-९।।

रखे जो सम भाव प्रिय अप्रिय बंधु रिपु संत असंतन |
रहे सम उदासीन मध्यस्थ है वही सम बुद्धि श्रेष्ठ जन ||६-९||

भावार्थ: *जो प्रिय, अप्रिय, मित्र, शत्रु, संत, दुष्ट, उदासीन, मध्यस्थ सब में समता रखता है, वही सम बुद्धि श्रेष्ठ पुरुष है|*

टीका: ममता रहित होकर बिना किसी कारण के सब का हित चाहने एवं करने वाले को सुहृद् अथवा प्रिय कहते हैं| जो उपकार के बदले उपकार करने वाला

होता है, उसको मित्र कहते हैं| जैसे प्रिय का बिना कारण दूसरों का हित करने का स्वभाव होता है, ऐसे ही जिसका बिना कारण दूसरों का अहित करने का स्वभाव होता है उनको अप्रिय अथवा शत्रु कहते हैं| जो तटस्थ रहता है, किसी का किंचित मात्र भी पक्षपात नहीं करता, उसे 'मध्यस्थ' कहते हैं|

संत (श्रेष्ठ आचरण करने वाले) एवं असंत (पाप आचरण करने वाले) दोनों को समान रूप से देखना, सब में एक परमात्मा है, ऐसा भाव रखना सम भाव है| जो मन में सब का हित चिन्तन करता है, और व्यवहार में परता, ममता छोड़कर सब के सुख का सम्पादन करता है, वही सम बुद्धि है|

जिस प्रकार स्वयं भगवान् सम्पूर्ण प्राणियों के प्रिय हैं, सुहृद् हैं, 'सुहृदं सर्वभूतानाम्', ऐसे ही सिद्ध कर्मयोगी भी सम्पूर्ण प्राणियों का प्रिय अथवा सुहृद् हो जाता है, 'सुहृदः सर्वदेहिनाम्'| ऐसे शुद्ध आचरणों को जो मुख्यता देता है, वह अपना पतन कभी नहीं करता| भगवान् ने यहाँ शुद्ध आचरण करने वाले सम बुद्धि पुरुष को श्रेष्ठ बताया है| चूंकि इस प्रकार के सम बुद्धि प्राणी की दृष्टि सत्य तत्व पर रहती है, अतः उसे परमात्म-तत्व की प्राप्ति होती है|

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ।।६-१०।।

बैठे साधक एकांत स्थान कर संयमित शरीर और मन |
करे स्थिर मन आत्मा हो मुक्त धन संग्रह और मन्मन् ||६-१०||

भावार्थ: *एकांत स्थान में बैठकर साधक अपने शरीर और मन को संयमित करे| धन का संग्रह एवं इच्छाओं से रहित होकर मन को आत्मा में स्थिर करे|*

टीका: ध्यान योग के साधक के लिये धन आदि का संग्रह का त्यागना आवश्यक है| साधक भोग को भोग बुद्धि से भोगने की इच्छा, कामना, आशा का सर्वथा त्याग करे| क्योंकि मन में उत्पन्न विनाशशील पदार्थों का महत्व, आशा, कामना आदि परमात्म-तत्व की प्राप्ति में महान् बाधक है| इसके साथ ही कोई नया

काम, राग आदि भी हृदय में न लाए| राग प्रवृत्ति होने से शरीर की आराम एवं आलस्य में, इन्द्रियों की भोगों में और मन की भोगों के चिन्तन में अथवा व्यर्थ चिन्तन में प्रवृत्ति होती है| अतः साधक को राग प्रवृत्ति सर्वथा वर्जित है|

ध्यान योग का साधक अकेला हो, अर्थात एकांत पसंद करने वाले हो| क्योंकि यदि दो या उससे अधिक एक साथ होंगे तो मन भटकने की संभावना है, अतः वह एकान्त में स्थित रहे| अर्थात् ऐसे स्थान में स्थित रहे जहां ध्यान के विरुद्ध कोई वातावरण न हो| एकान्त में बैठकर मन को निरन्तर भगवान् के चिंतन में लगाए, साथ में व्यवहार में भी निर्लिप्त रहते हुए भगवान् का चिन्तन ही करता रहे|

हमारी प्रायः यह ग्रंथि रहती है कि भगवान् में मन नहीं लगता| इसका कारण है कि हम संसार से सम्बन्ध तोड़कर ध्यान नहीं कर पाते अपितु संसार से सम्बन्ध जुड़ा ही रहता है| अतः अपने सुख, सेवा के लिये भीतर से किसी को भी अपना न मानें अर्थात् किसी में ममता न रखें| क्योंकि मन वहीं जाएगा, जहां ममता होगी| साधना में उद्देश्य केवल परमात्मा प्राप्ति का ही हो, अतः सब से निर्लिप्त रहे, भगवान् में अवश्य मन लग जाएगा|

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ।।६-११।।

बिछा भूमि कुश मृग छाल बैठे ऊपर शुद्ध आसन |
न अति ऊंचा न नीचा करे स्थापित सम तल आसन ||६-११||

भावार्थ: *कुश, मृग छाल एवं चादर बिछाकर शुद्ध आसन पर स्थित हो| इस आसन की स्थापना न तो अत्यंत ऊंचे और न ही अत्यंत नीचे, अपितु सम तल स्थान पर हो|*

टीका: साधना के लिए आसन स्थापित करने हेतु भूमि की शुद्धि दो प्रकार से होती है| (१) स्वाभाविक शुद्ध स्थान, जैसे पवित्र नदी का किनारा, वन में तुलसी,

आँवला, पीपल आदि पवित्र वृक्षों के पास का स्थान आदि, और (२) शुद्ध किया हुआ स्थान, जैसे भूमि को गाय के गोबर से लीप कर अथवा जल छिड़क कर शुद्ध किया जाए| जहां मिट्टी हो, वहां ऊपर की चार, पाँच अंगुली मिट्टी दूर करके भूमि को शुद्ध किया जाए| ऐसी स्वाभाविक अथवा शुद्ध की हुई सम तल भूमि में आसन की स्थापना की जाए|

साधना हेतु आसन बनाने के लिए क्रमशः कुश, मृग छाला और चादर बिछानी चाहिए| वाराह भगवान् के रोम से उत्पन्न होने के कारण कुश पवित्र मानी गई है| कुश शरीर में कष्ट न दे एवं हमारे शरीर में जो विद्युत् शक्ति है वह सरलता से भूमि में न चली जाए इसलिये मृग छाला बिछाने का विधान है| मृग छाला के रोम (रोएँ) शरीर में न लगें और आसन कोमल रहे, इसलिये मृग छाला के ऊपर सूती शुद्ध चादर बिछाने का प्रावधान है|

आसन के लिए भूमि सम तल एवं शुद्ध होनी चाहिए| वह न अत्यन्त ऊँची हो और न अत्यन्त नीची हो| अत्यन्त ऊँची होने से ध्यान करते समय अचानक नींद आ जाए तो गिरने की और चोट लगने की सम्भावना रहेगी, और अत्यन्त नीची होने से भूमि पर घूमने वाले चींटी आदि जन्तुओं के शरीर पर चढ़ जाने से और काटने से ध्यान में विक्षेप होगा| अतः अति ऊँचे और अति नीचे आसन का निषेध किया गया है|

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ।।६-१२।।

कर चित्त एकाग्र हो इन्द्रियजित बैठे पावन आसन |
है यह विधि हेतु अभ्यास योग साधना सुन अर्जुन ||६-१२||

भावार्थ: *हे अर्जुन सुन| पवित्र आसन पर बैठ इन्द्रियों को जीत कर मन को एकाग्र करे| योग साधना के अभ्यास हेतु यही विधि है|*

टीका: पवित्र आसन पर बैठने के पश्चात साधक चित्त और इन्द्रियों की क्रियाएँ को वश में करे| व्यवहार के समय भी शरीर, मन, इन्द्रियों आदि की क्रियाओं पर साधक का अधिकार रहना चाहिए| व्यवहार काल में यदि चित्त और इन्द्रियों की क्रियाएँ वश में नहीं होंगी तो साधक का ध्यान बटाती रहेंगी|

मन को एकाग्र करने का तात्पर्य है कि मन में संसार के चिन्तन को बिलकुल मिटा दे| मन में विचार लाए कि यदि इस समय संसार का चिन्तन होगा तो परमात्मा का चिन्तन, ध्यान नहीं हो पाएगा| संसार का चिन्तन नहीं करते हुए पूर्णतः परमात्मा में ही अपना ध्यान केंद्रित करे|

अन्तःकरण की शुद्धि के लिये ही ध्यान योग का अभ्यास करे| सांसारिक पदार्थ, भोग, मान, प्रशंसा, आराम, यश-प्रतिष्ठा, सुख-सुविधा आदि का उद्देश्य रखना, अर्थात् इनकी कामना रखना ही अन्तःकरण की अशुद्धि है| सांसारिक पदार्थ आदि की प्राप्ति का उद्देश्य, कामना न रखकर केवल परमात्म-तत्व की प्राप्ति का उद्देश्य रखना ही अन्तःकरण की शुद्धि है| ऋद्धि, सिद्धि आदि की प्राप्ति के लिये और दूसरों को दिखाने के लिये योग का अभ्यास करने से अन्तःकरण की शुद्धि नहीं हो सकती| 'योग' एक शक्ति है, जिसको सांसारिक भोगों की प्राप्ति में लगा दिया गया तो भोग, ऋद्धियाँ और सिद्धियाँ तो अवश्य प्राप्त हो सकती हैं, परन्तु परमात्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती|

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ।।६-१३।।

कर अचल तन सिर ग्रीवा देखे नासिका अग्रवर्तिन |
बिन देखे अन्य दिशाएं करे ध्यान इस प्रकार जन ||६-१३||

भावार्थ: *काया, सिर एवं गर्दन को अचल कर नासिका के अग्र भाग में देखे| किसी अन्य दिशा में न देखते हुए प्राणी अपना ध्यान लगाए|*

टीका: यद्यपि' तन' नाम शरीर का है, तथापि यहाँ (आसन पर बैठने के बाद) कमर से लेकर गले तक के भाग को 'तन' कहा गया है| सिर नाम ऊपर के भाग का, अर्थात् मस्तिष्क का है, और 'ग्रीवा' नाम मस्तिष्क और तन के बीच के भाग का है| ध्यान के समय यह तन, सिर और ग्रीवा सम अर्थात् सीधे रहें, रीढ़ की हड्डी के सम तल रहें| स्मरण रहे कि इन तीनों के आगे झुकने से नींद आती है, पीछे झुकने से जड़ता आती है, और दायें, बायें झुकने से चंचलता आती है| इसलिये न आगे झुकें, न पीछे झुकें और न दायें, बायें ही झुकें| दण्ड की तरह सीधा सरल बैठे रहें| सिद्धासन, पद्मासन आदि जितने भी आसन हैं, आरोग्य की दृष्टि से सभी ध्यान योग में सहायक हैं, परन्तु यहाँ भगवान् ने सम्पूर्ण आसनों का सार बताया है, तन, सिर और ग्रीवा को सीधे समता में रखना|

किसी अन्य दिशाओं में साधक को नहीं देखना चाहिए| क्योंकि इधर उधर देखने के लिये जब ग्रीवा हिलेगी, तब ध्यान बंटेगा| अतः ग्रीवा को स्थिर रखें| ध्यान के समय अपनी नासिका के अग्र भाग को देखते रहें, अर्थात् अपने नेत्रों को अर्ध-निमीलित (अध मुँदे) रखें| नेत्र मूँद लेने से नींद आने की सम्भावना रहती है, और नेत्र खुले रखने से सामने का दृश्य दिखेगा जिससे ध्यान में विक्षेप होने की सम्भावना होगी|

आसन पर बैठने के बाद शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि की कोई और किसी भी प्रकार की क्रिया न हो, केवल पत्थर की मूर्ति की तरह बैठे रहें| तब आसन पर विजय हो जाएगी अर्थात् 'जितासन' हो जाएंगे|

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः।।६-१४।।

हो अभय कर अंतःकरण शांत करे ब्रह्मचर्य पालन।
कर संयमित चित्त हो आसीन युक्त लक्ष्य पाएं भगवन ||६-१४||

भावार्थ: *निर्भय होकर, अंतःकरण को शांत कर, ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए, संयमित चित्त से भगवद प्राप्ति को लक्ष्य बना आसन पर आसीन हो|*

टीका: अन्तःकरण को राग, द्वेष से रहित शांत करे| जिसका सांसारिक विशेषता प्राप्त करने का, ऋद्धि, सिद्धि आदि प्राप्त करने का उद्देश्य न होकर केवल परमात्म-तत्व प्राप्ति का ही दृढ़ उद्देश्य होता है, उसके राग, द्वेष शिथिल होकर मिट जाते हैं| राग, द्वेष मिटने पर स्वतः शान्ति आ जाती है, जो कि स्वतः सिद्ध है| स्मरण रहे कि संसार के सम्बन्ध के कारण ही हर्ष, शोक, राग, द्वेष आदि द्वन्द्व होते हैं, और इन्हीं द्वन्द्वों के कारण शान्ति भंग होती है|

शरीर को 'मैं' और 'मेरापन' मानने से ही रोग का, निन्दा का, अपमान का, मरने आदि का भय पैदा होता है| परन्तु जब मनुष्य शरीर के साथ 'मैं' और 'मेरेपन' की मान्यता को छोड़ देता है, तब उसमें किसी भी प्रकार का भय नहीं रहता| उसके अन्तःकरण में यह भाव दृढ़ हो जाता है कि इस शरीर का जीना मरना ईश्वर आधीन है| मरण पर, क्योंकि चित्तवृत्ति परमात्मा की ओर है, कल्याण ही होगा| जब कल्याण में कोई सन्देह नहीं, तो फिर भय किस बात का? इस भाव से वह सर्वथा भय रहित हो जाता है|

गुरु की आज्ञा के अनुसार संयत और नियत ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना चाहिए| ब्रह्मचारी को शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध, इन पाँच विषयों से तथा मान, प्रशंसा और शरीर के आराम से दूर रहना चाहिए| ध्यानयोगी को भी उपर्युक्त आठ विषयों में से किसी भी विषय का भोग बुद्धि एवं रस बुद्धि से सेवन नहीं करना चाहिए, प्रत्युत निर्वाह बुद्धि से ही सेवन करना चाहिए| यदि भोग बुद्धि से उन विषयों का सेवन किया जाएगा, तो ध्यानयोग की सिद्धि नहीं होगी| इसलिये ध्यानयोगी को ब्रह्मचर्य व्रत में स्थित रहना बहुत आवश्यक है| ब्रह्मचर्य व्रत में स्थित रहने का तात्पर्य है कि किसी भी अवस्था, परिस्थिति आदि में किसी भी कारण से किंचित मात्र भी सुख बुद्धि से पदार्थों का सेवन न हो, चाहे वह ध्यान काल हो अथवा व्यवहार काल| इसमें सम्पूर्ण इन्द्रियों का ब्रह्मचर्य आ जाता है|

मन को संयत कर उसे केवल भगवान् में ही लगा देना चाहिए| चित्त को संसार की ओर से सर्वथा हटाकर केवल प्रभु स्वरूप के चिन्तन में, प्रभु लीला, गुण, प्रभाव, महिमा आदि के चिन्तन में ही लगा देना चाहिए| इसका तात्पर्य है कि

सांसारिक वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, घटना आदि को लेकर मन में जो कुछ संकल्प, विकल्प रूप से चिन्तन होता है, उससे मन को हटाकर एक प्रभु में ही लगाते रहना चाहिए| साधक का लक्ष्य परमात्मा के चिन्तन का ही होना चाहिए, संसार के चिन्तन का नहीं| ध्यान करते समय मन को संसार से हटाकर भगवान् में लगाने के लिये सदा जाग्रत् रहना चाहिए| इसमें कभी प्रमाद, आलस्य आदि न हो| एकान्त में भगवान् में मन लगाने की सावधानी सदा बनी रहनी चाहिए| केवल भगवत् पारायण होकर साधना में बैठना चाहिए| लक्ष्य केवल भगवद प्राप्ति का हो|

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ।।६-१५।।

कर सके जो इस भांति साधक संयमित स्थिर तन मन |
पा सके वह योगी सुगति परम शान्ति व् तत्व भगवन ||६-१५||

भावार्थ: *जो साधक इस प्रकार अपने मन, तन को स्थिर एवं संयमित कर सकता है, उस योगी को निर्वाण, परमात्म-तत्व एवं परम शांति प्राप्त होती है|*

टीका: जिसका मन पर नियंत्रण है, वह 'नियत मानस' है| साधक नियत मानस तभी हो सकता है, जब उसके साधना उद्देश्य में केवल परमात्मा हों| परमात्मा के अतिरिक्त उसका और किसी से सम्बन्ध नहीं हो| साधक को चाहिए कि वह स्वयं को गृहस्थ, साधु, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि किसी वर्ण आश्रम का न मानकर, केवल प्रभु का माने| एक ही विचार उसके हृदय में हो कि मुझे परमात्मा की प्राप्ति करना है| सांसारिक ऋद्धि, सिद्धि आदि को प्राप्त करना मेरा उद्देश्य नहीं है| इस प्रकार अहंता का परिवर्तन होने पर मन स्वाभाविक ही नियत हो जाता है| जहां अहंता होती है, वहीं अन्तःकरण और बहिःकरण की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है|

ध्यानयोगी निर्वाण, परमात्म-तत्व एवं परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है। यह एक निर्विकल्प स्थिति एवं निर्विकल्प बोध है| ध्यानयोग में पहले निर्विकल्प

स्थिति होती है फिर उसके बाद निर्विकल्प बोध होता है| इसी निर्विकल्प बोध को प्रभु ने निर्वाण, परमात्म-तत्व एवं परम शान्ति कहा है| ।शान्ति दो प्रकार की होती है, शान्ति और परम शान्ति| संसार के त्याग (सम्बन्ध विच्छेद) से शान्ति प्राप्त होती है और परमात्म-तत्व की प्राप्ति होने पर 'परम शान्ति प्राप्त होती है|

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ।।६-१६।।

हो नहीं सकता सिद्ध योग कभी उस साधक का अर्जुन |
करे आहार और निद्रा अति या मित जो योगी जन ||६-१६||

भावार्थ: *हे अर्जुन, उस साधक को योग कभी फलीभूत नहीं हो सकता जो अधिक भोजन करने वाला है अथवा कम भोजन करने वाला है, अधिक सोने वाला है अथवा कम सोने वाला है|*

टीका: आवश्यकता से अधिक भोजन करने वाले का योग सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि अन्न अधिक खाने से प्यास अधिक लगती है, जिससे जल अधिक पीना पड़ता है| इससे शरीर में आलस्य छा जाता है| साधना, भजन, जप, ध्यान आदि करने का मन नहीं करता| अजीर्ण की स्थिति हो जाती है जिससे शरीर में रोग आदि पैदा हो जाते हैं| इसलिये अधिक भोजन करने वाले पुरुष का योग सिद्ध नहीं हो सकता|

उसी प्रकार कम भोजन करने वाले का भी योग सिद्ध नहीं होता| भोजन कम करने से मन में बार बार भोजन का चिन्तन होता है| शरीर की शक्ति क्षीण हो जाती है| शरीर शिथिल हो जाता है| चित्त परमात्मा में नहीं लगता| अतः ऐसे पुरुष का योग कैसे सिद्ध हो सकता है?

जिसका स्वभाव अधिक सोने का है, उसका भी योग सिद्ध नहीं हो सकता| अधिक सोने से स्वभाव बिगड़ जाता है, बार बार नींद सताती है| अधिक शैया

पर लेटे रहने से गाढ़ नींद नहीं आती| गाढ़ नींद न आने से स्वप्न आते रहते हैं ,संकल्प, विकल्प होते रहते हैं| शरीर में आलस्य भरा रहता है| आलस्य के कारण योग का अभ्यास कर पाना संभव नहीं हो पाता, अतः योग की सिद्धि कैसे होगी?

जब अधिक सोने से योग की सिद्धि नहीं होती, तो फिर कम सोने से भी योग की सिद्धि नहीं हो सकती| आवश्यक नींद न लेकर जगने से बैठने पर नींद सतायेगी, जिससे वह योग का अभ्यास नहीं कर सकेगा| अधिक जगने से मनुष्य गुणातीत हो जाता है| राजसी और तामसी विचार जगते हैं| कम निद्रा रोग भी पैदा करती है|

लेकिन यह भी संभव है कि भक्त लोग भगवान् के नाम जप में, कीर्तन में, भगवान् के विरह में भोजन करना भूल जाते हैं| उनको भूख नहीं लगती| वह कम भोजन करने वाले अथवा कम सोने वाले नहीं हैं| भगवान् की ओर चित्त लग जाने से उनके द्वारा किए हुए कार्य 'सत्' हैं| आहार करना या न करना, सोना या न सोना, उनके लिए सब सत है|

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ।।६-१७।।

हो संयम आहार विहार में तब करे योग दुःख शमन |
करे प्रयास यथायोग्य हो सीमित जागरण शयन ||६-१७||

भावार्थ: *जो संतुलित आहार विहार करता है, सीमित निद्रा एवं जागरण का यथायोग्य प्रयास करता है, उसके लिए योग दुःख नाशक होता है|*

टीका: भोजन शरीर के अनुकूल हो, अधिक और अल्प मात्रा में न हो, ऐसा भोजन करने वाला ही संतुलित आहार करने वाला है| विहार भी यथायोग्य होना चाहिए| अधिक भ्रमण न हो, प्रत्युत स्वास्थ्य के लिये जितना हितकर हो उतना

ही भ्रमण हो| व्यायाम, योगासन आदि न तो अधिक मात्रा में किए जाएं और न उनका अभाव ही हो|

सोना इतनी मात्रा में हो, जिससे जगने के समय निद्रा एवं आलस्य न सताये| दिन में जागता रहे और रात्रि के समय भी आरम्भ में तथा रात के अन्तिम भाग में जागता रहे| रात के मध्य भाग में ही सोये| जिस सोने और जागने से स्वास्थ्य में बाधा न पड़े, योग में विघ्न न आए, साधक को ऐसे यथोचित सोना और जागना चाहिए|

इस प्रकार यथोचित आहार, विहार, निद्रा आदि करने वाले ध्यानयोगी के दुःखों का अंत हो जाता है एवं उसका योग सिद्ध हो जाता है| योग और भोग में विलक्षण अन्तर है| योग में भोग का अभाव है| भोग में जो सुख मिलने की अनुभूति होती है, वह सुखानुभूति असत् के संयोग से होती है| अतः मनुष्य भोग के सुख को संयोगजन्य मान लेता है| ऐसा मानने से ही भोगासक्ति पैदा होती है| इसलिये उसको दुःखों का नाश करने वाले योग का अनुभव नहीं होता| दुःखों का नाश करने वाला योग वही होता है, जिसमें भोग का पूर्णतः अभाव होता है|

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ।।६-१८।।

हो जाए जिस काल स्थित स्वरुप में स्व-नियंत्रित मन |
न हो आसक्ति किसी वस्तु है वह योग स्थिति अर्जुन ||६-१८||

भावार्थ: *हे अर्जुन, जिस समय नियंत्रित मन स्वयं के स्वरुप में स्थित हो जाए, किसी भी वस्तु में आसक्ति न रहे, तब उसे योग की स्थिति समझो|*

टीका: संसार के चिन्तन से रहित होकर जिस समय चित्त अपने स्वतः सिद्ध स्वरूप में स्थित हो जाता है, वह योग अवस्था है| जब विचार इस प्रकार हो जाएं कि उत्पन्न होने के पहले भी जो था, लय होने के बाद भी वह ज्यों का त्यों ही

रहेगा, तब चित्त अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है| अपने स्वरूप के रस और आनन्द का अनुभव होते ही मन उसमें तल्लीन हो जाता है|

जब साधक प्राप्त-अप्राप्त, दृष्ट-अदृष्ट, ऐहलौकिक-पारलौकिक, श्रुत-अश्रुत सम्पूर्ण पदार्थों से, भोगों से निःस्पृह हो जाता है, अर्थात् उसको किसी भी पदार्थ के भोग की किंचित मात्र भी इच्छा नहीं रहती, तब वह 'योगी' कहा जाता है| इसमें समय की सीमा नहीं है| जिस क्षण वश में किया हुआ चित्त स्वरूप में स्थित हो जाएगा और सम्पूर्ण पदार्थों से निःस्पृह हो जाएगा, उसी क्षण वह योगी हो जाएगा|

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ।।६-१९।।

हो स्थिर जैसे ज्योति दीप की जब शांत मंडल पवन |
समझो समान उपमा योगी हुआ जिसका स्थिर मन ||६-१९||

भावार्थ: *जिस प्रकार शांत वायु मंडल में दीप की लौ स्थिर हो जाती है, वही उपमा योगी की समझो जिसका चित्त स्थिर हो गया हो|*

टीका: जिस प्रकार वातावरण में शांत (स्पन्दन रहित) वायु होने से दीपक की लौ स्थिर हो कर जलती है, ऐसे ही जो साधक योग का अभ्यास करता है, उसका मन स्वरूप के चिन्तन में लग जाता है| जिस साधक ने अपने चित्त को वश में कर रखा है, उस ध्यानयोगी के चित्त की उपमा स्थिर दीपक की लौ से दी गई है| जब योगी साधना की पूर्ण स्थिति में होता है तो उसका चित्त स्वरूप में ऐसा लग जाता है कि उसे स्वरूप (परमात्म-तत्व) के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी चिन्तन नहीं होता|

प्रभु ने यहां साधना में स्थित योगी की उपमा दीप लौ से की है| दीप लौ के समान प्राणी भी स्वभाव से चंचल होता है| चंचल वस्तु को स्थिर रखने में विशेष कठिनता पड़ती है| जैसे चंचल दीप लौ शांत वायु में स्थिर हो जाती है, उसी

प्रकार साधक का चंचल चित्त साधना में स्थिर हो जाता है| तब ऐसे योगी के चित्त की परमात्म-तत्व में जागृति हो जाती है| यह जागृति सुषुप्ति से विलक्षण है| यद्यपि सुषुप्ति और समाधि, इन दोनों में संसार की निवृत्ति समान रहती है, तथापि सुषुप्ति में चित्तवृत्ति अविद्या में लीन हो जाती है| अतः उस अवस्था में स्वरूप का भान नहीं होता| परन्तु समाधि में चित्तवृत्ति जाग्रत् रहती है, अर्थात् चित्त में स्वरूप की जागृति रहती है|

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ।।६-२०।।

योग सेवन से मिले शान्ति और हो नियंत्रित मन |
करे अनुभव तब साधक परम संतोष व् तत्व-भगवन ||६-२०||

भावार्थ: *योग सेवन से शांति मिलती है और मन नियंत्रित होता है| तब साधक परम संतोष एवं परमात्म-तत्व का अनुभव करता है|*

टीका: ध्यानयोग में मन को केवल स्वरूप (परमात्म-तत्व) में ही लगाना होता है| यदि स्वरूप के अतिरिक्त दूसरी कोई वृत्ति पैदा हो भी जाए तो उसकी उपेक्षा करके उसे तुरंत हटा देने और चित्त को केवल स्वरूप में ही लगे रहने देने से मन का प्रवाह केवल स्वरूप में ही रहता है, इसे ही 'ध्यान' कहते हैं| ध्यान के समय ध्याता, ध्यान और ध्येय, यह त्रिपुटी रहती है| साधक ध्यान के समय अपने को ध्याता (ध्यान करने वाला) मानता है, स्वरूप में तद्रूप होने वाली वृत्ति को ध्यान मानता है और साध्य रूप स्वरूप को ध्येय मानता है| ध्यान में ध्येय की मुख्यता होने के कारण साधक पहले अपने में ध्यातापन भूल जाता है| फिर ध्यान की वृत्ति भी भूल जाता है| अन्त में केवल ध्येय ही जाग्रत् रहता है| इसको 'समाधि' कहते हैं| यह 'संप्रज्ञात समाधि' है जो चित्त की एकाग्र अवस्था में होती है| इस समाधि के दीर्घकाल के अभ्यास से फिर 'असंप्रज्ञात समाधि' होती है| इन दोनों समाधियों में भेद यह है कि जब तक ध्येय, ध्येय का नाम और नाम, नामी का सम्बन्ध, यह तीनों वस्तुएं रहती हैं, तब तक वह 'संप्रज्ञात समाधि' होती है| इसी को चित्त की 'एकाग्र' अवस्था भी कहते हैं| परन्तु जब

नाम की स्मृति न रहकर केवल नामी (ध्येय) रह जाता है, तब वह 'असंप्रज्ञात समाधि' होती है| इसी को चित्त की 'निरुद्ध' अवस्था कहते हैं| निरुद्ध अवस्था की समाधि दो प्रकार की होती है, सबीज और निर्बीज| जिसमें संसार की सूक्ष्म वासना रहती है, वह 'सबीज समाधि' कहलाती है| सूक्ष्म वासना के कारण सबीज समाधि में सिद्धियाँ प्रकट हो जाती हैं| ये सिद्धियाँ सांसारिक दृष्टि से तो ऐश्वर्य देती हैं, पर पारमार्थिक दृष्टि से (चेतन तत्व की प्राप्ति में) विघ्न हैं| ध्यानयोगी जब इन सिद्धियों को निस्तत्त्व समझकर इनसे उपराम हो जाता है, तब उसकी 'निर्बीज समाधि' होती है|

ध्यान में संसार के सम्बन्ध से विमुख होने पर एक शान्ति, एक सुख मिलता है, जो कि संसार का सम्बन्ध रहने पर कभी नहीं मिलता| संप्रज्ञात समाधि में उससे भी विलक्षण सुख का अनुभव होता है| संप्रज्ञात समाधि से असंप्रज्ञात समाधि में अधिक विलक्षण सुख होता है| जब साधक निर्बीज समाधि में पहुँचता है, तब उसमें बहुत ही विलक्षण सुख, आनन्द होता है| योग का अभ्यास करते करते चित्त निरुद्ध अवस्था अर्थात निर्बीज समाधि से भी उपराम हो जाता है| योगी उस निर्बीज समाधि का भी जब सुख नहीं लेता, उसके सुख का भोक्ता नहीं बनता उस समय वह अपने स्वरूप में अपने आप का अनुभव करता हुआ अपने आप में पूर्ण सन्तुष्ट हो जाता है| केवल अपना स्वरूप ही उसके सन्तोष का कारण रहता है। अपने में ही स्वरूप (परमात्म-तत्व) की अनुभूति होने का तात्पर्य है कि उसका संसार से सम्बन्ध पूर्णतः विच्छेद हो जाता है| संसार से सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद होते ही उसको स्वयं में ही स्वरूप (परमात्म-तत्व) की अनुभूति हो जाती है|

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ।।६-२१।।

करते आत्यन्तिक अतीन्द्रिय बुध्दिग्राह्य सुख वेदन |
नहीं होते विचलित कभी परमात्म-तत्व योगीगन ||६-२१||

भावार्थ: *आत्यन्तिक, अतीन्द्रिय एवं बुध्दिग्राह्य सुख का अनुभव करते हुए योगी कभी परमात्म-तत्व से विचलित नहीं होते|*

टीका: ध्यानयोगी अपने द्वारा स्वयं में अत्यंत सुख का अनुभव करता है| यह सम्पूर्ण सुखों की पराकाष्ठा है, 'सा काष्ठा सा परा गतिः'| 'आत्यन्तिक' का तात्पर्य है कि यह सुख सात्त्विक सुख से विलक्षण है| सात्त्विक सुख तो परमात्म विषयक बुद्धि की प्रसन्नता से उत्पन्न होता है, परन्तु यह आत्यन्तिक सुख उत्पन्न नहीं होता, प्रत्युत यह स्वतः सिद्ध अनुत्पन्न सुख है| यह सुख अतीन्द्रिय है| यह सुख इन्द्रियों से अतीत है अर्थात यह सुख राजस सुख से विलक्षण है| राजस सुख सांसारिक वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ, परिस्थिति आदि के सम्बन्ध से पैदा होता है और इन्द्रियों द्वारा भोगा जाता है| वस्तु आदि का प्राप्त होना हमारे वश में नहीं है और प्राप्त होने पर उस सुख का भोग उस विषय (वस्तु आदि) के ही अधीन होता है| अतः राजस सुख में पराधीनता है| परन्तु आत्यन्तिक सुख में पराधीनता नहीं है| आत्यन्तिक सुख इन्द्रियों का विषय नहीं है| इस सुख में मन की भी पहुँच नहीं है| यह सुख स्वयं के द्वारा ही अनुभव होता है|

यह आत्यन्तिक सुख 'बुद्धिग्राह्य' है| यह सुख तामस सुख से विलक्षण है| तामस सुख निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न होता है| गाढ़ निद्रा (सुषुप्ति) में सुख तो मिलता है, पर उसमें बुद्धि लीन हो जाती है| आलस्य और प्रमाद में भी सुख होता है, पर उसमें बुद्धि जाग्रत् नहीं रहती तथा विवेक शक्ति लुप्त हो जाती है| परन्तु इस आत्यन्तिक बुद्धिग्राह्य सुख में बुद्धि लीन नहीं होती और विवेक शक्ति भी ठीक जाग्रत् रहती है| इस सुख को बुद्धि नहीं पकड़ सकती| प्रभु का सुख को आत्यन्तिक, अतीन्द्रिय और बुद्धिग्राह्य बताने का तात्पर्य है कि यह सुख सात्त्विक, राजस और तामस सुख से विलक्षण अर्थात् गुणातीत स्वरूप भूत है|

ध्यानयोगी स्वयं में ही सुख का अनुभव करता है और इस सुख में स्थित हुआ वह कभी किंचित मात्र भी विचलित नहीं होता| इस सुख की अखण्डता निरन्तर स्वतः बनी रहती है| मनुष्य वास्तविक सुख से, ज्ञान से, आनन्द से कभी चलायमान नहीं होता| स्मरण रहे कि मनुष्य सात्त्विक सुख से भी चलायमान हो सकता है| उसका समाधि से भी व्युत्थान हो सकता है| परन्तु आत्यन्तिक सुख

से अर्थात् तत्व से वह कभी विचलित और व्युत्थित नहीं होता| क्योंकि उसमें उसकी दूरी, भेद, भिन्नता मिट गई और अब केवल वह स्वयं ही रह गया| अब वह विचलित और व्युत्थित कैसे हो? विचलित और व्युत्थित तभी होता है, जब जड़ता का किंचित मात्र भी सम्बन्ध रहता है| जब तक जड़ता का सम्बन्ध रहता है, तब तक वह एक रस नहीं रह सकता, क्योंकि प्रकृति सदा ही क्रियाशील रहती है|

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ।।६-२२।।

नहीं जिससे कोई लाभ उच्चतम और न सम अर्जुन |
हो जब स्थित उसमें न हो घोर दुःख से विचलित मन ||६-२२||

भावार्थ: *हे अर्जुन, जिस लाभ से उच्चतम कोई लाभ नहीं है और न समान है, जिसमें स्थित होकर महान दुःख भी मन को विचलित नहीं कर सकता (अतः इस महान लाभ को प्राप्त करो)|*

टीका: प्रायः मनुष्य को जो सुख प्राप्त है, जब उसे दूसरी अवस्था में उससे अधिक सुख दिखाई देता है, तब वह उसके लोभ में आकर विचलित हो जाता है| निद्रा, आलस्य और प्रमाद का तामस सुख प्राप्त होने पर भी जब विषयजन्य सुख अधिक प्रिय लगता है, उसमें अधिक सुख दिखाई देता है, तब मनुष्य तामस सुख को छोड़कर विषयजन्य सुख की ओर चला जाता है| ऐसे ही जब वह विषयजन्य सुख से ऊँचा उठता है, तब वह सात्त्विक सुख के लिये विचलित हो जाता है| जब सात्त्विक सुख से भी ऊँचा उठता है, तब वह आत्यन्तिक सुख के लिये विचलित हो जाता है| परन्तु जब आत्यन्तिक सुख प्राप्त हो जाता है, तो फिर वह उससे विचलित नहीं होता, क्योंकि आत्यन्तिक सुख से बढ़कर दूसरा कोई सुख, कोई लाभ है ही नहीं| आत्यन्तिक सुख ही सुख की अंतिम सीमा है| ध्यानयोगी को जब ऐसा सुख मिल जाता है, तो फिर वह इस सुख से विचलित नहीं होता, अर्थात वह इसे खोना नहीं चाहता|

विचलित होने से लाभ तो संभवतः अधिक हो सकता हो, पर साथ में महान् दुःख भी झेलना पड़ सकता है| यहां भगवान् कहते हैं कि आत्यन्तिक सुख में स्थित होने पर योगी को महान दुःख भी विचलित नहीं कर सकते| योगी इन महान दुःखों से भी विचलित नहीं किया जा सकता क्योंकि जितने भी दुःख हैं, वह सभी प्रकृतिजन्य, अर्थात् शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि से ही हैं, जब कि आत्यन्तिक सुख स्वरूप बोध (परमात्म-तत्व ज्ञान) प्रकृति से आता है| स्मरण रहे कि जब पुरुष प्रकृतिस्थ हो जाता है अर्थात् शरीर के साथ वह अपने आपको तादात्म्य कर लेता है, तब वह प्रकृतिजन्य अनुकूल, प्रतिकूल परिस्थिति में अपने को सुखी, दुःखी मानने लग जाता है| जब वह प्रकृति से सम्बन्ध विच्छेद कर अपने स्वरूप भूत सुख का अनुभव कर लेता है, उसमें स्थित हो जाता है, तो फिर यह प्राकृतिक दुःख वहां तक नहीं पहुँच सकते| यह दुःख उसका स्पर्श भी नहीं कर सकते| इसलिये शरीर में घोर विपत्ति आने पर भी वह अपनी स्थिति से विचलित नहीं किया जा सकता|

जिस सुख की प्राप्ति होने पर उससे अधिक लाभ की सम्भावना नहीं रहती और जिसमें स्थित होने पर बड़ा भारी दुःख भी विचलित नहीं करता, ऐसे सुख की प्राप्ति के लिये भगवान् प्रेरणा देते हैं|

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ।।६-२३।।

जिसमें संयोग दुःख का ही वियोग है वह योग अर्जुन |
कर अभ्यास इस ध्यानयोग का अनु आलस रहित मन ||६-२३||

भावार्थ: *हे अर्जुन, जिसमें दुःखों के संयोग का ही वियोग है, वह योग है| इस ध्यानयोग का आलस रहित मन से अभ्यास कर|*

टीका: जिस दुःख रूपी संसार के साथ हमारा सम्बन्ध न कभी था, न है, और न होगा, उस संसार के साथ सम्बन्ध मान लेना ही 'दुःख संयोग' है| यह दुःख संयोग 'योग' नहीं है| अगर यह योग होता अर्थात् संसार के साथ हमारा नित्य

सम्बन्ध होता, तो इस दुःख संयोग का कभी वियोग (सम्बन्ध विच्छेद) नहीं होता| परन्तु बोध होने पर इसका वियोग हो जाता है| अतः दुःख संयोग केवल हमारा माना हुआ है, हमारा बनाया हुआ है, स्वाभाविक नहीं है| इससे कितनी ही दृढ़ता से संयोग मान लें और कितने ही लम्बे काल तक संयोग मान लें, तो भी इसका कभी नित्य संयोग नहीं हो सकता| अतः हम इस माने हुए आगन्तुक दुःख संयोग का वियोग कर सकते हैं| इस दुःख संयोग (शरीर, संसार आदि) का वियोग करते ही स्वाभाविक योग की प्राप्ति हो जाती है, अर्थात् स्वरूप (परमात्म-तत्व) के साथ हमारा जो नित्य योग है, उसकी हमें अनुभूति हो जाती है| स्वरूप के साथ नित्य योग को ही 'योग' समझना चाहिए| दुःख रूप संसार का सर्वथा वियोग ही 'योग' है| इस के प्रभाव से अपने स्वरूप में, जिससे पहले हमारा वियोग था, अब योग हो गया| स्वरूप के साथ तो हमारा सदैव ही नित्य योग है| दुःख रूप संसार के संयोग का तो आरम्भ और अन्त होता है, परन्तु इस नित्य योग का कभी आरम्भ और अन्त नहीं होता, क्योंकि यह योग मन, बुद्धि आदि प्राकृत पदार्थों से नहीं होता प्रत्युत इनके सम्बन्ध विच्छेद से होता है| यह नित्य योग स्वतः सिद्ध है| इसमें सब की स्वाभाविक स्थिति है, परन्तु अनित्य संसार से सम्बन्ध मानते रहने के कारण इस नित्य योग की विस्मृति हो गई है| संसार से सम्बन्ध विच्छेद होते ही नित्य योग की स्मृति हो जाती है, 'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा'|

जिसमें दुःखों के संयोग का अभाव है, ऐसे योग (साध्य रूप समता) का उद्देश्य रखकर साधक को न उकताये हुए चित्त से निश्चय पूर्वक ध्यानयोग का अभ्यास करना चाहिए| योग का अनुभव करने के लिये सबसे पहले साधक को अपनी बुद्धि दृढ़ बनानी चाहिए| बुद्धि दृढ़ होने पर संसार का कोई प्रलोभन अथवा भयंकर कष्ट साधक को विचलित नहीं कर सकता|

सङ्कल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ।।६-२४।।

करे साधक त्याग कामना हुई जो हेतु संकल्प उत्पन्न |
बन जितेन्द्रिय रहे दूर विषय जो दें अल्प सुख जन ||६-२४||

भावार्थ: *साधक संकल्प से उत्पन्न कामनाओं का त्याग करे| इन्द्रियों को वश में कर, विषय जो क्षणिक सुख देने वाले हैं, प्राणी उनसे दूर रहे|*

टीका: सांसारिक वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ, देश, काल, घटना, परिस्थिति आदि को लेकर मन में जो भांति भांति की स्फुरणाएँ होती हैं, उन स्फुरणाओं में से जिस स्फुरणा में प्रियता, सुन्दरता और आवश्यकता दिखाई देती है, वह स्फुरणा 'संकल्प' का रूप धारण कर लेती है| ऐसे ही जिस स्फुरणा में 'यह वस्तु, व्यक्ति आदि अच्छे नहीं हैं, यह हमारे उपयोगी नहीं हैं', ऐसा विपरीत भाव पैदा हो जाता है, वह स्फुरणा भी संकल्प बन जाती है| संकल्प से 'ऐसा होना चाहिए और ऐसा नहीं चाहिए', यह 'कामना' उत्पन्न होती है| इस प्रकार संकल्प से उत्पन्न होने वाली कामनाओं का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए| कोई भी और किसी भी प्रकार की कामना नहीं रहनी चाहिए| कामना का बीज (सूक्ष्म संस्कार) भी नहीं रहना चाहिए, क्योंकि वृक्ष के एक बीज से ही घना जंगल पैदा हो सकता है| अतः बीज रूप कामना का भी त्याग होना चाहिए| जिन इन्द्रियों से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध, इन विषयों का अनुभव होता है, भोग होता है, उन इन्द्रियों के समूह का मन के द्वारा अच्छी तरह से नियमन कर लेना चाहिए, अर्थात् मन से इन्द्रियों को उनके अपने विषयों से हटा लेना चाहिए| ध्यानयोगी को इन्द्रियों और अन्तःकरण के द्वारा प्राकृत पदार्थों से सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद का निश्चय कर लेना चाहिए|

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ।।६-२५।।

मिले धैर्य युक्त बुद्धि से शनैः शनैः शान्ति योगीगन |
कर स्थित चित्त दैह्य में न फिर करे कोई अन्य चिंतन ||६-२५||

भावार्थ: *धैर्य युक्त बुद्धि से योगी को धीरे धीरे शान्ति मिलती है| अपने चित्त को आत्मा में स्थित कर फिर साधक कोई और अन्य चिंतन न करे|*

टीका: साधना करते करते प्रायः साधकों को निराशा होने लगती है कि ध्यान लगाते, विचार करते इतना समय व्यतीत हो गया पर तत्व प्राप्ति नहीं हुई| ऐसा विचार ध्यानयोग के साधक को निषेध है| ध्यानयोग का अभ्यास करते हुए सफलता नहीं मिल रही हो, तब भी निराश नहीं होना चाहिए, प्रत्युत धैर्य रखना चाहिए| सफलता मिले अथवा विफलता, धैर्य नहीं खोना चाहिए| स्मरण रहे कि इससे बढ़कर दूसरा कोई सुखदायी कार्य नहीं है, इसलिये इस में सफलता प्राप्त करनी ही है, ऐसा दृढ़ विचार चित्त में सदैव रहना चाहिए | धैर्यपूर्वक बुद्धि से इस विचार को स्थापित करने से चित्त को अनन्य शान्ति मिलती है|

परमात्म-तत्व प्राप्ति में शीघ्रता का स्थान नहीं है| धीरे धीरे जब योगी विषयों से उदासीन हो जाता है, तब स्वतः ही उपराम की स्थिति आ जाती है| कामनाओं का त्याग और मन से इन्द्रिय समूह का संयमन करने के बाद ही उपराम की स्थिति आती है| त्याज्य वस्तु का सर्वथा त्याग करने पर जब उस त्याज्य वस्तु के साथ आंशिक द्वेष का भाव भी न रहे, तब द्वेष भाव हटते ही उपराम मिलता है|

केवल एक सच्चिदानन्द परमात्मा ही परिपूर्ण हैं, ऐसा बुद्धि में दृढ़ निश्चय रहे| मन में कोई तरंग पैदा हो भी जाए तो उस तरंग को परमात्मा का ही स्वरूप माने| परमात्मा ही हर देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदि सब में परिपूर्ण हैं| यह देश, काल आदि तो उत्पन्न होते हैं और मिटते हैं, परन्तु परमात्म-तत्व बनता बिगड़ता नहीं है| वह तो सदा ज्यों का त्यों ही रहता है| उस परमात्मा में मन को स्थिर कर, अर्थात् सब स्थान पर एक परमात्मा ही हैं, उस परमात्मा के अतिरिक्त दूसरी कोई सत्ता नहीं है, ऐसा दृढ़ निश्चय करने के पश्चात कुछ और चिन्तन न करें|

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ।।६-२६।।

है स्वभाव यह करे विचरण विषय चंचल अस्थिर मन |
हो जाता स्थिर चित्त करे जब साधक इसे नियंत्रन ||६-२६||

भावार्थ: *चंचल अस्थिर मन का स्वभाव विषयों में विचरण करना है| साधक जब इसे नियंत्रित करता है तब चित्त स्थिर हो जाता है|*

टीका: जब साधक का मन साधना में नहीं टिकता, तब इसको अस्थिर कहा जाता है| मन भांति भांति के सांसारिक भोगों का, पदार्थों का, चिन्तन करता है, अतः इसको 'चंचल' कहा गया है| साधक को मन को स्थिर करना आवश्यक है| इस हेतु साधक को चाहिए कि मन जहां जहां भटके, जिस कारण से भटके, उसे नियंत्रित कर परमात्मा में लगाए| मन को परमात्मा में लगाने की निम्न युक्तियाँ हो सकती हैं|

(१) मन जिस किसी इन्द्रिय के विषय में, जिस किसी व्यक्ति, वस्तु, घटना, परिस्थिति आदि में भटके अर्थात उसका चिन्तन करने लगे, उसी समय उस विषय आदि से मन को हटाकर अपने ध्येय, परमात्मा में लगाए| यदि फिर भटके तो पुनः परमात्मा में केंद्रित करे| इस प्रकार मन को बार बार अपने ध्येय में लगाता रहे|

(२) जहां जहां मन भटके, वहां वहां केवल परमात्मा को ही देखे|

(३) प्रायः जब साधक परमात्मा में मन लगाने का अभ्यास करता है, तब संसार में चिंतन होने लगता है| इससे साधक का हृदय भटक जाता है| यदि ऐसा हो तो साधक अपने मन में ऐसे विचार लाए कि उसका उद्देश्य परमात्मा प्राप्ति है| संसार का चिन्तन कूड़ा कचरा समान है, अतः मुझे इस बारे में चिंतन नहीं करना चाहिए|

(४) ऐसा देखा गया है कि साधक को भगवान् का चिन्तन करने में कठिनाई इसलिये आती है कि वह अपने को संसार का मानकर भगवान् का चिन्तन करता है| संसार का चिन्तन तो स्वतः होता है, परन्तु भगवान् का चिन्तन करना पड़ता है| साधक को चाहिए कि वह भगवान् का होकर भगवान् का चिन्तन करे, संसार का होकर नहीं| भगवान् के साथ सम्बन्ध बनाने से भगवान् का चिन्तन स्वाभाविक ही होने लगेगा, चिन्तन करना नहीं पड़ेगा|

(५) ध्यान करते समय साधक को कोई सांसारिक कार्य का विचार नहीं करना चाहिए| सांसारिक कार्यों के संकल्प ध्यान को भटका देते हैं| अतः ध्यान में शान्त चित्त होकर बैठना चाहिए|

(६) ध्यान करते समय कभी संकल्प, विकल्प आ जाएं तो उन्हें तुरंत अपनी दृढ़ बुद्धि से दूर करने का प्रयास करना चाहिए|

(७) सामने देखते हुए पलकों को कुछ देर बार बार शीघ्रता से झपकाये और फिर नेत्र बंद करे| पलकें झपकाने से जैसे बाहर का दृश्य कटता है, ऐसे ही भीतर के संकल्प, विकल्प भी कट जाते हैं|

(८) पहले नासिका से श्वास को दो तीन बार बलपूर्वक बाहर निकाले और फिर अन्त में बलपूर्वक पूरे श्वास को बाहर निकालकर बाहर ही रोक दे| जितनी देर श्वास रोक सके, उतनी देर रोककर फिर धीरे धीरे श्वास लेते हुए स्वाभाविक श्वास लेने की स्थिति में आ जाए| इससे सभी संकल्प, विकल्प मिट जाते हैं|

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ।।६-२७।।

हो गए हों सब नष्ट पाप जिस साधक हे पृथानंदन |
कर विक्षेप शांत हुआ सर्वथा पावन जिसका मन ||
है वह ब्रह्मरूप योगी पाए उत्तम सुख सत भगवन ||६-२७||

भावार्थ: *हे अर्जुन, जिस साधक के सब पाप नष्ट हो गए हों, विक्षेप (रजोगुण) शांत कर जिसने अपने मन को सर्वथा पवित्र कर लिया हो, वह ब्रह्म रूप योगी है| वह उत्तम सुख एवं सत भगवान् को प्राप्त करता है|*

टीका: जिस साधक के सम्पूर्ण पाप नष्ट हो गए हों, अर्थात् तमोगुण और तमोगुण की अप्रकाश अप्रवृत्ति, प्रमाद और मोह, ये वृत्तियाँ नष्ट हो गई हों, वह ब्रह्म रूप योगी है|

जिसका रजोगुण और रजोगुण की लोभ, प्रवृत्ति, नए नए कर्मों में लगना, अशान्ति और स्पृहा, ये वृत्तियाँ शान्त हो गई हों, उसका मन पवित्र हो जाता है|

तमोगुम, रजोगुण तथा उनकी वृत्तियाँ शान्त होने से जिसका मन स्वाभाविक शान्त हो गया है, अर्थात् जिसकी प्राकृत पदार्थों से तथा संकल्प, विकल्पों से भी उपरति हो गई है, ऐसे स्वाभाविक शान्त मन वाले योगी ही ब्रह्म रूप योगी होते हैं| ऐसे ब्रह्म रूप ध्यानयोगी को स्वाभाविक ही उत्तम सुख अर्थात् सात्त्विक सुख प्राप्त होता है| 'स निश्चयेन योक्तव्यः' योग का अभ्यास करने वाले योगी को निश्चित ही उत्तम सुख की प्राप्ति होती है|

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ।।६-२८।।

पाप रहित योगी जो कर सके स्थिर आत्मा स्व-मन |
पा परमात्म-तत्व करे वह अनुभव नित्य सुख अर्जुन ||६-२८||

भावार्थ: हे अर्जुन, पाप रहित योगी जो अपने मन को आत्मा में स्थिर कर सकता है, वह परमात्म-तत्व का अनुभव कर नित्य सुख की प्राप्ति करता है|

टीका: अपने स्वरूप में अपने आपको दृढ़ रखना ही अभ्यास की परिभाषा है| ऐसे अभ्यास से योगी अहंता एवं ममता रहित हो जाता है| अहंता और ममता से रहित होना ही पापों से रहित होना है, क्योंकि संसार के साथ अहंता एवं ममता पूर्वक सम्बन्ध रखना ही पाप है| परमात्मा में मन लगाना एवं जड़ता का त्याग करना ही मुख्य ध्येय है| परमात्मा का चिन्तन करते करते मन सगुण परमात्मा में तल्लीन हो जाए तो संसार स्वतः ही छूट जाता है|

पाप रहित योगी जिसने अपने मन को स्वरुप (आत्मा) में लगा लिया, उसकी ब्रह्म के साथ अभिन्नता हो जाती है| उसमें 'मैंपन' का संस्कार नहीं रहता, सत्ता भी नहीं रहती| यही सुख पूर्वक ब्रह्म का संस्पर्श करना है| यही 'अत्यन्त सुख', 'अक्षय सुख' और 'आत्यन्तिक सुख है जो परमात्म-तत्व रूप आनन्द के वाचक हैं|

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ।।६-२९।।

सर्वत्र समदर्शी योगी जो रहते योग युक्त मन ।
देखते वह सम्पूर्ण जग स्थित स्व-रूप सम भगवन ||६-२९||

भावार्थ: *जो सर्वत्र समदर्शी योगी है, जिनका मन (अंतःकरण) योग से युक्त है, वह सम्पूर्ण जग को प्रभु के सम अपने स्वरुप में स्थित देखता है|*

टीका: सब स्थान पर एक सच्चिदानन्द परमात्मा ही परिपूर्ण हैं| ध्यानयोगी प्रत्येक प्राणी को प्रभु के समान अपने स्वरूप में ही देखता है| ध्यानयोग का अभ्यास करते करते योगी का अन्तःकरण अपने स्वरूप में तल्लीन हो जाता है| वह सम्पूर्ण प्राणियों में प्रभु सम अपनी आत्मा को, अपने सत स्वरुप को स्थित देखता है| जैसे साधारण प्राणी सारे शरीर में अपने आपको देखता है अर्थात् शरीर के सभी अवयवों में, अंशों में 'मैं' को ही पूर्णरूप से देखता है, ऐसे ही समदर्शी पुरुष सब प्राणियों में भगवान् सम अपने स्वरूप को ही स्थित देखता है| इसका तात्पर्य है कि सम्पूर्ण प्राणियों में सत्ता रूप से अपना ही स्वरूप है, ऐसा विचार ध्यानयोगी रखता है| दूसरे शब्दों में वह सम्पूर्ण प्राणियों को अपने अन्तर्गत देखता है, अर्थात् अपने सर्वगत, असीम, सच्चिदानन्द स्वरूप में ही सभी प्राणियों को तथा सारे संसार को देखता है| जैसे एक प्रकाश के अन्तर्गत सभी रंग, लाल, पीला, काला, नीला आदि जितने भी हैं, वह सभी प्रकाश से ही बने हुए हैं, प्रकाश में ही दिखते हैं, सभी सूर्य से उत्पन्न हुए हैं और सूर्य के प्रकाश में ही दिखते हैं, ऐसे ही ध्यानयोगी सम्पूर्ण प्राणियों को अपने स्वरूप से ही पैदा हुए, स्वरूप में ही लीन होते हुए और स्वरूप में ही स्थित

देखता है| इसका तात्पर्य है कि उसको जो कुछ दिखता है, वह सब अपना स्वरूप ही दिखता है|

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ।।६-३०।।

देखे मम रूप सब प्राणी एवं सर्वत्र मुझे जो जन |
नहीं अदृश्य मैं उसको पाए सर्वत्र वह मेरा दर्शन ||६-३०||

भावार्थ: *जो सब प्राणियों में एवं सर्वत्र मुझे देखता है, उसको मैं अदृश्य नहीं होता| वह सर्वत्र मेरे दर्शन करता है|*

टीका: ध्यानयोगी सब देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, पशु, पक्षी, देवता, यक्ष, राक्षस, पदार्थ, परिस्थिति, घटना आदि में केवल भगवान् को ही देखता है, अर्थात् उसकी दृष्टि में भगवत्-सत्ता के अतिरिक्त दूसरी किंचित मात्र भी सत्ता नहीं है|

जब भक्त मुझे (भगवान् को) सब जगह देखता है, तो मैं उससे कैसे छिपूँ, कहाँ छिपूँ और किस के पीछे छिपूँ? इसलिये मैं उस भक्त के लिये अदृश्य नहीं रहता अर्थात् निरन्तर उसके सामने ही रहता हूँ|

जब भक्त भगवान् को सब जगह देखता है, तो भगवान् भी भक्त को सब जगह देखते हैं, क्योंकि भगवान् का यह नियम है कि 'जो जिस प्रकार मेरी शरण लेते हैं, मैं भी उसी प्रकार उनको आश्रय देता हूँ, 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'| इसका तात्पर्य है कि भक्त भगवान् के साथ घुल मिल जाते हैं, भगवान् के साथ उनकी आत्मीयता, एकता हो जाती है, अतः भगवान् अपने स्वरूप में उनको सब जगह देखते हैं| इस दृष्टि से भक्त भी भगवान् के लिये कभी अदृश्य नहीं होता|

यहां एक शंका हो सकती है| भगवान् के लिये तो कोई भी अदृश्य नहीं है, 'वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन। भविष्याणि च भूतानि।।', फिर यहाँ

केवल भक्त के लिये ही 'वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता', ऐसा प्रभु ने क्यों कहा है? इसका समाधान है कि यद्यपि भगवान् के लिये कोई भी अदृश्य नहीं है तथापि जो भगवान् को सब जगह देखता है उसके भाव के कारण भगवान् भी उसको सब जगह देखते हैं| परन्तु जो भगवान् से विमुख होकर संसार में आसक्त है, उसके लिये भगवान् अदृश्य रहते हैं, 'नाहं प्रकाशः सर्वस्य'| जितने अंश में प्राणी का भगवान् के प्रति भाव नहीं है, उतने अंश में वह भगवान् के लिए अदृश्य रहता है| भगवान् कहते हैं, 'मैं सब प्राणियों में समान हूँ| न तो कोई मेरा द्वेषी है और न कोई प्रिय है| परन्तु जो भक्ति पूर्वक मेरा भजन करते हैं, वह मुझ में हैं और मैं उनमें हूँ|'

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ।।६-३१।।

भजे मुझे सदा जो जन हो स्थित एकात्म भाव अर्जुन |
रहे स्थित वह मुझ में ही हो पवित्र हर काल हर क्षन ||६-३१||

भावार्थ: *हे अर्जुन, जो प्राणी सदैव एकात्म भाव से मुझे भजता है, वह हर समय, हर क्षण मुझ में ही पवित्र हो स्थित रहता है|*

टीका: स्मरण रहे कि सब देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदि में भगवान् ही परिपूर्ण हैं, अर्थात् सम्पूर्ण चराचर जगत् भगवत् स्वरुप ही है, 'वासुदेवः सर्वम्'| प्रभु संसार के कण कण में परिपूर्ण रूप से स्थित हैं| सृष्टि के पहले, सृष्टि के समय और सृष्टि के बाद एक परमात्मा ही ईश्वर हैं|

प्रभु यहां कह रहे हैं कि जो संसार से सम्बन्ध विच्छेद कर जो मेरे साथ अभिन्न हो जाता है, वह पवित्र होकर हर काल, हर क्षण मुझ में ही वास करता है| यद्यपि सम्पूर्ण प्राणी भगवान् में ही हैं, भगवान् में ही रहते हैं, परन्तु जब तक उनके अन्तःकरण में संसार की सत्ता और महत्ता रहती है, वह भगवान् में अपनी स्थिति नहीं जान पाते| अतः भगवान् में रहते हुए भी उनका बर्ताव संसार में ही हो रहा है, अर्थात् उन्होंने जगत् में अहंता, ममता करके जगत् को धारण कर

रखा है, 'ययेदं धार्यते जगत्| वह जगत् को भगवान् का स्वरूप न समझकर अर्थात् जगत् समझकर बर्ताव करते हैं| उनकी धारणा होती है कि वह तो संसारी आदमी हैं, संसार में रहने वाले हैं| परन्तु भगवान् का भक्त इस बात को जानता है कि यह सब संसार वासुदेव रूप है, अतः वह भक्त हर समय भगवान् में ही डूबा रहता है|

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं सः योगी परमो मतः ।।६-३२।।

देखे जो योगी सर्वत्र स्व-समान हर प्राणी अर्जुन।
रहे सम दुःख सुख हर दशा समझो उसे योगी महन ||६-३२||

भावार्थ: *हे अर्जुन, जो योगी सर्वत्र हर प्राणी को अपने समान देखता है, हर परिस्थिति दुःख, सुख (आदि) में समान रहता है, उसे महान योगी समझो|*

टीका: सब प्राणियों में अपना स्वरुप देखने वाला महापुरुष सभी प्राणियों का समान रूप से हित चाहता है| उसके सामने कोई दुःखी प्राणी आ जाए तो जिस प्रकार वह स्वयं का दुःख दूर करने का प्रयास करता है उसी प्रकार दूसरे का दुःख भी दूर करने की स्वाभाविक चेष्टा करता है| इसका तात्पर्य है कि जैसे प्राणी की अपने प्रति हित करने की चेष्टा होती है, उसी प्रकार दूसरों के हित करने की भी समान भाव से उसकी चेष्टा होती है| किसी के प्रति किंचित मात्र भी द्वेष की सम्भावना नहीं होती| वह वर्ण, आश्रम, देश, वेश, सम्प्रदाय आदि का भेद न रखकर सब को समान रीति से सुख पहुँचाने की स्वाभाविक चेष्टा करता है|

यहां शंका हो सकती है कि योगी अपने शरीर के दुःख की तो उपेक्षा कर सकता है पर दूसरों के दुःख की उपेक्षा नहीं कर सकता, ऐसा क्यों? इसमें विषमता प्रतीत होती है| वास्तव में यह विषमता समता की जनक है, समता को प्राप्त कराने वाली है| यह विषमता समता से भी उच्च श्रेणी की है| साधक साधन अवस्था में ऐसी विषमता करता है तो सिद्ध अवस्था में भी उसकी ऐसी ही

स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है| उसके अन्तःकरण में किंचित मात्र भी विषमता नहीं होती| उसकी दृष्टि में परमात्मा के अतिरिक्त कुछ नहीं होता| वह नित्य योग (परमात्मा के नित्य सम्बन्ध) और नित्य समता में स्थित रहता है| शरीर एवं संसार से सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद होने से उसका परमात्मा से कभी वियोग नहीं होता और वह सभी अवस्थाओं तथा परिस्थितियों में एक रूप ही रहता है| अतः वह महान योगी है| कर्मयोगी और ज्ञानयोगी साधकों को चाहिए कि वह सब में अपने आपको देखें तथा भक्तियोगी साधकों को चाहिए कि वह सब में ईश्वर को, अपने इष्टदेव, को ही देखें|

अर्जुन उवाच
योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात् स्थितिं स्थिराम् ।।६-३३।।

अर्जुन उवाच
समझाए जो आप योग समता पूर्वक बोले अर्जुन |
नहीं देखता स्थिति स्थिर हेतु चंचल मन मधुसूदन ||६-३३||

भावार्थ: *अर्जुन बोले, 'हे मधुसूदन, जो आपने समता पूर्वक योग समझाया, मैं चंचल मन के कारण उसे स्थिर स्थिति में नहीं देखता|'*

टीका: प्रभु ने समझाया है कि मनुष्य को स्वयं के कल्याण हेतु सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति, अप्राप्ति को लेकर चित्त में समता रखनी चाहिए| इस समता से ही कल्याण होता है| अर्जुन पाप करने से डरते हैं, अतः भगवान् ने कहा कि 'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःख को समान समझकर तुम युद्ध करो, तुम्हें पाप नहीं लगेगा'| संसार में बहुत से पाप होते रहते हैं, पर वह पाप हमें नहीं लगते क्योंकि उन पापों में हमारी विषम बुद्धि नहीं होती, प्रत्युत सम बुद्धि रहती है| ऐसे ही सम बुद्धि पूर्वक सांसारिक काम करने से कर्मों का बन्धन नहीं होता| इसी भाव से भगवान् ने कहा है कि जो कर्म फल का आश्रय न लेकर कर्तव्य कर्म करता है, वही संन्यासी और योगी है| इसी कर्म फल त्याग की सिद्धि भगवान् ने 'समता' बताई है| इस समता की प्राप्ति के लिये भगवान् ने ध्यानयोग

का वर्णन किया है| इसी ध्यानयोग के वर्णन का लक्ष्य करके अर्जुन यहाँ अपनी शंका प्रकट कर रहे हैं|

अर्जुन का आशय है कि कर्मयोग से तो समता की प्राप्ति सुगम है, पर यहां प्रभु ने जिस ध्यानयोग से समता की प्राप्ति बताई है, मन की चंचलता के कारण उसे ध्यान में स्थिर स्थिति में रखने में उन्हें कठिनता दिखाई देती है| इसका तात्पर्य है कि जब तक मन की चंचलता का नाश नहीं होगा, तब तक ध्यानयोग सिद्ध नहीं होगा, और ध्यानयोग सिद्ध हुए बिना समता की प्राप्ति नहीं होगी|

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ।।६-३४।।

चंचल बलशाली दृढ़ मन करे अति विचलित मधुसूदन |
समझूं मैं है यह अति दुष्कर सम करना निग्रह पवन ||६-३४||

भावार्थ: *हे मधुसूदन, चंचल, बलशाली, दृढ़ मन अत्यंत विचलित करने वाला है| वायु समान इसको निग्रह करना मैं अति दुष्कर समझता हूँ|*

टीका: अर्जुन प्रभु से कह रहे हैं कि मन को वश में करना मुझे अत्यंत कठिन लगता है| यह मन बड़ा ही चंचल है| चंचलता के साथ यह साधक को अपनी स्थिति से विचलित कर देता है| यह बड़ा हठी और बलवान् भी है|

भगवान् ने कामना के पाँच निवास स्थान बताए हैं, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, विषय और स्वयं| वास्तव में कामना स्वयं में रहती है, और इन्द्रियाँ मन बुद्धि तथा विषयों में रहती हैं| कामना की जब तक स्वयं से निवृति नहीं मिल जाती, तब तक यह बुद्धि, इन्द्रियों आदि में प्रतीत होती रहती है| पर जब कामना की स्वयं से निवृति हो जाती है तब यह इन्द्रियों आदि में भी नहीं रहती| अर्थात जब तक स्वयं में कामना रहती है, तब तक मन साधक को व्यथित करता रहता है| कामना के स्वयं में रहने के कारण मन का पदार्थों के प्रति गाढ़ खिंचाव रहता है| इससे मन किसी तरह भी पदार्थों को छोड़ने को तत्पर नहीं होता, हठ कर

लेता है, अतः मन दृढ़ है| मन की यह दृढ़ता बहुत बलवती होती है| मन बड़ा बलवान् है जो साधक को हठपूर्वक विषयों में लगा देता है| शास्त्रों में कहा है कि मन ही मनष्यों के मोक्ष और बन्धन का कारण है, 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'| स्मरण रहे कि मन में यह प्रमथनशीलता, दृढ़ता और बलवत्ता तभी तक रहती है, जब तक साधक अपने से कामना का सर्वथा त्याग नहीं कर देता| जब साधक स्वयं काम रहित हो जाता है, तब पदार्थों का, विषयों का कितना ही संसर्ग होने पर उनका उस पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता| तब मन की प्रमथनशीलता नष्ट हो जाती है| मन की चंचलता भी तभी तक बाधक होती है, जब तक स्वयं में कुछ भी कामना का अंश रहता है| कामना का अंश सर्वथा निवृत्त होने पर मन की चंचलता किंचित मात्र भी बाधक नहीं होती|

देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि ।
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः ।।

अर्थात् देहाभिमान (जड़ के साथ मैंपन) सर्वथा मिट जाने पर जब परमात्म-तत्व का बोध हो जाता है, तब जहां मन जाता है, वहां परमात्म-तत्व का अनुभव होता है, उसकी अखण्ड समाधि (सहज समाधि) रहती है|

इस चंचल, प्रमाथि, दृढ़ और बलवान् मन का निग्रह करना बड़ा कठिन है| जैसे आकाश में विचरण करते हुए वायु को कोई मुट्ठी में नहीं पकड़ सकता, ऐसे ही इस मन को कोई पकड़ नहीं सकता| अर्जुन कह रहे हैं इसलिए इसका निग्रह करना मैं महान् दुष्कर मानता हूं|

श्रीभगवानुवाच
असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलं ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।।६-३५।।

श्रीभगवानुवाच
निःसंदेह है मन चंचल दुष्कर करना वश हे युद्धिवन |
पर संभव कर सकें निग्रह करें अभ्यास वैराग्य जन ||६-३५||

भावार्थ: *हे योद्धा, निःसंदेह मन चंचल और कठिनता से वशीभूत होता है| परन्तु वैराग्य के अभ्यास से (माध्यम से) इसे प्राणी निग्रह (नियंत्रित) कर सकता है|*

टीका: प्रभु कहते हैं कि निःसंदेह मन बड़ा चंचल है, और इसका निग्रह करना भी बड़ा कठिन है| परन्तु संसार से विरक्त होकर परमात्मा में लगाने का निरंतर अभ्यास करते रहने से इसे नियंत्रण में लाना संभव है| मन को बार बार ध्येय (परमात्म-तत्व) में लगाने को ही 'अभ्यास' कहा गया है| इस अभ्यास की सिद्धि में समय लगता है| अभ्यास निरन्तर होना चाहिए| कभी अभ्यास किया, कभी नहीं किया, ऐसा नहीं होना चाहिए| निरंतर अभ्यास करने से अभ्यास दृढ़ हो जाता है|

अभ्यास के दो भेद हैं| (१) अपना जो लक्ष्य है, उसमें मनोवृत्ति को लगाएं| दूसरी वृत्ति यदि आ जाए अर्थात् दूसरा कुछ भी चिन्तन आ जाए तो उसकी अपेक्षा कर दें, उसके प्रति उदासीन हो जाएं| (२) जहां मन जाए, वहीं अपने लक्ष्य इष्ट को देखें|

जब साधक ध्यान करने के लिये बैठे, तब सब से पहले दो चार श्वास बाहर फेंककर ऐसी भावना उत्पन्न करे कि मैंने मन से संसार को सर्वथा निकाल दिया है, अब मेरा मन संसार का चिन्तन नहीं करेगा, भगवान् का ही चिन्तन करेगा| चिन्तन में जो कुछ भी आएगा, वह भगवान् का ही स्वरूप होगा| भगवान् के अतिरिक्त मेरे मन में दूसरी भावना नहीं आ सकती| अतः भगवान् का स्वरूप वही है जो मन में आ जाए और मन में जो आ जाए वही भगवान् का स्वरूप है, 'वासुदेवः सर्वम्'| ऐसा भाव आने पर मन भगवान् में ही लगेगा|

साधक निरंतर भगवान् के नाम का जप करे| जिस नाम का उच्चारण किया जाए मन से उस नाम पर दृष्टि रखे, अर्थात् उस नाम को अंगुली अथवा माला से न गिनकर मन से ही नाम का उच्चारण करे और मन से ही नाम की गिनती करे| प्रभु के एक नाम का तो वाणी से उच्चारण करे और दूसरे नाम का मन से जप करे| उदाहरण के रूप में वाणी से तो 'राम, राम, राम' का उच्चारण करे, और मन से 'कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण' का जप करे| संभव हो तो राग-रागिनी के साथ

मन से नाम का कीर्तन करे (नारदीय पद्धिति से कीर्तन करे)| प्रभु के चरणों से लेकर मुकुट तक और मुकुट से लेकर चरणों तक उनके स्वरूप का चिन्तन करे| 'भगवान् मेरे समक्ष हैं', ऐसा समझकर भगवान् के स्वरूप का चिन्तन करे| इस तरह अभ्यास से मन का निग्रह हो जाता है|

वैराग्य होने के भी कई उपाय हैं| ऐसी भावना रखे कि संसार प्रतिक्षण बदलता है और स्वरूप (परमात्म-तत्व) कभी भी तथा किसी भी क्षण नहीं बदलता| अतः संसार हमारे साथ नहीं है और हम संसार के साथ नहीं हैं| अपने कहलाने वाले जितने कुटुम्बी, सम्बन्धी हैं, वह हमारे से अनुकूलता की इच्छा रखते हैं, अतः अपनी शक्ति, सामर्थ्य, योग्यता, समझ के अनुसार उनकी न्याय युक्त इच्छा पूरी कर दे, परन्तु उनसे अपनी अनूकूलता की तथा कुछ लेने की इच्छा का सर्वथा त्याग कर दे| इस तरह अपनी सामर्थ्य के अनुसार वस्तु देने से राग मिट जाता है और उनसे कुछ भी न चाहने से नया राग पैदा नहीं होता| इससे स्वाभाविक संसार से वैराग्य हो जाता है| जितने भी दोष, पाप, दुःख पैदा होते हैं, वह सभी संसार के राग से ही पैदा होते हैं| सुख, शान्ति, राग रहित होने से ही मिलती है| ऐसा विचार करने से वैराग्य हो ही जाता है|

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ।।६-३६।।

है मत मम मिले कठिन योग यदि भक्त का असंयत मन |
पर जो करे वश मन विधिवत यत्न पा सके योग जन ||६-३६||

भावार्थ: *मेरा ऐसा मत है कि साधक के अनियंत्रित मन से योग पाना कठिन है| लेकिन विधि पूर्वक मन को वश में करने के प्रयास से प्राणी को योग की प्राप्ति हो जाती है|*

टीका: प्रभु कह रहे हैं कि उनके मत में जिस साधक का मन वश में नहीं है उसके द्वारा योग सिद्ध होना कठिन है| योग की सिद्धि में मन का वश में न होना जितना बाधक है उतनी मन की चंचलता भी बाधक नहीं है| अतः

ध्यानयोगी को अपना मन वश में करना चाहिए| प्रायः साधकों की यह प्रवृत्ति होती है कि वह साधन तो श्रद्धा पूर्वक करते हैं पर उनके प्रयत्न में शिथिलता रहती है जिससे साधक में संयम नहीं रहता, अर्थात् मन एवं इन्द्रियाँ का अन्तःकरण में पूर्णतया संयम नहीं हो पाता, इसलिये योग की प्राप्ति में कठिनता होती है| स्मरण रहे कि परमात्मा सदा सर्वत्र विद्यमान रहते हुए भी शीघ्र प्राप्त नहीं होते| भगवान् की ओर मन लगाने वाले वैष्णव संस्कार वाले साधकों की तामस भोजन में जैसी अरुचि होती है वैसी अरुचि साधक की विषय भोगों में नहीं होती, अर्थात् विषय भोग उतने निषिद्ध और पतन करने वाले उन्हें नहीं दिखते| विषय भोगों का अधिक अभ्यास होने से उनमें तामस भोजन की तरह ग्लानि नहीं होती| तामस भोजन जैसे सर्वथा निषिद्ध वस्तु खाने से पतन तो होता ही है पर उससे भी अधिक पतन होता है राग पूर्वक विषय भोगों को भोगने से| इसका कारण है कि तामस भोजन निषिद्ध वस्तु है, ऐसी भावना तो वैष्णव भक्त में रहती है पर भोगों को भोगना निषिद्ध है, ऐसी भावना साधक के हृदय में नहीं रहती| इसलिये भोगों के जो संस्कार भीतर बैठ जाते हैं वह बड़े भयंकर होते हैं| तामस भोजन करने से जो पाप लगता है, वह दण्ड भोगकर नष्ट हो जाता है| वह पाप आगे नए पापों में लिप्त नहीं करेगा, परन्तु राग पूर्वक विषय भोगों का सेवन करने से जो संस्कार पड़ते हैं, वह जन्म-जन्मान्तर तक विषय भोगों में और उनकी रुचि के परिणाम स्वरूप पापों में लिप्त कराते रहेंगे। साधक के अन्तःकरण में विषय भोगों की रुचि रहने के कारण संयतात्मा नहीं आ पाती कि वह मन एवं इन्द्रियों को अपने वश में कर सके| इसलिये उसको योग की प्राप्ति में अर्थात् ध्यानयोग की सिद्धि में कठिनता होती है| परन्तु जो तत्परता पूर्वक साधन में लगा हुआ है, अर्थात् जो ध्यानयोग की सिद्धि के लिये ध्यानयोग के उपयोगी आहार-विहार, सोना-जागना आदि उपायों का अर्थात् नियमों का नियत रूप से और दृढ़ता पूर्वक पालन करता है, जिसका मन सर्वथा वश में है, ऐसे साधक के द्वारा योग प्राप्त किया जा सकता है, अर्थात् उसको ध्यानयोग की सिद्धि मिल सकती है|

मन को सर्वथा वश में करने का उपाय है कि सबसे पहले वह स्वयं को समझे कि 'मैं भोगी नहीं हूँ, मैं जिज्ञासु हूँ, केवल तत्व को जानना ही मेरा लक्ष्य है, मैं भगवान् का हूँ, भगवान् को अर्पित होना ही मेरा लक्ष्य है, मैं सेवक हूँ, केवल

सेवा करना ही मेरा काम है, किसी से कुछ भी चाहना मेरा काम नहीं है।' इस प्रकार अपनी अहंता का परिवर्तन कर दिया जाए तो मन बहुत शीघ्र वश में हो जाता है| जब मन शुद्ध हो जाता है, तब वह स्वतः वश में हो जाता है| मन में उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओं का राग रहना ही मन की अशुद्धि है| जब साधक का एक परमात्म-तत्व की प्राप्ति का दृढ़ उद्देश्य हो जाता है तब उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओं का राग हट जाता है ,और मन शुद्ध हो जाता है|

अर्जुन उवाच
अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति।।६-३७।।

अर्जुन उवाच
हुआ जो विचलित योग से पर हो श्रद्धा उसके मन |
करे प्रयास सामर्थ्य से पर नहीं हों सफल प्रयत्न ||
न पा सके सिद्धि योग वह पाए कौन गति हे कृश्न ||६-३७||

भावार्थ: *(अर्जुन ने पूछा) हे कृष्ण, जिस श्रद्धालु का मन योग से विचलित हो गया हो, अपनी सामर्थ्य के अनुसार प्रयास करने पर भी जिसके प्रयत्न सफल न हों, उसे योग सिद्धि नहीं मिल सकती, पर उसे कौन सी गति मिलती है?*

टीका: अर्जुन के मन में प्रभु की सांख्ययोग, कर्मयोग एवं भक्तियोग के विषय में प्रवचन सुनने के पश्चात एक शंका हुई| हे प्रभु, जिसकी साधना में अर्थात् जप, ध्यान, सत्संग, स्वाध्याय आदि में रुचि है, श्रद्धा है, और उनको अनुसरण भी करता है, पर अन्तःकरण और बहिःकरण वश में न होने से साधन में शिथिलता है, तत्परता नहीं है| ऐसा साधक अन्त समय में संसार में राग रहने से, विषयों का चिन्तन होने से, अपनी साधना से विचलित हो जाए, अपने ध्येय पर स्थिर न रहे, तो फिर उसकी क्या गति होती है?

असावधानी के कारण अन्त काल में जिसका मन विचलित हो गया अर्थात् साधना से हट गया और इस कारण उसको योग की संसिद्धि, परमात्मा की

प्राप्ति नहीं हुई तो फिर वह किस गति को प्राप्त होता है? इसका तात्पर्य है कि उसने पाप करना तो सर्वथा छोड़ दिया है, अतः वह नर्क में तो नहीं जा सकता| परन्तु अन्त समय में परमात्मा की स्मृति न रहने से, दूसरा चिन्तन होने से, उसको परमात्मा की प्राप्ति भी नहीं हुई, तो फिर उसकी क्या गति होगी? वह कहाँ जाएगा? योग से विचलित हुए साधक को प्रभु, आप कौन सी गति देंगे?

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ।।६-३८।।

मोहित हुआ ब्रह्म मार्ग पर रहित राग जो जन |
क्या होता भ्रष्ट पाता विनाश सम मेघ छिन्न भिन्न ||६-३८||
भावार्थ: *जो प्राणी ब्रह्म के मार्ग में मोहित हो गया हो पर राग रहित है, क्या वह भ्रष्ट होकर छिन्न भिन्न मेघ के समान नष्ट हो जाता है?*

टीका: अर्जुन अपनी जिज्ञासा को विस्तार पूर्वक कह रहे हैं| हे प्रभु, जो साधक सांसारिक प्रतिष्ठा (स्थिति) से तो रहित हो गया है, अर्थात् उसने संसार के सुख-आराम, आदर-सत्कार, यश-प्रतिष्ठा आदि की कामना छोड़ दी है, इनको प्राप्त करने का उसका उद्देश्य ही नहीं रहा, वह संसार का आश्रय छोड़कर परमात्म-तत्व की प्राप्ति के मार्ग पर चल पड़ा, पर परमात्मा की प्राप्ति नहीं कर सका| दुर्भाग्य से अन्त समय में साधना से विचलित हो गया अर्थात् परमात्मा की स्मृति नहीं रही| इस प्रकार उसे न तो संसार ही मिला और न योग, अतः वह भ्रष्ट हो गया| सांसारिक और पारमार्थिक, दोनों उन्नति से रहित हुआ साधक छिन्न भिन्न बादल की तरह नष्ट तो नहीं हो जाता? जैसे किसी बादल के टुकड़े ने अपने बादल को तो छोड़ दिया और दूसरे बादल तक वह नहीं पहुँचा, वायु के कारण बीच में ही छिन्न भिन्न हो गया, क्या ऐसे साधक की भी यही गति होती है?

अर्जुन के प्रश्न का आशय यह है कि साक्षात् परमात्मा का अंश होने से यदि इसके भीतर संसार का उद्देश्य होता, संसार का आश्रय होता, तो यह स्वर्ग आदि लोकों में, नर्कों में अथवा पशु, पक्षी आदि आसुरी योनियों में चला जाता, और संसार में ही रहता| अब योग प्राप्ति हेतु उसने संसार का आश्रय तो छोड़ दिया,

उसका उद्देश्य केवल परमात्म-तत्व की प्राप्ति हो गया, पर अंत समय में विचलित होने से परमात्मा की प्राप्ति नहीं कर पाया| ऐसा साधक किस गति को पाएगा?

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ।।६-३९।।

हो तुम्हीं जो कर सको दूर मेरा यह संशय भगवन |
नहीं इस विश्व ब्रह्मज्ञानी अतिरिक्त आपके महन ||६-३९||

भावार्थ: *हे भगवन, मेरे इस संशय को केवल आप ही दूर कर सकते हैं क्योंकि हे महापुरुष, इस विश्व में आपके अतिरिक्त कोई ब्रह्मज्ञानी नहीं है|*

टीका: अर्जुन कह रहे हैं कि इस संशय का सर्वथा निवारण करने वाला, हे कृष्ण, आपके अतिरक्त इस विश्व में कोई नहीं हो सकता| साधारणतः शास्त्र की कोई गुत्थी हो, शास्त्र का कोई गहन विषय हो तो शास्त्रों के ज्ञाता उसका समाधान कर सकते हैं| परन्तु योग भ्रष्ट की क्या गति होती है, इसका समाधान तो केवल भगवान् स्वयं ही दे सकते हैं| प्रभु तो स्वयं 'युक्त योगी' हैं, अर्थात् बिना अभ्यास, बिना परिश्रम के सर्वत्र सब कुछ जानने वाले हैं| वह साक्षात् भगवान् होने से सम्पूर्ण प्राणियों की गति, आगति को जानने वाले हैं| अतः इस योग भ्रष्ट गति विषयक प्रश्न का उत्तर वह ही दे सकते हैं|

श्रीभगवानुवाच
पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
नहि कल्याणकृत्कश्चद्दुर्गतिं तात गच्छति ।।६-४०।।

श्रीभगवानुवाच
सुन पार्थ नहीं होता विनाश उस जन बोले भगवन |
करे जो हितकर कर्म नहीं संभव हो दुर्गति उस जन ||६-४०||

भावार्थ: *भगवान् बोले, 'हे पार्थ ऐसे प्राणी का विनाश नहीं होता| जो कल्याणकारी कार्य करते हैं, उन प्राणियों की दुर्गति संभव नहीं|'*

टीका: भगवान् कहते हैं कि इस प्रकार के प्राणी जिन्हें अन्त काल में परमात्मा का स्मरण नहीं होता, हे पृथानन्दन, वह योग भ्रष्ट साधक मरने के बाद चाहे इस लोक में जन्म ले, चाहे परलोक में जन्म ले, उसका पतन नहीं होता| उसकी योग में जितनी स्थिति बन चुकी है, उससे नीचे वह नहीं गिरता| उसकी साधना नष्ट नहीं होती| उसका पारमार्थिक उद्देश्य नहीं बदलता| जैसे अनादिकाल से वह जन्म-मरण के क्रम में रहा है, उसी प्रकार वह आगे भी जन्म-मरण के चक्र में रहेगा, पर उसका पतन नहीं होगा|

उदाहरण हेतु इस मनुष्य जन्म में जिनका स्वभाव सेवा करने का, जप, ध्यान करने का रहा है, और विचार अपना उद्धार करने का रहा है, वह किसी कारणवश अन्त समय में योग भ्रष्ट हो जाएं तथा इस लोक में पशु, पक्षी स्वरुप में भी जन्म लें तो भी उनका वह अच्छा स्वभाव और सत संस्कार नष्ट नहीं होते| ऐसे अनेक उदाहरण हैं कि दूसरे जन्म में प्राणी ने हाथी, ऊँट, आदि पशु योनि में जन्म लिया, पर उन योनियों में भी उन्हें भगवान् की कथा सुनने में रूचि रही|

यदि कोई साधक किसी भी साधन से सच्चे हृदय से परमात्म-तत्व की प्राप्ति करना चाहता है, तो ऐसे किसी भी साधक की दुर्गति कभी नहीं होती| जो मनुष्य कल्याणकारी कार्य में लगा हुआ है अर्थात् जिसके लिये मनुष्य शरीर मिला है वह कार्य कर रहा है, सांसारिक भोग और संग्रह में आसक्त नहीं है, वह चाहे किसी मार्ग में चले, उसकी दुर्गति नहीं होती| क्योंकि उसका ध्येय चिन्मय-तत्व में (परमात्मा) है| उसकी रक्षा स्वयं भगवान् करते हैं|

परमात्मा को हृदय में रख कर जो काम किया जाता है, वह 'सत्' हो जाता है, 'कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते'| साधक के जितने सद्भाव बने हैं, जैसा स्वभाव बना है, वह प्राणी किसी कारणवश किसी भी योनि में चला जाए अथवा किसी भी परिस्थिति में पड़ जाए तो भी वह सद्भाव उसका कल्याण करके ही

छोड़ेंगे| अगर वह किसी कारण से किसी नीच योनि में भी चला जाए तो वहां भी अपने सजातीय योनिवालों की अपेक्षा उसके स्वभाव में अंतर रहेगा|

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ।।६-४१।।

करें प्राप्त पुण्यवान लोक होते जो योग भ्रष्ट जन |
करें वास दीर्घकाल ले जन्म गृह वंश शुद्ध अंकन ||६-४१||

भावार्थ: *यदि प्राणी योग से भ्रष्ट हो जाएं तो वह पुण्यवान लोक को प्राप्त करते हैं| शुद्ध आचरण वाले प्राणियों के घर में जन्म लेकर वह दीर्घकाल तक वहां वास करते हैं|*

टीका: जो लोग शास्त्रीय विधि विधान से सुख भोगने की इच्छा से यज्ञ आदि कर्मों को करते हैं, उन लोगों का स्वर्ग समान पुण्य लोकों पर अधिकार हो जाता है| स्मरण रहे कि उन्हें पुण्य लोक की प्राप्ति के लिए परिश्रम करना पड़ता है| लेकिन जिन साधकों को पुण्य कर्मों के फल रूप सुख भोगने की इच्छा नहीं है, उनको यह स्वर्ग आदि पुण्य लोक बिना परिश्रम के ही प्राप्त हो जाते हैं| योग से भ्रष्ट हुए योगी भी इसी श्रेणी में आते हैं| उन्हें पुण्य लोकों की स्वतः प्राप्ति हो जाती है| वह योग भ्रष्ट अवश्य हो गए हैं परन्तु उनका उद्देश्य भोग भोगने का नहीं है| वह केवल सांसारिक सूक्ष्म वासना के कारण उन लोकों में जाते हैं| उन्हें इन पुण्य लोक में योग भ्रष्ट के कारण निवास करना पड़ता है| इसका तात्पर्य है कि स्वर्ग आदि पुण्य लोकों में या तो यज्ञादि शुभ कर्म वाले भोगों को भोग करने के उद्देश्य से अथवा योगभ्रष्ट योगी ही जाते हैं| शास्त्रीय विधि विधान से सुख भोगने की इच्छा से यज्ञ आदि कर्म करने वालों के पुण्य लोक में जाने से उनके पुण्य क्षीण होते हैं, और पुण्यों के क्षीण होने पर उन्हें लौटकर मृत्युलोक में आना पड़ता है| वह वहां सीमित वर्षों तक ही रह सकते हैं| परन्तु जिनका उद्देश्य भोग भोगने का नहीं है, प्रत्युत परमात्म-तत्व की प्राप्ति करने का है, वह योग भ्रष्ट किसी सूक्ष्म वासना के कारण यदि पुण्य लोक में चला जाए तो वहां उसकी साधन सम्पत्ति क्षीण नहीं होती| वह वहां असीम वर्षों तक निवास करता है|

क्योंकि योग भ्रष्ट योगी का पुण्य लोकों में जाना कर्मजन्य नहीं है, किन्तु यह तो योग का प्रभाव है, इस कारण उनकी साधन सम्पत्ति पर प्रभाव नहीं पड़ता|

पुण्य लोकों के भोग भोगने पर जब योग भ्रष्ट योगी की अरुचि हो जाती है, तब वह लौटकर मृत्युलोक में आता है, और शुद्ध श्रीमानों के घर में जन्म लेता है| स्मरण रहे कि मृत्युलोक ही साधना को आगे बढ़ाने का प्रभु द्वारा वरदानित खंड है| अतः भगवान् उसको साधना करने का अवसर देने के लिये शुद्ध श्रीमानों के घर में जन्म देते हैं| जिनका धन शुद्ध कमाई का है, जो कभी पराया अधिकार नहीं छीनते, जिनके आचरण तथा भाव शुद्ध हैं, जिनके अन्तःकरण में भोगों का और पदार्थों का महत्व एवं उनके प्रति ममता नहीं है, जो सम्पूर्ण पदार्थ, घर, परिवार आदि को केवल साधन सामग्री समझते हैं, जो भोग बुद्धि से किसी पर अपना व्यक्तिगत आधिपत्य नहीं जमाते, वह 'शुद्ध श्रीमान्' कहे जाते हैं|

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ।।६-४२।।

अथवा लें जन्म योग भ्रष्ट योगी गृह प्रमत हे अर्जुन |
निःसंदेह है यह जन्म अति दुर्लभ सामान्य भूजन ||६-४२||

भावार्थ: *हे अर्जुन, अथवा योग भ्रष्ट योगी पंडितों के गृह में जन्म लेते हैं| निःसंदेह इस प्रकार का जन्म साधारण प्राणियों के लिए अत्यंत दुर्लभ है|*

टीका: जो संसार से विरक्त होकर, संसार से सर्वथा विमुख होकर साधन में लगा हुआ है, लेकिन किसी कारण योग से भ्रष्ट हो मृत्यु को प्राप्त हुआ है, वह तत्वज्ञ जीवन-मुक्त बुद्धिमान् पुरुषों के कुल में जन्म लेता है| इसका तात्पर्य है कि उसका जन्म साक्षात् जीवन-मुक्त योगी महापुरुष के कुल में ही होता है, 'नास्याब्रह्मवित् कुले भवति'|

साधारतः ऐसे उच्च कुल में जन्म लेना अत्यंत दुर्लभ है| शुद्ध सात्त्विक प्राणियों के घर में जन्म लेना पुण्य का फल माना जाता है| इस प्रकार के बुद्धिमत योगियों के कुल में, घर में स्वाभाविक ही पारमार्थिक वायु मण्डल रहता है| वहां सांसारिक भोगों की चर्चा नहीं होती| अतः वहां के वायु मण्डल से, दृश्य से, तत्वज्ञ महापुरुषों के संग से, अच्छी शिक्षा आदि से उसके लिये साधना में मन लगाना बहुत सुगम हो जाता है, और वह साधना की उच्च श्रेणी प्राप्त करता है|

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ।।६-४३।।

रहे स्मरण ज्ञान पूर्व-जन्म करे प्रेरित इस जनन|
करे वह जब योग इस जन्म हो सिद्ध वह योगीजन ||
हो निःसंशय सफल करे जब तप से वह साधना जन ||६-४३||

***भावार्थ**: पूर्वजन्म के ज्ञान के स्मरण से प्रेरित होकर वह इस जन्म में जब योग करता है, तब वह सिद्ध होता है| तप से साधना करता हुआ (योग) वह निःसंदेह सफलता को प्राप्त होता है (अतः उसे योग सिद्धि होती है)|*

टीका: संसार से विरक्त उस योग भ्रष्ट साधक का जन्म शुद्ध श्रीमंत पंडितों के गृह में होता है| वहां उसको अनायास ही पूर्व-जन्म की साधना की स्मृति हो जाती है| पूर्वजन्म में उसकी जितनी साधना हो चुकी है, जितने अच्छे संस्कार पड़ चुके हैं, वह सभी इस जन्म में प्राप्त हो जाते हैं, जाग्रत् हो जाते हैं| पूर्व-जन्म कृत बुद्धि संयोग की प्राप्ति से उसे आगे की साधना की युक्तियाँ मिल जाती हैं| ज्यों ज्यों नई युक्तियाँ मिलती हैं, त्यों त्यों उसका साधना में उत्साह बढ़ता है| इस तरह वह सिद्धि के लिये विशेष तत्परता से यत्न करता है, और अंततः योग सिद्धि में सफलता प्राप्त कर लेता है, अर्थात परमात्म-तत्व की प्राप्ति कर लेता है|

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ।।६-४४।।

कारण पूर्वाभ्यास हुआ अवश होता आकृष्ट साधन |
हो जिज्ञासु योग करे वेदित सकाम कर्म वह जन ||६-४४||

भावार्थ: *पूर्वाभ्यास के कारण अवश हुआ वह साधना (योग) की ओर आकर्षित होता है| योग में जिज्ञासा होने से वह वेद वर्णित सकाम कर्म करता है|*

टीका: शुद्ध श्रीमंतों के कुल में जन्म लेने वाले योग भ्रष्ट को सभी उपयुक्त साधना की सुविधा मिलती है, उपयुक्त वायु मण्डल मिलता है, उपयुक्त सत्संग मिलता है, उपयुक्त शिक्षा मिलती है, जिससे योग का साधन सुलभ हो जाता है| सांसारिक भोगों का त्याग करने के कारण उसके अन्तःकरण में जो अच्छे संस्कार पड़ चुके थे, वह जाग्रत हो जाते हैं| तब वह इस जन्म में भोगों से आसक्ति रहित हो परमात्मा की ओर आकर्षित होता है|

जब इस प्रकार योग का जिज्ञासु वेदों में वर्णित सकाम भावना से कर्म करता है तो उसके पुनः पतन की कोई शंका नहीं रह जाती| वह योग में प्रवृत्त हो अपना उद्धार करता है| योग का जिज्ञासु वह है जो भोग और संग्रह को साधारण लोगों की तरह महत्व नहीं देता, प्रत्युत उनकी अपेक्षा करके योग को अधिक महत्व देता है| यद्यपि उसकी भोग और संग्रह की रुचि मिटी नहीं हो सकती, पर सिद्धान्त से वह योग को ही महत्व देता है| इसलिये वह अवश्य ही योगारूढ़ तो नहीं हुआ, पर योग का जिज्ञासु है| इस जिज्ञासा का यह महात्म्य है कि वह वेदों में वर्णित सकाम कर्म करते हुए उनके फल से ऊँचा उठ जाता है| जो योग में प्रवृत्त हो चुका है, उसका पतन नहीं होता, उसका कल्याण ही होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है|

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ।।६-४५।।

कर प्रयास हो जाए शुद्ध सभी कर्म पाप साधकगन |
कर सिद्ध योग शनैः शनैः पाए परम गति अर्जुन ||६-४५||

भावार्थ: *हे अर्जुन, प्रयास करने से साधक पूर्ण पाप कर्मों से शुद्ध होकर धीरे धीरे योग को सिद्ध करता हुआ परम गति को प्राप्त होता है (अर्थात साधक परमात्म-तत्व की प्राप्ति कर लेता है)*

टीका: योग का जिज्ञासु साधक जब वेदों में वर्णित सकाम कर्मों का अतिक्रण करता है, वह परम गति को प्राप्त हो जाता है| प्रयत्न करने का तात्पर्य है कि साधक के भीतर परमात्मा की ओर जाने की जो उत्कण्ठा है, लगन है, उत्साह है, तत्परता है, वह दिन प्रतिदिन बढ़ती ही जाए| साधना में उसकी निरन्तर सजगता रहे| शुद्ध श्रीमानों के घर में जन्म लेने वाला योग भ्रष्ट साधक पूर्वाभ्यास के कारण परमात्मा की ओर खिंचता है| संभव है कि वर्तमान में भोगों के संग की उसकी इच्छा जाग्रत हो, लेकिन यदि वह यत्न पूर्वक भोगों का त्याग कर दे, तो फिर वह परमात्मा को प्राप्त कर लेगा| जिस प्रकार निषिद्ध आचरण में लगा हुआ पुरुष एक बार चोट खाने पर फिर विशेष बल से परमात्मा में लग जाता है, ऐसे ही योग भ्रष्ट भी श्रीमानों के घर में जन्म लेने पर विशेष बल से परमात्मा में लग जाता है| उसके अन्तःकरण के सब दोष, पाप नष्ट हो जाते हैं| परमात्मा की ओर लगन होने से उसके भीतर भोग, संग्रह, मान, प्रशंसा आदि की इच्छा सर्वथा मिट जाती है|

स्मरण रहे कि प्रथम मनुष्य जन्म में योग के लिये यत्न करने से शुद्धि हुई, फिर अन्त समय में योग से विचलित होकर पुण्य लोकों में निवास किया तथा वहां भोगों से अरुचि होने से शुद्धि हुई, और फिर यहाँ शुद्ध श्रीमानों के घर में जन्म लेकर परमात्म-तत्व की प्राप्ति के लिये तत्परता पूर्वक यत्न करने से शुद्धि हुई| इस प्रकार तीन जन्मों में शुद्ध होना ही अनेक जन्म संसिद्धि होना है| ऐसा साधक परम गति को प्राप्त हो जाता है|

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ।।६-४६।।

मध्य तपस्वी ज्ञानयोगी कर्मयोगी है योगी चेतन |
अतः बनो योगी है यह मेरा निश्चित मत बुद्धिवन ||६-४६||

भावार्थ: *तपस्वी, ज्ञानयोगी एवं कर्मयोगी के मध्य योगी श्रेष्ठ है| इसलिए हे प्रमत, योगी बनो, ऐसा मेरा निश्चित मत है|*

टीका: ऋद्धि सिद्धि आदि को पाने के लिये जो भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, आदि का कष्ट सहते हैं, वह 'तपस्वी' हैं| प्रभु कह रहें कि इन सकाम तपस्वियों से पारमार्थिक रुचि वाला, ध्येय वाला योगी श्रेष्ठ है|

शास्त्रों को जानने वाले विद्वानों को यहां 'ज्ञानयोगी' कहा है| निष्काम लोक हित कर्म करने वाले कर्मयोगी हैं| इन सब, तपस्वियों, ज्ञानयोगियों, कर्मयोगियों से श्रेष्ठ योगी है| जो संसार से विमुख होकर परमात्मा के सम्मुख हो गया है, वही वास्तव में योगी है, वही श्रेष्ठ है| तपस्वियों आदि का उद्देश्य संसार है तथा सकाम भाव है, परन्तु योगी का उद्देश्य परमात्मा प्राप्ति एवं निष्काम भाव से कर्म करना है| तपस्वी, ज्ञानी और कर्मयोगी, इन तीनों की क्रियाएँ अलग अलग हैं| तपस्वियों में सहिष्णुता की, ज्ञानियों में शास्त्रीय ज्ञान की (अर्थात् बुद्धि ज्ञान की) और कर्मयोगियों में शास्त्रीय क्रिया की प्रधानता है| इन तीनों में सकाम भाव होने से यह तीनों योगी नहीं हैं, प्रत्युत भोगी हैं| अगर यह तीनों निष्काम भाव वाले योगी होते, तो भगवान् इनके साथ योगी की तुलना नहीं करते, अतः इन तीनों से योगी को श्रेष्ठ नहीं बताते| योगी श्रेष्ठ होने के कारण प्रभु अर्जुन को आज्ञा देते हैं कि 'हे अर्जुन, तू योगी बन जा, राग, द्वेष से रहित हो जा, अर्थात् सब कर्म करते हुए भी जल में कमल के पत्ते के तरह निर्लिप्त रह|

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ।।६-४७।।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मेविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे आत्मसंयमयोग नाम षष्ठऽध्यायः ।।

है श्रेष्ठ योगी जो युक्त श्रद्धा करे मेरा अनुसरन |
एकत्व भाव हो तल्लीन हिय गाए सदा मेरे सदगुन ||६-४७||

करते हुए ओम तत सत पूर्ण भगवन्नाम उच्चारन।
ब्रह्मविद्या योगशास्त्रमय महाग्रंथ गीतबंधन॥
श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषदरूप ग्रन्थ अति पावन।
श्री कृष्णार्जुन संवाद आत्मसंयमयोग नामन॥
हुआ अत्र सम्पूर्ण षष्ठम अध्याय करे कल्याण जन॥

भावार्थ: *वह योगी श्रेष्ठ है जो श्रद्धा से मेरा अनुसरण करे (अर्थात मेरी आज्ञा का पालन करे)/ एकत्व भाव से हृदय में तल्लीन हो मेरी सद्गुणों को गाए (अर्थात मेरा भजन करे)/*

इस प्रकार उपनिषद, ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र रूप श्रीमद्भगवद्गीता के श्री कृष्ण-अर्जुन संवाद में 'आत्मसंयमयोग' नामक षष्ठम अध्याय संपूर्ण हुआ/

टीका: प्रभु कहते हैं कि जिन साधकों में जड़ता से सम्बन्ध विच्छेद करने की मुख्यता है, जो कर्मयोग, सांख्ययोग, हठयोग, मन्त्रयोग, लययोग आदि साधनों के द्वारा अपने स्वरूप (परमात्म-तत्व) की प्राप्ति में ही लगे हुए हैं, वह योगी सकाम तपस्वियों, ज्ञानियों और कर्मियों से श्रेष्ठ हैं, परन्तु उन योगियों में भी केवल मेरे साथ सम्बन्ध जोड़ने वाला भक्त योगी सर्वश्रेष्ठ है|

प्रभु कहते हैं कि जो मुझ पर श्रद्धा और विश्वास करता है, अर्थात् जिसके भीतर मेरी ही सत्ता और महत्ता है, ऐसा श्रद्धावान् भक्त मुझ में तल्लीन होकर मन से मेरा ही भजन करता है| 'मैं भगवान् का हूँ और भगवान् मेरे हैं', इस प्रकार जब स्वयं का भगवान् में अपनापन हो जाता है, तब मन स्वतः ही भगवान् में लग जाता है, तल्लीन हो जाता है| जब साधक केवल भगवान् का ही हो जाता है, जिसका अपना व्यक्तिगत कुछ नहीं रहता, उसकी साधना, भजन, जप-कीर्तन, श्रवण-मनन आदि सभी पारमार्थिक क्रियाएँ, खाना-पीना, चलना-फिरना, सोना-जागना आदि सभी शारीरिक क्रियाएँ और खेती, व्यापार, नौकरी आदि जीविका सम्बन्धी क्रियाएँ भी भजन समान ही हो जाती हैं| भगवान् कहते हैं कि भक्त मेरी प्रसन्नता के लिये ही सभी कर्म करता है, सदा मेरे ही परायण रहता

है, वह संसार का भक्त नहीं होता, संसार की आसक्ति को सर्वथा छोड़ देता है और सम्पूर्ण प्राणियों में वैर भाव से रहित हो जाता है|

संसार से विमुख होकर अपना उद्धार करने में लगने वाले जितने योगी हैं, वह सभी 'युक्त' हैं| जो सगुण, निराकार की अर्थात् व्यापक रूप से सब में परिपूर्ण परमात्मा की शरण लेते हैं, वह सभी 'युक्ततर' हैं| लेकिन प्रभु कहते हैं कि जो केवल मुझ सगुण भगवान् के ही शरण होते हैं, वह मेरी मान्यता में 'युक्ततम' हैं| भक्त युक्ततम तभी होगा, जब कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि सभी योग उसमें आ जाएंगे | श्रद्धा, विश्वास पूर्वक भगवान् में तल्लीन हुए मन से भजन करने पर उसमें सभी योग आ जाते हैं, क्योंकि भगवान् महायोगेश्वर हैं, सम्पूर्ण योगों के महान् ईश्वर हैं, महायोगेश्वर के शरण होने पर शरणागत का कोई योग शेष नहीं रह जाता, वह सम्पूर्ण योगों से युक्त हो जाता है| युक्ततम भक्त कभी योग भ्रष्ट नहीं हो सकता क्योंकि उसका मन भगवान् को नहीं छोड़ता, और भगवान् भी उसको नहीं छोड़ते| अन्त समय में वह पीड़ा, बेहोशी आदि के कारण भगवान् को याद न कर सके, तो भगवान् उसको याद करते हैं, अतः वह योग भ्रष्ट नहीं हो सकता|

संसार से सर्वथा विमुख होकर भगवान् के ही परायण जो हो गया है, जिसको अपने बल का, उद्योग का, साधन का सहारा, विश्वास और अभिमान नहीं है, ऐसे भक्त को भगवान् योग भ्रष्ट नहीं होने देते, क्योंकि वह भगवान् पर ही निर्भर होता है| जिसके अन्तःकरण में संसार का महत्व है तथा जिसको अपने पुरुषार्थ का सहारा, विश्वास और अभिमान है, उसी के योग भ्रष्ट होने की सम्भावना रहती है, क्योंकि अन्तःकरण में भोगों का महत्व होने पर परमात्मा का ध्यान करते हुए भी मन संसार में चला जाता है| इस प्रकार अगर प्राण छूटते समय मन संसार में चला जाए तो वह योग भ्रष्ट हो जाता है| अगर अपने बल का सहारा, विश्वास और अभिमान न हो, तो मन संसार में जाने पर भी वह योग भ्रष्ट नहीं होता| ऐसी अवस्था आने पर (मन संसार में जाने पर) वह भगवान् को पुकारता है| अतः ऐसे भगवान् पर निर्भर भक्त का चिन्तन भगवान् स्वयं करते हैं, जिससे वह योग भ्रष्ट नहीं होता, प्रत्युत भगवान् को प्राप्त हो जाता है| यहाँ भक्त योगी को सर्वश्रेष्ठ बताने से यह सिद्ध होता है कि दूसरे जितने योगी हैं, उनकी पूर्णता

में कुछ न कुछ कमी रहती होगी| संसार का सम्बन्ध विच्छेद होने से सभी योगी बन्धन से सर्वथा मुक्त हो जाते हैं, निर्विकार हो जाते हैं और परम सुख, परम शान्ति, परम आनन्द का अनुभव करते हैं, इस दृष्टि से यद्यपि किसी की भी पूर्णता में कमी नहीं रहती, परन्तु जो अन्तरात्मा से भगवान् में लग जाता है, भगवान् के साथ ही अपनापन कर लेता है, उसमें भगवत् प्रेम प्रकट हो जाता है| वह प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान है तथा सापेक्ष वृद्धि, क्षति और पूर्ति से रहित है| ऐसा प्रेम प्रकट होने से ही भगवान् ने उसको श्रेष्ठ माना है |यद्यपि आरम्भ में अर्जुन के पूछने पर कि सांख्ययोग और कर्मयोग में श्रेष्ठ कौन है, तब भगवान् ने अर्जुन के प्रश्न के अनुसार वहां पर कर्मयोग को श्रेष्ठ बताया था| परन्तु अर्जुन के लिये कौन सा योग श्रेष्ठ है, यह बात नहीं बताई| उसके बाद सांख्ययोग और कर्मयोग की साधना कैसी चलती है, इसका विवेचन कर कर्मयोग की विशेष महिमा बताई| जो तत्व (समता) कर्मयोग से प्राप्त होता है, वही तत्व ध्यानयोग से भी प्राप्त होता है, इस बात को लेकर ध्यानयोग का वर्णन किया| ध्यानयोग में मन की चंचलता बाधक होती है, इस तथ्य को लेकर अर्जुन ने मन के विषय में प्रश्न पूछा| इसका उत्तर भगवान् ने संक्षेप में दे दिया| फिर अर्जुन ने पूछा कि योग का साधन करने वाला अगर अन्त समय में योग से विचलित हो जाए तो उसकी क्या दशा होती है, इसके उत्तर में भगवान् ने योग भ्रष्ट की गति का वर्णन किया और योगी की विशेष महिमा बता कर अर्जुन को योगी बनने के लिये स्पष्ट रूप से आज्ञा दी| भगवान् की मान्यता में कौन सा योग श्रेष्ठ है, यह बात भगवान् ने यहाँ स्पष्ट कर दी| अर्जुन के पूछे बिना ही भगवान् कहते हैं कि मैं तो भक्त योगी को श्रेष्ठ मानता हूँ, 'स मे युक्ततमो मतः'|

अध्याय ७ : ज्ञानविज्ञानयोग

श्रीभगवानुवाच
मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ।।७-१।।

श्रीभगवानुवाच
छंदः
कर आसक्त मन मम कर अभ्यास योग बोले भगवन ।
कैसे जानो मेरा समग्र रूप सुनो तुम अब अर्जुन ।।७-१।।

भावार्थः *भगवान् बोले, 'हे अर्जुन, मन को मेरे में आसक्त कर योग का अभ्यास करो| मेरे समग्र रूप को कैसे जानोगे, अब यह सुनो|'*

टीका: भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं, 'हे अर्जुन, तू अपने मन को मुझ में आसक्त कर योग का अभ्यास कर|' जिसका उत्पन्न-विनाशशील वस्तुओं, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, इहलोक, आदर-सत्कार, प्रशंसा, स्वर्गादि परलोक के भोगों में किंचित मात्र भी आकर्षण नहीं है, प्रत्युत केवल भगवान् के प्रति ही आकर्षण है, ऐसे पुरुष का मन भगवान् में आसक्त होता है|

मन को भगवान् के प्रति आसक्त करने के दो उपाय हैं|

(१) साधक जब सत्य निष्ठा से भगवान् का जप, ध्यान करता है, तब भगवान् उसका भजन स्वीकार करते हैं| जो भगवान् का आश्रय लेकर भगवान् के ही भरोसे है, वह भगवान् की कृपा से भगवान् में मन वाला हो जाता है|

(२) 'भगवान् सर्वव्यापी हैं', सदैव ऐसे विचार रखने चाहिए| कोई देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, घटना और क्रिया उनसे रहित नहीं है| उनसे रहित होना सम्भव ही नहीं है| जब साधक इस विचार को दृढ़ता से मानता है कि

भगवान मेरे प्राण, मन, बुद्धि, शरीर, शरीर के कण-कण में वास करते हैं, तब साधक अति शीघ्र भगवान् में मन वाला हो सकता है|

भगवान् कहते हैं कि साधक को केवल मेरी ही आशा, मेरा ही भरोसा, मेरा ही सहारा, मेरा ही विश्वास होना चाहिए, अर्थात सर्वथा मेरे ही आश्रित रहना चाहिए| किसी न किसी का आश्रय लेना जीव का स्वभाव है| परमात्मा का अंश होने से यह जीव अपने अंशी को ढूँढ़ता है| परन्तु जब तक उसके लक्ष्य में परमात्मा नहीं होते, तब तक वह शरीर के साथ सम्बन्ध जोड़े रहता है, और शरीर जिसका अंश है, उस संसार की ओर खिंचता है| वह यह मानने लगता है कि इससे ही मुझे लाभ होगा| परन्तु जब वह भगवान् को ही सर्वोपरि मान लेता है, तब वह भगवान् में आसक्त हो जाता है और भगवान् का ही आश्रय ले लेता है| संसार का, अर्थात् धन, सम्पत्ति, वैभव, विद्या, बुद्धि, योग्यता, कुटुम्ब आदि का जो आश्रय है, वह नाशवान् है, मिटने वाला है, स्थिर रहने वाला नहीं है| परन्तु भगवान् का आश्रय किंचित मात्र भी कम होने वाला नहीं है, वह सदैव यथा रहता है|

भगवान् के साथ जो स्वतः सिद्ध अखण्ड सम्बन्ध है, उस सम्बन्ध को मानता हुआ तथा सिद्धि, असिद्धि में सम रहता हुआ साधक जप, ध्यान, कीर्तन करने में, भगवान् की लीला और स्वरूप का चिन्तन करने में, स्वाभाविक ही अटल भाव से लगा रहता है, तब उसकी चेष्टा स्वाभाविक ही भगवान् के अनुकूल होती है| यही योग का अभ्यास है|

जिसका मन भगवान् में आसक्त हो गया है, जो सर्वथा भगवान् के आश्रित हो गया है और जिसने भगवान् के सम्बन्ध को स्वीकार कर लिया है, ऐसा साधक भगवान् के समग्र रूप को जान लेता है, अर्थात् भगवान् के जितने भी रूप हैं, गुण-निर्गुण, साकार-निराकार, अवतार-अवतारी, शिव, गणेश, सूर्य, विष्णु, आदि उन सब को जान लेता है| भगवान् कहते हैं कि ज्ञानमार्ग से चलने वाला मुझ को जान सकता है, परन्तु प्राप्त करने में संशय है| परंतु मेरी भक्ति से मेरा भक्त मेरा समग्र रूप जान सकता है| मेरे जिस इष्ट रूप से वह मेरी उपासना करता है, उस रूप से मैं उसे दर्शन देता हूँ|

इस अध्याय को आरम्भ करते हुए प्रभु अर्जुन से कह रहे हैं कि तू जिस प्रकार मेरे समग्र रूप को जानेगा, अब वह सुन|

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ।।७-२।।

विज्ञान सहित सम्पूर्ण ज्ञान करूँ मैं अब विवरन |
न रहे कुछ ज्ञातव्य पश्चात उसके विश्व में अर्जुन ||७-२||

भावार्थ: *हे अर्जुन, विज्ञान सहित सम्पूर्ण ज्ञान का मैं अब विवरण करूंगा| इसके पश्चात विश्व में कुछ भी जानने योग्य नहीं रहेगा|*

टीका: भगवान् कहते हैं कि 'हे अर्जुन, अब मैं विज्ञान सहित सम्पूर्ण ज्ञान तुझ को दूंगा, जिसको जानने के बाद और कुछ जानना शेष नहीं रहेगा|'

परमात्म-तत्व को जानने के लिये 'ज्ञानयोग' में ज्ञान की प्रधानता रहती है, और 'भक्तियोग' में भगवान् की मान्यता की प्रधानता रहती है| जो वास्तविक मान्यता है, वह बड़ी दृढ़ है, अर्थात् मानने वाला जब तक अपनी मान्यता को न छोड़े, तब तक उसकी मान्यता को कोई छुड़ा नहीं सकता| उदाहरण के रूप में यदि मनुष्य ने संसार और संसार के पदार्थों को अपने लिये उपयोगी मान रखा है, तो इस मान्यता को स्वयं छोड़े बिना दूसरा कोई छुड़ा नहीं सकता| परन्तु स्वयं इस बात को जान ले कि यह सब पदार्थ उत्पन्न और नष्ट होने वाले हैं, तो इस मान्यता को मनुष्य छोड़ सकता है, क्योंकि सांसारिक मान्यता असत्य है| जब असत्य मान्यता को भी दूसरा कोई छुड़ा नहीं सकता, उसी प्रकार सत्य परमात्मा सब के मूल में है, यह मान्यता हो जाए तो यह नहीं छूटेगी| क्योंकि यह मान्यता सत्य है|

भक्ति मार्ग में मान्यता (प्रभु को मानना) मुख्य है, ज्ञान मार्ग में ज्ञान मुख्य है| जब भगवान् कहते हैं कि 'मैं ज्ञानियों में उत्तम और सर्वोत्कृष्ट ज्ञान वाला हूँ, जिसको जानने से सब मुनि परम सिद्धि को प्राप्त होते हैं', यहां प्रभु ज्ञान का

प्रकरण देते हैं| भक्ति मार्ग में मनुष्य स्वतः ही भगवान को मुख्य मान्यता देता है, और ज्ञान मार्ग में ज्ञान प्राप्ति के पश्चात वह प्रभु को मान्यता देता है, अतः पूर्ण होने पर दोनों की एकता हो जाती है|

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ।।७-३।।

हेतु पूर्ण सिद्धि करता प्रयास एक मध्य सहस्त्र जन |
पा सके मेरा तत्व केवल विशेष प्रयत्नशील बुद्धिवन ||७-३||

भावार्थ: *पूर्ण सिद्धि के लिए सहस्त्रों प्राणियों में एक प्रयास करता है| मेरा तत्व (परमात्म-तत्व) प्रयत्नशील बुद्धिमानों में कोई विशेष ही प्राप्त कर पाता है|*

टीका: भगवान् कहते हैं कि सहस्त्रों मनुष्यों में केवल एक ही स्वतः सिद्ध नित्य तत्व (मेरी) प्राप्ति के लिये यत्न करता है| उन सहस्त्रों प्राणियों में कोई एक ही मुझे प्राप्त कर पाता है| जिससे बढ़कर कोई लाभ नहीं, जिसमें दुःख लेश मात्र भी नहीं और आनन्द की किंचित मात्र भी कमी नहीं, उसे स्वतः सिद्ध नित्य तत्व प्राप्ति कहा जाता है| यह उसी साधक को प्राप्त होती है जिसे परलोक में स्वर्ग आदि की प्राप्ति की चाह नहीं, और इस लोक में धन, मान, भोग, कीर्ति आदि की चाह नहीं, अर्थात् जो उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओं में नहीं भटकता| भोगे हुए भोगों के तथा मान-प्रशंसा, आदर-सत्कार आदि के संस्कार रहने से उन विषयों का संग होने की संभावना होने पर भी उन विषयों में अरुचि रखते हुए अपनी मान्यता, उद्देश्य, विचार, सिद्धान्त आदि से विचलित नहीं होता, ऐसा कोई एक पुरुष ही सिद्धि के लिये यत्न करता है| इससे सिद्ध होता है कि परमात्म-तत्व की सिद्धि के लिये यत्न करने वाले अर्थात् दृढ़ता से लगने वाले मनुष्य बहुत कम होते हैं| परमात्म-तत्व की प्राप्ति की ओर न लगने का कारण है, भोग और संग्रह में लगना| सांसारिक भोग पदार्थों में केवल आरम्भ में ही सुख दिखाई देता है| मनुष्य प्रायः तत्काल सुख देने वाले साधनों में ही लग जाता है| इसके दूरगामी परिणाम पर वह विचार नहीं करता| यदि वह भोग और ऐश्वर्य के दूरगामी परिणाम पर विचार करने लग जाए कि यह भोग और संग्रह तो

अन्त में दुःख देने वाले हैं तो उनकी प्राप्ति के लिये किए हुए पाप कर्मों के फल स्वरूप वह चौरासी लाख योनियों में न भटके, और परमात्मा के साधन में ही लग जाए| कल्याण के लिये तत्परता से साधन करने वाले बहुत ही कम होते हैं| वास्तव में परमात्म-तत्व की प्राप्ति कठिन या दुर्लभ नहीं है, प्रत्युत सत्य निष्ठा से तत्परता पूर्वक इसकी प्राप्ति करने वाले बहुत कम हैं|

जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है और जो केवल एक भगवान् में ही लग गए हैं, वह ही 'महात्मा' हैं| ऐसे महात्मा साधक वह हैं जो आसुरी सम्पत्ति से रहित होकर केवल दैवीय सम्पत्ति का आश्रय लेकर अनन्य भाव से भगवान् का भजन करते हैं| तत्वज्ञ महात्मा को केवल परमात्म-तत्व की प्राप्ति की उत्कट उत्कण्ठा एवं उसमें स्वाभाविक लगन होनी चाहिए, तब ही आदरपूर्वक परमात्मा का चिन्तन संभव हो सकेगा|

प्रभु आगे कहते हैं कि परमात्म-तत्व की प्राप्ति के लिए साधना करने वालों में कोई एक विशेष ही मेरे तत्व को जान पाता है| यहाँ 'कोई एक ही जानता है' ऐसा कहने का यह तात्पर्य नहीं है कि यत्न करने वाले सब नहीं जानेंगे प्रत्युत यहाँ इसका तात्पर्य है कि प्रयत्नशील साधकों में वर्तमान समय में कोई एक ही तत्व को जानने वाला मिलता है| इसका कारण है कि वास्तव में परमात्म-तत्व को पाना कठिन नहीं है प्रत्युत तत्व प्राप्ति की उत्कट अभिलाषा होना और अभिलाषा की पूर्ति के लिये तत्वज्ञ जीवन-मुक्त महापुरुषों का मिलना दुर्लभ है| यहाँ भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि 'मैं कहूँगा और तू जानेगा,' तो अर्जुन जैसा प्रश्न करने वाला और भगवान जैसा सर्वज्ञ उत्तर देने वाला मिलना दुर्लभ है| वास्तव में देखा जाए तो केवल उत्कट अभिलाषा होना ही दुर्लभ है|

यहाँ 'तत्व' का तात्पर्य है कि प्रभु के सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, शिव, शक्ति, गणेश, सूर्य, विष्णु, आदि रूपों में प्रकट होने वाले और समय समय पर भांति भांति के अवतार लेने वाले प्रभु को जान लेना, अर्थात् प्रभु के अनन्य रूपों को जानने में किंचित मात्र भी सन्देह नहीं रहना और परमात्म-तत्व के अतिरिक्त संसार की किंचित मात्र भी सत्ता का अनुभव नहीं होना|

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ।।७-४।।
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ।।७-५।।

है मेरी अपराप्रकृति विभक्त अष्ट प्रकार पृथानंदन |
मन बुद्धि अहंकार भू जल अग्नि आकाश और पवन ||७-४||
है भिन्न जीव भूत पराप्रकृति समझो तुम हे अर्जुन |
करूं मैं धारण दृश्यमान विश्व हेतु इस चेतन गुन ||७-५||

भावार्थ: *हे अर्जुन, मेरी अपराप्रकृति आठ भागों में विभक्त है, मन, बुद्धि, अहंकार, पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश एवं वायु| मेरी जीव भूत पराप्रकृति इस (अपराप्रकृति) से भिन्न है| इस चेतन गुण से (अपराप्रकृति के कारण) मैं दृश्यमान विश्व को धारण करता हूँ|*

टीका: परमात्मा अपनी प्रकृति से सृष्टि की रचना करते हैं| जिस प्रकृति से रचना करते हैं, उसका नाम 'पराप्रकृति' है|

प्रभु की अपराप्रकृति में पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार, ये आठ भेद हैं| पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश, यह पाँच तत्व स्थूल रूप हैं तथा मन, बुद्धि और अहंकार, यह तीन सूक्ष्म रूप हैं| अहंकार का कारण शरीर में तादात्म्य रूप से रहना है| इस तादात्म्य में एक जड़ अंश और एक चेतन अंश है| इसमें जो जड़ अंश है, वह कारण शरीर है| उसमें जो अभिमान करता है, वह चेतन अंश है| जब तक बोध नहीं होता, तब तक यह जड़, चेतन के तादात्म्य वाला कारण शरीर का 'अहम्' कर्ता रूप से निरन्तर बना रहता है| सुषुप्ति के समय यह सुप्त रूप से रहता है, अर्थात् प्रकट नहीं होता| नींद से जगने पर 'मैं सोया था, अब जाग्रत् हुआ हूँ' इस प्रकार 'अहम्' की जागृति होती है| इसके बाद मन और बुद्धि जाग्रत् होते हैं, जैसे 'मैं कहाँ हूँ, कैसे हूँ', यह मन की जागृति हुई और मैं इस देश में, इस समय में हूँ, ऐसा निश्चय होना बुद्धि की जागृति हुई| इस प्रकार नींद से जगने पर जिसका अनुभव होता

है, वह 'अहम्' पराप्रकृति है और वृत्तिरूप जो अहंकार है, वह अपराप्रकृति है| इस अपराप्रकृति प्रकाशित करने वाला और आश्रय देने वाला चेतन जब अपराप्रकृति को अपनी मान लेता है, तब वह जीव रूप पराप्रकृति होती है, 'ययेदं धार्यते जगत्'|

अगर इस अपराप्रकति से विमुख होकर परमात्मा के ही सम्मुख हो जाए, परमात्मा को ही अपना माने, अर्थात् अपराप्रकृति से सर्वथा सम्बन्ध रहित होकर निर्लिप्तता का अनुभव कर ले तो अपने स्वरूप का बोध हो जाता है| स्वरूप का बोध हो जाने पर परमात्मा का प्रेम प्रकट हो जाता है| जो पहले अपराप्रकृति से सम्बन्ध रखने से आसक्ति और कामना के रूप में था, वह इनसे रहित होकर परमात्मा को प्राप्त कर लेता है| परमात्मा की प्राप्ति होने से यह अपराप्रकृति प्राप्त-प्राप्तव्य हो जाती है| अपने असंग रूप का अनुभव होने से ज्ञात-ज्ञातव्य हो जाती है| अपराप्रकृति को संसार की सेवा में लगाकर संसार से सर्वथा विमुख होने से कृतकृत्य हो जाती है| यही मानव जीवन की पूर्णता है, सफलता है|

वास्तव में प्राणी जीव रूप नहीं है, प्रत्युत जीव बना हुआ है| जीव तो स्वतः साक्षात् परमात्मा का अंश है| केवल स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर रूप प्रकृति के साथ सम्बन्ध जोड़ने से ही यह जीव बना है| वह यह सम्बन्ध अपने सुख के लिये जोड़ता है| यही सुख इसके जन्म-मरण रूप महान् दुःख का कारण बनता है|

भगवान् की पराप्रकृति ने इस दृश्यमान जगत् को जो कि स्वयं में अपराप्रकृति है, धारण कर रखा है| जिसकी भोगों और पदार्थों में जितनी आसक्ति है, आकर्षण है, उसको उतना ही संसार और शरीर स्थाई, सुन्दर और सुखप्रद मालुम देता है| पदार्थों का संग्रह तथा उनका उपभोग करने की लालसा ही परमात्म-तत्व प्राप्ति में बाधक है| संग्रह से अभिमानजन्य सुख होता है, और भोगों से संयोगजन्य सुख होता है| इस सुखासक्ति से ही जीव ने जगत् को जगत्रुप से धारण कर रखा है| सुखासक्ति के कारण ही वह इस जगत् को भगवत् स्वरुप से नहीं देख सकता| संसार को अपना भोग्य मानने वाला भोगासक्त पुरुष संसार को भगवत् स्वरुप नहीं देख सकता| यह भोगासक्ति ही

जगत् को धारण कराती है, अर्थात् जगत् को धारण कराने में हेतु है| मनुष्य के शरीर की उत्पत्ति रज, वीर्य से होती है, जो कि स्वरूप से स्वतः ही मलिन है| परंतु भोगों में आसक्त पुरुषों की उन शरीरों में मलिन बुद्धि नहीं होती प्रत्युत रमणीय बुद्धि होती है| यह रमणीय बुद्धि ही जगत् को धारण कराती है| पराप्रकृति की (स्वरूप से) उत्पत्ति नहीं होती, पर अपराप्रकृति के साथ तादात्म्य करने के कारण प्राणी शरीर की उत्पत्ति को अपनी उत्पत्ति मान लेता है और शरीर के नाश को अपना नाश मान लेता है, जिससे वह जन्म-मरण के चक्र में पड़ा रहता है|

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ।।७-६।।

हेतु अपरा व् परा प्रकृति होती उत्पत्ति विश्वजन |
समझो मुझे कारक विश्व सृजन व् प्रलय अर्जुन ||७-६||

भावार्थ: *हे अर्जुन, समस्त विश्व में प्राणियों की उत्पत्ति परा एवं अपरा प्रकृति के कारण ही होती है| मुझे ही ब्रह्माण्ड का सृजन कर्ता एवं प्रलय कर्ता समझो|*

टीका: जितने भी विश्व में मनुष्य, पशु, पक्षी आदि जंगम और वृक्ष, लता, घास आदि स्थावर प्राणी हैं, वह सब प्रभु की अपरा और पराप्रकृति के सम्बन्ध से ही उत्पन्न होते हैं| प्रभु कह रहे हैं कि चूंकि पराप्रकृति ने अपराप्रकृति को अपना मान लिया है, इसी कारण सब प्राणी उत्पन्न होते हैं| स्मरण रहे कि वस्तुओं को सत्ता स्फूर्ति परमात्मा से मिलती है, इसलिये भगवान् कहते हैं कि मैं सम्पूर्ण विश्व का सृजन एवं प्रलय करता हूँ| प्रभु ही इस जगत् के निमित्त कारण हैं क्योंकि सम्पूर्ण सृष्टि उन्हीं के संकल्प से उत्पन्न होती है| इस जगत् के उपादान कारण भी प्रभु ही हैं क्योंकि कार्य उपादान कारण से उत्पन्न होता है, उपादान कारण रूप से ही रहता है और अन्त में उपादान कारण में ही लीन हो जाता है| जैसे घड़ा बनाने में मिट्टी उपादान कारण है, ऐसे ही सृष्टि की रचना करने में भगवान् ही उपादान कारण हैं| जैसे घड़ा मिट्टी से ही पैदा होता है, मिट्टी रूप ही रहता है और अन्त में टूट करके मिट्टी ही बन जाता है, ऐसे ही यह संसार

भगवान् से ही उत्पन्न होता है, भगवान् में ही रहता है और अन्त में भगवान् में ही लीन हो जाता है| ऐसा जानना ही 'ज्ञान' है| सब कुछ भगवत् स्वरुप है, भगवान् के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं है, ऐसा अनुभव हो जाना 'विज्ञान' है|

भगवान् ने अपने आप को जड़ चेतनात्मक सम्पूर्ण जगत् का प्रभव और प्रलय कर्ता बताया है| यहां शंका हो सकती है कि इसमें जड़ (अपराप्रकृति) का प्रभव और प्रलय का संयोग तो उचित लगता है, पर चेतन (पराप्रकृति अर्थात् जीवात्मा) का उत्पत्ति और विनाश से सम्बन्ध कैसे है? क्योंकि पराप्रकृति तो नित्य तत्व है, 'नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः'| जो परिवर्तनशील है, उसको जगत् कहते हैं, 'गच्छतीति जगत्'| ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ जगत् शब्द जड़ एवं चेतनात्मक सम्पूर्ण संसार का वाचक है| इसमें जड़ अंश तो परिवर्तनशील है और चेतन अंश सर्वथा परिवर्तन रहित तथा निर्विकार है| वह निर्विकार तत्व जब जड़ के साथ अपना सम्बन्ध मानकर तादात्म्य कर लेता है, तब वह जड़ (शरीर) के उत्पत्ति-विनाश को अपना उत्पत्ति-विनाश मान लेता है| इसी से वह जन्म-मरण के बंधन में पड़ जाता है|

यदि यहाँ 'जगत्' शब्द से केवल नाशवान् परिवर्तनशील और विकारी संसार को ही लिया जाए, चेतन को नहीं लिया जाए तो प्रभु के कथन को समझने में कठिनाई हो सकती है| भगवान् ने 'कृत्स्नस्य जगतः' कहते हुए अपने को सम्पूर्ण जगत् का कारण बताया है| अतः सम्पूर्ण जगत् के अन्तर्गत स्थावर-जंगम, जड़-चेतन सभी आ जाएंगे | यदि केवल जड़ को लिया जाएगा तो चेतन भाग छूट जाएगा जिससे 'मैं सम्पूर्ण जगत् का कारण हूँ' प्रभु के इस कथन पर शंका होगी| स्मरण रहे कि भगवान् ने कहा है कि तीनों गुणों से मोहित जगत् मुझ को नहीं जानता, तो यहाँ जानना अथवा न जानना चेतन का ही स्वरुप हो सकता है, जड़ का जानना अथवा न जानना तो होता ही नहीं है| इसलिये 'जगत्' शब्द से केवल जड़ को ही नहीं, चेतन को भी समझना पड़ेगा| जड़ से तादात्म्य करने के कारण ही चेतन को 'जगत्' नाम से सम्बोधित किया गया है| इन सब तथ्यों पर विचार करने से यह निष्कर्ष निकलता है जड़ के साथ एकात्मता करने से जीव 'जगत्' कहा जाता है| जब साधक जड़ से विमुख होकर चिन्मय-तत्व के साथ अपनी एकता का अनुभव कर लेता है, तब यह 'योगी' हो जाता है|

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।।७-७।।

नहीं कोई कारण व् कार्य मेरे अतिरिक्त इस भुवन |
समझो इस जग को ओत प्रोत मुझ में हे अर्जुन ||
जैसे बांधे धागा सूत का माला में मणि और रत्न ||७-७||

भावार्थ: *हे अर्जुन, मेरे अतिरिक्त इस विश्व में न कोई कारण है, न कार्य| इस विश्व को मुझ से ओत प्रोत समझो जैसे सूत का धागा माला में मणि एवं रत्न को बांधता है|*

टीका: प्रभु अर्जुन से कह रहे हैं कि मेरे अतिरिक्त विश्व में दूसरा कोई कारण नहीं है, मैं ही संसार का महा कारण हूँ| जैसे वायु आकाश से ही उत्पन्न होती है, आकाश में ही रहती है और आकाश में ही लीन होती है, अर्थात् आकाश के अतिरिक्त वायु की कोई पृथक् स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, ऐसे ही संसार भगवान् से उत्पन्न होता है, भगवान् में स्थित रहता है, और भगवान् में ही लीन हो जाता है| भगवान् के अतिरिक्त संसार की कोई पृथक् स्वतन्त्र सत्ता नहीं है| प्रभु ही मूल कारण हैं| मूल कारण के आगे कोई कारण नहीं होता, अर्थात् मूल कारण का कोई उत्पादक नहीं होता| यह संसार अर्थात् देश, काल, व्यक्ति, वस्तु, घटना, परिस्थिति आदि सभी परिवर्तनशील हैं, परन्तु जिसके स्थित होने से इन सब का स्थित होना दिखाई देता है, अर्थात् जिसकी सत्ता में यह सब 'स्थित हैं' अथवा 'दिखते हैं', वह परमात्मा ही हैं|

कार्य की कारण के अतिरिक्त अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती| वास्तव में कारण ही कार्य रूप से दिखाई देता है| जब कारण का ज्ञान हो जाएगा, तब कार्य कारण में लीन हो जाएगा| चूंकि प्रभु ही कारण हैं, अतः प्रभु ही कार्य हैं|

प्रभु कह रहे हैं कि यह सारा संसार सूत में मणियों और रत्नों की तरह मुझ में ही पिरोया हुआ है, अर्थात् मैं ही सारे संसार में व्याप्त हूँ| जैसे मणियों और रत्नों की मालाओं में सूत का धागा ही इन मणियों एवं रत्नों को बांधता है उसी प्रकार

प्रभु इस संसार को बांधते हैं| उनके अतिरिक्त अन्य और कोई तत्व संसार को बांधने वाला नहीं है| जैसे सूत में बंधे मणि एवं रत्न दिखने में अलग अलग लग सकते हैं, पर वास्तव में उनमें सूत एक ही होता है| ऐसे ही संसार में जितने प्राणी हैं, वह सभी नाम, रूप, आकृति आदि से अलग अलग दिख सकते हैं, पर वास्तव में उनमें व्याप्त रहने वाला चेतन-तत्व एक प्रभु ही हैं| मणि रूप अपराप्रकृति भी प्रभु का स्वरूप है और धागा रूप पराप्रकृति भी प्रभु ही हैं| दोनों में प्रभु ही परिपूर्ण हैं, व्याप्त हैं| साधक जब संसार को संसार बुद्धि से देखता है, तब उसको संसार में परिपूर्ण रूप से व्याप्त परमात्मा नहीं दिखते| जब उसको परमात्म-तत्व का वास्तविक बोध हो जाता है, तब व्याप्य-व्यापक भाव मिटकर एक परमात्म-तत्व ही दिखता है| इस तत्व को बताने के लिये ही भगवान् ने यहाँ कारण रूप से अपनी व्यापकता का वर्णन किया है|

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ।।७-८।।

हूँ मैं पेयों में रस प्रभा सोम सूर्य में अर्जुन|
हूँ मैं पुरुषार्थ जन ओम वेद और शब्द धृत्वन् ||७-८||

भावार्थ: *हे अर्जुन, में पेय पदार्थों में रस हूँ, चन्द्रमा एवं सूर्य में आभा हूँ, वेदों में ओम हूँ, आकाश में शब्द और प्राणियों में पुरुषार्थ हूँ|*

टीका: प्रभु कहते हैं कि हे अर्जुन, पेय पदार्थों में मैं 'रस' हूँ| स्मरण रहे कि यदि पेय पदार्थों से 'रस' निकाल दिया जाए तो पेय तत्व कुछ नहीं रहेगा| अतः रस ही पेय पदार्थ रूप है| रस या पेय पदार्थ का तत्व प्रभु ही हैं|

चन्द्रमा और सूर्य में प्रकाश करने की जो एक विलक्षण शक्ति 'प्रभा' है, वह भी भगवान् का ही स्वरूप है| प्रभा तन्मात्रा से उत्पन्न होती है, तन्मात्रा में ही रहती है और अन्त में तन्मात्रा में ही लीन हो जाती है| यदि चन्द्रमा और सूर्य में से प्रभा निकाल दी जाए तो चन्द्रमा और सूर्य निस्तत्त्व हो जाएंगे | इसका तात्पर्य है कि

केवल प्रभा ही चन्द्र और सूर्य रूप से प्रकट हो रही है| भगवान् कहते हैं कि वह प्रभा मैं ही हूँ|

वेदों में प्रणव (ओंकार) प्रभु का ही स्वरूप है| श्रुति कहती हैं कि सबसे पहले प्रणव प्रकट हुआ| प्रणव से त्रिपदा गायत्री और त्रिपदा गायत्री से वेदत्रयी प्रकट हुईं| इसलिये वेदों में सार 'प्रणव' ही रहा| अगर वेदों में से प्रणव निकाल दिया जाए तो वेद, वेद नहीं रहेंगे| प्रणव ही वेद और गायत्री रूप से प्रकट हो रहा है| वह प्रणव प्रभु ही हैं|

आकाश शब्द तन्मात्रा से पैदा होता है, शब्द तन्मात्रा में ही रहता है और अन्त में शब्द तन्मात्रा में ही लीन हो जाता है| अतः शब्द तन्मात्रा ही आकाश रूप से प्रकट हो रहा है| शब्द तन्मात्रा के बिना आकाश कुछ नहीं है| वह शब्द भी प्रभु ही हैं|
मनुष्यों में पुरुषार्थ ही सार है, यह भी प्रभु का ही स्वरूप है| वास्तव में नित्य प्राप्त परमात्म-तत्व का अनुभव करना ही मनुष्यों में वास्तविक पुरुषार्थ है| परन्तु मनुष्यों ने अप्राप्त को प्राप्त करने में ही अपना पुरुषार्थ मान रखा है, जैसे निर्धन आदमी धन की प्राप्ति में पुरुषार्थ मानता है, अपढ़ आदमी पढ़ लेने में पुरुषार्थ मानता है, अप्रसिद्ध आदमी अपना नाम विख्यात कर लेने में अपना पुरुषार्थ मानता है, इत्यादि| इसका निष्कर्ष है कि जो अभी नहीं है, उसकी प्राप्ति में ही मनुष्य अपना पुरुषार्थ मानता है| पर यह पुरुषार्थ वास्तव में पुरुषार्थ नहीं है| जो पहले नहीं था, प्राप्ति के समय भी जिससे निरन्तर सम्बन्ध विच्छेद हो रहा है और अन्त में जो नहीं रहेगा, ऐसे पदार्थों को प्राप्त करना पुरुषार्थ नहीं है| परमात्मा पहले भी थे, अब भी हैं और आगे भी सदा रहेंगे| इसलिये परमात्मा को उत्साहपूर्वक प्राप्त करने का जो प्रयत्न है, वही वास्तव में पुरुषार्थ है| उसकी प्राप्ति करने में ही मनुष्यों की मनुष्यता है| उसके बिना मनुष्य कुछ नहीं है, अर्थात् निरर्थक है| यह पुरुषार्थ भी प्रभु ही हैं|

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ।।७-९।।

हूँ पावन गंध भू तेज अग्नि और जीवन सभी जन।
हूँ मैं ही तप तपस्वी और सर्वव्यापी हे अर्जुन ॥७-९॥

भावार्थ: *हे अर्जुन, मैं पृथ्वी की पवित्र गंध, अग्नि का तेज, सभी प्राणियों की जीवन, तपस्वी का तप एवं सर्वव्यापी हूँ।*

टीका: पृथ्वी गन्ध तन्मात्रा से उत्पन्न होती है, गन्ध तन्मात्रा रूप से रहती है और गन्ध तन्मात्रा में ही लीन हो जाती है। इसका तात्पर्य है कि गन्ध के बिना पृथ्वी कुछ नहीं है। भगवान् कहते हैं कि पृथ्वी में वह पवित्र गन्ध मैं हूँ। यहां शंका हो सकती है कि पृथ्वी में तो सुगंध एवं दुर्गन्ध दोनों ही व्याप्त हैं। स्मरण रहे कि पृथ्वी में पुण्य अर्थात् पवित्र गन्ध स्वाभाविक रूप से रहती है, पर दुर्गन्ध किसी विकृति के कारण प्रकट होती है। अतः प्रभु पृथ्वी की स्वाभाविक पवित्र गंध के बारे में कह रहे हैं, जो वह स्वयं ही हैं।

अग्नि में तेज तन्मात्रा से प्रकट होता है, उसी में रहता है और अन्त में उसी में लीन हो जाता है। अग्नि में तेज ही तत्व है। तेज के बिना अग्नि निस्तत्त्व है, कुछ नहीं है। वह अग्नि का तेज प्रभु ही हैं।

सम्पूर्ण प्राणियों में एक प्राण शक्ति का वास है, जिससे हम सब जीवित हैं। इसी प्राण शक्ति के कारण हमें प्राणी कहा जाता है। प्राण शक्ति के बिना हम में जीवन नहीं है। प्राण शक्ति के कारण गाढ़ नींद में सोया हुआ प्राणी भी मुर्दे से विलक्षण दिखता है। प्रभु कह रहें कि वह प्राण शक्ति भी वही हैं।

द्वन्द्व सहिष्णुता को तप कहते हैं। परन्तु वास्तव में परमात्म-तत्व की प्राप्ति के लिये कितने ही कष्ट आयें, उनमें निर्विकार रहना ही सत्य तप है। यही तपस्वियों में तप है, इसी से वह तपस्वी कहलाते हैं। इसी तप को भगवान् अपना स्वरूप बताते हैं। अगर तपस्वियों में से ऐसा तप निकाल दिया जाए तो वह तपस्वी नहीं रहेंगे।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।।७-१०।।

हूँ अनादि बीज भूत और बुद्धि प्रमत में अर्जुन |
हूँ मैं संसार सार और तेज अंदर तेजस्वी जन ||७-१०||

***भावार्थ**: हे अर्जुन, मैं ही प्राणियों में अनादि बीज हूँ, बुद्धिमानों में बुद्धि हूँ, संसार का सार हूँ एवं तेजस्वियों के अंदर तेज हूँ|*

टीका: प्रभु कहते हैं कि हे अर्जुन, प्राणियों का सनातन (अविनाशी) बीज मैं ही हूँ, अर्थात् सब के जन्म लेने का कारण मैं ही हूँ| प्राणी प्रभु के बीज रूप से उत्पन्न होते हैं, प्रभु में ही रहते हैं और अन्त में प्रभु में ही लीन हो जाते हैं| प्रभु के बिना प्राणी की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है| साधारणतः बीज वृक्ष से उत्पन्न होते हैं, और वृक्ष बीज पैदा करके नष्ट हो जाते हैं| परन्तु यहाँ प्रभु जिस बीज का वर्णन कर रहे हैं, वह बीज 'सनातन' है, अर्थात् आदि, अन्त से रहित (अनादि एवं अनन्त) है| इसे 'अव्यय बीज' भी कहा गया है| यह चेतन-तत्व अव्यय अर्थात् अविनाशी है| यह स्वयं विकार रहित रहते हुए ही सम्पूर्ण जगत् का उत्पादक, आश्रय और प्रकाशक है तथा जगत् के जन्म का हेतु है| यद्यपि शास्त्रों में 'बीज' शब्द का प्रयोग भगवान् और जीवात्मा, दोनों के लिये ही किया गया है, यहां प्रभु ने 'बीज' शब्द का उच्चारण स्वयं के लिए किया है| 'सदसच्चाहमर्जुन', कार्य और कारण सब प्रभु ही हैं| सब कुछ भगवान् ही होने से 'बीज' शब्द भगवान् का वाचक है| 'अहं बीजप्रदः पिता', मैं ही बीज प्रदान करने वाला पिता हूँ | 'बीज' शब्द जीवात्मा का वाचक तभी होता है, जब यह जड़ के साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है, नहीं तो यह भगवान् का ही स्वरूप है|

प्रभु कहते हैं कि बुद्धिमानों में बुद्धि भी वही हैं| बुद्धि के कारण ही प्राणी बुद्धिमान् कहलाते हैं| अगर उनमें बुद्धि न रहे तो उनकी बुद्धिमान् संज्ञा ही नहीं रहेगी।

आगे प्रभु कहते हैं कि तेजस्वियों में तेज भी मैं ही हूँ| यह तेज दैवीय सम्पत्ति का एक गुण है| तत्वज्ञ जीवन-मुक्त महापुरुषों में एक विशेष तेज, शक्ति रहती है, जिसके प्रभाव से दुर्गुण, दुराचारी मनुष्य भी सद्गुण, सदाचारी बन जाते हैं| यह तेज भगवान् का ही स्वरूप है| प्रभु ही इस संसार के आधार दाता हैं, अतः सार हैं|

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ।।७-११।।

हूँ मैं बल उनका जो रहित कामना आसक्ति जन |
हूँ मैं ही धर्म युक्त अनुकूल वेद कर्म अर्जुन ||७-११||

भावार्थ: *हे अर्जुन, जो प्राणी कामना एवं आसक्ति से रहित हैं, उनका बल मैं ही हूँ| मुझे ही तुम धर्म-युक्त वेद के अनुकूल काम समझो|*

टीका: प्रभु कह रहे हैं कि हे अर्जुन, जो कामना एवं आसक्ति से रहित प्राणी हैं, उनका बल मैं ही हूँ, अर्थात मेरे ही बल के कारण उनमें कामना एवं आसक्ति त्याग देने की भावना जाग्रत होती है, और वह उसमें सफल भी होते हैं| जब कार्य शास्त्र और धर्म के अनुकूल होता है, तब हृदय में एक उत्साह रहता है, इसे ही 'बल' कहा जाता है| यह बल भगवान् का ही स्वरूप है, अतः यह 'बल' ग्राह्य है| 'कामरागबलान्विताः', अर्थात कामना और आसक्ति से युक्त होने से बल दुराग्रह और हठ का वाचक होता है| इस प्रकार का बल भगवान् का स्वरूप नहीं है, प्रत्युत आसुरी सम्पत्ति होने से त्याज्य है| परन्तु जो बल कामना और आसक्ति से रहित है, वह सात्त्विक उत्साह का वाचक है, अतः ग्राह्य है|

धर्म से अविरुद्ध अर्थात् धर्म युक्त 'काम' भी प्रभु का ही स्वरूप है| शास्त्र और लोक मर्यादा के अनुसार शुभ भाव से, उदाहरण रूप में केवल सन्तान उत्पत्ति के लिये, जो काम होता है, वह काम मनुष्य के अधीन होता है| परंतु आसक्ति एवं कामना सुख भोग आदि के लिये जो काम होता है, उस काम में मनुष्य पराधीन हो जाता है और उसके वश होकर वह न करने योग्य शास्त्र विरुद्ध

काम में प्रवृत्त हो जाता है| शास्त्र विरुद्ध काम पतन का तथा सम्पूर्ण पापों और दुःखों का हेतु होता है| केवल भोग बुद्धि से काम में प्रवृत्त होना महान् नर्क का द्वार है| इसलिए कामना एवं आसक्ति से रहित धर्म युक्त काम ही करना चाहिए|

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि नत्वहं तेषु ते मयि ।।७-१२।।

सभी सत रजस और तमस भाव हों मुझ से ही उत्पन्न |
पर मैं निलीन न किसी भाव न वह मुझ में हे अर्जुन ||७-१२||

भावार्थ: *हे अर्जुन, सभी सात्विक, राजस एवं तामस भाव मेरे से ही उत्पन्न होते हैं, लेकिन मैं न तो स्वयं इन भावों में हूँ और न यह भाव मुझ में हैं|*

टीका: समस्त सात्त्विक (शुद्ध), राजस (क्रियाशील) और तामस (जड़) भाव प्रभु से उत्पन्न होते हैं| इसका तात्पर्य यह हुआ कि सृष्टि में जो कुछ हो रहा है, मूल में सब का आश्रय, आधार और प्रकाशक भगवान् ही हैं| सब भगवान् से ही सत्ता स्फूर्ति पाते हैं| इन भावों में जो विलक्षणता है, वह सब भगवान की ही है| अतः मनुष्य की दृष्टि भगवान् की ओर ही जानी चाहिए, भावों की ओर नहीं| यदि उसकी दृष्टि भगवान् की ओर जाएगी तो वह मुक्त हो जाएगा और यदि उसकी दृष्टि भावों की ओर जाएगी तो वह संसार में बँध जाएगा| यहां शंका हो सकती है कि यदि यह भाव भगवत् स्वरुप ही हैं तो हम जो कुछ भी करें वह सब भगवत् स्वरुप ही होना चाहिए, फिर कर्म करने की स्वतन्त्रता कहाँ रही? इसका समाधान यह है कि मनुष्य सुख चाहता है, दुःख नहीं| अनुकूल परिस्थिति विहित कर्मों का फल है और प्रतिकूल परिस्थिति निषिद्ध कर्मों का फल है| इसलिये विहित कर्म ही करो और निषिद्ध कर्म मत करो| अगर निषिद्ध को भगवत् स्वरुप मानकर करोगे तो भगवान् दुःखों के रूप में प्रकट होंगे| जो अशुभ कर्मों की उपासना करता है, उसके सामने भगवान् अशुभ रूप से ही प्रकट होते हैं, क्योंकि दुःख भी तो भगवान् के ही स्वरूप हैं| अतः विहित कर्म ही करना चाहिए, निषिद्ध कर्म नहीं करना चाहिए| केवल परमात्मा को ही 'मानना' चाहिए, और अपने को अथवा संसार को 'जानना' चाहिए| प्रभु की

आज्ञा का पालन करना चाहिए| उनकी आज्ञा और सिद्धान्तों के विरुद्ध कार्य नहीं करना चाहिए| भगवान् की आज्ञा के विरुद्ध कार्य करेंगे तो प्रभु को प्रसन्नता नहीं होगी| उनकी आज्ञा के विरुद्ध कार्य करने वाले को उनकी प्राप्ति नहीं होगी| संसार उत्पत्ति-विनाशशील है, सदा साथ रहने वाला नहीं है, वह अपना नहीं है और अपने लिये भी नहीं है, ऐसा जानकर संसार से सम्बन्ध विच्छेद करना चाहिए| संसार में कामना, ममता, आसक्ति नहीं करनी चाहिए|

अपरा और परा, दोनों ही प्रकृति प्रभु का स्वभाव हैं, अतः कोई इनको प्रभु से भिन्न कैसे कर सकता है? कल्प के आदि में प्रकृति को वश में कर भगवान् बार बार सृष्टि की रचना करते हैं| उन्हीं की अध्यक्षता में प्रकृति चराचर संसार को रचती है| चाहे प्रकृति को लेकर भगवान् रचना करें, चाहे भगवान् की अध्यक्षता में प्रकृति रचना करे, इन दोनों का तात्पर्य एक ही है| इसीलिए प्रभु ही सम्पूर्ण जगत् के प्रभव और प्रलय कर्ता हैं| इसका उपसंहार करते हुए प्रभु कहते हैं कि 'सात्त्विक, राजस और तामस', यह सभी भाव उन्हीं से उत्पन्न होते हैं|

लेकिन प्रभु न इन भावों में हैं और न यह भाव प्रभु में| इसका तात्पर्य है कि इन गुणों की प्रभु के अतिरिक्त कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है| यह सात्त्विक, राजस और तामस, जितने भी प्राकृत पदार्थ और क्रियाएँ हैं, वह सब उत्पन्न और नष्ट होते हैं| परन्तु प्रभु न उत्पन्न होते हैं और न नष्ट होते हैं| इसलिये वह उनमें नहीं हैं| अगर वह प्रभु में होते तो प्रभु अविनाशी कैसे होते? अतः यह भाव प्रभु के द्वारा उत्पन्न हैं, परन्तु प्रभु स्वयं इनसे अछूते हैं|

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ।।७-१३।।

हुआ मोहित त्रिगुण भाव हों जो उत्पन्न इस भुवन |
नहीं समझ सकता मेरा अविनाशी रूप अर्जुन ||७-१३||

भावार्थ: *हे अर्जुन, इस विश्व में त्रिगुणों (सत, तमस एवं रजस) द्वारा उत्पन्न भावों से मोहित हुआ (प्राणी) मेरे अविनाशी रूप को नहीं समझ सकता है|*

टीका: सत्, रजस और तमस, इन तीनों गुणों से उत्पन्न सात्विक, राजस एवं तामस भाव से प्राणी इस विश्व में मोहित रहता है| इन गुणों के साथ तादात्म्य करके मनुष्य अपने को सात्त्विक, राजस और तामस मान लेता है| वह अपने अंशी परमात्मा की ओर न देखकर उत्पन्न और नष्ट होने वाली वृत्तियों के साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है, यही उसका मोहित होना है| इस प्रकार मोहित होने के कारण वह परमात्मा के साथ नित्य सम्बन्ध को समझ ही नहीं सकता|

गुणों की भगवान् के अतिरिक्त पृथक सत्ता मानने से ही प्राणी मोहित होते हैं| यदि वह गुणों को भगवत् स्वरुप मानें तो कभी मोहित नहीं हो सकते| मोहित हो जाने से प्राणी गुणों से सर्वथा अतीत जो भगवत्-तत्व है, उसको नहीं जान सकता| भगवत्-तत्व को वह तभी जान सकता है जब त्रिगुणात्मक शरीर के साथ उसकी अहंता, ममता मिट जाती है| यह सिद्धान्त है कि मनुष्य संसार से सर्वथा अलग होने पर ही संसार को जान सकता है और परमात्मा से सर्वथा अभिन्न होने पर ही परमात्मा को जान सकता है| इसका कारण यह है कि त्रिगुणात्मक शरीर से वह स्वयं सर्वथा भिन्न है और परमात्मा के साथ वह स्वयं सर्वथा अभिन्न है|

दार्शनिकों का मत है कि परमात्मा से विमुख होना और संसार से सम्बन्ध जोड़ना, यह दोनों अनादि हैं, इनका आदि नहीं है| अतः इनमें पहले या पीछे की बात नहीं कही जा सकती| मनुष्य यदि मिली हुई स्वतन्त्रता का दुरुपयोग न करे, उसे केवल भगवान् में ही लगाए तो वह संसार से ऊपर उठ जाता है, अर्थात् इसका जन्म-मरण मिट जाता है| मनुष्य प्रभु की दी हुई स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करके ही बन्धन में पड़ता है| अपनी स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करके नष्ट होने वाले पदार्थों में उलझ जाने से यह परमात्म-तत्व को नहीं जान सकता|

प्रभु इन गुणों से परे हैं, अर्थात् इन गुणों से सर्वथा रहित, असम्बद्ध, निर्लिप्त हैं| वह न कभी किसी गुण से बंधे हैं और न गुणों के परिवर्तन से उनमें कोई परिवर्तन ही होता है| ऐसे प्रभु के वास्तविक स्वरूप को गुणों से मोहित प्राणी नहीं जान सकते|

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।।७-१४।।

है समझना कठिन त्रिगुणमयी माया मेरी अर्जुन |
पर तरे सुगम यह माया आए जो मेरी शरण जन ||७-१४||

भावार्थ: *हे अर्जुन, यह मेरी त्रिगुणमयी (सत, रजस एवं तमस रूपी) माया अति दुस्तर है| किन्तु जो मेरी शरण आ जाता है वह इस माया को सहजता से पार कर जाता है|*

टीका: सत्, रजस और तमस, इन तीन गुणों वाली दैवीय (परमात्मा की) माया बड़ी ही दुष्कर है| भोग और संग्रह की इच्छा रखने वाले मनुष्य इस माया से सम्बन्ध विच्छेद नहीं कर पाते| सांसारिक मनुष्य अपने को कभी सुखी, कभी दुःखी, कभी समझदार, कभी मूर्ख, कभी निर्बल, कभी बलवान् आदि मानकर इन भावों में तल्लीन रहते हैं| इस तरह आने जाने वाले प्राकृत भावों और पदार्थों में ही तादात्म्य ममता, कामना करके उनसे बँधे रहते हैं, और अपने को इनसे रहित अनुभव नहीं कर सकते| यही इस माया में दुष्करता है| यह गुणमयी माया तभी दुष्कर होती है जब भगवान् के अतिरिक्त गुणों की स्वतन्त्र सत्ता और महत्ता मानी जाए| अगर मनुष्य भगवान् के अतिरिक्त गुणों की अलग सत्ता और महत्ता नहीं मानेगा, तो वह इस गुणमयी माया से तर जाएगा|

प्रभु कहते हैं कि जो मनुष्य मेरी शरण आते हैं, वह इस माया से तर जाते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि केवल प्रभु की ओर ही रहती है, इन तीन गुणों की ओर नहीं| कोई भी गुण, सत, रजस और तमस, प्रभु में नहीं है| प्रभु इनसे निर्लिप्त रहकर कार्य करते हैं| इस प्रकार जो प्रभु के स्वरूप को जानते हैं, वह इन त्रिगुणों में नहीं फँसते, अतः इस माया से तर जाते हैं| वह कार्य करते हुए इन त्रिगुणों से मन बुद्धि का किंचित मात्र भी सहारा नहीं लेते| प्रकृति का कार्य होने से मन, बुद्धि भी चूंकि प्रकृति हैं, प्रकृति की क्रियाशीलता में लिप्त हो जाते हैं| जैसे प्रकृति सदैव प्रलय की ओर जा रही है, ऐसे ही यह मन, बुद्धि भी प्रलय की ओर जाते हैं | अतः उनका सहारा लेना परतंत्रता है| ऐसी परतंत्रता कदापि

न रहे और बुद्धि परा-प्रकृति (जो कि परमात्मा का अंश है) की ओर आकृष्ट हो जाए तथा अपरा-प्रकृति से सर्वथा विमुख हो जाए यही भगवान् के सर्वथा शरण होने का तात्पर्य है| प्रभु की ही शरण लें, माया की शरण कभी न लें| अर्थात् सांसारिक वस्तुओं जैसे धन आदि को अपना आधार न मानें, इनका आश्रय न लें, इनको महत्व न दें| इनका उपयोग करने का हमें अधिकार अवश्य है पर इन पर स्वामित्व का हमें अधिकार नहीं है| इन पर स्वामित्व कर लेने से मनुष्य इनके आश्रित हो जाता है| आश्रित होने पर इनसे अलग होना कठिन मालूम होता है, यही दुष्करता है| इस दुष्करता से छूटने के लिए प्रभु कहते हैं कि 'मामेव ये प्रपद्यन्ते', अर्थात मेरी शरण में आओ| शरीर, इन्द्रियाँ, आदि सामग्री को अपनी और अपने लिये न मानकर, भगवान् की और भगवान् के लिये ही मानकर भगवान् के भजन में, उनकी आज्ञा पालन में मन लगा देना ही प्रभु की शरण में जाना है| भगवान् की शरण न जाकर यदि अन्य देवी देवता आदि की शरण जाते हैं, अर्थात् आसुरी सम्पत्ति वाले (प्राण, पिण्ड, पोषण परायण एवं सुख भोग परायण), वह भगवान् की गुणमयी माया को नहीं समझ सकते| ऐसे आसुर स्वभाव वाले मनुष्य भले ही ब्रह्मलोक तक चले जाएं, तो भी उनको (ब्रह्मलोक तक गुणमयी माया होने से) वहां से लौटना ही पड़ता है, जन्म-मरण के बंधन में पड़ना ही पड़ता है|

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ।।७-१५।।

पापी मूढ़ नराधम जन नहीं भजते कभी श्री भगवन |
हर लेती माया ज्ञान उनका समझो उन्हें आसुरी जन ||७-१५||

भावार्थ: *पापी (दुष्कर्म करने वाले), मूढ़ एवं नराधम प्राणी प्रभु का भजन कभी नहीं करते| माया उनका ज्ञान हर लेती है| उन्हें आसुरी प्राणी समझो|*
टीका: जो दुष्कृति (पापी), पतित एवं मूढ़ होते हैं, वह भगवान् की शरण में नहीं जा सकते| जो नाशवान् परिवर्तन शील प्राप्त पदार्थों में 'ममता' रखते हैं और अप्राप्त पदार्थों की 'कामना' रखते हैं, वह दुष्कृति होते हैं| कामना पूरी होने पर 'लोभ' और कामना की पूर्ति में बाधा लगने पर 'क्रोध' पैदा होता है| इस तरह

जो 'कामना' में फँसकर व्यभिचार आदि शास्त्र निषिद्ध विषयों का सेवन करते हैं, 'लोभ' में फँसकर झूठ, कपट, विश्वासघात, बेईमानी आदि पाप करते हैं, और 'क्रोध' के वशीभूत होकर द्वेष, वैर आदि दुर्भाव पूर्वक हिंसा आदि पाप करते हैं वह 'दुष्कृति' हैं| जब मनुष्य भगवान् के अतिरिक्त दूसरी सत्ता मानकर उसको महत्व देते हैं, तभी कामना पैदा होती है| कामना पैदा होने से मनुष्य माया से मोहित हो जाते हैं| इसलिये वह भगवान् की शरण नहीं जा सकते, प्रत्युत विनाशी वस्तु, पदार्थ आदि की शरण में जाते हैं| तमोगुण की अधिकता होने से सार-असार, नित्य-अनित्य, सत्-असत्, ग्राह्य-त्याज्य, कर्तव्य-अकर्तव्य आदि को न समझने वाले भगवद् विमुख मनुष्य 'मूढ़' हैं| दुष्कृति और मूढ़ पुरुष परमात्मा की ओर चलने का निश्चय नहीं कर सकते, फिर वह परमात्मा की शरण में कैसे जा सकते हैं?

दुष्कृति और मूढ़ मनुष्य पशुओं से भी अधिक गिरे हुए होते हैं| पशु तो फिर भी अपनी मर्यादा में रहते हैं, पर यह मनुष्य होकर भी अपनी मर्यादा में नहीं रहते| पशु तो अपनी योनि भोगकर मनुष्य योनि की ओर अग्रसित होते हैं, परन्तु यह मनुष्य होकर (जिनको कि परमात्मा की प्राप्ति करने के लिये मनुष्य शरीर मिला है), पाप, अन्याय आदि करके नर्कों और पशु योनियों की ओर जा रहे हैं| ऐसे मूढ़ता पूर्वक पाप करने वाले प्राणी नर्कों के अधिकारी होते हैं| ऐसे प्राणियों के लिये भगवान् ने कहा है कि द्वेष रखने वाले, मूढ़, क्रूर और नराधम पुरुषों को मैं बार बार आसुरी योनियों में गिराता हूँ| वह आसुरी योनियों को प्राप्त होकर फिर घोर नर्कों में जाते हैं|

भगवान् की जो तीनों गुणों वाली माया है, उस माया से विवेक ढक जाने के कारण जो आसुर भाव को प्राप्त हो गए हैं, अर्थात् शरीर, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण और प्राणों का पोषण करने में लगे हुए हैं, वह प्रभु से सर्वथा विमुख ही रहते हैं| इसलिये वह प्रभु की शरण नहीं लेते| जिनका ज्ञान माया से अपहृत है, उनकी वृत्ति पदार्थों के आदि और अन्त की ओर जाती ही नहीं| उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थों को प्रत्यक्ष नश्वर देखते हुए भी वह धन, सम्पत्ति आदि के संग्रह में और मान, योग्यता, प्रतिष्ठा, कीर्ति आदि में ही आसक्त रहते हैं और उनकी प्राप्ति करने में ही अपने पुरुषत्व एवं उद्योग की सफलता मानते हैं| इस कारण वह

यह समझ ही नहीं सकते कि जो अभी नहीं है, उसकी प्राप्ति होने पर भी अन्त में वह 'नहीं' ही रहेगा और उसके साथ हमारा सम्बन्ध नहीं रहेगा|

प्राणों को प्रत्यक्ष ही आने, जाने वाले अर्थात् क्रियाशील और नाशवान् देखते हुए भी जो उन प्राणों का पोषण करने में ही लगे रहते हैं, वह आसुरी प्रकृति के प्राणी हैं| ऐसे आसुरी प्राणी जीवन निर्वाह में काम आने वाली सांसारिक वस्तुओं को ही महत्व देते हैं| उन वस्तुओं से भी बढ़कर वह धन आदि को महत्व देते हैं, जो कि स्वयं काम में नहीं आते, प्रत्युत वस्तुओं के द्वारा काम में आते हैं| वह केवल धन आदि को ही आदर नहीं देते, प्रत्युत उनकी संख्या को भी बहुत आदर देते हैं| धन आदि की संख्या अभिमान बढ़ाने में काम आती है| अभिमान सम्पूर्ण आसुरी सम्पत्ति का आधार और सम्पूर्ण दुःखों एवं पापों का कारण है| ऐसे अभिमान को लेकर ही जो अपने को मुख्य मानते हैं, वह आसुर भाव को प्राप्त हैं|

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ।।७-१६।।

कर्ता सुकृत आर्त जिज्ञासु और बुद्धिवन अर्जुन |
चतुर् प्रकार नर हैं समर्थ पा सकें शरण भगवन ||७-१६||

भावार्थ: *हे अर्जुन, पवित्र कर्म कर्ता, आर्त (प्रभु का वियोगी), जिज्ञासु एवं बुद्धिमान, यह चार प्रकार के पुरुष भगवान् की (मेरी) शरण पाने में समर्थ हैं|*

टीका: प्रभु कह रहे हैं कि जो प्राणी मेरी शरण लेने में समर्थ हैं, वह चार प्रकार के होते हैं| सुकृती मनुष्य केवल शास्त्रीय सकाम पुण्य कर्म करने वाले ही नहीं हैं, प्रत्युत भगवान् से अपना सम्बन्ध जोड़कर भगवत् सम्बन्धी कर्म करने वाले हैं| सुकृती मनुष्य भी दो प्रकार के होते हैं, एक तो यज्ञ, दान, तप आदि और वर्ण आश्रम के शास्त्रीय कर्म भगवान् के लिये करते हैं अथवा उनको भगवान् को अर्पण करते हैं, और दूसरे भगवत् नाम का जप तथा कीर्तन करना, भगवान् की लीला सुनना तथा कहना आदि केवल भगवत् सम्बन्धी कर्म करते हैं|

जिनकी भगवान् में रुचि हो गई है, वह ही भाग्यशाली हैं, वह ही श्रेष्ठ हैं और वह ही मनुष्य कहलाने योग्य हैं| वह रुचि चाहे किसी पूर्व पुण्य से हो गई हो, चाहे कष्ट के समय दूसरों का सहारा छूट जाने से हो गई हो, चाहे किसी विश्वसनीय मनुष्य के द्वारा समय पर धोखा देने से हो गई हो, चाहे सत्संग, स्वाध्याय अथवा विचार आदि से हो गई हो, किसी भी कारण से भगवान् में रुचि होने से मनुष्य सुकृती हो जाते हैं| जब भगवान की ओर रुचि हो जाए, वही पवित्र दिन है और वही सम्पत्ति है| जब भगवान की ओर रुचि नहीं होती, वही काला दिन है, वही विपत्ति है| गोस्वामी तुलसी दास जी कहते हैं:

कह हनुमंत बिपति प्रभु सोई। जब तब सुमिरन भजन न होई।।

भगवान् ने कृपा करके भगवत प्राप्ति के उद्देश्य से हमें मानव शरीर दिया है, उसका हमें पालन करना चाहिए| भगवान् का संकल्प मनुष्य के उद्धार के लिये बना है, अतः मनुष्य भगवान् की प्राप्ति का अधिकारी है| इसका तात्पर्य है कि उस संकल्प में भगवान् ने मनुष्य को अपने उद्धार के लिए कर्म करने की स्वतन्त्रता दी है, जो कि अन्य प्राणियों को नहीं मिलती क्योंकि वह भोग योनियाँ हैं, और यह मानव शरीर कर्म योनि है| वास्तव में केवल भगवत प्राप्ति के लिये ही होने के कारण मानव शरीर को साधन योनि ही मानना चाहिए| इसलिये इस स्वतन्त्रता का सदुपयोग करके मनुष्य शास्त्र निषिद्ध कर्मों को छोड़कर अगर भगवत प्राप्ति के लिये ही लग जाए तो उसको भगवत कृपा से अनायास ही भगवत प्राप्ति हो सकती है| परन्तु जो मिली हुई स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करके विपरीत मार्ग पर चलते हैं, वह नर्कों और चौरासी लाख योनियों में जाते हैं| इस तरह सब के उद्धार के भाव को लेकर भगवान् ने कृपा करके जो मानव शरीर दिया है, उस शरीर को पा कर भगवान् का भजन करने वाले सुकृती मनुष्य ही मनुष्य कहलाने योग्य हैं|

भगवान् कहते हैं कि सुकृती, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी, यह चार प्रकार के भक्त भगवान् की शरण में जाने के समर्थ हैं| सुकृति भक्त की परिभाषा ऊपर दी जा चुकी है| अन्य तीन प्रकार के भक्त निम्न विशेषता के होते हैं|

प्राण संकट आने पर, कष्ट आने पर, मन के प्रतिकूल घटना घटने पर जो दुःखी होकर अपना दुःख दूर करने के लिये भगवान् को पुकारते हैं और भगवान् से ही चाहते हैं कि वह दुःख दूर करें, दूसरा कोई उपाय काम में नहीं लेते, वह आर्त भक्त कहलाते हैं| जब उन पर कष्ट आता है, तब भगवान् के अतिरिक्त उन्हें कोई उपाय नहीं सूझता| अन्य उपायों की ओर उनकी दृष्टि भी नहीं जाती| सकाम भाव रहने पर भी आर्त भक्त उसकी पूर्ति केवल भगवान् से ही चाहते हैं| वह भगवान् के साथ अपनापन कर भगवान् के परायण हैं और अनुकूलता की इच्छा नहीं करते, पर प्रतिकूल परिस्थिति आने पर प्रतिकूलता मिटाने का भाव पैदा करने का प्रयास करते हैं, वह आर्त भक्त कहलाते हैं|

जिसमें अपने स्वरूप को, भगवत-तत्व को, जानने की तीव्र इच्छा जाग्रत् हो जाती है, और तत्व को जानने के लिये शास्त्र, गुरु अथवा पुरुषार्थ (श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि उपायों) का भी आश्रय न रखते हुए केवल भगवान् के आश्रित होकर उस तत्व को केवल भगवान् से ही जो जानना चाहते, वह जिज्ञासु भक्त कहलाते हैं| जिज्ञासु भक्त वही होता है, जिसका जिज्ञास्य केवल भगवत-तत्व और उपाय केवल भगवद भक्ति ही होती है, अर्थात् उपेय और उपाय में अनन्यता होती है|

ज्ञानी भक्त अनुकूल, प्रतिकूल परिस्थिति, घटना, व्यक्ति, वस्तु आदि सब भगवत् स्वरुप ही देखते हैं| उनको अनुकूल, प्रतिकूल परिस्थिति केवल भगवत लीला ही दिखती है| उन्हें भगवान् में अपने लिये अनुकूलता प्राप्त करने, प्रतिकूलता हटाने, बोध प्राप्त करने, आदि किसी तरह की कभी किंचित मात्र भी इच्छा नहीं होती, वह तो केवल भगवान् के प्रेम में ही मग्न रहते हैं|

स्मरण रहे कि सांसारिक उपायों से धन आदि की प्राप्ति हो सकती है, संभवतः किसी सीमा तक दुःख भी दूर हो सकता है, जिज्ञासा भी पूर्ण हो सकती है, परन्तु उनका भगवान् के साथ सम्बन्ध न होने से उनमें भगवद प्रेम जाग्रत् नहीं हो सकता और उनकी संज्ञा 'भक्त' नहीं हो सकती| संतों की वाणी में आता है कि केवल भगवान् से ही प्रेम करना सत्य प्रेम है| भगवान् ने जीव के प्रति अपने आपको सर्वथा अर्पित कर रखा है, और जीव से कभी कुछ भी प्राप्त करने की

इच्छा की कोई सम्भावना ही नहीं रखी है| इसलिये भगवान् ही परम हितकारी हैं और उनसे प्रेम करना ही सत्य प्रेम है| जब अपने आपको सर्वथा भगवान् को अर्पित करने पर भक्त में कभी कुछ भी पाने की कोई अभिलाषा नहीं रहती, तब वह ज्ञानी अर्थात् प्रेमी भक्त कहा जाता है| अपने आपको भगवान् को अर्पित कर देने से भक्त की सत्ता भगवान् से किंचित मात्र भी अलग नहीं रहती, प्रत्युत केवल भगवान् की सत्ता ही रह जाती है|

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ।।७-१७।।

है ज्ञानी भक्त श्रेष्ठ मध्य इन चतुर् प्रकार अर्जुन |
समझो उसे नित्य निरंतर अनन्य भक्त श्री भगवन ||
हूँ मैं अति प्रिय उसे वह मेरा अति प्रिय भक्तजन ||७-१७||

भावार्थ: *हे अर्जुन, इन चारों प्रकार में ज्ञानी भक्त श्रेष्ठ है| वह भगवान् का सदैव अनन्य परम पावन भक्त है| मैं उसे अति प्रिय हूँ और वह मेरा अति प्रिय भक्त है|*

टीका: प्रभु कह रहे हैं कि हे अर्जुन, इन चारों प्रकार (सुकृति कर्ता, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी) भक्तों में ज्ञानी अर्थात् प्रेमी भक्त श्रेष्ठ है, क्योंकि वह नित्य युक्त है, परम पावन है एवं सर्वदा केवल भगवान् की भक्ति में ही लगा रहता है| भगवान् के अतिरिक्त दूसरे किसी में वह किंचित मात्र भी नहीं लगता| ज्ञानी भक्त लौकिक और पारमार्थिक सब क्रियाएँ करते समय सर्वदा भगवान् से जुड़ा रहता है| भगवान् का सम्बन्ध रखते हुए ही उसकी सब क्रियाएँ होती हैं|

ज्ञानी अर्थात् प्रेमी भक्त का आकर्षण केवल मुझ में होता है| उसकी अपनी कोई व्यक्तिगत इच्छा नहीं होती, इसलिये वह श्रेष्ठ है| सुकृति कर्ता आदि भक्तों में पूर्व संस्कारों के कारण जब तक व्यक्तिगत इच्छाएँ उत्पन्न होती रहती हैं, तब तक उनकी 'एक भक्ति' नहीं हो पाती, अर्थात् केवल भगवान् में प्रेम नहीं हो पाता| परन्तु उन भक्तों में इन इच्छाओं को नष्ट करने का भाव भी होता रहता

है और इच्छाओं के सर्वथा नष्ट होने पर सभी भक्त भगवान् के प्रेमी और भगवान् के प्रेमास्पद हो जाते हैं| वहां भक्त और भगवान् में द्वैत का भाव न रहकर प्रेमाद्वैत (प्रेम में अद्वैत) हो जाता है| वैसे तो चारों प्रकार के भक्त भगवान् के ध्यान में नित्य, निरन्तर लगे रहते हैं, परन्तु अन्य तीन भक्तों के भीतर कुछ न कुछ व्यक्तिगत इच्छा रहती है, जैसे सुकृति कर्ता भक्त अनुकूलता की इच्छा करते हैं, आर्त भक्त प्रतिकूलता को मिटाने की इच्छा करते हैं और जिज्ञासु भक्त अपने स्वरूप को या भगवत-तत्व को जानने की इच्छा करते हैं| परन्तु ज्ञानी अर्थात् प्रेमी भक्त में अपनी कोई इच्छा नहीं रहती, अतः वह 'एकभक्ति' है|

प्रभु कह रहे हैं कि इस प्रकार के ज्ञानी प्रेमी भक्त को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ| उसमें अपनी किंचित मात्र भी इच्छा नहीं है, केवल मुझ में प्रेम है| इसलिये वह भी मुझ को अत्यन्त प्रिय है| वास्तव में तो भगवान् का अंश होने से सभी जीव स्वाभाविक ही भगवान् को प्रिय हैं| भगवान् के प्रेम में कोई स्वार्थ नहीं होता| जैसे माता अपने बच्चों का पालन करती है ऐसे ही भगवान् बिना किसी कारण के सब का पालन-पोषण करते हैं| जो भी मनुष्य भगवान् के सम्मुख हो जाते हैं उनकी उस सम्मुखता के कारण भगवान् में उनके प्रति एक विशेष प्रियता हो जाती है| जब भक्त सर्वथा निष्काम हो जाता है, अर्थात् उसमें लौकिक, पारलौकिक किसी तरह की भी इच्छा नहीं रहती, तब उसमें स्वतः सिद्ध प्रेम पूर्ण रूप से जाग्रत् हो जाता है| पूर्ण रूप से स्वतः सिद्ध प्रेम जाग्रत् होने का अर्थ है कि प्रभु से प्रेम में किंचित मात्र भी कमी नहीं रहती| यह प्रभु के प्रति प्रेम कभी समाप्त नहीं होता क्योंकि वह अनन्त और प्रतिक्षण वर्धमान है| प्रतिक्षण वर्धमान का तात्पर्य है कि प्रेम में प्रतिक्षण अलौकिक विलक्षणता का अनुभव होता रहता है|

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ।।७-१८।।

यद्यपि उत्कृष्ट सब पर ज्ञानी भक्त मेरा निरूपन |
है अभिन्न मुझ से वह स्थित मम श्रेष्ठ गति बुद्धिवन ||७-१८||

भावार्थ: *यद्यपि सभी (चारों प्रकार के भक्त) भक्त उत्कृष्ट हैं, पर ज्ञानी भक्त मेरा ही स्वरुप है| वह मुझ से अभिन्न है| वह बुद्धिमान मेरी श्रेष्ठ गति में स्थित है (अर्थात मेरे श्रेष्ठ रूप में स्थित है)|*

टीका: प्रभु कहते हैं कि यद्यपि सभी चारों प्रकार के भक्त श्रेष्ठ भाव वाले हैं, परन्तु ज्ञानी भक्त सर्वश्रेष्ठ है| देवी देवताओं के भक्त सकाम भाव से विधि पूर्वक यज्ञ दान, तप आदि कर्म करते हैं तो देवी देवताओं को उनकी कामना के अनुसार वरदान देना पड़ता है| परन्तु भगवान् का भक्त अगर भगवान् से कोई वरदान माँगता है तो भगवान् जो उचित समझें, वह वरदान देते हैं अन्यथा नहीं| क्योंकि भगवान् परम पिता हैं और परम हितैषी हैं|

संसार के भोग और धनादि प्रत्यक्ष रूप से सुखदायी दिखाई देते हैं, परन्तु भगवान् के भजन में प्रत्यक्ष रूप से शीघ्र सुख दिखाई नहीं देता| जो भक्त संसार के प्रत्यक्ष सुख को छोड़कर अर्थात् भोग भोगने और संग्रह करने की लालसा को छोड़कर भगवान् का भजन करते हैं, वही ज्ञानी भक्त हैं|

ज्ञानी भक्तों का लौकिक, पारलौकिक कामना पूर्ति के लिये अन्य की ओर किंचित मात्र भी भाव नहीं जाता| वह केवल भगवान् से ही कामना पूर्ति चाहते हैं| भक्तों का यह अनन्य भाव ही उनकी भक्ति है, 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्', यही प्रेमी (ज्ञानी) भक्त की विलक्षणता है| वह प्रभु का ही स्वरूप है| स्वरूप में किसी निमित्त से, किसी कारण विशेष से प्रियता नहीं होती, प्रत्युत अपना स्वरूप होने से स्वतः स्वाभाविक प्रियता होती है| प्रेम में प्रेमी अपने आपको प्रेमास्पद पर न्योछावर कर देता है, अर्थात् प्रेमी अपनी सत्ता अलग नहीं मानता| ऐसे ही प्रेमास्पद भी स्वयं प्रेमी पर न्योछावर हो जाते हैं| उनको इस प्रेमाद्वैत की विलक्षण अनुभूति होती है| ज्ञानमार्ग का अद्वैत भाव नित्य, निरन्तर अखण्ड रूप से शान्त, सम रहता है, परन्तु प्रेम का अद्वैत भाव एक दूसरे की अभिन्नता का अनुभव कराता हुआ प्रतिक्षण वर्धमान रहता है| प्रेम का अद्वैत भाव एक होते हुए भी दो हैं, और दो होते हुए भी एक है| इसलिये प्रेम तत्व अनिर्वचनीय है| शरीर के साथ सर्वथा अभिन्नता (एकता) मानते हुए भी निरन्तर भिन्नता बनी रहती है और भिन्नता का अनुभव होने पर भी अभिन्नता बनी रहती है| इसी

प्रकार प्रेम तत्व में भिन्नता रहते हुए भी अभिन्नता बनी रहती है, और अभिन्नता का अनुभव होने पर भी भिन्नता बनी रहती है| जैसे नदी समुद्र में प्रविष्ट होती है तो प्रविष्ट होते ही नदी और समद्र के जल की एकता हो जाती है| एकता होने पर भी दोनों ओर से जल का एक प्रवाह चलता रहता है, अर्थात् कभी नदी का समुद्र की ओर और कभी समुद्र का नदी की ओर एक विलक्षण प्रवाह चलता रहता है| ऐसे ही प्रेमी का प्रेमास्पद की ओर और प्रेमास्पद का प्रेमी की ओर प्रेम का एक विलक्षण प्रवाह चलता रहता है| उनका नित्ययोग में वियोग और वियोग में नित्ययोग, इस प्रकार प्रेम की एक विलक्षण लीला अनन्त रूप से अनन्त काल तक चलती रहती है| उसमें कौन प्रेमास्पद है और कौन प्रेमी, इसका विचार नहीं रहता| वहां दोनों ही प्रेमास्पद हैं और दोनों ही प्रेमी| इससे उत्तम गति कोई नहीं हो सकती| ऐसे सर्वोपरि प्रभु में ही ज्ञानी भक्त की श्रद्धा, विश्वास और दृढ़ आस्था है| उसकी वृत्ति किसी अनुकूल, प्रतिकूल परिस्थिति को लेकर प्रभु से नहीं हटती, प्रत्युत एक प्रभु में ही लगी रहती है| 'केवल भगवान् ही मेरे हैं', इस प्रकार उसका जो अपनापन है, उसमें अनुकूलता, प्रतिकूलता को लेकर किंचित मात्र भी अंतर नहीं पड़ता, प्रत्युत वह अपनापन दृढ़ होता और बढ़ता ही चला जाता है| वह युक्तात्मा है, अर्थात् वह किसी भी अवस्था में प्रभु से अलग नहीं होता, प्रत्युत सदा प्रभु से अभिन्न रहता है|

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ।।७-१९।।

ले जन्म कई बार नर पा सके तब ब्रह्मज्ञान अर्जुन |
है प्रकृष्ट महात्मा जो समझे व्याप्त सर्वत्र भगवन ||
हो सहज प्राप्ति मेरी जब आ जाए वह मेरी शरन ||७-१९||

भावार्थ: *हे अर्जुन, कई जन्म लेने के पश्चात मनुष्य को ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है| वह श्रेष्ठ महात्मा है जिसे सर्वत्र प्रभु दिखाई देते हैं| (इस स्थिति में पहुंचने के पश्चात) जब वह मेरी शरण आता है, तब उसे मेरी प्राप्ति सुलभ हो जाती है|*

टीका: मनुष्य जन्म यद्यपि सम्पूर्ण योनियों में श्रेष्ठ और अन्तिम जन्म है, लेकिन इस मनुष्य जन्म में भी कई बार जन्म लेने के पश्चात ही ब्रह्मज्ञान (प्रभु ज्ञान) की प्राप्ति होती है| क्योंकि मनुष्य इस योनि में भी भगवान् को प्राप्त न कर राग के कारण फिर पुराने प्रवाह में अर्थात् जन्म-मरण के चक्र में पड़ जाता है| इस कारण प्रभु को प्राप्त किए बिना ही प्राणी मरण पश्चात अधम गति को चला जाता है|

संतों की वाणी में और शास्त्रों में आता है कि मनुष्य जन्म केवल अपना कल्याण करने के लिये मिला है, विषयों का सुख भोगने के लिये नहीं| सुख भोगों की प्राप्ति चाहने वालों को मूढ़ और तुच्छ बुद्धि वाला कहा गया है| यह मनुष्य जन्म सम्पूर्ण जन्मों का आदि जन्म भी है, और अन्तिम जन्म भी| अतः इस मनुष्य जन्म में सम्पूर्ण पापों का नाश करके, सम्पूर्ण वासनाओं का नाश करके, अपना कल्याण करना चाहिए|

भगवान् ने कहा है कि मनुष्य अन्त समय में जिस भाव का स्मरण करते हुए शरीर छोड़कर जाता है, उस भाव को ही वह पुनर्जन्म में प्राप्त होता है| इस तरह मनुष्य को उद्धार के लिये उसे अंतिम समय में भगवान् का भाव ही रखना चाहिए| भगवान् ने अपनी ओर से यह अन्तिम मनुष्य जन्म दिया है| अब इसके आगे नए जन्म की तैयारी अपने भावानुसार कर ले, अपना उद्धार कर ले, इसमें वह सर्वथा स्वतन्त्र है| प्रभु ने मनुष्य मात्र को परमात्म-तत्व की प्राप्ति का अधिकारी मानते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा है कि वर्तमान का दुराचारी से दुराचारी, पूर्व जन्म के पापों के कारण नीच योनि में जन्मा हुआ, पाप योनि और चारों वर्ण वाले स्त्री, पुरुष, यह सभी भगवान् का आश्रय लेकर परम गति को प्राप्त हो सकते हैं| प्रभु की प्रेरणा से प्राणी भगवान् और संत महापुरुषों की कृपा से तथा तीर्थ और भगवद् धाम के प्रभाव से परम गति को प्राप्त हो जाते हैं| स्मरण रहे कि देवता भोग योनि है, वह भोगों में ही लगे रहते हैं, इसलिये उनको अपना उद्धार करना है, ऐसा विचार नहीं आता| परन्तु वह यदि भगवान् की ओर लग जाएं तो उनका भी उद्धार हो जाता है| भगवान् की ओर से मनुष्य का जन्म अन्तिम जन्म है| इसका कारण है कि भगवान् का यह संकल्प है कि मेरे दिये हुए इस शरीर से मनुष्य अपना उद्धार कर सकता है| यदि मनुष्य

भगवान् से विमुख होकर संसार के राग में न फँसे तो भगवान् के इस संकल्प से अनायास ही मुक्त हो सकता है| भगवान् का संकल्प ऐसा नहीं है कि साधक की इच्छा के बिना उसका कल्याण हो जाए, जैसे वरदान द्वारा| भगवान् ने मनुष्य को अपना कल्याण करने की स्वतन्त्रता मनुष्य जन्म में दी है| यदि यह प्राणी उस स्वतन्त्रता का दुरुपयोग न करे, अर्थात् भगवान् और शास्त्रों से विपरीत न चले, अपने विवेक के विरुद्ध न चले तो उसको भगवान् और शास्त्रों के अनुकूल चलना स्वाभाविक होगा| भगवान् और शास्त्रों से विपरीत न चलने पर दो अवस्थाओं में से एक अवस्था स्वाभाविक होगी, या तो वह शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि से कुछ नहीं करेगा या केवल भगवान् और शास्त्र के अनुकूल ही करेगा| कुछ नहीं करने की अवस्था में अर्थात् कुछ करने की रुचि न रहने की अवस्था में मन बुद्धि इन्द्रियों आदि के साथ सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है| कुछ न कुछ करने की इच्छा से ही कर्तृत्वाभिमान उत्पन्न होकर अन्तःकरण और इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध जुड़ता है और अपने लिये करने से फल के साथ सम्बन्ध जुड़ता है| कुछ भी न करने से न कर्तृत्व अभिमान होगा और न फलेच्छा होगी, प्रत्युत स्वरूप में स्वतः स्थिति होगी| शास्त्र की आज्ञा अनुसार निष्काम भाव कर्म करने की अवस्था में करने का प्रवाह मिट जाता है और क्रिया तथा पदार्थ से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है| क्रिया और पदार्थ से सम्बन्ध विच्छेद होने से नई कामना नहीं होती और पुराना राग मिट जाता है, स्वतः बोध हो जाता है|

निष्काम भाव से विधि पूर्वक अपने कर्तव्य कर्म का पालन किया जाए तो अनादि काल से बने हुए सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं | ज्ञानयोग से मनुष्य सम्पूर्ण पापों से तर जाता है| भगवान् भक्त को सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर देते हैं| जो भगवान् को अज, अनादि, जानता है वह सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है| इस प्रकार कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग, तीनों योगों से पाप नष्ट हो जाते हैं| मनुष्य जन्म में सत्संग मिल जाए और भगवान् नाम से परिचय हो जाए तो साधक को समझना चाहिए कि भगवान् ने उस पर विशेष कृपा कर दी है| अतः अब उसका उद्धार होना सुलभ है|

महासर्ग के आदि में एक भगवान् ही अनेक रूपों में हो जाते हैं, 'सदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति' और अन्त में अर्थात् महाप्रलय में एक भगवान् ही शेष रह जाते

हैं, 'शिष्यते शेषसंज्ञः'| इसलिये सर्वत्र वासुदेव ही हैं| सृष्टि के पहले भी भगवान् थे और अन्त में भगवान् ही रहेंगे तो मध्य में भगवान् के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? जब तक मनुष्य की दृष्टि संसार की ओर रहती है, उसी को महत्व देती है, तब तक सब कुछ भगवान् ही हैं, इस ओर उसकी दृष्टि नहीं जाती| जब संसार की ओर दृष्टि नहीं रहती, तब संसार में रहते हुए भी भगवान् की भावना होती है, प्रत्युत सब कुछ भगवान् ही हैं, भगवान् के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं है, ऐसी भावना होती है, 'वासुदेवः सर्वम्' का अनुभव हो जाता है|

ब्रह्म भूत मनुष्य निर्वाण ब्रह्म को प्राप्त होता है| ब्रह्म भूत योगी को उत्तम सुख मिलता है| ब्रह्म भूत भगवान् की परा भक्ति को प्राप्त होता है और उस भक्ति से तत्व को जानकर उसमें प्रवेश करता है| 'वासुदेवः सर्वम्' कोई अवस्था नहीं है, प्रत्युत वास्तविक तत्व है| इसमें कभी परिवर्तन नहीं होता| जो कुछ संसार में दिखता है, वह सब भगवान् का ही स्वरूप है| भगवान् के अतिरिक्त इस संसार की स्वतन्त्र सत्ता न थी, न है, और न रहेगी| अतः देखने, सुनने और समझने में जो कुछ संसार आता है, वह सब भगवत् स्वरुप ही है|

प्रभु कहते हैं कि मन से, वाणी से, दृष्टि से तथा अन्य इन्द्रियों से जो कुछ ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ| मुझ से भिन्न और कुछ नहीं है| इस सिद्धांत को मानते हुए ज्ञानी सर्वत्र भगवान् को ही देखता है, और भगवान् उसे देखते हैं, 'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति'|

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ।।७-२०।।

भोग वासना मोह से बुद्धि हर लेती ज्ञान जिन जन |
हो प्रेरित स्वभाव विषयी करें वह देव देवी भजन ||७-२०||

भावार्थ: *मोह वासना से मोहित हो जिनकी बुद्धि ज्ञान हर लेती है, वह विषयी स्वभाव से प्रेरित होकर देवी, देवताओं का भजन करते हैं|*

टीका: भोग वासनाओं से मोहित बुद्धि ज्ञान का हरण कर लेती है| परमात्मा की प्राप्ति के लिये जो विवेक युक्त मनुष्य शरीर मिला है, उस शरीर में आकर प्राणी परमात्मा की प्राप्ति न करके वह अपनी कामनाओं की पूर्ति करने में ही लग जाते हैं| संयोगजन्य सुख की इच्छा को कामना कहते हैं| कामना दो प्रकार की होती है, इहलोक में भोग भोगने के लिये धन संग्रह की कामना और परलोक भोग भोगने के लिये पुण्य संग्रह की कामना| धन संग्रह की कामना भी दो प्रकार की होती है, संयोगजन्य सुख के लिये धन संग्रह कामना, और दूसरी धनी होने की कामना अर्थात अभिमान जन्य सुख के लिये धन संग्रह की कामना| ऐसे ही पुण्य संग्रह की कामना भी दो प्रकार की होती है, पहली इहलोक में पुण्यात्मा बन यश प्राप्ति की कामना, और दूसरी परलोक में स्वर्ग मिलने की कामना| इन सभी कामनाओं से सत्-असत्, नित्य-अनित्य, सार-असार, बन्ध-मोक्ष आदि का विवेक आच्छादित हो जाता है| विवेक आच्छादित होने से प्राणी यह समझ नहीं पाते कि जिन पदार्थों की हम कामना कर रहे हैं, वह पदार्थ हमारे साथ कब तक रहेंगे और हम उन पदार्थों के साथ कब तक रहेंगे?
कामनाओं के कारण विवेक ढका होने से वह अपने स्वभाव से नियन्त्रित रहते हैं अर्थात् अपने स्वभाव के परवश रहते हैं| यहाँ 'स्वभाव' शब्द व्यक्तिगत स्वभाव का वाचक है, समष्टि स्वभाव का वाचक नहीं है| यह व्यक्तिगत स्वभाव दृढ़ होता है, 'स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते', अतः व्यक्तिगत स्वभाव को छोड़ पाना कठिन होता है, 'या यस्य प्रकृतिः स्वभावजनिता केनापि न त्यज्यते'| साधक को इन स्वभाव दोषों का परित्याग करना चाहिए| अगर उन दोषों का प्राणी त्याग नहीं कर सकता तो वह मनुष्य जन्म की महिमा समझने से वंचित है| मनुष्य अपने स्वभाव को निर्दोष, शुद्ध बनाने में सर्वथा स्वतन्त्र है| परन्तु जब तक मनुष्य के भीतर कामना पूर्ति का उद्देश्य रहता है, तब तक वह अपने स्वभाव को सुधार नहीं सकता और तभी तक स्वभाव की प्रबलता और अपने में निर्बलता दिखती है| परन्तु जिसका उद्देश्य कामना मिटाने का हो जाता है, वह अपने स्वभाव का सुधार कर सकता है, अर्थात् उसमें स्वभाव की परवशता नहीं रहती|

कामनाओं के कारण अपने स्वभाव के परवश होने पर मनुष्य कामना पूर्ति हेतु अनेक उपायों और विधियों को ढूँढ़ता रहता है| उदाहरण के रूप में, अमुक यज्ञ करने से, अमुक तप करने से, अमुक दान देने से यदि कामना पूर्ण होने

की संभावना हो तो वह वही उपाय एवं विधि का पालन करता रहता है| वह कामना पूर्ति के लिये इन उपायों और नियमों को धारण करके देवी, देवताओं की शरण में जाता है, भगवान् की शरण में नहीं| प्रभु का यहाँ 'देवी, देवता' कहने का तात्पर्य है कि वह इच्छा पूर्ति करने वाले इष्टों को भगवत् स्वरुप नहीं मानते, प्रत्युत उनकी अलग सत्ता मानते हैं| इसी कारण ऐसे प्राणियों को अन्त वाला (नाशवान्) फल मिलता है, 'अन्तवत्तु फलं तेषाम्'| यह मनुष्य जीवन का उद्देश्य नहीं है| मनुष्य जीवन का उद्देश्य प्रभु प्राप्ति है जो इन उपायों और विधियों से नहीं मिल सकती| वह केवल प्रभु की शरण जाने से मिलती है|

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ।।७-२१।।

हो पूर्ण सकाम भावना करे अर्पण वह जिस देवगन |
भर देता श्रद्धा उसके मन उसी देव में मैं अर्जुन ||७-२१||

भावार्थ: *अर्जुन, जब साधक सकाम भावना से पूर्ण हो जिस देवता (देवी, देवता) को अर्पण करता है, मैं उस के मन में उसी देवता (देवी, देवता) की श्रद्धा भर देता हूँ|*

टीका: अपनी कामना की पूर्ति के लिए साधक जिस देवी, देवता का भक्त होकर श्रद्धा पूर्वक उसका यजन, पूजन करता है, उस साधक की श्रद्धा उस देवी, देवता के प्रति प्रभु अचल (दृढ़) कर देते हैं| यदि सकाम भावना को त्याग कर साधक किसी देवी, देवता को अर्पण न कर, प्रभु को अर्पण कर दे, तो उसकी श्रद्धा को प्रभु अपने प्रति दृढ़ कर देते हैं| प्रभु ही प्राणी के सुहृद् हैं, 'सुहृदं सर्वभूतानाम्'| यहाँ इस पर शंका हो सकती है कि प्रभु सब की श्रद्धा अपने में ही दृढ़ क्यों नहीं करते? इस पर भगवान् कहते हैं कि अगर मैं सब की श्रद्धा को अपने प्रति दृढ़ करूँ तो मनुष्य जन्म की स्वतन्त्रता, सार्थकता ही कहाँ रही तथा मेरी स्वार्थ परता का त्याग कहाँ हुआ? अगर लोगों को अपने में ही लगाने का मेरा आग्रह रहे, तो ऐसा बर्ताव तो दुनिया के सभी स्वार्थी जीवों का स्वाभाविक होता है| मैं इस स्वार्थ परता को मिटाकर ऐसा स्वभाव सिखाना

चाहता हूँ कि कोई भी मनुष्य पक्षपात करके दूसरों से केवल अपनी पूजा, प्रतिष्ठा करवाने में ही न लगा रहे और किसी को पराधीन न बनाए| अब दूसरी शंका यह हो सकती है कि प्रभु सकाम भावना वाले साधकों की श्रद्धा को उन देवी, देवताओं के प्रति दृढ़ कर देते हैं, इससे प्रभु की साधुता तो सिद्ध हो गई, पर उन जीवों का तो प्रभु से विमुख होने से अहित ही हुआ? इसका समाधान यह है कि अगर प्रभु उनकी श्रद्धा को दूसरों से हटाकर अपने में लगाने का भाव रखेंगे, तो उन में अश्रद्धा हो जाएगी| परन्तु अगर प्रभु अपने में लगाने का भाव नहीं रखेंगे और उनको स्वतन्त्रता देंगे तो उस स्वतन्त्रता को पाने वालों में जो बुद्धिमान् होंगे, वह प्रभु के इस व्यवहार को देखकर उनकी ओर ही आकृष्ट होंगे, अतः उनके उद्धार की यही उत्तम विधि है| अब तीसरी शंका यह भी हो सकती है कि जब प्रभु सकाम भावना वाले साधकों की श्रद्धा उनके द्वारा पूजित देवी, देवताओं में दृढ़ कर देते हैं, तो फिर उस श्रद्धा को कोई मिटा क्यों नहीं सकता, वह दृढ़ क्यों हो जाती है? इस सकाम भावना के कारण उसका पतन ही होता चला जाएगा| इसका समाधान यह है कि प्रभु ऐसे साधकों की श्रद्धा केवल उनके द्वारा पूजित देवी, देवताओं के प्रति ही दृढ़ करते हैं, ऐसा नहीं है| प्रभु तो उनकी इच्छा के अनुसार ही उनकी श्रद्धा को दृढ़ करते हैं| अपनी इच्छा को बदलने में मनुष्य स्वतन्त्र है, योग्य है| इच्छा को बदलने में वह परवश, निर्बल और अयोग्य नहीं हैं| यदि इच्छा को बदलने में वह परवश अनुभव करते हैं तो मनुष्य जन्म की महिमा उन्होंने नहीं समझी| स्मरण रहे कि यह कदम साधक को स्वयं ही उठाना है| प्रभु कभी किसी को इच्छा (कामना) का त्याग करने की आज्ञा नहीं देते, 'जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्'|

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान् हि तान् ।।७-२२।।

हो युक्त श्रद्धा करे देव देवी जब नर भजन पूजन |
पाए मनुष्य इच्छित विषय कर पालन विधिवत नियम ||७-२२||

भावार्थ: *जब श्रद्धा युक्त मनुष्य उचित नियमों का पालन करते हुए देवी, देवता की पूजा करता है, तब उसको इच्छित विषय (भोगों) की प्राप्ति होती है|*

टीका: जब निर्धारित नियम एवं विधि विधान से श्रद्धा पूर्वक अपनी विषय भोग सम्बंधित इच्छाओं की पूर्ति के लिए मनुष्य देवी, देवता की आराधना करता है तो उस कामना की पूर्ति अवश्य होती है| यहां यह उल्लेखनीय है कि यह कामना की पूर्ति इन देवी, देवताओं के द्वारा वास्तव में प्रभु की इच्छा से ही होती है| देवताओं में प्रभु की ही शक्ति है और इन कामनाओं की प्राप्ति करने के विधि विधान भी प्रभु द्वारा ही निर्मित हैं|

देवी, देवताओं में एक सीमा तक ही वरदान देने की शक्ति होती है| देवी, देवताओं में अधिक से अधिक इतनी शक्ति होती है कि वह अपने उपासकों को अपने लोकों में ले जा कर एक निर्धारित समय तक के लिए उन्हें विषय भोग से तृप्त करें| परन्तु स्मरण रहे कि उपासना का फल भोगने पर उनको वहां से लौटकर पुनः संसार में जन्म लेना पड़ता है| संसार में स्वतः जो कुछ संचालन हो रहा है, वह सब प्रभु का ही किया हुआ है|।अतः जिस किसी को जो कुछ मिलता है, वह सब प्रभु द्वारा निर्धारित विधान से ही मिलता है, क्योंकि प्रभु के अतिरिक्त विधि विधान निर्माता और कोई नहीं है| यदि मनुष्य इस रहस्य को समझ ले, तो फिर वह केवल प्रभु की ओर ही आकर्षित होगा, अन्य देवी, देवताओं की ओर नहीं|

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ।।७-२३।।

करे साधना जो देव देवी है वह अल्प बुद्धि जन|
पाए वह फल नाशवान पर पाए मुक्ति मेरा भक्तगन ||७-२३||

भावार्थ: *जो अल्प बुद्धि वाले प्राणी देवी, देवताओं की साधना करते हैं, उन्हें नाशवान फलों की प्राप्ति होती है| परन्तु मेरे भक्तों को मुक्ति की प्राप्ति होती है (जो अविनाशी है)|*

टीका: देवी, देवताओं की उपासना करने वाले अल्प बुद्धि मनुष्यों को अन्त वाला अर्थात् सीमित और नाशवान् फल मिलता है| यहाँ शंका हो सकती है कि

भगवान् द्वारा निर्मित विधि विधान से प्राप्त किया हुआ फल तो नित्य ही होना चाहिए, फिर उनको अनित्य फल क्यों मिलता है? इसका समाधान यह है कि एक तो उनमें नाशवान् पदार्थों की कामना है और दूसरा वह देवी, देवताओं को भगवान् से पृथक मानते हैं, इसलिये उनको नाशवान् फल मिलता है| परन्तु उनको दो उपायों से अविनाशी फल भी मिल सकता है, प्रथम तो वह कामना न रखकर (निष्काम भाव से) देवी, देवताओं की उपासना करें और दूसरा, वह देवी, देवताओं को भगवान् से भिन्न न समझकर, अर्थात् भगवत् स्वरुप ही समझकर उनकी उपासना करें| इस प्रकार उनकी कामना रहते हुए भी समय से उन्हें अविनाशी फल मिल सकता है, अर्थात् भगवत प्राप्ति हो सकती है| प्रभु कह रहे हैं कि फल तो उनके द्वारा निर्मित विधि विधान से पूजन करने से ही मिलता है, पर दुर्भाग्य से सकाम कामना होने से वह नाशवान् हो जाता है|

प्रभु की आराधना करने में कोई विधि विधान की आवश्यकता नहीं, पर फल मिलता है असीम, अनन्त और अविनाशी | देवी, देवताओं की उपासना में नियम तो अधिक हैं परन्तु फल मिलता है, विनाशी| इस कारण देवी, देवताओं की उपासना में लगना अल्प बुद्धि नहीं तो और क्या है?

प्रभु कहते हैं कि देवी, देवताओं का पूजन करने वालों को देवी, देवताओं की ही प्राप्ति होती है| मेरा पूजन करने वाले मुझ को ही प्राप्त होते हैं| अतः प्रभु की उपासना करने वालों की कामना पूर्ति भी हो सकती है और प्रभु की प्राप्ति भी हो सकती है| अर्थात् प्रभु के भक्त सकाम हों या निष्काम, वह सब प्रभु को ही प्राप्त होते हैं| स्मरण रहे कि भगवान् की उपासना करने वालों की सभी कामनाएँ पूर्ण हो जाएं, यह नियम नहीं है| भगवान् उचित समझें तो पूरी कर दें, परन्तु यदि उस कामना पूर्ति में भक्त का अहित हो रहा है तो उस कामना की प्रभु पूर्ति नहीं करते| यह नियम है कि भगवान् का भजन करने से भगवान् के नित्य सम्बन्ध की स्मृति हो जाती है, क्योंकि भगवान् का सम्बन्ध सदा रहने वाला है| अतः भगवान् की प्राप्ति होने पर फिर संसार में लौटकर नहीं आना पड़ता, 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते'| परन्तु देवी, देवताओं का सम्बन्ध सदा रहने वाला नहीं है, क्योंकि वह कर्म जनित है| अतः देवी, देवता लोक की प्राप्ति होने पर संसार में लौटकर आना ही पड़ता है, 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'|

प्रभु का भजन करने वाले प्रभु को ही प्राप्त होते हैं, इसी भाव को लेकर भगवान् ने सुकृति कर्ता, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी, इन चारों प्रकार के भक्तों को उदार कहा है| प्रभु का मत है कि जीव कैसा भी आचरण करने वाला हो, अर्थात् वह दुराचारी भी हो, तो भी है तो प्रभु का ही अंश| दुर्भाग्य से उसने केवल आसक्ति और आग्रह पूर्वक संसार के साथ सम्बन्ध जोड़ लिया है| अगर संसार की आसक्ति और आग्रह छोड़ वह प्रभु में अर्पित हो जाए तो अवश्य ही उसको भी प्रभु की प्राप्ति हो जाएगी|

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ।।७-२४।।

नहीं समझे मेरा अविनाशी परम भाव अबुद्धि जन |
समझे वह मुझे व्यक्त यद्यपि हूँ मैं अव्यक्त अर्जुन ||७-२४||

भावार्थ: *हे अर्जुन, बुद्धिहीन प्राणी मेरे सर्वश्रेष्ठ अविनाशी भाव को नहीं समझते| वह मुझे मनुष्य की तरह (व्यक्त) ही मानते हैं जब कि मैं अव्यक्त (मन एवं इन्द्रियों से परे) हूँ|*

टीका: प्रभु अर्जुन से कह रहे हैं कि हे अर्जुन, जो मनुष्य निर्बुद्धि हैं, जिनकी मेरे प्रति श्रद्धा, भक्ति नहीं है, वह अल्प मेधा होने के कारण, अर्थात् समझ की कमी होने के कारण मुझ को साधारण मनुष्य की तरह व्यक्त अर्थात् जन्म-मरण वाला मानते हैं| मेरा जो अविनाशी भाव है, अर्थात् जो देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदि में परिपूर्ण रहता हुआ इन सबसे अतीत, सदा एक रूप रहने वाला, निर्मल और असम्बद्ध है, ऐसे मेरे अव्यय भाव को वह नहीं समझते| मेरे अवतार लेने के हेतु एवं तत्व का उन्हें ज्ञान नहीं है| वह मुझे साधारण मनुष्य मानकर मेरी उपासना नहीं करते, प्रत्युत देवी, देवताओं की उपासना करते हैं| उनमें निश्चय ही बुद्धि का अभाव है| बुद्धि में विवेक रहते हुए भी, अर्थात् संसार को उत्पत्ति-विनाशशील जानते हुए भी इसे स्वीकार नहीं करते, यही उनमें बुद्धि रहित होना है, मूढ़ता है| वह दुर्भाग्य से यह नहीं समझते कि कामना स्थिर नहीं है| वास्तव में कामना की सत्ता ही नहीं है| वह इस अस्थिर कामना का त्याग नहीं कर

पाते, यही अबुद्धिपन है| मेरे स्वरूप को न समझते हुए, वह अन्य देवी, देवताओं की उपासना में लग कर उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थों की कामना में लग जाते हैं| वह बुद्धिहीन मनुष्य मुझ से विमुख हो जाते हैं| यद्यपि वह मेरे ही अंश हैं, मुझ से अलग नहीं हो सकते तथा मैं भी उनसे अलग नहीं हो सकता, तथापि कामना के कारण ज्ञान ढक जाने से वह देवी, देवताओं की ओर खिंच जाते हैं| अगर वह मेरे स्वरुप को जान जाते तो फिर केवल मेरा ही भजन करते| इसका तात्पर्य है कि बुद्धिमान् मनुष्य वह होते हैं, जो भगवान् के शरण होते हैं| वह भगवान् को ही सर्वोपरि मानते हैं| अल्प मेधा वाले मनुष्य वह होते हैं, जो देवी, देवताओं के शरण होते हैं| अबुद्धि वाले मनुष्य वह होते हैं, जो भगवान् को साधारण मनुष्य समान मानते हैं|

प्रभु अज हैं, अविनाशी हैं, समस्त लोकों के ईश्वर हैं, वह प्रकृति को वश में करके योग माया से ही अवतरित हुए हैं, ऐसा ज्ञान बुद्धिहीन मनुष्यों को नहीं होता| प्रभु क्षर से अतीत और अक्षर से भी उत्तम हैं, उनके समान श्रेष्ठ दूसरा कोई नहीं है, ऐसे प्रभु के अव्यक्त भाव को जानने वाले ही बुद्धिमान पुरुष हैं|

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ।।७-२५।।

न समझ सकें मम अजन्मा अविनाशी रुप मोहित जन |
छादित माया नहीं होता मैं प्रकट समक्ष अबुद्धजन ||७-२५||

भावार्थ: *मोहित प्राणी मेरे अजन्मा एवं अविनाशी रुप को नहीं समझ सकते| माया से ढका हुआ मैं ऐसे बुद्धिहीन प्राणियों के समक्ष प्रकट नहीं होता|*

टीका: प्रभु कहते हैं कि मैं अज और अविनाशी हूँ, अर्थात् जन्म-मरण से रहित हूँ| ऐसा होने पर भी मैं प्रकट और अन्तर्धान होने की लीला करता हूँ| जब मैं अवतार लेता हूँ, तब अज (अजन्मा) रहता हुआ ही अवतार लेता हूँ और अव्यय आत्मा रहता हुआ ही अन्तर्धान हो जाता हूँ| जैसे सूर्य उदय होते हैं तो हमारे सामने आ जाते हैं और अस्त होते हैं तो हमारे नेत्रों से ओझल हो जाते हैं, ऐसे

ही मैं केवल प्रकट और अन्तर्धान होने की लीला करता हूँ| जो मुझे इस प्रकार जन्म-मरण से रहित मानते हैं, वह तो असम्मूढ़ हैं| परन्तु जो मुझ को साधारण प्राणियों की तरह जन्म-मरण वाला मानते हैं, वह मूढ़ हैं| भगवान् को अज, अविनाशी न मानने का कारण है कि मनुष्य भगवान् के साथ स्वतः अपनापन स्वरुप को न मानकर इस विनाशी शरीर को अपना मान लेता है| उसका भाव होता है कि, 'यह शरीर ही मैं हूँ और यह शरीर मेरा है'| इस भाव के कारण उसके सामने एक आवरण आ जाता है, जिससे वह भगवान् को भी अपने समान ही जन्म-मरण वाला मानने लगता है| इस प्रकार के प्राणी अपनी मूढ़ता को दूर करके प्रभु के स्वरूप को जान जाएं तो उनका कल्याण हो जाता है| स्मरण रहे कि सर्वथा भगवत-तत्व का बोध तो भगवान् की कृपा से ही हो सकता है| यह भगवत कृपा भगवान् के शरण में जाने से ही संभव है| जब प्राणी भगवान् की शरण में चला जाता है तो भगवान् उसके अज्ञान को दूर कर यह आवरण हटा देते हैं और वह प्रभु के दर्शन पाता है| इससे स्पष्ट है कि जो प्रभु को अविनाशी नहीं मानते, प्रत्युत उन्हें जन्म-मरण वाला मानते हैं, उनसे प्रभु अपनी माया से छिपे रहते हैं| जो प्रभु को अज, अविनाशी और सम्पूर्ण प्राणियों का ईश्वर मानते हैं, उनमें श्रद्धा, विश्वास रखते हैं, उनके भावों के अनुसार प्रभु उनके सामने प्रकट होते हैं| भगवान् की माया विचित्र, विलक्षण और अलौकिक है| मनुष्यों का भगवान् के प्रति जैसा भाव होता है, उसके अनुसार ही वह माया समावृत भगवान् को देख सकते हैं|

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ।।७-२६।।

समझो मुझे ज्ञाता भूत वर्तमान भविष्य सब जन|
पर न समझ सकें यह तथ्य अतिरिक्त जो मेरे भक्तगन ||७-२६||

भावार्थ: *प्रभु को सभी प्राणियों के भूत, वर्तमान एवं भविष्य का ज्ञाता समझो| परन्तु उनके भक्तगण के अतिरिक्त यह तथ्य कोई और नहीं समझ सकता|*

टीका: भगवान् प्राणियों के भूत, वर्तमान और भविष्य के ज्ञाता हैं| प्रभु के लिए प्राणियों के भूत, वर्तमान एवं भविष्य उनके वर्तमान समान हैं| भूत, वर्तमान और भविष्य, यह तीनों काल प्राणियों की दृष्टि में रहते हैं, भगवान् की दृष्टि में नहीं| जैसे चित्रपट देखने वालों के लिये भूत, वर्तमान और भविष्य काल का भेद रहता है, पर चित्रपट के चलचित्र में सब कुछ वर्तमान ही प्रतीत होता है, ऐसे ही प्राणियों की दृष्टि में भूत, वर्तमान और भविष्य काल का भेद रहता है, पर भगवान् की दृष्टि में सब कुछ वर्तमान ही रहता है| स्मरण रहे कि सम्पूर्ण प्राणी काल के अन्तर्गत हैं, और भगवान् काल से अतीत हैं| देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदि बदलते रहते हैं पर भगवान् सदैव एक से रहते हैं| काल के अन्तर्गत आए हुए प्राणियों का ज्ञान सीमित होता है, पर भगवान् का ज्ञान असीम है| उन प्राणियों में जब कोई योग का अभ्यास कर ज्ञान बढ़ा लेता है तो वह 'युञ्जान योगी' हो जाता है| भूत, वर्तमान और भविष्य के सभी जीव नित्य, निरन्तर भगवान् में ही रहते हैं, भगवान् से कभी अलग ही नहीं हो सकते| भगवान् कभी जीवों से अलग नहीं होते अतः प्राणी कहीं भी रहें, वह कभी भी भगवान् की दृष्टि से ओझल नहीं हो सकते|

जो मूढ़ प्रभु को साधारण मनुष्य की भांति जन्म-मरण वाला मानते हैं, उन मूढ़ों में से कोई भी प्रभु को नहीं जानता, पर प्रभु सब को जानते हैं| जैसे बाँस की चिक दरवाजे पर लटका देने से भीतर वाले तो बाहर वालों को पूर्णतया देख सकते हैं, पर बाहर वाले केवल द्वार पर टँगी हुई चिक को ही देखते हैं, भीतर वालों को नहीं| उसी प्रकार माया रूपी चिक से अच्छी तरह आवृत होने के कारण भगवान् को मूढ़ लोग नहीं देख पाते, पर भगवान् सब को देखते हैं| यहाँ एक शंका हो सकती है कि भगवान् जब भविष्य में होने वाले सब प्राणियों को जानते हैं, तो किसकी मुक्ति होगी और कौन बन्धन में रहेगा, यह भी जानते होंगे, क्योंकि भगवान् का ज्ञान तो नित्य है| अतः वह जिनकी मुक्ति जानते हैं, उनकी तो मुक्ति होगी और जिनको बन्धन में जानते हैं, वह बन्धन में ही रहेंगे| भगवान् की इस सर्वज्ञता से तो मनुष्य की मुक्ति परतन्त्र हो गई, मनुष्य के प्रयत्न से साध्य नहीं रही| इसका समाधान यह है कि भगवान् ने अपनी ओर से मनुष्य को अन्तिम जन्म दिया है| अब इस जन्म में मनुष्य अपना उद्धार कर ले अथवा पतन कर ले, यह उसके ऊपर निर्भर करता है| उसके उद्धार अथवा पतन का

निर्णय भगवान् नहीं करते| 'सब कुछ वासुदेव ही है', ऐसे भाव से जो प्रभु की शरण में चला जाता है, वह महात्मा है| इसका तात्पर्य यह हुआ कि मनुष्य शरीर में सम्पूर्ण प्राणियों को यह स्वतन्त्रता है कि वह अपने अनन्त जन्मों के संचित कर्म का नाश कर भगवान् को प्राप्त कर सकते हैं, अपनी मुक्ति कर सकते हैं| यदि यही माना जाए कि कौन सा प्राणी आगे किस गति में जाएगा, ऐसा भगवान् का संकल्प है तो फिर अपना उद्धार करने में मनुष्य की स्वतन्त्रता ही नहीं रहेगी| तब तो भगवान्, सन्त, शास्त्र, गुरु आदि का उपदेश भी व्यर्थ हो जायेगा| इसके अतिरिक्त जो मनुष्य जिस देवी, देवता की उपासना करना चाहता है, उस देवी, देवता के प्रति उसकी श्रद्धा दृढ़ हो जाएगी| अन्त समय में मनुष्य जिस भाव का स्मरण करके शरीर छोड़ता है, वह उस को ही प्राप्त होता है, इस तरह उपासना और अन्त कालीन स्मरण में भी स्वतन्त्रता नहीं रहेगी, जो भगवान् ने मनुष्य को दे रखी है| बिना कारण कृपा करने वाले प्रभु जीव को मनुष्य शरीर देते हैं जिससे यह जीव मनुष्य शरीर पाकर स्वतन्त्रता से अपना कल्याण कर ले| मनुष्य को विवेक और उद्धार की पूरी सामग्री देकर भगवान् ने कहा है कि तू अपना उद्धार कर ले अर्थात् अपने उद्धार में तू केवल निमित्त मात्र बन जा, मेरी कृपा तेरे साथ है| इस मनुष्य शरीर रूपी नौका को पाकर प्रभु की कृपा रूपी अनुकूल हवा से जो भवसागर को नहीं तरता, अर्थात् अपना उद्धार नहीं करता वह आत्म-हत्यारा है, 'मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा'| भगवान् ने कहा है कि जो परमात्मा को सब जगह समान रीति से परिपूर्ण देखता है, वह अपनी हत्या नहीं करता, इसलिये वह परम गति को प्राप्त होता है| इससे यह सिद्ध हुआ कि मनुष्य शरीर प्राप्त होने पर अपना उद्धार करने का अधिकार, सामर्थ्य, समझ आदि पूरी सामग्री मिलती है| ऐसा अमूल्य अवसर पाकर भी जो अपना उद्धार नहीं करता वह अपनी हत्या करता है, और इसी से वह जन्म-मरण में पड़ जाता है| अगर यह जीव मनुष्य शरीर पाकर शास्त्र और भगवान् से विरुद्ध न चले तथा मिली हुई सामग्री का भली भांति उपयोग करे, तो इसकी मुक्ति स्वतः सिद्ध है| मनुष्य के लिये यह विशेष है कि भगवान् ने कृपा करके जो सामर्थ्य, समझ आदि सामग्री दी है, उसका वह दुरुपयोग नहीं करे| भगवान् के सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं चले| ऐसा वह अटल निश्चय कर ले और उस निश्चय पर डटा रहे, अपनी सामर्थ्य का कभी दुरुपयोग न करे, तो मुक्ति स्वतः संभव है|

भगवान् की दी हुई स्वतन्त्रता के कारण भगवान् ऐसा संकल्प कभी नहीं करते कि जीव के कितने जन्म होंगे| इतना अवश्य है कि मनुष्य के अतिरिक्त दूसरे प्राणियों के पीछे परम्परा से कर्म फलों का ताँता लगा हुआ है, जिससे वह बार बार जन्म-मरण के चक्र में रहते हैं| ऐसी परम्परा में पड़े हुए जीवों में से कोई जीव किसी कारण से मनुष्य शरीर में अथवा किसी अन्य योनि में भी प्रभु के चरणों की शरण हो जाता है तो भगवान् उसके अनन्त जन्मों के पापों को नष्ट कर देते हैं| गोस्वामी तुलसी दास जी कहते हैं:

'कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू।।'
सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं।।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परन्तप।।७-२७।।

हेतु इच्छा होते द्वेष द्वन्द्व मोह उत्पन्न हे अर्जुन|
उत्पत्ति काल में मोह से पड़ें चक्र जन्म-मरण भूजन||७-२७||

भावार्थ: *हे अर्जुन, इच्छाओं के (कामना) कारण द्वेष, द्वन्द्व, मोह उत्पन्न होते हैं| उत्पत्ति काल में ही इनसे मोहित हो प्राणी जन्म-मरण के चक्र में पड़ जाता है|*
टीका: इच्छा से द्वेष, द्वन्द्व, मोह आदि पैदा होते हैं, जिससे मोहित होकर प्राणी भगवान् से विमुख हो जाते हैं, और विमुख होने से बार बार संसार में जन्म-मरण के चक्र में पड़ जाते हैं| प्रभु की प्राप्ति जो कि जीवन का लक्ष्य है, उसके लिए मनुष्य को संसार से विमुख होकर केवल भगवान् में ही ध्यान लगाने की आवश्यकता है| स्मरण रहे कि यह मनुष्य शरीर विवेक प्रधान है, अतः मनुष्य की प्रवृत्ति और निवृत्ति पशु, पक्षियों की तरह न होकर अपने विवेक के अनुसार होनी चाहिए| परन्तु प्रायः मनुष्य अपने विवेक को महत्व न देकर राग और द्वेष को लेकर ही प्रवृत्ति और निवृत्ति करता है, जिससे उसका पतन होता है| मनुष्य की दो मनोवृत्तियाँ हैं, प्रथम उचित दिशा में मनोवृतियों को लगाना और द्वितीय अनुचित दिशा से मनोवृतियों को हटाना| मनुष्य जीवन लक्ष्य प्राप्ति हेतु मनुष्य को परमात्मा में अपनी वृत्ति लगानी है और संसार से अपनी वृत्ति हटानी है,

अर्थात् परमात्मा से प्रेम करना है और संसार से वैराग्य करना है| परन्तु इन दोनों वृत्तियों को जब मनुष्य केवल संसार में ही लगा देता है तब यह प्रेम और वैराग्य क्रमशः राग और द्वेष का रूप धारण कर लेते हैं, जिससे मनुष्य संसार में उलझ जाता है और भगवान् से सर्वथा विमुख हो जाता है| फिर भगवान् की ओर मुड़ने का अवसर ही नहीं मिलता| कभी कभी वह सत्संग की बातें भी सुनता है, शास्त्र भी पढ़ता है, अच्छी बातों पर विचार भी करता है, मन में अच्छी बातें पैदा भी हो जाती हैं, फिर भी उसके मन में राग के कारण यह बात गहरी बैठी रहती है कि मुझे तो सांसारिक अनुकूलता को ही प्राप्त करना है और प्रतिकूलता को हटाना है| इसी उद्देश्य को वह महत्वपूर्ण समझ लेता है| इस कारण वह हृदय में दृढ़ता से राग, द्वेष को पकड़े रखता है, जिससे सुनने, पढ़ने और विचार करने पर भी उसकी वृत्ति राग, द्वेष रूप द्वन्द्व को नहीं छोड़ती| इसी से वह परमात्मा की ओर नहीं मुड़ पता| संसार में राग-द्वेष, काम-क्रोध, अनुकूलता-प्रतिकूलता आदि द्वन्द्व रहने से मूढ़ता दृढ़ होती है, और मनुष्य का पतन हो जाता है| जब कामना को लेकर मनोवृत्ति का प्रवाह संसार की ओर हो जाता है तब सांसारिक अनुकूलता और प्रतिकूलता को लेकर राग, द्वेष हो जाते हैं| इसलिए प्रभु द्वन्द्व रहित होने की आज्ञा दे रहे हैं, 'निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते'| सुख, दुःख आदि द्वन्द्वों से रहित होकर भक्तजन अविनाशी पद को प्राप्त होते हैं, 'द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्'| भगवान् ने द्वन्द्व को मनुष्य का विशेष शत्रु बताया है| जो द्वन्द्व, मोह से रहित होते हैं वह दृढ़ व्रती होकर भगवान् का भजन करते हैं|

इसी राग, द्वेष के कारण मनुष्य जन्म-मरण के चक्र में पड़ जाता है| जन्म-मरण चक्र का विशेष कारण राग के प्रति परिस्थिति का दुरुपयोग है| फलेच्छा पूर्वक शास्त्रविहित कर्म करने से और प्राप्त परिस्थिति का दुरुपयोग करने से अर्थात् भगवद आज्ञा के विरुद्ध कर्म करने से सत्, असत् योनियों की प्राप्ति होती है, अर्थात् चौरासी लाख योनि और नर्क आदि प्राप्त होते हैं| प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करने से सम्मोह अर्थात् जन्म-मरण मिट जाता है| राग रहित होकर परिस्थिति का दुरुपयोग न करने का निर्णय होने पर सदुपयोग अपने आप होने लगेगा, अर्थात् शास्त्र और लोक मर्यादा के अनुकूल काम होने लगेगा| इससे स्वतः ही कर्तृत्व अभिमान और फलेच्छा का त्याग होने से, अर्थात् बन्धन का

अभाव होने से मुक्ति सिद्ध हो जाती है| प्रायः साधकों में यह बात गहराई से बैठी हुई है कि साधना, भजन, जप, ध्यान आदि करने का विभाग अलग है और सांसारिक काम करने का विभाग अलग है| इन दो विभागों के कारण साधक भजन, ध्यान आदि को तो बढ़ावा देते हैं पर सांसारिक काम करते हुए राग, द्वेष, काम, क्रोध आदि की ओर ध्यान नहीं देते, प्रत्युत ऐसी दृढ़ भावना बना लेते हैं कि काम करते हुए तो राग, द्वेष होते ही हैं यह मिटने वाले नहीं हैं| इस भावना से भारी अनर्थ यह होता है कि साधक के राग, द्वेष बने रहते हैं जो उसकी साधना में शीघ्र उन्नति नहीं होने देते| वास्तव में साधक चाहे पारमार्थिक कार्य करे अथवा सांसारिक, उसके अन्तःकरण में राग, द्वेष नहीं रहने चाहिए| पारमार्थिक और सांसारिक क्रियाओं में भेद होने पर भी साधक के भाव में भेद नहीं होना चाहिए, अर्थात् पारमार्थिक और सांसारिक दोनों क्रियाएँ करते समय साधक का भाव एक ही रहना चाहिए कि मैं साधक हूँ, और मुझे भगवत प्राप्ति करनी है| क्रिया भेद रहने पर भी भाव भेद नहीं होना चाहिए| भाव भेद न रहने से अर्थात् एक भगवत् प्राप्ति का ही भाव (उद्देश्य) रहने से पारमार्थिक और सांसारिक दोनों ही क्रियाएँ साधना बन जाएंगी|

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ।।७-२८।।

होते रहित द्वन्द्व मोह हुए नष्ट अघ जिन महात्मन |
होकर दृढ़व्रती वह भक्त करते केवल मेरा भजन ||७-२८||

भावार्थ: *जिन महात्माओं के पाप नष्ट हो जाते हैं, वह द्वन्द्व, मोह से निर्मुक्त हो जाते हैं| ऐसे भक्त दृढ़व्रती होकर केवल मेरा भजन ही करते हैं|*

टीका: द्वन्द्व, मोह से मोहित मनुष्य प्रभु का स्मरण नहीं कर पाते| जिन मनुष्यों ने अपने को भगवत प्राप्ति उद्देश्य को अर्पित कर दिया है, वह जानते हैं कि यह मनुष्य शरीर भोग भोगने के लिये नहीं है, प्रत्युत भगवान् की कृपा से केवल उनकी प्राप्ति के लिये ही मिला है| प्रभु की प्राप्ति ही जिनका दृढ़ निश्चय हो जाता है, वह मनुष्य ही महात्मा हैं| इस प्रकार के दृढ निश्चय से जो शुद्धि होती

है, पवित्रता आती है, वह यज्ञ, दान, तप आदि क्रियाओं से भी नहीं आती| इस दृढ निश्चय से भगवान् की सम्मुखता होने से उनसे विमुखता समाप्त हो जाएगी, यही पुण्य है| भगवान् से विमुख होना पाप है| जब मनुष्य भगवान् के सर्वथा शरण हो जाता है तब उसके पापों का अन्त हो जाता है| जिनका लक्ष्य केवल भगवान् की प्राप्ति है, वही महात्मा हैं क्योंकि भगवान् का लक्ष्य होने पर सब पाप नष्ट हो जाते हैं और मनुष्य की आत्मा पावन एवं महान हो जाती है| भगवान् प्राप्ति का लक्ष्य होने पर पुराने किसी संस्कार से पाप हो गया हो तो वह भी नष्ट हो जाता है क्योंकि हृदय में विराजमान भगवान् उस पाप को नष्ट कर देते हैं|

महात्मा/ पुण्यकर्मा मनुष्य द्वन्द्व, मोह से रहित होकर और दृढ़व्रती होकर भगवान् का भजन करते हैं| द्वन्द्व कई प्रकार का होता है:

(१) भगवान् में चित्त लगाएं या संसार में? क्योंकि परलोक के लिये भगवान् का भजन आवश्यक है और इहलोक के लिये संसार के कार्यों में चित्त लगाना आवश्यक है|

(२) वैष्णव, शैव, शाक्त, गाणपत, सौर, इत्यादि अनेक सम्प्रदाय हैं, इन में से किस को चुनें?

(३) परमात्मा के स्वरूप के विषय में द्वैत-अद्वैत, विशिष्टाद्वैत-शुद्धाद्वैत, अचिन्त्य भेदा-भेद, आदि कई तरह के सिद्धान्त हैं| किस सिद्धान्त को स्वीकार करें?

(४) परमात्मा की प्राप्ति के भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, ध्यानयोग, हठयोग, लययोग, मन्त्रयोग, आदि कई मार्ग हैं| किस मार्ग को चुनें?

(५) संसार में होने वाले अनुकूल-प्रतिकूल हर्ष-शोक, उचित-अनुचित, सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि सभी द्वन्द्व हैं| इनसे कैसे मुक्ति पाएं?

उपर्युक्त सभी पारमार्थिक और सांसारिक द्वन्द्व, से मुक्त हुए मनुष्य दृढ़व्रती होकर भगवान् का भजन करते हैं| मनुष्य का एक ही पारमार्थिक उद्देश्य हो

जाए तो पारमार्थिक और सांसारिक सभी द्वन्द्व मिट जाते हैं| पारमार्थिक उद्देश्य वाले साधक अपनी रुचि योग्यता और श्रद्धा विश्वास के अनुसार अपने इष्ट को सगुण मानें, साकार मानें, निर्गुण मानें, निराकार मानें, द्विभुज मानें, चतुर्भुज मानें, अथवा सहस्रभुज मानें, पर संसार की विमुखता एवं परमात्मा की सम्मुखता ही उनका उद्देश्य होना चाहिए| सभी द्वन्द तब स्वतः ही मिट जाएंगे|

साधक को दृढ़ निश्चयता से केवल परमात्मा की ओर ही चलने का लक्ष्य होना चाहिए| वह परमात्मा द्वैत है, अद्वैत है, शुद्धाद्वैत है, विशिष्टाद्वैत है, सगुण है, निर्गुण है, द्विभुज है, चतुर्भुज है, आदि के चक्र में नहीं पड़ना चाहिए| ऐसे निश्चय से साधक दृढ़व्रती हो जाते हैं| परमात्मा की ओर चलने वालों के समक्ष प्रायः तीन विचार आते हैं, परमात्मा कैसे हैं, जीव कैसा है, और जगत् कैसा है? उनके हृदय में इनका सीधा उत्तर होना चाहिए कि केवल परमात्मा ही सब हैं, और किसी से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं| इतना ही समझना पर्याप्त है कि जगत् त्याज्य है और इसका त्याग करना है| संसार से विमुख होकर परमात्मा के सम्मुख होना है, यही सम्पूर्ण दर्शनों का सार है और यही दृढ़व्रती होना है| स्मरण रहे कि दृढ़व्रती होने से समस्त द्वन्द्व नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि एक निश्चय न होने से ही द्वन्द्व रहते हैं| जैसे पतिव्रता स्त्री पति के परायण ही रहती है, ऐसे ही भगवान् के परायण रहना ही उनका भजन है|

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ।।७-२९।।

हेतु मुक्ति जरण व् मरण आए जो साधक मेरी शरन |
है वह ज्ञानी ब्रह्म अध्यात्म व् सभी कर्म अर्जुन ||७-२९||

भावार्थ: *वृद्धावस्था एवं मरण से मुक्ति पाने के लिए जो साधक मेरी शरण आता है, हे अर्जुन , वह ब्रह्म, अध्यात्म एवं सभी कर्मों का ज्ञानी है|*

टीका: प्रभु कह रहे हैं कि जो साधक मेरी शरण आ जाता है, वह वृद्धावस्था एवं मृत्यु से मुक्ति पा लेता है| वृद्धावस्था एवं मरण से मुक्त पाने का तात्पर्य यहां

शरीर के साथ सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद होना है| जब मनुष्य शरीर के साथ तादात्म्य (मैं शरीर हूँ) मान लेता है तब शरीर के वृद्ध होने पर 'मैं वृद्ध हो गया', और शरीर के मरने की अवस्था पर 'मैं मर जाऊँगा,' ऐसा मानता है| यह मान्यता 'शरीर मैं हूँ और शरीर मेरा है' इस विचार पर टिकी हुई है| प्रभु कहते हैं, 'जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्', अर्थात् जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था और व्याधि में दुःख रूप दोषों को देखने का सम्बन्ध शरीर के साथ तादाम्य है| जब मनुष्य 'मैं और मेरापन' से मुक्त हो जाता है तब वह जरा (वृद्धावस्था) एवं मरण आदि दोषों से भी मुक्त हो जाता है| स्मरण रहे कि शरीर के साथ माना हुआ सम्बन्ध ही वास्तव में जन्म-मरण का कारण है, 'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'| जब तक मनुष्य शरीर और संसार को स्थाई मानकर उसे महत्ता देता रहेगा, तब तक साधना करने पर भी उसको भगवत प्राप्ति नहीं होगी| यदि वह शरीर और संसार को स्थाई न मानते हुए उसको महत्व न दे तो भगवत प्राप्ति में देरी नहीं लगेगी| अतः इन दोनों बाधाओँ को, अर्थात् शरीर और संसार की स्वतन्त्र सत्ता को और महत्ता को विचारपूर्वक हटाना एवं प्रभु का भजन करना ही प्रभु की शरण जाना है|

जब मनुष्य प्रभु की शरण में आ जाता है तो प्रभु के स्वरूप को जान जाता है, सच्चिदानन्द ब्रह्म को जान जाता है| परमात्मा का वह साक्षात् अपरोक्ष रूप से अनुभव कर लेता है| स्मरण रहे कि परमात्मा की सत्ता प्राणी में स्वतः सिद्ध है| वह सर्वव्यापी है, अतः ब्रह्म को जानते ही वह सम्पूर्ण अध्यात्म को भी जान जाता है| अध्यात्म को जानने का तात्पर्य है, सम्पूर्ण जीव तत्व का ज्ञान| वह जान जाता है कि आत्मा शरीर से भिन्न है| भगवान् के आश्रय से साधक का जब क्रियाओं और पदार्थों में सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है तब वह अध्यात्म का ज्ञान प्राप्त कर लेता है| अनन्त जन्मों तक अनन्त क्रियाओं और शरीरों के साथ एकता करने पर भी उनकी एकता कभी नहीं हो सकती, और अनन्त जन्मों तक अपने स्वरूप का बोध न होने पर भी वह अपने स्वरूप से कभी अलग नहीं हो सकता, यही सम्पूर्ण अध्यात्म तत्व को जानना है|

वह सम्पूर्ण कर्मों के वास्तविक तत्व को भी जान जाता है| अर्थात् सृष्टि की रचना क्यों होती है, कैसे होती है और भगवान् कैसे करते हैं, इसका ज्ञान भी उसे हो

जाता है| उदाहरण के लिए भगवान् ने चार वर्णों की रचना क्यों की है? उस रचना में जीवों के गुण और कर्म क्या हैं? कर्म अनुसार किस प्रकार योनि मिलती है? विभिन्न वर्णों में जन्म लेने से भगवान् से क्या सम्बन्ध रहता है? भगवान् में कर्तृत्व और फलेच्छा क्यों नहीं है? इस प्रकार ज्ञान प्राप्त कर मनुष्य परिस्थिति के अनुरूप कर्तव्य कर्म जो फलासक्ति से रहित है, करते हुए संसार बंधन से मुक्ति पा लेता है| उसे अनुभव हो जाता है कि कर्म फल के साथ निर्लिप्तता ही अखिल कर्म है| जो अनन्य भाव से केवल भगवान् का आश्रय लेता है उसका प्राकृत क्रियाओँ और पदार्थों का आश्रय छूट जाता है| उसे ज्ञान हो जाता है कि ब्रह्मलोक तक की कोई भी क्रिया और पदार्थ नित्य रहने वाला नहीं है| अतः कर्मों के साथ मेरा किंचित मात्र भी सम्बन्ध नहीं है| यही अखिल कर्म का ज्ञान है| इसका तात्पर्य है कि भगवान् का आश्रय लेकर चलने वाले ब्रह्म अध्यात्म और कर्म के वास्तविक तत्व को जान जाते हैं, अर्थात् भगवान् ने जैसे कहा है कि यह सम्पूर्ण संसार मेरे में ही ओतप्रोत है, और सब कुछ वासुदेव ही है, ऐसे भगवान् के समग्र रूप को वह जान जाते हैं| ब्रह्म, अध्यात्म और कर्म, यह सभी भगवत् स्वरुप ही हैं| भगवान् के अतिरिक्त इनमें दूसरी कोई सत्ता नहीं है|

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ।।७-३०।।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मेविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोग नाम सप्तमऽध्यायः ।।

जानें जो मुझे सहित अधिभूत अधिदैव अधियज्ञ जन ।
समझ सकें मुझे अंत काल वह युक्तचित्त बुद्धिवन ।।७-३०।।

करते हुए ओम तत सत पूर्ण भगवन्नाम उच्चारन ।
ब्रह्मविद्या योगशास्त्रमय महाग्रंथ गीतबंधन ।।
श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषदरूप ग्रन्थ अति पावन ।
श्री कृष्णार्जुन संवाद ज्ञानविज्ञानयोग नामन ।।
हुआ अत्र सम्पूर्ण सप्तम अध्याय करे कल्याण जन ।।

भावार्थ: *जो प्राणी अधिभूत, अधिदैव तथा अधियज्ञ के सहित मुझे जानते हैं, वह युक्तचित्त ज्ञानी अन्तकाल में मुझे समझ लेते हैं|*

इस प्रकार उपनिषद, ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र रूप श्रीमद्भगवद्गीता के श्री कृष्ण-अर्जुन संवाद में 'ज्ञानविज्ञानयोग' नामक सप्तम अध्याय संपूर्ण हुआ|

टीका: अधिभूत नाम भौतिक स्थूल सृष्टि का है जिसमें तमोगुण की प्रधानता है| यद्यपि जितनी भी भौतिक सृष्टि है, उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है| उसका क्षण मात्र भी स्थायित्व नहीं है| फिर भी यह भौतिक सृष्टि सत्य दिखाई देती है, अर्थात् इसमें सत्यता, स्थिरता, सुखता, श्रेष्ठता और आकर्षण दिखाई देता है| यह सब गुण वास्तव में भगवान् के ही हैं, क्षण भंगुर संसार के नहीं| उदाहरण के रूप में जैसे बर्फ की सत्ता जल के बिना नहीं हो सकती, ऐसे ही भौतिक स्थूल सृष्टि अर्थात् अधिभूत की सत्ता भगवान् के बिना नहीं हो सकती| इस प्रकार तत्व से यह संसार भगवत् स्वरुप ही है, ऐसा जानना ही अधिभूत के सहित भगवान् को जानना है। अधिदैव नाम सृष्टि की रचना करने वाले हिरण्यगर्भ ब्रह्मा जी का है, जिनमें रजोगुण की प्रधानता है| भगवान् ही ब्रह्मा जी के रूप में प्रकट होते हैं, अर्थात् तत्व से ब्रह्मा जी भगवत् स्वरुप ही हैं ऐसा जानना ही अधिदैव के सहित भगवान् को जानना है| अधियज्ञ नाम भगवान् विष्णु का है जो अन्तर्यामी रूप से सब में व्याप्त हैं, और जिनमें सत्त्वगुण की प्रधानता है| तत्व से भगवान् ही अन्तर्यामी रूप से सब में परिपूर्ण हैं, ऐसा जानना ही अधियज्ञ के सहित भगवान् को जानना है| अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ के सहित भगवान् को जानने का तात्पर्य है कि भगवान् के शरीर के एक अंश में विराट् रूप है और उस विराट् रूप में अधिभूत (अनन्त ब्रह्माण्ड) अधिदैव (ब्रह्मा जी) और अधियज्ञ (विष्णु) आदि सभी उपस्थित हैं| जैसा कि अर्जुन ने कहा है कि 'हे देव, मैं आपके शरीर में सम्पूर्ण प्राणियों को जिनकी नाभि से कमल निकला है, उन विष्णु को कमल पर विराजमान ब्रह्म को और शंकर आदि को देख रहा हूँ', अतः तत्व से अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ भगवान् ही हैं| श्री कृष्ण ही समग्र भगवान् हैं, 'प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः'| जो मनुष्य संसार के भोगों और संग्रह की प्राप्ति, अप्राप्ति में समान रहने वाले हैं, वह पुरुष युक्तचेता हैं| युक्तचेता मनुष्य अन्त काल में प्रभु को समझ जाते हैं, अर्थात् अन्त काल की पीड़ा आदि

में भी वह प्रभु के अटल रूप में ही स्थित रहते हैं| उनकी ऐसी दृढ़ स्थिति होती है कि स्थूल और सूक्ष्म शरीर में हलचल होने पर भी वह किंचित मात्र भी विचलित नहीं होते|

अध्याय ८: अक्षरब्रह्मयोग

अर्जुन उवाच
किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ।।८-१।।
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ।।८-२।।

अर्जुन उवाच
छंद:
हैं क्या ब्रह्म अध्यात्म अधिभूत अधिदैव व् करन |
देखें कौन रूप हरि किए जिन वशीभूत अन्तःकरन ||८-१||
है अधियज्ञ क्या रहता कैसे वह स्थित इस मनुज तन |
कैसे जानें हरि अंतकाल संयत चित्त जन बोले अर्जुन ||८-२||

भावार्थ: *अर्जुन बोले, 'ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत एवं अधिदैव क्या हैं? जिन प्राणियों ने अपने अन्तःकरण को वश में कर लिया है, वह भगवान् को किस रूप में देखते हैं? अधियज्ञ क्या है और वह इस शरीर में कैसे स्थित रहता है? संयत चित्त पुरुष अन्त समय में भगवान् को किस प्रकार जानते हैं?'*

टीका: अर्जुन की जिज्ञासा बढ़ गई है| वह प्रभु से ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत एवं अधिदैव के बारे में विस्तृत पूर्वक जानना चाहते हैं| उनके मन में शंका है कि जिन प्राणियों ने अपने अन्तःकरण को वश में कर लिया है, वह प्रभु को किस रूप में देखते हैं? अधियज्ञ के विषय में भी उनकी जानने की जिज्ञासा है| अर्जुन की जिज्ञासा है कि यह अधियज्ञ क्या है और वह मानव शरीर में कैसे स्थित रहता है? जिनका चित्त संसार से सर्वथा हटकर अनन्य भाव से केवल प्रभु में ही लगा हुआ है, वह अन्त काल में प्रभु के किस रूप को देखते हैं?

श्रीभगवानुवाच
अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ।।८-३।।

श्रीभगवानुवाच
हेतु निवारण जिज्ञासा अर्जुन तब बोले मधुसूदन।
है परम अक्षर तत्व ब्रह्म और अध्यात्म स्वरूप जन ॥
है कर्म प्रेरक बल जो करे मनुज भूत भाव उत्पन्न ॥८-३॥

भावार्थ: *अर्जुन की जिज्ञासा निवारण करने के लिए तब भगवान् कृष्ण बोले| परम अक्षर (अविनाशी) तत्व ब्रह्म है एवं प्राणियों का स्वरुप (प्रकृति) अध्यात्म है| मनुष्यों में भूत भाव उत्पन्न करने वाला प्रेरक बल कर्म है|*

टीका: भगवान् अर्जुन को कहते हैं कि परम अक्षर (अविनाशी) का नाम ही ब्रह्म है| यद्यपि शास्त्रों में ब्रह्म शब्द प्रणव, वेद, प्रकृति आदि का वाचक भी है तथापि प्रभु ने यहाँ ब्रह्म शब्द का अर्थ परम और अक्षर बताने से स्पष्ट किया है कि यह शब्द सर्वोपरि सच्चिदानन्द अविनाशी निर्गुण निराकार परमात्मा का वाचक है| परा प्रकृति, अर्थात स्वभाव को ही अध्यात्म कहा गया है| अर्थात् जीव के अस्तित्व का नाम ही अध्यात्म है|

जितने भी प्राणी विश्व में हैं, उनके अस्तित्व का विसर्ग (त्याग) ही कर्म है| महाप्रलय के समय प्रकृति की अक्रिय अवस्था मानी जाती है तथा महासर्ग के समय प्रकृति की सक्रिय अवस्था मानी जाती है| इस सक्रिय अवस्था का कारण भगवान् का संकल्प है| इसी संकल्प से सृष्टि की रचना होती है| इसका तात्पर्य है कि महाप्रलय के समय अहंकार और कर्मों के सहित प्राणी प्रकृति में लीन हो जाते हैं और उन प्राणियों के सहित प्रकृति एक प्रकार से परमात्मा में लीन हो जाती है| उस लीन हुई प्रकृति को विशेष क्रियाशील करने के लिये भगवान् का पूर्वोक्त संकल्प ही विसर्ग अर्थात त्याग है| भगवान् का यह संकल्प ही कर्मों का आरम्भ है जिससे प्राणियों की कर्म परम्परा चल पड़ती है| स्मरण रहे कि

महाप्रलय में प्राणियों के कर्म नहीं बनते प्रत्युत उसमें प्राणियों की सुषुप्त अवस्था रहती है| महासर्ग के आदि से कर्म आरम्भ हो जाते हैं|

परमात्मा की मूल प्रकृति का नाम महद ब्रह्म है| उस प्रकृति में लीन हुए जीवों का प्रकृति के साथ विशेष सम्बन्ध करा देना अर्थात् जीवों का अपने कर्मों के फल स्वरूप शरीरों के साथ सम्बन्ध करा देना ही परमात्मा के द्वारा प्रकृति में गर्भ स्थापन करना है| पृथक योनियों में जो पृथक शरीर पैदा होते हैं, उन शरीरों की उत्पत्ति में प्रकृति हेतु है और उनमें जीव रूप से भगवान् का अंश है, 'ममैवांशो जीवलोके'| इस प्रकार प्रकृति और पुरुष के अंश से सम्पूर्ण प्राणी पैदा होते हैं|

स्थावर, जंगम जितने भी प्राणी उत्पन्न होते हैं वह सब क्षेत्र (प्रकृति) और क्षेत्रज्ञ (पुरुष) के संयोग से ही होते हैं| क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ का विशेष संयोग अर्थात् स्थूल शरीर धारण कराने के लिये भगवान् का संकल्प रूप विशेष सम्बन्ध ही स्थावर, जंगम प्राणियों के स्थूल शरीर पैदा होने का कारण है| उस संकल्प के होने में भगवान् का कोई अभिमान नहीं है, प्रत्युत जीवों के जन्म-जन्मान्तरों के जो कर्म संस्कार हैं, वह महाप्रलय के समय परिपक्व होकर जब फल देने के लिये उन्मुख होते हैं, तब भगवान् का संकल्प होता है| इस प्रकार जीवों के कर्मों की प्रेरणा से भगवान् का कई रूपों में प्रकट होने का संकल्प होता है| मनुष्य के द्वारा विहित और निषिद्ध जितनी क्रियाएँ होती हैं उन सब क्रियाओं का नाम कर्म है| इसका तात्पर्य है कि मुख्य कर्म तो भगवान् का संकल्प है, तत्पश्चात कर्म परम्परा चलती है|

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ।।८-४।।

है नश्वर अधिभूत और हिरण्यगर्भ अधिदेव भगवन |
समझो मुझे अधियज्ञ इस नर तन रूप कुन्तीनन्दन ||८-४||

भावार्थ: *हे अर्जुन, (पंचमहाभूत) नश्वर (वस्तु) अधिभूत और हिरण्यगर्भ भगवन (पुरुष) अधिदैव है| इस मनुष्य शरीर में मुझे ही अधियज्ञ समझो|*

टीका: पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश, इन पञ्च महाभूतों से बनी प्रतिक्षण परिवर्तनशील और नाशवान् सृष्टि को अधिभूत कहते हैं| अधिदैव आदि पुरुष हिरण्यगर्भ ब्रह्मा का वाचक शब्द है| महासर्ग के आदि में भगवान् के संकल्प से सबसे पहले ब्रह्मा जी प्रकट होते हैं, तत्पश्चात वह सर्ग के आदि में सृष्टि की रचना करते हैं|

प्रभु कहते हैं कि इस नर देह में वह ही अधियज्ञ हैं| अर्थात् यद्यपि श्री कृष्ण इस समय नर शरीर में हैं, परन्तु वह अन्तर्यामी भगवान् हैं, 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति', अन्तर्यामी प्रभु सबके हृदय में विराजमान हैं|

स्मरण रहे कि अन्य योनियों में तो पूर्व कृत कर्मों का भोग मिलता है, नए कर्म नहीं बनते, पर इस मनुष्य शरीर में नए कर्म भी बनते हैं| उन कर्मों के प्रेरक अन्तर्यामी भगवान् ही हैं| जब मनुष्य राग, द्वेष नहीं करता तब उसके सब कर्म भगवान् की प्रेरणा से शुद्ध होते हैं, अर्थात् बन्धन कारक नहीं होते| जब वह दुर्भाग्य से राग, द्वेष के कारण भगवान् की प्रेरणा के अनुसार कर्म नहीं करता, तब उसके कर्म बन्धन कारक होते हैं| राग और द्वेष मनुष्य के महान् शत्रु हैं| भगवान् की प्रेरणा से कभी निषिद्ध कर्म नहीं होते| श्रुति और स्मृति ही भगवान् की आज्ञा है , 'श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे'| निषिद्ध कर्म मनुष्य कामना के वशीभूत होकर करता है| अगर मनुष्य कामना के वशीभूत न हो तो उसके द्वारा स्वाभाविक ही विहित कर्म होंगे, जिन्हें सहज स्वभाव नियत कर्म कहा गया है| देहधारियों में वही मनुष्य श्रेष्ठ है जो इस देह में परमात्मा का ज्ञान प्राप्त कर लेता है| कण कण में परमात्मा का अनुभव करना ही मनुष्य जन्म का विशेष ध्येय है| इस ध्येय की सिद्धि के लिये परमात्मा की आज्ञा के अनुसार ही कार्य करना है| अधियज्ञ, अधिदैव, अध्यात्म और कर्म, इनको समझने के लिए जल का दृष्टान्त दिया जाता है| जैसे जब आकाश स्वच्छ होता है तब हमारे और सूर्य के मध्य में कोई पदार्थ न दिखने पर भी वास्तव में वहां परमाणु रूप से जल तत्व रहता है| वही जल तत्व भाप बनता है और भाप के घनीभूत होने पर बादल

बनता है| बादल में जो जल कण रहते हैं उनके मिलने से बूँदें बन जाती हैं| उन बूँदों में जब ठंडक के संयोग से घनता आ जाती है, तब वह ही बूँदें ओले (बर्फ) बन जाती हैं| यह जल तत्व का स्थूल रूप है| ऐसे ही निर्गुण निराकार ब्रह्म परमाणु रूप से जल तत्व है| अधियज्ञ (व्यापक विष्णु) भाप रूप से जल है| अधिदैव (हिरण्यगर्भ) बादल रूप से जल है| अध्यात्म (अनन्त जीव) बूँद रूप से जल है| कर्म (सृष्टि रचना रूप कर्म) वर्षा की क्रिया है, और अधिभूत (भौतिक सृष्टि) हिम रूप से जल है|

इस वर्णन का तात्पर्य यह हुआ कि जैसे एक ही जल परमाणु भाप, बादल वर्षा की क्रिया बूँद, और ओले (हिम) के रूप से भिन्न भिन्न रूप में दिखता है पर वास्तव में वह एक ही है| उसी प्रकार एक ही परमात्म-तत्व ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ के रूप से भिन्न भिन्न प्रतीत होते हुए भी तत्वतः एक ही है, 'वासुदेवः सर्वम्'| तात्त्विक दृष्टि से सब कुछ वासुदेव ही है| इसे जब विवेक दृष्टि से देखते हैं तब शरीर-शरीरी (आत्मा), प्रकृति-पुरुष, ऐसे दो भेद प्रतीत होते हैं| उपासना की दृष्टि से देखते हैं तो उपास्य (परमात्मा), उपासक (जीव) और त्याज्य (प्रकृति का कार्य, संसार), यह तीन भेद प्रतीत होते हैं| इन तीनों को समझने के लिये शास्त्र में छः भेद दिए गए हैं| परमात्मा के दो भेद, ब्रह्म (निर्गुण) और अधियज्ञ (सगुण), जीव के दो भेद, अध्यात्म (सामान्य जीव जो कि बद्ध हैं) और अधिदैव (कारक पुरुष जो कि मुक्त हैं) एवं संसार के दो भेद, कर्म (जो कि परिवर्तन का पुञ्ज है) और अधिभूत (जो कि पदार्थ हैं), अर्थात क्रमशः ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव एवं अधियज्ञ|

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ।।८-५।।

कर स्मरण मम रूप जो नर करे अंत काल त्याग तन |
करे प्राप्त वह मेरा स्वरुप निःसंदेह हे अर्जुन ||८-५||

भावार्थ: *हे अर्जुन, जो प्राणी अंत काल में मेरे स्वरुप को स्मरण कर शरीर त्यागता है, वह प्राणी निःसंदेह मेरे स्वरुप को प्राप्त करता है|*

टीका: अन्त काल में जब मनुष्य प्रभु का स्मरण करते हुए शरीर त्यागता है तो उसे प्रभु की प्राप्ति होती है| कण कण में जब हर समय प्राणी प्रभु को देखेगा तो हर ओर उसे प्रभु के स्वरूप का ही चिन्तन होगा| तब अन्त काल में भी वह प्रभु का स्मरण ही करेगा| प्रभु के स्मरण करने से उसको प्रभु की प्राप्ति होगी|

जो भगवान् की उपासना करते हैं वह तो प्रायः अन्त समय में उपास्य का स्मरण होने से उसी उपास्य को अर्थात् भगवद्भाव को प्राप्त होते हैं| परन्तु जो उपासना नहीं कर पाते, उनको भी अन्त समय में किसी कारणवश भगवान् के किसी नाम, रूप, लीला, धाम आदि का स्मरण हो जाए तो वह भी उन उपासकों की तरह उसी भगवद्भाव को प्राप्त हो जाते हैं| इसका तात्पर्य है कि प्रभु में सदैव स्थित रहने वाले की और अन्त काल में प्रभु का स्मरण करने वाले की समान गति होती है| भगवान् के सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार आदि अनेक रूपों का भेद तो साधकों की दृष्टि में है, वास्तव में यह सब एक ही हैं| अर्थात् अन्त में सब एक भगवद्भाव को प्राप्त हो जाते हैं क्योंकि भगवान् का समग्र स्वरूप एक ही है| परन्तु गुणों के अनुसार गति को प्राप्त होने वाले अन्त में एक नहीं हो सकते क्योंकि तीनों गुण (सत्त्व, रजस और तमस) अलग अलग हैं| अतः गुणों के अनुसार उनकी गतियाँ भी अलग अलग ही होती हैं| भगवान् का स्मरण करके शरीर छोड़ने वालों का भगवान् के साथ सम्बन्ध रहता है और गुणों के अनुसार शरीर छोड़ने वालों का गुणों के साथ सम्बन्ध रहता है| इसलिये अन्त में भगवान् का स्मरण करने वाले भगवान् के सम्मुख हो जाते हैं, अर्थात् भगवान् को प्राप्त हो जाते हैं और गुणों से सम्बन्ध रखने वाले गुणों के सम्मुख हो जाते हैं, अर्थात् गुणों के कार्य जन्म-मरण को प्राप्त हो जाते हैं| भगवान् ने यहां मनुष्य को एक विशेष छूट दी है| मरणासन्न व्यक्ति के कैसे ही आचरण रहे हों, कैसे ही भाव रहे हों, किसी भी तरह का जीवन बिताया हो, पर अन्त काल में वह भगवान् को स्मरण कर ले तो उसका कल्याण हो जाएगा| भगवान् ने जीव का कल्याण करने के लिये ही उसको मनुष्य शरीर दिया है और जीव ने उस मनुष्य शरीर को स्वीकार किया है| अतः जीव का कल्याण हो जाए तभी भगवान् का इस जीव को मनुष्य शरीर देना और जीव का मनुष्य शरीर लेना सफल होगा| परन्तु वह जीवन रहते यदि अपना उद्धार नहीं कर पाया, अर्थात प्रभु को हृदय

में नहीं बिठा पाया और बिना उद्धार किए ही यदि संसार से विदा ले रहा है पर अन्त काल में भी यदि प्रभु को स्मरण कर ले तो अवश्य उसका कल्याण होगा|

भगवान् की उपर्युक्त छूट से मनुष्य को विशेष लाभ लेना चाहिए| कहीं कोई भी व्याधि ग्रस्त मरणासन्न व्यक्ति हो तो उसके इष्ट के चित्र या मूर्ति को उसे दिखाना चाहिए| जैसी उसकी उपासना, जिस भगवत नाम में उसकी रुचि हो, जिसका वह जप करता हो, वही भगवत नाम उसको अंत काल में सुनाना चाहिए| जिस स्वरूप में उसकी श्रद्धा और विश्वास हो, उसकी याद दिलानी चाहिए| भगवान् की महिमा का वर्णन करना चाहिए| अगर वह बेहोश हो जाए तो उसके पास भगवत नाम का जप कीर्तन करना चाहिए जिससे उस मरणासन्न व्यक्ति के सामने भगवत् सम्बन्धी वातावरण बना रहे| भगवत् सम्बन्धी वातावरण रहने से वहां यमराज के दूत नहीं आ सकते| अजामिल के द्वारा मृत्यु के समय नारायण नाम का उच्चारण करने से वहां भगवान् के पार्षद आ गए और यमदूत को भागकर यमराज की शरण में जाना पड़ा| यमराज ने तब अपने दूतों से कहा कि जहां भगवत नाम का जप, कीर्तन, कथा आदि होते हों वहां तुम लोग कभी मत जाना क्योंकि वहां हमारा राज्य नहीं है| ऐसा कहकर यमराज ने भगवान् का स्मरण कर भगवान् से क्षमा माँगी| अन्त काल में प्रभु के स्मरण का तात्पर्य है कि मनुष्य ने भगवान् का जो स्वरूप हृदय में बिठा रखा है, उस स्वरुप का स्मरण करे| उनका स्मरण करते हुए शरीर छोड़ने पर वह भगवान् को ही प्राप्त होता है|

यहाँ शंका हो सकती है कि जिस व्यक्ति ने जीवन में भजन, स्मरण नहीं किया, कोई साधना नहीं की, सर्वथा भगवान् से विमुख रहा, उसको अन्त काल में भगवान् का स्मरण कैसे होगा, और उसका कल्याण कैसे होगा? इसका समाधान है कि अन्त समय में उस पर भगवान् की कोई विशेष कृपा हो जाए अथवा उसको किसी सन्त के दर्शन हो जाएं तो भगवान् का स्मरण होकर उसका कल्याण हो जाता है| उसके कल्याण के लिये कोई साधक उसको भगवान् का नाम, लीला, चरित्र सुनाए, भजन गाए, तो भगवान् का स्मरण हो सकता है और उसका कल्याण हो सकता है| स्मरण रहे कि जीव वास्तव में परमात्मा का ही अंश होने से उसका परमात्मा के साथ स्वतः सम्बन्ध है| इस

कारण अंत काल में भगवान् के नाम का जप, कीर्तन, कथा, सत्संग आदि से वहां के पवित्र वायु मण्डल के प्रभाव से उसको भगवान् की स्मृति हो सकती है और भगवान् की स्मृति होने से कल्याण हो जाता है| शास्त्रों में सन्त महापुरुषों के प्रभाव की विचित्र बातें कही गई हैं| यदि सन्त महापुरुष किसी मरणासन्न व्यक्ति को देख लें, उसके मृत शरीर को देख लें, उसकी चिता के धुएँ को देख लें अथवा चिता की भस्म को देख लें तो भी उस जीव का कल्याण हो जाता है|

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ।।८-६।।

करे त्याग जिस भाव तन जन अंत काल कुन्तीनन्दन |
हो भावित उस भाव सदैव पाए वह पुनर्जन्म जन ||८-६||

भावार्थ: *हे कुन्तीनन्दन, अंतकाल में जिस भाव से प्राणी अपना तन त्यागता है, उसी भाव से सदैव भावित होकर वह प्राणी पुनर्जन्म लेता है (अर्थात नई योनि प्राप्त करता है)|*

टीका: भगवान् कहते हैं कि अंत काल में जिस अन्तिम चिन्तन को मनुष्य स्मृति में रखता है, उसी प्रकार नई योनि में उसका पुनर्जन्म होता है| मरण पश्चात वह उसी भाव से भावित रहता है, अर्थात् अन्त काल का चिन्तन (स्मरण) स्थाई बन जाता है| अन्त काल के उस चिन्तन के अनुसार ही उसका मानसिक शरीर बनता है, और मानसिक शरीर के अनुसार ही वह दूसरा शरीर धारण करता है| अन्त काल के चिन्तन को बदलने के लिये प्राणी को कोई अवसर नहीं मिलता| न तो कोई ऐसी शक्ति है, और न इस चिंतन को बदलने की प्राणी को स्वतन्त्रता है| उदाहरण के रूप में अगर कोई प्राणी कुत्ता पालन करता है, उससे उसकी गहरी प्रीति है, और अंत काल में यदि वह कुत्ते का स्मरण करते हुए अपने प्राण त्यागता है तो उसे कुत्ते की योनि में ही जन्म लेना पड़ता है| स्मरण रहे कि यदि अंत काल में प्राणी जड़ पदार्थ (संपत्ति, धन आदि) का चिन्तन करता है तो उससे सम्बन्धित किसी सजीव प्राणी की उसको योनि मिलती है| उदाहरण के लिए यदि धन का चिंतन करते हुए मृत्यु होती है, तो

संभवतः उस गृह में सर्प बनकर पुनर्जन्म हो| प्रभु ने कई बार कहा है कि मनुष्य शरीर में यह विशेषता है कि उसका अन्त काल का स्मरण कर्मों के अधीन नहीं है, प्रत्युत पुरुषार्थ के अधीन है| पुरुषार्थ में मनुष्य सर्वथा स्वतन्त्र है| इसी कारण अन्य योनियों की अपेक्षा मनुष्य शरीर की अधिक महिमा है| मनुष्य इस शरीर में स्वतन्त्रता पूर्वक जिससे सम्बन्ध जोड़ लेता है उस सम्बन्ध के अनुसार ही उसका अन्य योनियों में जन्म होता है| परन्तु अन्त काल में यदि वह भगवान् का स्मरण कर ले तो उसके सारे भव सम्बन्ध टूट जाते हैं| केवल भगवान् का सम्बन्ध ही वास्तविक है, अन्य सब सम्बन्ध कृत्रिम हैं| भगवान् के साथ सम्बन्ध स्वतः सिद्ध है, कृत्रिम नहीं है| अतः भगवान् के स्मरण से प्राणी के सभी कृत्रिम सम्बन्ध टूट जाते हैं|

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ।।८-७।।

करते हुए स्मरण मुझे इस हेतु करो युद्ध युद्धवन |
करो अर्पित मन बुद्धि मुझे निःसंशय पाओगे भगवन ||८-७||

भावार्थ: *इस कारण हे योद्धा, मुझे स्मरण करते हुए युद्ध करो| मन, बुद्धि को मुझे समर्पण कर निःसंदेह तुम भगवान् (मुझे) पा जाओगे|*

टीका: भगवत् प्राप्ति का उद्देश्य रखते हुए प्राणी को भगवान् का स्मरण सदैव करते रहना चाहिए| चूंकि कुरुक्षेत्र में अर्जुन का युद्ध ही कर्तव्य कर्म है, अतः प्रभु अर्जुन को उनका कर्तव्य कर्म स्मरण कराते हुए युद्ध करने की आज्ञा दे रहे हैं|

भगवान् के स्मरण की जागृति से ही भगवान् के साथ अपनापन का अनुभव होगा| यह अपनापन जितना ही दृढ़ होगा उतनी ही भगवान् की स्मृति बार बार आएगी|

प्रभु कहते हैं कि मन और बुद्धि को मुझे अर्पित कर दो| इसका साधारण अर्थ है कि मन से भगवान् का चिन्तन करो, और बुद्धि से उनके चिंतन का दृढ निश्चय करो| मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर आदि को सदैव भगवान् के मानते हुए संसार से सम्बन्ध विच्छेद करो| स्मरण रहे कि जितने भी प्राकृत पदार्थ हैं वह सब भगवान् के ही हैं| उन प्राकृत पदार्थों को अपना मान लेना बड़ी भूल है| साधक जब तक उनको अपना मानेगा तब तक वह शुद्ध नहीं हो सकता क्योंकि उनको अपना मानना ही अशुद्धि है, और इस अशुद्धि से ही अनेक अन्य अशुद्धियाँ पैदा होती हैं| मनुष्य का सम्बन्ध केवल प्रभु के साथ ही है| प्रकृति और प्रकृति के कार्य के साथ मनुष्य का सम्बन्ध न कभी था, न है, और न रहेगा| मनुष्य तो साक्षात् परमात्मा का सनातन अंश है, अतः उसका प्रकृति से सम्बन्ध नहीं हो सकता| इसलिये साधक को चाहिए कि वह मन और बुद्धि को भगवान् के ही समझ कर भगवान् को ही अर्पण कर दे| ऐसा करने से उसको स्वाभाविक ही भगवान् की प्राप्ति हो जाएगी| प्रकृति के कार्य, शरीर, मन, बुद्धि आदि के साथ सम्बन्ध जोड़ने से ही वह भगवान् से विमुख हुआ है| प्राकृत पदार्थ हमारे नहीं हैं और हम उनके नहीं हैं, यही वास्तविकता है|

मन, बुद्धि आदि प्राकृत पदार्थों को प्रभु को अर्पण करने से प्राणी प्रभु को प्राप्त हो जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है| प्रभु तो साधक को नित्य प्राप्त हैं| अप्राप्ति का अनुभव तो कभी प्राप्त न होने वाले शरीर और संसार को अपना मानने से, उनके साथ सम्बन्ध जोड़ने से ही होता है| नित्य प्राप्त तत्व का कभी अभाव नहीं होता| यदि साधक मन, बुद्धि और स्वयं को प्रभु को अर्पण कर देगा तो साधक का प्रभु के साथ नित्य सम्बन्ध प्रकट हो जाएगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है|

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ।।८-८।।

संयमित चित्त युक्त अभ्यासयोग जो करे मेरा चिंतन |
करे प्राप्त परम दिव्य भगवन वह साधक अर्जुन ||८-८||

भावार्थ: *संयमित मन से अभ्यासयोग से युक्त हो कर जो साधक मेरा चिन्तन करता है, हे अर्जुन, उसे परम दिव्य भगवान् प्राप्त होते हैं|*

टीका: प्रभु ने यहां मन को संयमित कर अभ्यासयोग से युक्त होने को कहा है| संसार से मन हटाना मन को संयमित करना है| इस प्रकार संयमित मन से परमात्मा का बार बार स्मरण करना अभ्यास है| और इस अभ्यास को समता से करना (सम भावना) योग कहलाता है, 'समत्वं योग उच्यते'| यदि अभ्यास में मन लगने से प्रसन्नता हो, और मन न लगने से खिन्नता हो, तो यह समता नहीं है| इसे अभ्यास तो कहा जा सकता है पर अभ्यासयोग नहीं| अभ्यासयोग तभी होगा जब प्रसन्नता और खिन्नता, दोनों में ही समता हो| अगर चित्त में प्रसन्नता और खिन्नता हो भी जाएं तो भी उनको महत्व न दे कर केवल अपने लक्ष्य को ही महत्व दें| अपने लक्ष्य पर दृढ़ रहना ही योग है| इसे ही योग से युक्त मन कहा जाता है| स्मरण रहे कि चित्त अन्य गामी न हो, अर्थात् एक परमात्मा के अतिरिक्त दूसरा कोई लक्ष्य न हो| ऐसे संयमित चित्त से परम दिव्य परमात्मा का चिन्तन करते हुए शरीर छोड़ने वाला मनुष्य उसी परमात्मा को प्राप्त हो जाता है|

कविं पुराणमनुशासितार मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।।८-९।।

करे जो अनुस्मरण सर्वज्ञ नियंता धातार सनातन।
अचिन्त्य रूप सम रवि दीप्त परे अविद्या सूक्ष्म भगवन ।।८-९।।

भावार्थ: *जो सर्वज्ञ, सनातन, नियन्ता, पालन-पोषण करने वाले, अचिन्त्यरूप, सूर्य के समान प्रकाशित, सूक्ष्म, अविद्या से परे भगवान् का अनुस्मरण करता है|*

टीका: सम्पूर्ण प्राणियों को और उनके सम्पूर्ण शुभाशुभ कर्मों के ज्ञाता परमात्मा को 'सर्वज्ञ' नाम से सम्बोधित किया जाता है|

परमात्मा आदि होने के कारण 'सनातन' कहे जाते हैं| हम दृष्टि के लिए नेत्रों का उपयोग करते हैं| नेत्रों के ऊपर मन शासन करता है| मन के ऊपर बुद्धि और बुद्धि के ऊपर 'अहम्' शासन करता है| 'अहम्' के ऊपर भी जो शासन करता है, जो सब का आश्रय, प्रकाशक और प्रेरक है, वह परमात्मा है| जीवों का कर्म करने का स्वभाव है, उसके अनुसार ही परमात्मा (वेद, शास्त्र, गुरु, सन्त आदि के द्वारा) कर्तव्य कर्म करने की आज्ञा देते हैं, और मनुष्यों के पुराने पाप, पुण्य कर्मों के अनुसार अनुकूल, प्रतिकूल परिस्थिति भेजकर उन मनुष्यों को शुद्ध, निर्मल बनाते हैं| इस प्रकार मनुष्यों के लिये कर्तव्य, अकर्तव्य का विधान करने वाले और मनुष्यों के पाप, पुण्य कर्मों का (फल देकर) नाश करने वाले होने से परमात्मा सब पर शासन करने वाले नियंता हैं|

परमात्मा परमाणु से भी सूक्ष्म हैं, अर्थात परमात्मा मन, बुद्धि के विषय नहीं हैं| परमात्मा अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों को धारण करने वाले हैं, उनका पोषण करने वाले हैं| उन सभी को परमात्मा से ही सत्ता स्फूर्ति मिलती है| अतः परमात्मा सब का धारण और पोषण करने वाले हैं| परमात्मा अज्ञान से परे हैं, अर्थात अज्ञान से सर्वथा रहित हैं| परमात्मा का वर्ण सूर्य के समान है, अर्थात् वह सूर्य के समान सब प्राणियों की मन, बुद्धि आदि को प्रकाशित करने वाले हैं| परमात्मा का स्वरूप अचिन्त्य है, अर्थात वह मन, बुद्धि आदि के चिन्तन का विषय नहीं हैं| परमात्मा हम प्राणियों की प्रत्येक गति विधि से परिचित हैं| उनसे कुछ भी छिपा नहीं है| हमें ऐसे परमात्मा का सदैव स्मरण करते रहना चाहिए|

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ।।८-१०।।

करे स्थापित प्राण योगबल मध्य भौंह समय मरन|
जो युक्त भक्ति और अटल मन हों प्राप्त उसे भगवन ||८-१०||

भावार्थ: *मरण समय में योगबल से प्राण को भौंह के बीच स्थापित करे| जो भक्ति एवं दृढ़ मन से युक्त है, उसे भगवान् की प्राप्ति होती है|*

टीका: मरण के समय में प्रभु की भक्ति के साथ निश्चल मन से योगबल के द्वारा दोनों भौंहो के मध्य भाग में प्राण (श्वास) को स्थापित करने से भगवान् की प्राप्ति होती है| विद्वानों का मत है कि इस उपासना में अभ्यास की आवश्यकता है| प्राणायाम से मन को परमात्मा में लगाने का नाम "अभ्यास है| यह अभ्यास अणिमा, महिमा आदि सिद्धि प्राप्त करने के लिये नहीं है, प्रत्युत केवल परमात्म-तत्व को प्राप्त करने के लिये है| ऐसा अभ्यास करते हुए साधक प्राणों और मन पर ऐसा अधिकार प्राप्त कर ले कि वह जब चाहे श्वास को रोक ले और मन को जहां चाहे वहीं लगा ले| जो ऐसा अभ्यास कर लेता है, वही अन्त काल में श्वास (प्राणों) को दोनों भौंहो के मध्य भाग में स्थापित कर सकता है| यदि अभ्यास काल में मन को संसार से हटाकर परमात्मा में लगाने में साधक को कठिनता तथा असमर्थता का अनुभव हो तब अन्त काल जैसे कठिन समय में मन को इस प्रकार संयमित करना साधारण प्राणी की समर्थता नहीं हो सकती| जिसके पास पहले से योगबल है, वही अन्त समय में मन को परमात्मा में लगा सकता है और श्वास (प्राणों) को दोनों भौंहो के मध्य भाग में स्थापित कर सकता है|

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ।।८-११।।

कहें अक्षर जिन्हें ज्ञानी मिलें जो राग रहित जन |
करते पालन जिन की आज्ञा ब्रह्मचर्य साधकगन ||
हों कैसे प्राप्त वह दिव्य हरि करूँ मैं अब वर्णन ||८-११||

***भावार्थ**: ज्ञानी जिन्हें अक्षर कहते हैं, जो ममता रहित प्राणियों को प्राप्त होते हैं, जिनकी आज्ञा से साधकगण ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, उन दिव्य हरि की प्राप्ति कैसे हो, वह अब मैं वर्णन करूंगा|*

टीका: प्रभु कहते हैं कि ज्ञानी जिनको अक्षर (निर्गुण) कहते हैं, जो उन साधकों को प्राप्त होते हैं जिनका अंतःकरण ममता से रहित है, अर्थात निर्मल है, जिन की इच्छा से परमात्म-तत्व की प्राप्ति के लिए साधक ब्रह्मचर्य का पालन करते

हैं, अर्थात सम्पूर्ण इन्द्रियों का संयम करते हैं, उन भगवान् को कैसे प्राप्त किया जा सकता है, मैं वह वर्णन करता हूँ|

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ।।८-१२।।
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ।।८-१३।।

कर स्थापित प्राण ललाट हो स्थित गति योगधारन|
कर संयमित विषय इद्रियाँ स्थिर करे हिय जो मन ||८-१२||
अक्षर ब्रह्म मन्त्र ओम का करता हुआ उच्चारन|
करते हुए स्मरण हिय भगवन करे जो जन त्याग तन ||
पाए वह निःसंदेह परम गति सुन हृदय धार अर्जुन ||८-१३||

भावार्थ: *हे अर्जुन, हृदय में धारण कर यह सुनो| जो साधक योगधारणा में स्थित हो प्राण को मस्तक में स्थापित कर, विषय इन्द्रियों को संयमित कर, मन को हृदय में स्थिर कर, ब्रह्म मन्त्र अक्षर ओम का उच्चारण करता हुआ, हृदय में भगवान् को धारण कर तन त्यागता है, वह निःसंदेह परम गति को प्राप्त होता है|*

टीका: सम्पूर्ण विषय इन्द्रियों को संयमित करने का तात्पर्य है, पांच विषय, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध, पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और नासिका, पांच क्रियाएं, बोलना, ग्रहण करना, गमन करना, मूत्र और मल त्याग करना, पांच कर्मेन्द्रियाँ, वाणी, हाथ, चरण, उपस्थ और गुदा, को नियंत्रित कर लेना|

मन को हृदय में स्थिर करने का तात्पर्य है, मन को विषयों की ओर न जाने देना| इससे मन अपने स्थान (हृदय) में रहेगा|

प्राणों को मस्तक में धारण करने का तात्पर्य है, प्राणों (श्वासों) पर अपना अधिकार प्राप्त करके दसवें द्वार ब्रह्म-रन्ध्र में श्वासों को रोक लेना|

योगधारणा में स्थित होने का तात्पर्य है, इन्द्रियों से कुछ कृत्य की चेष्टा न करना, मन से संकल्प, विकल्प न करना और श्वासों पर पूरा अधिकार प्राप्त कर लेना|

अंत समय में उपर्युक्त विधि से साधक योगधारणा में स्थित हो ब्रह्म मन्त्र अक्षर ओम का मानसिक उच्चारण करता हुआ और प्रभु का स्मरण करता हुआ जब तन त्याग करता है तो वह निःसंदेह परम गति, अर्थात प्रभु को प्राप्त होता है|

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ।।८-१४।।

जो अनन्य चित्त पुरुष करे मेरा स्मरण हे पृथानंदन |
करे प्राप्त मुझे वह सहज नित्य युक्त योगी महस्विन् ||८-१४||

भावार्थ: *हे पृथानंदन, जो अनन्य चित्त पुरुष मेरा स्मरण करता है, उस महान नित्य युक्त योगी को मैं सुलभता से प्राप्त हो जाता हूँ|*

टीका: जिस साधक का चित्त भगवान् को छोड़कर किसी भी भोग में, किसी भी ऐश्वर्य में किंचित मात्र भी नहीं लगता, जिसके अन्तःकरण में भगवान् के अतिरिक्त अन्य किसी का कोई आश्रय नहीं है, महत्व नहीं है, वह पुरुष अनन्य चित्त वाला है|

प्रभु की सगुण उपासना करने वाले साधक को प्रभु का स्मरण कर्ता कहा जाता है| सगुण उपासना में विष्णु, राम, कृष्ण, शिव, शक्ति, गणेश, सूर्य, आदि जो भगवान् के स्वरूप हैं, उनमें से साधक जिस स्वरूप की उपासना करता है, उसी स्वरूप का चिन्तन करे, परन्तु साथ ही दूसरे स्वरूपों को अपने इष्ट से अलग न माने| अपने इष्ट को दृढ़ता से हृदय में रखते हुए भाव यह रखे कि 'मैं केवल भगवान् का हूँ और भगवान् मेरे हैं'| मेरा भगवान् के अतिरिक्त और कोई

नहीं है तथा मैं किसी का नहीं हूँ| ऐसा भाव होने से वह 'अनन्य चित्त' हो जाता है|

प्रभु कहते हैं कि ऐसे महान नित्य युक्त योगी के लिये मैं सुलभ हूँ| यहाँ 'नित्य युक्त' शब्द चित्त के द्वारा निरन्तर चिन्तन करने वाले का वाचक नहीं है, प्रत्युत श्रद्धा एवं प्रेम पूर्वक निष्काम भाव से स्वयं भगवान् को अर्पित होने का वाचक है| जब उपर्युक्त भाव, 'मैं भगवान् का हूँ और भगवान् मेरे हैं', दृढ़ हो जाता है तो वह साधक नित्य युक्त हो जाता है| ऐसे नित्य युक्त योगी को भगवान् सुगमता से मिल जाते हैं|

स्मरण रहे कि भगवान् के अतिरिक्त शरीर, इन्द्रियाँ, प्राण, मन, बुद्धि अपने नहीं हैं, केवल भगवान् ही अपने हैं| ऐसा दृढ़ता से मानने पर भगवान् सुलभ हो जाते हैं| परन्तु शरीर आदि को अपना मानते रहने से भगवान् सुलभ नहीं होते| भगवान् के साथ भिन्नता तथा संसार के साथ एकता का सर्वथा त्याग करना चाहिए| जो इस असत्यता का त्याग नहीं करते, वह जन्म-मरण के चक्र में फंसे रहते हैं| स्वयं को भगवान् को समर्पित कर देने पर साधक को अपनी गति के विषय में कभी किंचित मात्र चिन्ता नहीं होती|

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ।।८-१५।।

करें प्राप्त सहज परमात्मा वह परम सिद्ध महस्विन् |
नहीं होते प्राप्त उन्हें दुःख रूप जन्म-मरण बंधन ||८-१५||

भावार्थ: *वह परम सिद्ध महापुरुष सुलभता से परमात्मा को प्राप्त कर लेते हैं| जन्म-मरण के बंधन, जो दुःख रूप हैं, उनको प्राप्त नहीं होते (अर्थात मोक्ष पा लेते हैं)|*

टीका: भगवान् को तत्व से जान लेने वाले महापुरुष जो भगवान् में प्रविष्ट हो जाते हैं, उनका पुनर्जन्म नहीं होता| पुनर्जन्म का अर्थ है, फिर शरीर धारण

करना| शरीर धारण करने पर, वह चाहे मनुष्य का हो, पशु, पक्षी का हो, चाहे किसी अन्य प्राणी का हो, दुःख ही दुःख है| इसलिये पुनर्जन्म को दुःख रूप कहा गया है| मरने के बाद प्राणी अपने कर्मों के अनुसार जिस योनि में भी जन्म लेता है, वहां जन्म काल में जेर से बाहर आते समय उसको अत्यंत कष्ट होता है| परन्तु उस समय वह अपना कष्ट अथवा दुःख किसी को बता नहीं सकता, क्योंकि वह बताने की अवस्था में नहीं होता| जन्म के बाद बालक सर्वथा परतन्त्र होता है| कोई भी कष्ट होने पर वह रोता रहता है, पर बता नहीं सकता| थोड़ा बड़ा होने पर उसको खाने पीने की वस्तुएं, खिलौने, आदि की इच्छा होती है और उनकी पूर्ति न होने पर उसे दुःख होता है| पढ़ाई के समय अनुशासन में रहना पड़ता है| रात्रि में जागकर अभ्यास करना पड़ता है| इन सब से कष्ट तो होता ही है| विद्या भूल जाती है तथा गुरु के पूछने पर उत्तर नहीं आता, तो दुःख होता है| आपस में ईर्ष्या, द्वेष, डाह, अभिमान आदि के कारण हृदय में जलन होती है| परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो जाए तो मूर्खता के कारण उसको दुःख होता है| युवा होने पर अपनी इच्छा के अनुसार विवाह आदि न होने से दुःख होता है| विवाह हो जाता है तो पत्नी अथवा पति अनुकूल न मिलने से दुःख होता है| संतान के पालन-पोषण करने में कष्ट होता है| वृद्धावस्था में शरीर में असमर्थता के कारण दुःख होता है| जीवन में अनेक प्रकार के रोगों के अतिक्रमण से दुःख होता है| मनुष्य जैसे ही कष्ट पशु, पक्षी आदि को भी होते हैं| उनको शीत-घाम, वर्षा-हवा, आदि से कष्ट होता है| इस प्रकार सभी योनियों में अनेक तरह के दुःख होते हैं| ऐसे ही नर्कों में और चौरासी लाख योनियों में दुःख भोगने पड़ते हैं| इसलिये पुनर्जन्म को 'दुःख रूप' कहा गया है|

भक्ति मार्ग पर चलने वाले साधकों को भगवान् ने 'महात्मा' कहा है| असत् शरीर एवं संसार के साथ सम्बन्ध होने से मनुष्य 'अल्पात्मा' होते हैं, क्योंकि वह शरीर एवं संसार के आश्रित होते हैं| अपने स्वरूप में स्थित होने पर वह 'आत्मा' होते हैं, क्योंकि उनमें अणु रूप से 'अहम्' की गंध रहने की संभावना होती है| भगवान् के साथ अभिन्नता होने पर वह 'महात्मा' होते हैं, क्योंकि वह भगवन्निष्ठ होते हैं, उनकी अपनी कोई स्वतन्त्र स्थिति नहीं होती| भगवान् ने कर्मयोग, ज्ञानयोग आदि योगों में 'महात्मा' शब्द का प्रयोग नहीं किया है| केवल

भक्तियोग में ही भगवान् ने महात्मा शब्द का प्रयोग किया है| इससे सिद्ध होता है कि भगवान् भक्ति को ही सर्वोपरि मानते हैं|

महात्माओं को पुनर्जन्म प्राप्त न होने का कारण यह है कि वह परम सिद्धि को अर्थात् परम प्रेम को प्राप्त हो गए हैं, 'परमां गताः'| जैसे लोभी व्यक्ति को जितना धन मिलता है उतना ही उसको थोड़ा मालूम देता है और उसकी धन की भूख उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है, ऐसे ही अपने अंशी भगवान् को पहचान लेने पर भक्त में प्रेम की भूख बढ़ती रहती है, उसको प्रतिक्षण वर्धमान, असीम, अगाध, अनन्त प्रेम की प्राप्ति हो जाती है| यह प्रेम भक्ति की अन्तिम सिद्धि है| इसके समान दूसरी कोई सिद्धि नहीं है|

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ।।८-१६।।

ब्रह्मलोक सहित समस्त लोक हैं बंधित जन्म-मरन |
नहीं होता पुनर्जन्म यदि कर ले प्राप्त मुझे अर्जुन ||८-१६||

भावार्थ: *हे अर्जुन, ब्रह्मलोक सहित सभी लोक जन्म-मरण के बंधन से युक्त हैं (अर्थात इन लोकों में वास के पश्चात भी पुनर्जन्म लेना पड़ता है)| लेकिन यदि मुझे प्राप्त कर लेता है, तो पुनर्जन्म नहीं होता|*

टीका: प्रभु अर्जुन से कह रहे हैं कि ब्रह्मा जी के लोक से लेकर समस्त लोकवासीयों को उनके पुण्य कर्म के फल की समाप्ति पर फिर से जन्म लेना पड़ता है| इसका तात्पर्य है कि पृथ्वी मण्डल से लेकर ब्रह्मलोक तक का सुख सीमित, परिवर्तनशील और विनाशी है| परन्तु भगवत प्राप्ति का सुख अनन्त है, अपार है, अगाध है| यह सुख कभी नष्ट नहीं होता| अनन्त ब्रह्मा और अनन्त ब्रह्माण्ड समाप्त हो जाएं, तो भी यह परमात्म-तत्व की प्राप्ति का सुख कभी नष्ट नहीं होता, सदा बना रहता है|

हम सब प्राणी साक्षात् परमात्मा के अंश होने के कारण नित्य हैं| अतः जब तक हम नित्य तत्व परमात्मा को प्राप्त नहीं कर लेते, तब तक किसी भी उच्च लोक के वासी हो जाएं, हमें वहां से पुण्य कर्म के फल समाप्ति पर जन्म-मरण के बंधन में पड़ लौटना पड़ता है| अतः ब्रह्मलोक आदि ऊँचे लोकों में जाने वाले भी पुनर्जन्म को प्राप्त होते हैं| यहाँ एक शंका हो सकती है कि प्रभु ने पहले कहा है कि सन्तों, भक्तों, जीवन्मुक्तों और कारक पुरुषों के दर्शन मात्र से जीव का कल्याण हो जाता है, ब्रह्मा जी तो स्वयं कारक हैं तथा भगवान् के भक्त हैं, फिर उनके लोक में पहुंचने के पश्चात पुनर्जन्म क्यों होता है? ब्रह्मलोक में जाने वाले ब्रह्मा जी के दर्शन करते हैं, फिर उनकी मुक्ति क्यों नहीं होती? इसका समाधान यह है कि सन्त, भक्त आदि के दर्शन, सम्भाषण, चिन्तन आदि का महात्म्य इस मृत्युलोक के मनुष्यों के लिये ही है| स्मरण रहे कि यह मनुष्य शरीर केवल भगवत प्राप्ति के लिये ही मिला है| अतः मनुष्य को पृथ्वी लोक में यदि उपरोक्त भगवत प्राप्ति का अथवा कोई और किंचित मात्र भी मुक्ति का उपाय मिल जाता है, तो वह मुक्त हो जाता है| दुर्भाग्य से ऐसा मुक्ति का अधिकार अन्य लोकों में नहीं है, इसलिये वह मुक्त नहीं होता| यदि उन लोकवासीयों में किसी को मुक्त होने की तीव्र लालसा हो जाती है, तो वह भी मुक्त हो सकता है, परन्तु यह अपवाद रूप ही है, अधिकारी रूप से नहीं| अगर ब्रह्म देव स्वयं चाहें तभी यह संभव हैं, क्योंकि ब्रह्म देव स्वयं परम भगवद भक्त एवं कारक हैं| परन्तु ब्रह्म देव की इस प्रकार की कृपा शास्त्रों में कहीं वर्णित नहीं है|

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ।।८-१७।।

जानें जो अवधि ब्रह्मलोक समझें वह भाव रात दिवन |
सहस्त्र वर्ष भुवन है समकक्ष ब्रह्मलोक एक दिन ||८-१७||

भावार्थ: *जो ब्रह्मलोक की अवधि जानते हैं, वही दिन रात के भाव को समझ सकते हैं| ब्रह्मलोक का एक दिन पृथ्वी के सहस्त्र दिन के समकक्ष है|*

टीका: ब्रह्मलोक का एक दिन पृथ्वी के सहस्त्र वर्ष के बराबर है| इस गणना के अनुसार ब्रह्माजी की आयु सौ वर्षों की होती है| अपनी सौ वर्ष की आयु पश्चात ब्रह्मा जी परमात्मा में लीन हो जाते हैं और उनका ब्रह्मलोक भी प्रकृति में लीन हो जाता है, अर्थात प्रकृति परमात्मा में लीन हो जाती है|

पृथ्वी लोक के अनुसार ब्रह्मा जी की इतनी अधिक आयु होने पर भी वह काल की अवधि वाले ही हैं| इसी प्रकार सभी उच्च भोग भोगने वाले भी कालवश हैं| यही भोग भोगने की कामना उनके दुःखों का कारण है, 'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते'| केवल भगवान् ही कालातीत हैं| इस प्रकार काल के तत्व को जानने वाले मनुष्य ब्रह्मलोक तक के दिव्य भोगों को किंचित मात्र भी महत्व नहीं देते|

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ।।८-१८।।

करें रचना सृष्टि ब्रह्मदेव हो जब उदय उनका दिन |
हो विलीन तत्व जगत जब रात्रि ब्रह्मलोक हे अर्जुन ||८-१८||

भावार्थ: *हे अर्जुन, जब उनका (ब्रह्मलोक) दिन उदय होता है, तब ब्रह्मदेव सृष्टि की रचना करते हैं| ब्रह्मलोक की रात्रि होते ही यह जगत तत्व में विलीन हो जाता है (अर्थात प्रभु में विलीन हो जाता है)|*

टीका: जो भी स्थूल समष्टि सृष्टि दिखाई देती है, वह सब ब्रह्मलोक के दिन उदय होने पर होती है| इसका तात्पर्य है कि ब्रह्मा जी के जागने पर उनके सूक्ष्म शरीर से प्रकृति की सृष्टि होती है| ब्रह्मा जी के सोने पर उनके सूक्ष्म शरीर में ही प्रकृति लीन हो जाती है| अतः ब्रह्मा जी के जागने पर 'सर्ग' होता है और ब्रह्मा जी के सोने पर 'प्रलय' होता है| जब ब्रह्मा जी की सौ वर्ष की आयु समाप्त हो जाती है, तब 'महाप्रलय' होता है जिसमें ब्रह्मा जी भी प्रभु में लीन हो जाते हैं| ब्रह्मा जी की जितनी आयु होती है, उतना ही महाप्रलय का समय रहता है| महाप्रलय का

समय बीतने पर ब्रह्मा जी को भगवान् प्रकट कर देते हैं, तब फिर से 'महासर्ग' का आरम्भ हो जाता है|

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ।।८-१९।।

जन-कुल हेतु कर्म होता बंधित बार बार जन्म-मरन |
होता प्रकट भूलोक वह जब उदय ब्रह्मलोक दिवन ||
होता विलीन जब होती रात्रि ब्रह्मलोक अर्जुन ||८-१९||

भावार्थ: *हे अर्जुन, जन समुदाय कर्म के कारण पुनः पुनः जन्म-मरण से बंधित होता है (अर्थात जन्म-मरण के बंधन में पड़ा रहता है)| वह पृथ्वी लोक में ब्रह्मलोक के दिन के उदय होने पर प्रकट होता है तथा रात्रि होने पर विलीन हो जाता है|*

टीका: प्रभु कह रहे हैं कि जिसे तुम भूलोक में देख रहे हो वह अनादि काल से जन्म-मरण के चक्र में पड़ा हुआ जन समुदाय है| भगवान् से विमुख होने के कारण ही यह जन समुदाय जन्म-मरण के बंधन में पड़ा हुआ है| शरीर के परिवर्तन को अपना परिवर्तन और उसके जन्म-मरण को अपना जन्म-मरण मानना ही जन्म-मरण के चक्र के बंधन में पड़ना है| शरीर उत्पत्ति-विनाशशील है, 'भूत्वा भूत्वा प्रलीयते', इसलिये शरीर को धारण करना एवं उसका त्याग करना, अर्थात् जन्म-मरण का होना परधर्म है, और उससे मुक्त होना स्व-धर्म है|

यदि जीव प्रकृति की वस्तुओं में से किसी भी एक वस्तु को अपनी मानता रहेगा तो उसको संशय होगा कि 'मैं इस वस्तु का स्वामी हूँ'| इस कारण वह उस वस्तु के पराधीन हो जाएगा| प्राकृत पदार्थों को वह जितना ही अधिक ग्रहण करेगा, उतना ही वह परतन्त्र बनता चला जाएगा और दुर्भाग्य से उसकी परतन्त्रता कभी नहीं छूटेगी| ब्रह्मा जी के जागने और सोने पर, अर्थात् सर्ग और प्रलय के होने पर, ब्रह्मा जी के प्रकट और लीन होने पर, अर्थात् महासर्ग और महाप्रलय

के होने पर, तथा वर्तमान में प्रकृति के परवश होकर कर्म करते रहने पर यह जीव 'जन्म-मरण' तथा 'कर्म करना और उसका फल भोगना', इस संकट से कभी नहीं छूटेगा| जब तक परमात्मा की प्राप्ति नहीं होती, परमात्म-तत्व का बोध नहीं होता और प्राणी प्रकृति के सम्बन्ध को नहीं छोड़ता, तब तक वह परतन्त्र होने के कारण दुःख रूप जन्म-मरण के चक्र से छूट नहीं पाता| परन्तु जब इसकी प्रकृति और प्रकृतिजन्य पदार्थों की परवशता मिट जाती है, अर्थात् उसको प्रकृति के सम्बन्ध से सर्वथा रहित अपने शुद्ध स्वरूप का बोध हो जाता है, तो फिर वह महासर्ग में भी उत्पन्न नहीं होता और महाप्रलय में भी व्यथित नहीं होता, 'सर्गेऽपि नोपजाएन्ते प्रलये न व्यथन्ति च|' मूल में परवशता प्रकृतिजन्य पदार्थों को महत्व देने और उनको स्वीकार करने में ही है| इस परवशता को ही कहीं काल की, कहीं स्वभाव की, कहीं कर्म की और कहीं गुणों की परवशता के नाम से कहा गया है| इस समुदाय की यह परवशता तभी तक रहती है, जब तक यह प्राकृत पदार्थों के संयोग से सुख लेना चाहता है| इस संयोगजन्य सुख की इच्छा से ही वह पराधीनता भोगता रहता है, और ऐसा मानता रहता है कि वह पराधीनता से कभी नहीं छूट सकता| स्मरण रहे कि यह परवशता प्राणी की स्वयं की बनायी हुई है, स्वतः नहीं है| अतः इसको छोड़ने का दायित्व उसी पर है| इसको वह जब चाहे, तब छोड़ सकता है|

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ।।८-२०।।

जो भाव परे तन ब्रह्म सूक्ष्म से अव्यक्त सनातन |
नहीं होता नष्ट कभी हों यदि नष्ट सर्व भूत अर्जुन ||८-२०||

भावार्थ: *जो ब्रह्म सूक्ष्म शरीर से भी परे विलक्षण सनातन भाव है, हे अर्जुन, वह सम्पूर्ण प्राणियों के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता|*

टीका: ब्रह्मा जी के जागने पर उनके सूक्ष्म शरीर से प्राणी उत्पन्न होते हैं एवं उनके सोने पर प्रलय होने से उन्हीं में विलीन हो जाते हैं| ब्रह्मा जी के सूक्ष्म शरीर से परे दो तत्व हैं, मूल प्रकृति और परमात्मा| यहाँ प्रभु मूल प्रकृति का

विवरण नहीं कर रहे हैं, प्रत्युत परमात्मा के स्वरुप का विवरण कर रहे हैं| परमात्मा ही ब्रह्मदेव के सूक्ष्म शरीर से भी परे, विलक्षण एवं श्रेष्ठ हैं| यह परमात्मा का स्वरुप सम्पूर्ण प्राणियों के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता|

प्राणियों के अप्रकट होने को ही विलक्षण एवं अव्यक्त कहा गया है, 'अव्यक्तादीनि भूतानि'| ब्रह्मा जी के सूक्ष्म शरीर को भी यद्यपि अव्यक्त कहा गया है, परन्तु उसकी उपमा में परमात्मा का स्वरूप विलक्षण एवं श्रेष्ठ है| परमात्मा का स्वरुप भाव रूप है, अर्थात् किसी भी काल में उसका अभाव न था, न है और न कभी रहेगा, इस कारण वह सनातन है, अर्थात् वह सदा से है और सदा ही रहेगा |इसलिये वह पर अर्थात् सर्वश्रेष्ठ है| उससे श्रेष्ठ कोई हो ही नहीं सकता और होने की सम्भावना भी नहीं है|

परमात्मा का स्वरुप सनातन होने के कारण वह सम्पूर्ण प्राणियों के नष्ट होने पर भी अर्थात् उन सम्पूर्ण शरीरों का अभाव होने पर भी इस परमात्म-तत्व का कभी अभाव नहीं होता| ऐसा वह परमात्मा का अव्यक्त एवं विलक्षण स्वरूप है| संसार में कार्य रूप से अनेक प्रकार के परिवर्तन होने पर भी वह परमात्म-तत्व ज्यों का त्यों ही अपरिवर्तनशील रहता है| उसमें कभी किंचित मात्र भी परिवर्तन नहीं होता|

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।।८-२१।।

है यही अव्यक्त अक्षर परम गति लक्ष्य भूजन अर्जुन |
कर प्राप्त इसे पा मुझे हो मुक्त तब छूटें सभी बंधन ||८-२१||

भावार्थ: *हे अर्जुन, यही अव्यक्त अक्षर, परम गति है जो प्राणियों का लक्ष्य है| इसको प्राप्त कर मुझे पा और मुक्त हो| तब सभी बंधन से मुक्त हो जाओगे|*

टीका: भगवान् ने स्थान स्थान पर स्वयं को 'माम्', 'अक्षर ब्रह्म', 'अधियज्ञ', 'परम पुरुष, दिव्य', 'अव्यक्त' और 'सनातन' कहा है| उन सब की एकता करते हुए

भगवान् अब स्वयं को अव्यक्त और अक्षर कहते हैं| अव्यक्त अक्षर की प्राप्ति को ही प्रभु परम गति अर्थात् सर्वश्रेष्ठ गति कहते हैं, जिस के प्राप्त होने पर जीव फिर जन्म-मरण के बंधन में नहीं पड़ते, मुक्त हो जाते हैं| यही प्रभु का परम धाम है अर्थात् उनका सर्वोत्कृष्ट स्वरूप है| इस प्रकार जिस नाम को अनेक रूपों में कहा गया है, उसकी यहाँ एकता की गई है| भगवान् ने स्वयं को ब्रह्म, अविनाशी, अमृत, शाश्वत धर्म और ऐकान्तिक सुख का आश्रय देने वाला कहा है| ऐसा कहकर भगवान् ने सभी नामों की एकता की है| लोगों की ऐसी धारणा रहती है कि सगुण उपासना का फल और निर्गुण उपासना का फल भिन्न भिन्न है| इस धारणा को दूर करने के लिये यहां सब की एकता का वर्णन किया गया है| मनुष्यों की रुचि, विश्वास और योग्यता के अनुसार उपासना के भिन्न भिन्न प्रकार होते हैं, पर उनके अन्तिम फल में कोई अंतर नहीं होता| सब का तत्व एक ही होता है| जैसे भोजन के प्राप्त न होने पर अभाव की और प्राप्त होने पर तृप्ति की एकता होने पर भी भोजन के पदार्थों में भिन्नता रहती है, ऐसे ही परमात्मा के प्राप्त न होने पर अभाव की और प्राप्त होने पर पूर्णता की एकता होने पर भी उपासनाओं में भिन्नता रहती है| इसका तात्पर्य यह है कि परमात्मा की स्तुति चाहे सगुण भाव से करें अथवा निराकार, अन्त में सब को एक ही परमात्मा की प्राप्ति होती है|

ब्रह्मलोक आदि जितने भी लोक हैं, वह सभी पुनरावर्ती हैं, अर्थात् वहां गए हुए प्राणियों को फिर लौट कर जन्म-मरण के चक्र में पड़ना पड़ता है क्योंकि वह सभी लोक प्रकृति के राज्य में हैं और विनाशी हैं| परन्तु भगवद्धाम प्रकृति से परे और अविनाशी है| वहां गए हुए प्राणियों को गुणों के परवश होकर लौटना नहीं पड़ता, जन्म लेना नहीं पड़ता| इतना अवश्य है कि प्रभु की आज्ञा से जन कल्याण हेतु उन्हें संत पुरुषों के रूप में इस भू मण्डल पर अवतरित होना पड़ सकता है|

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ।।८-२२।।

करते वास सब प्राणी जिनके अंतर्गत अर्जुन |
हैं जो अविनाशी नित्य सर्वत्र व्याप्त भगवन ||
कर सके प्राप्त साधक उन्हें हेतु भक्ति गहन ||८-२२||

भावार्थ: *हे अर्जुन, जिन भगवान् के अंतर्गत समस्त प्राणी वास करते हैं, जो अविनाशी, नित्य, सर्वत्र व्याप्त श्री भगवान् हैं, उन्हें साधक अनन्य भक्ति से प्राप्त कर सकता है|*

टीका: भगवान् विधि रूप से यहां कहते हैं कि परमात्मा के अन्तर्गत ही सम्पूर्ण प्राणी हैं, और परमात्मा सम्पूर्ण संसार में परिपूर्ण हैं| प्रभु के अतिरिक्त किसी की भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है| सब प्रभु से ही उत्पन्न होते हैं, प्रभु में ही स्थित रहते हैं और प्रभु में ही लीन होते हैं| अतः सब कुछ प्रभु ही हैं| परमात्मा सर्वोपरि होने के कारण सब में व्याप्त हैं, अर्थात् परमात्मा सब स्थान पर हैं, प्रत्येक समय में हैं, सम्पूर्ण वस्तुओं में हैं, सम्पूर्ण क्रियाओं में हैं और सम्पूर्ण प्राणियों में हैं| संसार की उत्पत्ति से पहले भी परमात्मा थे, संसार रूप से भी परमात्मा हैं और संसार का अन्त होने पर भी परमात्मा रहेंगे| दुर्भाग्य से संसार को पाञ्च भौतिक, ऊँच-नीच, बड़ा-छोटा, अनुकूल-प्रतिकूल,आदि मान लेने से परमात्मा की ओर दृष्टि नहीं जाती|

प्रभु कहते हैं कि ऐसे परम परमात्मा अनन्य भक्ति से प्राप्त होते हैं| परमात्मा के अतिरिक्त प्रकृति का कार्य 'अन्य' कहा जाता है| जो प्राणी इस 'अन्य' की स्वतन्त्र सत्ता मानकर उसको आदर देता है, महत्व देता है, उसकी अनन्य भक्ति नहीं है| इससे परमात्मा की प्राप्ति असंभव है| अगर वह प्राणी परमात्मा के अतिरिक्त किसी की भी सत्ता और महत्ता न माने तथा भगवान् के सम्बन्ध, भगवान् की प्रसन्नता के लिये प्रत्येक क्रिया करे तो यह उसकी अनन्य भक्ति है| इसी अनन्य भक्ति से वह परम परमात्मा को प्राप्त हो जाता है|

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ।।८-२३।।

तन त्याग जिस मार्ग करें प्राप्त निर्वाण योगीजन |
बतलाऊँ मैं तुम्हें अब वह मार्ग सुन कुंतीनंदन ||८-२३||

भावार्थ: *हे कुंतीनंदन सुन, जिस मार्ग से शरीर त्याग कर योगीगण मोक्ष प्राप्त करते हैं, वह मार्ग अब मैं तुम्हें बतलाऊँगा|*

टीका: जीवित अवस्था में यदि भव-बन्धन से मुक्त हो जाएं तो इसे 'सद्यो मुक्ति' कहते हैं, अर्थात् इहलोक में ही उन्हें भगवत प्राप्ति हो गई है| जिन्हें भगवान् में अनन्य भक्ति हो गई है, अनन्य प्रेम हो गया है, वह प्राणी इहलोक में ही परम संसिद्धि को प्राप्त हो जाते हैं| जो साधक किसी सूक्ष्म वासना के कारण ब्रह्मलोक में चले जाते हैं पर वहां उनकी अनन्य भक्ति से प्रसन्न हो ब्रह्मा जी उन्हें मुक्ति दे देते हैं, इसे 'क्रम मुक्ति' कहते हैं| जो केवल सुख भोगने के लिये ब्रह्मलोक आदि लोकों में जाते हैं, वह फिर लौटकर आते हैं, इसको 'पुनरावृत्ति' कहते हैं|

स्मरण रहे कि अनावृत ज्ञान वाले पुरुष अनावृत्ति में जाते हैं और आवृत ज्ञान वाले पुरुष आवृत्ति में जाते हैं| जो सांसारिक पदार्थों और भोगों से विमुख होकर परमात्मा के सम्मुख हो गए हैं, वह अनावृत ज्ञान वाले हैं| चूंकि उनका ज्ञान (विवेक) ढका हुआ नहीं है, प्रत्युत जाग्रत् है, इसलिये वह अनावृत्ति के मार्ग में जाते हैं, जहां से फिर लौटना नहीं पड़ता| निष्काम भाव होने से उनके मार्ग में प्रकाश अर्थात् विवेक की मुख्यता रहती है| सांसारिक पदार्थों और भोगों में आसक्ति, कामना और ममता रखने वाले जो पुरुष अपने स्वरूप से तथा परमात्मा से विमुख हो गए हैं, वह आवृत ज्ञान वाले हैं| उनका ज्ञान (विवेक) ढका हुआ है, इसलिये वह आवृत्ति के मार्ग में जाते हैं, जहां से फिर लौटकर जन्म-मरण के चक्र में आना पड़ता है| सकाम भाव होने से उनके मार्ग में अन्धकार अर्थात् अविवेक की मुख्यता रहती है|

जिनका परमात्म-तत्व की प्राप्ति का उद्देश्य है, पर कहीं उनके भीतर में आंशिक वासना है, वह पुण्यकारी लोकों में सुख भोग प्राप्त कर अंततः फिर

वहां से लौटकर आते हैं| ऐसे योग भ्रष्ट साधक आवृत्ति मार्ग का अनुगमन करते हैं|

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ।।८-२४।।

त्यागें तन जो राह अग्नि शुक्ल ज्योति दिन उत्तरायन |
पा सकें वह साधक सहज ब्रह्म निःसंदेह अर्जुन ||८-२४||

***भावार्थ**: हे अर्जुन, जो साधक अग्नि, शुक्लपक्ष, ज्योति, दिन और उत्तरायण के मार्ग से तन त्यागते हैं, वह निःसंदेह ब्रह्म को सहजता से प्राप्त करते हैं|*

टीका: इस भू मण्डल पर सबसे पहले अग्नि देवता का अधिकार है| अग्नि रात्रि में प्रकाश करती है, दिन में नहीं, क्योंकि दिन में सूर्य के प्रकाश की अपेक्षा अग्नि का प्रकाश सीमित है| अतः अग्नि का प्रकाश थोड़ी दूर तक तथा थोड़े समय तक रहता है, और सूर्य का प्रकाश बहुत दूर तक तथा बहुत समय तक रहता है|

शुक्लपक्ष पंद्रह दिनों का होता है, जो कि पितरों की एक रात है| इस शुक्लपक्ष का प्रकाश आकाश में बहुत दूर तक और बहुत दिनों तक रहता है| इसी प्रकार जब सूर्य भगवान् उत्तर की ओर चलते हैं, तब उसको उत्तरायण कहते हैं| उत्तरायण काल में दिन का समय बढ़ता है| उत्तरायण छः महीनों का होता है, जो कि देवताओं का एक दिन है| उत्तरायण का प्रकाश भी बहुत दूर तक और बहुत समय तक रहता है|

शुक्लमार्ग, अर्थात् प्रकाश की बहुलता वाला मार्ग ज्योति स्वरूप अग्नि देवता के अधिकार में आता है| जब साधक शुक्लमार्ग में तन त्यागते हैं, तो जहां तक अग्नि देवता का अधिकार है, वहां से वह जीवों को पार करा दिन के देवता को सौंप देते हैं| दिन के देवता उन जीवों को अपने अधिकार तक ले जाकर शुक्लपक्ष के अधिपति देवता के समर्पित कर देते हैं| शुक्ल पक्ष के अधिपति

देवता अपनी सीमा को पार करा उन जीवों को उत्तरायण के अधिपति देवता को सौंप देते हैं| फिर उत्तरायण के अधिपति देवता उनको ब्रह्मलोक के अधिकारी देवता के समर्पित कर देते हैं| इस प्रकार वह क्रम पूर्वक ब्रह्मलोक में पहुँच जाते हैं| ब्रह्मा जी की आयु तक वह वहां रहकर महाप्रलय में ब्रह्मा जी के साथ मुक्त हो जाते हैं, अर्थात सच्चिदानन्द परमात्मा को प्राप्त हो जाते हैं|

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ।।८-२५।।

त्यागें तन जन यदि धूम रात कृष्णपक्ष दक्षिणायन |
पा ज्योति सोम तब लौटें निःसंदेह वह भू अर्जुन ||८-२५||

***भावार्थ**: हे अर्जुन, यदि प्राणी धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष एवं दक्षिणायन में तन त्यागते हैं तो वह चन्द्रमा की ज्योति प्राप्त कर फिर से पृथ्वी पर लौट कर आते हैं (अतः जन्म-मरण के बंधन में पड़ जाते हैं)|*

टीका: देश और काल की दृष्टि से जितना अधिकार अग्नि अर्थात् प्रकाश के देवता का है, उतना ही अधिकार धूम अर्थात् अन्धकार के देवता का है| वह धूमाधिपति देवता कृष्ण मार्ग से जाने वाले जीवों को अपनी सीमा से पार करा रात्रि के अधिपति देवता के अधीन कर देते हैं| रात्रि के अधिपति देवता उस जीव को अपनी सीमा से पार करा कृष्णपक्ष के अधिपति देवता के अधीन कर देते हैं| वह देवता उस जीव को तब अपनी सीमा से पार करा दक्षिणायन के अधिपति देवता के समर्पित कर देते हैं| वह देवता उस जीव को चन्द्र लोक के अधिपति देवता को सौंप देते हैं| इस प्रकार कृष्ण मार्ग से जाने वाला वह जीव धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायन को पार करता हुआ चन्द्रमा की ज्योति को प्राप्त हो जाता है| वह अपने पुण्यों के अनुसार न्यूनाधिक समय तक वहां रहकर अर्थात् भोग भोग कर फिर भूलोक पर लौट आता है| यहाँ एक विशेष ध्यान देने की बात है| जो चन्द्र मण्डल हमें दिखता है, वह प्रभु द्वारा वर्णित चन्द्र लोक नहीं है| चन्द्र मण्डल तो पृथ्वी के बहुत समीप है, जब कि चन्द्र लोक सूर्य से भी अधिक दूरी पर है| चन्द्र लोक से ही अमृत चन्द्र मण्डल में आता है,

जिससे शुक्लपक्ष में औषधियां पुष्ट होती हैं| जिस कृष्णमार्ग का वर्णन भगवान् ने किया है, वह शुक्लमार्ग की अपेक्षा अधिक दूरी पर है| वास्तव में कृष्णमार्ग में जाने का यथार्थ उच्च लोकों में जाने का है| सामान्य मनुष्य मरकर मृत्युलोक में जन्म लेते हैं| जो पापी होते हैं, वह आसुरी योनियों में जाते हैं| घोर पापी नर्क के कुण्डों में जाते हैं| इन सब मार्गों से कृष्णमार्ग बहुत श्रेष्ठ है| कृष्णमार्ग में जाने वाले चन्द्रमा की ज्योति प्राप्त करते हैं| ऐसा कहने का तात्पर्य है कि संसार में जन्म-मरण के जितने मार्ग हैं उन सब मार्गों से यह कृष्णमार्ग (ऊर्ध्वगति का होने से) श्रेष्ठ है, और उनकी अपेक्षा प्रकाशमय है| कृष्णमार्ग से लौटते समय जीव पहले आकाश में आता है, फिर वायु के अधीन होकर बादलों में आता है और बादलों से वर्षा के द्वारा भू मण्डल पर आकर अन्न में प्रवेश करता है| तत्पश्चात कर्मानुसार प्राप्त होने वाली योनि में अन्न के द्वारा प्रवेश करता है और पुरुष से स्त्री जाति में जाकर शरीर धारण कर जन्म लेता है| इस प्रकार वह जन्म-मरण के चक्र में पड़ जाता है|

जिनका उद्देश्य परमात्म-तत्व की प्राप्ति का है, पर अन्त काल में किसी सूक्ष्म भोग वासना के कारण वह योग से विचलित हो गए हैं, वह ब्रह्मलोक आदि उच्च लोकों में जाते हैं, और वहां बहुत समय तक रहकर तत्पश्चात यहाँ भू मण्डल पर शुद्ध श्रीमानों के घर में जन्म लेते हैं| ऐसे योग भ्रष्ट साधकों का भी जाने का यही कृष्णमार्ग होने से यहाँ सकाम मनुष्य को भी योगी कहा जा सकता है| भगवान् ने ब्रह्म को प्राप्त होने वालों के लिये 'ब्रह्मविदो जनाः' कहकर बहु वचन का प्रयोग किया है और यहाँ चन्द्रमा की ज्योति को प्राप्त होने 'योगी' को एक वचन से सम्बोधित किया है| प्रभु इससे कह रहे हैं कि सभी प्राणी परमात्मा की प्राप्ति के अधिकारी हैं और परमात्मा की प्राप्ति सुगम भी है| स्मरण रहे कि परमात्मा सब को स्वतः प्राप्त हैं| स्वतः प्राप्त तत्व का अनुभव बड़ा सुगम है| इसमें कुछ अधिक नहीं करना पड़ता| इसलिये बहु वचन का प्रयोग किया गया है| परन्तु स्वर्ग आदि की प्राप्ति के लिये विशेष क्रिया करनी पड़ती है, पदार्थों का संग्रह करना पड़ता है, विधि विधान का पालन करना पड़ता है, आदि| इस प्रकार स्वर्गादि को प्राप्त करने में भी कठिनता है तथा प्राप्त करने के बाद पीछे लौटकर भी आना पड़ता है, इसलिये यहाँ एक वचन दिया गया है|

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्तते पुनः ।।८-२६।।

यह दो मार्ग शुक्ल और कृष्ण हैं जग में पुरातन |
दे राह शुक्ल निर्वाण और कृष्ण जन्म-मरण बंधन ||८-२६||

भावार्थ: *विश्व में दो प्रकार के मार्ग, शुक्ल एवं कृष्ण, पुरातन हैं| शुक्ल मार्ग मोक्ष दाता है, और कृष्ण मार्ग जन्म-मरण के बंधन में डाल देता है|*

टीका: शुक्ल और कृष्ण, इन दोनों मार्गों का सम्बन्ध जगत् के सभी चर अचर प्राणियों से है| चर अचर प्राणी क्रम से अथवा भगवत् कृपा से मनुष्य जन्म में अवश्य आते हैं और मनुष्य जन्म में किए हुए कर्मों के अनुसार ही ऊर्ध्वगति, मध्यगति और अधोगति प्राप्त करते हैं| प्रभु कहते हैं कि प्राणी चाहे ऊर्ध्वगति को प्राप्त करे अथवा न करे, उसका सम्बन्ध ऊर्ध्वगति अर्थात् शुक्ल और कृष्ण गति के साथ सदैव रहता है| जब तक प्राणियों के अंतर्मन में असत् (विनाशी) वस्तुओं का आदर है, कामना है, उनकी कभी भी अधोगति हो सकती है| इसी प्रकार सत समझने पर, चूंकि प्राणी परमात्मा का ही अंश है, ऊर्ध्वगति भी हो सकती है| इसलिये साधक को सदैव सजग रहना चाहिए और अपने अन्तःकरण में विनाशी वस्तुओं को महत्व नहीं देना चाहिए| स्मरण रहे कि परमात्म-तत्व की प्राप्ति के लिये किसी भी लोक में, किसी भी योनि में कोई बाधा नहीं है| चूंकि परमात्मा के साथ किसी भी प्राणी का कभी सम्बन्ध विच्छेद नहीं होता, अतः वह कभी भी और किसी भी योनि में परमात्मा को प्राप्त कर सकता है| भगवान् ने 'योग' को अव्यय कहा है| जैसे योग अव्यय है, ऐसे ही ये शुक्ल और कृष्ण, दोनों गतियाँ भी अव्यय एवं शाश्वत हैं, अर्थात् ये दोनों गतियाँ निरन्तर रहने वाली हैं, अनादि काल से हैं और जगत् के लिये अनन्त काल तक चलती रहेंगी|

शुक्ल मार्ग से गए हुए साधना परायण साधक मोक्ष को प्राप्त होते हैं, अर्थात् ब्रह्मलोक में जाकर ब्रह्मा जी के साथ ही मुक्त हो जाते हैं| कृष्ण मार्ग से गए हुए मनुष्य बार बार जन्म- मरण के चक्र में पड़ते रहते हैं|

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ।।८-२७।।

होता नहीं मोहित जो जाने तत्व इन द्वि-मार्ग जन |
रहो इस हेतु योग युक्त तुम हर काल हे युद्धिवन ||८-२७||

भावार्थ: *हे योद्धा, इन दोनों मार्गों को जानने वाला कभी मोहित नहीं होता| अतः तुम हर समय योग युक्त रहो (अर्थात इन दोनों मार्गों को भली भांति समझो)|*

टीका: शुक्ल मार्ग प्रकाशमय है, और कृष्ण मार्ग अन्धकारमय है| जिनके अन्तःकरण में उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओं का महत्व नहीं है और जिनके ध्येय में प्रकाश स्वरूप (ज्ञान स्वरूप) परमात्मा ही हैं, ऐसे साधक परमात्मा की ओर चलने वाले शुक्लमार्गी हैं, अर्थात् उनका मार्ग प्रकाशमय है| जिनका सांसारिक पदार्थों का संग्रह करना और उनसे सुख भोगना ही ध्येय होता है, ऐसे मनुष्य घोर अन्धकार में हैं| ऐसे साधक भोग भोगने के उद्देश्य से संयम करके यज्ञ, तप, दान आदि शास्त्र विहित शुभ कर्म करते हैं और मरने के बाद स्वर्गादि ऊँची भोग भूमियों में जाते हैं| वह यद्यपि यहाँ के भोगों में आसक्त मनुष्यों से ऊँचे उठे हुए हैं, फिर भी जन्म-मरण के मार्ग में होने से वह अन्धकार में ही हैं| इसका तात्पर्य है कि कृष्ण मार्ग वाले उच्च लोकों में जाने पर भी जन्म-मरण के चक्र में पड़े रहते हैं| इस प्रकार शुक्ल और कृष्ण दोनों मार्गों के परिणाम को जानने वाला मनुष्य योगी अर्थात् निष्काम हो जाता है, भोगी नहीं| वह इहलोक एवं परलोक के भोगों से ऊँचा उठ जाता है, इसलिये वह मोहित नहीं होता| सांसारिक भोगों के प्राप्त होने में और प्राप्त न होने में जिसका उद्देश्य निर्विकार है, वह योगी कहलाता है|

जिस साधक का ऐसा दृढ़ निश्चय हो गया है कि उसे केवल परमात्म-तत्व की प्राप्ति ही करनी है, वह किसी भी देश, काल, परिस्थिति आदि के प्राप्त हो जाने पर भी विचलित नहीं होता| उसकी साधना किसी देश, काल, घटना, परिस्थिति आदि के अधीन नहीं होती| अनुकूल, प्रतिकूल परिस्थिति आदि में उसकी स्वाभाविक समता हो जाती है| इसलिये भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि तू सब

समय में अर्थात् अनुकूल, प्रतिकूल परिस्थितियों के प्राप्त होने पर उनसे प्रभावित न होकर उनका सदुपयोग करते हुए (अनुकूल परिस्थिति के प्राप्त होने पर संसार की सेवा करते हुए, और प्रतिकूल परिस्थिति के प्राप्त होने पर हृदय से अनुकूलता की इच्छा का त्याग करते हुए) योगयुक्त हो जा, अर्थात् नित्य, निरन्तर समता में स्थित रह|

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ।।८-२८।।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मयोगो नामाऽष्टमोऽध्याय ।

करें जो त्याग पुण्य फल यज्ञ तप दान वहदाध्ययन |
पा सकें वह परमात्म-तत्व जो परम आदि सनातन ||८-२८||

करते हुए ओम तत सत पूर्ण भगवन्नाम उच्चारन |
ब्रह्मविद्या योगशास्त्रमय महाग्रंथ गीतबंधन ||
श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषदरूप ग्रन्थ अति पावन |
श्री कृष्णार्जुन संवाद अक्षरब्रह्मयोग नामन ||
हुआ अत्र सम्पूर्ण अष्टम अध्याय करे कल्याण जन ||

भावार्थ: *जो वहदाध्ययन, यज्ञ, तप और दान के पुण्य फल का त्याग कर देते हैं, उन्हें परमात्म-तत्व की प्राप्ति हो जाती है, जो पवित्र, आदि और सनातन है|*

इस प्रकार उपनिषद, ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र रूप श्रीमद्भगवद्गीता के श्री कृष्ण-अर्जुन संवाद में ' अक्षरब्रह्मयोग' नामक अष्टम अध्याय संपूर्ण हुआ|

टीका: यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत आदि सभी शास्त्रीय उत्तम कर्मों का फल विनाशी ही होता है| वह फल चाहे इस लोक का हो अथवा स्वर्गादि भोग भूमियों का, उसकी नश्वरता में किंचित मात्र भी संदेह नहीं है| जीव स्वयं परमात्मा का

अविनाशी अंश होकर भी विनाशी पदार्थों में फँसा रहे तो इसमें उसकी अज्ञता ही मुख्य है| अतः जो मनुष्य शुक्ल और कृष्ण मार्ग के रहस्य को समझ लेता है, वह यज्ञ, तप, दान आदि सभी पुण्य फलों का अतिक्रमण कर देता है| वह समझ जाता है कि भोग भूमियों की अंतिम सीमा ब्रह्मलोक है, वहां जाने पर भी लौटकर फिर जन्म-मरण के चक्र में पड़ना पड़ता है| परन्तु भगवान् को प्राप्त होने पर लौटकर नहीं आना पड़ता| उसको यह स्पष्ट हो जाता कि वह तो साक्षात् परमात्मा का अंश है तथा यह प्राकृत पदार्थ नित्य, निरन्तर अभाव में विनाश की ओर ले जाने वाले हैं| इस कारण वह नाशवान् पदार्थों में, भोगों में न फँस कर भगवान् के ही आश्रित हो जाता है| इसलिये वह आदि परमात्मा को प्राप्त हो जाता है, जिसे 'परमगति' भी कहा गया है| नाशवान् पदार्थों के संग्रह और भोगों में आसक्त हुआ मनुष्य उस आदि परमात्म-तत्व को नहीं जान सकता| न जानने की यह असामर्थ्य न तो भगवान् की दी हुई है, न प्रकृति से पैदा हुई है| न ही यह किसी कर्म का फल है| यह असामर्थ्य किसी की देन नहीं है| स्वयं जीव ने ही परमात्म-तत्व से विमुख होकर इसको पैदा किया है| इसलिये वह स्वयं ही इसको मिटा सकता है| स्वयं के द्वारा की हुई भूल को स्वयं ही मिटा सकता है| स्मरण रहे कि इस भूल को मिटाने में जीव असमर्थ, निर्बल अथवा अपात्र नहीं है| केवल संयोगजन्य सुख की लोलुपता के कारण यह अपने में असामर्थ्य का आरोप कर लेता है और इसी से मनुष्य जन्म के महान् लाभ से वंचित रह जाता है| अतः मनुष्य को संयोगजन्य सुख की लोलुपता का त्याग कर मनुष्य जन्म को सार्थक बनाने के लिये नित्य, निरन्तर उद्यत रहना चाहिए| इसी कारण प्रभु ने योगी की महिमा कही और फिर अर्जुन को योगी हो जाने की आज्ञा दी| भगवान् कहते हैं कि कोई किसी प्रकार से योग में लग जाए तो उसका पतन नहीं होता| इतना ही नहीं, इस योग का जिज्ञासु भी शब्द ब्रह्म का अतिक्रमण कर जाता है| भगवान् ने कहा है कि जो सांसारिक पदार्थों से सर्वथा विमुख होकर केवल मेरे परायण होता है, उस योगी के लिये मैं सुलभ हूँ| इसलिये हे अर्जुन, तू योगी हो जा, ऐसी आज्ञा दी|

अध्याय ९: राजविद्याराजगुह्ययोग

श्रीभगवानुवाच
इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ।।९-१।।

श्रीभगवानुवाच
छंदःसुनो अब अति गुप्त विज्ञान सहित संज्ञान बोले भगवन |
हो तुम रहित दोष दृष्टि अतः कहूँ जो तारे भव-बंधन ||९-१||

भावार्थ: *भगवान् बोले, 'अब तुम अति गोपनीय ज्ञान विज्ञान सहित सुनो| चूंकि तुम दोष दृष्टि रहित हो, अतः यह भव-बंधन को तारने वाला ज्ञान मैं तुम्हें देता हूँ'*

टीका: भगवान् भगवद् प्राप्ति हेतु जिस तत्व का अब वर्णन करना चाहते हैं, वह अत्यन्त गोपनीय है| यह अत्यन्त गोपनीय तत्व प्रत्येक के समक्ष वर्णित नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसमें भगवान् ने स्वयं अपनी महिमा का वर्णन किया है| जिसके अन्तःकरण में भगवान् के प्रति थोड़ी भी दोष दृष्टि है, उसको ऐसी गोपनीय बात नहीं कही जा सकती, क्योंकि उसके लिए भगवान् आत्मश्लाघी, अर्थात अपनी प्रशंसा करने वाले लग सकते हैं| चूंकि अर्जुन दोष दृष्टि से रहित हैं, इसलिये प्रभु यह अत्यन्त गोपनीय ज्ञान उन्हें बतला रहे हैं|

प्रभु स्पष्ट रूप से कहते हैं कि प्राणी प्रभु के शरण में आने से ही तर जाता है, अर्थात इस भव सागर के बंधन से मुक्त हो जाता है| चाहे कोई भीषण दुराचारी अथवा पापी हो, किसी भी वर्ण, किसी आश्रम, किसी सम्प्रदाय, किसी देश, किसी वंश का हो, वह भी प्रभु की शरण आकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है| भगवान् इस सम्पूर्ण जगत् के महा कारण हैं, ऐसा दृढ़ता से मानना 'ज्ञान' है, और भगवान् के अतिरिक्त दूसरा कोई (कार्य, कारण) तत्व नहीं है, ऐसा अनुभव होना विज्ञान है| प्रभु इसी विज्ञान सहित ज्ञान को अब अर्जुन को बतला रहे हैं|

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षागमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ।।९-२।।

है यह ज्ञान श्रेष्ठतम अति गुह्य धर्म युक्त व् पावन |
सुगम अविनाशी दे प्रत्यक्ष फल और आनंद महन ||९-२||

भावार्थ: *यह ज्ञान श्रेष्ठतम, अत्यंत गोपनीय, धर्ममय, प्रत्यक्ष फल देने वाला, अविनाशी एवं सरलता से प्राप्त होने वाला है| यह अत्यंत आनंद देता है|*

टीका: यह विज्ञान सहित ज्ञान सर्वश्रेष्ठ है (सम्पूर्ण विद्याओं का सम्राट है)| इसे समग्र रूप में जानने के पश्चात कुछ भी जानना शेष नहीं रह जाता| प्रभु कहते हैं कि जो असम्मूढ़ प्राणी मुझे क्षर से अतीत और अक्षर से उत्तम जानता है, वह सर्ववित् हो जाता है, अर्थात् उसको जानना कुछ शेष नहीं रहता| स्मरण रहे कि भगवान् के सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, व्यक्त-अव्यक्त, आदि जितने स्वरूप हैं, उन सब स्वरूपों में भगवान् के सगुण-साकार स्वरूप की विशेष महिमा है|

पभु कहते हैं कि संसार में रहस्य की जितनी गुप्त वस्तुएं हैं, उन सब में यह अत्यंत गुह्य है| इससे अधिक रहस्य की कोई और वस्तु नहीं है |

इस ज्ञान के समान पवित्र कोई और ज्ञान भी नहीं है| पापी, दुराचारी, सभी इस ज्ञान प्राप्ति से धर्मात्मा बन जाते हैं, और शाश्वत शान्ति को प्राप्त कर लेते हैं, 'पवित्रं परमं भवान्'| पवित्र परमात्मा का नाम, रूप, लीला, धाम, स्मरण, कीर्तन, जप, ध्यान, ज्ञान आदि सब पवित्र हैं, अर्थात् भगवत् विषयी जो भी तत्व है, वह सब महान् पवित्र है, और प्राणी को पवित्र करने वाला है|

यह ज्ञान सर्वश्रेष्ठ है| यह ज्ञान श्रेष्ठता की अंतिम सीमा है, क्योंकि इस ज्ञान से भक्त पवित्र होकर प्रभु को प्राप्त कर लेता है| विज्ञान सहित इस ज्ञान को जानकर जो प्राणी इसका अनुभव कर लेते हैं, उनके लिये भगवान् कहते हैं कि 'वह मेरे में हैं और मैं उन में हूँ','मयि ते तेषु चाप्यहम्'|

इस ज्ञान का फल प्रत्यक्ष है| इस ज्ञान को जानने से प्राणी अपने में विलक्षणता का अनुभव करता है| इस ज्ञान से ही वह परम गति को प्राप्त होता है| यही इसका प्रत्यक्ष फल है|

यह ज्ञान धर्ममय है| परमात्मा का लक्ष्य होने पर निष्काम भाव पूर्वक जितने भी कर्तव्य कर्म किए जाते हैं, वह सब धर्म के अन्तर्गत आते हैं| अतः यह विज्ञान सहित ज्ञान सभी धर्मों से परिपूर्ण है|

प्रभु ने अर्जुन से कहा है कि धर्ममय युद्ध के अतिरिक्त क्षत्रिय के लिये दूसरा कोई श्रेयस्कर धर्म नहीं है, 'धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते'| इस हेतु अपने वर्ण, आश्रम आदि के अनुसार शास्त्रविहित जितने कर्तव्य कर्म हैं, वह सभी धर्म्य हैं| इसके अतिरिक्त भगवत् प्राप्ति के जितने साधन हैं और भक्तों के जितने लक्षण हैं, उन सब का नाम भगवान् ने 'धर्म्यामृत' रखा है, अर्थात् यह सभी भगवान् की प्राप्ति कराने वाले होने से धर्ममय हैं|

इस ज्ञान में किंचित मात्र भी कोई अभाव नहीं है| यह ज्ञान शाश्वत है, अतः अविनाशी है| भगवान् ने अपने भक्त के लिये भी कहा है कि मेरे भक्त का विनाश (पतन) नहीं होता', 'न मे भक्तः प्रणश्यति'|

इस ज्ञान का अनुसरण करना सुगम है| पत्र, पुष्प, फल, जल आदि कोई भी वस्तु भगवान् की मानकर भगवान् को ही देना अत्यंत सुगम है| प्रभु की प्राप्ति सुगम है, क्योंकि वह सब देश में हैं, हर काल में हैं| जो कुछ भी देखने, सुनने, समझने में आता है, उन सब में प्रभु हैं| जितने भी प्राणी हैं, उन सब में प्रभु हैं और वह सब प्रभु के हैं| दुर्भाग्य से जो यह नहीं समझ पाता, अर्थात प्रभु की ओर दृष्टि न रखकर प्रकृति की ओर दृष्टि रखता है, वह बार बार जन्म-मरण के बंधन में पड़ता रहता है|

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ।।९-३।।

न पा सकें मुझे कभी जो रहित श्रद्धा धर्म युद्धिवन |
करते रहते वह अभग सदैव मृत्यु रूप जग भ्रमन ||९-३||

भावार्थ: *हे योद्धा, धर्म में श्रद्धा रहित प्राणी मुझे कभी नहीं पा सकते| वह अभागे इस मृत्यु रूप संसार में भ्रमण करते रहते हैं, अर्थात जन्म-मरण के चक्र में पड़े रहते हैं|*

टीका: प्रभु ने धर्म दो प्रकार का बतलाया है, स्व-धर्म और परधर्म| मनुष्य का जो अपना स्वतः सिद्ध स्वरूप है, वह उसके लिये स्व-धर्म है, तथा प्रकृति कार्य उसके लिये परधर्म है, 'संसारधर्मैरविमुह्यमानः'| भगवान् ने जिस विज्ञान सहित ज्ञान की परिभाषा दी है, उसी का अनुसरण करना 'धर्म' है| इस धर्म के महात्म्य पर श्रद्धा न रखने वाले, अर्थात् उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थों को सत्य मानकर उन्हीं में रमे रहने वाले मनुष्यों को यहाँ 'श्रद्धा न रखने वाला' पुरुष कहा गया है| यह विडम्बना है कि मनुष्य अपने शरीर, कुटुम्ब, धन, सम्पत्ति, वैभव को निःसन्देह रूप से उत्पत्ति-विनाशशील और प्रतिक्षण परिवर्तनशील जानते हुए भी उन पर विश्वास एवं श्रद्धा करते हुए उनका आश्रय लेते हैं| श्रद्धा तो स्व-धर्म पर होनी चाहिए, न कि परधर्म पर|

परधर्म पर श्रद्धा रखने वालों के लिये भगवान् कहते हैं कि वह अभागे हैं जो सब देश, सब काल, सम्पूर्ण वस्तुओं, सम्पूर्ण व्यक्तियों में सर्वदा विद्यमान एवं नित्य प्राप्त प्रभु को प्राप्त न करके मृत्यु रूप संसार के भंवर में फंसे रहने के कारण जन्म-मृत्यु के चक्र में पड़े रहते हैं|

स्मरण रहे कि इस संसार के मार्ग में विनाश ही विनाश है, अभाव ही अभाव है, 'मृत्युसंसारसागरात्, अर्थात यह संसार मौत का समुद्र है| इसमें कहीं भी स्थिरता से टिक पाना संभव नहीं| यह मनुष्य शरीर तो केवल परमात्मा की प्राप्ति के लिये ही मिला है, अतः भगवद प्राप्ति के लिए ही प्रयास करो| भगवान् ने कृपा करके सम्पूर्ण कर्म फलों को (जो कि सत्, असत् योनियों के कारण हैं) स्थगित करके मुक्ति का अवसर दिया है| ऐसे मुक्ति के अवसर को प्राप्त करके भी जो जीव जन्म-मरण की परम्परा में चले जाते हैं, उनको देखकर भगवान्

मानो पश्चात्ताप करते हैं कि मैंने अपनी ओर से इनको जन्म-मरण से छूटने का पूरा अवसर दिया था, पर यह उस अवसर को प्राप्त करके भी जन्म-मरण में जा रहे हैं| केवल साधारण मनुष्यों के लिये ही नहीं, प्रत्युत महान् आसुरी योनियों में पड़े हुए जीवों के लिये भी भगवान् पश्चात्ताप करते हैं कि मुझ को प्राप्त किए बिना ही यह अधम गति को जा रहे हैं, 'मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्'|

मनुष्य को ही भगवत् प्राप्ति का अधिकार मिला हुआ है, इसलिये मनुष्य भगवान् की ओर जा सकता है और भगवान् को प्राप्त कर सकता है| यह जीव साक्षात् परमात्मा का अंश है, अतः परमात्मा ही इस जीव का सत्य गृह है| जब यह जीव उस परमात्मा को प्राप्त कर लेता है, तब उसको अपना सत्य गृह प्राप्त हो जाता है| फिर वहां से इसको लौटना नहीं पड़ता, अर्थात् गुणों के परवश होकर जन्म-मरण के बंधन में नहीं पड़ना पड़ता, 'त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन'|

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ।।९-४।।
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ।।९-५।।

है व्याप्त सम्पूर्ण जग मम निराकार स्वरुप अर्जुन |
हैं स्थित सब जीव मुझ में परन्तु नहीं मैं स्थित जन ||९-४||
देखो मेरे ईश योग को करे जो सब प्राणी उत्पन्न |
करूँ धारण मैं सब पर नहीं स्थित हूँ मैं इन जन ||९-५||

भावार्थ: *हे अर्जुन, मेरा निराकार स्वरुप समस्त संसार में व्याप्त है| सभी जीव मुझ में स्थित हैं परन्तु मैं उनमें स्थित नहीं हूँ| मेरे ईश्वरीय योग को देखो जो सभी प्राणियों को उत्पन्न करता है| मैं इन सब को धारण करता हूँ, पर मैं इन प्राणियों में स्थित नहीं हूँ|*

टीका: मन, बुद्धि, इन्द्रियों से जिसका ज्ञान होता है, वह भगवान् का व्यक्त रूप है| जो मन, बुद्धि, इन्द्रियों का विषय नहीं है, अर्थात् मन आदि जिसको नहीं जान सकते, वह भगवान् का अव्यक्त रूप है| भगवान् कहते हैं कि मैं व्यक्त एवं अव्यक्त रूप, दोनों से ही विद्यमान हूँ| इस प्रकार भगवान् द्वारा स्वयं का व्यक्त एवं अव्यक्त (साकार, निराकार) स्वरुप कहने की गूढ़ाभिसन्धि समग्र रूप से है, अर्थात् सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार आदि का भेद तो सम्प्रदायों को लेकर है, वास्तव में परमात्मा एक हैं| यह सगुण, निर्गुण आदि एक ही परमात्मा के पृथक विशेषण हैं, पृथक नाम हैं|

जीव परमात्मा का साक्षात् अंश होने से परमात्मा के समान ही सर्वत्र व्यापक है, अर्थात् परमात्मा के साथ इसका अभेद है| प्रभु कहते हैं कि 'मतस्थानि सर्वभूतानि', सम्पूर्ण प्राणी मुझ में स्थित हैं, अर्थात् परा, अपरा प्रकृति रूप सारा जगत् प्रभु में ही स्थित है| वह प्रभु को छोड़कर रह ही नहीं सकता चूंकि सम्पूर्ण प्राणी प्रभु से ही उत्पन्न होते हैं, प्रभु में ही स्थित रहते हैं और प्रभु में ही लीन होते हैं| प्राणियों का उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय रूप जो कुछ परिवर्तन होता है, वह सब प्रभु से ही होता है| प्रभु स्वयं तो सम्पूर्ण जगत् में स्थित हैं, परन्तु प्रभु उनमें स्थित नहीं हैं| यदि प्रभु उनमें स्थित होते तो उनमें परिवर्तन का अनुसरण करते हुए प्रभु में भी परिवर्तन होता, प्रभु भी विनाशशील होते, परन्तु ऐसा नहीं है| प्रभु तो अविनाशी हैं| अतः प्रभु सब प्राणियों में व्याप्त रहते हुए भी उनसे निर्लिप्त हैं, उनसे सर्वथा सम्बन्ध रहित हैं| वह तो निर्विकार रूप से अपने आप में ही स्थित हैं|

'मैं सब प्राणियों में स्थित हूँ', ऐसा कहने का प्रभु का तात्पर्य है कि प्रभु की सत्ता से ही प्राणियों की सत्ता है| यदि प्रभु उनमें न होते, तो जगत् की सत्ता ही नहीं होती| जगत् के होने से प्रभु की सत्ता ही दिखती है|

प्रभु सम्पूर्ण जगत् में और सम्पूर्ण जगत् प्रभु में होते हुए भी सम्पूर्ण जगत् प्रभु में नहीं है| प्रभु के योग स्वरूप से सम्पूर्ण प्राणी का सृजन होता है| सृजन के पश्चात वह ही सब को धारण कर उनका भरण-पोषण करते हैं| परन्तु प्रभु उन प्राणियों में स्थित नहीं हैं, अर्थात् वह उनके आश्रित नहीं हैं, उनमें लिप्त नहीं हैं|

सब प्राणियों को उत्पन्न एवं भरण पोषण करते हुए भी प्रभु अहंता, ममता से रहित हैं|

भक्त के सामने जो कुछ परिस्थिति आए, जो कुछ घटना घटे, मन में जो कुछ संकल्प विकल्प आए, उन सब में उसको भगवान् की लीला ही देखनी चाहिए| भगवान् ही कभी उत्पत्ति की लीला, कभी स्थिति की लीला और कभी संहार की लीला करते हैं| यह सब संसार स्वरूप से भगवान् का ही रूप है| इसमें जो परिवर्तन होता है, वह सब भगवान् की ही लीला है| इस प्रकार भगवान् और उनकी लीला को देखते हुए भक्त को सदैव प्रसन्न रहना चाहिए|

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ।।९-६।।

जैसे रहे स्थित नभ पर करे सर्वत्र विचरण पवन |
सादृश्य हैं स्थित समस्त प्राणी मुझ में इस भुवन ||९-६||

भावार्थ: *जिस प्रकार पवन सर्वत्र विचरण करते हुए आकाश में स्थित रहती है, उसी प्रकार इस पृथ्वी पर समस्त प्राणी मेरे में स्थित हैं|*

टीका: प्रभु कहते हैं कि सब स्थान पर विचरने वाली वायु नित्य ही आकाश में स्थित रहती है| ऐसा प्रतीत हो सकता है कि वह कहीं निःस्पन्द रूप से रहती है, कहीं सामान्य रूप से क्रियाशील रहती है, कहीं बड़े वेग से चलती है, आदि, पर किसी भी रूप से चलने वाली वायु आकाश से अलग नहीं हो सकती| उसी प्रकार इस पृथ्वी पर सर्वत्र भ्रमण करने वाले सम्पूर्ण प्राणी मुझ में ही स्थित रहते हैं| मुझ को छोड़कर वह कहीं नहीं जा सकते| प्राणी प्रकृति और प्रकृति के कार्य जैसे शरीर आदि के साथ कितना ही घनिष्ठ सम्बन्ध मान लें, तब भी वह प्रकृति और उसके कार्य से एक नहीं हो सकते|

वायु आकाश से ही उत्पन्न होती है, आकाश में ही स्थित रहती है और आकाश में ही लीन हो जाती है, अर्थात् वायु की स्वतन्त्र सत्ता न रहकर आकाश ही रह

जाता है| ऐसे ही यह जीव परमात्मा से ही प्रकट होता है, परमात्मा में ही स्थित रहता है और परमात्मा में ही लीन हो जाता है, अर्थात् जीव की स्वतन्त्र सत्ता न रहकर केवल परमात्मा ही रह जाते हैं| जैसे वायु गतिशील होती है, अर्थात् सब जगह घूमती है, ऐसे यह जीव गतिशील नहीं होता| परन्तु जब यह गतिशील प्रकृति के कार्य शरीर के साथ अपनापन कर लेता है, तब शरीर की गति इसको अपनी गति दिखने लग जाती है| गतिशीलता दिखने पर भी यह नित्य निरन्तर परमात्मा में ही स्थित रहता है| भगवान् ने जीव को नित्य, सर्वगत, अचल, स्थाणु और सनातन बताया है| यहाँ शरीर की गतिशीलता के कारण इसको सर्वगत बताया है| अर्थात् यह सब जगह विचरने वाला दिखते हुए भी अचल और स्थाणु है| यह स्थिर स्वभाव वाला है| इसलिये भगवान् कह रहे हैं कि सब प्राणी अटल रूप से नित्य, निरन्तर मुझ में ही स्थित हैं| इसका तात्पर्य हुआ कि सर्वत्र घूमने वाले जीवों की परमात्मा से भिन्न किंचित मात्र भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, अर्थात् सब योनियों में घूमते रहने पर भी वह नित्य, निरन्तर परमात्मा के सच्चिदानन्द स्वरूप में ही स्थित रहते हैं| दुर्भाग्य से प्रकृति के कार्य के साथ अपना सम्बन्ध मानने से इसका अनुभव उन्हें नहीं हो रहा है| यदि यह मनुष्य शरीर में अपनापन न करें, तब इनको असीम आनन्द का अनुभव हो जाएगा| इसलिये मनुष्य से भगवान् कहते हैं कि तुम मुझ में ही नित्य, निरन्तर स्थित हो| सम्पूर्ण प्राणी सर्वथा मुझ में ही रहते हैं, मुझ से अलग उनकी स्थिति कभी हो नहीं सकती, ऐसा दृढ़ता से मान लेने पर प्रकृति के कार्य से विमुखता हो जाएगी, और वास्तविक तत्व का अनुभव हो जाएगा| इस वास्तविक तत्व का अनुभव करने के लिये साधक दृढ़ता से ऐसा मान ले कि जो सब देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदि में सर्वथा परिपूर्ण हैं, वह परमात्मा ही मेरे हैं| देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदि कोई भी मेरा नहीं है, और मैं उनका नहीं हूँ|

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ।।९-७।।

हों समाहित मुझ में यह काल महाप्रलय अर्जुन |
करूँ उत्पन्न इन्हें पुनः आरम्भ काल कल्प नूतन ||९-७||

भावार्थ: *हे अर्जुन, महाप्रलय समय में यह मुझ में समाहित हो जाते हैं| नए कल्प के आरम्भ में मैं इन्हें पुनः सृजित कर देता हूँ|*

टीका: प्रभु कह रहे हैं कि सम्पूर्ण प्राणी मेरे ही अंश हैं और सदा मुझ में ही स्थित रहने वाले हैं| परन्तु वह प्रकृति और प्रकृति के कार्य, शरीर आदि के साथ तादात्म्य करके जो कुछ भी कर्म करते हैं, उन कर्मों तथा उनके फलों के साथ उनका सम्बन्ध जुड़ने से वह बार बार जन्म-मरण के चक्र में फंसे रहते हैं| जब महाप्रलय का समय आता है, (ब्रह्मा जी की सौ वर्ष की आयु पूर्ण होने पर), उस समय प्रकृति से परवश हुए वह सम्पूर्ण प्राणी प्रकृतिजन्य सम्बन्ध को लेकर अर्थात् अपने अपने कर्मों को लेकर मेरी प्रकृति में लीन हो जाते हैं| महासर्ग के समय प्राणियों का जो स्वभाव होता है, उसी स्वभाव को लेकर वह महाप्रलय में लीन होते हैं|

महाप्रलय के समय अपने अपने कर्मों को लेकर प्रकृति में लीन हुए प्राणियों के कर्म जब परिपक्व होकर फल देने के लिये उन्मुख हो जाते हैं, तब प्रभु के मन में 'बहु स्यां प्रजायेय', ऐसा संकल्प हो जाता है| यही महासर्ग का आरम्भ है| इसका तात्पर्य है कि कल्पों के आदि में अर्थात् महासर्ग के आदि में ब्रह्मा जी के प्रकट होने पर प्रभु पुनः प्रकृति में लीन हुए जीवों का उनके कर्मों के अनुसार विभिन्न योनियों के साथ विशेष सम्बन्ध करा देते हैं| यही प्रभु की रचना है| प्रभु के द्वारा गुणों और कर्मों के विभाग पूर्वक चार वर्णों की रचना की गई है| ब्रह्मा जी के एक दिन का नाम 'कल्प' है, जो मानवीय एक सहस्त्र चतुर्युगी का होता है| इतने ही समय की ब्रह्मा जी की एक रात होती है| इस तथ्य से ब्रह्मा जी की आयु सौ वर्षों की होती है| ब्रह्मा जी की आयु समाप्त होने पर जब ब्रह्मा जी लीन हो जाते हैं, उस महाप्रलय को यहाँ 'कल्प अंत' कहा गया है| जब ब्रह्मा जी पुनः प्रकट होते हैं, उस महासर्ग को यहाँ 'नए कल्प' की संज्ञा दी गई है|

महाप्रलय में जीव स्वयं प्रकृति को प्राप्त होते हैं और महासर्ग के आदि में प्रभु उनकी रचना करते हैं| यह दो प्रकार की क्रियाएँ बतलाने का तात्पर्य है कि क्रियाशील होने से प्रकृति स्वयं लय की ओर जाती है और प्रकृति का परमात्मा में लीन हो जाता है| महासर्ग के आदि में उनके परिपक्व कर्मों का फल देकर

उनको शुद्ध करने के लिये प्रभु उनके शरीरों की रचना करते हैं| प्रभु रचना उन्हीं प्राणियों की करते हैं जो प्रकृति के परवश हुए हैं| जैसे मकान का निर्माण तो किया जाता है, पर वह धीरे धीरे समय के साथ स्वतः ही गिर जाता है, उसी प्रकार सृष्टि की रचना तो भगवान् करते हैं, पर प्रलय स्वतः होता है| इससे सिद्ध होता है कि प्रकृति के कार्य (संसार शरीर) की रचना में तो भगवान् का हाथ होता है, पर प्रकृति का ह्रास स्वतः ही हो जाता है| ऐसे ही भगवान् का अंश होने के कारण जीव स्वतः भगवान् की ओर अर्थात उत्थान की ओर जाता है| परन्तु जब वह कामना, ममता, आसक्ति करके स्वतः पतन (ह्रास) की ओर जाने वाले नाशवान् शरीर संसार के साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है, तब वह पतन की ओर चला जाता है| इसलिये मनुष्य को अपने विवेक को महत्व देकर तत्परता से अपना उत्थान करना चाहिए, अर्थात् कामना, ममता, आसक्ति का त्याग करके केवल भगवान् के ही सम्मुख हो जाना चाहिए|

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ।।९-८।।

हो वश प्रकृति होते परतंत्र जन समझ हे अर्जुन |
कल्प आरम्भ करूँ मैं पुनः सृजित इन् सब भूजन ||९-८||

भावार्थ*: हे अर्जुन, प्रकृति के वश हुए यह प्राणी परतंत्र हैं, ऐसा समझो| इन प्राणियों का मैं कल्प के आरम्भ में पुनः सृजन करता हूँ|*

टीका: यहाँ प्रकृति शब्द व्यष्टि प्रकृति का वाचक है| महाप्रलय के समय सभी प्राणी अपनी व्यष्टि प्रकृति (कारण शरीर) में लीन हो जाते हैं| व्यष्टि प्रकृति समष्टि प्रकृति में लीन होती है और समष्टि प्रकृति परमात्मा में लीन हो जाती है| परन्तु जब महासर्ग का समय आता है, तब जीवों के कर्म फल देने के लिये प्रभु उन्मुख हो जाते हैं| उस उन्मुखता के कारण भगवान् में 'बहु स्यां प्रजायेय', का संकल्प होता है, जिससे समष्टि प्रकृति में क्षोभ पैदा हो जाता है| उदाहरण स्वरुप यदि दही को बिलोया जाए तो उसमें मक्खन और छाछ, दोनों ही वस्तुएं उत्पन्न होती हैं| मक्खन तो ऊपर आ जाता है, और छाछ नीचे रह जाती है| यहाँ मक्खन को

सात्त्विक और छाछ को तामस रूप कहा जाए तो बिलोने की क्रिया राजस है| उसी प्रकार भगवान् के संकल्प से प्रकृति में क्षोभ हुआ तो प्रकृति से सात्त्विक, राजस और तामस, यह तीनों ही गुण उत्पन्न होते हैं| इन तीनों गुणों से स्वर्ग, मृत्यु और पाताल, यह तीन लोक पैदा होते हैं| इन तीनों लोकों में अपने अपने गुण, कर्म और स्वभाव से सात्त्विक, राजस और तामस जीव पैदा होते हैं| परमात्मा के अंश जीवों का अपने अपने गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार प्रकृति के साथ विशेष सम्बन्ध करा देने को प्रभु के द्वारा 'बीज स्थापन' भी कहा गया है|

स्मरण रहे कि जब यह जीव महाप्रलय के समय प्रकृति में लीन हुए थे, तब तत्वतः प्रकृति का कार्य प्रकृति में लीन हुआ था, और परमात्मा का अंश, चेतन समुदाय, परमात्मा में लीन हुआ था| परन्तु यह चेतन समुदाय अपने गुणों और कर्मों के संस्कारों को साथ लेकर ही परमात्मा में लीन हुआ था, इसलिये परमात्मा में लीन होने पर भी वह मुक्त नहीं हुआ था| अगर वह लीन होने से पहले गुणों का त्याग कर देता तो परमात्मा में लीन होने पर सदा के लिये मुक्त हो जाता, जन्म-मरण रूप बन्धन से छूट जाता| उन गुणों का त्याग न करने से ही उसका महासर्ग के आदि में अलग अलग योनियों के शरीरों के साथ सम्बन्ध हो जाता है, अर्थात् अलग अलग योनियों में जन्म हो जाता है| अलग अलग योनियों में जन्म होने में इस चेतन समुदाय की व्यष्टि प्रकृति अर्थात् गुण, कर्म आदि से माने हुए स्वभाव की परवशता ही कारण है| प्रभु ने जो यह परवशता बताई है, वह भी व्यष्टि प्रकृति की है| यह परवशता तीनों लोकों में है|

'प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य', प्रकृति परमात्मा की एक अनिर्वचनीय अलौकिक विलक्षण शक्ति है| इसको परमात्मा से भिन्न भी नहीं कह सकते और अभिन्न भी नहीं कह सकते| ऐसी अपनी प्रकृति को स्वीकार कर परमात्मा महासर्ग के आदि में प्रकृति के परवश हुए जीवों की रचना करते हैं| परमात्मा प्रकृति को लेकर ही सृष्टि की रचना करते हैं, प्रकृति के बिना नहीं| सृष्टि में जो परिवर्तन होता है, उत्पत्ति-विनाशशील होता है, वह सब प्रकृति में ही होता है, भगवान् में नहीं| अतः भगवान् क्रियाशील प्रकृति को लेकर ही सृष्टि की रचना करते हैं| इसमें भगवान् की कोई असमर्थता, पराधीनता, अभाव, दुर्बलता आदि नहीं है|

जैसे मनुष्य के द्वारा विभिन्न कार्य विभिन्न करण, उपकरण, इन्द्रियों और वृत्तियों के द्वारा होते हैं, परन्तु यह मनुष्य की दुर्बलता नहीं है, प्रत्युत उसका इन करण, उपकरण आदि पर आधिपत्य है जिससे वह इनके द्वारा कर्म करा लेता है| मनुष्य की यह दुर्बलता अवश्य है कि वह उन कर्मों को अपना और अपने लिये मान लेता है, जिससे वह उन में लिप्त हो जाता है| अधिपति होता हुआ भी उनका दास हो जाता है| ऐसे ही भगवान् सृष्टि की रचना करते हैं तो उनका प्रकृति पर आधिपत्य ही सिद्ध होता है| परन्तु आधिपत्य होने पर भी भगवान् में लिप्तता आदि नहीं होती|

भगवान् जिन जीवों की रचना करते हैं, वह विविध कर्मों वाले होते हैं, इसलिये भगवान् उनकी विविध प्रकार से रचना करते हैं, अर्थात् स्थावर, जंगम, स्थूल, सूक्ष्म आदि भौतिक शरीरों में भी कोई पृथ्वी प्रधान, कोई तेज प्रधान, कई वायु प्रधान आदि अनेक प्रकार के शरीर धारण करते हैं| यहाँ यह बात समझने की है कि भगवान् उन्हीं जीवों की रचना करते हैं, जो व्यष्टि प्रकृति के साथ 'मैं और मेरा' करके प्रकृति के वश में हो गए हैं| व्यष्टि प्रकृति के परवश होने से ही जीव समष्टि प्रकृति के परवश होता है| प्रकृति के परवश न होने से महासर्ग में उसका जन्म नहीं होता|

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ।।९-९।।

रहूँ रहित आसक्ति उदासीन मैं हर कर्म अर्जुन |
नहीं बांधते कर्म कभी मुझे हूँ मैं उपरि बंधन ||९-९||

भावार्थ: *हे अर्जुन, मैं हर कर्म से आसक्ति रहित एवं उदासीन हूँ| चूंकि मैं बंधन से ऊपर हूँ, अतः यह कर्म मुझे नहीं बांधते|*

टीका: महासर्ग के आदि में प्रकृति के परवश हुए प्राणियों की उनके कर्मों के अनुसार विविध प्रकार से रचना रूप जो कर्म प्रभु करते हैं, उसमें प्रभु की आसक्ति नहीं है| प्रभु इन सब कर्मों के प्रति उदासीन हैं| प्राणियों के उत्पन्न होने

पर न वह हर्षित होते हैं, और उनके प्रकृति में लीन होने पर न वह खिन्न होते हैं|

प्रभु ही प्राणियों की महासर्ग के आरम्भ में रचना करते हैं| यह कर्म प्रभु को नहीं बाँधते क्योंकि उन कर्मों और उनके फलों के साथ प्रभु का कोई सम्बन्ध नहीं है| ऐसा कहकर भगवान् मनुष्य को कर्म बन्धन से छूटने की युक्ति बताते हैं| प्रभु कहते हैं कि जैसे मैं कर्मों में आसक्त न होने से बँधता नहीं हूँ, ऐसे ही प्राणी भी यदि कर्मों और उनके फलों में आसक्ति न रखे, तो सब कर्म करते हुए भी वह उनसे नहीं बंधेंगे| स्मरण रहे कि कर्मों का आरम्भ और अन्त होता है तथा फल भी उत्पन्न होकर नष्ट हो जाते हैं, पर कर्म फल की इच्छा के कारण मनुष्य बँध जाता है| यह आश्चर्य की ही बात है कि कर्म और उसका फल तो नहीं रहता, पर (फलेच्छा के कारण) बन्धन रह जाता है| ऐसे ही वस्तु नहीं रहती, पर वस्तु का सम्बन्ध (बन्धन) रह जाता है|

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ।।९-१०।।

करती प्रकृति उत्पन्न जग हो आधीन मेरे प्रभुत्वन |
होता परिवर्तित जग इस हेतु बहु प्रकार अर्जुन ||९-१०||

भावार्थ: *हे अर्जुन, मेरे स्वामित्व में प्रकृति इस जग को उत्पन्न करती है| इसी कारण इस संसार का विविध प्रकार से परिवर्तन होता है|*

टीका: प्रभु कहते हैं कि मुझ से सत्ता स्फूर्ति पाकर ही प्रकृति चर-अचर, जड़-चेतन आदि भौतिक सृष्टि को रचती है| संसार में जो कुछ परिवर्तन हो रहा है, अर्थात् अनन्त ब्रह्माण्डों का सर्जन, पालन, संहार, स्वर्गादि लोकों में और नर्कों में पुण्य, पाप के फल का भोग, भिन्न भिन्न विचित्र परिस्थितियाँ और घटनाएँ, भिन्न भिन्न आकृतियाँ, वेश-भूषा, स्वभाव आदि, यह ऐसा प्रतीत होता है कि सब प्रकृति के द्वारा हो रहा है, परन्तु यथार्थ में मेरी अध्यक्षता अर्थात् मेरी सत्ता

स्फूर्ति से ही हो रहा है| भगवान् की सत्ता स्फूर्ति के बिना प्रकृति ऐसे विचित्र काम नहीं कर सकती क्योंकि प्रकृति में ऐसी स्वतन्त्र सामर्थ्य नहीं है|

भगवान् संसार की रचना प्रकृति को लेकर करते हैं, और प्रकृति संसार की रचना भगवान् की अध्यक्षता में करती है| भगवान् अध्यक्ष हैं, इसी हेतु संसार में विविध परिवर्तन होते हैं| जब तक प्राणियों का प्रकृति और प्रकृति के कार्य शरीरों के साथ 'मैं और मेरापन' बना हुआ है, तब तक उनका विविध परिवर्तन होता ही रहता है| वह विभिन्न लोक एवं विभिन्न शरीर में परिवर्तनशील रहते हैं| भगवत् प्राप्ति के बिना उन प्राणियों की कहीं भी स्थाई स्थिति नहीं होती| वह जन्म-मरण के चक्र में घूमते ही रहते हैं|

सभी प्राणी भगवान् में स्थित होने से भगवान् को प्राप्त होते हैं| पर जब वह अपने को भगवान् में न मानकर प्रकृति में मान लेते हैं, अर्थात् प्रकृति के कार्य के साथ 'मैं और मेरापन' का सम्बन्ध मान लेते हैं, तब वह प्रकृति को प्राप्त हो जाते हैं| फिर भगवान् की अध्यक्षता में प्रकृति उनके शरीरों को उत्पन्न और लीन करती रहती है| वास्तव में देखा जाए तो उन प्राणियों को उत्पन्न और लीन करने की शक्ति प्रकृति में नहीं है क्योंकि वह जड़ है| प्राणी स्वयं जन्म और मरण के चक्र में नहीं पड़ता क्योंकि वह परमात्मा का अंश होने से स्वयं अविनाशी है, चेतन है, निर्विकार है| परन्तु प्रकृतिजन्य पदार्थों के साथ सम्बन्ध जोड़ कर उनके परवश होकर उसको जन्म और मरण के चक्र में पड़ना पड़ता है, अर्थात् नए नए शरीर धारण करने और छोड़ने पड़ते हैं| जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय की जो क्रिया होती है, वह सब प्रकृति से ही होती है, प्रकृति में ही होती है और प्रकृति की ही होती है| परन्तु उस प्रकृति को परमात्मा से ही सत्ता स्फूर्ति मिलती है| परमात्मा से सत्ता स्फूर्ति मिलने पर भी परमात्मा में कर्तृत्व नहीं आता| जैसे सूर्य के प्रकाश में सभी प्राणी सब कर्म करते हैं और उनके कर्मों में विहित तथा निषिद्ध सब तरह की क्रियाएँ होती हैं परन्तु सूर्य पर उसका प्रभाव नहीं होता| कर्मों के अनुसार ही प्राणी अनुकूल, प्रतिकूल परिस्थितियों का अनुभव करते हैं, अर्थात् कोई सुखी है तो कोई दुःखी है, कोई ऊँचा है तो कोई नीचा है, कोई किसी लोक में है तो कोई किसी लोक में है, कोई किसी वर्ण आश्रम में है तो कोई किसी अन्य वर्ण आश्रम में है, आदि, परन्तु

सूर्य और उसका प्रकाश ज्यों का त्यों ही रहता है| उसमें कभी किंचित मात्र भी कोई अन्तर नहीं आता| ऐसे ही संसार में विविध प्रकार का परिवर्तन हो रहा है पर परमात्मा और उनका अंश जीवात्मा ज्यों का त्यों ही रहता है| वास्तव में अपने स्वरूप में किंचित मात्र भी परिवर्तन न है, न हुआ, न होगा और न हो ही सकता है| केवल परिवर्तनशील संसार के साथ अपना सम्बन्ध मानने से अर्थात् तादात्म्य, ममता और कामना करने से ही संसार का परिवर्तन अपने में होता हुआ प्रतीत होता है| अगर प्राणी जिन भगवान् की अध्यक्षता में सब परिवर्तन होता है, उनके साथ अपनी वास्तविक एकता मान ले (जो कि स्वतः सिद्ध है), तो भगवान् के साथ उसका जो वास्तविक प्रेम है, वह स्वतः प्रकट हो जाएगा|

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ।।९-११।।

नहीं जानते मूढ़ मेरा रुप जो परम भाव भगवन |
करते अवज्ञा मेरी समझ मुझे तन नर साधारन ||९-११||

भावार्थ: *मूढ़ (प्राणी) मेरे परम ईश्वर भाव रुप को नहीं जानते| वह मुझे साधारण मनुष्य के शरीर में समझ मेरी अवज्ञा करते हैं|*

टीका: जिसकी सत्ता स्फूर्ति पाकर प्रकृति अनन्त ब्रह्माण्डों की रचना करती है, चर, अचर, स्थावर, जंगम प्राणियों का सृजन करती है, जो प्रकृति और उसके कार्य का संचालक, प्रवर्तक, शासक और संरक्षक है, जिसकी इच्छा के बिना वृक्ष का पत्ता भी नहीं हिलता, जिनके न्याय से प्राणी अपने कर्मों के अनुसार विभिन्न लोकों में जाते हैं एवं जो उन समस्त लोकों का शासक है, वह मेरा (प्रभु का) महेश्वर रूप सर्वोत्कृष्ट भाव (स्वरूप) है|

मेरा सर्वोत्कृष्ट प्रभाव जो सर्वथा स्वतन्त्र है, कर्म, क्लेश आदि किसी भी विकार से आबद्ध नहीं है, क्षर से अतीत और अक्षर से भी उत्तम है, वेदों और शास्त्रों में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध है, ऐसे मेरे परम भाव को मूढ़ लोग नहीं जानते| इस अज्ञान के कारण वह मुझे मनुष्य के शरीर में समझ मेरी अवज्ञा करते हैं|

साधारण मनुष्य शरीर, कुटुम्ब-परिवार, धन-सम्पत्ति, पद-अधिकार आदि के आश्रित होते हैं, अर्थात् शरीर, कुटुम्ब आदि की प्रतिष्ठा को अपनी प्रतिष्ठा मानते हैं, विनाशशील सांसारिक पदार्थों के मिलने से अपने को भाग्यशाली मानते हैं और उनके न मिलने पर अपने को दुर्भागी मानते हैं| यह मूर्ख साधारण प्राणी मुझे भी अपनी ही भांति मनुष्य शरीर के परवश मानते हैं|

भगवान् शरीर के आश्रित नहीं होते| शरीर के आश्रित तो वह प्राणी होते हैं, जिनको कर्म फल भोग के लिये पूर्वकृत कर्मों के अनुसार शरीर मिलता है| परन्तु भगवान् का मानवीय शरीर कर्मजन्य नहीं होता| वह अपनी इच्छा से ही प्रकट होते हैं, 'इच्छयात्तवपुषः'| उन्होंने स्वतन्त्रता पूर्वक मत्स्य, कच्छप, वराह आदि अवतार लिए हैं| उनको न तो कर्म बन्धन होता है, और न वह शरीर के आश्रित होते हैं, प्रत्युत शरीर उनके आश्रित होता है| प्रभु प्रकृति को अधिकृत करके प्रकट होते हैं| इसका तात्पर्य है कि सामान्य प्राणी प्रकृति के परवश होकर जन्म लेते हैं तथा प्रकृति के आश्रित होकर ही कर्म करते हैं, पर भगवान् स्वेच्छा से, स्वतन्त्रता से अवतार लेते हैं, और प्रकृति भी उनकी अध्यक्षता में काम करती है|

मूढ़ लोग प्रभु के अवतार के तत्व को न जानकर उनको मनुष्य शरीर के आश्रित (शरण) मानते हैं| वह प्रभु के अज, अविनाशी परम भाव को न जानते हुए उन्हें साधारण मनुष्य मानते हैं, इसलिये वह प्रभु की शरण न जाकर इधर उधर भटकते रहते हैं|

जिसकी अध्यक्षता में प्रकृति अनन्त ब्रह्माण्डों को उत्पन्न और लीन करती है, जिसकी सत्ता स्फूर्ति से संसार में सब कुछ हो रहा है और जिसने कृपा करके अपनी प्राप्ति के लिये मनुष्य शरीर दिया है, ऐसे प्रभु के सत्य तत्व की मूढ़ लोग अवहेलना करते हैं| वह प्रभु को न मानकर उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थों को ही सत्य मानकर उनका संग्रह करने और भोग भोगने में ही लगे रहते हैं, यही प्रभु की अवज्ञा और अवहेलना करना है|

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ।।९-१२।।

आसुरी राक्षसी और मोहिनी भाव हैं जिनके मन |
हैं वह मूढ़ जाए व्यर्थ उनका ज्ञान व् कर्म पावन ||९-१२||

भावार्थ: *जिनके मन में आसुरी, राक्षसी एवं मोहिनी भाव हैं (अर्थात अपनी सांसारिक मनोकामनाएं पूर्ण करने के लिए इन असत्य प्रकृतियों के आश्रित होते हैं), वह मूढ़ (अविवेकी) हैं| उनके शुभ कर्म और ज्ञान व्यर्थ जाते हैं|*

टीका: जो प्राणी भगवान् से विमुख होते हैं और सांसारिक भोग चाहते हैं, उनके सब शुभ कर्म व्यर्थ जाते हैं| स्मरण रहे कि नाशवान् और परिवर्तनशील वस्तु की कामना से किए गए कर्म पूर्ण होंगे, यह कोई निश्चित नहीं है| यदि पूर्ण हो भी जाएं तो वह अस्थाई सफलता होगी, अर्थात् फल देकर नष्ट हो जाएगी| जब तक परमात्मा की प्राप्ति नहीं होती, तब तक कितनी ही सांसारिक वस्तुओं की इच्छाएँ की जाएं और उनका फल भी मिल जाए तो भी वह सब व्यर्थ ही है| मनुष्य अगर सकाम भाव से शास्त्रविहित यज्ञ, दान आदि कर्म भी करेंगे, तो भी उन कर्मों का आदि और अन्त होगा और उनके फल का भी आदि और अन्त होगा| वह कर्मों के फल स्वरूप उच्च लोकों में भी चले जाएंगे , तो भी वहां से उनको फिर जन्म-मरण के चक्र में पड़ना पड़ेगा| इसलिये उन्होंने कर्म करके केवल अपना समय ही नष्ट किया, अपनी बुद्धि नष्ट की और अंत में मिला कुछ नहीं| जिस कार्य हेतु मनुष्य शरीर मिला था, उस लाभ से वह वंचित रह गए| इसलिये उनके सब कर्म व्यर्थ एवं निष्फल ही हैं| इसका तात्पर्य है कि मनुष्य साक्षात् परमात्मा का अंश हैं, अविनाशी है, परन्तु कर्म तथा उनका फल आदि, अन्त वाला है| अतः जब तक परमात्मा की प्राप्ति नहीं होगी, तब तक वह सकाम भाव पूर्वक कितने ही कर्म करें और उनका फल भोगे, पर अन्त में दुःख और अशान्ति के अतिरिक्त उसे कुछ नहीं मिलेगा|

जो शास्त्रविहित कर्म अनुकूल परिस्थिति प्राप्त करने की इच्छा से सकाम भाव पूर्वक किए जाते हैं, वह कर्म भी व्यर्थ होते हैं, अर्थात् सत् फल देने वाले नहीं

होते| परन्तु जो कर्म भगवान् के लिये, भगवान् की प्रसन्नता के लिये किए जाते हैं, जो कर्म भगवान् के अर्पण किए जाते हैं, वह कर्म निष्फल नहीं होते, अर्थात् नाशवान् फल देने वाले नहीं होते, प्रत्युत सत् फल देने वाले हो जाते हैं, 'कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते'|

प्रभु कहते हैं कि जिन की मुझ में श्रद्धा नहीं है, अर्थात् जो मुझ से विमुख हैं, उनके द्वारा किए गए यज्ञ, दान, तप आदि सभी कर्म असत् होते हैं, अर्थात् मेरी प्राप्ति कराने वाले नहीं होते| उन कर्मों का इस जन्म में और मरने के बाद भी (परलोक में) स्थाई फल नहीं मिलता, अर्थात् जो कुछ फल मिलता है वह विनाशी होता है, इसलिये उनके वह सब कर्म व्यर्थ ही हैं|

ऐसे अविवेकी प्राणियों का सब ज्ञान भी व्यर्थ ही है| भगवान् से विमुख होकर उन्होंने यद्यपि संसार की सब भाषाएं सीख लीं, सब लिपियाँ सीख लीं, अनेक प्रकार की कलाएँ सीख लीं, अनेक प्रकार की विद्याओं का ज्ञान प्राप्त कर लिया, अनेक आविष्कार कर लिये, अनन्त प्रकार के ज्ञान प्राप्त कर लिये, पर इससे उनका कल्याण नहीं होगा, जन्म-मरण बंधन नहीं छूटेगा| इसलिये यह सब ज्ञान निष्फल है|

भगवान् से विमुख ऐसे मूढ़ प्राणी आसुरी, राक्षसी और मोहिनी प्रकृति का आश्रय लेते हैं| यदि मनुष्य अपनी स्वार्थ सिद्धि, कामना पूर्ति, प्राणों का पोषण करने में इस प्रकार लगा रहे जिससे दूसरों को दुःख हो रहा है, दूसरों का अहित हो रहा है, तो वह आसुरी स्वभाव वाला है|

जब स्वार्थ से की गई कामना पूर्ति में बाधा होती है तो क्रोध आता है, और क्रोध में अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिये जो मनुष्य दूसरों का अहित कर देते हैं, दूसरों का नाश कर देते हैं, वह 'राक्षसी' स्वभाव वाले होते हैं| जिसमें अपना न स्वार्थ है, न परमार्थ है, न वैर है, फिर भी बिना किसी कारण जो दूसरों का अहित करते हैं, दूसरों को कष्ट देते हैं (जैसे, उड़ते हुए पक्षी को गोली मार दी, सोते हुए कुत्ते को लाठी मार दी, आदि) वह मोहिनी स्वभाव वाले होते हैं| परमात्मा से विमुख होकर केवल अपने प्राणों को रखने की, अर्थात् सुख पूर्वक

जीने की जो इच्छा होती है, वह आसुरी प्रकृति है| प्रभु ने जो तीन प्रकार की प्रकृति (आसुरी, राक्षसी और मोहिनी) बताई है, उसके मूल में आसुरी प्रकृति ही है अर्थात् आसुरी सम्पत्ति ही सब का मूल है| आसुरी सम्पत्ति के आश्रित होने पर राक्षसी और मोहिनी प्रकृति भी स्वाभाविक आ जाती हैं| स्मरण रहे कि उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थों का ध्येय होने से सब अनर्थ परम्परा आ ही जाती है| प्रभु ने उसी आसुरी सम्पत्ति के यहां तीन भेद बताए हैं, कामना की प्रधानता वालों की आसुरी, क्रोध की प्रधानता वालों की राक्षसी और मोह (मूढ़ता) की प्रधानता वालों की मोहिनी प्रकृति होती है| इसका तात्पर्य है कि कामना की प्रधानता होने से आसुरी प्रकृति आती है| जहां कामना की प्रधानता होती है, वहां राक्षसी प्रकृति, क्रोध आ ही जाता है, 'कामात्क्रोधोऽभिजाएते', और जहां क्रोध आता है, वहां मोहिनी प्रकृति (मोह) आ ही जाती है, 'क्रोधाद्भवति सम्मोहः'| यह सम्मोह लोभ से भी होता है और मूर्खता से भी होता है|

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ।।९-१३।।

जो आश्रित दैवीय प्रकृति महात्मा हे अर्जुन|
समझ मुझे आदि अव्यय नित्य भजें सदैव अनन्य मन ||९-१३||

भावार्थ: *हे अर्जुन, दैवीय प्रकृति के आश्रित महात्मा मुझे आदि, अव्यय, नित्य समझ मुझे अनन्य मन से भजते हैं|*

टीका: दैवीय सम्पत्ति में 'दैव' नाम परमात्मा का है और परमात्मा की सम्पत्ति दैवीय सम्पत्ति कहलाती है| परमात्मा 'सत्' हैं, अतः परमात्मा की प्राप्ति कराने वाले जितने गुण और आचरण हैं, उनके साथ 'सत्' शब्द लगता है अर्थात् वह सद्गुण और सदाचार कहलाते हैं| जितने भी सद्गुण सदाचार हैं, वह सब भगवत् स्वरुप हैं, अर्थात् वह सभी भगवान् के ही स्वभाव हैं और स्वभाव होने से ही उनको 'प्रकृति' कहा गया है| इसलिये दैवीय प्रकृति का आश्रय लेना भी भगवान् का ही आश्रय लेना है|

दैवीय सम्पत्ति के जितने भी गुण हैं, वह सभी सामान्य गुण हैं और स्वतः सिद्ध हैं, अर्थात् इन गुणों पर सभी मनुष्यों का पूरा अधिकार है| अब कोई इन गुणों का आश्रय ले या न ले, यह तो मनुष्यों पर ही निर्भर है| जो इनका आश्रय लेकर परमात्मा की ओर चलते हैं, वह अपना कल्याण कर लेते हैं|

खोज एवं उत्पत्ति में अंतर समझना आवश्यक है| खोज नित्य तत्व की होती है जो पहले से ही उपस्थित है| परन्तु जिस वस्तु की उत्पत्ति होती है, वह नष्ट होने वाली होती है| दैवीय सम्पत्ति के जितने सद्गुण सदाचार हैं, उनको भगवान् के और भगवत् स्वरुप समझकर धारण करना, उनका आश्रय लेना, खोज है, क्योंकि यह किसी के उत्पन्न किए हुए नहीं है अर्थात् यह किसी की व्यक्तिगत उपज नहीं हैं| जो इन गुणों को अपने पुरुषार्थ के द्वारा उपार्जित मानता है अर्थात् स्वाभाविक न मानकर अपने बनाए हुए मानता है, उसको इन गुणों का अभिमान होता है| यह अभिमान ही वास्तव में प्राणी की व्यक्तिगत उपज है, जो नष्ट होने वाली है| जब मनुष्य दैवीय गुणों को अपने बल के द्वारा उपार्जित मानता है और 'मैं सत्य बोलता हूँ, दूसरे सत्य नहीं बोलते', इस तरह दूसरों की अपेक्षा अपने में विशेषता मानता है, तब उसमें इन गुणों का अभिमान पैदा हो जाता है| परन्तु इन गुणों को केवल भगवान् के ही गुण मानने से और भगवत् स्वरुप समझकर इनका आश्रय लेने से अभिमान पैदा नहीं होता| दैवीय सम्पत्ति के अधूरे पन में ही अभिमान पैदा होता है| दैवीय सम्पत्ति के (अपने में) पूर्ण होने पर अभिमान पैदा नहीं होता| जैसे किसी को 'मैं सत्यवादी हूँ', इसका अभिमान होता है तो उसमें सत्य भाषण के साथ साथ आंशिक असत्य भाषण भी समाहित होता है| अगर सर्वथा सत्य भाषण हो तो 'मैं सत्य बोलने वाला हूँ', इसका अभिमान नहीं हो सकता, प्रत्युत उसका यह भाव रहेगा कि मैं सत्यवादी हूँ तो मैं असत्य कैसे बोल सकता हूँ| मनुष्य में दैवीय सम्पत्ति तभी प्रकट होती है जब उसका उद्देश्य केवल भगवत प्राप्ति का हो जाता है| भगवत प्राप्ति के लिये दैवीय गुणों का आश्रय लेकर ही वह परमात्मा की ओर बढ़ सकता है| दैवीय गुणों का आश्रय लेने से उसमें अभिमान नहीं आता, प्रत्युत नम्रता, सरलता, निरभिमानता आती है और साधन में नित्य नया उत्साह आता है| जो मनुष्य भगवान से विमुख होकर उत्पत्ति-विनाशशील भोगों और उनके संग्रह में लगे हुए हैं, वह अल्पात्मा हैं, अर्थात् मूढ़ हैं| परन्तु जिन्होंने भगवान् का आश्रय

लिया है, उनकी मूढ़ता नष्ट हो गई है| उन्होंने केवल प्रभु के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ लिया है, अतः सत्य तत्व की ओर लक्ष्य होने से वह महात्मा हैं|

प्रभु ही सम्पूर्ण प्राणियों के आदि और अविनाशी हैं| इसका तात्पर्य है कि जब संसार उत्पन्न नहीं हुआ था, उस समय भी प्रभु थे, और जब संसार लीन हो जाएगा, उस समय भी प्रभु रहेंगे| प्रभु अनादि अनन्त हैं| अनन्त ब्रह्माण्ड, अनन्त सृष्टियाँ, अनन्त स्थावर, जंगम प्राणी प्रभु से उत्पन्न होते हैं, प्रभु में ही स्थित रहते हैं, प्रभु द्वारा ही पालित होते हैं और अंत में प्रभु में ही लीन हो जाते हैं| परन्तु प्रभु ज्यों के त्यों निर्विकार हैं|

जिन मनुष्यों ने प्रभु को अनादि और अव्यय जान लिया एवं प्रभु को सर्वोपरि मान लिया है, वह भगवान् की प्राप्ति में ही लग जाते हैं| उनका मन भगवान् में ही लीन हो जाने से उनकी वृत्ति इस लोक और परलोक के भोगों की ओर कभी नहीं जाती| भोगों में उनकी बुद्धि नहीं रहती |अनन्य मन वाला होने का तात्पर्य है कि उनके मन में अन्य का आश्रय नहीं है, अन्य किसी में आकर्षण नहीं है| उनका केवल भगवान् में ही अपनापन है| इस प्रकार अनन्य मन से वह मान लेते हैं कि 'मैं भगवान् का हूँ और भगवान् मेरे हैं'| ऐसा सम्बन्ध जोड़कर थोड़ा भी भजन किया जाए तो उससे बहुत लाभ होता है| अपनेपन का सम्बन्ध (भाव रूप होने से) नित्य, निरन्तर रहता है, जब कि क्रिया का सम्बन्ध नित्य, निरन्तर नहीं रहता| क्रिया छूटते ही उसका सम्बन्ध छूट जाता है| इसलिये सब के आदि और अविनाशी परमात्मा मेरे हैं और मैं उनका हूँ, ऐसा जिसने मान लिया है, वह अपने आपको भगवान् के चरणों में अर्पित कर शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि से जो कुछ भी शारीरिक, व्यावहारिक, लौकिक, वैदिक, पारमार्थिक कार्य करता है, प्रभु की प्रसन्नता के लिये ही करता है| यही उसका अनन्य मन से भजन करना है|

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ।।९-१४।।

प्रयत्नशील दढ़व्रती जन करें सतत मेरा कीर्तन |
हो युक्त नित्य अनन्य भक्ति करें वह मेरा पूजन ||९-१४||

भावार्थ: *प्रयत्नशील एवं दढ़व्रती प्राणी निरंतर मेरा कीर्तन करते हैं| वह नित्य युक्त होकर भक्तिपूर्वक मेरी उपासना करते हैं|*

टीका: मनुष्य योनि में ही प्राणी भगवान् में नित्य युक्त हो सकते हैं| उनमें सांसारिक भोगों और संग्रह को त्यागने की क्षमता होती है| भगवान् की प्राप्ति का वह दृढ़ विचार कर सकते हैं और उसका पालन भी कर सकते हैं|

भगवान् का अंश होने से जीव का भगवान् के साथ अखण्ड सम्बन्ध है| मनुष्य जब तक उस सम्बन्ध को नहीं पहचानता, तभी तक वह भगवान् से विमुख रहता है, अपने को भगवान् से पृथक मानता है| परन्तु जब वह भगवान् के साथ अपने नित्य सम्बन्ध को पहचान लेता है, तब वह भगवान् के सम्मुख हो जाता है, यही प्रभु के साथ 'नित्य युक्त' सम्बन्ध है|

मनुष्य का भगवान् के साथ अपनेपन का जो स्वयं का सम्बन्ध है, वह जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति, इन तीनों अवस्थाओं में, एकान्त में, भजन, ध्यान करते हुए अथवा सेवा रूप से संसार के सब काम करते हुए भी कभी खण्डित नहीं होता, अटल रूप से सदा बना रहता है| जो 'अनादि, अविनाशी, सर्वोपरि भगवान् ही मेरे हैं और मैं उनका ही हूँ', इस वास्तविकता को जान लेता है, वह भगवान् के साथ अपना वास्तविक सम्बन्ध बना उनमें 'नित्य युक्त' हो जाता है|

जो प्राणी सांसारिक भोग और संग्रह में लगे हुए हैं, अतः जो पारमार्थिक निश्चय लेते हैं, वह निश्चय दृढ़ नहीं होता| परन्तु जब प्रभु से अपनेपन का सम्बन्ध कर लेते हैं और इस निश्चय पर दृढ़ रहते हैं, तो यह उनका निश्चय दृढ़ होता है| अपने निश्चय से वह कभी विचलित नहीं होते| उनके निश्चय में अदृढ़ता नहीं आती| अदृढ़ता तो सांसारिक निश्चय में आती है, जो अस्थाई है|

जैसे सांसारिक मनुष्य कुटुम्ब का पालन करते हैं एवं उस हेतु उदाहरण के रूप में धन अर्जित करने का प्रयत्न करते हैं, ऐसे ही भगवान् के भक्त भगवत प्राप्ति के लिये यत्न (साधन) करते हैं| उनके प्रयत्न सांसारिक दिखते हुए भी वास्तव में सांसारिक नहीं होते क्योंकि उनके प्रयत्न का उद्देश्य भगवान् ही होते हैं| इस प्रकार के भक्त प्रेम पूर्वक कभी भगवान् के नाम का कीर्तन करते हैं, कभी नाम जप करते हैं, कभी पाठ करते हैं, कभी नित्य कर्म करते हैं, कभी भगवत् सम्बन्धी चर्चा करते हैं| वह जो कुछ वाणी सम्बन्धी क्रियाएँ करते हैं, वह सब भगवान् का स्तोत्र ही होता है,' स्तोत्राणि सर्वा गिरः'| जो भक्तिपूर्वक भगवान् को नमस्कार करते हैं, उनमें सद्गुण सदाचार स्वतः ही आ जाते हैं|

प्रभु कहते हैं कि इस प्रकार मेरे अनन्य भक्त निरन्तर मेरी उपासना करते हैं| निरन्तर उपासना करने का तात्पर्य है कि वह कीर्तन आदि के अतिरिक्त अन्य भरण पोषण करने की क्रियाएं जैसे खाना-पीना, सोना-जगना तथा व्यापार करना, खेती करना आदि, करते अवश्य हैं, परन्तु भगवान् को समर्पित करते हुए करते हैं| उनकी सम्पूर्ण लौकिक, पारमार्थिक क्रियाएँ केवल प्रभु प्राप्ति के उद्देश्य से एवं उनकी प्रसन्नता के लिये ही होती हैं|

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ।।९-१५।।

करें कुछ जन ज्ञानयज्ञ से एकत्व भाव में मेरा भजन |
कुछ पृथक भाव से कुछ करें विराट रूप का पूजन ||९-१५||

भावार्थ: *कोई मुझे ज्ञानयज्ञ से एकत्व भाव में मेरा भजन करते हैं| कोई पृथक भाव से और कोई मेरे विराट स्वरूप (विश्वतोमुखम्) की उपासना करते हैं|*

टीका: प्रभु कहते हैं कि विभिन्न प्रकार के साधक मेरी विभिन्न प्रकार से उपासना करते हैं| ज्ञान योगी साधक ज्ञान यज्ञ से अर्थात् विवेक पूर्वक असत् का त्याग करते हुए सर्वत्र व्यापक परमात्म-तत्व को और अपने वास्तविक स्वरूप को एक मानते हुए मेरे निर्गुण स्वरूप की उपासना करते हैं| इस

परिवर्तनशील संसार की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है क्योंकि यह संसार पहले अभाव रूप में था और अब भी अभाव में ही है| जिससे संसार उत्पन्न हुआ है, जिसका आश्रित है और जिससे प्रकाशित होता है, उस परमात्मा की सत्ता से ही इसकी सत्ता प्रतीत हो रही है| उस परमात्मा के साथ हमारी एकता है| इस प्रकार उस परमात्मा की ओर नित्य, निरन्तर दृष्टि रखना ही एकीभाव से उपासना करना है|

कर्मयोगी साधक अपने को सेवक मानकर अपनी शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, आदि की सम्पूर्ण क्रियाओं को तथा पदार्थों को संसार की सेवा में लगा कर भगवान् के विराट् रूप की स्तुति करते हैं| सभी प्राणी सुखी हों, उनका दुःख मिटे, ऐसी विचार धारा से वह अपने तन, मन, धन आदि से जनता की सेवा में लगे रहते हैं एवं भगवत् कृपा से उनको पूर्णता की प्राप्ति हो जाती है|

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाऽहमहमौषधम् ।
मंत्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ।।९-१६।।
पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक् साम यजुरेव च ।।९-१७।।
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ।।९-१८।।

हूँ मैं क्रतु यज्ञ स्वधा औषध मन्त्र घृत दहन।
हूँ मैं ही इज्या और कर्म हवन हे पृथानंदन ||९-१६||
समझो मुझे तुम मात पित पितामह धाता सब भुवन।
हूँ मैं ऋग् साम यजुर्वेद ओंकार ज्ञान पावन ||९-१७||
हूँ मैं लक्ष्य भर्ता स्वामी साक्षी मित्र स्थान शरन।
हूँ मैं हेतु सृजन प्रलय निधान अव्यय हे अर्जुन ||९-१८||

भावार्थ: *हे अर्जुन, मैं क्रतु, यज्ञ, स्वधा, औषध, मन्त्र, घी, अग्नि, इज्या, हवन कर्म हूँ| मैं ही समस्त भुवन का पिता, माता, धाता (धारण करने वाला) और पितामह हूँ| मैं ही पवित्र, ओंकार, ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद का ज्ञान हूँ| मैं*

ही लक्ष्य, भरण-पोषण करने वाला (भर्ता), प्रभु (स्वामी), साक्षी, शरण स्थान तथा मित्र हूँ। मैं ही उत्पत्ति, प्रलय, निधान और अव्यय का कारण हूँ।

टीका: जो वैदिक रीति से कर्म किया जाए, वह क्रतु है। प्रभु कहते हैं कि वह क्रतु मैं ही हूँ। जो पौराणिक रीति से आहुति देकर संपन्न किया जाए, वह यज्ञ है। वह यज्ञ भी प्रभु हैं। पितरों के लिये जो अन्न अर्पण किया जाता है, उसको स्वधा कहते हैं। वह स्वधा भी प्रभु ही हैं। क्रतु, यज्ञ और स्वधा के लिये आवश्यक जो वस्तुएं हैं जैसे वनस्पतियाँ, बूटियाँ इत्यादि वह औषध हैं। वह औषध भी प्रभु हैं।

जिस मन्त्र से क्रतु, यज्ञ और स्वधा किए जाते हैं, वह मन्त्र भी प्रभु ही हैं। यज्ञ आदि के लिये घृत आवश्यक होता है, वह घृत भी प्रभु हैं। जिस अग्नि में होम किया जाता है, वह अग्नि भी प्रभु ही हैं। हवन करने की क्रिया भी प्रभु हैं।

वेदों की बताई हुई जो विधि है, उसको भली भांति जानना ज्ञान है। कामना पूर्ति के लिये अथवा कामना निवृत्ति के लिये वैदिक और शास्त्रीय जो कुछ क्रतु, यज्ञ आदि का अनुष्ठान किया जाता है, वह विधि विधान सहित होना चाहिए। अतः विधि विधान को जानने योग्य सब बातें ज्ञान कहलाती हैं। वह ज्ञान भी प्रभु का स्वरूप ही है।

यज्ञ, दान और तप, यह तीन निष्काम कर्म पुरुषों को महान् पवित्र करने वाले हैं। इनमें निष्काम भाव से जो हव्य आदि वस्तुएँ व्यय होती हैं, वह भी पवित्र हो जाती हैं और इनमें निष्काम भाव से जो क्रिया की जाती है, वह भी पवित्र हो जाती है। यह पवित्रता भी प्रभु का ही स्वरूप है।

क्रतु, यज्ञ आदि का अनुष्ठान करने के लिये जिन ऋचाओं का उच्चारण किया है, उन सब में सबसे पहले 'ॐ' का ही उच्चारण किया जाता है। इसका उच्चारण करने से ही ऋचाएँ अभीष्ट फल देती हैं। वैदिकों के लिये प्रणव का उच्चारण मुख्य है। इसलिये भगवान् ने प्रणव को अपना स्वरूप बताया है।

क्रतु, यज्ञ आदि की विधि बताने वाले ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद, यह तीन वेद हैं| जिसमें नियताक्षर वाले मन्त्रों की ऋचाएँ होती हैं, उन ऋचाओं के समुदाय को ऋग्वेद कहते हैं| जिसमें स्वरों सहित गाने में आने वाले मन्त्र होते हैं, वह सब मन्त्र सामवेद कहलाते हैं| जिसमें अनियताक्षर वाले मन्त्र होते हैं, वह मन्त्र यजुर्वेद कहलाते है| यह तीनों वेद भगवान् के ही स्वरूप हैं|

इस जड़-चेतन, स्थावर-जंगम आदि सम्पूर्ण संसार को प्रभु ही उत्पन्न करते हैं, और बार बार अवतार लेकर इसकी रक्षा करते हैं, अतः 'पिता' हैं, 'पितासि लोकस्य चराचरस्य'| इस संसार को प्रभु ही धारण करते हैं| संसार के जो विधान हैं, उन विधान को बनाने वाले भी प्रभु ही हैं| जीवों की अपने अपने कर्मों के अनुसार जिस जिस योनि में, जैसे जैसे शरीरों की आवश्यकता पड़ती है, उस उस योनि में वैसे वैसे शरीरों को पैदा करने वाले प्रभु हैं, अतः वह सम्पूर्ण जगत् के जनक हैं|

यद्यपि ब्रह्मा जी सम्पूर्ण सृष्टि को पैदा करने वाले हैं, इस दृष्टि से ब्रह्मा जी प्रजा के पिता हैं| परन्तु ब्रह्मा जी भी प्रभु से ही प्रकट होते हैं, इस दृष्टि से प्रभु ही ब्रह्मा जी के पिता और प्रजा के पितामह हैं, 'ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे'|

प्राणियों के लिये जो सर्वोपरि तत्व है, वह लक्ष्य प्रभु स्वरूप ही है| संसार का भरण-पोषण करने वाले 'भर्ता' और संसार के स्वामी प्रभु ही हैं| सब समय में सब को भली भांति जानने वाले प्रभु साक्षी हैं| प्रभु के ही अंश होने से सभी जीव स्वरूप से नित्य, निरन्तर प्रभु में ही रहते हैं, इसलिये उन सब का शरण स्थान प्रभु ही हैं| जिसका आश्रय लिया जाता है, वह 'शरण' अर्थात् शरणागत वत्सल प्रभु ही हैं| प्राणियों का बिना कारण हित करने वाले प्रभु मित्र हैं|

सम्पूर्ण संसार प्रभु से ही उत्पन्न होता है और प्रभु में ही लीन होता है, इसलिये वह 'प्रभव' और 'प्रलय 'हैं, अर्थात् प्रभु ही संसार के निमित्त कारण और उपादान कारण हैं|

संसार की चाहे सर्ग अवस्था हो, चाहे प्रलय, इन सब अवस्थाओं में प्रकृति, संसार, जीव तथा जो कुछ देखने, सुनने, समझने में आता है, वह सब का सब प्रभु में ही रहता है, इसलिये वह 'निधान' हैं| सांसारिक बीज वृक्ष से पैदा होता है और वृक्ष पैदा करने के पश्चात बीज नष्ट हो जाता है, परन्तु यह दोनों ही दोष प्रभु में नहीं हैं| वह अनादि हैं, इसलिए अव्यय हैं|

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ।।९-१९।।

करूँ ग्रहण जल हेतु हित जग सम तप रवि अर्जुन |
लौटाता जल बन वर्षा हूँ मैं सत असत सुधा मरन ||९-१९||

भावार्थ: *हे अर्जुन, रवि समान तप कर संसार के हित के लिए मैं जल ग्रहण करता हूँ, और वर्षा से उसे लौटाता हूँ| मैं ही अमृत, सत, असत एवं मृत्यु हूँ|*
टीका: प्रभु ही सूर्य रूप से तपकर समुद्र का जल ग्रहण करते हैं और फिर उसे संसार के हित के लिए पृथ्वी को वर्षा बन कर लौटा देते हैं, जिससे प्राणी का जीवन चलता है|

प्रभु ही अमृत और मृत्यु हैं, अर्थात् जीवों का प्राण धारण करते हुए जीवित रहना और सम्पूर्ण जीवों के पिण्ड प्राणों का वियोग होना (मरना) भी प्रभु ही हैं| सत्-असत्, नित्य-अनित्य, यह सब प्रभु ही हैं| इसका तात्पर्य है कि जैसे महात्मा की दृष्टि में सब कुछ वासुदेव (भगवत् स्वरुप) ही है, 'वासुदेवः सर्वम्', ऐसे ही भगवान् की दृष्टि में सत्-असत्, नित्य-अनित्य सब कुछ वही हैं| स्मरण रहे कि सांसारिक दृष्टि में सब एक दूसरे से विरुद्ध ही दिखते हैं, जैसे जीना और मरना पृथक लगता है, उत्पत्ति और विनाश पृथक दिखता है, स्थूल और सूक्ष्म पृथक लगता है, सत्त्व, रजस और तमस, यह तीनों गुण भी पृथक समझे जाते हैं, परन्तु भगवान् के सन्दर्भ में सब कुछ भगवत् स्वरुप ही है| भगवान् के अतिरिक्त इनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है| जैसे सूत से बने हुए सब कपड़ों में केवल सूत ही सूत है, ऐसे ही वस्तु, व्यक्ति, क्रिया, पदार्थ आदि सब कुछ में केवल भगवान् ही भगवान् हैं|

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ।।९-२०।।

ज्ञाता त्रिवेद सोमप रहित अघ जो प्राणी पावन।
यदि इच्छा पाएं सुरलोक करें यज्ञ से मेरा पूजन ॥
पा इंद्रलोक फल पुण्य कर्म भोगेंगे वह दिव्य नंदन ॥९-२०॥

भावार्थ: *तीनों वेदों के ज्ञाता, सोमपान करने वाले, पापों से रहित पवित्र पुरुष जिन्हें स्वर्गलोक प्राप्ति की इच्छा है, वह यज्ञ के द्वारा मेरा पूजन करें| अपने पुण्य फल से वह इन्द्रलोक को प्राप्त कर दिव्य आनंद भोगेंगे|*

टीका: सांसारिक पुरुष जो ऋग, साम और यजु, इन तीनों वेदों के ज्ञाता हैं, वह इन वेदों में कहे हुए सकाम कर्मों का तथा उनके फल का वर्णन ध्यान में रखते हुए स्वर्ग के भोगों की इच्छा से स्वर्ग प्राप्ति हेतु यज्ञ के अनुष्ठान द्वारा प्रभु का पूजन करें|

सोमलता अथवा सोमवल्ली नाम की एक लता होती है| इसके रस को सोमरस कहते हैं| यज्ञ करने वाले इस सोमरस को वैदिक मन्त्रों के द्वारा अभिमन्त्रित करके पीते हैं, इसलिये उनको 'सोमप' कहा गया है|

वेदों में वर्णित यज्ञों का अनुष्ठान करने वाले और वेदों मन्त्रों से अभिमन्त्रित सोमरस को पीने वाले मनुष्यों के स्वर्ग के प्रति बन्धक पाप नष्ट हो जाते हैं| इस प्रकार सकाम यज्ञ का अनुष्ठान करने वाले मनुष्य स्वर्ग प्राप्ति की इच्छा से अनुष्ठान कर स्वर्ग की प्राप्ति कर वहां के दिव्य आनंद भोगते हैं|

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एव त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ।।९-२१।।

भोग स्वर्ग लौटें भू जब क्षीण पुण्य सुकृतकर्मन्।
कहा जैसा त्रिवेद रहें वह चक्र जन्म-मरण बंधन ॥९-२१॥

भावार्थ: *स्वर्ग भोग जब शुभ कर्म के पुण्य क्षीण हो जाते हैं तब वह पृथ्वी पर लौटते हैं| तीनों वेदों में वर्णित वह जन्म-मरण के बंधन में पड़े रहते हैं|*

टीका: स्वर्ग की प्राप्ति चाहने वाले न तो भगवान् का आश्रय लेते हैं और न भगवत् प्राप्ति के किसी साधन का ही आश्रय लेते हैं| वह केवल तीनों वेदों में वर्णित सकाम धर्मों का ही आश्रय लेते हैं| इससे उन्हें स्वर्ग और स्वर्ग के दिव्य भोगों की प्राप्ति तो अवश्य हो जाती है, परन्तु उनके शुभ कर्म की समाप्ति पर उन्हें फिर लौटकर मृत्युलोक आना पड़ता है| इस जन्म-मरण के चक्र से वह कभी छूट नहीं पाते|

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।।९-२२।।

करें चिंतन सदैव मेरा अनन्य भाव से जो भक्तगन |
हैं वह नित्य युक्त महन करूँ उनका योगक्षेम वहन ||९-२२||

भावार्थ: *जो भक्तगण अनन्य भाव से मेरा चिन्तन करते हैं (मेरी उपासना करते हैं), वह नित्य युक्त महापुरुष हैं| मैं उनका योगक्षेम (अप्राप्त की प्राप्ति और प्राप्त की रक्षा) वहन करता हूँ|*

टीका: जिनकी दृष्टि में सब कुछ भगवान् का ही स्वरूप है, उसमें जो कुछ परिवर्तन तथा चेष्टा हो रही है, वह भी सब भगवान् की लीला ही है, ऐसा दृढ़ता से मान लेने वाले महापुरुष 'अनन्य' हैं| केवल भगवान् में ही महत्ता और प्रियता होने से उनके द्वारा स्वतः भगवान् का चिन्तन ही होता है| वह केवल भगवान् के ही शरण होते हैं, उन्हीं की उपासना करते हैं, उन्हें प्राप्त करना ही उनका ध्येय होता है|

अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति करा देना 'योग' है और प्राप्त सामग्री की रक्षा करना 'क्षेम' है| भगवान् कहते हैं कि मेरे में नित्य, निरन्तर लगे हुए भक्तों का योगक्षेम मैं वहन करता हूँ|

वास्तव में देखा जाए तो अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति कराने में भी 'योग' का वहन है और प्राप्ति न कराने में भी 'योग' का वहन है| भगवान् अपने भक्त का सदैव हित देखते हैं और वही कार्य करते हैं, जिसमें भक्त का हित होता हो| ऐसे ही प्राप्त वस्तु की रक्षा करने में भी 'क्षेम' का वहन है और रक्षा न करने में भी 'क्षेम' का वहन है| यदि भक्त की भक्ति बढ़ती हो, उसका कल्याण होता हो तो भगवान् 'प्राप्त' की रक्षा करेंगे, क्योंकि इसी में उसका 'क्षेम' है| अगर 'प्राप्त' की रक्षा करने से उसकी भक्ति न बढ़ती हो, उसका हित न होता हो तो भगवान् उस 'प्राप्त' वस्तु को नष्ट कर देंगे, क्योंकि नष्ट करने में ही उसका 'क्षेम' है| इसलिये भगवान् के भक्त अनुकूल और प्रतिकूल, दोनों ही परिस्थितियों में परम प्रसन्न रहते हैं| भगवान् पर निर्भर रहने के कारण उनका यह दृढ़ विश्वास हो जाता है कि जो भी परिस्थिति आती है, वह भगवान् की ही भेजी हुई है| अतः 'अनुकूल परिस्थिति ठीक है और प्रतिकूल परिस्थिति ठीक नहीं है', उनका यह भाव मिट जाता है| उनका भाव रहता है कि 'भगवान् ने जो किया है, वही ठीक है और भगवान् ने जो नहीं किया है, वही उचित है, उसी में हमारा कल्याण है'|

प्रभु कह रहे हैं कि 'ऐसा होना चाहिए और ऐसा नहीं होना चाहिए', यह सोचने की उनके भक्तगणों को किंचित मात्र भी आवश्यकता नहीं है| भक्तगण सदैव यही सोचते हैं कि हम सदा भगवान् की कृपा में हैं, और भगवान् सदा ही हमारा वास्तविक हित करते रहते हैं| इसलिये हमारा अहित कभी हो ही नहीं सकता| इसका तात्पर्य है कि भक्त का मन चाहा हो जाए तो उसमें भी कल्याण है और मन चाहा न हो तो उसमें भी कल्याण है| भक्त की इच्छा और अनिच्छा कोई मूल्य नहीं रखती, मूल्य तो भगवान् के विधान का है| इसलिये अगर कोई अनुकूलता में प्रसन्न और प्रतिकूलता में खिन्न होता है, तो वह भगवान् का दास नहीं है, प्रत्युत अपने मन का दास है|

स्मरण रहे कि 'योग' नाम भगवान् के साथ सम्बन्ध का है और 'क्षेम' नाम जीव के कल्याण का है| इस दृष्टि से भगवान् भक्त के सम्बन्ध को अपने साथ दृढ़ करते हैं, यह तो भक्त का 'योग' हुआ और भक्त के कल्याण की चेष्टा करते हैं, यह भक्त का 'क्षेम' हुआ|

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयाऽन्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ।।९-२३।।

करें पूजन अन्य देव श्रद्धा सहित जो कुन्तीनन्दन |
करते वह भक्तगण अविधिपूर्वक मेरा ही पूजन ||९-२३||

भावार्थ: *हे अर्जुन, श्रद्धा से जो भक्तगण अन्य देवताओं को पूजते हैं, वह भी मुझे ही अविधिपूर्वक पूजते हैं|*

टीका: भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन, जिन भक्तगणों की श्रद्धा अन्य देवताओं पर है, और वह उन देवताओं का ही श्रद्धापूर्वक पूजन करते हैं, वह भी एक प्रकार से मेरा ही पूजा करते हैं, यद्यपि वह अविधिपूर्वक है|
प्रभु का अविधिपूर्वक कहने का तात्पर्य पूजन सामग्री अथवा मन्त्र चयन अथवा किसी विशेष विधि से नहीं है, उन देवी, देवताओं को प्रभु से पृथक मानकर उनकी उपासना करने से है| ।

यहां प्रभु कह रहे हैं कि भक्त में किसी प्रकार की किंचित मात्र भी कामना न हो और उपास्य में भगवद् बुद्धि हो, तो उसकी रुचि के अनुसार वह किसी भी देवता को अपना उपास्य मानकर उसकी पूजा करे, वह सब भगवान् का ही पूजन हो जाएगा और उसका फल भगवान की ही प्राप्ति होगा| यदि भक्त में किंचित मात्र भी कामना हो और उपास्य रूप में साक्षात् भगवान् हों तो वह अर्थार्थी, आर्त आदि भक्तों की श्रेणी में आ जाएगा, जिनको भगवान् ने उदार कहा है|

वास्तव में सब कुछ भगवान् ही हैं| अतः जिस किसी की उपासना की जाए ,सेवा की जाए, हित किया जाए, वह भगवान् की ही उपासना है| जैसे आकाश से बरसा हुआ जल नदी, नाला, झरना आदि बनकर अन्त में समुद्र को ही प्राप्त होता है (क्योंकि वह जल समुद्र का ही है), ऐसे ही मनुष्य जिस किसी का भी पूजन करे, वह तत्व से भगवान् का ही पूजन होता है| पूजक को लाभ अवश्य उसकी भावना के अनुसार ही मिलता है|

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ।।९-२४।।

जान मुझे ही स्वामी सभी यज्ञ भोक्ता हे पृथानंदन |
जो नहीं जानते यह तत्व होता उनका गहन पतन ||९-२४||

भावार्थ: *हे अर्जुन, मुझे ही सभी यज्ञों का भोक्ता और स्वामी समझ| जो यह तत्व नहीं जानते हैं, उनका गहन पतन होता है (अर्थात वह संसार को प्राप्त होते हैं)|*

टीका: शास्त्र विधि के अनुसार मनुष्य यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत आदि जितने शुभ कर्म करते हैं तथा अपने वर्ण आश्रम की मर्यादा के अनुसार जितने व्यावहारिक और शारीरिक कर्तव्य कर्म करते हैं, उन सब कर्मों के भोक्ता अर्थात् फल भागी प्रभु ही हैं| स्मरण रहे कि वेदों में, शास्त्रों में, पुराणों में, ग्रन्थों आदि में प्राणियों के लिये शुभ कर्मों का जो विधान वर्णित है, वह सब प्रभु का ही बनाया हुआ है एवं प्रभु को अर्पित करने के लिये ही बनाया हुआ है| इस का अनुसरण करने से प्राणी सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मों से और उनके फलों से सर्वथा निर्लिप्त रहते हैं| प्रभु कह रहे हैं कि अपने स्वरूप से कभी च्युत न हों और अनन्य भाव से केवल प्रभु का ही ध्यान करें चूंकि सम्पूर्ण शुभ कर्मों का और व्यावहारिक तथा शारीरिक कर्तव्य कर्मों के भोक्ता प्रभु ही हैं| जिस प्रकार सम्पूर्ण यज्ञों के भोक्ता (फल भागी) प्रभु हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण संसार (सम्पूर्ण लोक, पदार्थ, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति, क्रिया और प्राणियों के शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि) के स्वामी प्रभु ही हैं| अपनी प्रसन्नता के लिये ही प्रभु ने स्वयं से ही इस सम्पूर्ण सृष्टि की रचना की है, अतः वह इसके स्वामी हैं| जो इस तथ्य को नहीं जानता वह जन्म-मृत्यु के चक्र में पड़ता रहता है, अतः उसका पतन होता रहता है|

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ।।९-२५।।

पाएं देव करें जो साधक श्रद्धा से उनका पूजन।
पाएं पितर करें जब नर उनका सुमिरन अन्वासन ।।
पाएं भूत भजें भूत पाएं मुझे जो करें मेरा चिंतन ।।९-२५।।

***भावार्थ**: देवताओं को पूजने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं| पितरों का स्मरण एवं पूजन करने वाले (पूजने वाले) पितरों को प्राप्त होते हैं| भूतों का भजन करने वाले भूतों को प्राप्त होते हैं| लेकिन जो मेरा चिंतन (भजन) करता है, वह मुझे पाता है|*

टीका: भगवान् को भली भांति न जानने के कारण भोग और ऐश्वर्य को चाहने वाले पुरुष वेदों और शास्त्रों में वर्णित नियमों, व्रतों, मन्त्रों, पूजन विधियों आदि के अनुसार अपने अपने उपास्य देवताओं का विधि विधान से पूजन करते हैं, अनुष्ठान करते हैं और सर्वथा उन देवताओं के परायण हो जाते हैं| वह उपास्य देवता अपने उन भक्तों को अधिक से अधिक फल अपने लोकों का वास दे सकते हैं, जिन्हें भगवान् ने पुनरावर्ती कहा है|

स्मरण रहे कि प्रभु ने कहा है कि देवताओं का पूजन करना भी उन्हीं का पूजन करना है, परन्तु यह पूजन अविधिपूर्वक है| इस पूजन में भोग और ऐश्वर्य की चाह है| इसी चाह के कारण उनका पतन होता है| अगर वह देवता आदि के रूप में प्रभु के रूप को ही देखें और निष्काम पूजन करें तो वही देवता उन्हें भगवद प्राप्ति करा देंगे| वह तुच्छ और क्षण भंगुर देव लोकों को प्राप्त नहीं होंगे|

जो सकाम भाव से पितरों का पूजन करते हैं, उनको पितरों से कई प्रकार की सहायता मिल सकती है| लौकिक सिद्धि चाहने वाले मनुष्य ही पितरों के व्रतों का, नियमों का, पूजन विधियों का पालन करते हैं और पितरों को अपना इष्ट मानते हैं| उनको अधिक से अधिक पितर लोक की प्राप्ति होती है| इसलिये यहाँ प्रभु ने कहा है कि पितरों का पूजन करने वाले पितरों को प्राप्त होते हैं|

तामस स्वभाव वाले मनुष्य सकाम भाव पूर्वक भूत प्रेतों का पूजन करते हैं और उनके नियमों का पालन करते हैं| उदाहरण के रूप में मन्त्र जप के लिये गधे

की पूँछ के बालों का धागा बना कर उसमें ऊँट के दाँतों की मणियाँ पिरोना, रात्रि में शमशान में जाकर और मुर्दे पर बैठकर भूत, प्रेतों के मन्त्रों को जपना, मांस, मदिरा आदि अपवित्र वस्तुओं से भूत प्रेतों का पूजन करना, आदि| अधिक से अधिक इस प्रकार के मनुष्यों की सांसारिक कामनाएँ सिद्ध हो सकती हैं| मरने के बाद तो उनकी दुर्गति ही होगी अर्थात् उनको भूत, प्रेत की योनि ही प्राप्त होगी| इसलिये यहाँ प्रभु ने कहा है कि भूतों का पूजन करने वाले भूत, प्रेतों को ही प्राप्त होते हैं|

प्रभु कहते हैं कि जो अनन्य भाव से केवल मेरे ही भजन, पूजन और चिन्तन में लगे रहते हैं, वह निश्चित रूप से प्रभु धाम ही पाते हैं|

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ।।९-२६।।

करे जो भक्त मुझे पत्र पुष्प फल जल श्रद्धा से अर्पन |
करूँ स्वीकार मैं वह भोग उस पावन मन भक्तगन ||९-२६||

भावार्थ: *जो भी भक्त मुझे श्रद्धा से पत्र, पुष्प, फल, जल अर्पण करता है, उस शुद्ध मन वाले भक्त का वह भोग मैं स्वीकार करता हूँ|*

टीका: प्रभु कहते हैं कि जो भी भक्त मुझे श्रद्धा से पत्र (तुलसी दल आदि), पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है, उसे मैं स्वीकार करता हूँ| उदाहरण के रूप में द्रौपदी के पात्र से एक चावल का दाना भगवान् ने खा लिया था जिससे त्रिलोक तृप्त हो गया था| गजेन्द्र ने सरोवर का एक पुष्प भगवान् को अर्पण कर नमस्कार किया, तो उन्होंने गजेन्द्र का उद्धार कर दिया| शबरी के दिये हुए फल पाकर भगवान् इतने प्रसन्न हुए कि जहां कहीं भोजन करने का अवसर आया, वहां शबरी के फलों की प्रशंसा करते रहे| रन्तिदेव ने अन्त्यज रूप से आए भगवान् को जल पिलाया तो उनको भगवान् के साक्षात् दर्शन हो गए|

जब भक्त का भगवान् के प्रति भाव गहन हो जाता है, तब वह स्वयं को भूल जाता है| भगवान् भी भक्त के प्रेम में इतने मग्न हो जाते हैं कि स्वयं को भूल जाते हैं| प्रेम की अधिकता में भक्त को इसका विचार नहीं रहता कि मैं प्रभु को क्या अर्पण कर रहा हूँ और भगवान् को भी यह विचार नहीं रहता कि वह क्या स्वीकार कर रहे हैं|

भक्त के द्वारा प्रेम पूर्वक दिये गए उपहार को भगवान् तुरंत स्वीकार कर लेते हैं| उन्हें यह विचार भी नहीं रहता कि यह खाने की वस्तु है अथवा फेंकने की| प्रभु के प्रेम भाव में जब विदुरानी ने उन्हें केले के छिलके खाने के लिए दिए और गूदा फ़ेंक दिया तो प्रभु ने केले के छिलके ही खा लिए| भक्त का श्रद्धा पूर्वक जो भी अर्पण का भाव हो, प्रभु उसे स्वीकार करते हैं|

जिस भक्त का अन्तःकरण भगवान् में तल्लीन हो गया है, जो केवल भगवान् के ही परायण है, ऐसे प्रेमी भक्त के दिये हुए उपहार को भगवान् तत्काल स्वीकार करते हैं| यहाँ पत्र, पुष्प, फल और जल, इन चारों का नाम लेने का तात्पर्य यह है कि पत्र, पुष्प और फल, यह तीनों जल से पैदा होने के कारण जल के कार्य हैं और जल इनका कारण है| इसलिये यह पत्र, पुष्प आदि कार्य, कारण रूप पदार्थों के उपलक्षण हैं| सृष्टि जल का कार्य है और जल उसका कारण है, अतः पदार्थों को भगवान् के अर्पण करना चाहिए| भक्ति पूर्वक कोई भी वस्तु प्रभु को अर्पण करने से वह वस्तु भक्ति रूप एवं प्रेम रूप हो जाती है| भगवान् उसको आत्मसात् कर लेते हैं क्योंकि प्रभु तो प्रेम के भूखे हैं|

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ।।९-२७।।

करो जो भी तुम कर्म नित्य सम भोजन तप दान हवन |
हो जाओ अघहीन पावन कर मुझे वह अर्पण अर्जुन ||९-२७||

भावार्थ: *हे अर्जुन, जो भी तुम नित्य कर्म करते हो जैसे भोजन, तप, दान, हवन, इन्हें मुझे अर्पण कर पाप रहित पावन हो जाओ|*

टीका: भगवान् का ऐसा नियम है कि जो जैसे शरण लेता है, वैसे ही वह उसको आश्रय देते हैं| जो भक्त अपनी वस्तु प्रभु को अर्पण करता है, प्रभु प्रसन्न हो उसे वह वस्तु ब्याज सहित वापस दे देते हैं| भक्त तो सीमित वस्तु ही दे सकता है, पर प्रभु अनन्त गुणा करके उसे देते हैं| प्रभु कहते हैं कि जो स्वयं को मुझे दे देता है, वह भी स्वयं को उसे दे देते हैं| वास्तव में प्रभु ने स्वयं को संसार को दे रखा है, और संसार को सब कुछ करने की स्वतन्त्रता दे रखी है| अगर मनुष्य प्रभु की दी हुई स्वतन्त्रता को उन्हें ही अर्पण कर देता है तो वह भी अपनी स्वतन्त्रता को उसे अर्पण कर देते हैं, अर्थात् वह उसके अधीन हो जाते हैं| भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन, तू सम्पूर्ण क्रियाओं को मुझे अर्पण कर दे, अर्थात् तू स्वयं को ही मुझे अर्पण कर दे तब तेरी सम्पूर्ण क्रियाएँ स्वतः ही मुझ में अर्पित हो जाएंगी| सम्पूर्ण शारीरिक क्रियाएँ जैसे भोजन करना, जल पीना, कुपथ्य का त्याग और पथ्य का सेवन करना, औषधि सेवन करना, वस्त्र धारण करना, सर्दी, गर्मी से शरीर की रक्षा करना, स्वास्थ्य के लिये समयानुसार सोना, जागना, शौच, स्नान इत्यादि करना, इन सभी क्रियाओं को तू मुझे अर्पण कर दे|

प्रभु आगे कहते हैं कि यज्ञ सम्बन्धी सभी क्रियाएँ जैसे यज्ञ सामग्री एकत्रित करना, अग्नि प्रकट करना, मन्त्र पढ़ना, आहुति देना, आदि सभी शास्त्रीय क्रियाएँ मुझे अर्पण कर दे|

जो कुछ तू दान देता है, अर्थात् दूसरों की सेवा करता है, दूसरों की सहायता करता है, दूसरों की आवश्यकता पूर्ति करता है, आदि जो कुछ शास्त्रीय क्रिया करता है, वह सब भी मुझे अर्पण कर दे|

जो कुछ तू तप करता है, अर्थात् विषयों से अपनी इन्द्रियों का संयम करता है, अपने कर्तव्य का पालन करते हुए अनुकूल, प्रतिकूल परिस्थितियों को प्रसन्नता पूर्वक सहता है, तीर्थ, व्रत, भजन, ध्यान, जप, कीर्तन, श्रवण, मनन, समाधि आदि जो कुछ पारमार्थिक क्रिया करता है, वह सब भी मुझे अर्पण कर दे|

संक्षेप में इसका तात्पर्य है कि यदि प्राणी सब कुछ प्रभु को अर्पण कर देगा, तो प्रभु स्वयं उसको अर्पण हो जाएंगे, अर्थात उसके अधीन हो जाएंगे| सब कुछ

प्रभु को अर्पण करने के फल स्वरूप प्राणी को पूर्णता की प्राप्ति हो जाएगी| इस लाभ से बढ़कर दूसरा कोई लाभ सम्भव ही नहीं है और जिस लाभ में स्थित होने पर भारी दुःख से भी विचलित नहीं किया जा सकता अर्थात् जहां दुःखों के संयोग का ही अत्यन्त वियोग है, ऐसा लाभ प्राणी को प्राप्त हो जाएगा|

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ।।९-२८।।

हो जाओगे तुम मुक्त फल सब शुभ अशुभ कर्म बंधन |
हो सर्वथा मुक्त तब पा जाओगे मुझे तुम अर्जुन ||९-२८||

भावार्थ: *इस प्रकार सब शुभ, अशुभ कर्म बंधन से मुक्त हो जाओगे| हे अर्जुन, सबसे सर्वथा मुक्त होकर तब तुम मुझे पा जाओगे|*

टीका: प्रभु के उपदेशानुसार जब प्राणी सब पदार्थ और क्रियाएँ उनको अर्पण कर देता है, तब वह अनन्त जन्मों के शुभ, अशुभ कर्मों के फल से मुक्त जाता है| अर्थात जो कर्म फल जन्म-मरण देने वाले हैं, उनसे प्राणी की मुक्ति हो जाती है तथा वह मोक्ष को प्राप्त करता है|

यहाँ शुभ और अशुभ कर्मों से अनन्त जन्मों के किए हुए संचित शुभ एवं अशुभ कर्मों का प्रभु ने वर्णन किया है| प्रभु के उपदेश का पालन करने पर किए कर्म केवल शुभ ही होते हैं, कभी अशुभ नहीं होते| यदि किसी रीति से, किसी परिस्थिति के कारण, किसी पूर्वाभ्यास के प्रवाह के कारण भक्त के द्वारा कदाचित् किंचित मात्र भी कोई अशुभ कर्म हो भी जाए तो उसके हृदय में विराजमान भगवान् उस अशुभ कर्म को नष्ट कर देते हैं|

जितने भी कर्म किए जाते हैं, वह सभी बाह्य होते हैं, अर्थात् शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियों आदि के द्वारा ही होते हैं| इसलिये उन शुभ और अशुभ कर्मों का अनुकल, प्रतिकूल परिस्थिति के रूप में जो फल मिलता है, वह भी बाह्य ही होता है| मनुष्य भूल से उन परिस्थितियों के साथ अपना सम्बन्ध जोड़कर सुखी,

दुःखी होता रहता है| यह सुखी, दुःखी होना ही कर्म बन्धन है, और इसी से वह जन्म-मरण के बंधन में पड़ता है| परन्तु भक्त की दृष्टि जब अनुकूल, प्रतिकूल परिस्थितियों पर न रहकर भगवान् की कृपा पर रहती है, अर्थात् भक्त उनको भगवान् का विधान ही मानता है, कर्मों का फल नहीं मानता, तब वह अनुकूल, प्रतिकूल परिस्थिति रूप कर्म बन्धन से मुक्त हो जाता है|

सम्पूर्ण कर्मों को भगवान् को अर्पण करने का नाम ही 'संन्यास योग' है| इस संन्यास योग अर्थात् समर्पण योग से युक्त होने वाले को 'संन्यास योग युक्तात्मा' कहा जाता है|

जैसे सांख्ययोगी सम्पूर्ण कर्मों को मन से नवद्वार वाले शरीर में रखकर स्वयं सुख पूर्वक अपने स्वरूप में स्थित रहता है, ऐसे ही भक्त कर्मों के साथ अपने माने हुए सम्बन्ध को भगवान् में अर्पित कर देता है| इसका तात्पर्य है कि जैसे कोई सज्जन अपनी धरोहर को कहीं रख देता है, ऐसे ही भक्त अपने सहित अनन्त जन्मों के संचित कर्मों को, उनके फलों को और उनके सम्बन्ध को भगवान् में रख देता है| इसलिये इसको 'संन्यास योग' कहा गया है| इस प्रकार अर्पण करने से प्राणी शुभ, अशुभ कर्म फलों से मुक्त हो जाता है| शुभ, अशुभ कर्म फलों से मुक्त होने पर प्राणी को प्रभु की प्राप्ति होती है| सम्पूर्ण कर्म फलों से मुक्त होना ही प्रभु प्राप्ति का साधन है, और भगवान् की प्राप्ति होना ही प्रेम की प्राप्ति है|

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ।।९-२९।।

न मुझे कोई प्रिय न अप्रिय रहूँ मैं सम सभी जन |
करूँ वास मैं हिय उनके करें जो नित्य मेरा भजन ||९-२९||

भावार्थ: *न कोई प्राणी मुझे प्रिय है, न अप्रिय| मैं सभी में समान (रूप से) रहता हूँ| जो मेरा नित्य भजन करते हैं, उनके हृदय में मैं वास करता हूँ|*

टीका: प्रभु कहते हैं कि स्थावर, जंगम आदि सम्पूर्ण प्राणियों में व्यापक रूप से और कृपा दृष्टि से मैं सम हूँ| मेरी सब पर समान रूप से कृपा दृष्टि है, 'सुहृदं सर्वभूतानाम्'|

सभी प्राणी प्रभु के ही अंश हैं, उन्हीं के स्वरूप हैं| उन्हीं के स्वरूप होने से प्राणी प्रभु से कभी अलग नहीं हो सकता| प्राणियों में जन्म से, कर्म से, परिस्थिति से, घटना से, संयोग, वियोग आदि से अनेक तरह से विषमता होने पर भी प्रभु सर्वथा सर्वदा सब में समान रीति से व्यापक हैं| कहीं कम और कहीं अधिक नहीं हैं|

प्रभु सम्पूर्ण प्राणियों में समान हैं एवं किसी से राग, द्वेष नहीं रखते| प्रभु से विमुख होकर कोई प्राणी शास्त्रीय यज्ञ, दान आदि कितने ही शुभ कर्म करे, तो भी वह प्रभु के 'राग' का विषय नहीं है और दूसरा शास्त्र निषिद्ध अन्याय, अत्याचार आदि कितने ही अशुभ कर्म करे, तो भी वह प्रभु के 'द्वेष' का विषय नहीं है| यह अवश्य है कि जो प्राणी सकाम भाव पूर्वक शुभ कर्म करेगा, वह ऊँची गति में जाएगा और जो अशुभ कर्म करेगा, वह नीची गति में अर्थात् नर्कों तथा चौरासी लाख योनियों में जाएगा| परन्तु वह दोनों ही पुण्यात्मा और पापात्मा होने पर भी प्रभु के राग, द्वेष के विषय नहीं हैं| उनके अपने अपने आचरणों में भेद होने के कारण उनके परिणाम (फल) में भेद होगा, पर प्रभु का किसी के प्रति राग, द्वेष नहीं है|

प्रभु कहते हैं कि जो भक्तिपूर्वक उनका भजन करते हैं, अर्थात् जिनकी संसार में आसक्ति, राग, खिंचाव नहीं है, जो केवल प्रभु को ही अपना मानते हैं, केवल उनके ही परायण रहते हैं, केवल उन्हीं की प्रसन्नता के लिये रात दिन काम करते हैं, जो शरीर, इन्द्रियाँ, मन, वाणी के द्वारा प्रभु की ओर ही रहते हैं, प्रभु उन प्राणियों के हृदय में वास करते हैं|

उदाहरण के रूप में यदि कोई पुत्र अच्छा काम करता है तो सुपुत्र कहलाता है, और बुरा काम करता है तो कुपुत्र कहलाता है| यह सुपुत्र अथवा कुपुत्र का भेद तो उनके आचरणों के कारण हुआ है| माता, पिता के पुत्र भाव में कोई

अंतर नहीं पड़ता| गाय के थनों में कीट दूध न पीकर खून पीते हैं, तो यह विषमता गाय की नहीं है, प्रत्युत कीट की अपनी है| विद्युत के द्वारा कहीं बर्फ जम जाती है तो कहीं आग पैदा हो जाती है, यह विषमता विद्युत् की नहीं है, प्रत्युत यन्त्रों की है| ऐसे ही जो भगवान् में रहते हुए भी भगवान् को नहीं मानते, उनका भजन नहीं करते, तो यह विषमता उन प्राणियों की ही है, भगवान् की नहीं| भगवान् सब प्राणियों में समान रूप से व्यापक हैं, परिपूर्ण हैं| जो प्राणी भगवान् के सम्मुख हो जाते हैं, उनमें भगवान् का और भगवान् की कृपा का प्राकट्य हो जाता है| उनकी भगवान् में जितनी अधिक प्रियता होती है, भगवान् की भी उतनी ही अधिक प्रियता प्रकट हो जाती है| वह अपने आपको भगवान् को अर्पित कर देते हैं, तो भगवान् भी उनके हृदय में वास करते हैं| भक्तों के भावों के अनुसार ही भगवान् की विशेष कृपा, प्रियता आदि प्रकट होती है| मनुष्य सांसारिक राग के कारण ही अपने को संसार में मानते हैं| जब वह भगवान् का प्रेम पूर्वक भजन करने लग जाते हैं, तब उनका सांसारिक राग मिट जाता है और वह अपनी दृष्टि से भगवदमय हो जाते हैं| मनुष्य किसी भी देश के हों, किसी भी वेश में हों, किसी भी अवस्था के हों, किसी भी सम्प्रदाय के हों, किसी भी वर्ण के हों, किसी भी आश्रम के हों, कैसी ही योग्यता वाले हों, वह अगर भक्ति पूर्वक प्रभु का भजन करते हैं तो प्रभु उनके हृदय में वास करते हैं|

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ।।९-३०।।

हो यदि अतिसय दुराचारी पर करे वह मेरा भजन |
समझो साधु उसे चूंकि लिया उसने निश्चित वचन ||९-३०||

भावार्थ: *यदि कोई अतिशय दुराचारी भी मेरा भजन करता है तो उसे साधु समझो, क्योंकि उसने निश्चित वचन ले लिया है|*

टीका: क्योंकि प्रभु का किसी प्राणी के प्रति कोई द्वेष नहीं है, अतः दुराचारी जब अनन्य भाव से प्रभु का भजन करता है तो प्रभु उसका भी उद्धार कर देते हैं|

कभी कभी किसी परिस्थिति में आकर पूर्व संस्कारवश प्राणी द्वारा पाप क्रिया हो सकती है| ऐसी अवस्था में भी वह यदि प्रभु का भजन करता है तो उसका कल्याण निश्चित है| यहां शंका हो सकती है कि दुराचारी भगवान् के भजन में कैसे लगेगा? उसके प्रभु भजन में लगने के कई कारण हो सकते हैं|

(१) वह किसी कष्ट में पड़ जाए और उसको कहीं किंचित मात्र भी कोई सहारा न मिले| ऐसी अवस्था में अचानक उसको स्मरण हो आता है कि भगवान् सबके सहायक हैं और उनकी शरण में जाने से सब ठीक हो जाता है|

(२) वह कभी किसी ऐसे वायु मण्डल में चला जाए जहां सन्त महापुरुष का कभी निवास था अथवा वर्तमान में है| उनके प्रभाव से उसमें भगवान् में रुचि पैदा हो जाए| वाल्मीकि, अजामिल, सदन कसाई आदि पापी भी भगवान् के भक्त बन चुके हैं और भजन के प्रभाव से उनमें विलक्षणता आई है, ऐसी कथा सुन उसके अच्छे संस्कार जाग जाएं|

(३) कोई प्राणी ऐसी दुर्घटना का शिकार हो जाए कि उसके बचने की कोई सम्भावना न हो, पर वह बच जाए| ऐसी विशेष घटना को देखने से उसके भीतर यह भाव पैदा हो जाए कि कोई ऐसी विलक्षण शक्ति है जिसने उसे इस दुर्घटना से बचाया| वह विलक्षण शक्ति भगवान् ही हो सकते हैं, इसलिये अपने को भी उनके परायण हो जाए|

(४) उसको किसी सन्त के दर्शन हो जाएं और उसका पतन करने वाले दुष्कर्मों को देखकर उस पर सन्त की कृपा हो जाए| जैसे वाल्मीकि, अजामिल आदि पापियों पर सन्तों की कृपा हुई|

ऐसे कई कारणों से अगर दुराचारी का भाव बदल जाए तो वह भगवान् के भजन में अर्थात् भगवान् की ओर लग सकता है| चोर, डाकू, लुटेरे, हत्या करने वाले बधिक आदि भी अचानक भाव बदल जाने से भगवान् के अच्छे भक्त हुए हैं, ऐसी कई कथाएँ पुराणों में तथा भक्तमाल आदि ग्रन्थों में आती हैं|

इन कारणों से दुराचारी का भगवान् से अपनापन हो जाता है और एक भगवान् का ही उन्हें आश्रय हो जाता है| परिवर्तन से जितनी शीघ्रता से शुद्धि आती है, जप, तप, यज्ञ, दान आदि क्रियाओं से भी उतनी शीघ्र शुद्धि नहीं आती| अहंता का परिवर्तन हो जाता है|

ज्ञानयोग से अहंता का परिवर्तन हो जाता है| जिस प्रकाश में 'अहम्' का भान होता है, वह प्रकाश मेरा स्वरूप है और एक देशीय रूप में प्रतीत होने वाला 'अहम्' मेरा स्वरूप नहीं है, ऐसा ज्ञान ज्ञानयोग के माध्यम से हो जाता है| 'अहम्' दृश्य होता है, और जो दृश्य होता है, वह अपना स्वरूप नहीं होता| इस प्रकार दोनों का विभाजन करके अपने 'ज्ञप्ति स्वरूप' में स्थित होने से अहंता का परिवर्तन हो जाता है|

कर्मयोग से अहंता शुद्ध हो जाती है| जैसे पुत्र कहता है कि मैं पुत्र हूँ और यह मेरे पिता हैं, तो इसका तात्पर्य है कि पिता की सेवा करना मेरा कर्तव्य है, क्योंकि पिता-पुत्र का सम्बन्ध केवल कर्तव्य पालन के लिये ही है| पिता मुझे पुत्र न मानें, मुझे दुःख दें, मेरा अहित करें, तो भी मुझ को उनकी सेवा करनी है, उनको सुख पहुँचाना है, ऐसा भाव अहंता को परिवर्तित करता है| केवल अपने कर्तव्य का ही मुझे पालन करना है, अन्य के कर्तव्य की ओर मुझे देखना ही नहीं है| अन्य के कर्तव्य को देखना मेरा कर्तव्य नहीं है क्योंकि दूसरों के कर्तव्य को देखने वाला अपने कर्तव्य से च्युत हो जाता है| केवल अपना कर्तव्य पालन करने से अहंता शुद्ध हो जाती है| सांसारिक भोगों में पड़ने से अहंता अशुद्ध होती है|

भक्तियोग से अहंता परिवर्तित हो जाती है| जैसे विवाह पश्चात पति के साथ सम्बन्ध होते ही कन्या की अहंता बदल जाती है और वह पति के घर को ही

अपना घर, पति के धर्म को ही अपना धर्म मानने लग जाती है| वह पतिव्रता अर्थात् एक पति की ही हो जाती है| वह माता-पिता, सास-ससुर आदि किसी की भी नहीं होती| वह पति से सम्बन्ध होने के कारण सेवा सब की करती है, पर उसकी अहंता केवल पति की ही होती है| ऐसे ही मनुष्य की अहंता 'मैं भगवान् का हूँ और भगवान् मेरे हैं', इस प्रकार भगवान् के साथ हो जाती है, तो उसकी अहंता परिवर्तित हो जाती है|

अब यहाँ एक और शंका हो सकती है कि वह यदि कोई पहले भी दुराचारी रहा है और वर्तमान में भी उसके आचरण सर्वथा शुद्ध नहीं हैं, तो दुराचारों को लेकर उसको दुराचारी मानना चाहिए या प्रभु के भजन करने के कारण उसे साधु मानना चाहिए| भगवान् कहते हैं कि उसको तो साधु ही मानना चाहिए| यह विधि वचन है अर्थात् यह् भगवान् की विशेष आज्ञा है| यद्यपि वह दुराचारों से सर्वथा रहित नहीं हुआ है, इसलिये वह अभी पूर्णतः साधु नहीं हुआ है, तो भी उसको साधु ही मानना चाहिए| बाहर से उसके आचरणों में, क्रियाओं में कोई कमी भी देखने में आ जाए तो भी वह असाधु नहीं है| इसका कारण है कि उसने अपने आप को भगवान् का मान लिया है| उसमें भाव कि 'मैं भगवान का हूँ और भगवान् मेरे हैं', जाग्रत हो गया है| गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं कि:

'रहति न प्रभु चित चूक किए की। करत सुरति सय बार हिए की।।'

यह तभी संभव है जब बुद्धि में यह निश्चय हो जाता है कि मुझ को राग, द्वेष नहीं करने हैं| कर्तव्य कर्म करते हुए सिद्धि, असिद्धि में सम रहना है| बुद्धि के निश्चय में स्वयं कर्ता को भी उस निश्चय के साथ मिल जाना चाहिए| ऐसा देखा गया है कि सत्संग, स्वाध्याय के समय मनुष्यों का ऐसा निश्चय होता है कि अब तो हम केवल भजन स्मरण ही करेंगे| परन्तु यह निश्चय सत्संग, स्वाध्याय के बाद स्थिर नहीं रहता| इसका कारण यह है कि उनकी स्वयं की स्वाभाविक रुचि केवल परमात्मा की ओर चलने की नहीं है, प्रत्युत साथ में संसार का सुख, आराम आदि भोगने में भी रुचि रहती है| परन्तु जब स्वयं का यह निश्चय हो जाता है कि अब हमें परमात्मा की ओर ही चलना है, तो फिर यह निश्चय कभी नहीं मिटता क्योंकि यह निश्चय स्वयं का है| जैसे कन्या का विवाह होने पर 'अब मैं

पति की हो गई, अब मेरे को पति के घर का काम ही करना है', ऐसा निश्चय स्वयं में हो जाने से यह कभी मिटता नहीं, प्रत्युत बिना याद किए ही सदैव याद रहता है| इसका कारण यह है कि उसने स्वयं को ही पति का मान लिया| ऐसे ही जब मनुष्य यह निश्चय कर लेता है कि 'मैं भगवान् का हूँ और अब केवल भगवान् का ही भजन करना है, भजन के अतिरिक्त और कोई काम नहीं', तो यह निश्चय स्वयं का होने से सदा के लिये पक्क हो जाता है, फिर कभी मिटता ही नहीं| इसलिये भगवान् कहते हैं कि उसको साधु ही मानना चाहिए| केवल मानने की ही बात नहीं, स्वयं का निश्चय होने से वह बहुत शीघ्र धर्मात्मा बन जाता है| भक्तियोग की दृष्टि से सम्पूर्ण दुर्गुण, दुराचार भगवान् की विमुखता पर ही टिके रहते हैं| जब प्राणी भगवान् के सम्मुख हो जाता है, तब सभी दुर्गुण, दुराचार मिट जाते हैं|

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ।।९-३१।।

पा निरंतर शांति बने तत्काल धर्मात्मा वह जन |
हे कौन्तेय नहीं होता उस प्राणी का कभी पतन ||९-३१||

भावार्थ: *हे कौन्तेय, वह शीघ्र ही निरंतर शान्ति को प्राप्त कर धर्मात्मा बन जाता है| उस प्राणी का कभी पतन नहीं होता|*

टीका: प्रभु कहते हैं कि जो मेरा भजन करता है उसे शाश्वत शान्ति मिलती है और वह तत्काल धर्मात्मा हो जाता है, अर्थात् महान् पवित्र हो जाता है| जीव स्वयं परमात्मा का अंश है और उसका उद्देश्य परमात्मा की प्राप्ति करना ही है| प्रभु के भजन से वह अपने ध्येय की प्राप्ति कर लेता है| प्रभु का अंश होने से प्राणी धर्मात्मा तो स्वतः ही है लेकिन संसार के सम्बन्ध के कारण उसमें पापात्मापन आ जाता है| अब जब अहंता बदलने से संसार का सम्बन्ध नहीं रहता तब वह स्वतः धर्मात्मा बन जाता है| संसार के सम्बन्ध से वह पापात्मा बना था, संसार का सम्बन्ध छूटते ही वह फिर से पवित्र हो गया|

सांसारिक भोगों का सुख भोगने की इच्छा के कारण मनुष्य 'मुझे केवल भगवान् की ओर ही चलना है', ऐसा निश्चय नहीं कर पाता| संसार की आसक्ति के कारण उसमें आगन्तुक दोष आ जाते हैं| यदि उसके मन में इन सांसारिक भोगों के प्रति घृणा हो जाए और ऐसा निश्चय हो जाए कि अब वह भगवान् का ही भजन करेगा तब वह शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाता है| स्मरण रहे कि जहां संसार की कामना है, वहीं हृदय के किसी न किसी कोने में भगवान् की ओर चलने की रुचि भी होती है| अगर भगवान् की ओर चलने की रुचि अधिक हो जाए तो कामना, आसक्ति नष्ट हो जाती है| फिर भगवत् प्राप्ति में देरी नहीं लगती, वह बहुत शीघ्र धर्मात्मा हो जाता है| इसका तात्पर्य यह हुआ कि उसमें जो दुराचार हैं, वह नष्ट हो जाएंगे|

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।।९-३२।।

नर नारि वैश्य शूद्र हो कोई पाप युक्त भूजन |
पाए निःसंदेह परम गति हो जब मेरे शरण अर्जुन ||९-३२||

भावार्थ: *हे अर्जुन, पुरुष, स्त्री, वैश्य, शूद्र कोई भी पापी हो जब वह मेरी शरण आ जाते हैं तो निःसंदेह परम गति प्राप्त करते हैं|*

टीका: जिनके इस जन्म में आचरण अशुद्ध होते हैं, उन्हें प्रभु ने दुराचारी कहा है| जिनके पूर्व जन्म में आचरण अशुद्ध थे अर्थात् जो पूर्व जन्म के पापी हैं और अपने पुराने पापों का फल भोगने के लिये नीच योनियों में पैदा हुए हैं, उनको प्रभु ने 'पाप युक्त जन' कहा है|

सभी 'पाप युक्त जन' भगवद भक्ति के अधिकारी माने जाते हैं| शाण्डिल्य ऋषि ने कहा है, 'आनिन्द्ययोन्यधिक्रियते पारम्पर्यात् सामान्यवत्', अर्थात् जैसे दया, क्षमा, उदारता आदि सामान्य कृपाओं के मनुष्य अधिकारी हैं, ऐसे ही भगवद भक्ति के नीच से नीच योनि से लेकर ऊँची से उँची योनि तक के सब प्राणी अधिकारी हैं| इसका कारण यह है कि जीव भगवान् के अंश होने से भगवान्

की ओर चलने में, भगवान् की भक्ति करने में, भगवान् के सम्मुख होने में अनधिकारी नहीं हैं| प्राणियों की योग्यता, अयोग्यता आदि तो सांसारिक कार्यों में हैं| क्योंकि योग्यता आदि बाह्य हैं, मिली हुई हैं तथा बिछुड़ने वाली हैं, इसलिये भगवान् के साथ सम्बन्ध जोड़ने में योग्यता, अयोग्यता कोई कारण नहीं है| अर्थात् जिसमें योग्यता है, वह भगवान् में लग सकता है और जिसमें अयोग्यता है, वह भगवान् में नहीं लग सकता, यह कोई कारण नहीं है| प्राणी स्वयं भगवान् के हैं अतः सभी भगवान् के सम्मुख हो सकते हैं| इसका तात्पर्य है कि जो हृदय से भगवान् को चाहते हैं, वह सभी भगवद भक्ति के अधिकारी हैं| इस कारण पाप युक्त जन भी प्रभु के शरण होकर परम गति को प्राप्त हो जाते हैं, परम पवित्र हो जाते हैं|

लौकिक दृष्टि से आचरण भ्रष्ट होने से अपवित्रता मानी जाती है, पर वास्तव में जो कुछ अपवित्रता आती है, वह सब भगवान् से विमुख होने से ही आती है| जैसे अंगार जब अग्नि से विमुख होकर कोयला बन जाता है, फिर उस कोयले को साबुन लगाकर कितना ही धो लें, तो भी उसका कालापन नहीं मिटता| अगर उसको पुनः अग्नि में रख दिया जाए तो फिर उसका कालापन नहीं रहता और वह चमक उठता है| ऐसे ही भगवान् के अंश इस जीव में कालापन अर्थात् अपवित्रता भगवान् से विमुख होने से ही आती है| अगर वह भगवान् के सम्मुख हो जाए तो उसकी वह अपवित्रता सर्वथा मिट जाती है, और वह पवित्र हो जाता है| उसमें इतनी पवित्रता आ जाती है कि भगवान् भी उसे अपना मुकुट मणि बना लेते हैं| जब प्राणी स्वयं आर्त होकर प्रभु को पुकारता है तो उस पुकार में भगवान् को द्रवित करने की जो शक्ति है, वह शक्ति शुद्ध आचरणों में भी नहीं है| जैसे माँ का एक पुत्र अच्छा काम करता है तो माँ उससे अवश्य प्रेम करती है और एक पुत्र यद्यपि कुछ भी काम नहीं करता हो प्रत्युत किसी दुःख के कारण आर्त होकर माँ को पुकारता है, रोता है, तो फिर माँ यह विचार नहीं करती कि यह तो कुछ भी अच्छा काम नहीं करता, इसको प्रेम क्यों करूँ, इसका दुःख क्यों हरण करूँ? वह उसके रोने को सह नहीं सकती और तुरंत प्रेम करती है| ऐसे ही अशुद्ध आचरण करने वाला पापी व्यक्ति भी आर्त होकर जब भगवान् को पुकारता है, रोता है, तो भगवान् उसको अपनी गोद में ले लेते हैं, उससे प्रेम करते हैं| इससे यह सिद्ध हुआ कि स्वयं के भगवान् की ओर

लगने पर जब इस जन्म के पाप भी बाधा नहीं दे सकते, तो फिर पुराने पाप बाधा कैसे दे सकते हैं? पुराने पाप कर्मों का फल जन्म और भोग रूप प्रतिकूल परिस्थिति है अतः वह भगवान् की ओर चलने में बाधा नहीं दे सकते| प्रभु कहते हैं कि कोई किसी भी वर्ण का हो, किसी भी आश्रम का हो, किसी भी देश का हो, किसी भी वेश का हो, पुरुष हो, स्त्री हो, शूद्र हो, मेरी शरण आकर परम पवित्र बन जाता है, और परम गति को प्राप्त करता है|

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ।।९-३३।।

निःसंदेह करें प्राप्त परम गति पुण्यशील भक्तगन |
करें वह प्राप्त नित्य सुख इस लोक कर मेरा भजन ||९-३३||

भावार्थ: *पुण्यशील भक्तगण निःसंदेह परम गति प्राप्त करते हैं| इस लोक में मेरा भजन कर वह नित्य सुख प्राप्त करते हैं|*

टीका: प्रभु कहते हैं कि वर्तमान में पाप करने वाला दुराचारी और पूर्व जन्म के पापों के कारण नीच योनियों में जन्म लेने वाला प्राणी, यह सभी मेरे शरण होकर, मेरा आश्रय लेकर परम गति को प्राप्त हो जाते हैं, परम पवित्र हो जाते हैं| यदि उनके पूर्व जन्म के आचरण भी अच्छे हों और इस जन्म में भी उत्तम कुल में जन्म हुआ हो, ऐसे पवित्र भक्तगण मेरे शरण हो जाएं, मेरे भक्त बन जाएं, तो वह परम गति को निःसंदेह प्राप्त हो जाएंगे |

इस जन्म के आचरण से पवित्र और पूर्व जन्म के शुद्ध आचरणों के कारण इस जन्म में ऊँचे कुल में पैदा होने से पवित्र होना तो बाह्य है| बाह्य कर्म से (मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और शरीर से) जो पवित्रता होती है वह भी बाह्य ही होती है| इस बाह्य शुद्धि के वाचक ही यहाँ पुण्यशील भक्तगण कहे गए हैं| परन्तु जो भीतर से स्वयं भगवान् के शरण होते हैं, उनका तो यह अंतिम जन्म होता है, अर्थात वह मोक्ष को प्राप्त होते हैं| इस जन्म में मनुष्य भगवान् के शरण होकर भगवान् को भी सुख देने वाला बन सकता है| अतः यह मनुष्य जन्म पवित्र तो है, पर

अनित्य है, अर्थात् नित्य रहने वाला नहीं है| किस समय छूट जाए इसका कुछ पता नहीं है| इसलिये शीघ्र अपने उद्धार में लग जाना चाहिए| इस मनुष्य शरीर में सुख भी नहीं है, 'असुखम्'| भगवान् ने मनुष्य जन्म को दुःखालय बताया है| इसलिये मनुष्य शरीर मिलने पर सुख भोग के लिये ललचाना नहीं चाहिए| ललचाने में और सुख भोगने में अपना भाव और समय नष्ट नहीं करना चाहिए| यह मनुष्य शरीर भगवत् प्राप्ति के लिये ही मिला है| मनुष्य शरीर पाने के बाद किसी पूर्व कर्म के कारण भविष्य में इस जीव का दूसरा जन्म होगा, ऐसा कोई विधान प्रभु ने नहीं बनाया है, प्रत्युत केवल अपनी प्राप्ति के लिये ही यह अन्तिम जन्म दिया है| अगर इस जन्म में भगवत् प्राप्ति करना, अपना उद्धार करना भूल गए, तो अन्य शरीरों में ऐसा मौका नहीं मिलेगा| इसलिये भगवान् कहते हैं कि इस मनुष्य शरीर को प्राप्त करके केवल मेरा भजन कर| मनुष्य में जो कुछ विलक्षणता आती है, वह सब भजन करने से ही आती है|

स्मरण रहे कि प्रभु का भजन करने से प्रभु को कुछ लाभ नहीं होता, परन्तु भक्त को महान् लाभ होता है| इसलिये प्राणियों को तत्परता से केवल प्रभु की ही ओर लग जाना चाहिए| सांसारिक पदार्थों का आना जाना तो प्रभु के विधान से स्वतः होता रहेगा, पर प्राणी अपनी ओर से उत्पत्ति, विनाशशील पदार्थों का लक्ष्य, उद्देश्य न रखे, उन पर दृष्टि ही न डाले, उनको महत्व ही नहीं दे| उनसे विमुख होकर केवल प्रभु के सम्मुख हो जाए|

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ।।९-३४।।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नवमोऽध्यायः |

हे भक्त कर स्थिर मन मुझ में कर मेरा ही पूजन |
हो परायण मुझ में पा जाएगा अवश्य लक्ष्य जीवन ||९-३४||

करते हुए ओम तत सत पूर्ण भगवन्नाम उच्चारन।
ब्रह्मविद्या योगशास्त्रमय महाग्रंथ गीतबंधन॥
श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषदरूप ग्रन्थ अति पावन।
श्री कृष्णार्जुन संवाद राजविद्याराजगुह्ययोग नामन॥
हुआ अत्र सम्पूर्ण नवम अध्याय करे कल्याण जन॥

भावार्थ: *हे भक्त, मुझ में मन को स्थिर कर मेरा पूजन कर| मुझ में परायण होकर (अर्थात स्वयं को मुझे समर्पण कर) अपने जीवन का लक्ष्य (प्रभु की प्राप्ति एवं मोक्ष) पा जाएगा|*

इस प्रकार उपनिषद, ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र रूप श्रीमद्भगवद्गीता के श्री कृष्ण-अर्जुन संवाद में 'राजविद्याराजगुह्ययोग' नामक नवम अध्याय संपूर्ण हुआ|

टीका: भगवान् कृष्ण अर्जुन को हृदय की अति गोपनीय बात बताते हुए कहते हैं कि हे भक्त, अपने हृदय को स्थिर कर मेरा ही भजन कर| तू केवल मेरे साथ ही अपनापन कर, केवल मेरे साथ ही सम्बन्ध जोड़ जो कि अनादिकाल से स्वतः सिद्ध है| तूने केवल भूल से ही शरीर और संसार के साथ अपना सम्बन्ध मान रखा है, अर्थात् 'मैं अमुक वर्ण का हूँ, अमुक आश्रम का हूँ, अमुक सम्प्रदाय का हूँ, अमुक नाम वाला हूँ', इस प्रकार वर्ण, आश्रम आदि को अपनी अहंता में मान रखा है| इसलिये अब असत्रूप से बनी हुई अवास्तविक अहंता को वास्तविक सत्रूप में बदल दे कि 'मैं तुम्हारा हूँ और तुम मेरे हो'| फिर तेरा मेरे साथ स्वाभाविक ही अपनापन हो जाएगा, जो कि सत्यता है| 'मन्मना भव', मन वहीं लगता है, जहां अपनापन होता है, प्रियता होती है| तेरा मेरे साथ जो अखण्ड सम्बन्ध है, उसको मैं तो नहीं भूल सकता, पर तू भूल सकता है इसलिये तू मुझ में मन लगा ले| मेरा पूजन करने वाला बन| समस्त कर्म और क्रियाओं को मुझे समर्पण कर दे| मेरा जो कुछ अनुकूल, प्रतिकूल या सामान्य विधान है, उसमें ही तू प्रसन्न रह| जो मनुष्य हानि और परलोक के भय से मेरे चरणों में पड़ते हैं, मेरे शरण होते हैं, वह वास्तव में अपने सुख और सुविधा के लिए ही शरण होते हैं, मेरी भक्ति के लिए नहीं| जब तक प्राणी की कुछ सुख, सुविधा की चाह होती

है, तब तक वह अपना स्वतन्त्र अस्तित्व मानता है| वास्तव में मेरे चरणों में पड़ा हुआ वही माना जाता है जो अपनी कुछ भी मान्यता न रखकर मेरी इच्छा में ही अपने मन को मुझ में मिला देता है| उसमें संसार से अपनी सुख सुविधा, सम्मान की किंचित गन्ध मात्र भी नहीं रहती| अनुकूलता, प्रतिकूलता का ज्ञान होने पर भी उस पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं होता, अर्थात् मेरे द्वारा कोई अनुकूल, प्रतिकूल घटना घटती है, तो मेरे परायण रहने वाले भक्त की उस घटना में विषमता नहीं होती| अनुकूल, प्रतिकूल का ज्ञान होने पर भी वह घटना उसको दो रूप से नहीं दिखती प्रत्युत केवल मेरी कृपा रूप ही दिखती है| मेरा विधान चाहे शरीर के अनुकूल हो, चाहे प्रतिकूल, मेरे विधान से कोई भी घटना घटे, उसको मेरा दिया हुआ प्रसाद मानकर परम प्रसन्न रहना चाहिए| अगर मन के प्रतिकूल घटना घटती है तो उसमें मेरी विशेष कृपा माननी चाहिए क्योंकि उस घटना में यद्यपि उसकी सम्मति नहीं है, लेकिन मैंने उसके कल्याण के लिए दी है| अनुकूल घटना में उसकी जितने अंश में सम्मति हो जाती है, उतने अंश में वह घटना उसके लिये अपवित्र हो जाती है| परन्तु प्रतिकूल घटना में केवल मेरा ही किया हुआ शुद्ध विधान होता है, यह समझकर उसको परम प्रसन्न होना चाहिए|

प्रभु कहते हैं कि मनुष्य प्रतिकूल घटना को न तो चाहता है और न उसका अनुमोदन करता है, फिर भी ऐसी घटना घटती है तो उस घटना को उपस्थित करने में कोई भी निमित्त क्यों न बने और वह भी भले ही किसी को निमित्त मान ले, पर वास्तव में उस घटना को घटाने में मेरी ही हाथ है, मेरी ही इच्छा है| इसलिये मनुष्य को उस घटना से दुःखी होना और चिन्ता करना तो दूर प्रत्युत उसमें अधिक प्रसन्न होना चाहिए| उसकी यह प्रसन्नता मेरे विधान को लेकर नहीं होनी चाहिए किन्तु मुझ को (विधान करने वाले को) लेकर होनी चाहिए| मनुष्य को यह समझना चाहिए कि यह प्रतिकूल घटना उसके हित एवं मंगल के लिए ही घटित हुई है| यदि मैं प्राणी का परम मित्र नहीं होता तो ऐसी घटना क्यों घटाता? इसी प्रकार हे अर्जुन, तू भी सर्वथा मेरे चरणों में पड़ जा, अर्थात् मेरे प्रत्येक विधान में परम प्रसन्न रह| जैसे कोई किसी का अपराध करता है तो वह उसके सामने जाकर क्षमा मांगता है और उससे कहता है कि आप चाहे दण्ड दें, चाहे पुरस्कार दें, चाहे दुत्कार दें, उसी में मेरी परम प्रसन्नता है| उसके

मन में यह नहीं रहता कि सामने वाला मेरे अनुकूल ही फैसला दे| ऐसे ही भक्त भगवान् के जब सर्वथा शरण हो जाता है तो भगवान् से याचना करता है कि हे प्रभु, मैंने न जाने किन जन्मों में आपके प्रतिकूल आचरण किए हैं, इसका मुझे पता भी नहीं है| परन्तु उन कर्मों के अनुरूप आप जो परिस्थिति भेजेंगे, वह मेरे लिये सर्वथा कल्याण कारक ही होगी| इसलिये मुझे किसी भी परिस्थिति में किंचित मात्र भी असन्तोष न होकर प्रसन्नता ही होगी| हे नाथ, मेरे कर्मों का आप कितना ध्यान रखते हैं कि मैंने न जाने किस जन्म में, किस परिस्थिति में परवश होकर कैसे कर्म किए हैं, उन सम्पूर्ण कर्मों से सर्वथा रहित करने के लिये आप कितना विचित्र विधान करते हैं| मैं तो आपके विधान को किंचित मात्र भी नहीं समझ सकता और मुझ में आपके विधान को समझने की शक्ति भी नहीं है| इसलिये हे नाथ, मैं आपके पूर्णतः शरणागत हूँ| आप जो कुछ विधान करते हैं, उसमें आपका ही हाथ रहता है अर्थात् वह आपका ही किया हुआ होता है जो कि मेरे लिये परम मंगलमय है|

प्रभु कहते हैं कि इस प्रकार जब भक्त मुझ में परायण हो जाता है, तब मुझे ही प्राप्त करता है| 'मैं भगवान् का ही हूँ' ऐसे अपनी अहंता का परिवर्तन होने पर शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, पदार्थ, क्रिया, यह सब मुझ को समर्पित हो जाएंगे| इसी का नाम शरणागति है| ऐसी शरणागति होने पर मेरी ही प्राप्ति होगी, इसमें सन्देह नहीं है| मेरी प्राप्ति में सन्देह तभी होता है जहां मेरे अतिरिक्त दूसरे की कामना है, आदर है, महत्व बुद्धि है| कामना, महत्व बुद्धि, आसक्ति आदि होने पर सब जगह परिपूर्ण रहते हुए भी मेरी प्राप्ति नहीं होती| मेरी इच्छा के बिना कुछ भी करने कराने की किंचित मात्र भी स्फुरणा नहीं रहे| मेरे साथ सर्वथा अभिन्न होकर मुझ को ही स्मरण कर|

अध्याय १०: विभूतियोग

श्रीभगवानुवाच
भूय एव महाबाहो श्रृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ।।१०-१।।

श्रीभगवानुवाच
छंद:
करो श्रवण मेरे वचन बोले तब श्री मधुसूदन।
कहूँ हेतु हित भक्त रखें जो अतिशय प्रेम भगवन ।।१०-१।।

भावार्थ: *श्री कृष्ण बोले, 'तुम मेरे वचनों का श्रवण करो| यह मैं प्रभु में (मुझ में) अतिशय प्रेम रखने वाले भक्तगणों के हित के लिए कहता हूँ|*

टीका: जिनका प्रभु में अतिसय प्रेम है, उनके हित के लिए भगवान् श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि तू मेरे वचन सुन|

भगवान् श्री कृष्ण अर्जुन को उन्हें अत्यंत प्रेम करने वाले भक्तों के हित के लिए अपनी विशेष महत्ता, प्रभाव, ऐश्वर्य आदि बताने का प्रयास कर रहे हैं| 'रहस्यं ह्येतदुत्तमम्', प्रभु अपना रहस्य खोलने का प्रयास कर रहे हैं| प्रभु कहना चाह रहे हैं कि 'हे अर्जुन, तू सम्पूर्ण धर्मों को छोड़ कर केवल एक मेरी शरण में आ जा| मैं तुझे सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा, चिन्ता मत कर|'

स्मरण रहे कि प्राणियों के अनेक प्रकार के भाव प्रभु की इच्छा से ही उत्पन्न होते हैं| इसका तात्पर्य यह है कि सब के मूल में प्रभु ही हैं, 'परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्'| ज्ञान मार्ग में बुद्धि की, विवेक विचार की मुख्यता रहती है, अतः साधक वचनों को सुन कर विचार पूर्वक तत्व को समझ लेता है| भक्ति मार्ग में श्रद्धा, विश्वास की मुख्यता रहती है, अतः साधक वचनों को सुन कर श्रद्धा, विश्वास पूर्वक प्रभु के अस्तित्व को मान लेता है| प्रभु के वचन सुनने वाले वक्ता में श्रद्धा और प्रेम उत्पन्न होता है| इससे श्रोता की भगवान् में स्वतः रुचि

पैदा हो जाती है, भक्ति हो जाती है, प्रेम हो जाता है| यहां एक शंका हो सकती है कि भगवान् ने तो कामना को निषेध बताया है, फिर वह स्वयं अपने में कामना क्यों रखते हैं? इसका समाधान यह है कि वास्तव में अपने लिये भोग, सुख, आराम आदि चाहना ही 'कामना' है| दूसरों के हित की कामना 'कामना' नहीं है| दूसरों के हित की कामना तो त्याग है और अपनी कामना को मिटाने का मुख्य साधन है| इसलिये भगवान् सब को धारण करने के लिये आदर्श रूप से कह रहे हैं कि जैसे मैं हित की कामना से कहता हूँ, ऐसे ही मनुष्य को चाहिए कि वह प्राणियों के हित की कामना से ही सबके साथ यथायोग्य व्यवहार करे| इससे उसकी कामना मिट जाएगी और कामना मिटने पर प्रभु की परम गति सुगमता से प्राप्त हो जाएगी| प्राणियों के हित की कामना रखने वाले को प्रभु के सगुण स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है, 'ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः', और निर्गुण स्वरूप की प्राप्ति की इच्छा वालों को निर्गुण रूप की प्राप्ति हो जाती है, 'लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणं, सर्वभूतहिते रताः'|

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ।।१०-२।।

न जाने कोई मेरी उत्पत्ति देव अथवा महर्षिगन |
समझो मुझे आदि सभी सुर असुर ऋषि भूजन ||१०-२||

भावार्थ: *मेरी उत्पत्ति कोई भी देवता अथवा महर्षिगण नहीं जानते क्योंकि मैं ही सभी सुर, असुर, ऋषि एवं प्राणियों का आदि हूँ (अर्थात मेरे द्वारा ही इनकी उत्पत्ति होती है)|*

टीका: यद्यपि देवताओं एवं महर्षियों के शरीर, बुद्धि, लोक, सामग्री आदि सब दिव्य हैं, तथापि वह भी प्रभु के प्रकट होने को नहीं जानते| प्रभु विश्वरूप से प्रकट होते हैं| मत्स्य, कच्छप आदि अवतार में वह सृष्टि में क्रिया, भाव और विभूति रूप से प्रकट होते हैं| इस प्रकार प्रभु के प्रकट होने के उद्देश्य को, लक्ष्य को, हेतुओं को, सुर, असुर, ऋषिगण एवं प्राणी कोई भी नहीं जानता| प्रभु

के प्रकट होने का ज्ञान तो दूर, यह सब प्रभु के दर्शन भी कठिनता से कर पाते हैं|

जिन महर्षियों ने ऋचाओं, मन्त्रों, विद्याओं आदि विलक्षण शक्तियों को प्रकट किया है, उनका स्थान संसार में अवश्य उच्च है, निःसंदेह वह दिव्य अनुभव से युक्त हैं, पर ऐसे तत्वज्ञ जीव मुक्त भी प्रभु के प्रकट होने को अर्थात् प्रभु के अवतारों को, उनकी अनेक प्रकार की लीलाओं को, उनके महत्व को पूरा नहीं जान पाते| यहाँ भगवान् ने देवता और महर्षि, इन दोनों का नाम लिया है| इससे ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् ने उच्च पद की दृष्टि से देवता एवं ज्ञान की दृष्टि से महर्षि का नाम लिया है| इन दोनों का प्रभु के प्रकट होने का ज्ञान न होने का कारण है कि प्रभु सुर, असुर, ऋषि एवं समस्त प्राणियों के आदि हैं| इन सब में जो बुद्धि, शक्ति, सामर्थ्य, पद, प्रभाव, महत्ता है, वह सब इन्होंने प्रभु से ही प्राप्त किया है| अतः प्रभु से प्राप्त किए हुए प्रभाव, शक्ति, सामर्थ्य आदि से वह प्रभु को पूर्ण रूप से कैसे जान सकते हैं? अर्थात् नहीं जान सकते| जैसे बालक जिस माँ से पैदा हुआ है, उस माँ के विवाह को और अपने शरीर के पैदा होने को नहीं जान सकता| उसी प्रकार देवता, महर्षि आदि प्रभु से ही प्रकट हुए हैं अतः वह प्रभु के प्रकट होने को और अपने कारण को कैसे जान सकते हैं? कार्य अपने कारण में लीन तो हो सकता है, पर उसको जान नहीं सकता| ऐसे ही देवता और महर्षि प्रभु से उत्पन्न होने से, प्रभु का ही कार्य होने से कारण रूप प्रभु को नहीं जान सकते, प्रत्युत प्रभु में लीन हो सकते हैं| इसका तात्पर्य है कि देवता, महर्षि इत्यादि भगवान् के आदि, अन्त और वर्तमान को नहीं जान सकते| इन देवताओं, महर्षियों इत्यादि के प्रकट होने से पहले भी भगवान् थे और उनके लीन होने पर भी भगवान् रहेंगे| अतः जिनके शरीरों का आदि और अन्त होता रहता है, वह देवता, महर्षि इत्यादि अनादि, अनन्त को अर्थात् असीम परमात्मा को अपनी सीमित बुद्धि, योग्यता, सामर्थ्य आदि के द्वारा नहीं जान सकते| असीम को अपनी सीमित बुद्धि के अन्तर्गत नहीं ला सकते|

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ।।१०-३।।

जो समझे मुझे अजन्मा अनादि स्वामी लोक भगवन |
हो रहित सम्मोह अघ मुक्त वह पा सके मेरा दर्शन ||१०-३||

भावार्थ: *जो मुझे अजन्मा, अनादि और लोकों का स्वामी ईश्वर समझता है, वह सम्मोह रहित एवं पा-मुक्त होकर मेरा दर्शन पा जाता है|*

टीका: भगवान् कहते हैं कि उन्हें अज, अविनाशी और लोक महेश्वर जानने वाला प्राणी सम्मोहरहित होकर सभी पापों से मुक्त हो जाता है, और उनको प्राप्त कर लेता है| प्रभु ही सब के स्वामी हैं, अतः लोकेश्वर हैं| यह संसार क्षण भंगुर है, जिसका प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है| जिसको जिस क्षण में जिस रूप में देखा है, उसको दूसरे क्षण में उस रूप में पुनः कोई नहीं देख सकता, क्योंकि वह दूसरे क्षण में वैसा नहीं रहता| जिसने अपने सहित समस्त संसार के स्वामी भगवान् को दृढ़ता से समझ लिया, और संसार की क्षण भंगुरता के तत्व को ठीक से जान लिया, उसका संसार में मोह नहीं रह सकता| मोह न रहने कि कारण वह सब पापों से मुक्त हो जाता है| उसके क्रियमाण, संचित आदि सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं|

संसार (शरीर) किसी के भी साथ कभी नहीं रह सकता तथा कोई भी संसार के साथ कभी नहीं रह सकता| परमात्मा किसी से भी कभी अलग नहीं हो सकते, कोई भी परमात्मा से कभी अलग नहीं हो सकता, यह वास्तविकता है| इस वास्तविकता को न जानना ही सम्मूढ़ता है और इसको यथार्थ जानना ही असम्मूढ़ता है| यह असम्मूढ़ता जिसमें रहती है, वह मनुष्य असम्मूढ़ कहा जाता है| ऐसा असम्मूढ़ पुरुष प्रभु के सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार रूप को तत्व से जान लेता है| उसे प्रभु की लीला, रहस्य, प्रभाव, ऐश्वर्य आदि में किंचित मात्र भी सन्देह नहीं रहता|

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ।।१०-४।।
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ।।१०-५।।

बुद्धि ज्ञान मोह क्षमा सत्य दम शम सुख दुःख वेदिन।
जन्म मरण भय अभय यश अपयश सभी गुण अवगुन ||१०-४||
अहिंसा समता संतोष तप दान आदि प्रतिसंवेदिन्।
हूँ मैं हेतु उत्पत्ति इन होते सब प्रकट मेरे कारन ||१०-५||

भावार्थ: *बुद्धि, ज्ञान, मोह, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, दुःख, जन्म, मृत्यु, भय, अभय, अहिंसा, समता, सन्तोष, तप, दान, यश, यह सब गुण एवं अवगुण के भाव प्रकट होने का मैं ही हेतु हूँ और मेरे कारण ही उत्पन्न होते हैं|*

टीका: उद्देश्य को लेकर निश्चय करने वाली वृत्ति का नाम बुद्धि है| सार-असार, ग्राह्य-अग्राह्य, नित्य-अनित्य, सत्-असत्, उचित-अनुचित, कर्तव्य-अकर्तव्य की जानकारी 'ज्ञान' है| यह ज्ञान (विवेक) मानव को भगवान् से ही मिलता है|

शरीर और संसार को उत्पत्ति, विनाशशील जानते हुए भी उनमें 'मैं और मेरापन' करने का नाम सम्मोह है, और इसके न होने का नाम असम्मोह है|

कोई कितना ही बड़ा अपराध करे, सामर्थ्य रहते हुए उसे सह लेना और उस अपराधी को अपनी तथा ईश्वर की ओर से यहाँ और परलोक में कहीं भी दण्ड न मिले, ऐसा विचार करने का नाम 'क्षमा' है|

सत्य स्वरूप परमात्मा की प्राप्ति के लिये सत्य भाषण करना, अर्थात् जैसा सुना, देखा और समझा है, उसी के अनुसार अपने स्वार्थ और अभिमान का त्याग कर दूसरों के हित के लिये न अधिक, न कम, कह देने का नाम 'सत्य' है|

परमात्म-तत्व की प्राप्ति का उद्देश्य रखते हुए इन्द्रियों को अपने विषयों से हटाकर अपने वश में करने का नाम 'दम' है| मन को सांसारिक भोगों के चिन्तन से हटाने का नाम 'शम' है|

शरीर, मन, इन्द्रियों के अनुकूल परिस्थिति के प्राप्त होने पर हृदय में जो प्रसन्नता होती है, उसका नाम 'सुख' है, और प्रतिकूल परिस्थिति के प्राप्त होने पर हृदय में जो अप्रसन्नता होती है, उसका नाम 'दुःख' है|

अपने आचरण, भाव आदि शास्त्र और लोक मर्यादा के विरुद्ध होने से अन्तःकरण में अपना अनिष्ट होने की जो आशंका होती है, उसको भय कहते हैं| मनुष्य के आचरण, भाव आदि अच्छे हैं, वह किसी को कष्ट नहीं पहुँचाता, शास्त्र और सन्तों के सिद्धान्त के विरुद्ध कोई आचरण नहीं करता, तब उसके हृदय में अपना अनिष्ट होने की आशंका नहीं रहती, अर्थात् उसको किसी से भय नहीं होता, इसी को 'अभय' कहते हैं|

अपने तन, मन और वचन से किसी भी देश, काल, परिस्थिति आदि में किसी भी प्राणी को किंचित मात्र भी दुःख न देने का नाम 'अहिंसा' है|

अनेक प्रकार की अनुकूल और प्रतिकूल वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदि के प्राप्त होने पर भी अपने अन्तःकरण में कोई विषमता न आने का नाम 'समता' है|

आवश्यकता अधिक रहने पर भी कम मिले तो उसमें सन्तोष करना तथा और अधिक मिले, ऐसी इच्छा का न रहना 'तुष्टि' है| इसका तात्पर्य है कि मिले अथवा न मिले, कम मिले अथवा अधिक मिले, हर हाल में प्रसन्न रहना ही 'तुष्टि' है|

अपने कर्तव्य का पालन करते हुए जो कष्ट आ जाए, प्रतिकूल परिस्थिति आ जाए, उन सब को प्रसन्नता पूर्वक सहने का नाम ‘तप’ है|

प्रत्युपकार और फल की किंचित मात्र भी इच्छा न रखकर प्रसन्नतापूर्वक अपनी शुद्ध आय का भाग सत्पात्र को देने का नाम 'दान' है|

मनुष्य के अच्छे आचरणों, भावों और गुणों को लेकर संसार में जो नाम की प्रसिद्धि, प्रशंसा आदि होती है, उसका नाम 'यश' है| मनुष्य के बुरे आचरणों,

भावों और गुणों को लेकर संसार में जो उसकी निन्दा होती है, उसको 'अयश' (अपयश) कहते हैं|

प्राणियों के यह अनेक प्रकार के भाव प्रभु से ही उत्पन्न होते हैं| अर्थात् उन सब को सत्ता, स्फूर्ति, शक्ति, आधार और प्रकाश, प्रभु से ही मिलता है| इसका तात्पर्य है कि तत्व से सब के मूल में प्रभु ही हैं|

संसार में जो कुछ विहित तथा निषिद्ध हो रहा है, शुभ तथा अशुभ हो रहा है, संसार में जितने सद्भाव तथा दुर्भाव हैं, वह सब भगवान् की ही लीला है| इस प्रकार का ज्ञान भगवान् को तत्व से समझ लेना है| इसका ज्ञान होते ही भगवान् में अविकम्प (अविचल) योग हो जाता है|

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ।।१०-६।।

सप्तऋषि चतुः सनकादि चतुर्दश मनु आदि गण महन।
प्रजा जिनकी इस भू हुई वह मेरे संकल्प उत्पन्न ||१०-६||

भावार्थ: *सप्तऋषि, चार सनकादि तथा चौदह मनु, जिनकी संसार में यह प्रजा है, वह मेरे संकल्प से उत्पन्न हुए हैं|*

टीका: महर्षि मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ, इन्हें सप्तऋषि कहा गया है|

ब्रह्मदेव के चार पुत्र, सनक, सनन्दन, सनातन और सनत् कुमार, यह चार सनकादि हैं| प्रकट होने के पश्चात यह चारों सदा पाँच वर्ष की अवस्था वाले बालक रूप में ही रहते हैं। यह तीनों लोकों में भक्ति, ज्ञान और वैराग्य का प्रचार करते हुए घूमते रहते हैं| इनकी वाणी से सदा 'हरिः शरणम्' का उच्चारण होता रहता है| यह भगवत् कथा के अत्यंत प्रेमी हैं| इन चारों में से एक वक्ता और तीन श्रोता बनकर भगवत् कथा करते और सुनते रहते हैं|

ब्रह्मा जी के एक दिन (कल्प) में चौदह मनु होते हैं| ब्रह्मा जी के वर्तमान कल्प के स्वायम्भुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत, सावर्णि, दक्षसावर्णि, ब्रह्मसावर्णि, धर्मसावर्णि, रुद्रसावर्णि, देवसावर्णि और इन्द्रसावर्णि नाम वाले चौदह मनु हैं| यह सभी ब्रह्मा जी की आज्ञा से सृष्टि के उत्पादक और प्रवर्तक हैं|

समस्त सृष्टि भगवान् के संकल्प से ही पैदा होती है| प्रभु कह रहे हैं कि सप्तर्षि आदि को भी उन्होंने अपने संकल्प से पैदा किया है|

संसार में दो प्रकार की प्रजा है| स्त्री-पुरुष के संयोग से उत्पन्न होने वाली और शब्द से (दीक्षा, मन्त्र, उपदेश आदि से) उत्पन्न होने वाली| स्त्री-पुरुष के संयोग से उत्पन्न होने वाली प्रजा 'बिन्दुज' कहलाती है, और शब्द से उत्पन्न होने वाली प्रजा 'नादज' कहलाती है| बिन्दुज प्रजा पुत्र परम्परा से और नादज प्रजा शिष्य परम्परा से चलती है| सप्तर्षियों और चौदह मनुओं ने विवाह किया था, उनसे उत्पन्न होने वाली प्रजा 'बिन्दुज' है| सनकादिकों ने विवाह नहीं किया, अतः उनसे उपदेश प्राप्त करके पारमार्थिक मार्ग में लगने वाली प्रजा 'नादज' है| निवृत्ति परायण होने वाले जितने सन्त महापुरुष पहले हुए हैं, अभी हैं और आगे होंगे, वह सब उपलक्षण से उनकी ही नादज प्रजा हैं|

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ।।१०-७।।

जाने जो तत्व योग और मेरी विभूति साधकगन |
समझो उसे तुम अविकम्प योग युक्त योगीजन ||
निःसंदेह है वह महान युग-पुरुष पृथानंदन ||१०-७||

भावार्थ: *हे अर्जुन, जो साधक मेरी विभूति और योग के तत्व को जानता है, उसे तुम अविकम्प योग (अर्थात् निश्चल ध्यान योग) से युक्त योगी समझो| वह निःसंदेह महान युग-पुरुष है|*

टीका: 'विभूति' नाम भगवान् के ऐश्वर्य का है और 'योग' नाम भगवान् की अलौकिक विलक्षण शक्ति, अनन्त सामर्थ्य का है| भगवान् की शक्ति का नाम 'योग' है और उस योग से प्रकट होने वाली विशेषताओं का नाम 'विभूति' है| भाव और व्यक्ति के रूप में जितनी विभूतियाँ हैं, वह सब भगवान् के सामर्थ्य से, प्रभाव से प्रकट हुई विशेषताएँ हैं| इसलिए प्रभु कहते हैं कि 'वह मुझ से उत्पन्न होती हैं', 'मत्तः', 'मानसा जाताः'| यह भगवान् का योग है, प्रभाव है| इसी को प्रभु ने 'पश्य मे योगमैश्वरम्' (मेरे इस ईश्वरीय योग को देखो) ऐसा कहा है| अर्जुन को विश्वरूप दिखाते समय भगवान् ने 'पश्य मे योगमैश्वरम्' से अपना ऐश्वर्य योग देखने के लिये कहा है|

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ।।१०-८।।

समझो मुझे ही सर्वस्य प्रभव स्थल हे पृथानंदन |
मेरा ही उत्तरदायित्व करूँ विकास समस्त भुवन ||
जो जानें यह सत्य करें मेरा भजन वह बुद्धिवन ||१०-८||

भावार्थ: *हे पृथानंदन, मुझे ही सर्वस्य प्रभव स्थान समझो| मेरा ही उत्तरदायित्व है कि मैं जग का विकास करूँ| जो बुद्धिमान (पुरुष) यह सत्य जानते हैं वह मुझे भजते हैं|*

टीका: सर्वस्य भगवान् की विभूति है| अर्थात् देखने, सुनने, समझने में जो कुछ आ रहा है, वह सब भगवान् की विभूति है| भगवान् के योग भाव से सभी विभूतियाँ प्रकट होती हैं| प्रभु कहते हैं कि मानस, नादज, बिन्दुज, उद्भिज्ज, जरायुज, अण्डज, स्वेदज अर्थात् जड़, चेतन, स्थावर, जंगम, यावन् जितने प्राणी हैं, उन सब की उत्पत्ति के मूल में परम पिता परमेश्वर के रूप में मैं ही हूँ|

संसार में उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, पालन, संरक्षण आदि जितनी भी चेष्टाएँ होती हैं, जितने भी कार्य होते हैं, वह सब प्रभु के द्वारा ही होते हैं| मूल में उनको सत्ता स्फूर्ति आदि जो कुछ मिलता है, वह सब प्रभु से ही मिलता है| जैसे विद्युत् की

शक्ति से सब कार्य होते हैं, ऐसे ही संसार में जितनी क्रियाएँ होती हैं, उन सब का मूल कारण प्रभु ही हैं|

साधक की दृष्टि प्राणी के भाव, आचरण, क्रिया आदि की ओर न जाकर उन सब के मूल में स्थित भगवान् की ओर ही होनी चाहिए| कार्य, कारण, भाव, क्रिया, वस्तु, पदार्थ, व्यक्ति आदि के मूल में जो तत्व है, उसकी ओर ही भक्तों को दृष्टि रखनी चाहिए|

भाव, क्रिया, व्यक्ति आदि सब भगवान् से ही उत्पन्न होते हैं, भगवान् में ही स्थित रहते हैं और भगवान् में ही लीन हो जाते हैं| अतः तत्व से सब कुछ भगवत् स्वरुप ही है| इस ज्ञान के प्राप्त होने पर भगवान् के साथ अविकम्प (कभी विचलित न किया जानेवाला) योग अर्थात् सम्बन्ध हो जाता है| स्मरण रहे कि भगवान् के अतिरिक्त इस सृष्टि का न कोई उत्पादक है और न कोई संचालक है|

प्रभु कहते हैं कि समस्त संसार को सत्ता स्फूर्ति उन्हीं से ही मिलती है| अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और कारण रूप से सब कुछ भगवान् ही हैं| ऐसा सत्य जो दृढ़ता से मान लेता है, वह 'भगवान् ही सर्वोपरि हैं, भगवान् के समान कोई हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं तथा होना सम्भव भी नहीं', ऐसे सर्वोच्च भाव से युक्त हो जाता है| इस प्रकार जब उसकी महत्व बुद्धि केवल भगवान् में हो जाती है तो फिर उसका आकर्षण, श्रद्धा, विश्वास, प्रेम आदि सब भगवान् में ही हो जाता है| भगवान् का ही आश्रय लेने से उसमें समता, निर्विकारता, निःशोकता, निश्चिन्तता, निर्भयता आदि स्वतः स्वाभाविक ही आ जाती है| जहां परमात्मा होते हैं, वहां दैवीय सम्पत्ति स्वाभाविक ही आ जाती है|

भगवान् के अतिरिक्त अन्य की सत्ता ही न मानना, भगवान् को ही सब के मूल में मानना, भगवान् का ही आश्रय लेकर उनमें ही श्रद्धा, प्रेम करना, यही बुद्धिमानी है| इसलिये इस सत्य को मानने वाले को बुद्धिमान् कहा गया है| प्रभु कहते हैं कि जो मुझे क्षर (संसार) से अतीत और अक्षर (जीवात्मा) से उत्तम मानता है, वह सर्ववित् है, और सर्व भाव से मेरा ही भजन करता है|

भगवान् का जप, कीर्तन करना, भगवान् के रूप का चिन्तन, ध्यान करना, भगवान् की कथा सुनना, भगवत् सम्बन्धी ग्रन्थों (गीता, रामायण, भागवत आदि) का पठन-पाठन करना, यह सब वैसे तो भजन ही हैं, परन्तु सत्य भजन तो वह है जिसमें हृदय भगवान् की ओर खिंच जाता है, केवल भगवान् ही प्रिय लगते हैं, भगवान् की विस्मृति कष्टदायी होती है|

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ।।१०-९।।

करें जो चित्त स्थित मुझ में और करें प्राण समर्पन |
कराते हुए बोध मेरा करें केवल मेरा विषय कथन ||
रहें संतुष्ट सदा रमते हुए मेरे नित्य निरंतर भजन ||१०-९||

भावार्थ: *मुझ में चित्त को स्थिर करते हुए और प्राणों (इन्द्रियों) को समर्पित किए जो सदैव मेरा बोध कराते रहते हैं, मेरे ही विषय में कथन करते हुए सन्तुष्ट रहते हैं एवं मेरे भजन में रमते हैं|*

टीका: प्रभु मन (चित्त) को सदैव अपने में लगाने को कह रहे हैं| स्मरण रहे कि एक स्वयं का भगवान् में लगना होता है और एक चित्त को भगवान् में लगाना होता है| जहां यह विचार आ जाता है कि 'मैं भगवान् का हूँ', वहां चित्त, बुद्धि आदि सब स्वतः भगवान् में लग जाते हैं| कर्ता (स्वयं) के प्रभु में लगने पर करण (मन, बुद्धि आदि) चूंकि पृथक नहीं हैं, अतः वह स्वतः ही प्रभु में लग जाते हैं| करणों के प्रभु में लगने पर कर्ता तो अलग रह सकता है, पर कर्ता के प्रभु में लगने पर करण अलग नहीं रह सकता| जहां कर्ता रहेगा, वहीं करण भी रहेगा| करण कर्ता के ही अधीन होते हैं| कर्ता स्वयं जहां लगता है, करण भी वहीं लगते हैं| जैसे कोई मनुष्य परमात्म-तत्व की प्राप्ति के लिये सच्चे हृदय से साधक बन जाता है, तो साधना में उसका मन स्वतः लगता है| उसका मन साधना के अतिरिक्त अन्य किसी कार्य में नहीं लगता और जिस कार्य में लगता है, वह कार्य भगवान् का ही होता है| इस का कारण है कि स्वयं कर्ता के विपरीत मन, बुद्धि आदि नहीं चलते| परन्तु जहां स्वयं भगवान् में नहीं लगता और यही सोचता

रहता है कि 'मैं तो संसारी हूँ, मैं तो गृहस्थ हूँ', उसका चित्त भगवान् में निरन्तर नहीं लगता| इसका तात्पर्य है कि स्वयं तो संसारी बना रहे और चित्त को भगवान् में लगाना चाहे, तो भगवान् में चित्त लगना असम्भव है|

स्मरण रहे कि चित्त वहीं लगता है, जहां प्रियता होती है| प्रियता वहीं होती है, जहां अपनापन होता है, आत्मीयता होती है| भगवान् के साथ स्वयं का सम्बन्ध जोड़ने से ही उनमें अपनापन आता है| केवल यही सोचना चाहिए कि मैं केवल भगवान् का हूँ और भगवान् मेरे हैं| शरीर संसार मेरा नहीं है| मुझ पर प्रभु का पूरा अधिकार है, इसलिये वह मेरे प्रति चाहे जैसा बर्ताव या विधान कर सकते हैं| परन्तु मेरा प्रभु पर कोई अधिकार नहीं है, अर्थात् वह मेरे हैं तो मैं जैसा चाहूँ, वह वैसा ही करें, ऐसा मुझे कोई अधिकार नहीं है| इस प्रकार जो स्वयं को भगवान् का मान लेता है, अपने आप को भगवान् के अर्पित कर देता है, उसका चित्त स्वतः भगवान् में लग जाता है|

चित्त के अन्तर्गत ही मन है, अर्थात् मनोवृत्ति अलग नहीं है| भगवान् श्री कृष्ण ने चित्त और मन को एक ही कहा है, 'भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च'|

प्रभु ने भक्तों को अपने प्राणों (इन्द्रियों) को उन्हें समर्पण करने का आदेश दिया है| साधारणतः प्राणों के दो विषय हैं, जीना और चेष्टा| भक्तों का जीना भी भगवान् के लिये है और शरीर की सम्पूर्ण चेष्टाएँ (क्रियाएँ) भी भगवान् के लिये ही हैं| शरीर की जितनी क्रियाएँ होती हैं, उनमें प्राणों की ही मुख्यता होती है| अतः उन भक्तों की यज्ञ, अनुष्ठान आदि शास्त्रीय सम्बन्धी, भजन-ध्यान, कथा-कीर्तन आदि भगवत् सम्बन्धी, खाना-पीना आदि शारीरिक सम्बन्धी, व्यापार आदि जीविका सम्बन्धी, सेवा सम्बन्धी, सामाजिक सम्बन्धी, जितनी भी क्रियाएँ होती हैं, वह सब भगवान् के लिये ही होती हैं| उनकी क्रियाओँ में क्रिया भेद तो होता है, पर उद्देश्य भेद नहीं होता| उनकी क्रियाएँ एक भगवान् को प्राप्त करने के उद्देश्य से ही होती हैं| इसलिये वह 'भगवद्गत प्राण' होते हैं|

उदाहरण के रूप में जैसे गोपिकाओं ने गोपी गीत में भगवान् से कहा है कि हमने अपने प्राणों को आप में समर्पित कर दिया है, 'त्वयि धृतासवः'| ऐसे ही

भक्तों के प्राण केवल भगवान् में ही रहते हैं| उनका जितना भगवान् से अपनापन है, उतना अपने प्राणों से नहीं| प्रत्येक प्राणी में किसी भी अवस्था में मेरे प्राण न छूटें इस तरह जीने की इच्छा रहती है| यह प्राणों का मोह है, स्नेह है| परन्तु भगवान् के भक्तों का प्राणों में मोह नहीं रहता| उनमें हम जीते रहें, यह इच्छा नहीं होती, और मरने का भय भी नहीं होता| उनको न जीने में प्रयोजन है और न मरने से| उनको तो केवल भगवान् से प्रयोजन रहता है| इसका कारण है कि वह इस बात को भली भांति जान जाते हैं कि मरने से तो प्राणों का वियोग होता है, भगवान् से कभी वियोग नहीं होता| प्राणों के साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है, पर भगवान् के साथ हमारा स्वतः सिद्ध घनिष्ठ सम्बन्ध है| प्राण प्रकृति के कार्य हैं और हम स्वयं भगवान् के अंश हैं| ऐसे विचार के लिए साधक को सबसे पहले यह उद्देश्य बनाना चाहिए कि हमें तो भगवत् प्राप्ति ही करनी है| सांसारिक वस्तुएं प्राप्त हों या न हों, हम स्वस्थ रहें या अस्वस्थ, हमारा आदर हो या निरादर, हमें सुख मिले या दुःख, इनसे हमारा कोई प्रयोजन नहीं है| हमारा प्रयोजन तो केवल भगवान् से है| ऐसा दृढ़ उद्देश्य बनने पर साधक 'भगवद्गत प्राण' हो जाएगा|

इस प्रकार के भक्तों को जब भगवद्भाव वाले अन्य संत मिल जाते हैं तब उनके मध्य केवल भगवान् की ही चर्चा छिड़ती है| वह आपस में एक दूसरे को भगवान् के तत्व, रहस्य, गुण, प्रभाव आदि की चर्चा करते हैं| यह एक विलक्षण सत्संग होता है| इस प्रकार वार्ता आदान प्रदान होने से उनमें प्रभु के प्रेम के प्रति नए नए भाव प्रकट होते रहते हैं| जैसे दीपक के नीचे अँधेरा रहता है, पर दो दीपक एक दूसरे के सामने रख दें तो दोनों दीपकों के नीचे का अँधेरा दूर हो जाता है, उसी प्रकार जब दो भगवद्भक्त एक साथ मिलते हैं और आपस में भगवत् सम्बन्धी चर्चा चल पड़ती है, तब किसी के मन में किसी प्रकार का भगवत् सम्बन्धी विलक्षण हो तो तुरंत दूर हो जाता है|

भगवान् की कथा, लीला सुनने वाला कोई भगवद्भक्त मिल जाता है, तो यह भक्तगण भगवान् की कथा लीला कहना आरम्भ कर देते हैं| जैसे सनकादिक चारों भगवान् की कथा कहते हैं और सुनते हैं| उनमें कोई एक वक्ता बन जाता है और तीन श्रोता बन जाते हैं| ऐसे ही भगवान् के प्रेमी भक्तों को कोई सुनने

वाला मिल जाता है तो वह उसको भगवान् की कथा, गुण, प्रभाव, रहस्य आदि सुनाते हैं, और कोई सुनाने वाला मिल जाता है तो स्वयं सुनने लग जाते हैं| उनमें सुनाते समय 'वक्ता' बनने का अभिमान नहीं होता और सुनते समय 'श्रोता' बनने की लज्जा नहीं होती|

इस तरह भगवान् की कथा, लीला, गुण, प्रभाव, रहस्य आदि को आपस में एक दूसरे को जनाते हुए और उनका ही कथन तथा चिन्तन करते हुए यह भक्त नित्य निरन्तर सन्तुष्ट रहते हैं| इसका तात्पर्य है कि उनकी सन्तुष्टि का कारण भगवान् के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं होता, केवल भगवान् ही होते हैं|

वह भगवान् में ही रमण जाते हैं, अर्थात उनसे प्रेम करते हैं| इस प्रेम में उनमें और भगवान् में भेद नहीं रहता, 'तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्'| कभी भक्त भगवान् का भक्त हो जाता है, तो कभी भगवान् अपने भक्त के भक्त बन जाते हैं| इस प्रकार भगवान् और भक्त में परस्पर प्रेम की लीला अनन्त काल तक चलती ही रहती है और प्रेम प्रतिक्षण बढ़ता ही रहता है| इस वर्णन से साधक को इस बात की ओर ध्यान देना चाहिए कि उसकी प्रत्येक क्रिया, भाव आदि का प्रवाह केवल भगवान् की ओर ही हो|

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ।।१०-१०।।

दूँ उन्हें बुद्धि विवेक करें जो प्रेम से मेरा भजन |
पा जाएं वह मुझे हो युक्त नित्य निष्पाप अर्जुन ||१०-१०||

भावार्थ: *हे अर्जुन, जो प्रेम पूर्वक मेरा भजन करते हैं, उन्हें मैं बुद्धि विवेक दे देता हूँ| वह नित्य युक्त, निष्पाप होकर मुझे प्राप्त करते हैं|*

टीका: जो भक्त भगवान् में ही चित्त लगा कर अपने प्राण उन्हें समर्पित कर देते हैं, भगवान् के गुण, प्रभाव, लीला, रहस्य आदि को आपस में एक दूसरे को जानते हुए तथा भगवान् के नाम, गुणों का कथन करते हुए नित्य, निरन्तर प्रभु

में ही सन्तुष्ट रहते हैं, भगवान् से ही प्रेम करते हैं, ऐसे नित्य, निरन्तर भगवान् में लगे हुए भक्तों को प्रभु की प्राप्ति हो जाती है|

ऐसे भक्त न ज्ञान चाहते हैं, न वैराग्य| वह पारमार्थिक ज्ञान, वैराग्य आदि के इच्छुक नहीं होते| सांसारिक भोग तथा अष्ट सिद्धि और नव निधि आदि की चाह से दूर रहते हैं| उनकी दृष्टि इन वस्तुओं की ओर नहीं जाती| उनके हृदय में सिद्धि आदि का कोई मूल्य नहीं होता| वह तो केवल भगवान् को अपना मानते हुए प्रेम पूर्वक स्वाभाविक ही भगवान् के भजन में लगे रहते हैं| उनका किसी भी वस्तु, व्यक्ति आदि से किसी तरह का कोई सम्बन्ध नहीं रहता| उनकी भक्ति यही है कि वह सदैव भगवान् की प्रीति में मगन रहते हैं| उनके भीतर स्वप्न में भी भगवान् के अतिरिक्त अन्य किसी की इच्छा जाग्रत् नहीं होती|

किसी वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदि के संयोग, वियोग से अन्तःकरण में कोई हलचल न हो अर्थात् संसार के पदार्थ मिलें या न मिलें, लाभ हो या हानि, आदर हो या निरादर, स्तुति हो या निन्दा, स्वास्थ्य ठीक रहे या न रहे, आदि किसी भी प्रकार की और एक दूसरे से विरुद्ध विभिन्न परिस्थितियाँ आने पर भी उन भक्तों में एक रूपता (समता) आ जाती है| ऐसा बुद्धि विवेक अर्थात् समता प्रभु उन भक्तों को दे देते हैं| परन्तु यह भक्त बुद्धि विवेक को अपना नहीं मानते प्रत्युत भगवान् का दिया हुआ ही मानते हैं| इसलिये बुद्धि विवेक को लेकर उनको अपने में कोई विशेषता का अनुभव नहीं होता| इस बुद्धि विवेक से वह प्रभु को प्राप्त हो जाते हैं|

जब यह भक्त भगवान् में ही चित्त और प्राण वाले हो गए हैं, भगवान् में ही सन्तुष्ट रहते हैं तथा भगवान् से ही प्रेम करते हैं, तब उनके लिये भगवान् को प्राप्त करना कठिन नहीं होता| भगवान् को प्राप्त हो जाने का तात्पर्य है कि वह प्रेमी भक्त अपने में जो कमी मानते हैं, वह कमी उनमें नहीं रहती अर्थात् उन्हें पूर्णता का अनुभव हो जाता है|

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ।।१०-११।।

कर कृपा उन भक्त करूँ निवास उनके अन्तःकरन |
कर दूर अज्ञान तम भर देता प्रकाश मैं उनके मन ||१०-११||

भावार्थ: *उन भक्तों पर अनुग्रह कर मैं उनके अन्त:करण में निवास करता हूँ| उनके अज्ञान अन्धकार को दूर कर मैं उनके मन में प्रकाश हूँ|*

टीका: प्रभु ने पहले कहा है कि मेरे भक्तों के हृदय में कुछ भी सांसारिक इच्छा नहीं होती| इतना ही नहीं, उनके भीतर मुझे छोड़कर मुक्ति तक की इच्छा नहीं होती| इसका अभिप्राय यह है कि वह न तो सांसारिक वस्तुएं चाहते हैं और न पारमार्थिक वस्तुएं (मुक्ति, तत्व बोध आदि)| वह तो केवल प्रेम से मेरा भजन ही करते हैं| उनके इस निष्काम भाव और प्रेम पूर्वक भजन करते देखकर मेरा हृदय द्रवित हो जाता है| मैं चाहता हूँ कि मेरे द्वारा उनकी कुछ सेवा हो जाए, वह मुझ से कुछ ले लें| परन्तु वह मुझ से कुछ नहीं लेते| मेरा हृदय द्रवित हो जाता है| इस कारण उन पर कृपा कर मैं उनके अज्ञानजन्य अन्धकार को दूर कर देता हूँ| मेरे द्रवित हृदय होने का कारण है कि मेरे भक्तों में किसी प्रकार की किंचित मात्र भी कमी न रहे| इसका तात्पर्य है कि जिस अज्ञान के कारण 'मैं कौन हूँ और मेरा स्वरूप क्या है?,' ऐसा जो अनजानपन रहता है, उस अज्ञान का मैं नाश कर देता हूँ, अर्थात् तत्व बोध करा देता हूँ| जिस तत्व बोध की महिमा शास्त्रों में गाई गई है, उसके लिये उनको श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि साधन नहीं करने पड़ते, कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता, प्रत्युत मैं स्वयं उनको तत्व बोध करा देता हूँ|

अर्जुन उवाच
परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ।।१०-१२।।
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ।।१०-१३।।

अर्जुन उवाच
हैं आप प्रभु परम ब्रह्म धाम पावन बोले अर्जुन।
शाश्वत दिव्य आदि अजन्मा सर्वव्यापी सनातन ॥१०-१२॥
कहें यही समस्त सम देवर्षि नारद असित ऋषिगन।
महर्षि व्यास ऋषि देवल और आप स्वयं कृश्न ॥१०-१३॥

भावार्थ: *अर्जुन बोले, 'हे कृष्ण, आप प्रभु, परम ब्रह्म, धाम एवं पवित्र हैं| सनातन, दिव्य, आदि (देव), जन्म-रहित और सर्वव्यापी हैं| ऐसा ही देवर्षि नारद, (ऋषि) असित, ऋषि देवल, महर्षि व्यास समान समस्त (महान ऋषिगण) और स्वयं आप भी कहते हैं|'*

टीका: अपने समक्ष आसीन भगवान् की स्तुति करते हुए अर्जुन कहते हैं कि 'हे प्रभु आप ही परम ब्रह्म हैं| जिसमें सब संसार स्थित रहता है, वह परम धाम अर्थात् परम स्थान भी आप ही हैं| जिसको पवित्रों में भी पवित्र कहते हैं, 'पवित्राणां पवित्रं यः', वह महान् पवित्र भी आप ही हैं| समस्त महर्षियों ने ऐसा ही कहा है, 'पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं'| देवर्षि नारद, ऋषि असित और उनके पुत्र ऋषि देवल, महर्षि व्यास आदि ने भी आपको शाश्वत, दिव्य पुरुष, आदि देव, अजन्मा और विभु कहा है| आत्मा के रूप में 'शाश्वत', सगुण-निराकार के रूप में 'दिव्य पुरुष', देवताओँ और महर्षियों आदि के रूप में 'आदि देव' आप ही हैं| आपने स्वयं भी अपने श्री मुख से ऐसा ही कहा है| मूढ़ लोग आपका स्वरुप नहीं जानते| असम्मूढ़ लोग ही आप को अज, अव्यक्त, सर्व व्यापक एवं 'विभु' मानते हैं|

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिम विदुर्देवा न दानवाः ।।१०-१४।।

निःसंदेह है सब सत्य कहे मुझे जो कुछ भी भगवन।
असंभव जान सकें यह स्वरुप प्रभु देव असुर भूजन ॥१०-१४॥

भावार्थ: *हे भगवन, जो कुछ भी आप ने कहा वह निःसंदेह सत्य है|आपके इस (वास्तविक) स्वरूप को जानना देवता, दानव एवं मनुष्य के लिए असंभव है|*

टीका: अर्जुन आगे कहते हैं कि हे भगवन, आप जो कुछ भी कह रहे हैं, वह निःसंदेह सत्य है| आप ही सब के उत्पादक और संचालक हैं| आपके अतिरिक्त कोई भी ऐसा नहीं हो सकता| आप ही सर्वोपरि हैं| इस प्रकार सब के मूल में आप ही हैं, इसमें मुझे कोई सन्देह नहीं है| भक्ति मार्ग में विश्वास की मुख्यता है, और यहां अर्जुन प्रभु पर पूर्ण विश्वास जता रहे हैं|

प्रभु ने पहले अर्जुन को बताया है कि, 'न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः', अर्जुन, मेरे और तेरे बहुत से जन्म बीत चुके हैं, उन सब को मैं जानता हूँ, तू नहीं जानता| प्रभु के प्रकट और अंतर्ध्यान होने की क्रिया को देवता, दानव और मनुष्य कोई भी नहीं समझ सकता| मनुष्यों की अपेक्षा देवताओं में दिव्यता अवश्य अधिक है परन्तु वह दिव्यता भगवत्-तत्व को समझने में असमर्थ है| वह दिव्यता प्राकृत (उत्पन्न और नष्ट होने वाली) है, इसलिये वह आपके प्रकट होने के तत्व को, हेतु को, पूर्ण रूप से नहीं जान सकती| जब देवता भी नहीं जान सकते, तो दानव एवं मनुष्य कैसे जान सकते हैं? भगवान् अनन्त हैं, असीम हैं और देवता, दानव आदि की शक्ति कितनी ही विलक्षण क्यों न हो पर प्राकृत, सीमित और उत्पत्ति-विनाशशील है| सीमित और नाशवान् वस्तु के द्वारा असीम और अविनाशी तत्व को समझना असंभव है|

इसका तात्पर्य है कि मनुष्य, देवता, दानव आदि कोई भी अपनी शक्ति, सामर्थ्य, योग्यता, बुद्धि आदि से भगवान् को नहीं समझ सकते| इसका कारण है कि इनमें जितनी जानने की योग्यता, सामर्थ्य, विशेषता है, वह सब प्राकृत है, और भगवान् प्रकृति से अतीत हैं| त्याग, वैराग्य, तप, स्वाध्याय आदि अन्तःकरण को निर्मल करने वाले हैं, पर इनके बल से भी भगवान् को समझना असंभव है| भगवान् को तो अनन्य भाव से एवं उनके शरण होकर उनकी कृपा से ही समझा जा सकता है|

स्वयमेवात्मनाऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ।।१०-१५।।

हे भूतेश पुरुषोत्तम देवों के देव भूतभावन।
जानें आप स्वयं ही स्वरुप आपका श्रीपति भगवन ।।१०-१५।।

भावार्थ: *हे पुरुषोत्तम, भूतभावन, भूतेश, देवों के देव, श्रीपति भगवन, आप स्वयं ही अपने स्वरुप को जानते हैं।*

टीका: सम्पूर्ण प्राणियों को संकल्प मात्र से उत्पन्न करने वाले होने से प्रभु 'भूतभावन' हैं। सम्पूर्ण प्राणियों के और देवताओं के स्वामी होने से 'भूतेश' और 'देवों के देव' हैं। जड़-चेतन, स्थावर, जंगम जगत् का पालन-पोषण करने से 'श्रीपति' हैं। सम्पूर्ण पुरुषों में उत्तम होने से लोक और वेद में 'पुरुषोत्तम' नाम से जाने जाते हैं।

प्रभु के श्री मुख से उनकी विभूतियों और भक्तों पर कृपा सुनकर अर्जुन के हृदय में भगवान् के प्रति विशेष भाव पैदा हो जाता है। उन भावों से विभोर हो वह भगवान् के लिये एक साथ इन कई सम्बोधनों का प्रयोग करते हैं।

भगवान् ही अपने आपको स्वयं से जानते हैं। अपने आपको जानने में उन्हें किसी प्राकृत साधन की आवश्यकता नहीं होती। अपने आपको जानने में उनकी अपनी कोई वृत्ति पैदा नहीं होती, कोई जिज्ञासा भी नहीं होती तथा किसी करण (अन्तःकरण और बहिःकरण) की आवश्यकता भी नहीं होती। उनमें शरीर, शरीरी (आत्मा) का भाव नहीं है। वह तो स्वतः स्वाभाविक अपने आप से ही अपने आपको जानते हैं। उनका यह ज्ञान करण-निरपेक्ष है, करण-सापेक्ष नहीं ।प्रभु का यहां भाव है कि जैसे मैं अपने आपको अपने आप से जानता हूँ, ऐसे ही भगवान् के अंश जीव को भी अपने आप से ही अपने आपको अर्थात् अपने स्वरूप को जानना चाहिए। अपने आपको अपने स्वरूप का जो ज्ञान होता है, वह सर्वथा करण-निरपेक्ष होता है। इसलिये इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि से अपने

स्वरूप को नहीं जान सकते| भगवान् का अंश होने से भगवान् की तरह जीव का अपना ज्ञान भी करण-निरपेक्ष है|

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ।।१०-१६।।

हैं स्थित आप भुवन कर व्याप्त सब विभूति भगवन |
आप स्वयं ही समर्थ जो कर सकें यह दिव्यता वर्णन ||१०-१६||

भावार्थ: *इन सम्पूर्ण विभूतियों को आप व्याप्त कर लोकों में स्थित हैं| आप ही स्वयं इस दिव्यता (विभूतियों) को वर्णन करने में समर्थ हैं|*

टीका: भगवान् कहते हैं कि जो मेरी विभूतियों को तत्व से समझता है, उसकी मुझ में अटल भक्ति हो जाती है| यह सुनकर अर्जुन के मन में आया कि भगवान् में दृढ़ भक्ति होने का यह बहुत सुगम और श्रेष्ठ उपाय है| भगवान् की विभूतियों को तत्व से जानने पर मनुष्य का मन स्वतः ही भगवान् की और खिंच जाता है और भगवान् में उसकी स्वाभाविक ही भक्ति जाग्रत् हो जाती है| अर्जुन अपना कल्याण चाहते हैं और कल्याण के लिये उनको भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ उपाय दिखाई देती है| इसलिये अर्जुन कहते हैं कि जिन विभूतियों से आप सम्पूर्ण लोकों को व्याप्त करके स्थित हैं, उन अलौकिक, विलक्षण विभूतियों का विस्तार पूर्वक वर्णन करने में आप ही समर्थ हैं| अर्जुन की जिज्ञासा इन विभूतियों को जानने और समझने की हो रही है| वह जान रहे हैं कि यदि वह इन विभूतियों को जान जाएं तो उनको दृढ़ भक्तियोग का ज्ञान हो जाएगा| वह समझ चुके हैं कि भक्तियोग ही उनके कल्याण का मार्ग है|

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ।।१०-१७।।

कहो योगेश्वर करूँ मैं किस प्रकार निरंतर चिंतन |
हैं कौन कौन से भाव जो उपयुक्त चिंतन भगवन ||१०-१७||

भावार्थ: *हे योगेश्वर, मुझे बतलाओ कि मैं किस प्रकार निरन्तर चिन्तन करूँ| हे भगवन्, कौन कौन से भाव चिंतन के उपयुक्त हैं|*

टीका: भगवान् बता चुके हैं कि जो मेरी विभूति को तत्व से जानता है, वह अविचल भक्तियोग से युक्त हो जाता है| इसलिये अर्जुन अब भगवान् से पूछते हैं कि मैं चिन्तन कैसे करूँ?

भगवान् ने यह भी कहा है कि जो अनन्य चित्त होकर नित्य, निरन्तर मेरा स्मरण करता है, उस योगी को मैं सुलभता से प्राप्त हो जाता हूँ| जो अनन्य भक्त निरन्तर मेरा चिन्तन करते रहते हैं, उनका योगक्षेम मैं वहन करता हूँ| इस प्रकार चिन्तन की महिमा सुनकर अर्जुन कहते हैं कि जिस चिन्तन से मैं आपको तत्व से जान जाऊँ, वह चिन्तन मैं कैसे करूँ? किस वस्तु, व्यक्ति, देश, काल, घटना, परिस्थिति आदि में मैं आपका चिन्तन करूँ? स्मरण रहे कि चिन्तन करना साधन है और भगवान् को तत्व से जानना साध्य है| प्रभु तो सब वस्तु, देश, काल आदि में परिपूर्ण हूँ, इसलिये किसी विशेषता, महत्ता, सुन्दरता आदि को लेकर जहां जहां साधक का मन जाए, वहां वहां चिन्तन कर वह प्रभु को समझे| संसार की विशेषता मानने से संसार का चिन्तन होगा, पर प्रभु की विशेषता मानने से प्रभु का ही चिन्तन होगा| भक्त के लिए संसार का चिन्तन प्रभु के चिन्तन में परिणत होना चाहिए|

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि श्रृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ।।१०-१८।।

करो वर्णन स्व-विभूति और योग शक्ति हे भगवन |
नहीं हो रही तृप्ति मुझे श्रवण यह अमृत वचन ||१०-१८||

भावार्थ: *हे भगवन, अपनी योग शक्ति और विभूति का वर्णन करो| आपके अमृत (रूपी) वचनों को सुनते हुए मुझे तृप्ति नहीं हो पा रही|*

टीका: भगवान् ने अर्जुन को ज्ञान, विज्ञान का विषय भली भांति समझाया है, परन्तु उससे अर्जुन को तृप्ति नहीं हो रही, लेकिन यह सुनकर भगवान् की कृपा और महत्व की ओर अर्जुन की दृष्टि विशेषता से जाती है, और वह भगवान् से इस गूढ़ विषय को फिर से सुनने के लिये प्रार्थना करते हैं| अर्जुन कहते हैं कि आप अपने योग और विभूतियों का मुझे फिर से वर्णन कीजिए क्योंकि आपके अमृतमय वचन सुनते हुए मुझे तृप्ति नहीं हो पा रही है, मन करता है कि सुनता ही चला जाऊँ|

भगवान् की विभूतियों को सुनने से भगवान् में प्रत्यक्ष आकर्षण बढ़ता है, ऐसा समझकर अर्जुन को लगा कि इन विभूतियों का ज्ञान होने से भगवान् के प्रति उनका विशेष आकर्षण भी बढ़ जाएगा और भगवान् में सहज ही उनकी दृढ़ भक्ति हो जाएगी|

अर्जुन श्रेय का साधन चाहते हैं| भगवान् ने विभूति एवं योग को तत्व से जानने का फल अपने में दृढ़ भक्ति होना बताया है| इसलिये अर्जुन को प्रभु की विभूतियों को जानना सुलभ लग रहा है| अर्जुन सोच रहे हैं कि प्रभु की विभूतियों को जानने से मन की वृत्तियों का प्रवाह संसार में न होकर भगवान् में ही हो जाएगा जिससे मेरी भगवान् में दृढ़ भक्ति हो जाएगी और मेरा सुगमता से कल्याण हो जाएगा| जैसे कोई भोजन करने बैठे और भोजन में कोई वस्तु प्रिय लगे तो उसमें उसकी रुचि बढ़ जाती है और वह बार बार उस प्रिय वस्तु को माँगता है| पर उस रुचि के पूर्ण होने में दो बाधाएँ हो सकती हैं| एक तो वह वस्तु कम मात्रा में हो तो पूरी तृप्ति नहीं मिलती, और दूसरी, वह वस्तु अधिक मात्रा में होने पर भी पेट भर जाने से अधिक नहीं खायी जा सकती| इसी प्रकार भगवान् की विभूतियों का और अर्जुन की विभूतियाँ सुनने की रुचि का अन्त ही नहीं हो रहा है| कानों के द्वारा अमृतमय वचनों को सुनते हुए न तो उन वचनों का अन्त हो रहा है और न उनको सुनते हुए तृप्ति ही हो रही है| अतः अर्जुन भगवान् से प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि आप ऐसे अमृतमय वचन सुनाते ही जाइए|

श्रीभगवानुवाच
हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ।।१०-१९।।

श्रीभगवानुवाच
हो प्रसन्न बोले भगवन करूँ दिव्य विभूति वर्णन |
नहीं अंत मेरा विस्तार समझ लो तुम यह अर्जुन ||१०-१९||

भावार्थ: *भगवान् प्रसन्न हो कर बोले, 'मैं तुम्हें अपनी दिव्य विभूतियों का वर्णन करूंगा| हे अर्जुन, यह समझ लो कि मेरे विस्तार का अन्त नहीं है|'*

टीका: योग और विभूति का वर्णन करने के लिये अर्जुन की जो प्रभु से प्रार्थना है, उसको अव्यय से स्वीकार करते हुए भगवान् कहते हैं कि मैं अपनी दिव्य, अलौकिक, विलक्षण विभूतियों को तुम्हें कहूँगा|

यह एक बड़े आश्चर्य की बात है कि सुनने में तो मनुष्य बहुत सुन सकता है पर नेत्रों से उतना देख नहीं सकता क्योंकि देखने की शक्ति कानों की अपेक्षा सीमित होती है| जब अर्जुन ने सम्पूर्ण विभूतियों को सुनने में अपनी इच्छा जताई तो भगवान् ने उन्हें सुनने के लिये कहा, पर जब अर्जुन ने प्रभु के अनेक रूप देखना चाहे तो प्रभु ने अपना विश्वरूप दिखाया| इसका कारण यह है कि जैसे जैसे भगवान् अर्जुन को ज्ञान देते जाते हैं वैसे वैसे अर्जुन का भगवद् विषयक ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है| जब भगवान् ने यह कहा कि मेरी विभूतियों का अन्त नहीं है, तब अर्जुन की दृष्टि भगवान् की अनन्तता की ओर चली गई| लेकिन जब उन्होंने समझा कि भगवान् के विषय में तो वह कुछ भी नहीं जानते क्योंकि भगवान् अनन्त हैं, असीम हैं, अपार हैं, तब अर्जुन सावधान हो जाते हैं और नम्रता पूर्वक विश्वरूप देखने की भगवान् से प्रार्थना करते हैं| नेत्रों की शक्ति सीमित होते हुए भी भगवान् दिव्य चक्षु प्रदान कर अर्थात् चर्म चक्षुओं में विशेष शक्ति प्रदान कर उन्हें अपना विश्वरूप दिखाते हैं| स्मरण रहे कि वक्ता की व्यक्तिगत बात पूछी जाए और अपनी अज्ञता तथा अयोग्यता पूर्वक उसे जानने के लिये प्रार्थना की जाए, इन दोनों में अंतर होता है| यहाँ अर्जुन ने प्रभु

की विभूतियाँ जानने के लिये भगवान् की थाह लेनी चाही, तो भगवान् ने कह दिया कि मैं विभूतियों का वर्णन करूंगा| जब अर्जुन ने अपनी अज्ञता और अयोग्यता प्रकट करते हुए भगवान् से अपना विश्वरूप दिखाने की प्रार्थना की तो भगवान् ने अपने अनन्त रूप देखने की आज्ञा दी और उनको देखने की सामर्थ्य (दिव्य दृष्टि) भी दी| इसका तात्पर्य है कि जिस समय साधक की जो योग्यता होती है, उसी योग्यतानुसार प्रभु उसे ज्ञान देते हैं| इसलिये साधक को किंचित मात्र भी अपना आग्रह, अहंकार न रखकर और अपनी सामर्थ्य, बुद्धि न लगाकर केवल भगवान् पर ही सर्वथा निर्भर हो जाना चाहिए क्योंकि भगवान् की निर्भरता से जो वस्तु मिलती है, वह अपार मिलती है|

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ।।१०-२०।।

सुनो गुडाकेश हूँ मैं ही आत्मा स्थित हिय सब जन |
समझो मुझे ही आदि मध्य अंत सब सुरासुर भूजन ||१०-२०||

भावार्थ: *हे गुडाकेश (निद्राजित्), मैं ही समस्त प्राणियों के हृदय में स्थित सबकी आत्मा हूँ| सम्पूर्ण सुर, असुर एवं भूवासीओं का आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ*

टीका: भगवान् का चिन्तन दो प्रकार से होता है:

(१) साधक अपने इष्ट का ही चिन्तन करे| यदि मन भटके तो उसे पुनः अपने इष्ट के चिन्तन में ही लगा दे|

(२) यदि मन में सांसारिक विशेषता को लेकर चिन्तन हो, तो उस विशेषता को भगवान् की ही विशेषता समझे| इस दूसरे चिन्तन के लिये ही यहाँ विभूतियों का वर्णन है| किसी विशेषता को लेकर यदि कोई वृत्ति हो जाए तब वहां भगवान् के चिन्तन में ही हृदय लगा दे|

भगवान अपनी सम्पूर्ण विभूतियों का सार बताते हुए कहते हैं कि मैं ही सम्पूर्ण प्राणियों के आदि, मध्य तथा अन्त में हूँ| यह नियम है कि जो वस्तु उत्पत्ति-विनाशशील होती है, उसके आरम्भ और अन्त में जो तत्व रहता है, वही तत्व उसके मध्य में भी रहता है, अर्थात् जो वस्तु जिस तत्व से उत्पन्न होती है और जिसमें लीन होती है, उस वस्तु के आदि, मध्य और अन्त में (सब समय में) वही तत्व रहता है| जैसे सोने से बने गहने पहले सोना रूप होते हैं और अन्त में (गहनों के सोने में लीन होने पर) सोना रूप ही रहते हैं, मध्य में भी सोना रूप ही रहते हैं| केवल नाम, आकृति, उपयोग, माप, तौल आदि पृथक हो सकते हैं, पर इनके पृथक होते हुए भी वह सोना रूप ही रहते हैं| ऐसे ही सम्पूर्ण प्राणी आदि में भी परमात्म स्वरूप थे और अन्त में लीन होने पर भी परमात्म स्वरूप रहेंगे| मध्य में नाम, रूप, आकृति, क्रिया, स्वभाव आदि पृथक होने पर भी तत्वतः परमात्म स्वरूप ही रहेंगे| यह बताने के लिये ही यहाँ भगवान् ने अपने को सम्पूर्ण प्राणियों के आदि, मध्य और अन्त में कहा है| भगवान् ने विभूतियों के इस प्रकरण में आदि, मध्य और अन्त, तीन स्थान में सार रूप से अपनी विभूतियों का वर्णन किया है|

सम्पूर्ण प्राणियों के बीज प्रभु ही हैं| उनके बिना कोई भी चर अचर प्राणी नहीं है| चिन्तन करने के लिये यही विभूतियों का सार है| इसका तात्पर्य यह है कि किसी विशेषता आदि को लेकर जो विभूतियाँ कही गई हैं, उन विभूतियों के अतिरिक्त भी जो कुछ दिखाई दे, वह भी भगवान् की ही विभूति है| तत्व से सब कुछ परमात्मा ही है, 'वासुदेवः सर्वम्', इस लक्ष्य को बताने के लिये ही विभूतियाँ कही गई हैं|

प्रभु कहते हैं कि प्राणियों में जो आत्मा है, जीवों का जो स्वरूप है, वह उनकी विभूति है| जड़, चेतन, स्थावर, जंगम सृष्टि के आदि में प्रभु ही हर ओर हैं, 'बहु स्यां प्रजायेयेति' और अन्त में भी वही रहेंगे, 'शिष्यते शेषसंज्ञः'| अतः मध्य में भी सब कुछ प्रभु ही हैं, 'वासुदेवः सर्वम्', क्योंकि जो तत्व आदि और अन्त में होता है, वही तत्व मध्य में होता है|

प्रभु ने बीज (कारण) रूप से अपनी विभूति बताई है| प्रभु कहते हैं कि मैं ही सबका बीज हूँ, मेरे बिना कोई भी प्राणी अस्तित्व में नहीं है| इस प्रकार इन तीन स्थान पर प्रभु ने अपनी मुख्य विभूतियाँ बताई हैं| जो समुदाय में मुख्य हैं, जिनका समुदाय पर आधिपत्य है, जिनमें कोई विशेषता है, उनको लेकर भी विभूतियाँ बताई गई हैं| साधक को चाहिए कि वह इन विभूतियों की महत्ता, विशेषता, सुन्दरता, आधिपत्य आदि की ओर ध्यान न दे, प्रत्युत यह सब विभूतियाँ भगवान् से ही प्रकट होती हैं, इनमें जो महत्ता आदि है, वह केवल भगवान् की ही है, यह विभूतियाँ भगवत् स्वरुप ही हैं, ऐसा ध्यान करे|

अर्जुन का अगला प्रश्न है कि साधक इन विभूतियों का उपयोग किस प्रकार करे? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए प्रभु कहते हैं कि जब साधक की दृष्टि प्राणियों की ओर चली जाए तब वह सम्पूर्ण प्राणियों में आत्मा रूप से भगवान् ही हैं, इस प्रकार से भगवान् का चिन्तन करे| जब किसी विचारक या साधक की दृष्टि सृष्टि की ओर चली जाए तब वह उत्पत्ति-विनाशशील और सदैव परिवर्तनशील सृष्टि के आदि, मध्य तथा अन्त में एक भगवान् ही हैं, इस प्रकार का चिन्तन करे| कभी प्राणियों के मूल की ओर उसकी दृष्टि चली जाए तब वह बीज रूप से भगवान् ही हैं, भगवान् के बिना कोई भी चर अचर प्राणी न है और न हो सकता, इस प्रकार भगवान् का चिन्तन करे|

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ।।१०-२१।।

समझ मुझे विष्णु तू द्वादस अदिति पुत्रों में अर्जुन |
मरुतों का तेज नक्षत्रों का शशि ज्योति सूर्य किरन ||१०-२१||

भावार्थ: *हे अर्जुन, तू मुझे बारह आदित्यों में विष्णु, ज्योति में सूर्य किरण, मरुतों का तेज और नक्षत्रों में चन्द्रमा समझ|*

टीका: अदिति के धाता, मित्र आदि जितने पुत्र हैं, उनमें विष्णु अर्थात् वामन मुख्य हैं| भगवान् ने ही वामन रूप से अवतार लेकर दैत्यों की सम्पत्ति को दान रूप से लिया और उसे अदिति के पुत्रों (देवताओँ) को दे दिया|

चन्द्रमा, नक्षत्र, तारा, अग्नि आदि जितनी भी प्रकाशमान वस्तुएं हैं, उनमें किरणों वाले सूर्य प्रभु की विभूति ही है, क्योंकि प्रकाश करने में सूर्य की मुख्यता है| सूर्य के प्रकाश से ही सभी प्रकाशमान होते हैं|

सत्त्व, ज्योति, आदित्य, हरित आदि नामों वाले जो (उनचास) मरुत हैं, उनका मुख्य तेज भी प्रभु ही हैं| उस तेज के प्रभाव से ही इन्द्र के द्वारा दिति के गर्भ के सात टुकड़े करने पर भी वह सात टुकड़े मरे नहीं, प्रत्युत एक से उनचास हो गए|

अश्विनी, भरणी, कृत्ति आदि जो सत्ताईस नक्षत्र हैं, उन सब के अधिपति चन्द्रमा भी प्रभु ही हैं| इन सभी विभूतियों में जो विशेषता है, महत्ता है, वह वास्तव में भगवान् की ही है|

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ।।१०-२२।।

हूँ मैं ही वेदों में सामवेद देवों में इंद्र अर्जुन |
इन्द्रियों में मन और भूत प्राणियों में चेतन ||१०-२२||

भावार्थ: *हे अर्जुन, मैं ही वेदों में सामवेद हूँ| देवों में इन्द्र हूँ| इन्द्रियों में मन हूँ और भूत प्राणियों में चेतना (ज्ञान शक्ति) हूँ|*

टीका: वेदों की जो ऋचाएँ स्वर सहित गाई जाती हैं, उनका नाम सामवेद है| सामवेद में इन्द्र रूप से भगवान् की स्तुति का वर्णन है| इसलिये सामवेद भगवान् की विभूति है|

सूर्य, चन्द्रमा आदि जितने भी देवता हैं, उन सब में इन्द्र मुख्य है और सब के अधिपति हैं| इसलिये भगवान् ने इंद्र को अपनी विभूति बताया है|

नेत्र, कान आदि सब इन्द्रियों में मन मुख्य है| सब इन्द्रियाँ मन के साथ रहने से (मन को साथ में लेकर) ही काम करती हैं| यदि मन का साथ न हो तो इन्द्रियों के सामने विषय आने पर भी विषयों का ज्ञान नहीं होता| मन में यह विशेषता भगवान् से ही आई है| इसलिये भगवान् ने मन को अपनी विभूति बताया है|

सम्पूर्ण प्राणियों की जो चेतना-शक्ति (प्राण-शक्ति) है, जिससे मरे हुए व्यक्ति की अपेक्षा सोए हुए व्यक्ति में विलक्षणता दिखती है, उसे भगवान् ने अपनी विभूति बताया है| इन विभूतियों में जो विशेषता है, वह भगवान् से ही आई है| इनकी स्वतन्त्र विशेषता नहीं है|

रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ।।१०-२३।।

हूँ मैं ही रुद्रों में शिव यक्ष राक्षस में कुबेर सधन |
पर्वतों में मेरु वसुओं में अग्नि हे पृथानंदन ||१०-२३||

भावार्थ: *मैं ही (ग्यारह) रुद्रों में शंकर हूँ और यक्ष राक्षसों में धनपति कुबेर (वित्तेश) हूँ| वसुओं में अग्नि एवं पर्वतों में मेरु हूँ|*

टीका: हर, बहुरूप, त्र्यम्बक आदि ग्यारह रुद्रों में शम्भु अर्थात् शंकर सबके अधिपति हैं| यह कल्याण प्रदान करने वाले और कल्याण स्वरूप हैं| यह भगवान् की ही विभूति हैं|

कुबेर यक्ष तथा राक्षसों के अधिपति हैं और इनको धनाध्यक्ष के पद पर नियुक्त किया गया है| सब यक्ष राक्षसों में मुख्य होने से यह भी भगवान् की विभूति हैं|

धर, ध्रुव, सोम आदि आठ वसुओं में अनल अर्थात् पावक (अग्नि) सबके अधिपति हैं| यह सब देवताओं को यज्ञ की हवि पहुँचाने वाले तथा भगवान् के मुख हैं| यह भी प्रभु की विभूति हैं|

सोने, चाँदी, ताँबे आदि के शिखरों वाले जितने पर्वत हैं, उनमें सुमेरु पर्वत मुख्य है| यह सोने तथा रत्नों का भण्डार हैं| यह भी भगवान् की ही विभूति हैं| जो भी यह चार विभूतियाँ हैं, उनमें जो कुछ भी विशेषता या महत्ता है, उसके मूल रूप परमात्मा ही हैं| अतः इन विभूतियों में परमात्मा का ही चिन्तन होना चाहिए|

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ।।१०-२४।।

पुरोहितों में समझो मुझे बृहस्पति हे अर्जुन।
हूँ महासेनापति कार्तिकेय मैं ही क्षेत्र रन।।
समझो मुझे सागर जलाशयों में तुम युद्धिवन ।।१०-२४।।

भावार्थ: *हे योद्धा अर्जुन, पुरोहितों में मुझे बृहस्पति समझो| युद्ध क्षेत्र में मैं ही कार्तिकेय महासेनापति हूँ| जलाशयों में मुझे समुद्र समझो|*

टीका: संसार के सम्पूर्ण पुरोहितों में और विद्या, बुद्धि में बृहस्पति श्रेष्ठ हैं| यह इन्द्र के गुरु तथा देवताओं के कुल पुरोहित हैं| भगवान् ने बृहस्पति को अपनी विभूति कहा है|

कार्तिकेय भगवान् शंकर के पुत्र हैं| इनके छः मुख और बारह हाथ हैं| यह देवताओं के सेनापति हैं और संसार के सम्पूर्ण सेनापतियों में श्रेष्ठ हैं| भगवान् ने इन्हें अपनी विभूति बताया है|

इस पृथ्वी पर जितने जलाशय हैं, उनमें समुद्र सबसे बड़ा जलाशय है| समुद्र सम्पूर्ण जलाशयों का अधिपति है और अपनी मर्यादा में रहने वाला तथा गम्भीर है| यह भी भगवान् की ही विभूति है| यहाँ इन विभूतियों की जो अलौकिकता

दिखती है, यह उनकी स्वयं की नहीं है, प्रत्युत भगवान् की है और भगवान् से ही आई है| अतः इनको देखने पर भगवान् की ही स्मृति होनी चाहिए|

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ।।१०-२५।।

महर्षियों में भृगु वाणी में हूँ ओंकार अर्जुन।
यज्ञों में जपयज्ञ शैलों में हिमालय गिरि पावन ||१०-२५||

भावार्थ: *महर्षियों में भृगु और वाणी में ओंकार मैं ही हूँ। यज्ञों में जपयज्ञ और पर्वतों में पावन हिमालय पर्वत हूँ|*

टीका: भृगु, अत्रि, मरीचि आदि महर्षियों में महर्षि भृगु बड़े भक्त, ज्ञानी और तेजस्वी हैं| इन्होंने ही ब्रह्मा, विष्णु और महेश, इन तीनों की परीक्षा लेकर भगवान् विष्णु को श्रेष्ठ सिद्ध किया था| भगवान् विष्णु भी अपने वक्ष स्थल पर इनके चरण चिह्न को 'भृगुलता' नाम से धारण किए रहते हैं| यह महर्षि भृगु भगवान् की ही विभूति हैं|

सबसे पहले तीन मात्रा वाला प्रणव प्रकट हुआ| फिर प्रणव से त्रिपदा गायत्री, त्रिपदा गायत्री से वेद और वेदों से शास्त्र, पुराण आदि सम्पूर्ण जगत् प्रकट हुआ| प्रणव ही इन सब का कारण है| सब में श्रेष्ठ होने से भगवान् ने एक अक्षर 'प्रणव' को अपनी विभूति बताया है, 'प्रणवः सर्ववेदेषु', सम्पूर्ण वेदों में मैं प्रणव हूँ'| जो प्राणी इस एक अक्षर प्रणव का उच्चारण करता हुआ और भगवान् का स्मरण करता हुआ शरीर छोड़कर जाता है, वह परम गति को प्राप्त होता है,' 'तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः| वैदिक लोगों की शास्त्रविहित यज्ञ, दान और तप रूप क्रियाएँ प्रणव का उच्चारण करके ही आरम्भ होती हैं, 'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि'| मन्त्रों से जितने यज्ञ किए जाते हैं, उनमें अनेक वस्तु एवं पदार्थों की, विधियों की, आवश्यकता पड़ती है और उनको करने में कुछ दोष आ ही जाता है| परन्तु जपयज्ञ अर्थात् भगवन् नाम का जप करने में किसी पदार्थ या विधि की आवश्यकता नहीं पड़ती| इसको करने में दोष आना तो दूर

प्रत्युत सभी दोष नष्ट हो जाते हैं| इसको करने में सभी स्वतन्त्र हैं| भिन्न भिन्न सम्प्रदायों में भगवान् के नामों में अन्तर तो होता है, पर नाम जप से कल्याण ही होता है| इसको हिन्दू, बौद्ध, जैन आदि सभी मानते हैं| इसलिये भगवान् ने जपयज्ञ को अपनी विभूति बताया है|

स्थिर रहने वाले जितने भी पर्वत हैं, उन सब में हिमालय तपस्या का स्थल होने से महान् पवित्र है और सबका अधिपति है| गंगा, यमुना आदि जितनी तीर्थ स्वरूप पवित्र नदियाँ हैं, वह सभी प्रायः हिमालय से ही प्रकट होती हैं| भगवत् प्राप्ति में हिमालय स्थल बहुत सहायक है| आज भी दीर्घ आयु वाले महान योगी और सन्त जन हिमालय की गुफाओं में साधन-भजन करते हैं| नर-नारायण ऋषि भी हिमालय में जगत् के कल्याण के लिये आज भी तपस्या कर रहे हैं| हिमालय भगवान् शंकर का ससुराल है और स्वयं शंकर भी इसी के एक शिखर, कैलास पर्वत, पर रहते हैं| इसलिये भगवान् ने हिमालय को अपनी विभूति बताया है| संसार में जो कुछ भी विशेषता दिखती है, उसको संसार की मानने से मनुष्य उसमें फँस जाता है, जिससे उसका पतन होता है| परन्तु भगवान् यहाँ बहुत ही सरल साधन बताते हैं कि तुम्हारा मन जहां कहीं और जिस किसी विशेषता को लेकर आकृष्ट होता है, वहां उस विशेषता को तुम मेरी समझो| इसे इस परिवर्तनशील नाशवान् संसार की नहीं समझो| ऐसा समझोगे, मानोगे तो तुम्हारा वह आकर्षण मुझ में ही रहेगा| तुम्हारे मन में मेरी ही महत्ता हो जाएगी| इससे संसार का चिन्तन छूटकर मेरा ही चिन्तन होगा, जिससे तुम्हारा मुझ में प्रेम हो जाएगा|

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ।।१०-२६।।

हूँ मैं पीपल सब वृक्षों में और नारद देवऋषिगन |
चित्ररथ गंधर्वों और सिद्धों में कपिल हे अर्जुन ||१०-२६||

भावार्थ: *हे अर्जुन, मैं समस्त वृक्षों में पीपल (अश्वत्थ), देवर्षियों में नारद, गन्धर्वों में चित्ररथ और सिद्ध पुरुषों में कपिल मुनि हूँ|*

टीका: पीपल एक सौम्य वृक्ष है| यह पर्वत, मकान की दीवार, छत आदि कठोर स्थानों में भी उग आता है| पीपल वृक्ष के पूजन की बड़ी महिमा है| आयुर्वेद में कई रोगों का नाश करने की शक्ति पीपल वृक्ष में बताई गई है| भगवान् पीपल को अपनी विभूति बताते हैं|

भगवान् को जैसी लीला करनी होती है, वह पहले से वैसी ही भूमिका तैयार कर देते हैं| इसलिये ब्रह्मऋषि नारद जी को भगवान् का मन कहा गया है| ब्रह्मऋषि नारद जी सदैव वीणा लेकर भगवान् के गुण गाते हुए घूमते रहते हैं| महर्षि वाल्मीकि और महर्षि व्यास जी को उपदेश देकर उनको रामायण और भागवत जैसे ग्रन्थों के लेखन कार्य में प्रवृत्त कराने वाले भी ब्रह्मऋषि नारद जी ही हैं| ब्रह्मऋषि नारद जी के शब्दों पर मनुष्य, देवता, असुर, नाग आदि सभी विश्वास करते हैं, सभी इनकी बात मानते हैं और इनसे सलाह लेते हैं| महाभारत आदि ग्रन्थों में इनके अनेक गुणों का वर्णन किया गया है| ब्रह्मऋषि नारद जी भी भगवान् की ही विभूति हैं|

स्वर्ग लोक के गायकों को गन्धर्व कहते हैं और उन सभी गन्धर्वों में चित्ररथ मुख्य हैं| अर्जुन के साथ इनकी मित्रता रही और इनसे ही अर्जुन ने गान विद्या सीखी थी| गान विद्या में अत्यन्त निपुण और गन्धर्वों में मुख्य होने से यह प्रभु की ही विभूति हैं|

सिद्ध दो प्रकार के होते हैं| एक तो साधन करके सिद्ध बनते हैं और दूसरे जन्मजात सिद्ध होते हैं| महर्षि कपिल जी जन्मजात सिद्ध हैं, इसीलिए इन्हें आदि सिद्ध भी कहा जाता है| यह महर्षि कर्दम जी के गृह में माता देवहूति के गर्भ से प्रकट हुए थे| ये सांख्य के आचार्य और सम्पूर्ण सिद्धों के गणाधीश हैं| यह भी भगवान् की विभूति हैं| इन सब विभूतियों में जो विलक्षणता प्रतीत होती है, वह मूलतः, तत्वतः भगवान् की ही है, अतः साधक की दृष्टि भगवान् में ही रहनी चाहिए|

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ।।१०-२७।।

हूँ उच्चैश्रवा अश्व निकला संग सोम सागर मंथन |
समझ गजों में मुझे ऐरावत एवं नृप सभी भूजन ||१०-२७||

भावार्थ: *मैं उच्चैश्रवा अश्व (सर्वश्रेष्ठ अश्व) हूँ जो अमृत के साथ समुद्र मंथन से प्रकट हुआ था| हाथियों में ऐरावत और मनुष्यों में नृप मुझे समझो|*

टीका: समुद्र मन्थन के समय प्रकट होने वाले चौदह रत्नों में उच्चैश्रवा घोड़ा भी एक रत्न है| यह इन्द्र का वाहन और सम्पूर्ण घोड़ों का राजा है| यह भी भगवान् की ही विभूति है|

हाथियों में श्रेष्ठ ऐरावत हाथी है| उच्चैश्रवा घोड़ा के समान ऐरावत हाथी की उत्पत्ति भी समुद्र से ही हुई थी| यह भी इन्द्र का वाहन है| यह भी भगवान् की ही विभूति है|

सम्पूर्ण प्रजा का पालन, संरक्षण, शासन करने वाला होने से राजा सम्पूर्ण मनुष्यों में श्रेष्ठ है| साधारण मनुष्यों की अपेक्षा राजा में भगवान् की दी हुई अधिक शक्ति होती है| राजा भी प्रभु की ही विभूति है| इन विभूतियों में बलवत्ता, सामर्थ्य आदि भगवान् से ही मिली है,अतः इन्हें भगवान् की ही मानकर भगवान् का चिन्तन करना चाहिए|

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ।।१०-२८।।

शस्त्रों में वज्र गायों में कामधेनु हूँ अर्जुन |
हूँ सर्पों में वासुकि मैं कंदर्प हेतु जन सृजन ||१०-२८||

भावार्थ: *शस्त्रों में वज्र और धेनुओं (गायों) में कामधेनु हूँ| प्रजा उत्पत्ति का हेतु कन्दर्प (कामदेव) और वासुकि सर्प मैं हूँ|*

टीका: आयुधों (शस्त्रों) में इन्द्र का वज्र मुख्य है| यह दधीचि ऋषि की हड्डियों से बना हुआ है| इसमें दधीचि ऋषि की तपस्या का तेज है| यह वज्र भगवान् की विभूति है|

सभी धेनुओँ में कामधेनु मुख्य है जो समुद्र मन्थन से प्रकट हुई थी| यह सम्पूर्ण देवताओं और मनुष्यों की कामना पूर्ति करने वाली है| यह भी भगवान् की विभूति है|

संसार की उत्पत्ति काम से ही होती है| धर्म के अनुकूल केवल सन्तान की उत्पत्ति के लिये सुख बुद्धि का त्याग कर जिस काम का उपयोग किया जाता है, वह काम भगवान् की विभूति है, 'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ' अर्थात् सब प्राणियों में धर्म के अनुकूल काम मैं ही हूँ|

वासुकि सर्प सम्पूर्ण सर्पों के अधिपति और भगवान् के भक्त हैं| समुद्र मन्थन के समय इन्हीं की मन्थन डोरी बनायी गई थी| यह भी भगवान् की ही विभूति हैं| इन विभूतियों में जो विलक्षणता दिखाई देती है, वह प्रतिक्षण परिवर्तनशील संसार की नहीं है, प्रत्युत परमात्मा की ही है|

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितृणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ।।१०-२९।।

हूँ शेषनाग नागों में और जल देवों में वरुन |
पितरों में अर्यमा और यम करूँ जो नियमन ||१०-२९||

भावार्थ: *मैं नागों में अनन्त (शेषनाग) हूँ और जल देवताओं में वरुण हूँ| मैं पितरों में अर्यमा और नियमन करने वाला यम हूँ|*

टीका: शेषनाग (अनंत) सम्पूर्ण नागों के राजा हैं| इनके एक सहस्त्र फण हैं| यह क्षीरसागर में सदा भगवान् की शय्या बनकर भगवान् को सुख पहुँचाते हैं|

यह अनेक बार भगवान् के साथ अवतार लेकर उनकी लीला में सम्मिलित हुए हैं| यह भगवान् की ही विभूति हैं|

वरुण सम्पूर्ण जल, जन्तुओं के तथा जल देवताओं के अधिपति हैं, और भगवान् के भक्त हैं| यह भी भगवान् की ही विभूति हैं|

कव्यवाह, अनल, सोम आदि सात पितृगण हैं| इन सब में अर्यमा नाम वाले पितर मुख्य हैं| यह भगवान् की विभूति हैं|

प्राणियों पर शासन करने वाले राजा आदि जितने भी अधिकारी हैं, उनमें यमराज मुख्य हैं| यह प्राणियों को उनके पाप, पुण्यों का फल भुगताकर उन्हें शुद्ध करते हैं| इनका शासन न्याय और धर्म पूर्वक होता है| यह भगवान् के भक्त और लोकपाल भी हैं| यह भगवान् की ही विभूति हैं| इन सब विभूतियों में जो विलक्षणता दिखाई देती है, वह इनकी व्यक्तिगत नहीं है, अपितु भगवान् से ही प्राप्त हुई है एवं भगवान् की ही है| अतः इन सब में भगवान् का ही चिन्तन करना चाहिए|

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ।।१०-३०।।

समझो मुझे तुम महाराज प्रह्लाद मध्य दैत्यगन |
हूँ मैं ही काल करें जो ज्योतिष गणन इस भुवन ||
वन पशुओं में सिंह और गरुण खगों में अर्जुन ||१०-३०||

भावार्थ: *हे अर्जुन, दैत्यों में सम्राट प्रह्लाद और पृथ्वी पर ज्योतिष गणना करने वालों में मैं काल हूँ| वन पशुओं में सिंह और पक्षियों में गरुड़ हूँ|*

टीका: जो माता दिति से उत्पन्न हुए हैं, उनको दैत्य कहते हैं| उन दैत्यों में भक्त प्रह्लाद मुख्य हैं, और श्रेष्ठ हैं| यह भगवान् के परम विश्वासी और निष्काम प्रेमी भक्त हैं| यह भगवान् की ही विभूति हैं| यद्यपि भक्त प्रह्लाद सतयुग में हुए थे,

पर भगवान् उनका नाम वर्तमान में ले रहे हैं| इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान् के भक्त नित्य रहते हैं और श्रद्धा, भक्ति के अनुसार दर्शन भी दे सकते हैं। उनके भगवान् में लीन हो जाने के बाद अगर कोई उनको स्मरण करता है और उनके दर्शन चाहता है, तो उनका रूप धारण करके भगवान् स्वयं दर्शन देते हैं|

ज्योतिष शास्त्र में काल (समय) से ही आयु की गणना होती है| इसलिये क्षण, घड़ी, दिन, पक्ष, मास, वर्ष आदि गणना करने से साधनों में काल भगवान् की विभूति है|

बाघ, हाथी, चीता, रीछ आदि जितने भी वन पशु हैं, उन सब में सिंह बलवान्, तेजस्वी, प्रभावशाली, शूरवीर और साहसी है| यह सब पशुओं का राजा है| यह भी भगवान् की ही विभूति है|

माता विनता के पुत्र गरुड़ जी सम्पूर्ण पक्षियों के राजा हैं और भगवान् के अनन्य भक्त हैं| यह भगवान् विष्णु के वाहन हैं| जब यह उड़ते हैं, तब इनके पंखों से स्वतः सामवेद की ऋचाएँ ध्वनित होती हैं| यह भी भगवान् की ही विभूति हैं| इन सब विभूतियों में अलग अलग रूप से जो मुख्यता बताई गई है, वह तत्वतः भगवान् की ही है| इसलिये इनकी ओर दृष्टि जाते ही स्वतः भगवान् का ही चिन्तन होना चाहिए|

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ।।१०-३१।।

राम शस्त्रधारियों में और पवन करे जो पावन |
जलचरों में मकर और नदियों में हूँ गंगा पावन ||१०-३१||

भावार्थ: *मैं शस्त्रधारियों में राम और पवित्र करने वालों में वायु हूँ| जलचरों में मगरमच्छ और नदियों में पवित्र गंगा हूँ|*

टीका: 'रामः शस्त्रभृतामहम्', राम साक्षात् भगवान् विष्णु के अवतार हैं और शस्त्रधारियों में सर्वश्रेष्ठ हैं| भगवान् राम प्रभु की ही विभूति हैं|

वायु से ही सब वस्तुएं पवित्र होती हैं, वायु से ही नीरोगता आती है| अतः भगवान् ने पवित्र करने वालों में वायु को अपनी विभूति बताया है|

'स्रोतसामस्मि जाह्नवी', प्रवाह रूप से बहने वाले जितने भी नद, नदी, नाले, झरने हैं, उन सब में पवित्र एवं श्रेष्ठ गंगा जी हैं| यह भगवान् की विशेष चरणोदक हैं| गंगा जी अपने दर्शन, स्पर्श आदि से विश्व का उद्धार करने वाली हैं| मृत मनुष्यों की अस्थियाँ गंगा जी में डालने से उनकी सद्गति हो जाती है| यह पवित्र गंगा माँ भी भगवान् की ही विभूति हैं|

किसी भी इन विभूतियों की मुख्यता न मानकर केवल भगवान् की ही मुख्यता माननी चाहिए| इन सब विभूतियों में जो विशेषता, महत्ता देखने में आती है, वह भगवान् से ही आई है| अर्जुन के दोनों प्रश्नों का प्रभु ने यहां उत्तर दिया है| भगवान् को जानने का और जानने के उपाय का एक ही समाधान है, विभूतियों में भगवान् का चिन्तन करना और उस चिन्तन के परिणाम के मूल में भगवान् को तत्व से जानना| शस्त्रधारियों में श्री राम और वृष्णियों में वासुदेव को भगवान् ने अपनी विभूति बताया इसका कारण है कि समुदाय में विभूति रूप से श्री राम का और वासुदेव का चिन्तन करें| उनके चिन्तन का फल होगा कि साधक श्री राम को और वासुदेव को तत्व से भगवान् रूप में जान जाएगा|

संसार में जहां कहीं भी जो कुछ विशेषता, विलक्षणता, सुन्दरता दिखती है, उसको वस्तु, व्यक्ति की मानने से बंधन होता है| अर्थात् मनुष्य उस विशेषता आदि को संसार की मानकर उस में फँस जाता है| इसलिये भगवान् ने यहाँ मनुष्य के लिये यह बताया है कि तुम उस विशेषता सुन्दरता आदि को वस्तु, व्यक्ति की मत मानो, प्रत्युत मेरी और मुझ से ही आई हुई मानो| ऐसा मानकर मेरा चिन्तन करोगे तो तुम्हारा संसार का चिन्तन छूट जाएगा और मुझे तत्व से जान जाओगे| मुझे तत्व से जानने पर मुझ में तुम्हारी भक्ति दृढ़ हो जाएगी|

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ।।१०-३२।।

हूँ स्थित मैं आदि अंत मध्य सृष्टि हे कुन्तीनन्दन ।
हूँ वाद विवेचन में और विद्या में दैविक विद्यन् ।।१०-३२।।

भावार्थ: *हे अर्जुन, सृष्टि का आदि, अन्त और मध्य मैं हूँ। मैं विद्या में आध्यात्म ज्ञान और विवेचन में वाद हूँ।*

टीका: जितने सर्ग और महासर्ग हैं, उनके आदि, अंत और मध्य में प्रभु का ही वास है।

जिस विद्या से मनुष्य का कल्याण हो जाता है, वह दैविक (आध्यात्म) कहलाती है। दूसरी सांसारिक विद्याएँ निर्वाह करने के लिए तो पर्याप्त हो सकतीं हैं परन्तु कल्याण नहीं कर सकतीं। यह आध्यात्म विद्या प्रभु की ही विभूति है।

आपस में जो शास्त्रार्थ किया जाता है, वह तीन प्रकार का होता है:

(१) जल्प – युक्ति, प्रयुक्ति से अपने पक्ष का मण्डन और दूसरे पक्ष का खण्डन करके अपने पक्ष की जीत और दूसरे पक्ष की हार करने की भावना से जो शास्त्रार्थ किया जाता है, उसको जल्प कहते हैं।

(२) वितण्डा - अपना कोई भी पक्ष न रखकर केवल दूसरे पक्ष का खण्डन करने के लिये जो शास्त्रार्थ किया जाता है, उसको वितण्डा कहते हैं।

(३) वाद - बिना किसी पक्षपात के केवल तत्व निर्णय के लिये आपस में जो शास्त्रार्थ (विचार विनिमय) किया जाता है, उसको वाद कहते हैं। उपर्युक्त तीनों प्रकार के शास्त्रार्थों में 'वाद' श्रेष्ठ है। इसी वाद को भगवान् ने अपनी विभूति बताया है।

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताऽहं विश्वतोमुखः ।।१०-३३।।

हूँ अकार वर्णमाला में समासों में द्वंद्व अर्जुन।
हूँ काल का भी महाकाल मैं विराट रूप भगवन ||१०-३३||

भावार्थ: *हे अर्जुन, मैं वर्णमाला में अकार और समासों में द्वन्द्व हूँ। मैं काल का भी महाकाल (अक्षय काल) और विराट रूप भगवान् हूँ।*

टीका: वर्णमाला में सर्व प्रथम अकार आता है। स्वर और व्यञ्जन, दोनों में अकार मुख्य है। अकार के बिना व्यञ्जनों का उच्चारण नहीं होता, इसलिये अकार को भगवान् ने अपनी विभूति बताया है।

जिस दो या दो से अधिक शब्दों की संधि से मिलकर एक शब्द बनता है, उसको समास कहते हैं। समास कई प्रकार के होते हैं। उनमें अव्ययीभाव, तत्पुरुष, बहुब्रीहि और द्वन्द्व, ये चार मुख्य हैं। दो शब्दों के समास में यदि पहला शब्द प्रधानता रखता है, तो वह 'अव्ययीभाव समास' होता है। यदि आगे का शब्द प्रधानता रखता है तो वह 'तत्पुरुष समास' होता है। यदि दोनों शब्द अन्य के वाचक होते हैं तो वह 'बहुब्रीहि समास' होता है। यदि दोनों शब्द प्रधानता रखते हैं तो वह द्वन्द्व समास होता है। द्वन्द्व समास में दोनों शब्दों का अर्थ मुख्य होने से भगवान् ने इसको अपनी विभूति बताया है।

जिस काल का कभी क्षय नहीं होता अर्थात् जो कालातीत है और अनादि अनन्त रूप है, वह काल भगवान् ही हैं। सर्ग और प्रलय की गणना तो सूर्य से होती है, पर महाप्रलय में जब सूर्य भी लीन हो जाता है तब समय की गणना परमात्मा से ही होती है, इसलिये परमात्मा अक्षय काल है।

काल और अक्षय काल में अंतर समझना आवश्यक है। काल एक क्षण भी स्थिर नहीं रहता, बदलता रहता है। काल ज्योतिष शास्त्र का आधार है और उसी से संसार के समय की गणना होती है। परन्तु अक्षय काल परमात्म स्वरूप होने

से कभी बदलता नहीं| अक्षय काल सब को खा जाता है और स्वयं ज्यों का त्यों ही रहता है, अर्थात् इसमें कभी कोई विकार नहीं आता| इसी अक्षय काल को यहाँ भगवान् ने अपनी विभूति बताया है| भगवान् ने 'कालोऽस्मि' कहकर अक्षय काल को अपना स्वरूप बताया है|

सब ओर मुख होने से भगवान् की दृष्टि सभी प्राणियों पर सदैव रहती है, अतः वह विराट रूप हैं| इसलिये भगवान् ने विराट रूप को अपनी विभूति रूप से वर्णन किया है|

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ।।१०-३४।।

हूँ मैं ही सर्व भक्षक मृत्यु और उत्पत्ति का कारन |
मैं ही कीर्ति श्री वाक स्मृति मेधा धृति अर्जुन ||
समझो मुझे क्षमा संग सब गुण हैं जो नारि इस भुवन ||१०-३४||

भावार्थ: *हे अर्जुन, मैं ही सर्व भक्षक मृत्यु और उत्पत्ति का कारण हूँ| कीर्ति, श्री, वाक (वाणी), स्मृति, मेधा, धृति , क्षमा सहित इस विश्व की समस्त स्त्रियों के गुण मुझे ही समझो|*

टीका: मृत्यु में हरण करने की ऐसी विलक्षण सामर्थ्य है कि मृत्यु के बाद यहाँ की स्मृति तक नहीं रहती, सब कुछ अपहृत हो जाता है| वास्तव में यह सामर्थ्य मृत्यु की नहीं है, प्रत्युत परमात्मा की है| अगर सम्पूर्ण का हरण करने की, विस्मृत करने की भगवत् प्रदत्त सामर्थ्य मृत्यु में न होती तो अपनेपन के सम्बन्ध को लेकर जैसी चिन्ता इस जन्म में मनुष्य को होती है, वैसी ही चिन्ता पिछले जन्म के सम्बन्ध को लेकर भी होती| मनुष्य न जाने कितने जन्म ले चुका है| अगर उन जन्मों की याद रहती तो मनुष्य की चिन्ताओं का, उसके मोह का कभी अन्त ही नहीं होता| परन्तु मृत्यु के द्वारा विस्मृति होने से पूर्व जन्मों के कुटुम्ब, सम्पत्ति आदि की स्मृति नहीं रहती| इस कारण उसे पूर्व जन्म की कोई

चिन्ता नहीं होती| इस तरह मृत्यु में जो चिन्ता एवं मोह मिटाने की सामर्थ्य है, वह सब भगवान् की है|

जिस प्रकार प्रभु सब का भरण, पोषण करने वाले हैं, उसी प्रकार उत्पत्ति का हेतु भी वहीं हैं| इसका तात्पर्य यह है कि संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करने वाले प्रभु ही हैं|

कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा, यह सातों स्त्रियों की विशेषता मानी गई हैं| इनमें से कीर्ति, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा, यह पाँच प्रजापति दक्ष की कन्याएँ हैं, 'श्री' महर्षि भृगु की कन्या हैं और 'वाक्' ब्रह्मा जी की कन्या हैं| सद्गुणों को लेकर संसार में जो प्रसिद्धि है, प्रतिष्ठा है, उसे कीर्ति कहते हैं| स्थावर और जंगम, यह दो प्रकार का ऐश्वर्य होता है| भूमि, मकान, धन, सम्पत्ति आदि स्थावर ऐश्वर्य है, और गाय, भैंस, घोड़ा, ऊँट, हाथी आदि जंगम ऐश्वर्य हैं| इन दोनों ऐश्वर्यों को 'श्री' कहते हैं| जिस वाणी को धारण करने से संसार में यश, प्रतिष्ठा होती है और जिससे मनुष्य विद्वान् कहलाता है, उसे 'वाक्' कहते हैं| पुरानी सुनी समझी बात की फिर याद आने का नाम 'स्मृति' है| बुद्धि की जो स्थाई रूप से धारण करने की शक्ति है, अर्थात् जिस शक्ति से विद्या भली भांति याद रहती है, उस शक्ति का नाम 'मेधा' है| मनुष्य को अपने सिद्धान्त, मान्यता आदि पर डटे रखने तथा उनसे विचलित न होने देने की शक्ति का नाम 'धृति' है| दूसरा कोई बिना कारण अपराध कर दे, तो अपने में दण्ड देने की शक्ति होने पर भी उसे दण्ड न देना और उसे लोक परलोक में कहीं भी उस अपराध का दण्ड न मिले, इस तरह का भाव रखते हुए उसे क्षमा कर देने का नाम 'क्षमा' है| कीर्ति, श्री और वाक्, यह तीन प्राणियों के बाहर प्रकट होने वाली विशेषताएँ हैं, तथा स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा, यह चार प्राणियों के भीतर प्रकट होने वाली विशेषताएँ हैं| इन सातों विशेषताओं को भगवान् ने अपनी विभूति बताया है|

यहाँ जिन विशेष गुणों को विभूति रूप से कहा है, उसका तात्पर्य साधक को केवल भगवान् की ओर लक्ष्य कराने में है| किसी व्यक्ति में यह गुण दिखाई दें तो उस व्यक्ति की विशेषता न मानकर भगवान् की ही विशेषता माननी चाहिए,

और भगवान् को ही याद करना चाहिए| यदि यह गुण अपने में दिखाई दें तो इनको भगवान् के ही मानने चाहिए, अपने नहीं| इसका कारण कि यह दैवीय (भगवान् की) सम्पत्ति है, जो भगवान् से ही प्रकट हुई है| इन गुणों को अपना मान लेने से अभिमान पैदा होता है, जिससे पतन हो जाता है| स्मरण रहे कि अभिमान सम्पूर्ण आसुरी सम्पत्ति का जनक है| साधकों को जिस किसी में जो कुछ विशेषता, सामर्थ्य दिखे, उसे उस वस्तु एवं व्यक्ति की न मानकर भगवान् की ही मानना चाहिए| लोमश ऋषि के शाप से काकभुशुण्डि जी ब्राह्मण से चाण्डाल पक्षी बन गए, पर उनको न भय हुआ, न किसी प्रकार की दीनता आई और न कोई अशुभ विचार ही हुआ, प्रत्युत उनको प्रसन्नता ही हुई| इसका कारण है कि उन्होंने इसमें ऋषि का दोष न मानकर भगवान् की प्रेरणा ही समझा|

'सुनु खगेस नहिं कछु रिषि दूषन। उर प्रेरक रघुबंस बिभूषन।।'

ऐसे ही मनुष्य सब वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदि के मूल में भगवान् को देखने लगे तो हर समय आनन्द ही आनन्द रहेगा|

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ।।१०-३५।।

समझो मुझे छंद तुम गायत्री में हे पृथानंदन |
हूँ मैं ही बृहत्साम करें जब सामवेद गायन ||
मासों में मार्गशीर्ष व् ऋतुओं में वसंत महन ||१०-३५||

भावार्थ: *हे पृथानंदन, गायत्री में मुझे छंद समझो| जब सामवेद का गायन होता है तो मैं ही बृहत्साम हूँ| मासों में मार्गशीर्ष और ऋतुओं में श्रेष्ठ वसन्त हूँ|*

टीका: वेदों में जितनी छन्द ऋचाएँ हैं, उनमें गायत्री की मुख्यता है| गायत्री को वेद जननी कहते हैं, क्योंकि इसी से वेद प्रकट हुए हैं| स्मृतियों और शास्त्रों में गायत्री की बड़ी महिमा गाई गई है| गायत्री में स्वरूप, प्रार्थना और ध्यान, तीनों

परमात्मा के ही होने से इससे परमात्म-तत्व की प्राप्ति होती है| इसलिये भगवान् ने इसे अपनी विभूति बताया है|

सामवेद में बृहत्साम नामक गाए जाने वाले मन्त्र हैं| इसके द्वारा इन्द्र रूप में परमेश्वर की स्तुति की गई है| अतिरात्र-याग में यह एक पृष्ठ-स्तोत्र है| सामवेद में सबसे श्रेष्ठ होने से इस बृहत्साम को भगवान् ने अपनी विभूति बताया है|

जिस अन्न से सम्पूर्ण प्रजा जीवित रहती है, उस (वर्षा से होने वाले) अन्न की उत्पत्ति मार्गशीर्ष महीने में होती है| इस महीने में नए अन्न से यज्ञ भी किया जाता है| महाभारत काल में नया वर्ष मार्गशीर्ष से ही आरम्भ होता था| इन विशेषताओं के कारण भगवान् ने मार्गशीर्ष को अपनी विभूति बताया है|

वसन्त ऋतु में बिना वर्षा के ही वृक्ष, लता आदि पत्र, पुष्पों से युक्त हो जाते हैं| इस ऋतु में न अधिक गर्मी रहती है और न अधिक ठण्ड| यह ऋतु श्रेष्ठ है| इसलिये भगवान् ने वसन्त ऋतु को अपनी विभूति कहा है| इन सब विभूतियों में जो महत्ता, विशेषता दिखती है, वह केवल भगवान् की ही है, अतः चिन्तन केवल भगवान् का ही करना चाहिए|

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ।।१०-३६।।

हूँ मैं छलियों में द्यूत तेजस्वी का तेज अर्जुन|
विजय और व्यवसाय में समझो मुझे सत भाव जन ||१०-३६||

भावार्थ: *हे अर्जुन, मैं छल करने वालों में द्यूत हूँ और तेजस्वियों का तेज हूँ| विजय और व्यवसाय (उद्यमशीलता) में मुझे पुरुषों का सात्विक भाव समझो|*

टीका: छल करके दूसरों के राज्य, वैभव, धन, सम्पत्ति आदि का अपहरण करने की विशेष सामर्थ्य रखने वाली जो विद्या है, उसको द्यूत कहते हैं| इस द्यूत को भगवान् ने अपनी विभूति बताया है| यहां एक शंका हो सकती है कि

जब भगवान् ने छल करने वालों में द्यूत को अपनी विभूति बताया है, तब द्यूत में क्या दोष है? अगर दोष नहीं है तो फिर शास्त्रों ने इसका निषेध क्यों किया है? इसका समाधान है कि उचित, अनुचित (विधि, निषेध) का शास्त्रों में वर्णन है, ऐसे विधि, निषेध का वर्णन यहाँ प्रभु ने नहीं किया| यहाँ तो केवल विभूतियों का वर्णन है| 'मैं आपका चिन्तन कैसे करूँ?', अर्जुन के इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने विभूतियों के रूप में अपना चिन्तन करने को कहा है| भगवान् का चिन्तन सुगमता से हो जाए, इसका उपाय विभूतियों के रूप में भगवान् ने बतलाया है| जिस समुदाय में मनुष्य रहता है, उस समुदाय में जहां भी और जिस कार्य में भी दृष्टि पड़े, वहां संसार को न देखकर साधक केवल भगवान् को ही देखे, क्योंकि भगवान् कहते हैं कि यह सम्पूर्ण जगत् मुझ से ही व्याप्त है, अर्थात् इस जगत में मैं ही व्याप्त हूँ, परिपूर्ण हूँ|

यदि किसी साधक का पहले द्यूत खेलने का व्यसन रहा हो और अब वह भगवान् के भजन में लग गया है, यदि उसको कभी द्यूत की याद आ जाए तो उस द्यूत का चिन्तन छोड़ने के लिये वह उसमें भगवान् का चिन्तन करे और हृदय में लाए कि इस द्यूत के कारण हार, जीत की विशेषता भगवान् की ही है| इस प्रकार द्यूत में भगवान् को देखने से द्यूत का चिन्तन छूट जाएगा और भगवान् का चिन्तन होने लगेगा| इस प्रकार द्यूत आदि को विभूति कहने का तात्पर्य भगवान् के चिन्तन में है|

जीव स्वयं साक्षात् परमात्मा का अंश है, पर उसने भूल से असत् शरीर एवं संसार के साथ अपना सम्बन्ध मान लिया है| अगर यह संसार में दिखने वाली महत्ता, विशेषता, शोभा आदि को परमात्मा की ही मानकर परमात्मा का चिन्तन करेगा तो वह परमात्मा की ओर जाएगा, अर्थात् उसका उद्धार हो जाएगा| अगर महत्ता, विशेषता, शोभा आदि को संसार की मानकर संसार का चिन्तन करेगा तो वह संसार की ओर जाएगा अर्थात् उसका पतन हो जाएगा| इसलिये परमात्मा का चिन्तन करते हुए परमात्मा को तत्व से जानने के उद्देश्य से ही इन विभूतियों का वर्णन किया गया है|

महापुरुषों के उस दैवीय सम्पत्ति वाले प्रभाव का नाम तेज है, जिसके सामने पापी पुरुष भी पाप करने में हिचकते हैं| इस तेज को भगवान् ने अपनी विभूति बताया है|

'जयोऽस्मि', विजय प्रत्येक प्राणी को प्रिय लगती है| विजय की यह विशेषता भगवान् की है| इसलिये विजय को भगवान् ने अपनी विभूति बताया है| अपने मन के अनुसार अपनी विजय होने से जो सुख होता है, उसका उपभोग न करके उसमें भगवद् दृष्टि देखनी चाहिए| विजय रूप में स्वयं भगवान् आए हैं|

व्यवसाय नाम एक निश्चय का है| कर्मयोगी की निश्चयात्मक बुद्धि होती है| भोग और ऐश्वर्य में आसक्त पुरुषों की निश्चयात्मक बुद्धि नहीं होती| 'अब तो मैं केवल भगवान् का ही भजन करूँगा', इस एक निश्चय के बल पर दुराचारी मनुष्य को भी भगवान् साधु बना देते हैं| इस प्रकार भगवान् की ओर चलने का जो निश्चय है, उसको भगवान् ने अपनी विभूति बताया है| व्यवसाय को अपनी विभूति बताने का तात्पर्य है कि साधक को भगवान् के प्रति समर्पण का निश्चय तो रखना ही चाहिए, पर इसको अपना गुण नहीं मानना चाहिए, प्रत्युत ऐसा मानना चाहिए कि यह भगवान् की ही विभूति है और उन्हीं की कृपा से मुझे प्राप्त हुई है|

सात्त्विक मनुष्यों में जो सत्त्व गुण है, जो सात्त्विक भाव और आचरण है, वह भी भगवान् की ही विभूति है| इसका तात्पर्य है कि रजोगुण और तमोगुण को दबाकर जो सात्त्विक भाव बढ़ता है, उस सात्त्विक भाव को साधक अपना गुण न मानकर भगवान् की विभूति माने| तेज, व्यवसाय, सात्त्विक भाव आदि अपने में अथवा दूसरों में देखने में आयें तो साधक इनको अपना अथवा किसी वस्तु व्यक्ति का गुण न माने, प्रत्युत भगवान् का ही गुण माने| उन गुणों की ओर दृष्टि जाने पर उनमें तत्व रूप में भगवान् को देखकर भगवान् को ही याद करना चाहिए|

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ।।१०-३७।।

हूँ मैं वृष्णियों में वासुदेव पांडवों में अर्जुन।
ऋषियों में व्यास और कवियों में मैं कवि उशन ||१०-३७||

भावार्थ: *मैं वृष्णि-वंशीयों में वासुदेव हूँ और पाण्डवों में अर्जुन| मैं मुनियों में व्यास और कवियों में उशन कवि हूँ|*

टीका: यहाँ भगवान् श्री कृष्ण के अवतार का वर्णन नहीं है, प्रत्युत वृष्णि-वंशियों में अपनी जो विशेषता है, उस विशेषता को लेकर भगवान् ने उसे अपना विभूति रूप से वर्णन किया है| यहाँ भगवान् का स्वयं को विभूति रूप से कहना तो संसार की दृष्टि से है| स्वरूप की दृष्टि से तो वह साक्षात् भगवान् ही हैं|

पाण्डवों में अर्जुन की जो विशेषता है, वह विशेषता भगवान् की ही है, इसलिये भगवान् ने अर्जुन को अपनी विभूति बताया है|

चारों वेद, पुराण, उप-पुराण, महाभारत आदि जो संस्कृत धर्मग्रंथ हैं, वह सब महर्षि व्यास जी की कृपा का ही फल है| आज भी जब कोई नई रचना करता है तो उसे भी महर्षि व्यास जी का ही उच्छिष्ट माना जाता है, 'व्यासोच्छिष्टं जगत्सर्वम्'| इस प्रकार सब मुनियों में महर्षि व्यास जी मुख्य हैं| इसलिये भगवान् ने महर्षि व्यास जी को अपनी विभूति बताया है| इसका तात्पर्य है कि महर्षि व्यास जी में विशेषता दृष्टिगोचर होते ही भगवान् की याद आनी चाहिए, क्योंकि यह विशेषता भगवान् की ही देन है|

शास्त्रीय सिद्धान्तों को भली भांति जानने वाले जितने भी पण्डित हैं, वह सभी 'कवि' कहलाते हैं| उन सब कवियों में शुक्राचार्य जी मुख्य हैं| शुक्राचार्य जी संजीवनी विद्या के ज्ञाता हैं| इनकी शुक्र नीति प्रसिद्ध है| इस प्रकार अनेक गुणों के कारण भगवान् ने इन्हें अपनी विभूति बताया है| इन विभूतियों की महत्ता देखकर कहीं भी बुद्धि अटके, तो उस महत्ता को भगवान् की माननी चाहिए, क्योंकि वह महत्ता एक क्षण भी स्थाई रूप से न टिकने वाले संसार की नहीं हो सकती|

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ।।१०-३८।।

हूँ नीति रखें जो इच्छा विजय और दंड हूँ दमन।
हूँ मौन मैं भाव गुह्य और ज्ञान समस्त बुद्धिवन ।।१०-३८।।

भावार्थ: *मैं विजय की इच्छा रखने वाले में नीति हूँ और दमन में दण्ड हूँ| गुह्यों में मैं ही मौन हूँ और समस्त बुद्धिमानों में ज्ञान हूँ|*

टीका: नीति का आश्रय लेने से ही मनुष्य विजय प्राप्त करता है और नीति से ही विजय स्थाई होती है| इसलिये नीति को भगवान् ने अपनी विभूति बताया है| दुष्टों को दुष्टता से बचाकर सन्मार्ग पर लाने के लिये दण्ड नीति मुख्य है| इसलिये भगवान् ने इसको अपनी विभूति बताया है।

गुप्त रखने योग्य जितने भाव हैं, उन सब में मौन (वाणी का संयम अर्थात् चुप रहना) मुख्य है, क्योंकि चुप रहने वाले के भावों को प्रत्येक व्यक्ति नहीं जान सकता| इसलिये गोपनीय भावों में भगवान् ने मौन को अपनी विभूति बताया है|

संसार में कला, कौशल आदि को जानने वालों में जो 'ज्ञान' (जानकारी) है, वह भगवान् की विभूति है| स्मरण रहे कि इन सब विभूतियों में जो विलक्षणता है, वह व्यक्तिगत नहीं है, प्रत्युत परमात्मा की ही है, इसलिये परमात्मा की ओर ही दृष्टि जानी चाहिए|

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ।।१०-३९।।

हूँ मैं ही बीज हेतु उत्पत्ति समस्त भूत हे अर्जुन।
हैं मुझ में निहित सब नहीं अस्तित्व बिन मम कोई जन ।।१०-३९।।

भावार्थ: *हे अर्जुन, समस्त भूतों की उत्पत्ति का कारण बीज मैं ही हूँ| सभी मुझ में ही निहित हैं, मेरे बिना किसी प्राणी का कोई अस्तित्व नहीं है|*

टीका: यहाँ भगवान् समस्त विभूतियों का सार बताते हैं कि सब की उत्पत्ति का बीज मैं ही हूँ| बीज कहने का तात्पर्य है कि इस संसार का निमित्त एवं उपादान दोनों ही कारण प्रभु हैं| संसार की उत्पत्ति करने वाले भी वह हैं और संसार रूप से बनने वाले भी वही हैं| इसका तात्पर्य है कि प्रभु अपरिवर्तित होते हुए संसार रूप से प्रकट होते हैं और संसार रूप से प्रकट होने पर भी वह अपरिवर्तनशील एवं व्यापक हैं|

संसार में जड-चेतन, स्थावर-जंगम, चर-अचर आदि जो भी प्राणी हैं वह प्रभु के बिना नहीं रह सकते, प्रभु के बिना किसी प्राणी का कोई अस्तित्व नहीं है| सब प्रभु से ही हैं, ऐसा मानने से साधक को भगवान् का ही चिन्तन होगा, दूसरे का नहीं क्योंकि तत्व से भगवान् के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं है|

भगवान् कहते हैं कि मेरे अतिरिक्त प्राणी कुछ नहीं है, अर्थात् सब कुछ मैं ही हूँ| भक्तियोग का प्रकरण देते हुए भगवान् कहते हैं कि तुम मन में जिस देवी, देवता का भी चिन्तन करो, यथार्थ में वह मेरा ही चिंतन है|

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ।।१०-४०।।

है नहीं अंत मेरी दिव्य विभूति हे परन्तप अर्जुन |
कहा संक्षेप में जो हर सकूं अज्ञान तेरा युद्धिवन ||१०-४०||

भावार्थ: *हे परन्तप अर्जुन, मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है| अपनी विभूतियों को मैंने संक्षेप में तेरा अज्ञान हरण करने के लिए कहा है|*

टीका: 'दिव्य' शब्द अलौकिकता, विलक्षणता का द्योतक है| साधक का मन जहां चला जाए वहीं भगवान् का चिन्तन करने से यह दिव्यता प्रकट हो जाएगी,

क्योंकि भगवान् के समान दिव्य कोई नहीं है| देवता, जो दिव्य कहे जाते हैं, वह भी नित्य ही भगवान् के दर्शन की इच्छा रखते हैं, 'नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः'| इससे यही सिद्ध होता है कि दिव्याति दिव्य तो एक भगवान् ही हैं| इसलिये भगवान् की जितनी भी विभूतियाँ हैं, तत्व से वह सभी दिव्य हैं| साधक के सामने उन विभूतियों की दिव्यता तभी प्रकट होती है, जब उसका उद्देश्य केवल एक भगवत् प्राप्ति का ही होता है और भगवत-तत्व जानने के लिये राग, द्वेष से रहित होकर उन विभूतियों में केवल भगवान् का ही चिन्तन करता है|

भगवान् की दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है| इसका कारण है कि भगवान् अनन्त हैं अतः उनकी विभूतियाँ, गुण, लीलाएँ आदि भी अनन्त हैं, 'हरि अनंत हरि कथा अनंता'| इसलिये भगवान् ने विभूतियों के उपक्रम में और उपसंहार में, दोनों ही स्थानों में कहा है कि मेरी विभूतियों के विस्तार का अन्त नहीं है| श्रीमद्भागवत में भगवान् ने अपनी विभूतियों के विषय में कहा है कि 'परमाणुओं की संख्या गिना जाना संभव हो सकता है, पर करोड़ों ब्रह्माण्डों को रचने वाली मेरी विभूतियों का अन्त नहीं पाया जा सकता|'

भगवान् अनन्त, असीम और अगाध हैं| संख्या की दृष्टि से भगवान् 'अनन्त' हैं, अर्थात् उनकी गणना परार्द्ध तक नहीं हो सकती| सीमा की दृष्टि से भगवान् 'असीम' हैं| सीमा दो प्रकार की होती है, काल कृत और देश कृत| अमुक समय पैदा हुआ और अमुक समय तक रहेगा, यह काल कृत सीमा है| स्थान परिधि देश कृत सीमा के अंतर्गत आती है| भगवान् ऐसे सीमा में बँधे हुए नहीं हैं| तल की दृष्टि से भगवान् 'अगाध' हैं| अगाध शब्द में 'गाध' नाम 'तल' का है, जैसे जल में नीचे का तल होता है| अगाध का अर्थ हुआ, जिसका तल ही नहीं है ऐसा अथाह गहरा|

अर्जुन ने प्रभु से अपनी दिव्य विभूतियों को विस्तार से कहने कि लिए कहा| उत्तर में भगवान् ने कहा कि मेरी विभूतियों के विस्तार का अन्त नहीं है| ऐसा कहकर भी भगवान् ने अर्जुन की जिज्ञासा के कारण कृपा पूर्वक अपनी कुछ विभूतियों का संक्षेप में वर्णन किया| परन्तु यह वर्णन केवल लौकिक दृष्टि से ही है| इसलिये भगवान् यहाँ कह रहे हैं कि मैंने यहाँ जो विभूतियों का वर्णन किया

है वह वास्तव में बहुत ही संक्षेप से (नाम मात्र का) है, क्योंकि मेरी विभूतियों का तो अन्त है ही नहीं|

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ।।१०-४१।।

हैं जो भी विभूति युक्त कान्ति और शक्ति इस भुवन |
समझो मेरे तेज के अंश से हुईं वह सभी उत्पन्न ||१०-४१||

भावार्थ: *जो भी विभूति इस संसार में कान्ति एवं शक्ति युक्त हैं, उनको तुम मेरे तेज के अंश से ही उत्पन्न हुई समझो|*

टीका: प्रभु कहते हैं कि इस संसार में जिस किसी सजीव अथवा निर्जीव वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति, गुण, भाव, क्रिया आदि में जो कुछ ऐश्वर्यता, शोभा, सौन्दर्य, बलवत्ता, विशेषता, विलक्षणता, योग्यता आदि दिखे, उन सब को मेरे तेज के एक अंश से उत्पन्न हुई जानो| इसका तात्पर्य है कि उनमें वह विलक्षणता मेरे योग से, सामर्थ्य से, प्रभाव से ही आई है, ऐसा तुम समझो| मेरे बिना कहीं भी और कुछ भी विलक्षणता नहीं है|

मनुष्य को जिस में विशेषता दिखे, उसमें भगवान् की ही विशेषता मानते हुए भगवान् का ही चिन्तन करना चाहिए| संसार में छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी वस्तु, व्यक्ति, क्रिया आदि में जो भी महत्ता, सुन्दरता, सुख भावना दिखती है और जो कुछ लाभ, हित दिखता है, वह वास्तव में सांसारिक वस्तु का नहीं है, यह सब परमात्मा का है| उस परमात्मा की झलक ही उस वस्तु में सुन्दरता, सुख भावना, आदि रूपों से दिखती है| परन्तु जब मनुष्य की वृत्ति परमात्मा की महिमा की ओर न जाकर उस वस्तु की ओर जाती है, तब वह संसार में फँस जाता है| संसार में फँसने पर उसको न तो कुछ मिलता है और न उसकी तृप्ति ही होती है| इसमें सुख नहीं है, इससे तृप्ति नहीं होती, इतना अनुभव होने पर भी मनुष्य का वस्तु आदि में सुख भावना का भ्रम नहीं मिटता| मनुष्य को सावधानी के साथ विचार करना चाहिए कि प्रतिक्षण मिटने वाली वस्तु में जो

सुख दिखता है, वह उसका नहीं है| जो वस्तु प्रतिक्षण नष्ट हो रही है, उसमें दिखने वाली महत्ता, सुन्दरता उस की कैसे हो सकती है?

सब प्रभु से ही उत्पन्न होते हैं और सब में प्रभु की ही शक्ति है| इसमें भगवान् का तात्पर्य यही है कि तुम्हें जहां पर और जिस किसी में विशेषता, महत्ता, सुन्दरता, बलवत्ता आदि दिखे, वह सब मेरी ही है, उनकी नहीं| देवताओं को बृहस्पति प्रिय लगते हैं, रघुवंशियों को महर्षि वशिष्ठ जी प्रिय लगते हैं, किसी को सिंह में विशेषता दिखती है, किसी को धन प्रिय है, इन सब में शक्ति, महत्ता, विशेषता आदि को लेकर जो आकर्षण, प्रियता, खिंचाव हो रहा है, वह शक्ति, महत्ता आदि भगवान् की है| इसलिये भगवान् ने अनेक प्रकार की विभूतियाँ बताई हैं| इसका तात्पर्य है कि उन विभूतियों में श्रद्धा, रुचि के भेद से आकर्षण प्रत्येक का पृथक होगा, एक समान सब को विभूतियाँ अच्छी नहीं लगेंगी, पर उन सब में शक्ति भगवान् की ही है|

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ।।१०-४२।।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो दशमोऽध्यायः |

है क्या प्रयोजन यदि जानना चाहो अधिक अर्जुन।
करूँ धारण ब्रह्माण्ड मैं रूप एक स्व-अंश वपुन ||१०-४२||

करते हुए ओम तत सत पूर्ण भगवन्नाम उच्चारन।
ब्रह्मविद्या योगशास्त्रमय महाग्रंथ गीतबंधन ||
श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषदरूप ग्रन्थ अति पावन।
श्री कृष्णार्जुन संवाद विभूतियोग नामन ||
हुआ अत्र सम्पूर्ण दशम अध्याय करे कल्याण जन ||

भावार्थ: *हे अर्जुन, अधिक ज्ञान जानने का क्या प्रयोजन है? (अर्थात मैं सम्पूर्ण ज्ञान तुम्हें दे चुका हूँ| अब और अधिक ज्ञान जान कर क्या करो?) मैं इस ब्रह्माण्ड को भगवान् रूप के एक अंश से धारण करता हूँ|*

इस प्रकार उपनिषद, ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र रूप श्रीमद्भगवद्गीता के श्री कृष्ण-अर्जुन संवाद में 'विभूतियोग' नामक दशम अध्याय संपूर्ण हुआ|

टीका: सम्पूर्ण शिक्षा संक्षेप में देने के बाद अब भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं कि तुमने जो प्रश्न किया था, उसके अनुसार मैंने उत्तर दे दिया है| अब तुम अधिक क्या जानना चाहते हो? सार रूप से यह समझ लो कि मेरे इस (भगवान् रूपी) शरीर के एक अंश से ही ब्रह्माण्ड स्थित है| इसका तात्पर्य है कि भगवान् के एक अंश में ही अनन्त सृष्टियाँ विद्यमान हैं, 'रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड'| ब्रह्माण्ड को धारण करने के पश्चात भी अनंत अंश बचे हैं| उदाहरण के लिए प्रकृति का बहुत क्षुद्र अंश हमारी बुद्धि है| बुद्धि में कई भाषाओं का, कई लिपियों का, कई कलाओं का ज्ञान होने पर भी हम ऐसा नहीं कह सकते कि हमारी बुद्धि अनेक भाषाओं आदि के ज्ञान से भर गई है, अतः अब दूसरी भाषा, लिपि आदि जानने के लिये स्थान नहीं रहा| अर्थात बुद्धि में अनेक भाषाओं आदि का ज्ञान होने पर भी बुद्धि में अन्य शिक्षा ग्रहण करने के लिए स्थान खाली रहता है| इस प्रकार जब प्रकृति का छोटा अंश बुद्धि भी अनेक भाषाओं आदि के ज्ञान से नहीं भरती, तो फिर प्रकृति से अतीत, अनन्त, असीम और अगाध भगवान् का कोई अंश अनन्त सृष्टियों से कैसे भर सकता है? वह तो बुद्धि की अपेक्षा भी विशेष रूप से खाली रहता है|

अध्याय ११: विश्वरूपदर्शनयोग

अर्जुन उवाच
मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ।।११-१।।

अर्जुन उवाच
छंद:
कर कृपा मुझ पर कहे तुम अति गुह्य अध्यात्म वचन |
हुआ नष्ट मोह मेरा सुन प्रवचन प्रभु बोले अर्जुन ||११-१||

भावार्थ: *अर्जुन बोले, 'हे प्रभु, मुझ पर अनुग्रह कर तुमने परम गोपनीय, अध्यात्म वचन कहे| उन प्रवचन को सुन मेरा मोह नष्ट हो गया है|'*

टीका: 'मेरे भजन करने वालों पर कृपा करके मैं स्वयं उनके अज्ञानजन्य अन्धकार का नाश कर देता हूँ', ऐसे भगवान् के वचनों का अर्जुन पर गहरा प्रभाव पड़ा| वह कहते हैं कि हे प्रभु, केवल मुझ पर कृपा करने के लिये ही आपने यह तथ्य कहे हैं|

प्रभु ने सार में अर्जुन को अपनी प्रधान विभूतियों का ज्ञान कराया| उन्होंने बतलाया कि उन्हीं के एक अंश मात्र से सम्पूर्ण जगत् का सृजन और विनाश होता है| वह अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों को व्याप्त करके स्थित हैं| जो प्रभु की विभूति और योग को तत्व से जानता है, अर्थात् सम्पूर्ण विभूतियों के मूल में भगवान् ही हैं और सम्पूर्ण विभूतियाँ भगवान् की सामर्थ्य से ही प्रकट होती हैं तथा अन्त में भगवान् में ही लीन हो जाती हैं, ऐसा तत्व से जानता है, वह अविचल भक्तियोग से युक्त हो जाता है| इसी प्रभु के कथन को अर्जुन अध्यात्म प्रवचन कह रहे हैं|

सम्पूर्ण जगत् भगवान् के एक अंश में है, यह पहले अर्जुन नहीं जानते थे और यही उनका मोह था| परन्तु जब भगवान् ने कहा कि सम्पूर्ण जगत् को अपने

एक अंश में व्याप्त करके मैं तेरे सामने बैठा हूँ, तब अर्जुन की इस ओर दृष्टि गई कि भगवान् कितने विलक्षण हैं| उनके एक अंश से ही अनन्त सृष्टियाँ उत्पन्न होती हैं, उसमें स्थित रहती हैं और उसी में लीन हो जाती हैं, परन्तु वह अपरिवर्तित रहते हैं| इसलिये अर्जुन यहाँ अपनी दृष्टि से कहते हैं कि हे भगवन्, मेरा यह मोह सर्वथा चला गया है| परन्तु ऐसा कहने पर भी भगवान् ने अर्जुन के मोह नाश के कथन को स्वीकार नहीं किया, 'मा ते व्यथा मा च विमूढभावः', क्योंकि भगवान् ने अर्जुन से आगे कहा है कि तुझे व्यथा और मूढ भाव (मोह) नहीं होना चाहिए|

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ।।११-२।।

सुना हेतु सृजन विनाश आप के मुख कमलनयन |
हैं आप अविनाशी जान सका यह महात्म्य भगवन ||११-२||

भावार्थ: *हे कमलनयन, मैंने उत्पत्ति और प्रलय का कारण आप के मुख से सुना| हे भगवन, आपका अव्यय महात्म्य भी जान सका|*

टीका: भगवान् ने अर्जुन को समझाया कि वही सम्पूर्ण जगत् के प्रभव और प्रलय हैं| उनके अतिरिक्त अन्य कोई कारण जगत् की उत्पत्ति और विनाश (प्रलय) का नहीं है| सभी सात्त्विक, राजस और तामस भाव उन्हीं से होते हैं| प्राणियों के आदि, मध्य तथा अन्त में वहीं हैं| इस प्रवचन को समझते हुए अर्जुन यहाँ कहते हैं कि मैंने आपसे जगत् की उत्पत्ति और प्रलय का कारण जाना| यह भी जाना कि जो आपको विभूति और योग तत्व से जानते हैं वह अविकम्प भक्तियोग से युक्त हो जाते हैं| इस प्रकार आपकी विभूति और योग को तत्व से जानने का महात्म्य भी जाना| महात्म्य को अविनाशी कहने का तात्पर्य है कि भगवान् की विभूति और योग को तत्व से जानने पर भगवान् में जो भक्ति होती है, प्रेम होता है, भगवान् से अभिन्नता होती है, वह सब अविनाशी (अव्यय) है| इसका कारण है कि भगवान् अव्यय हैं, नित्य हैं, अतः उनकी भक्ति, प्रेम भी अव्यय है|

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ।।११-३।।

हैं आप निःसंदेह नित्य कहा जैसा आपने भगवन |
है चाह देखूं अब प्रत्यक्ष रूप ईश्वर हे मधुसूदन ||११-३||

भावार्थ: *हे परमेश्वर, जैसा आपने कहा आप निःसंदेह नित्य हैं| हे मधुसूदन, मैं आपके ईश्वरीय रूप को प्रत्यक्ष देखना चाहता हूँ|*

टीका: अर्जुन कह रहे हैं कि हे प्रभु, आप नित्य हैं| मेरी दृष्टि में इस संसार में आपके समान कोई उत्तम, श्रेष्ठ नहीं है, अर्थात् आप ही सबसे उत्तम, श्रेष्ठ हैं| जैसा आपने कहा कि आप क्षर से अतीत और अक्षर से उत्तम हैं, आप शास्त्र और वेद में कहे गए पुरुषोत्तम हैं| जैसा आपने अपने अलौकिक प्रभाव एवं सामर्थ्य का वर्णन किया, वह निःसंदेह सत्य है|

यह संसार आप से ही उत्पन्न होता है और आप में ही लीन हो जाता है| आपके अतिरिक्त इसका कोई और कारण नहीं है| सब कुछ वासुदेव ही है| ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ रूप में आप ही हैं| अनन्य परम तत्व आप ही हैं| आप में ही यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है, पर आप संसार में और संसार आप में नहीं है| सत् और असत्रूप से सब कुछ आप ही हैं| आप ही संसार का मूल कारण हैं और आप से ही सारा संसार सत्ता, स्फूर्ति पाता है| यह सारा संसार आप ही के एक अंश में स्थित है| यह जो कुछ भी आपने कहा, निःसंदेह सत्य है|

अर्जुन भगवान् के विलक्षण प्रभाव से प्रभावित होकर उनके लिये 'भगवान्' सम्बोधन देते हैं, जिसका तात्पर्य है कि हे भगवन्, वास्तव में आप ही परम ईश्वर हैं, आप ही सम्पूर्ण ऐश्वर्य के स्वामी हैं| अर्जुन कहते हैं कि मैंने आपसे आपका महात्म्य सहित प्रभाव सुन लिया है और इस विषय में मेरे हृदय में दृढ़ विश्वास भी हो गया है| 'सम्पूर्ण संसार मेरे शरीर के एक अंश में है', इसे सुनकर मेरे मन में आपके उस रूप को देखने की उत्कट लालसा हो रही है| आप इतने

विलक्षण और महान् होते हुए भी मेरे साथ इतना स्नेह रखते हैं, इतनी आत्मीयता रखते हैं कि मेरे हर प्रश्न का आपने उत्तर दिया | इस कारण आपसे कहने का, पूछने का किंचित मात्र भी संकोच न होने से मेरे मन में आपका वह रूप देखने की बहुत इच्छा हो रही है जिसके एक अंश में सम्पूर्ण संसार व्याप्त है|

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयाऽत्मानमव्ययम् ।।११-४।।

यदि समझें आप शक्त देख सकूं रूप आपका भगवन |
हे योगेश्वर तब कराइए मुझे स्व-दिव्य रूप दर्शन ||११-४||

भावार्थ: *हे भगवन, यदि आप मानते हैं कि मैं आपका रूप देखने में समर्थ हूँ, हे योगेश्वर, तब आप अपने अव्यय रूप का मुझे दर्शन कराइये|*

टीका: 'भगवान्' नाम सर्व समर्थ का है, इसलिये अर्जुन कहते हैं कि यदि प्रभु उनमें विराट् रूप देखने की सामर्थ्य समझते हैं, तब उन्हें वह अपना वह ईश्वर रूप दिखाएं| यहां अर्जुन कहना चाह रहे हैं कि यदि प्रभु वह रूप नहीं दिखायेंगे, तो वह समझेंगे कि वह उस रूप को देखने के वह अधिकारी नहीं हैं, योग्य नहीं हैं, पात्र नहीं हैं|

'योगेश्वर' सम्बोधन देने का भाव है कि भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, ध्यानयोग, हठयोग, राजयोग, लययोग, मन्त्रयोग आदि जितने भी योग हो सकते हैं, उन सब के स्वामी प्रभु हैं| प्रभु अपनी अलौकिक योग शक्ति से वह विराट् रूप दिखा सकते हैं|

पहले अर्जुन ने भगवान् को 'योगी' नाम से सम्बोधन किया है अर्थात् वह भगवान् को योगी मानते हैं| यहां अर्जुन ने भगवान् के लिये 'योगेश्वर' सम्बोधन दिया है अर्थात् भगवान् को सम्पूर्ण योगों का स्वामी बताया है| इसका कारण है कि आरम्भ में अर्जुन की भगवान् के प्रति जो धारणा थी, उस धारणा में अब परिवर्तन हुआ है|

प्रभु का स्वरूप अविनाशी है, जिससे अनन्त सृष्टियाँ उत्पन्न होती हैं, उसमें स्थित रहती हैं, और उसी में लीन हो जाती हैं| ऐसे अविनाशी रूप को देखने की अर्जुन भगवान् से प्रार्थना कर रहे हैं|

श्रीभगवानुवाच
पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ।।११-५।।

श्रीभगवानुवाच
पार्थ देखो अब तुम मेरे सहस्रश रूप बोले भगवन |
नाना प्रकार वर्ण व्यवेत आकार दिव्य वर्पन् ||११-५||

भावार्थ: *भगवान् बोले, 'पार्थ, अब तुम मेरे सहस्रों नाना प्रकार, वर्ण तथा असमरूप आकृति वाले दिव्य रूपों को देखो|'*

टीका: अर्जुन की संकोच पूर्वक प्रार्थना को सुनकर भगवान् अत्यधिक प्रसन्न हुए| अर्जुन के लिये 'पार्थ' सम्बोधन का प्रयोग करते हुए कहते हैं कि अब तुम मेरे विभिन्न सहस्रों रूपों को देखो| भगवान् ने जैसे विभूतियों के विषय कहा है कि मेरी विभूतियों का अन्त नहीं, उसी प्रकार उनके रूपों का भी कोई अंत नहीं है|

भगवान् यहां अपने अनंत रूपों की विशेषताओं का वर्णन करते हैं कि उनकी अनेक प्रकार की बनावट है, उनके अनेक रंग हैं, उन रूपों की आकृतियाँ भी अनेक प्रकार की हैं, अर्थात् कोई छोटी, कोई मोटी, कोई लम्बी, कोई चौड़ी आदि| जैसे पृथ्वी का एक छोटा सा कण भी पृथ्वी ही है, ऐसे ही भगवान् के अनन्त, अपार विश्वरूप का एक छोटा सा अंश होने के कारण यह संसार भी विश्वरूप ही है| परन्तु वह प्रत्येक के सामने दिव्य विश्वरूप से प्रकट नहीं है, प्रत्युत संसार रूप से ही प्रकट है| इसका कारण है कि मनुष्य की दृष्टि भगवान् की ओर न होकर नाशवान् संसार की ओर ही रहती है| जैसे अवतार लेने पर भगवान् सब के सामने भगवत्रूप से प्रकट नहीं रहते, प्रत्युत मनुष्य रूप से ही

प्रकट रहते हैं, ऐसे ही विश्वरूप भगवान् सब के सामने संसार रूप से ही प्रकट रहते हैं, अर्थात् प्रत्येक को यह विश्व रूप संसार रूप से ही दिखता है|

पश्यदित्यान्वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ।।११-६।।

हे भारत देखो मुझ में सभी आदित्य वसु मरुद्गन |
रूद्र अश्वनीकुमार अन्य विस्मि न देखे अतिपन्न ||११-६||

भावार्थ: *हे भारत, मुझ में पूर्व में न देखे हुए आश्चर्य एवं सभी आदित्य, वसु, रुद्र, अश्विनीकुमार और मरुद्गण को देखो|*

टीका: अदिति के पुत्र धाता, मित्र, अर्यमा, शुक्र, वरुण, अंश, भग, विवस्वान्, पूषा, सविता, त्वष्टा और विष्णु, यह सभी बारह 'आदित्य' हैं| धर, ध्रुव, सोम, अहः, अनिल, अनल, प्रत्यूष और प्रभास, यह सभी आठ वसु हैं| हर, बहुरूप, त्रयम्बक, अपराजित, वृषाकपि, शम्भु, कपर्दी, रैवतमृगव्याध, शर्व और कपाली, यह सभी ग्यारह 'रुद्र' हैं| अश्विनीकुमार दो हैं| यह दोनों भाई देवताओं के वैद्य हैं| सत्त्वज्योति, आदित्य, सत्यज्योति, तिर्यग्ज्योति, सज्योति, ज्योतिष्मान्, हरित, ऋतजित्, सत्यजित्, सुषेण, सेनजित्, सत्यमित्र, अभिमित्र, हरिमित्र, कृत, सत्य, ध्रुव, धर्ता, विधर्ता, विधारय, ध्वान्त, धुनि, उग्र, भीम, अभियु, साक्षिप, ईदृक्, अन्यादृक्, यादृक्, प्रतिकृत्, ऋक्, समिति, संरम्भ, ईदृक्ष, पुरुष, अन्यादृक्ष, चेतस, समिता, समिदृक्षप्रतिदृक्ष, मरुति, सरत, देव, दिश, यजुः, अनुदृक्, साम, मानुष और विश्, यह सभी उनचास 'मरुत' हैं| प्रभु कह रहे हैं कि इन सब को हे अर्जुन, मेरे विराट् रूप में देखो| बारह आदित्य, आठ वसु, ग्यारह रुद्र और दो अश्विनीकुमार, यह ३३ प्रकार (कोटि) के देवता सम्पूर्ण देवताओं में मुख्य हैं| देवताओं में यद्यपि मरुद्गणों का नाम आता है, परन्तु वास्तविकता में यह उनचास मरुद्गण इन तैंतीस प्रकार के देवताओं से पृथक माने जाते हैं, क्योंकि यह सभी दैत्यों से देवता बने हैं|

प्रभु कह रहे हैं कि तुमने इन रूपों को पहले कभी आँखों से नहीं देखा है, कानों से नहीं सुना है, मन से चिन्तन नहीं किया है, बुद्धि से कल्पना नहीं की है| इन रूपों की ओर तुम्हारी कभी वृत्ति नहीं गई है| ऐसे कई अदृष्ट पूर्व रूपों को तुम अब प्रत्यक्ष से देखो| इन रूपों के देखते ही तुम्हें आश्चर्य होगा कि भगवान् के ऐसे अद्भुत रूप हैं|

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ।।११-७।।

देखो हुआ स्थित चराचर जगत एक स्थान मेरे तन |
देखो सभी जो चाहो देखना हे निन्द्रजित अर्जुन ||११-७||

भावार्थ: *हे निंद्रा को जीतने वाले अर्जुन (गुडाकेश), मेरे शरीर में एक स्थान पर स्थित हुए चराचर जगत् को देखो| जो भी तुम देखना चाहते हो, वह सभी देखो|*

टीका: निद्रा पर अधिकार प्राप्त करने से अर्जुन को 'गुडाकेश' कहते हैं| भगवान् ने पहले कहा था कि मैं सम्पूर्ण जगत् को एक अंश से व्याप्त कर उसमें स्थित हूँ| इस कारण अर्जुन के मन में प्रभु के विश्वरूप देखने की इच्छा हुई| अतः भगवान् कहते हैं कि हाथ में घोड़ों की लगाम और चाबुक लेकर तेरे सामने बैठे हुए मेरे इस शरीर के अंश में चर, अचर सहित सम्पूर्ण जगत् को देखो| तुम जहां भी दृष्टि डालोगे, वहीं तुम्हें अनन्त ब्रह्माण्ड दिखेंगे| तुम मनुष्य, देवता, यक्ष, राक्षस, भूत, पशु, पक्षी आदि चलने फिरने वाले जंगम और वृक्ष, लता घास, पौधा आदि स्थावर तथा पृथ्वी, पहाड़, रेत आदि जड़ सहित सम्पूर्ण जगत् को इसी क्षण देखो|

भगवान् के शरीर में सभी भूत, वर्तमान एवं भविष्य काल स्थित है| इसलिये भगवान् कहते हैं कि तुम जो भी देखना चाहते हो, वह देख लो| अर्जुन के मन में सन्देह था कि युद्ध में जीत हमारी होगी या कौरवों की? भगवान् कहते हैं कि वह भी तुम मेरे इस शरीर के अंश में देख लो|

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ।।११-८।।

नहीं समर्थ इन नेत्र देख सको तुम विराट वर्पन् |
दूँ दिव्य चक्षु जो कर सको ईश्वरीय योग दर्शन ||११-८||

भावार्थ: *तुम अपने इन (प्राकृत) नेत्रों से मुझे देखने में समर्थ नहीं हो, इसलिए मैं तुम्हें दिव्य चक्षु देता हूँ, जिससे तुम मेरे ईश्वरीय 'योग' को देख सको|*

टीका: प्रभु अर्जुन से कहते हैं कि यह तुम्हारे जो चर्म चक्षु हैं, इनकी शक्ति बहुत अल्प और सीमित है| प्राकृत होने के कारण यह चर्म चक्षु केवल प्रकृति के तुच्छ कार्य को ही देख सकते हैं, अर्थात् प्राकृत मनुष्य, पशु, पक्षी आदि के रूपों को, उनके भेदों को तथा धूप, छाया आदि के रूपों को ही देख सकते हैं| परन्तु यह मन, बुद्धि, इन्द्रियों से अतीत मेरे रूप को नहीं देख सकते| अतः मैं तुम्हें अतीन्द्रिय, अलौकिक रूप को देखने की सामर्थ्य वाले दिव्य चक्षु देता हूँ, अर्थात् तुम्हारे इन चर्म चक्षुओं में ही दिव्य शक्ति प्रदान करता हूँ जिससे तुम अतीन्द्रिय, अलौकिक पदार्थ भी देख सको और साथ ही उनकी दिव्यता को भी देख सको|

यद्यपि दिव्यता देखना नेत्र का विषय नहीं है प्रत्युत बुद्धि का विषय है, तथापि भगवान् कहते हैं कि मेरे दिये हुए दिव्य चक्षुओं से तुम दिव्यता को अर्थात् मेरे ईश्वरीय योग के अलौकिक प्रभाव को भी देख सकोगे| इसका तात्पर्य है कि प्रभु का विराट् रूप देखने के लिये दिव्य चक्षुओं की आवश्यकता है|

देखने की क्रिया के दो अर्थ होते हैं, बुद्धि (विवेक) से देखना और नेत्रों से देखना| पहले भगवान् ने 'पश्य मे योगमैश्वरम्' कहकर उन्हें बुद्धि के द्वारा देखने की बात कही थी, अब यहाँ नेत्रों के द्वारा देखने की बात कहते हैं|

संजय उवाच
एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ।।११-९।।

संजय उवाच
बोले संजय राजन कहे यह शब्द महायोगेश्वर भगवन |
दिए तब अर्जुन ईश्वरीय युक्त स्व-रूप भगवद-दर्शन ||११-९||

भावार्थ: *संजय बोले, 'हे राजन् (धृतराष्ट्र), महायोगेश्वर हरि ने इस प्रकार के वचन कहे| तब अर्जुन को अपना भगवद-स्वरुप परम ईश्वरीय युक्त रूप दिखाया|'*

टीका: संजय कहते हैं कि हे राजन (धृतराष्ट्र), महायोगेश्वर भगवान् ने अपने दिव्य चक्षु अर्जुन को देकर अपने ईश्वर सम्बन्धी योग रूप अर्जुन को दिखाया| संजय ने यहां भगवान् को 'महायोगेश्वर' कहा है| इसका तात्पर्य है कि भगवान् ने अर्जुन की प्रार्थना करने पर अपना विश्वरूप दिखाया| भक्त की तनिक सी भी वास्तविक रुचि भगवान् की ओर होने पर भगवान् अपनी अपार शक्ति से उसकी पूर्ति कर देते हैं|

संजय ने यहां प्रभु के रूप को 'ईश्वरीय रूप' से सम्बोधित किया है| इसका तात्पर्य है कि भगवान् का विश्वरूप बहुत ही विलक्षण है| सम्पूर्ण योगों के महान् ईश्वर भगवान् श्री कृष्ण ने ऐसा विलक्षण, अलौकिक, अद्भुत विश्वरूप दिखाया जिसको धैर्यशाली, जितेन्द्रिय, शूरवीर और भगवान् से प्राप्त दिव्य दृष्टि वाले अर्जुन को भी दुर्निरीक्ष्य कहना पड़ा, और वह भयभीत भी हो गए|

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ।।११-१०।।
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ।।११-११।।

अनेक मुख युक्त विभव लोचन देखे भगवन तब अर्जुन |
युक्त दिव्य आभूषण था हस्तक शस्त्र अद्भुत वर्पन ||११-१०||
दिव्य कंठमाल दिव्य वस्त्र तन दिव्य गंध लेप धारन |
अद्भुत अनंत युक्त विस्मि विराट् रूप परम भगवन ||११-११||

भावार्थ: *तब अर्जुन ने भगवान् का अनेक मुख उपयुक्त नेत्रों से युक्त, दिव्य आभूषण पहने एवं हाथों में शस्त्र लिए अद्भुत रूप देखा| उनके कण्ठ में दिव्य माला और तन पर दिव्य वस्त्र थे| वह दिव्य गन्ध का लेपन किए हुए थे एवं समस्त प्रकार के आश्चर्यों से युक्त विराट् रूप परम भगवान् थे|*

टीका: विराट् रूप से प्रकट हुए भगवान् के अनेक मुख और नेत्र दिखाई दे रहे थे| वह सब दिव्य थे| भगवान् के विराट् रूप में जितने रूप दिखाई दे रहे थे, जितनी आकृतियाँ दिखाई दे रही थीं, जितने रंग दिखाई दे रहे थे, जितनी उनकी विचित्र रूप से बनावट दिखाई दे रही थी, वह सब अद्भुत थी| विराट् रूप में दिखने वाले अनेक रूपों के हाथों में, पैरों में, कानों में, नाकों में, और गलों में जितने आभूषण थे, वह सब दिव्य थे|

विराट् रूप भगवान् ने अपने हाथों में चक्र, गदा, धनुष, बाण, आदि अनेक प्रकार के जो आयुध (अस्त्र, शस्त्र) उठा रखे थे, वह सब दिव्य थे| विराट् रूप भगवान् ने गले में फूलों की, सोने की, चाँदी की, मोतियों की, रत्नों की अनेक प्रकार की मालाएँ धारण कर रखी थीं| वह सभी दिव्य थीं| उन्होंने अपने विभिन्न शरीरों पर लाल, पीले, हरे, सफेद, कपिश आदि अनेक रंगों के वस्त्र पहन रखे थे, जो सभी दिव्य थे|

विराट रूप भगवान् ने ललाट पर कस्तूरी, चन्दन, कुंकुम आदि गन्ध के जितने तिलक लगाए हुए थे तथा शरीर पर जितने लेप किए थे, वह सब दिव्य थे| अपने इस चकित कर देने वाले रूप को, जो चारों तरफ मुख वाले परम ऐश्वर्यमय थे, भगवान् ने अर्जुन को दिखाया|

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ।।११-१२।।

हों जैसे उदय सहस्त्र रवि नभ दें साथ अनुज्वालन |
था सलक्षण प्रकाश तन उन विश्वरूप श्री नारायन ||११-१२||

भावार्थ: *आकाश में सहस्र सूर्यों के एक साथ उदय होने से जो प्रकाश होगा, उसके समान उन विश्वरूप श्री परमात्मा के तन में प्रकाश था|*

टीका: जैसे आकाश में सहस्त्रों सूर्य के एक साथ उदित होने पर जितना प्रकाश होगा, उसके समान प्रकाश विराट् भगवान् के तन में था| इसका तात्पर्य है कि सहस्त्रों सूर्यों का प्रकाश भी विराट् भगवान् के तेज का उपमेय नहीं हो सकता| यहां यह ध्यान देने योग्य है कि जब सहस्त्रों सूर्यों के प्रकाश को उपमेय बनाने में दिव्य दृष्टि वाले संजय को संकोच हो रहा है, तब वह प्रकाश विराट् रूप भगवान् के प्रकाश का उपमान कैसे हो सकता है| इसका कारण है कि सूर्य का प्रकाश भौतिक है, जब कि विराट् भगवान् का प्रकाश दिव्य है| भौतिक प्रकाश कितना ही बड़ा क्यों न हो, दिव्य प्रकाश के सामने वह तुच्छ ही है| भौतिक प्रकाश और दिव्य प्रकाश की जाति अलग होने से उनकी आपस में तुलना नहीं की जा सकती| यहाँ संजय सहस्त्रों सूर्यों के भौतिक प्रकाश की कल्पना करके विराट् रूप भगवान् के तेज का अनुमान करा रहे हैं|

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ।।११-१३।।

यद्यपि है यह जगत विभक्त पर देखा अविभक्त अर्जुन |
देखा समाहित एक स्थान तन में देवाधिदेव कृश्न ||१०-१३||

भावार्थ: *अर्जुन ने विभक्त जगत् को अविभक्त रूप में देखा जो देवों के देव श्रीकृष्ण के शरीर में एक स्थान पर समाहित था|*

टीका: यद्यपि यह जगत अनेक प्रकार के विभागों में विभक्त है परन्तु अर्जुन ने इसे देवों के देव भगवान् श्री कृष्ण के तन में एक स्थान पर स्थित देखा| इसका तात्पर्य है कि भगवान् श्री कृष्ण के शरीर के एक अंश में चर-अचर, स्थावर-जंगम सहित सम्पूर्ण संसार समाहित था, ऐसा अर्जुन ने देखा|

जैसे भूलोक से देवलोक बहुत विलक्षण है, ऐसे ही देवलोक से भी भगवान् अनन्त गुना विलक्षण हैं| देवलोक आदि सब लोक प्राकृत हैं और भगवान् प्रकृति से अतीत हैं| इसलिये भगवान् 'देवाधिदेव', अर्थात् देवताओं के भी देवता हैं|

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ।।११-१४।।

हो रहा अनुभव रोमांच हुए विस्मित श्री अर्जुन|
हुए नत मस्तक देख विश्वरूप बोले तब वह भगवन ||११-१४||

भावार्थ: *आश्चर्य चकित हुए, रोमांच का अनुभव करते हुए, अर्जुन विश्वरूप रूप देख नत मस्तक हो कर भगवान् से बोले|*

टीका: अर्जुन ने भगवान् के रूप के विषय में जैसी कल्पना भी नहीं की थी, वैसा रूप देखकर उनको बड़ा आश्चर्य हुआ| भगवान् ने मुझ पर कृपा कर विलक्षण आध्यात्मिक बातें अपनी ओर से बताईं और अब कृपा कर मुझे अपना विलक्षण रूप दिखा रहे हैं, इस कारण अर्जुन प्रसन्नता से रोमाञ्चित हो उठे| भगवान् की विलक्षण कृपा देख अर्जुन का ऐसा भाव उमड़ा कि वह सोचने लगे कि इसके बदले में वह कैसे कृतज्ञता प्रकट करें? उनके पास कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो वह उनको अर्पण कर सकें| तब वह नत मस्तक होकर विश्वरूप भगवान् की स्तुति करने लगे|

अर्जुन उवाच
पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ।।११-१५।।

अर्जुन उवाच
देखूं मैं समस्त देव समुदाय अनेक जन बोले अर्जुन |
कमलासीन ब्रह्मा महादेव सर्व ऋषि दिव्य अहिन ||११-१५||

भावार्थ: *अर्जुन बोले, 'मैं समस्त देवों को तथा अनेक प्राणियों के समुदायों को और कमलासन पर स्थित ब्रह्माजी को, शंकर को, समस्त ऋषियों को और दिव्य सर्पों को देख रहा हूँ|*

टीका: अर्जुन की भगवत् प्रदत्त दिव्य दृष्टि इतनी विलक्षण है कि उनको देवलोक अपने सामने दिख रहे हैं| इतना ही नहीं, उनको समस्त त्रिलोकी दिख रही है और इसके साथ त्रिलोकी के उत्पादक ब्रह्मा, संहारक महेश भी प्रत्यक्ष दिख रहे हैं| अतः अर्जुन वर्णन करते हैं कि मैं सम्पूर्ण देवों को, प्राणियों के समुदायों को, ब्रह्मा तथा शंकर को देख रहा हूँ|

अर्जुन कहते हैं कि मैं कमल के ऊपर स्थित ब्रह्मा जी को देखता हूँ, इससे सिद्ध होता है कि अर्जुन कमल के नाल को और नाल के उद्गम स्थान अर्थात् मूल आधार भगवान् विष्णु को (जो कि शेष शय्या पर सोये हुए हैं) भी देख रहे हैं| इनके अतिरिक्त भगवान् शंकर को, उनके कैलाश पर्वत को, और कैलाश पर्वत पर स्थित उनके निवास स्थान वट वृक्ष को भी अर्जुन देख रहे हैं|

पृथ्वी पर रहने वाले जितने भी ऋषि हैं, उनको तथा पाताल लोक में रहने वाले दिव्य सर्पों को भी अर्जुन देख रहे हैं| अर्जुन के कथन से यह सिद्ध होता है कि उन्हें स्वर्ग, मृत्यु और पाताल, यह त्रिलोकी पृथक नहीं दिख रही हैं, किन्तु विभाग सहित एक साथ एक स्थान पर ही दिख रही है| यह सब भगवत् प्रदत्त दिव्य दृष्टि का प्रभाव है|

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ।।११-१६।।

देखूं मैं हरि अनंत रूप अनेक बाहु उदर मुख नयन |
न पा सकूं मैं आदि अंत मध्य हे विश्वरूप भगवन ||११-१६||

भावार्थ: *हे प्रभु, मैं आपके अनंत रूप देख रहा हूँ जिनमें अनेक बाहु, उदर, मुख और नेत्र हैं| हे विश्वरूप भगवन, मैं आपके आदि, मध्य और अन्त को देखने में असमर्थ हूँ|*

टीका: अर्जुन कह रहे हैं कि मुझे बस आप ही आप दिखाई दे रहे हैं| इस विश्व के स्वामी आप ही हैं| सांसारिक मनुष्यों के शरीर तो जड़ होते हैं और उनमें शरीरी (आत्मा) चेतन होता है, परन्तु आपके विराट् रूप में शरीर और शरीरी (आत्मा), यह दो विभाग नहीं हैं| विराट् रूप में शरीर और शरीरी रूप से एक आप ही हैं| इसलिये विराट् रूप में सब कुछ चिन्मय ही चिन्मय है| इसका तात्पर्य यह हुआ कि अर्जुन 'विश्वरूप' सम्बोधन देकर यह कह रहे हैं कि आप ही शरीर हैं और आप ही शरीरी (शरीर के स्वामी आत्मा) हैं|

अर्जुन कहते हैं कि मैं आपके हाथों की ओर देखता हूँ तो आपके अनेक हाथ हैं| आपके उदर की ओर देखता हूँ तो उदर भी अनेक हैं| आपके मुख की ओर देखता हूँ तो मुख भी अनेक हैं| आपके नेत्रों की ओर देखता हूँ तो नेत्र भी अनेक हैं| इसका तात्पर्य है कि आपके हाथों, उदरों, मुखों और नेत्रों का कोई अन्त नहीं है, सब अनन्त हैं| आप देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ आदि के रूप में चारों ओर अनन्त ही दिखाई दे रहे हैं| आपका कहाँ अन्त है, इसका भी पता नहीं| आपका कहाँ मध्य है, इसका भी पता नहीं| आपका कहाँ आदि है, इसका भी पता नहीं|

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतोदीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ।।११-१७।।

देखता युक्त मुकुट गदा चक्र तेजस्वी रूप भगवन |
देदीप्यमान सम अग्नि रवि अप्रमेय दुरालोक तन ||११-१७||

भावार्थ: *मुकुट, गदा एवं चक्र युक्त तेजस्वी स्वरुप जो अग्नि और सूर्य के समान ज्योतिर्मय, अप्रमेय एवं देखने में अति कठिन है, देख रहा हूँ|*

टीका: अर्जुन भगवान से कह रहे हैं कि मैं आपका किरीट, गदा और चक्र धारण किए हुए स्वरुप को देख रहा हूँ| इसका तात्पर्य है कि अर्जुन को विश्वरूप भगवान् में विष्णु चतुर्भुज रूप दिख रहा है| भगवान् का स्वरुप अत्यंत तेजस्वी है| अग्नि और सूर्य के समान देदीप्यमान है| जैसे सूर्य के प्रकाश के सामने आँखें चौंध जाती हैं, ऐसे ही आपको देखकर आँखें चौंध जाती हैं, अतः कठिनता से देखे जाने योग्य है|

यहाँ एक बड़े आश्चर्य की बात है कि भगवान् ने अर्जुन को दिव्य दृष्टि दी थी, पर वह दिव्य दृष्टि वाले अर्जुन भी विश्वरूप को देखने में पूरे समर्थ नहीं हो रहे हैं| ऐसा देदीप्यमान भगवान् का स्वरूप है| प्रभु अप्रमेय (अपरिमित) हैं, अर्थात् प्रमा (माप) के विषय नहीं है| प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि आदि कोई भी प्रमाण प्रभु का विवरण नहीं कर सकता|

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ।।११-१८।।

हैं आप ही परम अक्षर निधान विश्व धर्मी पावन |
मानता हूँ आप ही रक्षक नित्य धर्म सनातन जन ||११-१८||

भावार्थ: *आप ही परम अक्षर हैं| आप ही सत्य ,पवित्र एवं इस विश्व के परम आश्रय (निधान) हैं| आप ही शाश्वत धर्म के रक्षक एवं सनातन पुरुष हैं, ऐसा मेरा मानना है|*

टीका: अर्जुन भगवान् की स्तुति करते हुए कह रहे हैं कि वेदों, शास्त्रों, पुराणों, स्मृतियों, सन्तों की वाणियों और तत्वज्ञ जीवन मुक्त महापुरुषों द्वारा जाने गए जो परमानन्द स्वरूप अक्षर ब्रह्म है, वह आप ही हैं| देखने, सुनने और समझने में जो कुछ संसार आता है, उस संसार के परम आश्रय, आधार आप ही हैं| आप

इस संसार के परम निधान हैं| आप ही सनातन धर्म की रक्षा करते हैं| आप ही सनातन पुरुष हैं, ऐसा मैं मानता हूँ|

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रम् स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ।।११-१९।।

हैं रहित आदि अंत मध्य युक्त अनंत सामर्थ्य भगवन |
हैं युक्त आप अनंत बाहु सम सोम रवि अनेक नयन ||
हैं मुख दीप्ति अग्नि रूप तपा रहे स्व-तेज से भुवन ||११-१९||

भावार्थ: *आप आदि, अन्त और मध्य से रहित, अनंत सामर्थ्य से युक्त हैं| अनंत बाहुओं वाले तथा चन्द्र, सूर्य स्वरूपी अनेक नेत्रों वाले हैं| दीप्ति अग्नि रूपी मुख वाले आप अपने तेज से इस विश्व को तपा रहे हैं|*

टीका: अर्जुन कह रहे हैं कि प्रभु आप आदि, मध्य और अन्त से रहित हैं, अर्थात् आपकी कोई सीमा नहीं है| मैं आपके आदि, मध्य और अन्त को नहीं देख पा रहा हूँ |

यहां 'देशकृत' एवं 'कालकृत', दोनों ही अनन्तता का वर्णन हुआ है| इसका तात्पर्य है कि 'देशकृत', 'कालकृत,'' वस्तुकृत',आदि किसी प्रकार से भी आपकी सीमा नहीं है| देश, काल आदि किसी के भी आधार पर आपको मापा नहीं जा सकता| आप में अपार पराक्रम, सामर्थ्य, बल और तेज है| आप अनन्त, असीम, शक्तिशाली हैं| आपकी कितनी भुजाएँ हैं, इसकी कोई गिनती नहीं हो सकती| आप अनन्त भुजाओं वाले हैं|

संसार को प्रकाशित करने वाले जो चन्द्र और सूर्य हैं, वह आपके नेत्र हैं, इसलिये संसार को आप से ही प्रकाश मिलता है|

यज्ञ, होम आदि में जो कुछ अग्नि में अर्पित किया जाता है, उन सब को ग्रहण करने वाले देदीप्यमान अग्निरूप मुख वाले आप ही हैं|

अपने तेज से सम्पूर्ण विश्व को तपाने वाले आप ही हैं| इसका तात्पर्य यह है कि जिन व्यक्तियों, वस्तुओं, परिस्थितियों आदि से प्रतिकूलता मिल रही है, उनसे ही सम्पूर्ण प्राणी संतप्त हो रहे हैं| संतप्त करने वाले और संतप्त होने वाले, यह दोनों एक ही विराट् रूप के अंग हैं|

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाऽद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ।।११-२०।।

हैं व्याप्त आप समस्त दिशाएं मध्य भू नभ महन |
हो रहे भयभीत त्रिलोक देख अद्भुत उग्र वर्पन ||११-२०||

भावार्थ: *हे महात्मन्, आकाश और पृथ्वी के मध्य समस्त दिशाओं में आप व्याप्त हैं| आपके इस अद्भुत और उग्र रूप को देखकर तीनों लोक भयभीत हो रहे हैं|*

टीका: आकाश और पृथ्वी के बीच आप सभी पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण आदि दसों दिशाएँ में विराजमान हैं| आपके इस अद्भुत, विलक्षण, अलौकिक, आश्चर्यजनक, महान् देदीप्यमान और भयंकर उग्र रूप को देखकर स्वर्ग, मृत्यु और पाताल लोक में रहने वाले सभी प्राणी व्यथित हो रहे हैं, भयभीत हो रहे हैं| यद्यपि यहां आकाश (स्वर्ग) और पृथ्वी लोक का ही वर्णन है, तथापि यहाँ पाताल लोक को भी लिया जा सकता है| इसका कारण है कि अर्जुन की दृष्टि में दृश्य त्रिलोक का है|

अर्जुन ने ऐसा अनुभव किया कि स्वर्ग, मृत्यु और पाताल लोक में रहने वाले सभी प्राणी प्रभु के अलौकिक एवं उग्र रूप से व्यथित हो रहे हैं, भयभीत हो रहे हैं| इससे सिद्ध होता है कि संतप्त होने वाला, संतप्त करने वाला, व्यथित होने वाला और व्यथित करने वाला, यह चारों रूप उस विराट् रूप के अंग हैं| अर्जुन को ऐसा दिख रहा है कि त्रिलोकी विराट् रूप को देखकर व्यथित, भयभीत हो रही है, पर वास्तव में (विराट् रूप के अन्तर्गत) भयानक सिंह,

व्याघ्र, साँप आदि जन्तुओं को और मृत्यु को देखकर त्रिलोकी भयभीत हो रही है|

अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ।। ११-२१।।

करबद्ध समस्त समूह देव कर रहे प्रवेश आपके तन |
होते प्रतीत भयभीत कर रहे स्तुति आपकी भगवन ||
समूह महर्षि सिद्धगण कर रहे सब स्वस्तिवाचन |
उत्तम अनुरक्ति मन्त्रों से कर रहे सब स्तुति गायन ||११-२१||

भावार्थ: *समस्त देवताओं के समूह हाथ जोड़े आप के शरीर में प्रवेश कर रहे हैं| ऐसा प्रतीत होता है कि वह भयभीत होकर आप की स्तुति कर रहे हैं| महर्षि और सिद्धों के समुदाय 'कल्याण हो' (स्वस्तिवाचन) ऐसा कहकर, उत्तम भक्ति पूर्ण मन्त्रों द्वारा आपकी स्तुति कर रहे हैं|*

टीका: अर्जुन कह रहे हैं कि सभी देवतागण आपके स्वरूप में प्रविष्ट होते हुए दिख रहे हैं| यह सभी देवता आपसे ही उत्पन्न होते हैं, आप में ही स्थित रहते हैं और आप में ही प्रविष्ट होते हैं| यह देवतागण आपके विराट् रूप के अन्तर्गत नृसिंह आदि भयानक रूपों को देखकर भयभीत होकर हाथ जोड़े हुए आपके नाम, रूप, लीला, गुण आदि का गुणगान कर रहे हैं| यद्यपि देवतागण नृसिंह आदि अवतारों को देखकर और काल रूप मृत्यु से भयभीत होकर भगवान् का गुणगान कर रहे हैं (जो सभी विराट् रूप के ही अंग हैं), परन्तु अर्जुन को ऐसा लग रहा है कि वह विराट् रूप भगवान् को देखकर भयभीत होकर स्तुति कर रहे हैं|

सप्तर्षियों, देवर्षियों, महर्षियों, सनकादिकों और देवताओं के द्वारा स्वस्तिवाचन (कल्याण हो, मंगल हो) हो रहा है और उत्तम भक्ति पूर्ण मन्त्रों द्वारा आपकी स्तुतियाँ हो रही हैं|

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ।।११-२२।।

आदित्य साध्य विश्वेदेव द्वि-अश्वनीकुमार वसुगन |
रूद्र ऊष्मपा गन्धर्व यक्ष असुर सिद्ध और मरुदगन ||
हो विस्मित देख रहे रूप अद्भुत अलौकिक भगवन ||११-२२||

भावार्थ: *आदित्य, साध्य, विश्वेदेव, दोनों अश्विनीकुमार, वसुगण, रूद्र, ऊष्मपा, गन्धर्व, यक्ष, असुर, सिद्ध, मरुद्गण, यह सब विस्मित होते हुए आपके (भगवान् के) अद्भुत अलौकिक रूप को देख रहे हैं|*

टीका: ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, आठ वसु, दो अश्विनीकुमार और उनचास मरुद्गण हैं| मन, अनुमन्ता, प्राण, नर, यान, चित्ति, हय, नय, हंस, नारायण, प्रभव और विभु, यह बारह साध्य हैं| क्रतु, दक्ष, श्रव, सत्य, काल, काम, धुनि, कुरुवान्, प्रभवान् और रोचमान, यह दस विश्वेदेव हैं| कव्यवाह, अनल, सोम, यम, अर्यमा, अग्निष्वात्त और बर्हिषत्, यह सात ऊष्मपा (पितर) हैं| ऊष्म अर्थात् गरम अन्न खाने के कारण पितरों का नाम ऊष्मपा है| महर्षि कश्यप जी की पत्नी मुनि और प्राधा तथा अरिष्टा से गन्धर्वों की उत्पत्ति हुई है| गन्धर्व राग की विद्या में निपुण हैं| यह स्वर्गलोक के गायक हैं| महर्षि कश्यप जी की पत्नी खसा से यक्षों की उत्पत्ति हुई है|

देवताओं के विरोधी दैत्यों, दानवों और राक्षसों को असुर कहते हैं| महर्षि कपिल आदि को सिद्ध कहते हैं| उपर्युक्त सभी देवता, पितर, गन्धर्व, यक्ष आदि चकित होकर प्रभु को देख रहे हैं| यह सभी देवता आदि विराट् रूप के ही अंग हैं|

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाऽहम् ।।११-२३।।

विकराल दन्त बहु मुख बाहु उरु पग उदर और नयन |
हो रहे भयभीत देख रूप सब मैं स्वयं भी भगवन ||११-२३||

भावार्थ: *हे भगवन, आपके विकराल दन्त, अनेक मुख, नेत्र, बाहु, उरु (जंघा), पग, उदर वाले वाले रूप को देखकर सब मेरे सहित भयभीत हो रहे हैं|*

टीका: प्रभु के मुख अनेक एवं भिन्न भिन्न प्रकार के हैं| कई मुख सौम्य हैं, कई विकराल हैं, कई मुख लघु हैं, और कई मुख विशाल हैं| ऐसे ही प्रभु के नेत्र भिन्न भिन्न प्रकार के हैं| वह भी सभी एक समान नहीं दिख रहे हैं| कई नेत्र सौम्य हैं, कई विकराल हैं, कई लघु हैं, कई विशाल हैं, कई लम्बे हैं, कई चौड़े हैं, कई गोल हैं, कई टेढ़े हैं, आदि| प्रभु के हाथों की बनावट, वर्ण, आकृति और उनके कार्य विलक्षण हैं| जंघाएँ विचित्र हैं और चरण भी अनेक प्रकार के हैं| पेट भी एक समान नहीं हैं| कोई विशाल, कोई लघु, कोई भयंकर आदि अनेक प्रकार के हैं|

मुखों में विकराल दन्त हैं| ऐसे महान् भयंकर, विकराल रूप को देखकर सब प्राणी भयभीत हो रहे हैं और अर्जुन स्वयं भी भयभीत हैं|

अर्जुन भयभीत होने की बात को बार बार दोहरा रहे हैं| इसका कारण है कि विराट् रूप में अर्जुन की दृष्टि के सामने जो भी प्रभु का रूप आता है, उसमें उनको नई नई विलक्षणता और दिव्यता दिख रही है| विराट् रूप को देखकर अर्जुन इतने घबरा गए हैं, चकित हो गए हैं, चकरा गए हैं, व्यथित हो गए हैं कि उनको यह विचार ही नहीं रहा कि मैंने क्या कहा है और मैं क्या कह रहा हूँ?

पहले अर्जुन ने तीनों लोकों के व्यथित होने की बात कही थी, पर यहाँ सब प्राणियों के साथ स्वयं के भी व्यथित होने की बात कह रहे हैं|

एक बात को ही बार बार कहना अर्जुन के भयभीत और आश्चर्य चकित होने का चिह्न है| संसार में देखा भी जाता है कि जिसको भय, हर्ष, शोक, आश्चर्य आदि होते हैं, उसके मुख से स्वाभाविक ही किसी शब्द या वाक्य का बार बार उच्चारण हो जाता है, जैसे कोई साँप को देखकर भयभीत होता है तो वह बार बार 'साँप, साँप, साँप' ही कहता है| कोई सज्जन पुरुष आता है तो हर्ष में भरकर कहते हैं, 'आइए, आइए, आइए'| ऐसे ही यहाँ विश्वरूप दर्शन में अर्जुन के द्वारा

भय और हर्ष के कारण कुछ शब्दों और वाक्यों का बार बार उच्चारण हुआ है| अर्जुन ने भय और हर्ष को स्वीकार भी किया है, 'अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे'| भय, हर्ष, शोक आदि में एक बात को बार बार कहना पुनरुक्ति दोष नहीं माना जाता|

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ।।११-२४।।

कर रहा स्पर्श नभ दिव्य तन युक्त अनेक मुख नयन |
नहीं पा रहा धैर्य शम देख यह बृहत् रूप भगवन ||११-२४||

भावार्थ: *हे भगवन, आकाश को स्पर्श करता हुआ आपका दिव्य शरीर अनेक मुख और विशाल नेत्र से युक्त है| इस विशाल रूप को देख मैं धैर्य और शान्ति को नहीं पा रहा हूँ|*

टीका: अर्जुन प्रभु को 'भगवान्' कह कर सम्बोधित कर रहे हैं, जिन्होंने पृथ्वी का भार दूर करने के लिये कृष्ण रूप से अवतार लिया है| उनके काले, पीले, श्याम, गौर आदि अनेक वर्ण हैं, जो बड़े ही दिव्य हैं|

अर्जुन कह रहे हैं कि आपका स्वरूप इतना विशाल है कि वह आकाश को स्पर्श कर रहा है| वायु का गुण होने से स्पर्श वायु का ही होता है, आकाश का नहीं, फिर यहाँ आकाश को स्पर्श करने का तात्पर्य क्या है? मनुष्य की दृष्टि जहां तक जाती है, वहां तक उसको आकाश ही दिखता है, उसके आगे कालापन दिखाई देता है| इसका कारण है कि जब दृष्टि आगे नहीं जाती, थक जाती है, तब वह वहां से लौटती है, जिससे आगे कालापन दिखता है| यही दृष्टि का आकाश को स्पर्श करना है| ऐसे ही अर्जुन की दृष्टि जहां तक जाती है, वहां तक उनको भगवान् का विराट रूप ही दिखाई देता है| इसका तात्पर्य यह हुआ कि भगवान् का विराट् रूप असीम है, जिसके सामने दिव्य दृष्टि भी सीमित है|।

जैसे कोई भयानक जन्तु किसी जन्तु को खाने के लिये अपना मुख फैलाता है, ऐसे ही विश्व को खाने के लिये प्रभु का विशाल मुख फैला हुआ दिख रहा है| प्रभु के नेत्र विशाल दिख रहे हैं|

अर्जुन कह रहे हैं कि इस प्रकार आपको देखकर मैं भीतर से बहुत व्यथित हो रहा हूँ| मुझे कहीं से भी धैर्य और शान्ति नहीं मिल रही है|

यहाँ एक शंका होती है कि अर्जुन में एक तो स्वयं की सामर्थ्य है और दूसरी, भगवत् प्रदत्त सामर्थ्य (दिव्य दृष्टि) है, फिर भी अर्जुन विश्वरूप को देखकर डर गए, पर संजय क्यों नहीं डरे? वह भी तो महर्षि व्यास द्वारा दी हुई दिव्य दृष्टि से प्रभु का विराट रूप देख रहे हैं| इसका क्या कारण है? सन्तों से ऐसा सुना है कि भीष्म, विदुर, संजय और कुन्ती, यह चारों भगवान् श्री कृष्ण के तत्व को विशेषता से जानने वाले थे| इसलिये संजय पहले से ही भगवान् के तत्व को, उनके प्रभाव को जानते थे, जब कि अर्जुन भगवान् के तत्व को उतना नहीं जानते थे| अर्जुन का विमूढ़ भाव अभी सर्वथा दूर नहीं हुआ था| इस विमूढ़ भाव के कारण अर्जुन भयभीत हुए| परन्तु संजय भगवान् के तत्व को जानते थे अर्थात् उनमें विमूढ़ भाव नहीं था, अतः वह भयभीत नहीं हुए| उपर्युक्त विवेचन से एक बात सिद्ध होती है कि भगवान् और महापुरुषों की कृपा यद्यपि अयोग्य मनुष्यों पर भी होती है, पर उस कृपा को विशेष रूप से योग्य मनुष्य ही समझ सकते हैं| जैसे छोटे बच्चे पर माँ का अधिक स्नेह होता है, पर बड़ा लड़का माँ को जितना जानता है, उतना छोटा बच्चा नहीं जानता| ऐसे ही भोले, भाले, सीधे ब्रजवासी, ग्वालबाल, गोप, गोपी और गाय, इन पर भगवान् जितना अधिक स्नेह करते हैं, उतना स्नेह जीवन मुक्त महापुरुषों पर नहीं करते| परन्तु जीवन मुक्त महापुरुष ग्वाल बाल आदि की अपेक्षा भगवान् को विशेष रूप से जानते हैं| संजय ने विश्वरूप के लिये प्रार्थना भी नहीं की और विश्वरूप को देख लिया| परन्तु विश्वरूप देखने के लिये अर्जुन को स्वयं भगवान् ने ही उत्कण्ठित किया और अपना विश्वरूप भी दिखाया| संजय की अपेक्षा भगवान् के तत्व को जानने में अर्जुन छोटे थे और भगवान् के साथ सखा भाव रखते थे| इसलिये अर्जुन पर भगवान् की कृपा अधिक थी| इस कृपा के कारण अन्त में अर्जुन का मोह नष्ट

हो गया, 'नष्टो मोहः| इससे सिद्ध होता है कि कृपा पात्र का मोह अन्त में नष्ट हो ही जाता है|

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ।।११-२५।।

हो रहा दिशा भ्रम और खो रहा शान्ति हे भगवन |
देख विकराल दन्त सम प्रलयाग्नि ज्वलित आसन् ||
हे देवेश जगन्निवास हरि हों आप तत्काल प्रसन्न ||११-२५||

भावार्थ: *हे भगवन, आपके विकराल दन्त और प्रलयाग्नि के समान प्रज्वलित मुखों को देखकर मुझे दिशा भ्रम हो रहा है और मैं शान्ति खो रहा हूँ| हे देवेश, जगन्निवास हरि, आप तुरंत प्रसन्न हो जाइए|*

टीका: महाप्रलय के समय सम्पूर्ण त्रिलोकी को भस्म करने वाली जो अग्नि प्रकट होती है, उसे प्रलयाग्नि कहते हैं| उस प्रलयाग्नि के समान प्रभु के मुख हैं जो भयंकर दंतों के कारण बहुत विकराल लग रहे हैं| उनको देखने मात्र से ही अर्जुन को बड़ा भय लग रहा है|

अर्जुन कह रहे हैं कि ऐसे विकराल मुखों को देखकर मुझे दिशाओं का भी ज्ञान नहीं हो रहा है| दिशाओं का ज्ञान सूर्य के उदय और अस्त होने से होता है| पर सूर्य देव तो प्रभु के नेत्रों की जगह हैं, अर्थात् वह तो प्रभु के विराट् रूप के अन्तर्गत आ गए हैं| प्रभु के चारों ओर महान् प्रज्वलित प्रकाश ही प्रकाश दिख रहा है, जिसका न उदय हो रहा है और न अस्त| इसलिये अर्जुन को दिशाओं का ज्ञान नहीं हो रहा है और विकराल मुखों को देखकर भय के कारण वह किसी प्रकार का सुख और शान्ति भी प्राप्त नहीं कर पा रहे हैं| इस कारण भयभीत अर्जुन भगवान् से प्रसन्न होने के लिये प्रार्थना कर रहे हैं|

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथाऽसौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ।।११-२६।।

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ।।११-२७।।

पुत्र धृतराष्ट्र सहित नृप कर रहे प्रवेश हरि तन।
भीष्म द्रोण कर्ण सहित सभी हमारे पक्ष युद्धिवन ।।११-२६।।
देख रहा हूँ फँस रहे आपके विकराल दन्त भगवन।
हो रहे सर चूर्णित उनके फँस आपके मुख दुर्धर्षन् ।।११-२७।।

भावार्थ: *मैं देख रहा हूँ कि धृतराष्ट्र के पुत्र राजाओं सहित प्रभु के शरीर में प्रवेश कर रहे हैं| भीष्म, द्रोण, कर्ण और हमारे पक्ष के योद्धागण भी आपके विकराल दंतों में फँस रहे हैं| हे भगवन, आपके भयानक मुख में फँस उनके सर चूर्णित हो रहे हैं|*

टीका: अर्जुन कह रहे हैं कि ध्रतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन सहित एवं उनके पक्ष के समस्त राजा, भीष्म, द्रोण और कर्ण आदि, हे हरि, आपके मुखों में प्रवेश कर रहे हैं| हमारे पक्ष के धृष्टद्युम्न, विराट, द्रुपद आदि जो प्रमुख योद्धागण हैं, वह सब भी आप में प्रवेश कर रहे हैं| खाद्य पदार्थों की भांति वह आपके भयानक मुख में विकराल दंतों में फँस कर चूर्णित हो रहे हैं|

यहाँ एक शंका हो सकती है कि योद्धागण तो अभी सामने युद्ध क्षेत्र में खड़े हुए हैं, फिर वह अर्जुन को विराट् रूप के मुखों में जाते हुए कैसे दिखाई दिये? इसका समाधान है कि भगवान् विराट् रूप में अर्जुन को आसन्न भविष्य दिखा रहे हैं| भगवान् ने विराट् रूप दिखाते समय अर्जुन से कहा था कि तुम जो कुछ भी देखना चाहते हो, वह मेरे इस विराट् रूप में देख लो| अर्जुन के मन में सन्देह था कि युद्ध में हमारी जीत होगी या कौरवों की? इस सन्देह को दूर करने के लिये भगवान् अर्जुन को आसन्न भविष्य का दृश्य दिखाकर मानो यह बता रहे हैं कि युद्ध में तुम्हारी ही जीत होगी|

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ।।११-२८।।

सम बहे जल प्रवाह नदी ओर समुद्र द्रुतगामिन।
वैसे ही कर रहे प्रवेश आपके मुख भू योद्धागन ॥११-२८॥

भावार्थ: *जैसे नदियों के जल प्रवाह समुद्र की ओर वेग से बहते हैं, वैसे ही पृथ्वी के योद्धागण आपके मुख में प्रवेश कर रहे हैं।*

टीका: मूल में जल समुद्र का है। वही जल बादलों के द्वारा वर्षा रूप में पृथ्वी पर बरस कर झरने, नाले आदि को लेकर नदियों का रूप धारण करता है। उन नदियों के जितने वेग हैं, प्रवाह हैं, वह सभी स्वाभाविक ही समुद्र की ओर दौड़ते हैं। इसका कारण है कि जल का उद्गम स्थान समुद्र ही है। सभी जल प्रवाह समुद्र में जाकर अपने नाम और रूप को छोड़कर अर्थात् गंगा, यमुना, सरस्वती आदि नामों को और प्रवाह के रूप को छोड़ कर समुद्र रूप ही हो जाते हैं। वह जल प्रवाह समुद्र के अतिरिक्त अपना कोई पृथक स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखते।

नदियों की तरह जीव नित्य सुख की अभिलाषा को लेकर परमात्मा के सम्मुख ही दौड़ते हैं। परन्तु भूल से असत्, नाशवान् शरीर के साथ सम्बन्ध मान लेने से वह सांसारिक संग्रह और संयोगजन्य सुख में लग जाते हैं तथा अपना पृथक अस्तित्व मानने लगते हैं। उन जीवों में वह ही वास्तविक शूरवीर हैं जो सांसारिक संग्रह और सुख, भोगों में न लगकर जिसके लिये शरीर मिला है, उस परमात्म-तत्व की प्राप्ति के मार्ग में ही तत्परता से लगे हुए हैं। ऐसे युद्ध में आए हुए भीष्म, द्रोण आदि भूलोक वीर आपके प्रकाशमय (ज्ञान स्वरूप) मुखों में प्रविष्ट हो रहे हैं, ऐसा अर्जुन कह रहे हैं।

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ।।११-२९।।

जैसे विनाश हेतु पतंगे करें प्रवेश प्रज्वलित दहन।
कर रहे प्रवेश स्व-विनाश हेतु मुख आपके युद्धिवन ॥११-२९॥

भावार्थ: *जैसे पतंगे अपने नाश के लिए प्रज्वलित अग्नि में प्रवेश करते हैं, यह योद्धागण अपने नाश के लिए आपके मुख में प्रवेश कर रहे हैं|*

टीका: यहां अर्जुन उपमा दे रहे है| पतंगे चातुर्मास की अँधेरी रात्रि में कहीं पर प्रज्वलित अग्नि देखते हैं, तो उस पर मुग्ध होकर वह उसकी ओर दौड़ते हैं| उनमें से अधिकांश तो प्रज्वलित अग्नि में स्वाहा हो जाते हैं| कुछ को अग्नि की थोड़ी सी लपट लग जाती है तो उनका उड़ना बंद हो जाता है और वह तड़पते रहते हैं| फिर भी उनकी लालसा उस अग्नि की ओर ही रहती है| यदि कोई पुरुष दया करके उस अग्नि को बुझा देता है तो पंतगे दुःखी हो जाते हैं कि उसने उन्हें बड़े लाभ से वंचित कर दिया|

भोग भोगने और संग्रह करने में ही तत्परता पूर्वक लगे रहना और मन में भोगों और संग्रह का ही चिन्तन करते रहना, यह बढ़ा हुआ सांसारिक वेग है| ऐसे वेग वाले दुर्योधनादि राजा लोग पंतगों के समान काल चक्र रूप प्रभु के मुखों में जा रहे हैं, अर्थात् पतन की ओर जा रहे हैं, चौरासी लाख योनियों और नर्कों की ओर जा रहे हैं| इसका तात्पर्य यह हुआ कि प्रायः मनुष्य सांसारिक भोग, सुख, आराम, मान, आदर आदि को प्राप्त करने के लिये रात दिन दौड़ते हैं| उनको प्राप्त करने में उनका अपमान होता है, निन्दा होती है, हानि होती है, चिन्ता होती है, अन्तःकरण में जलन होती है और जिस आयु के बल पर वह जी रहे हैं, वह आयु भी समाप्त होती जाती है, फिर भी वह नाशवान् भोग और संग्रह की प्राप्ति के लिये भीतर से लालायित रहते हैं|

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ।।११-३०।।

ले रहे आस्वादन विष्णु आप करते हुए लोक ग्रसन |
तपा रहा जग तेज आपका जो उग्र प्रकाश भगवन ||११-३०||

भावार्थ: *हे विष्णु भगवन, आप लोकों को ग्रसते हुए आस्वाद ले रहे हैं| हे भगवन, आपका उग्र प्रकाश रूपी तेज संसार को तपा रहा है|*

टीका: अर्जुन कह रहे हैं कि हे विष्णु, आप सम्पूर्ण प्राणियों का संहार कर रहे हैं| कोई इधर उधर न चला जाए इसलिये बार बार जीभ के लपेटे से अपने प्रज्वलित मुखों में लेते हुए उनको ग्रस रहे हैं| इसका तात्पर्य है कि काल रूप भगवान् की जीभ के लपेट से कोई भी प्राणी बच नहीं सकता| विराट् रूप भगवान् का तेज बड़ा उग्र है| वह उग्र तेज जगत् में सब को संतप्त कर रहा है, व्यथित कर रहा है|

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ।।११-३१।।

हैं कौन आप किए धारण यह उग्र रूप हे भगवन |
हे सत्तम देव कर स्वीकार नमन मेरा होईए प्रसन्न ||
दीजिए ज्ञान तत्व जान सकूं मैं आपका प्रयोजन ||११-३१||

भावार्थ: *हे भगवन, उग्र रूप धारण करने वाले आप कौन हैं? हे देवों में श्रेष्ठ, आपको नमस्कार है, आप प्रसन्न होईए| आप तत्व ज्ञान दीजिए ताकि मैं आपका प्रयोजन समझ सकूं|*

टीका: अर्जुन कह रहे हैं कि हे प्रभु, आप देव रूप से भी दिख रहे हैं और उग्र रूप से भी| वास्तव में ऐसे रूपों को धारण करने वाले आप कौन हैं, यह मुझे बताइए|

अत्यन्त उग्र विराट् रूप को देख भय के कारण अर्जुन प्रभु को नमस्कार कर रहे हैं और कह रहे हैं कि मैं आपके विराट् रूप को समझने में सर्वथा असमर्थ हूँ| भगवान् अपनी जीभ से सब को अपने मुखों में लेकर बार बार चाट रहे हैं, ऐसे भयंकर बर्ताव को देखकर अर्जुन प्रार्थना करते हैं कि आप प्रसन्न हो जाइए|

भगवान् का पहला अवतार विराट् (संसार) रूप में ही हुआ था| इसलिये अर्जुन कहते हैं कि हे आदि नारायण, आपको मैं स्पष्ट रूप से नहीं जानता हूँ| मैं आपकी इस प्रवृत्ति को भी नहीं जानता हूँ कि आप यहाँ क्यों प्रकट हुए हैं?

आपके मुखों में हमारे पक्ष के तथा विपक्ष के बहुत से योद्धा प्रविष्ट होते जा रहे हैं, अतः वास्तव में आप क्या करना चाहते हैं, इसे स्पष्ट रूप से बताइए|

यहां शंका हो सकती है कि भगवान् का प्रथम अवतार विराट् (संसार के) रूप में हुआ और अभी अर्जुन भगवान् के भूलोक में विराट् रूप देख रहे हैं, यह दोनों विराट् रूप वास्तव में एक ही हैं या पृथक? इसका समाधान है कि वास्तविक बात तो भगवान् ही जानें, पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि अर्जुन ने जो विराट् रूप देखा था, उसी के अन्तर्गत यह संसार रूपी विराट् रूप भी था| जैसे कहा जाता है कि भगवान् सर्वव्यापी हैं तो इसका तात्पर्य केवल इतना ही नहीं है कि भगवान् केवल सम्पूर्ण संसार में ही व्याप्त हैं, प्रत्युत भगवान् संसार से बाहर भी व्याप्त हैं| संसार तो भगवान् के एक अंश में है तथा ऐसी अनन्त सृष्टियाँ भगवान् के विभिन्न अंशों में हैं| ऐसे ही अर्जुन जिस विराट् रूप को देख रहे हैं, उसमें यह संसार भी है और इसके अतिरिक्त और भी बहुत कुछ है|

श्रीभगवानुवाच
कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ।।११-३२।।

श्रीभगवानुवाच
हूँ मैं प्रवृद्ध काल जो करूँ नाश जग बोले भगवन |
आया बन काल यहां करूँ संहार सब अधर्मी जन ||
करो तुम युद्ध या नहीं न रहें जीवित प्रतिपक्ष जन ||११-३२||

भावार्थ: *भगवान् बोले, 'मैं संसार का नाश करने वाला प्रवृद्ध काल हूँ| इस समय मैं सभी अधर्मी प्राणियों का संहार करने आया हूँ| तुम युद्ध करो अथवा नहीं, यह प्रतिपक्ष जन जीवित नहीं रहेंगे|*

टीका: अभी अर्जुन ने प्रभु से पूछा था कि उग्र रूप वाले आप कौन हैं? उसके उत्तर में विराट् रूप भगवान् कहते हैं कि मैं सम्पूर्ण संसार का क्षय (नाश) करने

वाला अक्षय काल हूँ| अर्जुन ने यह भी कहा कि मैं आपकी प्रवृत्ति को नहीं जान पा रहा हूँ| इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं कि मैं इस समय अधर्मियों का संहार करने यहाँ आया हूँ|

भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि तुमने कहा तुम युद्ध नहीं करोगे, 'न योत्स्ये'| तुम्हारे युद्ध करने अथवा न करने से कोई अंतर नहीं पड़ता| मैं स्वयं ही इनका संहार करने के लिये प्रवृत्त हुआ हूँ| यह तुमने विराट् रूप में भी देख लिया है कि तुम्हारे पक्ष और विपक्ष की दोनों सेनाएँ मेरे भयंकर मुखों में प्रविष्ट कर रही हैं|

यहाँ एक शंका हो सकती है कि अर्जुन ने अपनी और कौरव पक्ष की सेना के सभी योद्धाओं को भगवान् के मुखों में जाकर नष्ट होते हुए देखा था, तो फिर भगवान् ने यहाँ केवल अधर्मियों के विनाश की ही बात क्यों कही? इसका समाधान है कि अगर अर्जुन युद्ध करते तो केवल प्रतिपक्षियों को ही मारते और युद्ध नहीं करते तो प्रतिपक्षियों को नहीं मारते| अतः भगवान् कहते हैं कि तुम्हारे मारे बिना भी यह अधर्मी नहीं बचेंगे, क्योंकि मैं काल रूप से सब को खा जाऊँगा| इसका तात्पर्य यह है कि इन सब का संहार तो होने वाला ही है, तुम केवल अपने युद्ध रूप कर्तव्य का पालन करो|

एक शंका यह भी हो सकती है कि अर्जुन के युद्ध किए बिना भी यह अधर्मी मारे जाएंगे, तो फिर इस युद्ध में अश्वत्थामा आदि योद्धा कैसे बच गए? इसका समाधान है कि यहाँ भगवान् ने उन्हीं योद्धाओं के मरने की बात कही है जिनको अर्जुन मारेंगे| अतः भगवान् के कथन का तात्पर्य है कि जिन योद्धाओं को तुम मारोगे, वह मेरे द्वारा पहले से ही मारे हुए हैं, 'मयैवैते निहताः पूर्वमेव'|

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ।।११-३३।।

उठो धनुर्धर बनो निमित्त करो युद्ध मारो वैरिन |
पाओ यश भोगो राज हैं यह मृतक द्वारा भगवन ||११-३३||

भावार्थ: *हे धनुर्धर, उठो और इन शत्रुओं को मारने के निमित्त बनो| यश को प्राप्त करो और राज्य भोगो| यह तो पहले से ही मेरे (भगवान्) द्वारा मारे जा चुके हैं।*

टीका: प्रभु कह रहे हैं कि हे धनुर्धर अर्जुन, जब तुमने यह देख ही लिया कि तुम्हारे मारे बिना भी यह अधर्मी नहीं बचेंगे तो तुम युद्ध के लिये खड़े हो जाओ और यश को प्राप्त कर लो| इसका तात्पर्य यह है कि सब होनहार ही है जो होकर रहेगा| प्रभु ने यह प्रत्यक्ष दिखा भी दिया है| अतः वह अर्जुन से कहते हैं कि यदि तुम युद्ध करोगे तो तुम्हें यश मिलेगा और लोग कहेंगे कि अर्जुन ने विजय प्राप्त की|

प्रभु आगे कहते हैं कि यश की प्राप्ति अपने पुरुषार्थ से प्राप्त मत मानो| इससे तुम फल में बँध जाओगे, 'फले सक्तो निबध्यते'| इसका तात्पर्य यह हुआ कि लाभ-हानि, यश-अपयश सब प्रभु के हाथ में है, अतः मनुष्य इनके साथ अपना सम्बन्ध न जो़ड़े, क्योंकि यह तो होनहार हैं|

भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि शत्रुओं को जीतकर तुम राज्य को भोगो| यहाँ राज्य को भोगने का अर्थ अनुकूलता का सुख भोगने में नहीं है, प्रत्युत यह अर्थ है कि साधारण लोग जिसे भोग मानते हैं उस राज्य को भी तुम अनायास प्राप्त कर लो|

अर्जुन यश और राज्य कैसे प्राप्त कर लेंगे, इसका हेतु प्रभु बताते हैं कि यहाँ जितने भी अधर्मी योद्धा हैं, उन सब की आयु समाप्त हो चुकी है, अर्थात् काल रूप मेरे द्वारा यह पहले से ही मारे जा चुके हैं|

भगवान् अर्जुन को धनुर्धर कह कर सम्बोधित कर रहे हैं, अर्थात् युद्ध में अपनी पूरी शक्ति लगाओ, और निमित्त मात्र बनो| निमित्त मात्र बनने का तात्पर्य अपने बल, बुद्धि, पराक्रम आदि को कम आंकना नहीं है, प्रत्युत इनको सावधानी पूर्वक पूर्ण शक्ति से लगाना है| विजय प्राप्ति के पश्चात मैंने मार दिया, मैंने विजय

प्राप्त कर ली, यह अभिमान नहीं करना है| क्योंकि यह सब मेरे द्वारा पहले से ही मारे हुए हैं, तुम्हें तो केवल निमित्त मात्र बनना है|

निमित्त मात्र बनकर कार्य करने में अपनी ओर से किसी भी अंश में कोई कमी नहीं रहनी चाहिए, प्रत्युत पूर्ण शक्ति लगाकर सावधानी पूर्वक कार्य करना चाहिए| कार्य की सिद्धि में अपने अभिमान का किंचित मात्र भी अंश नहीं रखना चाहिए| जैसे भगवान् श्री कृष्ण ने गोवर्धन पर्वत उठाया तो उन्होंने ग्वाल बालों से कहा कि तुम भी पर्वत के नीचे अपनी अपनी लाठियाँ लगाओ| सभी ग्वाल बालों ने अपनी अपनी लाठियाँ लगाईं और वह ऐसा समझने लगे कि हम सब की लाठियाँ लगने से ही पर्वत ऊपर ठहरा हुआ है| वास्तव में पर्वत ठहरा हुआ था भगवान् के बायें हाथ की छोटी अंगुली के नख पर| ग्वाल बालों में जब इस प्रकार का अभिमान हुआ, तब भगवान् ने अपनी अंगुली थोड़ी नीचे कर ली| अंगुली नीचे करते ही पर्वत नीचे आने लगा तो ग्वाल बालों ने पुकार कर भगवान् से कहा, 'अरे कन्हैया, अब हम मरे|' भगवान् ने कहा कि शक्ति लगाओ| पर वह सब एक साथ अपनी पूरी शक्ति लगाकर भी पर्वत को ऊँचा नहीं कर सके| तब भगवान् ने पुनः अपनी अंगुली से पर्वत को ऊँचा कर दिया| ऐसे ही साधक को परमात्म-तत्व की प्राप्ति के लिये अपने बल, बुद्धि, योग्यता आदि को पूर्ण रूप से लगाना चाहिए, उसमें कभी किंचित मात्र भी कमी नहीं रखनी चाहिए| परमात्मा का अनुभव होने में बल, उद्योग, योग्यता, तत्परता, जितेन्द्रियता, परिश्रम आदि को कारण मानकर अभिमान नहीं करना चाहिए| उसमें तो केवल भगवान् की कृपा ही कारण मानना चाहिए| शाश्वत अविनाशी पद की प्राप्ति प्रभु कृपा से ही होगी, 'मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्'| सम्पूर्ण विघ्नों को प्रभु की कृपा से भक्त तर जाएगा, 'म़च्चितः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि'| इससे यह सिद्ध हुआ कि केवल निमित्त मात्र बनने से साधक को परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है|

जब साधक अपना बल मानते हुए साधना करता है तब अपना बल मानने के कारण उसको बार बार विफलता का अनुभव होता रहता है और तत्व की प्राप्ति में देरी लगती है| अगर साधक अपने बल का किंचित मात्र भी अभिमान न करे तो सिद्धि तत्काल हो जाती है| इसका कारण है कि परमात्मा तो नित्य

प्राप्त हैं, केवल अपने पुरुषार्थ के अभिमान के कारण ही उनका अनुभव नहीं हो रहा था| इस पुरुषार्थ के अभिमान को दूर करने में ही 'निमित्तिमात्रं भव', निमित्त बनो| कर्मों में जो अपने करने का अभिमान है कि 'मैं करता हूँ तो होता है, अगर मैं नहीं करूँ तो नहीं होगा,' यह केवल अज्ञता के कारण ही अपने में आरोपित कर रखा है| अगर मनुष्य अभिमान और फलेच्छा का त्याग कर प्राप्त परिस्थिति के अनुसार कर्तव्य कर्म करने में निमित्त मात्र बन जाए तो उसका उद्धार स्वतः सिद्ध है| इसका कारण है कि जो होने वाला है, वह तो होगा ही, उसको कोई अपनी शक्ति से रोक नहीं सकता और जो नहीं होने वाला है, वह नहीं होगा, उसको कोई अपने बल, बुद्धि से कर नहीं सकता| अतः सिद्धि, असिद्धि में सम रहते हुए कर्तव्य कर्मों का पालन किया जाए तो मुक्ति स्वतः सिद्ध है| बन्धन, नर्कों की प्राप्ति, चौरासी लाख योनियों की प्राप्ति, यह सभी कृति साध्य हैं और मुक्ति, कल्याण, भगवत् प्राप्ति, भगवत् प्रेम आदि सभी स्वतः सिद्ध हैं|

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथाऽन्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ।।११-३४।।

करो वध तुम भीष्म द्रोण जयद्रथ कर्ण सम युद्धिवन |
हैं यह वधित एव हो अभय करो युद्ध जीतो वैरिन ||११-३४||

भावार्थ: *तुम द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण समान सभी योद्धाओं का वध करो| यह पहले ही (मेरे द्वारा) वधित (मारे गए) हैं| भय मत करो, युद्ध करो और शत्रुओं को जीतो|*

टीका: प्रभु कह रहे हैं कि अर्जुन, यद्यपि तुम्हारी दृष्टि में गुरु द्रोणाचार्य, पितामह भीष्म, जयद्रथ और कर्ण तथा अन्य जितने प्रतिपक्ष के नामी शूरवीर हैं, उन पर विजय प्राप्त करना बड़ा कठिन है| परन्तु उन सब की आयु समाप्त हो चुकी है अर्थात् वह सब मेरे काल रूप द्वारा मारे जा चुके हैं| इसलिये हे अर्जुन, मेरे द्वारा मारे हुए शूरवीरों का तुम वध करो| तुम इन पर विजय प्राप्त करो, पर विजय का अभिमान मत करो|

अर्जुन पितामह भीष्म और गुरु द्रोणाचार्य को मारने में पाप समझते थे, यही अर्जुन के मन में व्यथा थी| अतः भगवान् कह रहे हैं कि वह व्यथा भी तुम मत करो अर्थात् भीष्म और द्रोण आदि को मारने से हिंसा आदि दोषों का विचार करने की तुम्हें किंचित मात्र भी आवश्यकता नहीं है| तुम अपने क्षात्र धर्म का अनुष्ठान करो अर्थात् युद्ध करो|

प्रभु कहते हैं कि हे अर्जुन, इस युद्ध में तुम बैरियों को जीतो| ऐसा कहने का तात्पर्य है कि पहले अर्जुन ने शंका जताई थी कि हम उनको जीतेंगे या वह, इसका हमें पता नहीं है| इस प्रकार अर्जुन के मन में सन्देह था| भगवान् ने अर्जुन को विश्वरूप देखने की आज्ञा दी तो उसमें भगवान् ने कहा कि तुम जो कुछ भी देखना चाहो, वह देख लो| अर्थात् किसकी जय होगी और किसकी पराजय होगी, यह भी तुम देख लो| फिर भगवान् ने विराट् रूप के अन्तर्गत भीष्म, द्रोण और कर्ण के वध को दिखा दिया| यहां यह स्पष्ट रूप से कह दिया कि युद्ध में निःसन्देह तुम्हारी विजय होगी|

संजय उवाच
एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ।।११-३५।।

संजय उवाच
बोले संजय सुने किरीटी अर्जुन जब केशव के वचन |
करबद्ध कम्पित तन भय से बोले वह करते हरि नमन ||११-३५||

भावार्थ: *संजय बोले,' केशव (भगवान्) के यह वचन सुनकर मुकुटधारी अर्जुन हाथ जोड़े हुए, कांपते हुए तन एवं भयभीत हुए प्रभु को नमस्कार करते हुए बोले|'*

टीका: अर्जुन तो पहले से ही भयभीत थे| फिर भगवान् ने जब यह कहा कि मैं काल हूँ, सब को खा जाऊँगा, तो उनका भय और बढ़ गया| इसका तात्पर्य है

कि 'कालोऽस्मि', 'मया हतांस्त्वं जहि, कहकर भगवान् ने अर्जुन को अति भयभीत कर दिया| वह भय से करबद्ध बार बार नमस्कार करने लगे|

अर्जुन ने इन्द्र की सहायता के लिये जब काल, खञ्ज आदि राक्षसों का वध किया था, तब इन्द्र ने प्रसन्न होकर अर्जुन को सूर्य के समान प्रकाश वाला एक दिव्य 'किरीट' (मुकुट) दिया था| इसी से अर्जुन का नाम 'किरीटी' पड़ गया था| अर्जुन जैसे महान योद्धा जिन्होंने विशाल राक्षसों को मारकर इन्द्र की सहायता की थी, वह भी भगवान् के विराट रूप को देखकर कम्पित हो रहे हैं| काल सब का भक्षण करता है, वह किसी को नहीं छोड़ता| इसका कारण कि यह भगवान् की संहार शक्ति है, जो सदैव संहार करती ही रहती है| अर्जुन ने जब भगवान् के अत्यंत उग्र विराट् रूप को देखा तो उनको लगा कि भगवान् काल के भी काल, महाकाल हैं| उनके अतिरिक्त दूसरा कोई भी काल से बचाने वाला नहीं है| इसलिये अर्जुन भयभीत होकर भगवान् को बार बार प्रणाम करते हैं|

अर्जुन उवाच
स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत् प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः ।।११-३६।।

अर्जुन उवाच
है यह सत्य हरि हो रहा हर्षित जग कर आपके कीर्तन |
भयभीत भाग रहे असुर समस्त दिशाएं बोले अर्जुन ||
पा रहे अनुराग पर कर नमन समुदाय सिद्ध भक्तगन ||११-३६||

भावार्थ: *अर्जुन बोले, 'यह सत्य है कि आपके कीर्तन करने से जग अति हर्षित हो रहा है| भयभीत राक्षस लोग समस्त दिशाओं में भाग रहे हैं, परन्तु आपको नमन कर सिद्ध भक्तगणों के समुदाय अनुराग पा रहे हैं|'*

टीका: संसार में प्रायः यह देखा गया है कि जो व्यक्ति अत्यन्त भयभीत हो जाता है, उससे बोला नहीं जाता| अर्जुन हरि का अत्युग्र रूप देखकर अत्यन्त भयभीत हो गए थे, पर यहां वह भगवान् की स्तुति कर रहे हैं| ऐसा प्रतीत होता है कि

यद्यपि अर्जुन भगवान् के अत्यन्त उग्र (भयानक) विश्वरूप को देखकर भयभीत हो रहे थे, तथापि वह भयभीत होने के साथ हर्षित भी हो रहे थे, 'अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे'| इससे सिद्ध होता है कि अर्जुन इतने भयभीत नहीं हुए थे जिससे कि वह भगवान् की स्तुति भी न कर सकें|

अर्जुन कह रहे हैं कि जब संसार से विमुख होकर आपको प्रसन्न करने के लिये भक्तगण आपके नामों का, गुणों का कीर्तन करते हैं, आपकी लीला के पद गाते हैं, आपके चरित्रों का कथन और श्रवण करते हैं, इससे सम्पूर्ण जगत् हर्षित होता है| इसका तात्पर्य यह है कि संसार की ओर चलने से परस्पर राग, द्वेष पैदा होते हैं, पर जो आपके सम्मुख होकर आपका भजन, कीर्तन करते हैं, उनके द्वारा जीवों को शान्ति मिलती है, जीव प्रसन्न हो जाते हैं| उन जीवों को पता लगे चाहे न लगे, पर ऐसा होता है| भगवान् जब अवतार लेते हैं तो सम्पूर्ण स्थावर-जंगम, जड़-चेतन जगत् हर्षित हो जाता है, अर्थात् वृक्ष, लता आदि स्थावर, देवता, मनुष्य, ऋषि, मुनि, किन्नर, गन्धर्व, पशु, पक्षी आदि जंगम, नदी, सरोवर आदि जड़, सब प्रसन्न हो जाते हैं| ऐसे ही भगवान् के नाम, लीला, गुण आदि के कीर्तन का सभी पर प्रभाव पड़ता है और सभी हर्षित होते हैं| भगवान् के नामों और गुणों का कीर्तन करने से मनुष्य हर्षित हो जाते हैं, अर्थात् उनका मन भगवान् में तल्लीन हो जाता है, उनका भगवान् में अनुराग (प्रेम) हो जाता है|

राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच आदि, प्रभु के नामों और गुणों का कीर्तन करने वालों से भयभीत होकर दूर भाग जाते हैं| राक्षस, भूत, प्रेत आदि के भयभीत होकर भाग जाने में भगवान् के नाम, गुण आदि संभवतः कारण नहीं हैं, प्रत्युत उनके अपने स्वयं के पाप ही कारण हैं| अपने पापों के कारण ही वह पवित्रों में महान् पवित्र और मंगलों में महान् मंगल स्वरूप भगवान् के गुणगान को सह नहीं सकते और जहां गुणगान होता है, वहां वह टिक नहीं सकते| अगर उनमें से कोई टिक जाता है तो उसका उद्धार हो जाता है, उसकी वह दुष्ट योनि छूट जाती है|

सन्त महात्माओं और भगवान् की ओर चलने वाले साधकों के जितने समुदाय हैं, वह सब आपके नामों और गुणों के कीर्तन तथा आपकी लीलाओं को सुनकर आपको नमस्कार कर रहे हैं| यह ध्यान रहे कि यह सब दृश्य भगवान् के नित्य, दिव्य, अलौकिक विराट् रूप में दिख रहा है| उसी में एक से एक विचित्र लीलाएँ हो रही हैं|

अर्जुन कह रहे हैं कि यह सत्य है कि आपकी ओर चलने से शान्ति, आनन्द, प्रसन्नता होती है, विघ्नों का नाश होता है| आपसे विमुख होने पर दुःख ही दुःख, अशान्ति ही अशान्ति मिलती है| इसका तात्पर्य है कि आपका अंश जीव के सम्मुख होने से जीव सुख पाता है, उसमें शान्ति, क्षमा, नम्रता आदि गुण प्रकट हो जाते हैं और आपके विमुख होने से दुःख पाता है| यह जीवात्मा परमात्मा और संसार के मध्य का है| यह स्वरूप से तो साक्षात् परमात्मा का अंश है पर प्रकृति के अंश को भी इसने पकड़ा हुआ है| अब यह ज्यों ज्यों प्रकृति की ओर झुकता है, त्यों त्यों इसमें संग्रह और भोगों की इच्छा बढ़ती है| संग्रह और भोगों की प्राप्ति के लिये यह ज्यों ज्यों उद्योग करता है, त्यों त्यों इसमें अभाव, अशान्ति, दुःख, जलन, सन्ताप आदि बढ़ते चले जाते हैं| परन्तु संसार से विमुख होकर यह जीवात्मा ज्यों ज्यों भगवान् के सम्मुख होता है, त्यों त्यों यह आनन्दित होता है और उसका दुःख मिटता चला जाता है|

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ।।११-३७।।

हैं आप ही आदि ब्रह्मा श्रेष्ठ कर्ता महात्मन|
हे अनंत देवेश जगन्निवास करें सब आपका नमन ||
हैं आप परे सत असत पक्ष और अक्षर तत्व भगवन ||११-३७||

भावार्थ: *हे महात्मन्, आप ही आदि ब्रह्मा और श्रेष्ठ कर्ता हैं| हे अनन्त, देवेश, जगन्निवास, आपको सब नमन करते हैं| आप सत्, असत् पक्ष से परे अक्षर तत्व भगवान् हैं|*

टीका: अर्जुन कह रहे हैं कि हे भगवन, आप आदि ब्रह्मा और श्रेष्ठ हैं| हे महात्मन, आपको सभी सिद्धगण नमस्कार करते हैं|

नमस्कार दो प्रकार के महापुरुषों को किया जाता है:
(१) जिनसे मनुष्य को शिक्षा मिलती है, प्रकाश मिलता है, ऐसे आचार्य, गुरुजन आदि को नमस्कार किया जाता है, और,

(२) जिनसे हमारा जन्म हुआ है, उन माता, पिता को तथा आयु, विद्या आदि में अपने से बड़े पुरुषों को नमस्कार किया जाता है| अर्जुन कहते हैं कि आप गुरुओं के भी गुरु, महागुरु हैं| आप सृष्टि की रचना करने वाले पितामह ब्रह्मा जी को भी उत्पन्न करने वाले हैं, अतः सभी आपको नमस्कार कर रहे हैं|

आप अनन्त हैं| आपको देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदि किसी भी दृष्टि से देखें, आपका अन्त नहीं पाया जा सकता| इसका तात्पर्य है कि आपको देश की दृष्टि से देखें तो आपका कहाँ से आरम्भ हुआ है और कहाँ अन्त होगा, ऐसा अनुमान लगाना असंभव है| काल की दृष्टि से देखा जाए तो आप कब से हैं और कब तक रहेंगे, इसका कोई अन्त नहीं है| वस्तु, व्यक्ति आदि की दृष्टि से देखें तो आप वस्तु, व्यक्ति आदि कितने रूपों में हैं, इसका कोई आदि और अन्त नहीं है| सब दृष्टियों से आप अनन्त ही अनन्त हैं| बुद्धि आदि कोई भी दृष्टि आपको देखने जाती है तो वह दृष्टि समाप्त हो जाती है, पर आपका अन्त नहीं होता| इसलिये सब ओर से आप सीमा रहित हैं, अपार है, अगाध हैं|

इन्द्र, वरुण आदि अनेक देवता जिनका शास्त्रों में वर्णन आता है, उन सब देवताओं के आप स्वामी हैं, नियन्ता हैं, शासक हैं| इसलिये आप देवेश हैं|

अनन्त सृष्टियाँ आपके किसी न किसी अंश में विस्तृत रूप से निवास कर रही हैं, तो भी आपका वह अंश पूरा नहीं होता, प्रत्युत खाली ही रहता है, ऐसे आप असीम जगन्निवास हैं|

आप अक्षर स्वरूप हैं| जिसकी स्वतः सिद्ध स्वतन्त्र सत्ता है, वह 'सत्' भी आप हैं, और जिसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, प्रत्युत सत् के आश्रित ही जिसकी सत्ता प्रतीत होती है, वह 'असत्' भी आप ही हैं| जो सत् और असत्, दोनों से विलक्षण हैं, जिसका किसी तरह से निर्वचन नहीं हो सकता, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि किसी से भी जिसकी कल्पना नहीं कर सकते अर्थात् जो सम्पूर्ण कल्पनाओं से सर्वथा अतीत हैं, वह भी आप ही हैं| इसका तात्पर्य यह हुआ कि आपसे बढ़कर दूसरा कोई नहीं है, हो नहीं सकता और होना सम्भव भी नहीं है| आपको सभी का नमस्कार करना उचित ही है|

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ।।११-३८।।

हैं आप आदि देव जग परम आश्रय ज्ञाता सनातन |
हैं ज्ञेय परम धाम अनंत रूप विश्व व्याप्त हे भगवन ||११-३८||

भावार्थ: *आप आदि देव, जगत् के परम आश्रय, ज्ञाता, और पुराण (सनातन) हैं| हे भगवन, आप ज्ञेय, (जानने योग्य), परम धाम, अनन्त रूप, विश्व व्याप्त हैं|*

टीका: अर्जुन कह रहे हैं कि हे प्रभु, आप सम्पूर्ण देवताओं के आदि देव हैं क्योंकि सबसे पहले आप ही प्रकट हुए हैं| आप सनातन हैं क्योंकि आप सदा से हैं और सदा ही रहने वाले हैं|

देखने, सुनने, समझने और जानने में जो कुछ संसार आता है और संसार की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय आदि जो कुछ होता है, उस सब के परम आधार आप ही हैं| वेदों, शास्त्रों, सन्त, महात्माओं आदि के द्वारा जानने योग्य ज्ञेय केवल आप ही हैं|

जिसको मुक्ति, परम पद आदि नामों से कहते हैं, जिसमें समाहित होकर फिर लौट कर जन्म नहीं लेना पड़ता और जिसको प्राप्त करने पर करना, जानना और पाना कुछ भी शेष नहीं रहता, ऐसे परम धाम आप ही हैं| विराट् रूप से

प्रकट हुए आपके रूपों का कोई पारावार नहीं है, सब ओर से आप अनन्त रूप हैं| आपसे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है अर्थात् संसार के कण कण में आप ही व्याप्त हो रहे हैं|

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ।।११-३९।।

हैं आप ही यम दहन वरुण सोम ब्रह्मा और पवन |
प्रपितामह करो स्वीकार मेरे सहस्त्र सहस्त्र नमन ||११-३९||

भावार्थ: *आप ही वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, हैं| हे प्रपितामह (ब्रह्मा के भी कारण) मेरे सहस्र सहस्त्र नमस्कार स्वीकार कीजिए|*

टीका: अर्जुन कह रहे हैं कि जिससे सब को प्राण मिलते हैं, वह वायु आप ही हैं| संयमनी पुरी के अधिपति, सम्पूर्ण संसार के शासक, यम आप ही हैं| जो सब में व्याप्त रहकर शक्ति देता है, प्रकट होकर प्रकाश देता है और जठराग्नि के रूप में अन्न का पाचन करता है, वह अग्नि आप ही हैं| जिसके द्वारा सब को जीवन मिल रहा है, उस जल के अधिपति वरुण आप ही हैं| जिससे सम्पूर्ण ओषधियों का, वनस्पतियों का पोषण होता है, वह चन्द्रमा आप ही हैं| पितामह ब्रह्मा जी को भी प्रकट करने वाले होने से आप प्रपितामह हैं| मैं आपको सहस्त्रों नमस्कार करता हूँ|

कुछ भी करने का दायित्व मनुष्य पर तभी तक रहता है जब तक अपने में करने का बल अर्थात् अभिमान रहता है| जब अपने में कुछ भी करने की सामर्थ्य नहीं रहती, तब कोई दायित्व नहीं रहता| तब वह केवल नमस्कार ही करता है अर्थात् अपने आपको सर्वथा भगवान् के समर्पित कर देता है| फिर करने कराने का सब काम शरण्य (भगवान्) का ही रहता है, शरणागत का नहीं|

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ।।११-४०।।

हे सर्वरूप सर्वव्याप्त अमित विक्रमी सर्वात्मन |
हे अनंत शक्त भगवन करूँ मैं अग्रत पृष्ठत नमन ||११-४०||

भावार्थ: *हे सर्वरूप सर्वव्याप्त अमित विक्रमी सर्वात्मन, हे अनन्त सामर्थ्य वाले भगवन्, मैं आप को आगे और पीछे (अर्थात सर्वत्र स्थानों) से नमस्कार करता हूँ।*

टीका: अर्जुन भयभीत हो रहे हैं| वह क्या बोलें, उनकी समझ में नहीं आ रहा है| इसलिये वह आगे से, पीछे से, सब ओर से, अर्थात् दसों दिशाओं से केवल नमस्कार ही नमस्कार कर रहे हैं|

अनन्त शक्त कहने का तात्पर्य है कि आप तेज, बल आदि से भी अनन्त हैं| अमित विक्रमी कहने का तात्पर्य है कि आपके पराक्रम युक्त संरक्षण आदि कार्य भी असीम हैं| इस प्रकार आपकी शक्ति भी अनन्त है और पराक्रम भी अनन्त है|

आपने सब को समावृत कर रखा है, अर्थात् सम्पूर्ण संसार आपके अन्तर्गत है| संसार का कोई भी अंश ऐसा नहीं है, जो कि आपके अन्तर्गत न हो| आप अनन्त सृष्टियों में परिपूर्ण, व्याप्त हो रहे हैं, और अनन्त सृष्टियाँ आप के ही किसी अंश में हैं|

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ।।११-४१।।
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ।।११-४२।।

समझ सखा आपको नहीं जान सका महिमा भगवन |
पुकारा बलात जैसे यादव सखा हो वश प्रमादिन् ||११-४१||
किया बहु भांति अपमान काल शय्या आसन भोजन |
कभी एकांत कभी समक्ष अन्य करूँ अघ क्षमायाचन ||११-४२||

भावार्थ: *हे भगवन्, आपको सखा समझ आपकी महिमा को नहीं जान सका| प्रमाद से आपको 'यादव, सखा', कह कर बलात् पुकारा| मैंने शय्या, आसन और भोजन के समय कभी अकेले कभी औरों के समक्ष आपका बहुत प्रकार से अपमान किया है| इन पापों को क्षमा करो|*

टीका: जब अर्जुन विराट् भगवान् के अत्युग्र रूप को देखकर भयभीत होते हैं, तब वह भगवान् के कृष्ण रूप को भूल जाते हैं और पूछ बैठते हैं कि उग्ररूप वाले 'आप कौन हैं'? परन्तु जब उनको भगवान् श्री कृष्ण की स्मृति आती है कि यह तो मेरे वही सखा हैं, तब सखा भाव से किए हुए पुराने व्यवहार की उन्हें याद आ जाती है और उसके लिये वह भगवान् से क्षमा माँगते हैं|

सनातन धर्म संस्कार में श्रेष्ठ पुरुषों को उनके साक्षात् नाम से नहीं पुकारा जाता| उनके लिये आदरणीय शब्दों का प्रयोग होता है| अर्जुन कह रहे हैं कि मैंने तो आपको कभी 'यादव', कभी 'सखे' कह दिया| इसका कारण अज्ञानता थी| मैंने आपकी ऐसी महिमा और ऐसे विलक्षण स्वरूप को नहीं जाना| आपके किसी एक अंश में अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड विराजमान हैं, ऐसा मैं पहले नहीं जानता था| आपके प्रभाव की ओर मेरी दृष्टि नहीं गई थी|

यद्यपि अर्जुन भगवान् के स्वरूप, महिमा एवं प्रभाव को पहले भी जानते थे, तभी तो उन्होंने एक अक्षौहिणी सेना को छोड़कर निःशस्त्र भगवान् को स्वीकार किया था, तथापि भगवान् के शरीर के किसी एक अंश में अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड स्थित हैं, ऐसे प्रभाव, स्वरूप एवं महिमा को अर्जुन ने पहले नहीं जाना था| जब भगवान् ने कृपा करके विश्वरूप दिखाया, तब उसको देखकर ही अर्जुन की दृष्टि भगवान् के प्रभाव की ओर गई और वह भगवान् को कुछ कुछ समझने लगे| उनका यह विचित्र भाव हो गया कि कहाँ मैं और कहाँ वह देवों के देव,

परन्तु मैंने प्रमाद से हठपूर्वक, बिना सोचे समझे, जो मन में आया, वह कह दिया|

वास्तव में भगवान् की महिमा को सर्वथा कोई जान ही नहीं सकता, क्योंकि भगवान् की महिमा अनन्त है| अगर वह सर्वथा जानने में आ जाएगी तो उसकी अनन्तता नहीं रहेगी, वह सीमित हो जाएगी| जब भगवान् की सामर्थ्य से उत्पन्न होने वाली विभूतियों का अन्त नहीं है, तब भगवान् और उनकी महिमा का अन्त कैसे सकता है?

अर्जुन कह रहे हैं कि मैंने आपको अपने समान साधारण मित्र समझकर न जाने कितने अपमान जनक शब्द कहे होंगे, आपका असत्कार किया होगा, हे अच्युत, मैंने आपका जो कुछ तिरस्कार किया है, उसके लिए मैं आपसे क्षमा प्रार्थी हूँ|

अर्जुन और भगवान् की मित्रता सखा भाव से थी| अर्जुन भगवान् के साथ बहुत ही घनिष्ठता का व्यवहार करते थे| अब अर्जुन उन बातों को याद करके कहते हैं कि हे भगवन्, मैंने आपके न जाने कितने तिरस्कार किए हैं| यद्यपि आपने मेरे तिरस्कारों की ओर कभी ध्यान नहीं दिया, तथापि मेरे द्वारा किए गए आपके तिरस्कारों के लिए मुझे क्षमा कर दें|

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ।।११-४३।।

आप चराचर जगत पिता गुरु पूजनीय प्रकर्षिन् |
नहीं कोई सम त्रिलोक अप्रतिम प्रभाव भगवन ||११-४३||

भावार्थ: *आप इस चराचर पृथ्वी के पिता, पूजनीय और सर्वश्रेष्ठ गुरु हैं| भगवान् के अप्रितम प्रभाव के समान तीनों लोकों में कोई नहीं है|*

टीका: अर्जुन कह रहे हैं कि हे प्रभु, अनन्त ब्रह्माण्डों में मनुष्य, शरीर, पशु, पक्षी आदि जितने जंगम प्राणी हैं, और वृक्ष, लता आदि जितने स्थावर प्राणी हैं, उन सब को उत्पन्न करने वाले और उनका पालन करने वाले पिता भी आप हैं, उनके पूजनीय भी आप हैं तथा उनको शिक्षा देने वाले महान् गुरु भी आप ही हैं|

इसका तात्पर्य है कि मनुष्य को व्यवहार और परमार्थ में जहां कहीं भी गुरुजनों से शिक्षा मिलती है, उन शिक्षा देने वाले गुरुओं के भी महान् गुरु आप ही हैं, अर्थात् शिक्षा का उद्गम स्थान आप ही हैं|

इस त्रिलोकी में आपके समान कोई नहीं है| आपका प्रभाव अतुलनीय है, उसकी तुलना किसी से भी नहीं की जा सकती|

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ।।११-४४।।

कर प्रणिपात साष्टांग तन करूँ स्तुति हे भगवन |
सुनो प्रार्थना मेरी हे हरि और हो तुम प्रसन्न ||
करो क्षमा मेरे अपराध जैसे करे प्रिय प्रियन |
पिता पुत्र के गुरु शिष्य के और सखा स्नेहन् ||११-४४||

भावार्थ: *हे भगवन्, मैं शरीर से साष्टांग प्रणिपात करके आपकी स्तुति करता हूँ| हे ईश्वर आप मेरी प्रार्थना सुनो और प्रसन्न हो| जैसे पिता पुत्र के, मित्र मित्र के और प्रिय प्रिया के अपराध क्षमा कर देता है उसी समान आप भी मेरे अपराधों को क्षमा कीजिये|*

टीका: अर्जुन प्रभु से कह रहे हैं कि आप अनन्त ब्रह्माण्डों के ईश्वर हैं| मैं आपकी इस शरीर से साष्टांग प्रणाम कर स्तुति करता हूँ| आपके गुण, प्रभाव, महत्व आदि अनन्त हैं| ऋषि, महर्षि, देवता, महापुरुष आपकी नित्य, निरन्तर स्तुति करते रहते हैं, फिर भी पार नहीं पा पाते| मुझ में यद्यपि आपकी स्तुति करने

का बल नहीं है, सामर्थ्य नहीं है, इसलिये मैं तो केवल आपके चरणों में पड़कर दण्डवत् प्रणाम ही कर सकता हूँ, और इसी से मैं आपको प्रसन्न करना चाहता हूँ|

किसी का अपमान होता है तो उसके तीन मुख्य कारण होते हैं| (१) प्रमाद (असावधानी) से, (२) उपहास से अर्थात विनोद में मर्यादा का ध्यान न रहने से, और (३) अपनेपन की घनिष्ठता होने पर अपने साथ रहने वाले का महत्व न जानने से| जैसे गोदी में बैठा हुआ छोटा बच्चा अज्ञानवश पिता की दाढ़ी मूँछ खींचता है, मुँह पर थप्पड़ मारता है, कभी लात भी मार देता है तो बच्चे की ऐसी चेष्टा देखकर पिता प्रसन्न ही होते हैं, अपमान का आभास नहीं करते| एक मित्र दूसरे को उठते बैठते समय चाहे जैसा बोल देता है, पर उसका सच्चा मित्र उसकी इन बातों पर ध्यान नहीं देता| पत्नी के द्वारा आपस के प्रेम के कारण उठने, बैठने, बातचीत करने आदि में पति की जो कुछ अवहेलना होती है, उसे पति सह लेता है| अर्जुन कहते हैं कि जैसे पिता पुत्र के, मित्र मित्र के और पति पत्नी के अपमान को सह लेता है अर्थात् क्षमा कर देता है, ऐसे ही हे भगवन्, आप मेरे अपमान को सहने में समर्थ हैं| मैं आपसे उन अपराधों की क्षमा माँगता हूँ|

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ।।११-४५।।

हो रहा हर्षित मैं देख अदृष्टपूर्व रूप भगवन|
हों प्रकट आप विश्वरूप करे इच्छा यह भीरु मन||
हे देवेश जगन्निवास होइए आप मुझ पर प्रसन्न||११-४५||

भावार्थ: *हे भगवन, मैं आपके इस अदृष्टपूर्व रूप को देखकर हर्षित हो रहा हूँ| आप विश्वरूप में प्रकट होइए, ऐसी इच्छा यह भयभीत मन कर रहा है| हे देवेश, जगन्निवास, आप मुझ पर प्रसन्न होइए|*

टीका: अर्जुन कह रहे हैं कि हे प्रभु, मैंने आपका ऐसा अलौकिक आश्चर्यमय विशाल रूप पहले कभी नहीं देखा| ऐसा रूप देखने की मुझ में योग्यता भी नहीं थी| आपकी कृपा से यह रूप देखकर मैं गद्गद हो रहा हूँ| परन्तु आपके स्वरूप की उग्रता को देखकर मेरा मन भय के कारण अत्यन्त व्यथित भी हो रहा है|

यहां अर्जुन प्रभु को देवेश एवं जगन्निवास सम्बोधन कर उन्हें सौम्य विश्वरूप दिखाने का अनुरोध कर रहे हैं| 'देवेश' सम्बोधन चतुर्भुज रूप का संकेत है, और जगन्निवास जिनमें सम्पूर्ण संसार का निवास है, उसका सम्बोधन है| यहां वह विष्णु रूप दिखाने की प्रार्थना कर रहे हैं|

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ।।११-४६।।

देखना चाहूँ रूप युक्त मुकुट कर चक्र गदा भगवन |
विश्वमूर्ते सहस्रबाहो दिखाइए चतुर्भुज वर्पन् ||११-४६||

***भावार्थ**: हे भगवन, मैं आपका मुकुटधारी, गदा और चक्र हाथ में लिए रूप देखना चाहता हूँ| हे विश्वमूर्ते, सहस्रबाहो, चतुर्भुज रूप दिखाइए |*

टीका: अर्जुन कहते हैं जिस रूप में आपने सिर पर दिव्य मुकुट तथा हाथों में गदा और चक्र धारण कर रखे हैं, उसी रूप को मैं देखना चाहता हूँ| अर्जुन विराट रूप से बहुत डर गए थे, इसलिए वह सौम्य विष्णु रूप देखना चाहते हैं, जो प्रभु का चतुर्भुज रूप है|

'सहस्रबाहो' सम्बोधन का भाव है कि हे सहस्त्र कर वाले भगवन्, आप चार कर वाले हो जाईए| 'विश्वमूर्ते' सम्बोधन का भाव है कि हे अनेक रूपों वाले भगवन्, आप एक रूप वाले हो जाइए| इसका तात्पर्य है कि विराट रूप का उपसंहार करके चतुर्भुज विष्णु रूप से प्रकट हो जाइए|

श्रीभगवानुवाच
मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ।।११-४७।।

श्रीभगवानुवाच
दिखाया आत्मयोग से तेजस्वी रूप तुम्हें अर्जुन।
यह अनंत विराट रूप न देखा पूर्वकाल किसी जन ||
हूँ मैं प्रसन्न तुम पर निःसंदेह बोले भगवन ||११-४७||

भावार्थ: *भगवान् बोले, 'हे अर्जुन, मैंने आत्मयोग (योग शक्ति) से तेजोमय रूप तुम्हें दिखाया है| यह अनन्त विराट रूप पूर्व में किसी प्राणी ने नहीं देखा है| निःसंदेह मैं तुम पर प्रसन्न हूँ|*

टीका: अर्जुन के बार बार कहने पर कि हे प्रभु, आप प्रसन्न हो जाइए, भगवान् कहते हैं कि निःसंदेह मैं तुम पर प्रसन्न हूँ| मैंने जो यह विराट् रूप तुम्हें दिखाया है, जिस विकराल रूप को देखकर तुम भयभीत हो गए हो, वह मैंने क्रोध में आकर या तुम्हें भयभीत करने के लिये नहीं दिखाया है| मैंने तो अपनी प्रसन्नता से ही यह विराट् रूप तुम्हें दिखाया है| इसमें तुम्हारी कोई योग्यता, पात्रता अथवा भक्ति कारण नहीं है| तुमने तो पहले केवल विभूति और योग को ही पूछा था| विभूति और योग का वर्णन करके मैंने अन्त में कहा था कि तुम्हें जहां कहीं जो कुछ विलक्षणता दिखे, उसे मेरी ही विभूति समझो| इस प्रकार तुम्हारे प्रश्न का उत्तर सम्यक् प्रकार से मैंने दे ही दिया था| यह स्मरण रहे कि तुम्हारे देखने, सुनने, समझने में जो कुछ संसार आता है, उस सम्पूर्ण संसार को मैं अपने एक अंश में धारण करके स्थित हूँ| मेरी विभूति और योग शक्ति को जानना आवश्यक है| सब विभूतियाँ मेरी योग शक्ति के ही आश्रित हैं और उस योग शक्ति का आश्रय मैं स्वयं तुम्हारे सामने उपस्थित हूँ| जब तुम्हारी विराट् रूप दर्शन की इच्छा हुई तब मैंने दिव्य चक्षु देकर तुम्हें विराट् रूप दिखाया| इसे मेरी प्रसन्नता ही समझो| इसका तात्पर्य है कि इस विराट् रूप को दिखाने में मेरी कृपा के अतिरिक्त दूसरा कोई हेतु नहीं है| तुम्हारी विराट् रूप देखने की इच्छा तो निमित्त मात्र है|

इस विराट् रूप को दिखाने में मैंने किसी की सहायता नहीं ली, प्रत्युत केवल अपनी सामर्थ्य से ही तुम्हें यह रूप दिखाया है| मेरा यह विराट् रूप अत्यन्त श्रेष्ठ है| यह मेरा विराट् रूप अत्यन्त तेजोमय है, इसलिये दिव्य दृष्टि मिलने पर भी तुमने इस रूप को दुर्निरीक्ष्य कहा है| इस रूप को तुमने स्वयं विराट् रूप, विराट् मूर्ते आदि नामों से सम्बोधित किया है| मेरा यह रूप सर्वव्यापी है| मेरे इस विराट् रूप का देश, काल आदि की दृष्टि से न तो आदि है और न अन्त ही है| यह सब का आदि है और स्वयं अनादि है| तुम्हारे अतिरिक्त मेरे विराट् रूप को पहले किसी ने भी नहीं देखा|

यद्यपि भगवान् ने रामावतार में माता कौसल्या जी को और कृष्णावतार में माता यशोदा जी को तथा कौरव सभा में भीष्म, द्रोण, संजय, विदुर और ऋषि मुनियों को विराट् रूप दिखाया था, परन्तु इस प्रकार का भयंकर विराट् रूप, जिसके मुखों में बड़े बड़े योद्धा, सेनापति आदि समा रहे थे, पहले किसी ने नहीं देखा था|

अर्जुन के सामने युद्ध का अवसर होने से ऐसा भयंकर विराट् रूप दिखाने की आवश्यकता थी जब कि माता कौसल्या आदि के सामने ऐसा रूप दिखाने की कोई आवश्यकता नहीं थी| वास्तव में वह ऐसा रूप देख भी नहीं सकते थे अर्थात् उनमें ऐसा रूप देखने की सामर्थ्य भी नहीं थी|

भगवान् ने यह तो कहा है कि इस विराट् रूप को पहले किसी ने नहीं देखा, पर वर्तमान में कोई नहीं देख रहा है, ऐसा नहीं कहा है| इसका कारण है कि अर्जुन के साथ संजय भी भगवान् के विराट् रूप को देख रहे हैं| अगर संजय न देखते तो वह ऐसा नहीं कहते कि मैं भगवान् के अति अद्भुत विराट् रूप का बार बार स्मरण करके अत्यंत हर्षित हो रहा हूँ|

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ।।११-४८।।

अतिरिक्त तुम्हारे असंभव देख सकें यह रूप भूजन |
चाहे करें वह यज्ञ दान अनुष्ठान उग्र तप वेदाध्ययन ||११-४८||

भावार्थ: *तुम्हारे अतिरिक्त इस रूप को देखना प्राणियों के लिए असंभव है| चाहे वह वेदाध्ययन, यज्ञ, दान, अनुष्ठान और उग्र तप करें|*

टीका: वेदों का अध्ययन किया जाए, यज्ञों का विधि विधान से अनुष्ठान किया जाए, बड़े बड़े दान दिए जाएं, उग्र (कठिन) तप किया जाए, तीर्थ, व्रत आदि शुभ कर्म किए जाएं, फिर भी प्रभु के विराट रूप के दर्शन असंभव हैं| विराट रूप के दर्शन तो केवल भगवान् की कृपा से ही हो सकते हैं| इसका कारण है कि भगवान् नित्य हैं और उनकी कृपा भी नित्य है| अतः नित्य कृपा से ही अर्जुन को भगवान् के नित्य, अव्यय, दिव्य विराट रूप के दर्शन हुए हैं| इसका तात्पर्य यह हुआ कि इनमें से एक अथवा सभी साधनों में यह सामर्थ्य नहीं है कि वह विराट् रूप के दर्शन करा सकें| विराट् रूप के दर्शन तो केवल भगवान् की कृपा से, प्रसन्नता से ही हो सकते हैं| शात्रों में प्रायः यज्ञ, दान और तप, इन तीनों का ही वर्णन आता है| प्रभु ने पहले गीता में वेद, यज्ञ, दान और तप, इन चारों का वर्णन किया है| यहाँ वेद, यज्ञ, दान, तप और क्रिया, इन पाँच का वर्णन किया है| इसका तात्पर्य यह है कि इन वेद, यज्ञ, दान आदि साधनों में से एक एक साधन विशेषता से बहुत बार किया जाए अथवा सभी साधन विशेषता से बहुत बार किए जाएं, तो भी वह सब साधन विराट रूप दर्शन के कारण नहीं बन सकते, अर्थात् इनके द्वारा विराट रूप नहीं देखा जा सकता| विराट रूप का दर्शन करना किसी कर्म का फल नहीं है|

प्रभु ने 'वेद, यज्ञ आदि साधनों से विराट रूप नहीं देखा जा सकता', ऐसा कहकर विराट रूप दर्शन की दुर्लभता बताई है| ऐसे ही वेद, यज्ञ आदि साधनों से चतुर्भुज रूप भी नहीं देखा जा सकता| चतुर्भुज रूप को देखने में अनन्य भक्ति को साधन बताया है| चतुर्भुज रूप को देखने में भक्ति प्रधान है| चतुर्भुज रूप सौम्य है| परन्तु विराट रूप भयभीत करने वाला है| अतः ऐसे भयानक विराट रूप में भक्ति कैसे होगी, प्रेम कैसे होगा? इसलिये इसके दर्शन में भक्ति

को साधन नहीं बताया है| यह विराट रूप तो केवल भगवान् की प्रसन्नता एवं उनके कृपा से ही देखा जा सकता है|

प्रभु कह रहे हैं कि मनुष्य लोक में तुम्हारे अतिरिक्त मेरा विराट रूप कोई नहीं देख सकता| इसका अर्थ है कि इन साधनों (वेद, यज्ञ, दान, तप और क्रिया) से कोई विराट रूप नहीं देख सकता है| यह तो प्रभु की प्रसन्नता से ही देखा जा सकता है| संजय को भी जो विराट रूप के दर्शन हो रहे थे, वह भी महर्षि व्यास जी की कृपा से प्राप्त दिव्य दृष्टि से ही हो रहे थे, किसी दूसरे साधन से नहीं| इसका तात्पर्य है कि भगवान् और उनके भक्तों, सन्तों की कृपा से जो कार्य होता है, वह काम साधनों से नहीं होता| इनकी कृपा भी अहैतु की होती है|

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ।।११-४९।।

न हो व्यथित मूढ़ भावित देख कर उग्र रूप अर्जुन |
हो प्रसन्न निर्भय देखो अब मेरा चतुर्भुज वर्पन् ||११-४९||

भावार्थ: *अर्जुन, मेरे उग्र रूप को देखकर तुम व्यथा और मूढ़ भाव को प्राप्त नहीं हो| निर्भय और प्रसन्नचित्त होकर अब मेरे चतुर्भुज रूप को देखो|*

टीका: प्रभु कहते हैं कि मेरे विराट रूप की उग्रता देखकर तुम व्यथा एवं मूढ़ भाव को प्राप्त नहीं हो, प्रत्युत प्रसन्न हो| मैं कृपा कर के ही ऐसा रूप दिखा रहा हूँ| इसको देखकर तुम्हें मोहित नहीं होना चाहिए| मैं तो प्रसन्न हूँ और अपनी प्रसन्नता से ही तुम्हें यह रूप दिखा रहा हूँ, परन्तु तुम जो बार बार यह कह रहो हो कि 'प्रसन्न हो जाओ, प्रसन्न हो जाओ' यह तुम्हारा मूढ़ भाव है| तुम इस भाव को छोड़ दो|

तुम्हारा और मेरा यह संवाद तो प्रसन्नता से, आनन्द रूप से, लीला रूप से हो रहा है| इसमें भय और मोह बिलकुल नहीं होना चाहिए| मैं तुम्हारा सारथी हूँ और विराट रूप भी दिखाता हूँ| यह सब कुछ करने पर भी तुमने मुझ में किसी

विकृति का आभास नहीं किया होगा| मुझ में कोई अन्तर नहीं आया| ऐसे ही मेरे विराट रूप को देख कर तुम में भी कोई विकृति नहीं आनी चाहिए|

भय का कारण शरीर में अहंता एवं ममता है| शरीर में अहंता एवं ममता होने से वह उत्पत्ति-विनाशशील वस्तु को रखना चाहता है। यही मनुष्य की मूर्खता है और यही आसुरी सम्पत्ति का मूल है| परन्तु जो भगवान् की ओर चलने वाले हैं, उनका प्राणों में मोह नहीं रहता, प्रत्युत उनका सर्वत्र भगवद्भाव रहता है, और एक मात्र भगवान् में ही प्रेम रहता है| इसलिये वह निर्भय हो जाते हैं| उनका भगवान् की ओर चलना दैवीय सम्पत्ति का मूल है| नृसिंह भगवान् के भयंकर रूप को देखकर देवता आदि सभी डर गए, पर प्रह्लाद जी नहीं डरे| क्योंकि प्रह्लाद जी की सर्वत्र भगवद् बुद्धि थी| इसलिये वह नृसिंह भगवान् के पास जाकर उनके चरणों में गिर गए और भगवान् ने उनको उठाकर गोद में ले लिया| भगवान् उनको अपनी जीभ से चाटने लगे, अर्थात प्रेम करने लगे|

संजय को महर्षि वेद व्यास जी ने युद्ध के आरम्भ में दिव्य दृष्टि दी थी, जिससे वह धृतराष्ट्र को युद्ध के समाचार सुनाते रहें| परन्तु अन्त में जब दुर्योधन की मृत्यु पर संजय शोक से व्याकुल हो गए, तब संजय की वह दिव्य दृष्टि चली गई|

अर्जुन के द्वारा विराट रूप दिखाने की प्रार्थना करने पर भगवान् ने अर्जुन को दिव्य दृष्टि दी, 'दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्' और अर्जुन विराट् रूप में भगवान् के देव रूप, उग्र रूप आदि रूपों के दर्शन कर पाए| जब अर्जुन के सामने अत्युग्र रूप आया, तब वह डर गए और भगवान् की स्तुति करते हुए कहने लगे कि मेरा मन भय से व्यथित हो रहा है, आप मुझे सौम्य चतुर्भुज रूप दिखाइये| तब भगवान् ने अपना चतुर्भुज रूप दिखाया और फिर द्विभुज रूप हो गए| इससे सिद्ध होता है कि यहीं तक ही अर्जुन की दिव्य दृष्टि रही होगी| आगे अर्जुन ने स्वयं कहा है कि मैं आपके सौम्य रूप को देखकर सचेत हो गया हूँ और अपनी स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त हो गया हूँ| अतः विराट् रूप के दर्शन के बाद उनकी दिव्य दृष्टि नहीं रही|

यहाँ शंका हो सकती है कि अर्जुन तो पहले भी व्यथित (व्याकुल) हुए थे, 'दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्', 'दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा'| अतः वहीं उनकी दिव्य दृष्टि चली जानी चाहिए थी| इसका समाधान यह है कि वहां अर्जुन इतने भयभीत नहीं हुए थे, जितने यहाँ हुए हैं| यहाँ तो अर्जुन भयभीत होकर भगवान् को बार बार नमस्कार करते हैं और उनसे चतुर्भुज रूप दिखाने के लिये प्रार्थना भी करते हैं| इसलिये यहाँ अर्जुन की दिव्य दृष्टि चली जाती है| दूसरा कारण यह भी माना जा सकता है कि पहले अर्जुन की विराट् रूप देखने की विशेष रुचि (इच्छा) थी, 'द्रष्टुमिच्छामि ते रूपम्', इसलिये भगवान् ने अर्जुन को दिव्य दृष्टि दी| परन्तु यहाँ अर्जुन की विराट् रूप देखने की रुचि नहीं रही और वह भयभीत होने के कारण चतुर्भुज रूप देखने की इच्छा करते हैं, इसलिये (दिव्य दृष्टि की आवश्यकता न रहने से) उनकी दिव्य दृष्टि चली जाती है| अगर संजय और अर्जुन शोक से, भय से व्यथित (व्याकुल) न होते, तो उनकी दिव्य दृष्टि बहुत समय तक रहती और वह बहुत कुछ देखते रहते| परन्तु शोक और भय से व्यथित होने के कारण उनकी दिव्य दृष्टि चली गई| इसी प्रकार जब मनुष्य मोह से संसार में आसक्त हो जाता है, तब भगवान् की दी हुई विवेक दृष्टि काम नहीं करती| ज्यों ज्यों उसका मोह बढ़ता है, त्यों त्यों उसका विवेक काम नहीं करता| अगर मनुष्य मोह में न फँसकर अपनी विवेक दृष्टि को महत्व दे, तो वह अपना उद्धार करके संसार का उद्धार करने वाला बन सकता है|

संजय उवाच
इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ।।११-५०।।

संजय उवाच
बोले संजय तब दिखाया सहज चतुर्भुज रूप भगवन ।
किए आश्वस्त भयभीत अर्जुन तब महात्मा कृष्न ।।११-५०।।

भावार्थ: *संजय बोले, 'भगवान् ने तब अपने सौम्य चतुर्भुज रूप को दर्शाया| महात्मा कृष्ण ने तब भयभीत अर्जुन को आश्वस्त किया|'*

टीका: अर्जुन ने जब भगवान् से चतुर्भुज रूप दर्शाने की प्रार्थना की, तब भगवान् ने अपना सहज चतुर्भुज रूप दिखाया, और कहा कि हे अर्जुन, तुम व्यथित और भयभीत मत हो| प्रसन्नचित्त से तुम मेरे सौम्य रूप को देखो|

कृपा के परवश होकर भगवान् ने अपना विराट रूप अर्जुन को दिखाया था, उसी प्रकार कृपा के परवश होकर भगवान् ने अर्जुन को चतुर्भुज रूप दिखाया| इस चतुर्भुज रूप को देखने में अर्जुन की कोई साधना अथवा योग्यता नहीं थी, प्रत्युत भगवान् की कृपा थी|।

भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को पहले चतुर्भुज रूप दिखाया| फिर अर्जुन की प्रसन्नता के लिये महात्मा भगवान् श्री कृष्ण पुनः द्विभुज रूप (मनुष्य रूप) से प्रकट हो गए| उन्होंने विराट रूप को देखने से भयभीत हुए अर्जुन को आश्वासन दिया| भगवान् श्री कृष्ण द्विभुज थे या चतुर्भुज? इसका उत्तर है कि भगवान् सदैव द्विभुज रूप से ही रहते थे, पर समय समय पर जहां उचित समझते थे, वहां चतुर्भुज रूप हो जाते थे| भगवान् ने अपनी विभूतियों का वर्णन करने में भी अपनी महत्ता, प्रभाव सामर्थ्य को बताया है और अपने अत्यन्त विलक्षण विराट रूप को दिखाने में भी अपने प्रभाव को बताया है|

अगर मनुष्य भगवान् के ऐसे महान् प्रभाव को जान ले अथवा मान ले, तो उसका संसार में आकर्षण नहीं रहेगा| वह सदा के लिये संसार बन्धन से मुक्त हो जाएगा| अर्जुन पर भगवान् की कितनी अद्भुत कृपा है कि भगवान् ने पहले विराट रूप दिखाया, फिर देव रूप (चतुर्भुज रूप) दिखाया और फिर मानुष रूप (द्विभुज रूप) दिखाया| इसके साथ भगवान् ने हम साधारण लोगों पर भी कितनी अलौकिक विलक्षण कृपा की है कि जहां कहीं जिस किसी विशेषता को लेकर हमारा मन चला जाए वहीं हम भगवान् का चिन्तन कर सकते हैं और भगवान् के विराट रूप का पठन, पाठन, चिन्तन कर सकते हैं| इस कलियुग में हमें भगवान् की विभूतियों तथा विश्वरूप के चिन्तन आदि का जो अवसर मिला है, इसमें हमारा उद्योग, योग्यता कारण नहीं है, प्रत्युत भगवान् की कृपा ही कारण है| भगवान् की इस कृपा को देखकर हमें प्रसन्न हो जाना चाहिए| इन विभूतियों को सुनने और विराट रूप के चिन्तन एवं स्मरण का अवसर उस

समय तो संजय आदि बहुत थोड़े लोगों को ही मिला था, वही अवसर आज हम सब को प्राप्त हुआ है|

अर्जुन उवाच
दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तवसौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ।।११-५१।।

अर्जुन उवाच
देख सौम्य रूप हुआ मैं शांत चित्त बोले अर्जुन |
कर सका प्राप्त सचेत स्व-प्रकृति अब हे जनार्दन ||११-५१||

भावार्थ: *अर्जुन बोले, 'हे जनार्दन, आपके सौम्य रूप को देखकर अब मैं शांत चित्त एवं सचेत हो गया हूँ और अपने स्वभाव को प्राप्त हो गया हूँ|'*

टीका: अर्जुन बोले, 'हे प्रभु, आपके जिन सौम्य मनुष्य रूप को देखकर गायें, पशु, पक्षी, वृक्ष, लताएँ आदि भी पुलकित हो जाती हैं, ऐसे सौम्य द्विभुज रूप को देखकर मैं सचेत हो गया हूँ, मेरा चित्त स्थिर हो गया है| विराट् रूप को देखकर जो मैं भयभीत हो गया था, वह सब भय अब मिट गया है, सब व्यथा चली गई है और मैं अपनी वास्तविक स्थिति को प्राप्त हो गया हूँ|

यहाँ सचेत कहने का तात्पर्य है कि जब अर्जुन की दृष्टि भगवान् की कृपा की ओर गई, तब अर्जुन को होश आया और वह सोचने लगे कि कहाँ मैं और कहाँ भगवान् का विस्मयकारक विलक्षण विराट् रूप| इस विराट रूप को देखने में मेरी कोई योग्यता, अधिकारिता नहीं है| यह तो केवल भगवान् की कृपा से ही संभव हुआ है|

श्रीभगवानुवाच
सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ।।११-५२।।

श्रीभगवानुवाच
है अति दुर्लभ देखना यह मेरा रूप बोले भगवन |
पा सकें दर्शन यह रूप रहते सदा इच्छुक देवगन ||११-५२||

भावार्थ: *भगवान् बोले, 'मेरा यह रूप देखना अति दुर्लभ है| देवतागण भी सदा इस रूप के दर्शन के इच्छुक रहते हैं|'*

टीका: भगवान् कहते हैं कि मेरे चतुर्भुज रूप का दर्शन दुर्लभ है| प्रभु के चतुर्भुज रूप के दर्शन वेद, यज्ञ, तप, दान आदि साधनों से नहीं हो सकते, प्रत्युत उनके दर्शन तो अनन्य भक्ति से ही हो सकते हैं| अब यहाँ एक शंका हो सकती है कि देवता भी इस रूप के दर्शन की नित्य लालसा रखते हैं फिर उनको दर्शन क्यों नहीं होते? भगवान् के दर्शन की नित्य लालसा रहना तो उनकी अनन्य भक्ति ही है| इसका समाधान है कि वास्तव में देवताओं की नित्य लालसा अनन्य भक्ति नहीं है| नित्य लालसा रखने का तात्पर्य है कि नित्य, निरन्तर एक परमात्मा की ही चाह रहे और दूसरी कोई चाह न हो| ऐसी लालसा वाला दुराचारी मनुष्य भी भगवान् का भक्त हो सकता है, और उसे भगवत् प्राप्ति हो सकती है| परन्तु ऐसी अनन्य लालसा देवताओं की नहीं होती| उनका प्रायः भोग भोगने का ही उद्देश्य होता है| भक्त मनुष्यों में भगवान् के दर्शन से मुक्ति की इच्छा गौण होती है, पर देवताओं में केवल अपने स्वार्थ के लिए भगवान् के दर्शन की इच्छा गौण होती है|

देवता सोचते हैं कि उनके लोक, शरीर और भोग दिव्य हैं, वह बड़े पुण्यशाली हैं, अतः उन्हें भगवान् के दर्शन होने चाहिए| ऐसी केवल इच्छा ही करते हैं इसलिये उनको कभी दर्शन नहीं होते| इसका कारण है कि उनमें देवत्व, पद आदि का अभिमान है| अभिमान से, पद आदि के बल से, भगवान् के दर्शन नहीं हो सकते| अर्जुन कहते हैं कि हे भगवन्, आपके प्रकट होने को देवता और दानव भी नहीं जानते| इस प्रकार अर्जुन ने भगवान् को न जानने में देवताओं और दानवों को एक श्रेणी में ही रखा है| इसका तात्पर्य है कि जैसे देवताओं के पास वैभव है, ऐसे ही दानवों के पास विचित्र माया है, सिद्धियाँ हैं, पर उनके बल पर वह भगवान् को नहीं जान सकते| देवता भगवान् के दर्शन

की लालसा रखें तो भी केवल देवत्व शक्ति से वह उनके दर्शन नहीं कर सकते क्योंकि भगवान् के दर्शन में देवत्व कारण नहीं है| इसका तात्पर्य है कि भगवान् को न तो देवत्व शक्ति से देखा जा सकता है और न यज्ञ, तप, दान आदि शुभ कर्मों से ही देखा जा सकता है| उनको तो अनन्य भक्ति से ही देख सकते हैं|

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ।।११-५३।।

रहे स्मरण नहीं कर सके कोई मेरे दर्शन हे अर्जुन |
सुर असुर नर या अन्य हेतु यज्ञ तप दान वेद अध्ययन ||
देखा जो तुमने अभी विराट या चतुर्भुज वर्पन ||११-५३||

भावार्थ: *हे अर्जुन, स्मरण रहे कि जो विराट रूप अथवा चतुर्भुज रूप तुमने अभी देखा, इसे कोई सुर, असुर, नर या अन्य तप, दान, यज्ञ अथवा वेद अध्ययन से नहीं देख सकता|*

टीका: प्रभु कह रहे हैं कि हे अर्जुन, जो तुमने मेरा विराट रूप एवं चतुर्भुज रूप देखा वह मेरी कृपा से ही संभव हुआ, तुम्हारी किसी योग्यता के कारण नहीं|

यह एक सिद्धान्त की बात है कि जो वस्तु किसी मूल्य से क्रय की जाती है, उस वस्तु का मूल्य दुकानदार ने थोक विक्रेता से कम मूल्य में खरीदा होगा| अपना लाभ जोड़कर उसने वह वस्तु आपको बेची| इसी प्रकार अनेक वेदों का अध्ययन करने पर, बहुत तपस्या करने पर, बहुत दान देने पर तथा यज्ञ अनुष्ठान करने पर भगवान् मिल जाएंगे, ऐसा संभव नहीं हैं| इन शुभ कर्मों में एक लाभ, प्रभु की कृपा, जोड़ना आवश्यक है| कितनी ही महान् क्रिया क्यों न हो, कितनी ही योग्यता सम्पन्न क्यों न की जाए उसके द्वारा भगवान् प्राप्त नहीं हो सकते। वह सब मिलकर भी भगवत् प्राप्ति का मूल्य नहीं हो सकते| उनके द्वारा भगवान् पर अधिकार नहीं जमाया जा सकता| त्रिलोकी में प्रभु के समान कोई नहीं है फिर यह शुभ कर्म प्रभु से अधिक कैसे हो सकते हैं? इसका तात्पर्य है कि इनमें लाभ जोड़े बिना, जो प्रभु कृपा है, प्रभु पर अधिकार नहीं किया जा सकता|

सांसारिक वस्तुओं में अधिक योग्यता वाला कम योग्यता वाले पर आधिपत्य कर सकता है, अधिक बुद्धिमान् कम बुद्धि वालों पर अपना आधिपत्य जमा सकता है, अधिक धनवान् निर्धनों पर अपनी आधिपत्य प्रकट कर सकता है, परन्तु भगवान् किसी बल, बुद्धि, योग्यता, व्यक्ति, वस्तु आदि से नहीं खरीदे जा सकते| इसका कारण है कि जिन भगवान् के संकल्प मात्र से तत्काल अनन्त ब्रह्माण्डों की रचना हो जाती है, उन्हें एक ब्रह्माण्ड के किसी अंश की किसी वस्तु, व्यक्ति आदि से कैसे खरीदा जा सकता है? इसका तात्पर्य यह है कि भगवान् की प्राप्ति केवल भगवान् की कृपा से ही हो सकती है| वह कृपा तब प्राप्त होती है, जब मनुष्य अपनी सामर्थ्य, समय, समझ, सामग्री आदि को भगवान् के सर्वथा अर्पण करके अपने में सर्वथा निर्बलता, अयोग्यता का अनुभव करता है, अर्थात् अपने बल, योग्यता आदि का किंचित मात्र भी अभिमान नहीं करता| इस प्रकार जब वह सर्वथा निर्बल होकर अपने आपको भगवान् के सर्वथा समर्पित करके अनन्य भाव से भगवान् को पुकारता है, तब भगवान् तत्काल प्रकट हो जाते हैं| इसका कारण है जब तक मनुष्य के अन्तःकरण में प्राकृत वस्तु, योग्यता, बल, बुद्धि आदि का महत्व और सहारा रहता है, तब तक भगवान् अत्यन्त समीप होने पर भी दूर दिखते हैं| प्रभु ने अपने दर्शन की जो यहां दुर्लभता बताई है, वह चतुर्भुज रूप के लिये ही बताई गई है, विराट रूप के लिये नहीं| अगर इसको विराट रूप के लिये ही मान लिया जाए तो पुनरुक्ति दोष आ जाएगा, क्योंकि पहले भगवान् विराट रूप की दुर्लभता बता चुके हैं| भगवान् ने अनन्य भक्ति से अपने को देखा जाना शक्य बताया है| विराट रूप में अनन्य भक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि अर्जुन जैसे शूरवीर पुरुष भगवान् से दिव्य दृष्टि प्राप्त करके भी विराट रूप को देखकर भयभीत हो गए, तो उस रूप में अनन्य भक्ति, अनन्य प्रेम, आकर्षण नहीं हो सकता|

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ।।११-५४।।

है संभव जानें मुझे अनन्य भक्ति से ही हे अर्जुन |
जो जानें तत्व मेरा कर सकें दिव्य साकार दर्शन ||११-५४||

भावार्थ: *हे अर्जुन, अनन्य भक्ति के द्वारा मुझे समझना संभव है (अनन्य भक्ति के माध्यम से प्रभु को समझना संभव है)| जो मेरा तत्व जानते हैं, वह मेरे दिव्य साकार दर्शन कर सकते हैं|*

टीका: अनन्य भक्ति का अर्थ है, केवल भगवान् का ही आश्रय हो, सहारा हो, आशा हो, विश्वास हो| भगवान् के अतिरिक्त किसी योग्यता, बल, बुद्धि आदि का किंचित मात्र भी सहारा न हो| इनका अन्तःकरण में किंचित मात्र भी महत्व न हो| यह अनन्य भक्ति स्वयं से ही होती है, मन, बुद्धि, इन्द्रियों आदि के द्वारा नहीं| इसका तात्पर्य है कि जब स्वयं की व्याकुलता भगवान् के दर्शन के लिए हो, वह अनन्य भक्ति है| यह जो भीतर स्वयं में बैचेनी है, वही भगवत् प्राप्ति में मुख्य कारण है| इस बेचैनी में, व्याकुलता में, अनन्त जन्मों के अनन्त पाप भस्म हो जाते हैं| ऐसी अनन्य भक्ति वालों के लिये ही भगवान् ने कहा है कि जो अनन्य चित्त वाला भक्त नित्य, निरन्तर मेरा चिन्तन करता है, उसके लिये मैं सुलभ हूँ| जो अनन्य भक्त मेरा चिन्तन करते हुए उपासना करते हैं, उनका योगक्षेम मैं वहन करता हूँ| अनन्य भक्ति का दूसरा तात्पर्य यह है कि भजन स्मरण करने का, साधना करने का, उत्कण्ठा पूर्वक प्रभु को पुकारने का जो प्रयास है, वह किंचित मात्र भी स्व-कर्ता का अनुभव करते हुए न हो| यह साधना केवल अपना अभिमान मिटाने के लिये अर्थात् अपने में जो साधना करने के बल का भान होता है, उसको मिटाने के लिये ही करना है| इसका तात्पर्य है कि भगवान् की प्राप्ति साधना करने से नहीं होती, प्रत्युत साधना का अभिमान छोड़ने से होती है| साधना का अभिमान समाप्त हो जाने से साधक पर भगवान् की शुद्ध कृपा प्रभाव लाती है एवं उस कृपा से भगवान् की प्राप्ति हो जाती है|

प्रभु कहते हैं कि अनन्य भक्ति से मेरा स्वरुप जाना जा सकता है| इसका तात्पर्य है कि जो साधक मुझे 'वासुदेवः सर्वम्' और 'सदसच्चाहम्', इस प्रकार वास्तविक तत्व से जान लेता है, वह सगुण रूप से अर्थात् विष्णु, राम, कृष्ण आदि जिस किसी भी रूप में मुझे देखना चाहे, देख सकता है| वह मेरे साथ अभिन्नता का अनुभव कर लेता है| वह मेरी नित्य लीला में प्रवेश कर जाता है| नित्य लीला में प्रवेश होने में भक्त की इच्छा और भगवान् की कृपा ही मुख्य होती है|।यद्यपि भगवान् के सर्वथा शरण होने पर भक्त की सब इच्छाएँ समाप्त

हो जाती हैं, तथापि भगवान् की यह एक विलक्षणता है कि भक्त की लीला में प्रवेश होने की जो इच्छा रही है, उसको वह पूरी कर देते हैं| केवल पारमार्थिक इच्छा को ही पूरी करते हों, ऐसी बात नहीं| वह भक्त की पहले जो सांसारिक इच्छा रही हो, उसको भी पूरी कर देते हैं| जैसे भगवद् दर्शन से पूर्व की इच्छा के अनुसार ध्रुव जी को छत्तीस हजार वर्ष का राज्य मिला और विभीषण को एक कल्प का| इसका तात्पर्य यह हुआ कि भगवान् भक्त की इच्छा को पूरी कर देते हैं और फिर अपनी कृपा से उसे पूर्णता की प्राप्ति करा देते हैं|

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ।।११-५५।।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपयोगो एकादसोऽध्यायः |

करे जो कर्म हेतु मम हूँ परम लक्ष्य मैं जिस भूजन |
अनासक्त निर्वैर भक्त करे मेरा सगुन निरूपन ||११-५५||

करते हुए ओम तत सत पूर्ण भगवन्नाम उच्चारन |
ब्रह्मविद्या योगशास्त्रमय महाग्रंथ गीतबंधन ||
श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषदरूप ग्रन्थ अति पावन |
श्री कृष्णार्जुन संवाद विश्वरूपयोग नामन ||
हुआ अत्र सम्पूर्ण एकादस अध्याय करे कल्याण जन ||

भावार्थ: *जो पुरुष मेरे लिए ही कर्म करता है, मैं ही जिसका परम लक्ष्य हूँ, वह वैर एवं आसक्ति रहित भक्त मेरे सगुण रूप के दर्शन करता है|*

इस प्रकार उपनिषद, ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र रूप श्रीमद्भगवद्गीता के श्री कृष्ण-अर्जुन संवाद में 'विश्वरूपयोग' नामक एकादस अध्याय संपूर्ण हुआ|

टीका: जो जप, कीर्तन, ध्यान, सत्संग, स्वाध्याय आदि भगवत् सम्बन्धी कर्मों को और वर्ण, आश्रम, देश, काल, परिस्थिति आदि के अनुसार प्राप्त लौकिक कर्मों को केवल प्रभु के लिये ही करता है, वह प्रभु का कार्य करता है|

वास्तव में देखा जाए तो यद्यपि कर्म के पारमार्थिक और लौकिक, यह दो बाह्य रूप होते हैं, पर भीतर में भक्त की इच्छा सब कर्म केवल भगवान् के लिये ही करने हैं, ऐसा एक ही भाव रहता है| इसका तात्पर्य यह हुआ कि भक्त शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि से जो कुछ भी कर्म करता है, वह सब भगवान् के लिये ही करता है| इसका कारण है कि वह यह मानता है कि उसके पास शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, योग्यता, सामर्थ्य, समझ आदि जो कुछ है, वह सब भगवान् की ही दी हुई है और भगवान् की ही है| वह स्वयं भी भगवान् का ही है, ऐसा भाव वह रखता है| वह तो केवल भगवान् की प्रसन्नता के लिये, भगवान् की आज्ञा के अनुसार, भगवान् की दी हुई शक्ति से निमित्त मात्र बन कर कार्य करता है|

प्रभु कहते हैं कि जो भक्त मुझे ही परमोत्कृष्ट समझकर केवल मेरे ही परायण रहता है, अर्थात् जिसका परम ध्येय, परम आश्रय केवल मैं ही हूँ, ऐसा भक्त अनन्य भक्त है| जो केवल मेरा ही भक्त है, अर्थात् जिसने मेरे साथ अटल सम्बन्ध जोड़ लिया है, जिसे केवल मेरा ही आश्रय है, ऐसा भाव होने से मुझे उससे अतिशय प्रेम हो जाता है| जो अपना होता है, वह स्वतः प्रिय लगता है, अतः प्रेम की जागृति में अपनापन ही मुख्य है| वह भक्त सब देश में, सब काल में, सम्पूर्ण वस्तु में, व्यक्तियों में और अपने आप में सदा सर्वदा मुझे ही परिपूर्ण देखता है| ऐसा भाव रखने वाला ही मेरा अनन्य भक्त है|

केवल भगवान् के लिये ही कर्म करने से, केवल भगवान् के ही परायण रहने से और केवल भगवान् का ही भक्त बनने से भक्त आसक्ति रहित हो जाता है| अर्थात् उसकी संसार में आसक्ति, ममता और कामना नहीं रहती| आसक्ति, ममता और कामना से ही संसार के साथ सम्बन्ध होता है| भगवान् में अनन्य प्रेम होते ही आसक्ति आदि का पूर्णतः अभाव हो जाता है| जब भक्त को 'मैं भगवान का ही अंश हूँ', इस वास्तविकता का अनुभव हो जाता है, तब उसका भगवान् में प्रेम जाग्रत् हो जाता है| प्रेम जाग्रत् होने पर राग का पूर्णतः अभाव

हो जाता है| राग का अभाव होने से और सर्वत्र भगवद् भाव होने से उसके शरीर के साथ कोई कितना ही दुर्व्यवहार करे, उसका अनिष्ट करे, तो भी उसके हृदय में अनिष्ट करने वाले के प्रति किंचित मात्र भी वैर भाव उत्पन्न नहीं होता| वह उसमें भगवान् की ही इच्छा और कृपा मानता है| ऐसे भक्त को भगवान् ने 'निर्वैर' कहा है। आसक्ति रहित एवं वैर भाव से रहित होकर वह भक्त संसार से सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद कर लेता है| संसार से सम्बन्ध विच्छेद होने पर स्वतः सिद्ध परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है| इसका तात्पर्य है कि जिस उद्देश्य से मनुष्य जन्म हुआ है, वह उद्देश्य सर्वथा पूर्ण हो जाता है|

अध्याय १२: भक्तियोग

अर्जुन उवाच
एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
येचाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ।।१२-१।।

अर्जुन उवाच
छंद:
है कौन उत्तम योगवित मध्य दोनों पूछे अर्जुन।
करे पूजन सतत आपका या अक्षर अव्यक्त निर्गुन ||१२-१||

भावार्थ: *अर्जुन ने पूछा, 'उन दोनों में से कौन उत्तम योगवित् है, जो सतत आपकी उपासना करता है अथवा अक्षर अव्यक्त निर्गुण की उपासना करता है|'*

टीका: 'मैं भगवान् का हूँ', इस प्रकार भगवान् का होकर उनकी उपासना करना सतत उपासना करना है| भगवान् में पूर्ण श्रद्धा रखने वाले साधक भक्तों का एकमात्र उद्देश्य भगवत् प्राप्ति ही होता है| अतः प्रत्येक पारमार्थिक (भगवत् सम्बन्धी) जप, ध्यानादि अथवा व्यावहारिक, शारीरिक और आजीविका सम्बन्धी क्रिया में उनका सम्बन्ध नित्य, निरन्तर भगवान् से बना रहता है।

साधक से एक बहुत बड़ी भूल हो सकती है| वह पारमार्थिक क्रियाओं को करते समय तो अपना सम्बन्ध भगवान् से मानता है, पर व्यावहारिक क्रियाओं को करते समय वह अपना सम्बन्ध संसार से मानता है| इस भूल का कारण समय समय पर साधक के उद्देश्य में होने वाली भिन्नता है| जब तक बुद्धि में धन-प्राप्ति, मान-प्राप्ति, कुटुम्ब-पालन आदि भिन्न भिन्न उद्देश्य बने रहते हैं, तब तक साधक का सम्बन्ध निरन्तर भगवान् के साथ नहीं रहता| अगर वह अपने जीवन के एक मात्र उद्देश्य भगवत् प्राप्ति को भली भांति पहचान ले, तो उसकी प्रत्येक क्रिया भगवत् प्राप्ति का साधन हो जाएगी| भगवत् प्राप्ति का उद्देश्य होने पर भगवान् का जप, स्मरण, ध्यानादि करते समय सम्बन्ध भगवान् से तो रहता ही

चाहिए, किन्तु व्यावहारिक क्रियाओं को करते समय भी उसको नित्य, निरन्तर भगवान् में लगा हुआ ही समझना चाहिए|

अगर क्रिया के आरम्भ और अन्त में साधक को भगवत् स्मृति है, तो क्रिया करते समय भी उसकी निरन्तर सम्बन्धात्मक भगवत् स्मृति रहती है, ऐसा मानना चाहिए| यदि कर्तव्य कर्म के आरम्भ और अन्त में साधक का यह भाव है कि 'मैं भगवान् का हूँ और भगवान् के लिये ही कर्तव्य कर्म कर रहा हूँ', इस भाव में उसे थोड़ी भी शंका नहीं है, तो जब वह अपने कर्तव्य कर्म में तल्लीनता पूर्वक लग जाता है, उस समय उसमें भगवान् की विस्मृति दिखते हुए भी वस्तुतः विस्मृति नहीं मानी जाती|

उपासना करते समय प्रभु के सभी सगुण साकार स्वरूपों को ग्रहण कर लेना चाहिए जिनको भगवान् भक्तों के इच्छानुसार समय समय पर भक्तों के इच्छानुसार धारण किया करते हैं, जो स्वरूप भगवान् ने भिन्न भिन्न अवतारों में धारण किए हैं तथा भगवान् का जो स्वरूप दिव्य धाम में विराजमान है, जिसको भक्त लोग अपनी मान्यता के अनुसार अनेक रूपों और नामों से जानते हैं|

भक्त को सदैव भगवान् में तल्लीन होकर, भगवान् का जप, स्मरण, चिन्तन करते हुए सांसारिक प्राणियों को भगवान् का ही मानकर उनकी सेवा करते रहना चाहिए| भगवान् की आज्ञा के अनुसार सांसारिक कर्मों को करते हुए सदा सर्वदा भगवान् की उपासना में ही लगे रहना चाहिए| यही उपासना प्रभु की सतत उपासना है| ऐसे उपासक के हृदय में उत्पन्न और नष्ट होने वाले पदार्थों और क्रियाओं का किंचित मात्र भी महत्व नहीं होता|

प्रभु अविनाशी सच्चिदानन्द परब्रह्म हैं| जो किसी इन्द्रिय का विषय नहीं है, उसे 'अव्यक्त' कहते हैं| यहाँ 'अव्यक्त' के साथ 'अक्षर' विशेषण दिया गया है| अतः यह निर्गुण निराकार ब्रह्म का वाचक है|

अर्जुन यहां प्रभु से साकार उपासकों की तुलना निराकार उपासकों से कर रहे हैं और पूछ रहें हैं कि इन दोनों में श्रेष्ठ कौन है?

साधकों को साकार और निराकार स्वरूप में एकता का बोध हो, उनके हृदय में इन दोनों स्वरूपों को प्राप्त कराने वाले साधनों का रहस्य प्रकट हो, सिद्ध भक्तों और ज्ञानियों के आदर्श लक्षणों से वह परिचित हों और संसार से सम्बन्ध विच्छेद की विशेष महत्ता उनकी समझ में आ जाए, इन्हीं उद्देश्यों को सिद्ध करने में भगवान् की विशेष रुचि प्रतीत होती है| इसका तात्पर्य है कि भगवान् के हृदय में जीवों के लिये जो परम कल्याणकारी, अत्यन्त गोपनीय और उत्तमोत्तम भाव थे, उनको प्रकट करवाने का श्रेय अर्जुन के इस भगवत् प्रेरित प्रश्न से है|

श्रीभगवानुवाच
मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ।।१२-२।।

श्रीभगवानुवाच
कर मन एकाग्र हो नित्य युक्त करें जो मेरा पूजन |
हैं श्रेष्ठ वह श्रद्धा युक्त भक्तजन बोले भगवन ||१२-२||

भावार्थ: *भगवान् बोले, 'मुझ में मन को एकाग्र करके नित्य युक्त हो जो भक्त परम श्रद्धा से मेरी उपासना करते हैं, वह श्रेष्ठ हैं|'*

टीका: यह सत्य है कि मन वहीं लगता है, जहां प्रेम होता है| जिसमें प्रेम होता है, उसका चिन्तन स्वतः होता है| 'भगवान् मेरे हैं और मैं भगवान् का हूँ', यही भावना स्वयं का भगवान् में लगा लेना है| स्वयं का दृढ़ उद्देश्य भगवत् प्राप्ति होने पर मन, बुद्धि स्वतः भगवान् में लग जाती है| इसके विपरीत, स्वयं का उद्देश्य भगवत् प्राप्ति न हो तो मन, बुद्धि को भगवान् में लगाने का यत्न करने पर भी वह पूर्णतः भगवान् में नहीं लग सकती| परन्तु जब स्वयं ही अपने आपको भगवान् का मान लें, तब मन, बुद्धि भगवान् में तल्लीन हो जाती है| स्वयं कर्ता है और मन, बुद्धि करण हैं| करण कर्ता के ही आश्रित रहते हैं| जब कर्ता भगवान् का हो जाए तब मन, बुद्धि रूप करण स्वतः भगवान् में लग जाते हैं|

साधक से यह भूल हो जाती है कि वह स्वयं भगवान् में न लगकर अपने मन, बुद्धि को भगवान् में लगाने का अभ्यास करता है| स्वयं भगवान् में लगे बिना मन, बुद्धि को भगवान् में लगाना कठिन है| मन, बुद्धि एकाग्र होने से सिद्धि (समाधि आदि) तो हो सकती है, पर कल्याण स्वयं के भगवान् में लगने से ही होगा|

पूजन का तात्पर्य है स्वयं को भगवान् को अर्पित कर देना| 'मैं भगवान् का हूँ और भगवान् मेरे हैं', यह भावना रखना| स्वयं को भगवान् को अर्पित करने से नाम-जप, चिन्तन, ध्यान, सेवा, पूजा आदि तथा शास्त्र विहित क्रिया स्वतः भगवान् के लिये ही होती हैं|

स्मरण रहे कि शरीर प्रकृति का और जीव परमात्मा का अंश है| प्रकृति के कार्य शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहम से तादात्म्य, ममता और कामना न करके केवल भगवान् को ही अपना मानने वाला यह कह सकता है कि 'मैं भगवान् का हूँ, भगवान् मेरे हैं'| ऐसा कहने या मानने वाला भगवान् से कोई नया सम्बन्ध नहीं जोड़ता| चेतन और नित्य होने के कारण जीव का भगवान् से सम्बन्ध स्वतः सिद्ध है| किन्तु उस नित्य सिद्ध वास्तविक सम्बन्ध को भूलकर जीव ने अपना सम्बन्ध प्रकृति एवं उसके कार्य शरीर से मान लिया, जो अवास्तविक है| अतः जब तक प्रकृति से माना हुआ सम्बन्ध है, तभी तक भगवान् से अपना सम्बन्ध मानने की आवश्यकता है| प्रकृति से माना हुआ सम्बन्ध टूटते ही भगवान् से अपना वास्तविक और नित्य सिद्ध सम्बन्ध प्रकट हो जाता है, उसकी स्मृति प्राप्त हो जाती है, 'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा|

प्रकृति के सम्मुख होने के कारण अर्थात् उससे सुख भोग करते रहने के कारण जीव शरीर से 'मैं' पन का सम्बन्ध जोड़ लेता है, अर्थात् 'मैं शरीर हूँ' ऐसा मान लेता है| इस प्रकार शरीर से माने हुए सम्बन्ध के कारण वह वर्ण, आश्रम, जाति, नाम, व्यवसाय तथा बाल, युवा आदि अवस्थाओं को बिना याद किए भी (स्वाभाविक रूप से) अपनी ही मानता रहता है, अर्थात् अपने को उनसे अलग नहीं मानता|

जीव की विजातीय शरीर और संसार के साथ (भूल से की हुई) सम्बन्ध की मान्यता भी इतनी दृढ़ रहती है कि बिना याद किए सदा याद रहती है| अगर वह अपने सजातीय (चेतन और नित्य) परमात्मा के साथ अपने वास्तविक सम्बन्ध को पहचान ले, तो किसी भी अवस्था में परमात्मा को नहीं भूल सकता| फिर उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते, हर समय प्रत्येक अवस्था में भगवान् का स्मरण, चिन्तन स्वतः होने लगता है|

जिस साधक का उद्देश्य सांसारिक भोगों का संग्रह और उनसे सुख लेना नहीं है, प्रत्युत एक मात्र परमात्मा को प्राप्त करना है, उसके द्वारा भगवान् से अपने सम्बन्ध की पहचान आरम्भ हो गई, ऐसा मान लेना चाहिए| इस सम्बन्ध की पूर्ण पहचान के बाद साधक में मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर आदि के द्वारा सांसारिक भोग और उनका संग्रह करने की इच्छा बिलकुल नहीं रहती|

वास्तव में एक मात्र भगवान् का होते हुए जीव जितने अंश में प्रकृति से सुख, भोग प्राप्त करना चाहता है, उतने ही अंश में उसने इस भगवत् सम्बन्ध को दृढ़ता पूर्वक नहीं पकड़ा है| उतने अंश में उसका प्रकृति के साथ ही सम्बन्ध है| इसलिये साधक को चाहिए कि वह प्रकृति से विमुख होकर अपने आपको केवल भगवान् का ही माने, उन्हीं के सम्मुख हो जाए|

साधक की श्रद्धा वहीं होगी, जिसे वह सर्वश्रेष्ठ समझेगा| श्रद्धा होने पर अर्थात् बुद्धि लगने पर वह अपने द्वारा निश्चित किए हुए सिद्धान्त के अनुसार स्वाभाविक जीवन बनाएगा और अपने सिद्धान्त से कभी विचलित नहीं होगा|

जहां प्रेम होता है, वहां मन लगता है और जहां श्रद्धा होती है, वहां बुद्धि लगती है| प्रेम में प्रेमास्पद के संग की तथा श्रद्धा में आज्ञा पालन की मुख्यता रहती है|

एक मात्र भगवान् में प्रेम होने से भक्त को भगवान् के साथ नित्य, निरन्तर सम्बन्ध का अनुभव होता है, कभी वियोग का अनुभव नहीं होता| इसलिये भगवान् कहते हैं कि वही उत्तम योगवेत्ता है|

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ।।१२-३।।
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ।।१२-४।।

जो करें साधना रूप अनिर्देश्य अव्यक्त परिज्मन् ।
अक्षर अचिन्त्य कूटस्थ अचल ध्रुव रुप श्री भगवन ।।१२-३।।
कर सकें वह वश इन्द्रियाँ और रखें सम भाव जन ।
रहें रत हित सदा भूजन पा सकें मुझे वह भक्तगन ।।१२-४।।

भावार्थ: *जो अक्षर ,अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वगत, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल और ध्रुव रूप भगवान् की उपासना करते हैं, इन्द्रिय समुदाय को भली भांति नियमित कर लेते हैं, समभाव वाले हैं, प्राणियों के हित में सदा रत रहते हैं, वह भक्त मुझे पा सकते हैं|*

टीका: निर्गुण तत्व की उपासना करने वाले अपने भक्तों को प्रभु निर्देश देते हैं कि वह अपनी इन्द्रियों को पूर्णतः वश में करें| उन्हें किसी अन्य विषय में न जाने दें| इन्द्रियाँ अच्छी प्रकार से पूर्णतः वश में न होने पर निर्गुण तत्व की उपासना में कठिनता होती है| सगुण उपासना में ध्यान का विषय सगुण भगवान् होने से इन्द्रियाँ भगवान् में लग जाती हैं और इस प्रकार भगवान् के सगुण स्वरूप में इन्द्रियों को अपने विषय प्राप्त हो जाते हैं| अतः सगुण उपासना में इन्द्रिय संयम की उतनी अधिक आवश्यकता नहीं है, जितनी निर्गुण उपासना में| निर्गुण उपासना में चिन्तन का कोई आधार न रहने से इन्द्रियों का सम्यक् संयम हुए बिना (आसक्ति रहने पर) विषयों में मन जा सकता है और विषयों का चिन्तन होने से पतन होने की सम्भावना रहती है| अतः निर्गुणोपासक के लिये सभी इन्द्रियों को विषयों से हटाते हुए पूर्णतः वश में करना आवश्यक है| इन्द्रियों को केवल बाहर से ही वश में नहीं करना है, प्रत्युत विषयों के प्रति साधक के अन्तःकरण में भी राग नहीं रहना चाहिए| क्योंकि जब तक विषयों में राग है, तब तक ब्रह्म की प्राप्ति कठिन है|

मन एवं बुद्धि का विषय न होने के कारण 'अचिन्त्य' शब्द निर्गुण निराकार ब्रह्म का वाचक है| मन एवं बुद्धि प्रकृति का कार्य होने से सम्पूर्ण प्रकृति को अपना विषय नहीं बना सकते, इस कारण प्रकृति से अतीत परमात्मा इनका विषय नहीं बन सकता| प्राकृतिक पदार्थ चिन्त्य हैं और परमात्मा प्रकृति से अतीत होने के कारण सम्पूर्ण पदार्थों से भी अतीत, विलक्षण हैं| प्रकृति की सहायता के बिना उनका चिन्तन, वर्णन नहीं किया जा सकता| अतः परमात्मा को स्वयं (करण निरपेक्ष ज्ञान) से ही जाना जा सकता है| प्रकृति के कार्य मन एवं बुद्धि आदि (करण सापेक्ष ज्ञान) से नहीं|

सब देश, काल, वस्तु और व्यक्तियों में परिपूर्ण होने से ब्रह्म 'सर्वत्र' हैं| सर्वव्यापी होने के कारण उन्हें सीमित मन, बुद्धि एवं इन्द्रियों से ग्रहण नहीं किया जा सकता|

जिसे इदंता से नहीं बताया जा सकता अर्थात् जो भाषा, वाणी आदि का विषय नहीं है, वह 'अनिर्देश्य' है| निर्देश (संकेत) उसी का किया जा सकता है, जो जाति, गुण, क्रिया एवं सम्बन्ध से युक्त हो और देश, काल, वस्तु एवं व्यक्ति से परिच्छिन्न हो| परन्तु जो चिन्मय तत्व सर्वत्र परिपूर्ण हो, उसका संकेत जड़ भाषा, वाणी से नहीं किया जा सकता|

'कूटस्थ' शब्द निर्विकार, सदा एकरस रहने वाले सच्चिदानन्द ब्रह्म का वाचक है| सभी देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदि में रहते हुए भी वह तत्व सदा निर्विकार और निर्लिप्त रहता है| उसमें कभी किंचित मात्र भी कोई परिवर्तन नहीं होता, इसलिये वह 'कूटस्थ' है| संसार के भिन्न भिन्न प्राणी पदार्थों की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश होने पर भी परमात्मा सदा ज्यों के त्यों रहते हैं, अतः 'कूटस्थ' हैं|

'अचल' शब्द आने जाने की क्रिया से सर्वथा रहित ब्रह्म का वाचक है| प्रकृति चल है और ब्रह्म अचल है|

जिसकी सत्ता निश्चित (सत्य) और नित्य है, उसको ध्रुव कहते हैं| सच्चिदानन्द ब्रह्म सत्ता रूप से सर्वत्र विद्यमान रहने से 'ध्रुव रूप' हैं|

निर्गुण ब्रह्म के आठों विशेषणों में सबसे महत्वपूर्ण विशेषण 'ध्रुव' है| ब्रह्म के लिये अनिर्देश्य, अचिन्त्य आदि निषेधात्मक विशेषण देने से कोई ऐसा न समझ ले कि वह है ही नहीं, इसलिये यहाँ 'ध्रुव' विशेषण देकर उस तत्व की निश्चित सत्ता बताई गई है| उस तत्व का कभी भी किंचित मात्र अभाव नहीं होता| उसकी सत्ता से ही असत् (संसार) को सत्ता मिलती है|

जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया।।

जिसका कभी क्षरण अर्थात् विनाश नहीं होता तथा जिसमें कभी कोई कमी नहीं आती, वह सच्चिदानन्द ब्रह्म 'अक्षर' हैं|

जो व्यक्त न हो अर्थात् मन, बुद्धि एवं इन्द्रियों का विषय न हो और जिसका कोई रूप या आकार न हो, उसको 'अव्यक्त' कहा गया है|

शरीर सहित सम्पूर्ण पदार्थों और कर्मों में वासना तथा अहं भाव का अभाव तथा भाव रूप सच्चिदानन्द परमात्मा में अभिन्न भाव से नित्य, निरन्तर दृढ़ स्थित रहना ही उपासना करना है|

यहां आठ विशेषणों से जिस विशेष वस्तु तत्व का लक्ष्य कराया गया है वह बुद्धि विशिष्ट ब्रह्म का ही स्वरूप है, जो कि पूर्ण नहीं है| क्योंकि (लक्षण और विशेषणों से रहित) निर्गुण निर्विशेष ब्रह्म का स्वरूप (जो बुद्धि से अतीत है) किसी भी प्रकार से पूर्णतया बुद्धि आदि का विषय नहीं हो सकता| इन विशेषणों का लक्ष्य रखकर जो उपासना की जाती है, वह निर्गुण ब्रह्म की ही उपासना है और इसके परिणाम में प्राप्ति भी निर्गुण ब्रह्म की ही होती है|

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ।।१२-५।।

हुए आसक्त जो अव्यक्त रुप होता कष्ट अति साधन |
है गति कठिन अव्यक्त की समझ सके तनधारी जन ||१२-५||

भावार्थ: *अव्यक्त रूप में आसक्त होने वालों को साधना में क्लेश अधिक होता है, क्योंकि देहधारियों को अव्यक्त की गति समझना कठिन है|*

टीका: अव्यक्त में आसक्त हुए साधकगणों को साधना में अत्यंत क्लेश का सामना करना पड़ता है| तत्व में आविष्ट होने के लिये साधक में तीन बातों की आवश्यकता होती है, रुचि, विश्वास और योग्यता| शास्त्रों और गुरुजनों के द्वारा निर्गुण तत्व की महिमा सुनने से उनमें कुछ रुचि तो पैदा हो जाती है और वह विश्वास पूर्वक साधना आरम्भ भी कर देते हैं, परन्तु वैराग्य की कमी और देहाभिमान के कारण उनमें तत्व में प्रविष्ट करने की योग्यता नहीं आ पाती| इसका तात्पर्य यह है कि इन साधकों की आसक्ति तो देह में होती है पर अव्यक्त की महिमा सुनकर वह निर्गुणोपासना को ही श्रेष्ठ मानकर उसमें आसक्त हो जाते हैं| आसक्ति देह में है, अव्यक्त में नहीं|

गौण रूप से साधना की प्रारम्भिक अवस्था से लेकर अन्तिम अवस्था तक के सभी निर्गुण उपासकों को सगुण उपासकों से अधिक कठिनाई होती है| प्रभु सगुण उपासना को सुगम बताते हैं| इसका कारण है कि सगुण उपासना में उपास्य तत्व के सगुण (साकार) होने के कारण साधक के मन, इन्द्रियों में भगवान् के स्वरूप, नाम, लीला, कथा आदि का आधार रहता है| भगवान् के परायण होने से उनके मन, इन्द्रियाँ भगवान् के स्वरूप एवं लीलाओं के चिन्तन, कथा श्रवण, भगवत् सेवा और पूजन में अपेक्षाकृत सरलता से लग जाते हैं| इसलिये उनके द्वारा सांसारिक विषय चिन्तन की सम्भावना कम रहती है| सांसारिक आसक्ति ही साधना में क्लेश देती है| परन्तु सगुणोपासक इसको दूर करने के लिये भगवान् के ही आश्रित रहता है। वह अपने में भगवान् का ही बल मानता है| उसकी सांसारिक आसक्ति सुगमता से मिट जाती है|

सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा । भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा ।।
करउँ सदा तिन कै रखवारी । जिमि बालक राखइ महतारी ।।

सगुण उपासकों के अज्ञान रूप अन्धकार को भगवान् ही मिटा देते हैं| उनका उद्धार भगवान् करते हैं| ऐसे उपासकों में यदि कोई सूक्ष्म दोष रह जाता है तो

(भगवान् पर निर्भर होने से) सर्वज्ञ भगवान् कृपा करके उसको दूर कर देते हैं| ऐसे उपासकों की उपासना भगवान् की ही उपासना है| भगवान् सदा सर्वदा पूर्ण हैं, अतः भगवान् की पूर्णता में किंचित मात्र भी संदेह न रहने के कारण उनमें सुगमता से श्रद्धा हो जाती है| श्रद्धा होने से वह नित्य, निरन्तर भगवत् परायण हो जाते हैं| अतः भगवान् ही उन उपासकों को बुद्धि योग प्रदान करते हैं, जिससे उन्हें भगवत् प्राप्ति हो जाती है| ऐसे उपासक भगवान् को परम कृपालु मानते हैं| अतः उनकी कृपा के आश्रय से वह सब कठिनाइयों को पार कर जाते हैं| यही कारण है कि उनका साधन सुगम हो जाता है और भगवत् कृपा के बल से वह शीघ्र ही भगवत् प्राप्ति कर लेते हैं| मनुष्य में कर्म करने का अभ्यास तो रहता ही है, इसलिये भक्त को अपने कर्म भगवान् के प्रति करने में केवल भाव ही बदलना पड़ता है, कर्म तो वह करते ही रहते हैं| अतः भगवान् के लिये कर्म करने से भक्त कर्म बन्धन से सुगमता पूर्वक मुक्त हो जाता है| हृदय में पदार्थों का आदर रहते हुए भी यदि वह प्राणियों की सेवा में लग जाते हैं तो उन्हें पदार्थों का त्याग करने में कठिनाई नहीं होती| सत्पात्रों के लिये पदार्थों के त्याग में तो और भी सुगमता है| फिर भगवान् के लिये तो पदार्थों का त्याग बहुत ही सुगमता से हो सकता है|

इस साधना में विवेक और वैराग्य की उतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी प्रेम और विश्वास की है| जैसे कौरवों की सभा में द्रौपदी के पुकारने मात्र से भगवान् प्रकट हो जाते थे क्योंकि वह भगवान् को अपना मानती थीं| भगवान् तो अपने साथ भक्त के प्रेम और विश्वास को ही देखते हैं, उसके दोषों को नहीं| भगवान् के साथ अपनापन का सम्बन्ध जोड़ना उतना कठिन नहीं (क्योंकि भगवान् की ओर से अपनापन स्वतः सिद्ध है), जितना कि पात्र बनना कठिन है|

निर्गुण उपासना में उपास्य तत्व के निर्गुण निराकार होने के कारण साधक के मन, इन्द्रियों के लिये कोई आधार नहीं रहता| आधार न होने तथा वैराग्य की कमी के कारण इन्द्रियों के द्वारा विषय चिन्तन की अधिक सम्भावना रहती है| देह में जितनी अधिक आसक्ति होती है, साधन में उतना ही अधिक क्लेश होता है| निर्गुणोपासक उसे विवेक के द्वारा हटाने की चेष्टा करता है| विवेक का आश्रय लेकर साधना करते हुए वह अपने ही साधना बल को महत्व देता है|

मोरें प्रौढ़ तनय सम ग्यानी। बालक सुत सम दास अमानी।।

निर्गुण उपासक तत्व ज्ञान की प्राप्ति स्वयं करते हैं| वह अपना उद्धार (निर्गुण तत्व की प्राप्ति) स्वयं करते हैं| ऐसे उपासकों में यदि कोई कमी रह जाती है तो उस कमी का अनुभव उनको विलम्ब से होता है और कमी को ठीक से पहचानने में कठिनाई होती है| ज्ञान योगियों को ज्ञान प्राप्ति के लिये प्रभु ने गुरु की उपासना की आज्ञा दी है| अतः निर्गुण उपासना में गुरु की आवश्यकता है| गुरु की पूर्णता का निश्चित पता न होने पर अथवा गुरु के पूर्ण न होने पर स्थिर श्रद्धा होने में कठिनाई होती है तथा साधना की सफलता में भी विलम्ब की सम्भावना रहती है| ऐसे उपासक उपास्य-तत्व को निर्गुण, निराकार और उदासीन मानते हैं| अतः उन्हें भगवान् की कृपा का वैसा अनुभव नहीं होता जैसा सगुण उपासक को| वह तत्व प्राप्ति में आने वाले विघ्नों को अपनी साधना के बल पर दूर करने में कठिनाई का अनुभव करते हैं| फल स्वरूप तत्व की प्राप्ति में भी उन्हें विलम्ब होता है| ज्ञानयोगी अपनी क्रियाओँ को सिद्धान्त रूप में प्रकृति के अर्पण करता है, किन्तु पूर्ण विवेक जाग्रत् होने पर ही उसकी क्रियाएँ प्रकृति के अर्पण हो सकती हैं| यदि विवेक की किंचित मात्र भी कमी रही तो क्रियाएँ प्रकृति के अर्पण नहीं होंगी और साधक कर्तृत्वाभिमान रहने से कर्म बन्धन में बँध जाएगा| जब तक साधक के चित्त में पदार्थों का किंचित मात्र भी आदर तथा अपने कहलाने वाले शरीर और नाम में अहंता, ममता है, तब तक उसके लिये पदार्थों को मायामय समझकर उनका त्याग करना कठिन होता है| यह साधक पात्र बनने पर ही तत्व को प्राप्त कर सकेगा| पात्र बनने के लिये विवेक और तीव्र वैराग्य की आवश्यकता होगी, जिनको आसक्ति रहते हुए प्राप्त करना कठिन है|

निर्गुण उपासना करने वाले निर्गुण उपासना को श्रेष्ठ तो मानते हैं, परन्तु उनका चित्त देहाभिमान के कारण निर्गुण तत्व में आविष्ट नहीं हो पाता अतः देहाभिमान के कारण उन्हें साधना में अधिक क्लेश होता है| निर्गुण उपासना में देहाभिमान ही मुख्य बाधा है, 'देहाभिमानिनि सर्वे दोषाः प्रादुर्भवन्ति'| इस बाधा की ओर ध्यान दिलाने के लिये ही भगवान् ने देहाभिमान को दूर करने के लिये कहा है|

साधारण मनुष्यों की स्थिति व्यक्त अर्थात् देह में होती है। इसलिये उन्हें अव्यक्त में स्थित होने में कठिनाई का अनुभव होता है|

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ।।१२-६।।
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ।।१२-७।।

हों मेरे परायण कर अर्पण समस्त कर्म जो भक्त जन |
कर ध्यान अनन्य योग जो करें सदैव मेरा ही भजन ||१२-६||
हुआ जिन साधक चित्त स्थिर मुझ में हे पृथानंदन |
काल सम भव सागर से करूँ उद्धार तुरंत ऐसे जन ||१२-७||

भावार्थ: *जो भक्तजन मेरे परायण होकर सब कर्मों को मुझे अर्पण करके अनन्य योग के द्वारा मेरा ही भजन करते हैं, जिन साधक का मन मुझ में स्थिर हो गया है, हे अर्जुन, ऐसे प्राणियों को तुरंत मृत्यु सम भवसागर से उद्धार कर देता हूँ|*

टीका: कर्म बन्धन से मुक्त होने के लिये यह आवश्यक है कि साधक कर्मों में ममता, आसक्ति और फलेच्छा का त्याग कर कर्मों को प्रभु को अर्पण करे| ममता, आसक्ति और फलेच्छा से किए गए कर्म ही बाँधने वाले होते हैं| यदि साधक का लक्ष्य भगवत् प्राप्ति का होता है तो वह पदार्थों की इच्छा नहीं करता और अपने आपको भगवान् का समझने के कारण उसकी ममता शरीरादि से हटकर एक भगवान् में ही हो जाती है| स्वयं भगवान् के अर्पित होने से उसके सम्पूर्ण कर्म भी भगवद अर्पित हो जाते हैं|

भगवान् को अर्पण किए कर्म करने के विषय में गीता में मदर्पण कर्म, मदर्थ कर्म और मत्कर्म नाम की चर्चा की गई है|

१. मदर्पण कर्म उन कर्मों को कहते हैं, जिनका उद्देश्य पहले कुछ और हो किन्तु कर्म करते समय अथवा कर्म करने के बाद उनको भगवान् के अर्पण कर दिया जाए|

२. मदर्थ कर्म वह कर्म हैं, जो आरम्भ से ही भगवान् को अर्पित कर किए जाएं अथवा जो भगवत् सेवा स्वरुप हैं| भगवत् प्राप्ति के लिये कर्म करना, भगवान् की आज्ञा मानकर कर्म करना, और भगवान् की प्रसन्नता के लिये कर्म करना, यह सभी मदर्थ कर्म हैं|

३. भगवान् का ही काम समझकर सम्पूर्ण लौकिक (व्यापार, नौकरी आदि) और भगवत् सम्बन्धी (जप, ध्यान आदि) कर्मों को करना मत्कर्म है|

वास्तव में कर्म कैसे भी किए जाएं, उनका उद्देश्य एक मात्र भगवत् प्राप्ति ही होना चाहिए|

उपर्युक्त तीनों ही प्रकारों (मदर्पण कर्म, मदर्थ कर्म, मत्कर्म) से सिद्धि प्राप्त करने वाले साधक का कर्मों से किंचित मात्र भी सम्बन्ध नहीं रहता क्योंकि उसमें न तो फलेच्छा और कर्तृत्वाभिमान है और न पदार्थों में और शरीर, मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों में ममता है| जब कर्म करने के साधन शरीर, मन, बुद्धि आदि अपने नहीं हैं, तो फिर कर्मों में ममता नहीं हो सकती| इस प्रकार कर्मों से सर्वथा मुक्त हो जाना ही वास्तविक समर्पण है| सिद्ध पुरुषों की क्रियाओं का स्वतः ही समर्पण होता है और साधक पूर्ण समर्पण का उद्देश्य रखकर वैसे ही कर्म करने की चेष्टा करता है|

जैसे भक्तियोगी अपनी क्रियाओं को भगवान् के अर्पण कर कर्म बन्धन से मुक्त हो जाता है, ऐसे ही ज्ञानयोगी क्रियाओं को प्रकृति से हुई समझकर अपने को उनसे सर्वथा असंग और निर्लिप्त अनुभव करके कर्म बन्धन से मुक्त हो जाता है|

भगवान् को परम पूज्य और सर्वश्रेष्ठ समझकर भगवान् के प्रति सम्पूर्ण समर्पण भाव रखना चाहिए| सर्वथा भगवान् के परायण होने से सगुण उपासक अपने आपको भगवान् का यन्त्र समझता है| अतः शुभ क्रियाओं को वह भगवान् के द्वारा करवाई हुई मानता है, तथा संसार का उद्देश्य न रहने के कारण उसमें भोगों की कामना नहीं रहती और कामना न रहने के कारण उससे अशुभ क्रियाएँ नहीं होतीं|

स्मरण रहे कि भक्तों के इष्ट केवल भगवान् हैं, उनके अतिरिक्त अन्य कोई साध्य उनकी दृष्टि में नहीं होता| उनकी प्राप्ति के लिये आश्रय भी उन्हीं का है| वह भगवत् कृपा से ही साधन की सिद्धि मानते हैं, अपने पुरुषार्थ या साधन के बल से नहीं| वह उपाय भी भगवान् को मानते हैं और उपेय भी| वह एक भगवान् का ही लक्ष्य, ध्येय रखकर उपासना अर्थात् जप, ध्यान, कीर्तन आदि करते हैं|

जिन साधकों का लक्ष्य, उद्देश्य, ध्येय भगवान् ही है, जिन्होंने भगवान् में ही अनन्य प्रेम पूर्वक अपने चित्त को लगा दिया है, वह भगवान् के अति प्रिय हैं| जैसे समुद्र में जल ही जल होता है, ऐसे ही संसार में मृत्यु ही मृत्यु है| संसार में उत्पन्न होने वाली कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो कभी क्षण भर के लिये भी मृत्यु के थपेड़ों से बचती हो, अर्थात् उत्पन्न होने वाली प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण विनाश की ओर ही जा रही है| इसलिये संसार को 'मृत्यु संसार सागर' कहा गया है|

मनुष्य में अनुकूल और प्रतिकूल, दोनों वृत्तियाँ रहती हैं| संसार की घटना, परिस्थिति तथा प्राणी पदार्थों में अनुकूल, प्रतिकूल वृत्तियाँ राग, द्वेष उत्पन्न करके मनुष्य को संसार में बाँध देती हैं| ऐसा अनुभव किया गया है कि साधक भी सम्प्रदाय विशेष और संत विशेष में अनुकूल, प्रतिकूल भावना रख राग, द्वेष के शिकार हो जाते हैं, जिससे वह संसार समुद्र से शीघ्र पार नहीं हो पाते| इसका कारण है कि तत्व को चाहने वाले साधक के लिये सम्प्रदायिकता का पक्षपात बहुत बाधक है| सम्प्रदाय का मोह पूर्वक आग्रह मनुष्य को बाँधता है| इसलिये भगवान् ने इन द्वन्द्वों (राग और द्वेष) से छूटने के लिये विशेष निर्देश दिया है|

यदि साधक भक्त अपनी सारी अनुकूलताएं भगवान् में कर ले अर्थात् एक मात्र भगवान् से ही अनन्य प्रेम का सम्बन्ध जोड़ ले और सारी प्रतिकूलताएं संसार में कर ले अर्थात् संसार की सेवा करके अनुकूलता की इच्छा से विमुख हो जाए तो वह इस संसार बन्धन से शीघ्र मुक्त हो सकता है| संसार में अनुकूल और प्रतिकूल वृत्तियों का होना ही संसार में बँधना है|

भगवान् का यह सामान्य नियम है कि जो जिस भाव से उनकी शरण लेता है, उसी भाव से भगवान् भी उसको आश्रय देते हैं, 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'| प्रभु कहते हैं कि यद्यपि मैं सब में सम भाव से स्थित हूँ, 'समोऽहं सर्वभूतेषु', तथापि जिनको एक मात्र प्रिय मैं हूँ, जो मेरे लिये ही सम्पूर्ण कर्म करते हैं और मेरे परायण होकर नित्य, निरन्तर मेरे ही ध्यान, जप, चिन्तन आदि में लगे रहते हैं, ऐसे भक्तों का मैं स्वयं मृत्यु संसार सागर से तुरंत उद्धार कर देता हूँ|

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ।।१२-८।।

कर प्रविष्ट बुद्धि मुझ में करो चित्त स्थिर अर्जुन |
करोगे निवास मुझ में ही तब निःसंदेह युद्धिवन ||१२-८||

भावार्थ: *हे योद्धा अर्जुन, मुझ में बुद्धि को प्रविष्ट कर चित्त को स्थिर करो, तदुपरान्त तुम मुझ में ही निवास करोगे, इसमें कोई संशय नहीं है|*

टीका: प्रभु कहते हैं कि वह ही पुरुष उत्तम योगवेत्ता हैं, जिन्हें भगवान् के साथ अपने नित्य योग का अनुभव हो गया है| सभी साधकों को उत्तम योगवेत्ता बनाने के उद्देश्य से भगवान् अर्जुन को निमित्त बनाकर यह आज्ञा देते हैं कि मुझ परमेश्वर को ही परम श्रेष्ठ मानकर बुद्धि को मुझ में लगा दो और मुझ को ही अपना परम प्रियतम मानकर मन को मुझ में ही लगा दो|

भगवान् में हमारी स्वतः सिद्ध स्थिति (नित्य योग) है, परन्तु भगवान् में मन, बुद्धि के न लगने के कारण हमें भगवान् के साथ अपने स्वतः सिद्ध नित्य सम्बन्ध का अनुभव नहीं होता| इसलिये भगवान् कहते हैं कि मन, बुद्धि को मुझ में लगा दो, फिर तुम मुझ में ही निवास करोगे, इस में कोई संशय नहीं है|

मन, बुद्धि लगाने का तात्पर्य यह है कि अब तक मनुष्य जिस मन से जड़ संसार में ममता, आसक्ति, सुख भोग की इच्छा, आशा आदि के कारण बार बार संसार का ही चिन्तन करता रहा है और बुद्धि से संसार में ही अच्छे बुरे का निश्चय करता रहा है, उस मन को संसार से हटाकर भगवान् में लगाए तथा बुद्धि के द्वारा दृढ़ता से निश्चय करे कि 'मैं केवल भगवान् का हूँ और भगवान् केवल मेरे हैं| मेरे लिये सर्वोपरि, परम, श्रेष्ठ भगवान् ही हैं|' ऐसा दृढ़ निश्चय करने से संसार का चिन्तन और महत्व समाप्त हो जाएगा और एक भगवान् के साथ ही सम्बन्ध रह जाएगा| यही मन, बुद्धि का भगवान् में लगाना है| मन, बुद्धि लगाने में भी बुद्धि का लगाना मुख्य है| किसी विषय में पहले बुद्धि का ही निश्चय होता है और फिर बुद्धि के उस निश्चय को मन स्वीकार कर लेता है| साधना करने में भी पहले (उद्देश्य बनाने में) बुद्धि की प्रधानता होती है, फिर मन की प्रधानता होती है| जिन पुरुषों का लक्ष्य भगवत् प्राप्ति नहीं है, उनके मन, बुद्धि भी, वह जिस विषय में लगाना चाहेंगे उस विषय में लग सकते हैं| उस विषय में मन, बुद्धि लग जाने पर उन्हें सिद्धियाँ तो प्राप्त हो सकती हैं, पर (भगवत् प्राप्ति का उद्देश्य न होने से) भगवत् प्राप्ति नहीं हो सकती|।अतः साधक को चाहिए कि बुद्धि से यह दृढ़ निश्चय कर ले कि मुझे भगवत् प्राप्ति ही करनी है| इस निश्चय में बड़ी शक्ति है| ऐसी निश्चयात्मिक बुद्धि होने में सबसे बड़ी बाधा है, भोग और संग्रह का सुख लेना| सुख की आशा से ही मनुष्य की वृत्तियाँ, धन, मान-सम्मान आदि पाने का उद्देश्य बनाती हैं, इसलिये उसकी बुद्धि बहुत भेदों वाली तथा अनन्त हो जाती है| परन्तु अगर भगवत् प्राप्ति का ही एक निश्चय हो, तो इस निश्चय में इतनी पवित्रता और शक्ति है कि दुराचारी पुरुष को भी भगवान् साधु मानने के लिये तत्पर हो जाते हैं| इस निश्चय मात्र के प्रभाव से वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहने वाली परम शान्तिः प्राप्त कर लेता है|

साधारणतः 'मैं भगवान् का हूँ और भगवान् मेरे हैं', ऐसा निश्चय (साधक की दृष्टि में) बुद्धि में हुआ प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है| बुद्धि में ऐसा निश्चय दिखने पर भी साधक को इस बात का पता नहीं होता कि वह स्वयं पहले से ही भगवान् में स्थित है| वह चाहे इस बात को न भी जाने, पर वास्तविकता यही है| स्वयं भगवान् में स्थित होने की पहचान यही है कि इस सम्बन्ध की कभी विस्मृति नहीं होती| अगर यह केवल बुद्धि की बात हो, तो भूली भी जा सकती है, पर 'मैंपन' की बात को साधक कभी नहीं भूलता| जैसे 'मैं विवाहित हूँ' यह 'मैंपन' का निश्चय है, बुद्धि का नहीं| इसलिये मनुष्य इस बात को कभी नहीं भूलता| अगर कोई यह निश्चय कर ले कि मैं अमुक गुरु का शिष्य हूँ, तो इस सम्बन्ध के लिये कोई अभ्यास न करने पर भी यह निश्चय उसके भीतर अटल रहता है| स्मृति में तो स्मृति रहती ही है, विस्मृति में भी सम्बन्ध की स्मृति का अभाव नहीं होता, क्योंकि सम्बन्ध का निश्चय 'मैंपन' में है| इस प्रकार संसार से माना हुआ सम्बन्ध भी जब स्मृति और विस्मृति दोनों अवस्थाओं में अटल रहता है, तब भगवान् के साथ जो सदा से ही नित्य सम्बन्ध है, उसकी विस्मृति नहीं हो सकती| अतः 'मैं भगवान् का हूँ और भगवान् मेरे हैं', इस प्रकार 'मैंपन' (स्वयं) के भगवान् में लग जाने से मन, बुद्धि भी स्वतः भगवान् में लग जाते हैं| मन, बुद्धि में अन्तःकरण चतुष्टय का अन्तर्भाव है| मन के अन्तर्गत चित्त का और बुद्धि के अन्तर्गत अहंकार का अन्तर्भाव है| मन, बुद्धि भगवान् में लगने से अहंकार का आधार 'स्वयं' भगवान् में लग जाएगा और परिणाम स्वरूप 'मैं भगवान् का हूँ और भगवान् मेरे हैं', ऐसा भाव आ जाएगा| इस भाव से निर्विकल्प स्थिति होने से 'मैंपन' भगवान् में लीन हो जाएगा|

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ।।१२-९।।

हो नहीं समर्थ यदि तुम कर सको स्थिर मुझ में मन |
करो यत्न पा सको मुझे अभ्यास योग से हे अर्जुन ||१२-९||

भावार्थ: *हे अर्जुन, यदि तुम अपने मन को मुझ में स्थिर करने में समर्थ नहीं हो, तो अभ्यास योग के द्वारा मुझे प्राप्त करने का प्रयत्न करो|*

टीका: भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि अगर तुम मन, बुद्धि को मुझ में अचल भाव से स्थापित करने में अर्थात् अर्पण करने में अपने को असमर्थ मानते हो, तो अभ्यास योग के द्वारा मुझे प्राप्त करने का प्रयत्न करो|

स्मरण रहे कि 'अभ्यास' और 'अभ्यास योग' पृथक् हैं| किसी लक्ष्य पर चित्त को बार बार लगाने का नाम 'अभ्यास' है, और समता का नाम 'योग' है| समता रखते हुए अभ्यास करना ही 'अभ्यास योग' कहलाता है| केवल भगवत् प्राप्ति के उद्देश्य से किया गया भजन, नाम, जप आदि 'अभ्यास योग' है|

अभ्यास के साथ योग का संयोग न होने से साधक का उद्देश्य संसार ही रहेगा| संसार का उद्देश्य होने पर स्त्री-पुत्र, धन-सम्पत्ति, मान-सम्मान, निरोगता, अनूकूलता आदि की अनेक कामनाएँ उत्पन्न होंगी| कामना वाले पुरुष की क्रियाओं के उद्देश्य भी (कभी पुत्र, कभी धन, कभी मान आदि) भिन्न भिन्न रहेंगे| इसलिये ऐसे पुरुष की क्रिया में योग नहीं होगा| योग तभी होगा, जब क्रिया का उद्देश्य (ध्येय) केवल परमात्मा ही हो|

साधक जब भगवत् प्राप्ति का उद्देश्य रखकर बार बार नाम, जप आदि करने की चेष्टा करता है, तब उसके मन में दूसरे अनेक संकल्प भी पैदा हो सकते हैं, परन्तु साधक को 'मेरा ध्येय भगवत् प्राप्ति ही है', इस प्रकार की दृढ़ धारणा करके अन्य सब संकल्पों से उपराम हो जाना चाहिए| यहां भगवान् 'अभ्यास योग' को अपनी प्राप्ति का स्वतन्त्र साधन बताते हैं|

पहले भगवान् ने अपने में मन, बुद्धि अर्पण करने के लिये कहा| अब यहां अभ्यास योग से अपनी प्राप्ति के लिये कहते हैं| इससे यह धारणा हो सकती है कि अभ्यास योग भगवान् में मन, बुद्धि अर्पण करने का साधन है, अतः पहले अभ्यास के द्वारा मन, बुद्धि भगवान् के अर्पण होंगे, फिर भगवान् की प्राप्ति होगी| परन्तु मन, बुद्धि को अर्पण करने से ही भगवत् प्राप्ति होती हो, ऐसा नियम नहीं है| भगवान् के कथन का तात्पर्य है कि यदि उद्देश्य भगवत् प्राप्ति ही हो, अर्थात् उद्देश्य के साथ साधक की पूर्ण एकता हो तो केवल अभ्यास से ही उसे भगवत् प्राप्ति हो जाएगी|

जब साधक भगवत् प्राप्ति के उद्देश्य से बार बार नाम-जप, भजन-कीर्तन, श्रवण आदि का अभ्यास करता है, तब उसका अन्तःकरण शुद्ध होने लगता है और भगवत् प्राप्ति की इच्छा जाग्रत् हो जाती है| सांसारिक सिद्ध, असिद्धि में सम होने पर भगवत् प्राप्ति की इच्छा तीव्र हो जाती है| भगवत् प्राप्ति की तीव्र इच्छा होने पर भगवान् से मिलने के लिये व्याकुलता पैदा हो जाती है| यह व्याकुलता उसकी सांसारिक आसक्ति एवं अनन्त जन्मों के पापों को जला डालती है| सांसारिक आसक्ति तथा पापों का नाश होने पर उसका एक मात्र भगवान् में ही अनन्य प्रेम हो जाता है और वह भगवान् के वियोग को सहन नहीं कर पाता| जब भक्त भगवान् के बिना नहीं रह सकता, तब भगवान् भी उस भक्त के बिना नहीं रह सकते, अर्थात् भगवान् भी उसके वियोग को नहीं सह सकते और उस भक्त को मिल जाते हैं| साधक को भगवत् प्राप्ति में देरी होने का कारण यही है कि वह भगवान् के वियोग को सहन कर रहा है| यदि उसको भगवान् का वियोग असह्य हो जा तो भगवान् के मिलने में देरी नहीं होगी। भगवान की देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदि से दूरी नहीं है| जहां साधक है, वहां भगवान् हैं| भक्त में उत्कण्ठा की कमी के कारण ही भगवत् प्राप्ति में देरी होती है| सांसारिक सुख भोग की इच्छा के कारण ही ऐसी आशा होती है कि भगवत् प्राप्ति भविष्य में होगी| जब भगवत् प्राप्ति के लिये व्याकुलता और तीव्र उत्कण्ठा होगी, तब सुख, भोग की इच्छा का स्वतः नाश हो जाएगा और वर्तमान में ही भगवत् प्राप्ति हो जाएगी| साधक का यदि आरम्भ से ही यह दृढ़ निश्चय हो कि मुझे तो केवल भगवत् प्राप्ति ही करनी है (चाहे लौकिक दृष्टि से कुछ भी बने या बिगड़े) तो कर्मयोग, ज्ञानयोग या भक्तियोग, किसी भी मार्ग से उसे बहुत शीघ्र भगवत् प्राप्ति हो सकती है|

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ।।१२-१०।।

यदि न संभव अभ्यास योग करो कर्म हो मेरे परायन |
पाओगे सिद्धि निःसंशय करो जब कर्म मुझे अर्पन ||१२-१०||

भावार्थ: *यदि तुम अभ्यास योग करने में असमर्थ हो तो मेरे परायण हो कर कर्म करो| मुझे अर्पण करते हुए कर्मों को करने से निःसंदेह सिद्धि को प्राप्त करोगे|*

टीका: भगवान् कहते हैं कि अगर तुम अभ्यास योग का साधन करने में असमर्थ हो तो अपने सम्पूर्ण कर्म मेरे परायण हो कर करो| इसका तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण कर्मों (वर्णाश्रम धर्मानुसार) जैसे शरीर निर्वाह और आजीविका सम्बन्धी लौकिक एवं भजन, ध्यान, नाम, जप आदि पारमार्थिक, का उद्देश्य सांसारिक भोग और संग्रह न होकर एक मात्र भगवत् प्राप्ति ही हो| जो कर्म भगवत् प्राप्ति के लिये भगवद आज्ञानुसार किए जाते हैं, उनको 'मत्कर्म' कहते हैं| जो साधक इस प्रकार कर्मों के परायण हैं, वह 'मत्कर्मपरम' कहे जाते हैं| साधक का अपना सम्बन्ध भी भगवान् से हो और कर्मों का सम्बन्ध भी भगवान् के साथ रहे, तभी मत्कर्म परायणता सिद्ध होगी, और भगवत प्राप्ति होगी|

साधक का ध्येय जब संसार (भोग और संग्रह) में नहीं रहेगा, तब निषिद्ध क्रियाएँ सर्वथा छूट जाएंगी| निषिद्ध क्रियाओं के अनुष्ठान में संसार की 'कामना' ही हेतु है| अतः भगवत् प्राप्ति का ही उद्देश्य होने से साधक की सम्पूर्ण क्रियाएँ शास्त्र विहित और भगवदर्थ ही होंगी|

जिस प्रकार भगवान् ने पहले मन, बुद्धि अपने में अर्पण करने तथा अभ्यास योग के साधन को अपनी प्राप्ति का स्वतन्त्र साधन बताया है, उसी प्रकार यहाँ भगवान् उनमें कर्म करने के परायण को भी अपनी प्राप्ति का स्वतन्त्र साधन बता रहे हैं|

जैसे धन प्राप्ति के लिये व्यापार आदि कर्म करने वाले मनुष्य को ज्यों ज्यों धन प्राप्त होता है, त्यों त्यों उसके मन में धन का लोभ और कर्म करने का उत्साह बढ़ता है, ऐसे ही साधक जब भगवान् के लिये ही सम्पूर्ण कर्म करता है, तब उसके मन में भी भगवत् प्राप्ति की उत्कण्ठा और साधन करने का उत्साह बढ़ता रहता है| उत्कण्ठा तीव्र होने पर जब उसको भगवान् का वियोग असह्य हो जाता है, तब सर्वत्र परिपूर्ण भगवान् उससे छिपे नहीं रहते| भगवान् अपनी

कृपा से उसको अपनी प्राप्ति करा देते हैं| यदि साधक का उद्देश्य भगवत् प्राप्ति ही है और सम्पूर्ण क्रियाएँ वह भगवान् के लिये ही करता है तो इसका अभिप्राय यह है कि उसने अपनी सारी समझ, सामग्री, सामर्थ्य और समय भगवत् प्राप्ति के लिये ही लगा दी| भगवान् साधक से इससे अधिक अपेक्षा भी नहीं रखते और उसे अपनी प्राप्ति करा देते हैं| इसका कारण यह है कि भगवान् किसी साधन विशेष से खरीदे नहीं जा सकते| भगवान् के महत्व के सामने सृष्टि का महत्व कुछ नहीं है, फिर एक व्यक्ति के द्वारा अर्पित सीमित सामग्री और साधन से उनका मूल्य कैसे चुकाया जा सकता है? अतः अपनी प्राप्ति के लिये भगवान् साधक से इतनी ही अपेक्षा रखते हैं कि वह अपनी पूर्ण योग्यता, सामर्थ्य आदि को उनकी प्राप्ति में लगा दे, अर्थात् अपने पास बचाकर कुछ न रखे और इन योग्यता, सामर्थ्य आदि को अपना भी न समझे|

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ।।१२-११।।

हो असमर्थ यदि कर सको कोई एक कथित साधन |
आत्म संयम से योग द्वारा करो तुम त्याग फल करन ||१२-११||

भावार्थ: *यदि एक भी कथित साधन करने में असमर्थ हो, तो तुम आत्म संयम से योग द्वारा कर्मों के फल का त्याग करो|*

टीका: पहले भगवान् ने अपने लिये ही सम्पूर्ण कर्म करने से अपनी प्राप्ति बताई और अब यहां वह सम्पूर्ण कर्मों के फल त्याग रूप साधन की बात कह रहे हैं| वहां भगवान् के लिये समस्त कर्म करने में भक्ति की प्रधानता होने से उसे 'भक्तियोग' कहेंगे और यहाँ सर्व कर्म फल त्याग में केवल फल त्याग की मुख्यता होने से इसे 'कर्मयोग' कहेंगे| इस प्रकार भगवत् प्राप्ति के ये दोनों ही स्वतन्त्र साधन हैं|

भगवान् ने यहां आत्म संयम की विशेष आवश्यकता बताई है जो कर्मयोग प्रधान है| आत्म संयम के बिना सर्व कर्म फल त्याग होना असम्भव है|

जिसका भगवान पर विश्वास नहीं है, पर भगवान् के विधान में अर्थात् देश समाज की सेवा आदि करने में विश्वास है, उसके लिये भगवान् यहां इस सर्व कर्म फल त्याग रूप साधन को अपनी प्राप्ति कराने का मार्ग बता रहे हैं| इसका तात्पर्य है कि यदि सम्पूर्ण कर्मों को प्रभु को अर्पण न कर सके, तो कम से कम फल की इच्छा त्याग दे, 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'| फल की इच्छा का त्याग करके कर्तव्य कर्म करने से उसका संसार से सम्बन्ध विच्छेद हो जाएगा|

कर्मयोग के साधन में स्वाभाविक ही कर्मों का विस्तार होता है, क्योंकि योग की प्राप्ति में अनासक्त भाव से कर्म करना ही हेतु कहा गया है| इससे कर्मों में फलासक्ति होने के कारण बँधने का भय रहता है| अतः यहां भगवान् कर्म फल त्याग के साधन में मन, इन्द्रियों आदि के संयम की आवश्यकता बताते हैं| यह ध्यान देने की बात है कि मन, इन्द्रियों का संयम होने पर कर्म फल त्याग में भी सुगमता होती है| अगर साधक मन, बुद्धि, इन्द्रियों आदि का संयम नहीं करता, तो स्वाभाविक ही उसके मन द्वारा विषयों का चिन्तन होगा और उसकी उन विषयों में आसक्ति हो जाएगी| इससे उसका पतन होने की सम्भावना रहेगी| त्याग का उद्देश्य होने से साधक मन, इन्द्रियों का संयम सुगमता से कर सकता है| सर्व कर्म फल त्याग का अभिप्राय स्वरूप से कर्म फल का त्याग न होकर कर्म फल में ममता, आसक्ति, कामना, वासना आदि का त्याग है|

कर्म फल त्याग के साधन में कर्मों का स्वरूप से त्याग करने की बात नहीं कही गई, क्योंकि कर्म करना तो आवश्यक है| प्रभु केवल कर्मों और उनके फलों में ममता, आसक्ति, कामना आदि के त्याग की बात कर रहे हैं|

कर्मयोग के साधक को अकर्मण्य नहीं होना चाहिए| कर्म फल त्याग की बात सुनकर प्रायः साधक सोचता है कि जब कुछ लेना देना ही नहीं है, तो फिर कर्मों को करने की आवश्यकता क्या है? इसलिये भगवान् ने कर्मयोग की बात कहते हुए, 'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि', तेरी कर्म न करने में आसक्ति न हो', यह कहकर साधक के लिये अकर्मण्यता (कर्म के त्याग) का निषेध किया है|

भगवान् ने पहले सात्त्विक त्याग के लक्षण बताते हुए कर्मों में फलासक्ति के त्याग को ही 'सात्त्विक' त्याग कहा है, न कि स्वरूप से कर्मों के त्याग को| फलासक्ति का त्याग करके क्रियाओं को करते रहने से क्रियाओं को करने का वेग शान्त हो जाता है और आसक्ति मिट जाती है| फल की इच्छा न रहने से कर्मों से सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है और आसक्ति पैदा नहीं होती| पदार्थों में राग, आसक्ति, कामना, ममता, फलेच्छा आदि क्रियाओं में वेग पैदा करने वाली हैं| इनके रहते हुए हठ पूर्वक क्रियाओं का त्याग करने पर भी क्रियाओं का वेग शान्त नहीं होता| राग, द्वेष रहने के कारण साधक की प्रकृति पुनः उसे कर्मों में लगा देती है| अतः राग, द्वेषादि का त्याग करके निष्काम भाव पूर्वक कर्तव्य कर्म करने से ही क्रियाओं का वेग शान्त होता है|

जिन साधकों की सगुण साकार भगवान् में स्वाभाविक श्रद्धा और भक्ति नहीं है, प्रत्युत व्यावहारिक और लोक हित के कार्य करने में ही अधिक श्रद्धा और रुचि है, ऐसे साधकों के लिये यह (सर्व कर्म फल त्याग रूप) साधन बहुत उपयोगी है|

भगवान् ने जहां भी कर्म फल त्याग की बात कही है, वहां आसक्ति और फलेच्छा के त्याग का अध्याहार कर लेना चाहिए, ऐसा कहा है| भगवान् के मत में आसक्ति और फलेच्छा का पूरी तरह त्याग होने से ही कर्मों से सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद होता है|

सम्पूर्ण कर्मों के फल (फलेच्छा) का त्याग भगवत् प्राप्ति का स्वतन्त्र साधन है| कर्म फल त्याग से विषयासक्ति का नाश होकर शान्ति (सात्त्विक सुख) की प्राप्ति हो जाती है|

भगवान् ने पहले भक्त के पाँच लक्षणों में एक लक्षण 'सङ्गवर्जितः' (आसक्ति से रहित) बताया था| यहां भगवान् सम्पूर्ण कर्मों के फल त्याग की बात कह संसार की आसक्ति के सर्वथा त्याग की बात कह रहे हैं| अतः यह समझना चाहिए कि केवल आसक्ति का सर्वथा त्याग करने से भी परम शान्ति अथवा भगवान् की प्राप्ति हो जाती है|

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ।।१२-१२।।

है ज्ञान श्रेष्ठ अभ्यास से और ध्यान श्रेष्ठ आबोधन |
पर सर्व श्रेष्ठ त्याग कर्म फल जो देता तुरंत शामन ||१२-१२||

भावार्थ: *अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है| ज्ञान से श्रेष्ठ ध्यान है| सर्व श्रेष्ठ कर्म फल त्याग है जिससे तत्काल शान्ति मिलती है|*

टीका: भगवान् ने एक एक साधन में असमर्थ होने पर भगवत प्राप्ति हेतु क्रमशः समर्पण योग, अभ्यास योग, भगवदर्थ कर्म और कर्म फल त्याग, यह चार साधन बताए| इन साधनों में यहां प्रभु ने कर्म फल त्याग को श्रेष्ठ और तत्काल परम शान्ति देने वाला बताया है| इसका कारण है कि इस साधन में आसक्ति, ममता और फलेच्छा के त्याग की ही प्रधानता होने से जिस तत्व की प्राप्ति समर्पण योग, अभ्यास योग एवं भगवदर्थ कर्म करने से होती है, ठीक उसी तत्व की प्राप्ति कर्म फल त्याग से भी होती है| वास्तव में उपर्युक्त चारों साधन स्वतन्त्रता से भगवत् प्राप्ति कराने वाले हैं| साधकों की रुचि, विश्वास और योग्यता की भिन्नता के कारण ही भगवान् ने यहां अलग अलग साधन कहे हैं|

जहां तक कर्म फल त्याग के फल का प्रश्न है, उसमें यही विचार करना चाहिए कि समर्पण योग, अभ्या-योग एवं भगवदर्थ कर्म करने से भगवत् प्राप्ति होती है, यह तो प्रायः प्रचलित ही है, किंतु कर्म फल त्याग से भी भगवत् प्राप्ति होती है, यह बात प्रचलित नहीं है| इसलिये प्रचलित साधनों की अपेक्षा इसकी श्रेष्ठता बताने के लिये प्रभु ने यहां विशेष रूप से कर्म फल त्याग की महिमा दर्शाई है|

महर्षि पतञ्जलि कहते हैं, 'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः', अर्थात् किसी एक विषय में स्थिति (स्थिरता) प्राप्त करने के लिये बार बार प्रयत्न करने का नाम 'अभ्यास' है| यहाँ 'अभ्यास' शब्द केवल अभ्यास रूप क्रिया का वाचक है, अभ्यास योग का वाचक नहीं, क्योंकि इस (प्राणायाम, मनोनिग्रह आदि) अभ्यास में शास्त्र ज्ञान और ध्यान नहीं है तथा कर्म फल की इच्छा का त्याग भी नहीं है| जड़ता से

सम्बन्ध विच्छेद होने पर ही योग होता है, जबकि उपर्युक्त अभ्यास में जड़ता (शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि) का आश्रय रहता है|

यहाँ 'ज्ञान' शब्द का अर्थ शास्त्र ज्ञान है, तत्व ज्ञान नहीं| क्योंकि तत्व ज्ञान तो सभी साधनों का फल है| अतः यहाँ जिस ज्ञान की अभ्यास से तुलना की जा रही है, उस ज्ञान में न तो अभ्यास है, न ध्यान है और न कर्म फल त्याग ही है| जिस अभ्यास में न ज्ञान है, न ध्यान है और न कर्म फल त्याग है, ऐसे अभ्यास की अपेक्षा उपर्युक्त ज्ञान ही श्रेष्ठ है|

शास्त्रों के अध्ययन और सत्संग के द्वारा आध्यात्मिक ज्ञान को प्राप्त किया जा सकता है| इस ज्ञान को अभ्यास की अपेक्षा श्रेष्ठ कहने का तात्पर्य है कि आध्यात्मिक ज्ञान से रहित अभ्यास भगवत् प्राप्ति में उतना सहायक नहीं होता, जितना अभ्यास से रहित ज्ञान सहायक होता है| इसका कारण है कि ज्ञान से भगवत् प्राप्ति की अभिलाषा जाग्रत् हो सकती है, जिससे संसार से ऊँचा उठना जितना सुगम हो सकता है, उतना अभ्यास मात्र से नहीं|

यहाँ 'ध्यान' शब्द केवल मन की एकाग्रता रूप क्रिया का वाचक है, ध्यानयोग का वाचक नहीं| इस ध्यान में शास्त्र ज्ञान और कर्म फल त्याग नहीं है| ऐसा ध्यान उस ज्ञान की अपेक्षा श्रेष्ठ है, जिस ज्ञान में अभ्यास, ध्यान और कर्म फल त्याग नहीं है| इसका कारण है कि ध्यान से मन का नियन्त्रण होता है, जब कि केवल शास्त्र ज्ञान से मन का नियन्त्रण नहीं होता| इसलिये मन नियन्त्रण के कारण ध्यान से जो शक्ति संचित होती है, वह शास्त्र ज्ञान से नहीं होती| यदि साधक उस शक्ति का सदुपयोग करके परमात्मा की ओर बढ़ना चाहे, तो जितनी सुगमता उसको होगी उतनी शास्त्र ज्ञान वाले को नहीं| इसके साथ साथ ध्यान करने वाले साधक को (अगर वह शास्त्र का अध्ययन करे) मन की एकाग्रता के कारण वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति बहुत सुगमता से हो सकती है, जबकि केवल शास्त्राध्यायी साधक को (चाहने पर भी) मन की चंचलता के कारण ध्यान लगाने में कठिनता होती है|

ज्ञान और कर्म फल त्याग से रहित 'ध्यान' की अपेक्षा ज्ञान और ध्यान से रहित 'कर्म फल त्याग' श्रेष्ठ है| यहाँ कर्म फल त्याग का अर्थ कर्मों तथा कर्म फलों का स्वरूप से त्याग नहीं है, प्रत्युत कर्मों और उनके फलों में ममता, आसक्ति और कामना का त्याग है| उत्पत्ति-विनाशशील सब वस्तुएँ कर्म फल हैं| उनकी आसक्ति का त्याग करना ही सम्पूर्ण कर्मों के फलों का त्याग करना है| कर्मों में आसक्ति और फलेच्छा ही संसार में बन्धन का कारण है। आसक्ति और फलेच्छा न रहने से कर्म फल त्यागी पुरुष सुगमता पूर्वक संसार बन्धन से मुक्त हो जाता है|

शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, योग्यता, सामर्थ्य, पदार्थ आदि जो कुछ मनुष्य के पास है, वह सब संसार से ही मिले हैं, उस के व्यक्तिगत नहीं है| इसलिये कर्म फल त्यागी अर्थात् कर्मयोगी मिली हुई (शरीरादि) सब सामग्री को अपनी और अपने लिये न मानकर उसको निष्काम भाव पूर्वक संसार की ही सेवा में लगा देता है| इस प्रकार मिली हुई सामग्री (जड़ता) का प्रवाह संसार (जड़ता) की ही ओर हो जाने से उसका जड़ता से सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है और उसको परमात्मा से अपने स्वाभाविक और नित्य सिद्ध सम्बन्ध का अनुभव हो जाता है| इसलिये कर्मयोगी के लिये अलग से ध्यान लगाने की आवश्यकता नहीं है| अगर वह ध्यान लगाना भी चाहे तो कोई सांसारिक कामना न होने के कारण वह सुगमता पूर्वक ध्यान लगा सकता है जब कि सकाम भाव के कारण सामान्य साधक को ध्यान लगाने में कठिनाई होती है|

भगवान् ने पहले बताया है कि ध्यान का अभ्यास करते करते अन्त में जब साधक का चित्त एक मात्र परमात्मा में अच्छी तरह से स्थित हो जाता है, तब वह सम्पूर्ण कामनाओं से रहित हो जाता है और चित्त के उपराम होने पर वह स्वयं से परमात्म तत्व में स्थित हो जाता है| परन्तु कर्मयोगी सम्पूर्ण कामनाओं का त्याग करके तत्काल स्वयं से परमात्म-तत्व में स्थित हो जाता है| इसका कारण यह है कि ध्यान में परमात्मा में चित्त लगाया जाता है, इसलिये उसमें चित्त (जड़ता) का आश्रय रहने के कारण चित्त के साथ बहुत दूर तक सम्बन्ध बना रहता है| परन्तु कर्मयोग में ममता और कामना का त्याग किया जाता है, इसलिये उसमें ममता और कामना का त्याग करने के साथ ही चित्त का भी

स्वतः त्याग हो जाता है| इसलिये परिणाम में समान रूप से परमात्म-तत्व की प्राप्ति होने पर भी ध्यान का अभ्यास करने वाले साधक को ध्येय में चित्त लगाने में कठिनाई होती है तथा उसे परमात्म-तत्व का अनुभव भी देरी से होता है, जब कि कर्मयोगी को परमात्म-तत्व का अनुभव सुगमता पूर्वक तथा शीघ्रता से होता है| इससे सिद्ध होता है कि ध्यान की अपेक्षा कर्मयोग का साधन श्रेष्ठ है|

'अपना कुछ नहीं है, अपने लिये कुछ नहीं चाहिए और अपने लिये कुछ नहीं करना है', यही कर्मयोग का मूल महामन्त्र है जिसके कारण यह सब साधनों से विलक्षण हो जाता है, 'कर्मयोगो विशिष्यते'|

त्याग के स्वरूप को विशेष रूप से समझने की आवश्यकता है| त्याग न तो उसका हो सकता है, जो अपना स्वरूप है और न उसी का हो सकता है, जिसके साथ अपना सम्बन्ध नहीं है| जैसे अपना स्वरूप होने के कारण प्रकाश और उष्णता से सूर्य का वियोग नहीं हो सकता, और जिससे वियोग नहीं हो सकता, उसका त्याग करना असम्भव है| इसके विपरीत अपना स्वरूप न होने के कारण अन्धकार और शीतलता से सूर्य का वियोग भी कहना नहीं बनता क्योंकि अपना स्वरूप न होने के कारण उनका वियोग अथवा त्याग नित्य और स्वतः सिद्ध है| इसलिये वास्तव में त्याग उसी का होता है, जो अपना नहीं है, पर भूल से अपना मान लिया गया है|

जीव स्वयं चेतन और अविनाशी है तथा संसार जड़ और विनाशी है| जीव भूल से (अपने अंशी परमात्मा को भूल कर) विजातीय संसार को अपना मान लेता है| इसलिये संसार से माने हुए सम्बन्ध का ही त्याग करने की आवश्यकता है| त्याग असीम होता है|।संसार के सम्बन्ध में तो सीमा होती है, पर संसार के त्याग (सम्बन्ध विच्छेद) में सीमा नहीं होती| इसका तात्पर्य है कि जिन वस्तुओं से हम अपना सम्बन्ध जोड़ते हैं उन वस्तुओं की तो सीमा होती है, पर उन वस्तुओं का त्याग असीम होता है| त्याग करते ही परमात्म-तत्व की प्राप्ति हो जाती है| परमात्म-तत्व की प्राप्ति भी असीम होती है| इसका कारण है कि परमात्म-तत्व देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदि की सीमा से रहित (असीम) है| सीमित वस्तुओं के मोह के कारण ही उस असीम परमात्म-तत्व का अनुभव नहीं होता|

कर्म फल त्याग में संसार से माने हुए सम्बन्ध का त्याग हो जाता है| त्याग के अन्तर्गत जप, भजन, ध्यान, समाधि आदि के फल का त्याग भी समझना चाहिए| इसका कारण है कि जब तक जप, भजन, ध्यान, समाधि अपने लिये की जाती है, तब तक व्यक्तित्व बना रहने से बन्धन बना रहता है| अतः अपने लिये किया हुआ ध्यान, समाधि आदि भी बन्धन ही हैं| इसलिये किसी भी क्रिया के साथ अपने लिये कुछ भी चाह न रखना ही 'त्याग' है| वास्तविक त्याग में त्याग वृत्ति से भी सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है|

'शान्ति' प्राप्त करना अर्थात भगवत् प्राप्ति करना ही है|

अभ्यास, ज्ञान और ध्यान, इन तीनों साधनों से वस्तुतः कर्म फल त्याग रूप साधन श्रेष्ठ है| जब तक साधक में फल की आसक्ति रहती है, तब तक वह (जड़ता का आश्रय रहने से) मुक्त नहीं हो सकता| इसलिये फलासक्ति के त्याग की आवश्यकता अभ्यास, ज्ञान और ध्यान, इन तीनों ही साधनों में है| जड़ता अर्थात् उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओं का सम्बन्ध ही अशान्ति का कारण है| कर्म फल त्याग अर्थात् कर्मयोग में आरम्भ से ही कर्मों और उनके फलों में आसक्ति का त्याग किया जाता है| इसलिये जड़ता का सम्बन्ध न रहने से कर्मयोगी को शीघ्र परम शान्ति की प्राप्ति हो जाती है|

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ।।१२-१३।।
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ।।१२-१४।।

है रहित द्वेष ममता गल्भ जो मित्रवत दयालु भूजन ।
क्षमाशील रह सम दुःख सुख करे निरंतर मेरा भजन ।।१२-१३।।
संतुष्ट योगी इन्द्रियजित दृढ़ निश्चयी भक्तजन ।
प्रिय मुझे करे जो मन बुद्धि सम्पूर्ण मुझ में अर्पन ।।१२-१४।।

भावार्थ: *द्वेष, ममता एवं अहंकार से रहित, सब का मित्र, करुणावान्, सुख और दुःख में सम, क्षमावान्, मेरा निरंतर भजन करने वाला, इन्द्रियजित (जिसने इन्द्रियों को संयमित कर लिया है), दृढ़ निश्चयी, योगी , संतुष्टी, मन और बुद्धि मुझ में अर्पण किए हुए, ऐसा भक्त मुझे प्रिय है|*

टीका: अनिष्ट करने वालों के दो भेद हैं: (१) इष्ट की प्राप्ति में अर्थात् धन, आदर-सत्कार आदि की प्राप्ति में बाधा पैदा करने वाले, और (२) अनिष्ट पदार्थ, क्रिया, व्यक्ति, घटना आदि से संयोग कराने वाले|

प्रभु कहते हैं कि भक्त के शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और सिद्धान्त के प्रतिकूल चाहे कोई कैसा भी व्यवहार करे, इष्ट की प्राप्ति में बाधा डाले, किसी प्रकार की आर्थिक और शारीरिक हानि पहुँचाये, पर भक्त के हृदय में उसके प्रति कभी किंचित मात्र भी द्वेष नहीं होना चाहिए| वह सब प्राणियों में प्रभु को ही व्याप्त देखे:

'निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध।।'|

इतना ही नहीं वह तो अनिष्ट करने वालों की सब क्रियाओं को भी भगवान् का कृपा पूर्ण मंगलमय विधान ही माने|

प्राणी स्वरूप से भगवान् का ही अंश है, अतः किसी भी प्राणी के प्रति थोड़ा भी द्वेष भाव रहना भगवान् के प्रति ही द्वेष है| इसलिये किसी प्राणी के प्रति द्वेष रहते हुए भगवान् से अभिन्नता तथा अनन्य प्रेम नहीं हो सकता| प्राणी के प्रति द्वेष भाव से रहित होने पर ही भगवान् में पूर्ण प्रेम हो सकता है| इसलिये भक्त में प्राणी के प्रति द्वेष का सर्वथा अभाव होना आवश्यक है|

भक्त के अन्तःकरण में प्राणी के प्रति केवल द्वेष का अभाव ही नहीं होता, प्रत्युत सम्पूर्ण प्राणियों में भगवद्भाव होने के नाते उसका सबसे मैत्री और दया का व्यवहार भी होता है| भगवान् प्राणियों के सुहृद् हैं, 'सुहृदं सर्वभूतानाम्'| भगवान् का स्वभाव भक्त में अवतरित होने के कारण भक्त भी सम्पूर्ण प्राणियों का

सुहृद् होता है, 'सुहृदः सर्वदेहिनाम्'| इसलिये भक्त का भी सभी प्राणियों के प्रति बिना किसी स्वार्थ के स्वाभाविक ही मैत्री और दया का भाव रहता है|

'हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी।। '

अपना अनिष्ट करने वालों के प्रति भी भक्त के द्वारा मित्रता का व्यवहार होता है क्योंकि उसका सदैव यही भाव रहता है कि अनिष्ट करने वाले ने अनिष्ट रूप में भगवान् का विधान ही प्रस्तुत किया है| अतः उसने जो कुछ किया है, वह मेरे लिये उचित ही किया है| इसका कारण है कि भगवान् का विधान सदैव मंगलमय होता है| इतना ही नहीं, भक्त यह मानता है कि मेरा अनिष्ट करने वाला (अनिष्ट में निमित्त बनकर) मेरे पूर्व कृत पाप कर्मों का नाश कर रहा है, अतः वह विशेष रूप से आदर का पात्र है| वह मेरे पिछले पापों का फल भुगताकर उसे शुद्ध कर रहा है| भक्त का सभी प्राणियों के प्रति मैत्री और दया का विलक्षण भाव रहता है| पातञ्जलयोगदर्शन में चित्त शुद्धि के चार हेतु बताए गए हैं:

'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणांसुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां
भावनातश्चित्तप्रसादनम्।',

अर्थात सुखियों के प्रति मैत्री, दुःखियों के प्रति करुणा, पुण्यात्माओं के प्रति मुदिता (प्रसन्नता) और पापात्माओं के प्रति उपेक्षा के भाव से चित्त में निर्मलता आती है|

भगवान् ने इन चारों हेतुओँ को दो भाग में विभक्त कर दिया है, 'मैत्रः च करुणः'| इसका तात्पर्य यह है कि भक्त का सुखी और पुण्यात्माओं के प्रति 'मैत्री' तथा दुःखी और पापात्माओं के प्रति 'करुणा' का भाव रहता है|

दुःख पाने वाले की अपेक्षा दुःख देने वाले पर (उपेक्षा का भाव न होकर) दया होनी चाहिए, क्योंकि दुःख पाने वाला तो (पुराने पापों का फल भोग कर) पापों

से छूट रहा है, पर दुःख देने वाला नया पाप कर रहा है| अतः दुःख देने वाला दया का विशेष पात्र है|

यद्यपि भक्त का प्राणियों के प्रति स्वाभाविक ही मैत्री और करुणा का भाव रहता है, तथापि उसकी किसी के प्रति किंचित मात्र भी ममता नहीं होती| प्राणियों और पदार्थों में ममता (मेरेपन का भाव) ही मनुष्य को संसार में बाँधने वाली होती है| भक्त इस ममता से सर्वथा रहित होता है| उसकी अपने कहलाने वाले शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि में भी बिलकुल ममता नहीं होती| साधक से भूल यह होती है कि वह प्राणियों और पदार्थों से तो ममता को हटाने की चेष्टा करता है, पर अपने शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों से ममता हटाने की ओर विशेष ध्यान नहीं देता, इसलिये वह सर्वथा निर्मम नहीं हो पाता|

शरीर, इन्द्रियाँ आदि जड़ पदार्थों को अपना स्वरूप मानने से अहंकार उत्पन्न होता है| भक्त की अपने शरीरादि के प्रति किंचित मात्र भी अहं बुद्धि न होने के कारण तथा केवल भगवान् से अपने नित्य सम्बन्ध का अनुभव हो जाने के कारण उसके अन्तःकरण में स्वतः श्रेष्ठ, दिव्य, अलौकिक गुण प्रकट होने लगते हैं| इन गुणों को भी वह अपने गुण नहीं मानता, प्रत्युत (दैवीय सम्पत्ति होने से) भगवान् के ही मानता है| 'सत्' (परमात्मा) के होने के कारण ही यह गुण 'सद्गुण' कहलाते हैं| ऐसी दशा में भक्त इनको अपना नहीं मानता, इसलिये वह अहंकार से सर्वथा रहित होता है|

भक्त सुख, दुःख की प्राप्ति में सम रहता है, अर्थात् अनुकूलता, प्रतिकूलता उसके हृदय में राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकार पैदा नहीं कर सकते| अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थिति मनुष्य को सुखी, दुःखी बनाकर ही उसे बाँधती है, इसलिये सुख, दुःख में सम होने का अर्थ है, अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति आने पर अपने में हर्ष, शोकादि विकारों का न होना| भक्त के शरीर, इन्द्रियाँ, मन, सिद्धान्त आदि के अनुकूल या प्रतिकूल प्राणी, पदार्थ, परिस्थिति, घटना आदि का संयोग या वियोग होने पर उसे अनुकूलता और प्रतिकूलता का ज्ञान तो होता है, पर उसके अन्तःकरण में हर्ष, शोकादि कोई विकार उत्पन्न नहीं होता| किसी परिस्थिति का ज्ञान होना कोई दोष नहीं है, प्रत्युत उससे

अन्तःकरण में विकार उत्पन्न होना दोष है| भक्त राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकारों से सर्वथा रहित होता है| जैसे प्रारब्धानुसार भक्त के शरीर में कोई रोग होने पर उसे शारीरिक पीड़ा का ज्ञान (अनुभव) तो होगा, किन्तु उसके अन्तःकरण में किसी प्रकार का विकार नहीं होगा|

अपना किसी प्रकार का भी अपराध करने वाले को किसी भी प्रकार का दण्ड देने की इच्छा न रखकर उसे क्षमा कर देने वाले को 'क्षमाशील' कहते हैं| भक्त में अपना अपराध करने वाले के प्रति ऐसा भाव रहता है कि उसको भगवान् अथवा अन्य किसी के द्वारा भी दण्ड न मिले| ऐसा क्षमा भाव भक्त की एक विशेषता है|

जीव को मन के अनुकूल प्राणी, पदार्थ, घटना, परिस्थिति आदि के संयोग में और मन के प्रतिकूल प्राणी, पदार्थ, घटना, परिस्थिति आदि के वियोग में एक संतोष होता है| विजातीय और अनित्य पदार्थों से होने के कारण यह संतोष स्थाई नहीं रह पाता| स्वयं नित्य होने के कारण जीव को नित्य परमात्मा की अनुभूति से ही वास्तविक और स्थाई संतोष होता है|

भगवान् को प्राप्त होने पर भक्त नित्य, निरन्तर संतुष्ट रहता है, क्योंकि न तो उसका भगवान् से कभी वियोग होता है और न उसको नाशवान् संसार की कोई आवश्यकता ही रहती है| अतः उसके असंतोष का कोई कारण ही नहीं रहता| इस संतुष्टि के कारण वह संसार के किसी भी प्राणी, पदार्थ के प्रति किंचित मात्र भी महत्व बुद्धि नहीं रखता| कर्मयोग, ज्ञानयोग या भक्तियोग, किसी भी योग मार्ग से सिद्धि प्राप्त करने वाले महापुरुष में ऐसी संतुष्टि निरन्तर रहती है|

भक्तियोग के द्वारा परमात्मा को प्राप्त (नित्य, निरन्तर परमात्मा से संयुक्त) पुरुष का नाम 'योगी' है| वास्तव में किसी भी मनुष्य का परमात्मा से कभी वियोग नहीं हुआ, नहीं है, हो नहीं सकता और सम्भव ही नहीं| इस वास्तविकता का जिसने अनुभव कर लिया है, वही 'योगी' है|

जिसका मन, बुद्धि, इन्द्रियों सहित शरीर पर पूर्ण अधिकार है, वह 'इन्द्रियजित' है| सिद्ध भक्त को मन, बुद्धि आदि वश में करने नहीं पड़ते, प्रत्युत यह स्वाभाविक ही उसके वश में रहते हैं| इसलिये उसमें किसी प्रकार के इन्द्रियजन्य दुर्गुण एवं दुराचारी भाव के आने की सम्भावना ही नहीं रहती| वास्तव में मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ स्वाभाविक रूप से सन्मार्ग पर चलने के लिये ही हैं, किन्तु संसार से राग युक्त सम्बन्ध रहने से यह मार्गच्युत हो जाती हैं| भक्त का संसार से किंचित मात्र भी राग युक्त सम्बन्ध नहीं होता, इसलिये उसकी मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ सर्वथा उसके वश में होती हैं| अतः उसकी प्रत्येक क्रिया दूसरों के लिये आदर्श होती है| न्याय पथ पर चलने वाले सत्पुरुषों की इन्द्रियाँ कभी कुमार्गगामी नहीं होतीं| जैसे राजा दुष्यन्त की वृत्ति शकुन्तला की ओर जाने पर उन्हें दृढ़ विश्वास हो जाता है कि यह क्षत्रिय कन्या ही है, ब्राह्मण कन्या नहीं| कवि कालिदास के कथनानुसार जहां सन्देह हो, वहां सत्पुरुष के अन्तःकरण की प्रवृत्ति ही प्रमाण होती है:

'सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः'।।

सिद्ध महापुरुष की दृष्टि में संसार की स्वतन्त्र सत्ता का सर्वथा अभाव रहता है| उसकी बुद्धि में एक परमात्मा की ही अटल सत्ता रहती है| अतः उसकी बुद्धि में विपर्यय दोष (प्रतिक्षण बदलने वाले संसार का स्थाई दिखाना) नहीं रहता| उसको एक भगवान् के साथ ही अपने नित्य सिद्ध सम्बन्ध का अनुभव होता रहता है| अतः उसका भगवान् में ही दृढ़ निश्चय होता है| उसका यह निश्चय बुद्धि में नहीं, प्रत्युत 'स्वयं' में होता है, जिसका आभास बुद्धि में प्रतीत होता है|

संसार की स्वतन्त्र सत्ता मानने से अथवा संसार से अपना सम्बन्ध मानने से ही बुद्धि में विपर्यय और संशय रूप दोष उत्पन्न होते हैं| विपर्यय और संशय युक्त दोष से बुद्धि कभी स्थिर नहीं होती| ज्ञानी और अज्ञानी पुरुष की बुद्धि के निश्चय में ही अन्तर होता है, स्वरूप से तो दोनों समान ही होते हैं| अज्ञानी की बुद्धि में संसार की सत्ता और उसका महत्व रहता है, परन्तु सिद्ध भक्त की बुद्धि में एक भगवान् के अतिरिक्त न तो संसार की किसी वस्तु की स्वतन्त्र सत्ता रहती है

और न उसका कोई महत्व ही रहता है| अतः उसकी बुद्धि विपर्यय और संशय दोष से सर्वथा रहित होती है| उसका केवल परमात्मा में ही दृढ़ निश्चय होता है|

जब साधक एक मात्र भगवत् प्राप्ति को ही अपना उद्देश्य बना लेता है और स्वयं भगवान् का हो जाता है, तब उसके मन, बुद्धि भी अपने आप भगवान् में लग जाते हैं|
जहां प्रेम होता है, वहां स्वाभाविक ही मनुष्य का मन लगता है और जिसे मनुष्य सिद्धान्त से श्रेष्ठ समझता है, उसमें स्वाभाविक ही उसकी बुद्धि लगती है| भक्त के लिये भगवान् से बढ़कर कोई प्रिय और श्रेष्ठ नहीं होता| भक्त तो मन, बुद्धि पर अपना अधिकार ही नहीं मानता, वह तो इनको सर्वथा भगवान् का ही मानता है, अतः उसके मन, बुद्धि स्वाभाविक ही भगवान् में लगे रहते हैं|

भगवान् को तो सभी प्रिय हैं, परन्तु भक्त का प्रेम भगवान् के अतिरिक्त और कहीं नहीं होता| ऐसी दशा में 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्', इस प्रतिज्ञा के अनुसार भगवान् को भी भक्त प्रिय होता है|

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ।।१२-१५।।

नहीं हो उद्विग्न कभी और नहीं हो क्षुब्ध किसी जन |
हो मुक्त हर्ष अमर्ष भय उद्वेग वह मम प्रिय भक्तजन ||१२-१५||

भावार्थ: *जो उद्वेग (आवेश) को प्राप्त नहीं होता और जो किसी व्यक्ति से क्षुब्ध नहीं होता, तथा जो हर्ष, अमर्ष (असहिष्णुता) भय और उद्वेगों से मुक्त है, वह भक्त मुझे प्रिय है|*

टीका: भक्त सर्वत्र और सब में अपने परम प्रिय प्रभु को ही देखता है, अतः उसकी दृष्टि में मन, वाणी और शरीर से होने वाली सम्पूर्ण क्रियाएँ एक मात्र भगवान् की प्रसन्नता के लिये ही होती हैं| भक्त की क्रियाएँ कभी किसी के उद्वेग का कारण नहीं होतीं, क्योंकि भक्त प्राणियों में भगवान् को ही देखता है,

'वासुदेवः सर्वम्'| उसकी क्रियाएँ स्वभावतः प्राणियों के परम हित के लिये ही होती हैं| उसके द्वारा कभी भूल से भी किसी के अहित की चेष्टा नहीं होती| जिनको उससे उद्वेग होता है, वह उनके अपने राग, द्वेष युक्त आसुर स्वभाव के कारण ही होता है| अपने ही दोष युक्त स्वभाव के कारण उनको भक्त की हित पूर्ण चेष्टाएँ भी उद्वेग जनक प्रतीत होती हैं| महर्षि भर्तृहरि जी कहते हैं:

'मृगमीनसज्जनानां तृणजलसंतोषविहितवृत्तीनाम्। लुब्धकधीवरपिशुना निष्कारणवैरिणो जगति।।'

अर्थात, हरिण, मछली और सज्जन क्रमशः तृण, जल और संतोष पर अपना जीवन निर्वाह करते हैं, परन्तु व्याध, मछुए और दुष्ट लोग अकारण ही इनसे वैर करते हैं|

वास्तव में भक्त कभी दूसरे मनुष्यों के उद्विग्न का कारण नहीं बनते, प्रत्युत भक्तों के चरित्र में ऐसे प्रसंग देखने में आते हैं कि उनसे द्वेष रखने वाले लोग भी उनके चिन्तन, संग, दर्शन, स्पर्श, वार्तालाप के प्रभाव से अपना आसुर स्वभाव छोड़कर भक्त हो गए हैं| ऐसा होने में भक्तों का उदारता पूर्ण स्वभाव ही हेतु है|

उमा संत कइ इहइ बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई।।

अगर ऐसा मान लिया जाए कि भक्त से किसी को उद्वेग नहीं होता अथवा दूसरे लोग भक्त के विरुद्ध इस प्रकार की कोई चेष्टा नहीं करते या भक्त के शत्रु, मित्र नहीं होते, तो फिर भक्त के लिये शत्रु-मित्र, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति आदि में सम होने की बात नहीं कही जाती| इसका तात्पर्य यह है कि लोगों को अपने आसुर स्वभाव के कारण भक्त की हितकर क्रियाओं से भी उद्वेग हो सकता है और वह बदले की भावना से भक्त के विरुद्ध चेष्टा कर सकते हैं| अपने को उस भक्त का शत्रु मान सकते हैं| परन्तु भक्त की दृष्टि में न तो कोई शत्रु होता है और न किसी को उद्विग्न करने का उसका भाव ही होता है|

पहले भगवान् ने बताया कि भक्त से किसी प्राणी को उद्वेग नहीं होता और अब बताते हैं कि भक्त को स्वयं भी किसी प्राणी से उद्वेग नहीं होता| इसके दो कारण हैं, भक्त के शरीर, मन, इन्द्रियाँ, सिद्धान्त आदि के विरुद्ध भी अनिच्छा या परेच्छा से क्रियाएँ और घटनाएँ हो सकती हैं, परन्तु वास्तविकता का बोध होने तथा भगवान् में अत्यन्त प्रेम होने के कारण भक्त भगवत् प्रेम में इतना निमग्न रहता है कि उसको सर्वत्र और सब में भगवान के ही दर्शन होते हैं| इसलिये प्राणियों की क्रियाओं में (चाहे उनमें कुछ उसके प्रतिकूल ही क्यों न हों) उसको भगवान् की ही लीला दिखाई देती है, अतः उसको किसी भी क्रिया से कभी उद्वेग नहीं होता| मनुष्य को दूसरों से उद्वेग तभी होता है जब उसकी कामना, मान्यता, साधना, धारणा आदि का विरोध होता है| भक्त सर्वथा पूर्ण निष्काम होता है, इसलिये दूसरों से उद्विग्न होने का कोई कारण ही नहीं रहता|

यहाँ हर्ष से मुक्त होने का तात्पर्य यह है कि सिद्ध भक्त सब प्रकार के हर्षादि विकारों से सर्वथा रहित होता है| इसका आशय यह नहीं है कि सिद्ध भक्त सर्वथा हर्ष रहित (प्रसन्नता शून्य) होता है, प्रत्युत उसकी प्रसन्नता तो नित्य, एकरस, विलक्षण और अलौकिक होती है| उसकी प्रसन्नता सांसारिक पदार्थों के संयोग, वियोग से उत्पन्न क्षणिक, नाशवान् तथा घटने, बढ़ने वाली नहीं होती| सर्वत्र भगवद् बुद्धि रहने से एक मात्र अपने इष्टदेव भगवान् को और उनकी लीलाओं को देख देखकर वह सदा ही प्रसन्न रहता है|

किसी के उत्कर्ष (उन्नति) को सहन न करना 'अमर्ष' कहलाता है| दूसरे लोगों को अपने समान या अपने से अधिक सुख, सुविधा, धन, विद्या, महिमा, आदर, सत्कार आदि प्राप्त हुआ देखकर साधारण मनुष्य के अन्तःकरण में उनके प्रति ईर्ष्या होने लगती है, क्योंकि उनको दूसरों का उत्कर्ष सहन नहीं होता| कई बार कुछ साधकों के अन्तःकरण में भी दूसरे साधकों की आध्यात्मिक उन्नति और प्रसन्नता देखकर अथवा सुनकर ईर्ष्या का भाव पैदा हो जाता है| सिद्ध भक्त इस विकार से सर्वथा रहित होता है क्योंकि उसकी दृष्टि में अपने प्रिय प्रभु के अतिरिक्त अन्य किसी की स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती| अगर साधक के हृदय में दूसरों की आध्यात्मिक उन्नति देखकर ऐसा भाव पैदा होता है कि मेरी भी ऐसी ही आध्यात्मिक उन्नति हो, तो यह भाव उसके साधन में सहायक होता

है| परन्तु अगर साधक के हृदय में ऐसा भाव पैदा हो जाए कि इसकी उन्नति क्यों हो गई, तो ऐसे दुर्भाव के कारण उसके हृदय में अमर्ष का भाव पैदा हो जाएगा जो उसे पतन की ओर ले जाने वाला होगा|

इष्ट के वियोग और अनिष्ट के संयोग की आशंका से होने वाले विकराल को 'भय' कहते हैं| भय दो कारणों से होता है:
(१) बाहरी कारणों से, जैसे सिंह, साँप, चोर, डाकू आदि से अनिष्ट होने अथवा किसी प्रकार की सांसारिक हानि पहुँचने की आशंका से होनेवाला भय|

(२) भीतरी कारणों से, जैसे चोरी, झूठ, कपट, व्यभिचार आदि शास्त्र विरुद्ध भावों तथा आचरणों से होने वाला भय|

सबसे बड़ा भय मृत्यु का होता है| विवेकशील कहे जाने वाले पुरुषों को भी प्रायः मृत्यु का भय बना रहता है| साधक को भी प्रायः सत्संग, भजन, ध्यानादि साधनों से शरीर के कृश होने आदि का भय रहता है| उसको कभी कभी यह भय भी होता है कि संसार से सर्वथा वैराग्य हो जाने पर मेरे शरीर और परिवार का पालन कैसे होगा? साधारण मनुष्य को अनुकूल वस्तु की प्राप्ति में बाधा पहुँचाने वाले अपने से बलवान् मनुष्य से भय होता है| यह सभी भय केवल शरीर (जड़ता) के आश्रय से ही पैदा होते हैं| भक्त सर्वथा भगवद चरणों के आश्रित रहता है इसलिये वह सदा सर्वदा भय रहित होता है| साधक को भी तभी तक भय रहता है जब तक वह सर्वथा भगवद चरणों के आश्रित नहीं हो जाता|

सिद्ध भक्त को तो सदा, सर्वत्र अपने प्रिय प्रभु की लीला ही दिखती है| फिर भगवान् की लीला उसके हृदय में भय कैसे पैदा कर सकती है? उद्वेग की बात कहकर भगवान् ने यह बताया है कि भक्त की कोई भी क्रिया उसकी ओर से किसी मनुष्य के उद्वेग का कारण नहीं बनती| साधारण मनुष्यों की किसी भी क्रिया से भक्त के अन्तःकरण में उद्वेग नहीं होता| निःसंदेह कई अन्य कारणों से भी मनुष्य को उद्वेग हो सकता है, जैसे बार बार प्रयास करने पर भी अपना कार्य पूरा न होना, कार्य का इच्छानुसार फल न मिलना, अनिच्छा से ऋतु

परिवर्तन होना, भूकम्प, बाढ़ आदि दुःखदायी घटनाएँ होना, अपनी कामना, मान्यता, सिद्धान्त अथवा साधन में विघ्न पड़ना, आदि| भक्त इन सभी प्रकार के उद्वेगों से सर्वथा मुक्त होता है| इसका तात्पर्य यह है कि भक्त के अन्तःकरण में 'उद्वेग' नाम की कोई वस्तु नहीं रहती|

उद्वेग के होने में अज्ञान जनित इच्छा और आसुर स्वभाव ही कारण हैं | भक्त में अज्ञान का सर्वथा अभाव होने से कोई स्वतन्त्र इच्छा नहीं रहती, फिर आसुर स्वभाव तो साधना अवस्था में ही नष्ट हो जाता है| भगवान् की इच्छा ही भक्त की इच्छा होती है| भक्त अपनी क्रियाओं के फल रूप में अथवा अनिच्छा से प्राप्त अनुकूल, प्रतिकूल परिस्थिति में भगवान् का कृपा पूर्ण विधान ही देखता है और निरन्तर आनन्द में मग्न रहता है, अतः भक्त में उद्वेग का सर्वथा अभाव होता है|

भक्त विकारों से सर्वथा रहित होता है| अन्तःकरण में संसार का आदर रहने से अर्थात् परमात्मा में पूर्णतया मन, बुद्धि न लगने से ही हर्ष, अमर्ष, भय, उद्वेग आदि विकार उत्पन्न होते हैं| परन्तु भक्त की दृष्टि में एक भगवान् के अतिरिक्त अन्य किसी की स्वतन्त्र सत्ता और महत्ता न रहने से उसमें यह विकार उत्पन्न नहीं होते| उसमें स्वाभाविक ही सद्गुण सदाचार रहते हैं, अतः भक्त दुर्गुण एवं दुराचारों से सर्वथा रहित होता है|

गुणों का अभिमान होने से दुर्गुण अपने आप आ जाते हैं| अपने में किसी गुण के आने पर अभिमान रूप दुर्गुण उत्पन्न हो जाए तो वह गुण, गुण नहीं रहता| दैवीय सम्पत्ति (सद्गुण) से कभी आसुरी सम्पत्ति (दुर्गुण) उत्पन्न नहीं हो सकती| अगर दैवीय सम्पत्ति से आसुरी सम्पत्ति की उत्पत्ति होती तो, 'दैवीय संपद्विमोक्षाय', इन भगवद् वचनों के अनुसार मनुष्य मुक्त कैसे होता? वास्तव में गुणों के अभिमान में गुण कम तथा दुर्गुण (अभिमान) अधिक होता है| अभिमान से दुर्गुणों की वृद्धि होती है क्योंकि सभी दुर्गुण एवं दुराचार अभिमान के ही आश्रित रहते हैं|

भक्त को तो प्रायः इस बात की जानकारी ही नहीं होती कि मेरे में कोई गुण है| अगर उसको अपने में कभी कोई गुण दिखता भी है तो वह उसको भगवान् का ही मानता है, अपना नहीं| इस प्रकार गुणों का अभिमान न होने के कारण भक्त सभी दुर्गुण एवं दुराचारों से मुक्त होता है| ऐसे भक्त को भगवान् प्रिय होते हैं, इसलिये भगवान् को भी भक्त प्रिय होते हैं|

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ।।१२-१६।।

अनपेक्ष दक्ष उदासीन गतव्यथ कर्म त्यागी पावन |
संपन्न यह गुण भक्त है मुझे अति प्रिय हे अर्जुन ||१२-१६||

भावार्थ: *हे अर्जुन, अपेक्षा रहित, शुद्ध, दक्ष, उदासीन, व्यथा रहित और कर्म त्यागी, इन गुणों से संपन्न भक्त मुझे अति प्रिय है|*

टीका: भक्त भगवान् को ही सर्वश्रेष्ठ मानता है| उसकी दृष्टि में भगवत् प्राप्ति से बढ़कर दूसरा कोई लाभ नहीं होता| अतः संसार की किसी भी वस्तु में उसका किंचित मात्र भी झुकाव नहीं होता| शरीर, इन्द्रियों, मन, बुद्धि में उसका अपनापन नहीं रहता, प्रत्युत वह उनको भगवान् का ही मानता है| वह शरीर निर्वाह की भी चिन्ता नहीं करता| उसे किसी भी वस्तु की इच्छा, वासना, स्पृहा नहीं होती|

भक्त पर चाहे कितनी ही बड़ी आपत्ति आ जाए, आपत्ति का ज्ञान होने पर भी उसके चित्त पर उसका प्रतिकूल प्रभाव नहीं होता| भयंकर से भयंकर परिस्थिति में भी वह भगवान् की लीला का अनुभव करके आनंदित रहता है|

नाशवान् पदार्थ सदैव नहीं रहते, उनका वियोग निश्चित है| परन्तु अविनाशी परमात्मा से कभी वियोग नहीं होता| इस वास्तविकता को जानने के कारण भक्त में स्वाभाविक ही नाशवान् पदार्थों की इच्छा पैदा नहीं होती|

यह बात विशेष ध्यान देने की है कि केवल इच्छा करने से शरीर निर्वाह के पदार्थ मिलते हों तथा इच्छा न करने से न मिलते हों, ऐसा कोई नियम नहीं है| वास्तव में भक्त को शरीर निर्वाह की आवश्यक सामग्री स्वतः प्राप्त होती है| उसके शरीर निर्वाह की आवश्यक सामग्री का प्रबन्ध भगवान् की ओर से पहले से ही हुआ रहता है| इच्छा करने से तो आवश्यक वस्तुओं की प्राप्ति में बाधा ही आती है| अगर मनुष्य किसी वस्तु को अपने लिये अत्यन्त आवश्यक समझकर 'वह वस्तु कैसे मिले, कहाँ मिले, कब मिले', ऐसी प्रबल इच्छा को अपने अन्तःकरण में पकड़े रहता है, तो उसकी उस इच्छा का विस्तार नहीं हो पाता, अर्थात् उसकी वह इच्छा दूसरे लोगों के अन्तःकरण तक पहुँच नहीं पाती| इस कारण दूसरे लोगों के अन्तःकरण में उस आवश्यक वस्तु को देने की इच्छा या प्रेरणा नहीं होती| प्रायः यह देखा जाता है कि लेने की प्रबल इच्छा रखने वाले (चोर आदि) को कोई देना नहीं चाहता| इसके विपरीत किसी वस्तु की इच्छा न रखने वाले विरक्त त्यागी की आवश्यकताओं का अनुभव अपने आप दूसरों को होता है, और दूसरे उनके शरीर निर्वाह का प्रसन्नता पूर्वक प्रबन्ध करते हैं| इससे यह सिद्ध हुआ कि इच्छा न करने से जीवन निर्वाह की आवश्यक वस्तुएँ बिना माँगे स्वतः मिलती हैं| अतः वस्तुओं की इच्छा करना केवल मूर्खता और अकारण दुःख पाना ही है| सिद्ध भक्त को तो अपने कहे जाने वाले शरीर की भी अपेक्षा नहीं होती, इसलिये वह सर्वथा निरपेक्ष होता है| सिद्ध भक्त को तो इसकी भी अपेक्षा नहीं होती कि भगवान् दर्शन दें अथवा न दें| भगवान् दर्शन दें तो आनन्द, न दें तो भी आनन्द| वह तो सदा भगवान् की प्रसन्नता और कृपा को देखकर आनंदित रहता है| ऐसे निरपेक्ष भक्त के पीछे भगवान् स्वयं घूमा करते हैं| भगवान् स्वयं कहते हैं:

निरेपक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम् ।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः ।।

अर्थात जो निरपेक्ष (किसी की अपेक्षा न रखने वाला), निरन्तर मेरा मनन करने वाला, शान्त, द्वेष रहित और सबके प्रति समान दृष्टि रखने वाला है, उस महात्मा के पीछे मैं सदा यह सोचकर घूमा करता हूँ कि उसकी चरण रज मेरे ऊपर पड़ जाए और मैं पवित्र हो जाऊँ|

किसी वस्तु की इच्छा को लेकर भगवान् की भक्ति करने वाला मनुष्य वस्तुतः उस इच्छित वस्तु का ही भक्त होता है क्योंकि (वस्तु की ओर लक्ष्य रहने से) वह वस्तु के लिये ही भगवान् की भक्ति करता है, न कि भगवान् की प्राप्ति के लिये| परन्तु भगवान् की यह उदारता है कि उसको भी वह अपना भक्त मानते हैं क्योंकि वह इच्छित वस्तु के लिये किसी दूसरे पर भरोसा न रख केवल भगवान् पर भरोसा रखकर ही भजन करता है| इतना ही नहीं, भगवान् भक्त ध्रुव की तरह उस (अर्थार्थी भक्त) की इच्छा पूरी करके उसको सर्वथा निःस्पृह भी बना देते हैं|

शरीर में अहंता, ममता (मैं और मेरापन) न रहने से भक्त का शरीर अत्यन्त पवित्र हो जाता है| अन्तःकरण में राग-द्वेष, हर्ष-शोक, काम-क्रोधादि विकारों के न रहने से उसका अन्तःकरण भी अत्यन्त पवित्र होता है| ऐसे (बाहर, भीतर से अत्यन्त पवित्र) भक्त के दर्शन, स्पर्श, वार्तालाप और चिन्तन से दूसरे लोग भी पवित्र हो जाते हैं| तीर्थ सब लोगों को पवित्र करते हैं, किन्तु ऐसे भक्त तीर्थों को भी तीर्थत्व प्रदान करते हैं, अर्थात् तीर्थ भी उनके चरण स्पर्श से पवित्र हो जाते हैं| ऐसे भक्त अपने हृदय में विराजित 'पवित्राणां पवित्रम्' (पवित्रों को भी पवित्र करने वाले) भगवान् के प्रभाव से तीर्थों को भी महातीर्थ बनाते हुए विचरण करते हैं:

'तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता।।'

महाराज भगीरथ माँ गंगा जी से कहते हैं:

साधवो न्यासिनः शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोकपावनाः ।
हरन्त्यघं तेऽङ्गसङ्गात् तेष्वास्ते ह्यघभिद्धरिः ।।

अर्थात हे माता, जिन्होंने लोक, परलोक की समस्त कामनाओं का त्याग कर दिया है, जो संसार से उपरत होकर अपने आप में शान्त हैं, जो ब्रह्मनिष्ठ और लोकों को पवित्र करने वाले परोपकारी साधु पुरुष हैं, वह अपने अंग स्पर्श से तुम्हारे (पापियों के अंग स्पर्श से आए) समस्त पापों को नष्ट कर देंगे क्योंकि

उनके हृदय में समस्त पापों का नाश करने वाले भगवान् सर्वदा निवास करते हैं|
जिसने करने योग्य काम कर लिया है, वही दक्ष है| मानव जीवन का उद्देश्य भगवत् प्राप्ति ही है| इसी के लिये उसे मनुष्य शरीर मिला है| अतः जिसने अपना उद्देश्य पूरा कर लिया अर्थात् भगवान् को प्राप्त कर लिया, वही वास्तव में दक्ष अर्थात् चतुर है|

भगवान् कहते हैं:

एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम् ।
यत्सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम् ।।

अर्थात विवेकियों के विवेक और चतुरों की चतुराई की पराकाष्ठा इसी में है कि वह इस विनाशी और असत्य शरीर के द्वारा मुझ अविनाशी एवं सत्य तत्व को प्राप्त कर लें|

सांसारिक दक्षता (चतुराई) वास्तव में दक्षता नहीं है| एक दृष्टि से तो व्यवहार में अधिक दक्षता होना कलंक ही है क्योंकि इससे अन्तःकरण में जड़ पदार्थों का आदर बढ़ता है जो मनुष्य के पतन का कारण बनता है| यद्यपि सिद्ध भक्त में व्यावहारिक (सांसारिक) दक्षता भी होती है, परन्तु व्यावहारिक दक्षता को पारमार्थिक स्थिति की कसौटी मानना वस्तुतः सिद्ध भक्त का अपमान ही करना है|

उदासीन शब्द का अर्थ है, 'उत् आसीन', अर्थात् ऊपर बैठा हुआ, तटस्थ, पक्षपात से रहित| विवाद करने वाले दो व्यक्तियों के प्रति जिसका सर्वथा तटस्थ भाव रहता है, उसको उदासीन कहा जाता है| उदासीन शब्द निर्लिप्तता का द्योतक है| जैसे ऊँचे पर्वत पर खड़े हुए पुरुष पर नीचे पृथ्वी पर लगी हुई आग या बाढ़ आदि का कोई असर नहीं पड़ता, ऐसे ही किसी भी अवस्था, घटना, परिस्थिति आदि का भक्त पर कोई असर नहीं पड़ता, वह सदा निर्लिप्त रहता है| जो मनुष्य भक्त का हित चाहता है तथा उसके अनुकूल आचरण करता है,

वह उसका मित्र समझा जाता है और जो मनुष्य भक्त का अहित चाहता है तथा उसके प्रतिकूल आचरण करता है, वह उसका शत्रु समझा जाता है| इस प्रकार मित्र और शत्रु समझे जाने वाले व्यक्ति के साथ भक्त के बाहरी व्यवहार में अंतर मालुम हो सकता है, परन्तु भक्त के अन्तःकरण में दोनों मनुष्यों के प्रति किंचित मात्र भी भेद भाव नहीं होता| वह दोनों स्थितियों में सर्वथा उदासीन अर्थात् निर्लिप्त रहता है| भक्त के अन्तःकरण में अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती| वह शरीर सहित सम्पूर्ण संसार को परमात्मा का ही मानता है| इसलिये उसका व्यवहार पक्षपात से रहित होता है|

कुछ मिले या न मिले, कुछ आए या चला जाए पर जिसके चित्त में दुःख, चिन्ता, शोक रूप हलचल कभी नहीं होती, उस भक्त को यहाँ 'गतव्यथ' कहा गया है| व्यथा शब्द केवल दुःख का वाचक नहीं है| अनुकूलता की प्राप्ति होने पर चित्त में प्रसन्नता तथा प्रतिकूलता की प्राप्ति होने पर चित्त में खिन्नता की जो हलचल होती है, वह भी व्यथा ही है| अतः अनुकूलता तथा प्रतिकूलता से अन्तःकरण में होने वाले राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकारों के सर्वथा अभाव को ही यहाँ 'गतव्यथ' कहा गया है|

भोग और संग्रह के उद्देश्य से मनुष्य सांसारिक कर्म करता है, जैसे सुख भोग के उद्देश्य से घर में नई वस्तुएं इकट्ठा करना, वस्त्र खरीदना, नया व्यापार शुरू करना, आदि| भक्त भोग और संग्रह के लिये किए जाने वाले कर्मों का सर्वथा त्यागी होता है| जिसका उद्देश्य संसार का है और जो वर्ण, आश्रम, विद्या, बुद्धि, योग्यता, पद, अधिकार आदि को लेकर अपने में विशेषता देखता है, वह भक्त नहीं होता| भक्त भगवन्निष्ठ होता है| अतः उसके शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, क्रिया फल आदि सब भगवान् को ही अर्पित होते हैं| वास्तव में इन शरीरादि के स्वामी भगवान् ही हैं| प्रकृति और प्रकृति का कार्य भगवान् का है| अतः भक्त एक भगवान् के अतिरिक्त किसी को भी अपना नहीं मानता| वह अपने लिये कभी कुछ नहीं करता| उसके द्वारा होने वाले कर्म भगवान् की प्रसन्नता के लिये ही होते हैं| धन-सम्पत्ति, सुख-आराम, मान-सम्मान आदि के लिये किए जाने वाले कर्म उसके द्वारा कभी नहीं होते| जिसके भीतर परमात्म-तत्व की प्राप्ति की ही

सत्य लगन लगी है, वह साधक चाहे किसी भी मार्ग का क्यों न हो, भोग भोगने और संग्रह करने के उद्देश्य से वह कभी कोई कर्म आरम्भ नहीं करता|

भगवान् में स्वाभाविक ही इतना महान् आकर्षण है कि भक्त स्वतः उनकी ओर खिंच जाता है, उनका प्रेमी हो जाता है | ज्ञान के द्वारा जिनकी चित्, जड़, ग्रन्थि कट गई है, ऐसे मुनिगण भी भगवान् की निष्काम भक्ति किया करते हैं क्योंकि भगवान् के गुण ही ऐसे हैं कि वह प्राणियों को अपनी ओर खींच लेते हैं| यहाँ शंका हो सकती है कि यदि भगवान् में इतना महान् आकर्षण है, तो सभी मनुष्य भगवान् की ओर क्यों नहीं खिंच जाते, उनके प्रेमी क्यों नहीं हो जाते? वास्तव में देखा जाए तो जीव भगवान् की ही अंश है| अतः उसका भगवान् की ओर स्वतः स्वाभाविक आकर्षण होता है| परन्तु जो भगवान् वास्तव में अपने हैं, उनको तो मनुष्य ने अपना माना नहीं और जो मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर, कुटुम्बादि अपने नहीं हैं, उनको उसने अपना मान लिया| इसलिये वह शारीरिक निर्वाह और सुख की कामना से सांसारिक भोगों की ओर आकृष्ट हो गया तथा अपने अंशी भगवान् से दूर (विमुख) हो गया| फिर भी उसकी यह दूरी वास्तविक नहीं माननी चाहिए| इसका कारण है कि नाशवान् भोगों की ओर आकृष्ट होने से उसकी भगवान् से दूरी दिखाई तो देती है, पर वास्तव में दूरी है नहीं, क्योंकि उन भोगों में भी तो सर्वव्यापी भगवान् परिपूर्ण हैं| परन्तु इन्द्रियों के विषयों में अर्थात् भोगों में ही आसक्ति होने के कारण उसको उन में छिपे भगवान् दिखाई नहीं देते| जब इन नाशवान् भोगों की ओर उसका आकर्षण नहीं रहता, तब वह स्वतः ही भगवान् की ओर खिंच जाता है| संसार में किंचित मात्र भी आसक्ति न रहने से भक्त का एक मात्र भगवान् में स्वतः प्रेम हो जाता है| ऐसे अनन्य प्रेमी भक्त को भगवान् 'मद्भक्त' कहते हैं| जिस भक्त का भगवान् में अनन्य प्रेम है, वह भगवान् को अति प्रिय होता है|

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ।।१२-१७।।

हो जो कभी न हर्षित करे न द्वेष न शोक न मन्मन् |
करे त्याग सत असत कर्म वह मेरा प्रिय भक्तजन ||१२-१७||

भावार्थ: *जो भक्त कभी न हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न आकांक्षा करता है, शुभ और अशुभ कर्म को त्याग देता है, वह मेरा प्रिय भक्त है|*

टीका: मुख्य विकार चार हैं, (१) राग, (२) द्वेष, (३) हर्ष और (४) शोक| सिद्ध भक्त में यह चारों ही विकार नहीं होते| उसका यह अनुभव होता है कि संसार का प्रतिक्षण वियोग हो रहा है और भगवान् से कभी वियोग नहीं होता| संसार के साथ कभी संयोग न था, न है, और न रहेगा| संसार की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है| इस वास्तविकता का अनुभव कर लेने के बाद (जड़ता का कोई सम्बन्ध न रहने पर) भक्त का केवल भगवान् के साथ अपने नित्य सिद्ध सम्बन्ध का अनुभव अटल रूप से रहता है| इस कारण उसका अन्तःकरण राग, द्वेषादि विकारों से सर्वथा मुक्त होता है| भगवान् का साक्षात्कार होने पर यह विकार सर्वथा मिट जाते हैं|

साधनावस्था में भी साधक ज्यों ज्यों साधन में आगे बढ़ता है, त्यों त्यों उसमें राग, द्वेषादि कम होते चले जाते हैं| जो कम होने वाला होता है, वह मिटने वाला भी होता है, अतः जब साधनावस्था में ही विकार कम होने लगते हैं, तब सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सिद्धावस्था में भक्त में यह विकार नहीं रहते, पूर्णतया मिट जाते हैं|

हर्ष और शोक, दोनों राग, द्वेष के ही परिणाम हैं| जिसके प्रति राग होता है, उसके संयोग से और जिसके प्रति द्वेष होता है उसके वियोग से 'हर्ष' होता है| इसके विपरीत जिसके प्रति राग होता है, उसके वियोग या वियोग की आशंका से और जिसके प्रति द्वेष होता है, उसके संयोग या संयोग की आशंका से शोक होता है| सिद्ध भक्त में राग, द्वेष का अत्यन्त अभाव होने से स्वतः एक साम्यावस्था निरन्तर रहती है| इसलिये वह विकारों से सर्वथा रहित होता है| जैसे रात्रि के समय अन्धकार में दीपक जलाने की कामना होती है, दीपक जलाने से हर्ष होता है, दीपक बुझाने वाले के प्रति द्वेष या क्रोध होता है और पुनः दीपक कैसे जले, ऐसी चिन्ता होती है| रात्रि होने से ये चारों बातें होती हैं| परन्तु मध्याह्न का सूर्य तपता हो तो दीपक जलाने की कामना नहीं होती, दीपक

जलाने से हर्ष नहीं होता, दीपक बुझाने वाले के प्रति द्वेष या क्रोध नहीं होता और अँधेरा न होने से प्रकाश के अभाव की चिन्ता भी नहीं होती| इसी प्रकार भगवान् से विमुख और संसार के सम्मुख होने से शरीर निर्वाह और सुख के लिये अनुकूल पदार्थ, परिस्थिति आदि के मिलने की कामना होती है, इनके मिलने पर हर्ष होता है, इनकी प्राप्ति में बाधा पहुँचाने वाले के प्रति द्वेष या क्रोध होता है और इनके न मिलने पर 'कैसे मिलें' ऐसी चिन्ता होती है| परन्तु जिसको मध्याह्न के सूर्य की तरह भगवत् प्राप्ति हो गई है, उसमें यह विकार कभी नहीं रहते| वह पूर्णकाम हो जाता है| अतः उसको संसार की कोई आवश्यकता नहीं रहती|

ममता, आसक्ति और फलेच्छा से रहित होकर ही शुभ कर्म करने के कारण भक्त के कर्म 'अकर्म' हो जाते हैं| इसलिये भक्त को शुभ कर्मों का भी त्यागी कहा गया है| राग, द्वेष का सर्वथा अभाव होने के कारण उससे अशुभ कर्म नहीं होते| अशुभ कर्मों के होने में कामना, ममता, आसक्ति ही प्रधान कारण हैं, और भक्त में इनका सर्वथा अभाव होता है| इसलिये उसको अशुभ कर्मों का भी त्यागी कहा गया है| भक्त शुभ कर्मों से राग नहीं करता और अशुभ कर्मों से द्वेष नहीं करता| उसके द्वारा स्वाभाविक शास्त्रविहित शुभ कर्मों का आचरण और अशुभ (निषिद्ध एवं काम्य) कर्मों का त्याग होता है, राग, द्वेष पूर्वक नहीं| राग, द्वेष का सर्वथा त्याग करने वाला ही सच्चा त्यागी है| मनुष्य को कर्म नहीं बाँधते, प्रत्युत कर्मों में राग, द्वेष ही बाँधते हैं| भक्त के सम्पूर्ण कर्म राग, द्वेष रहित होते हैं, इसलिये वह शुभाशुभ सम्पूर्ण कर्मों का परित्यागी है|

भक्त की भगवान् में अत्यधिक प्रियता रहती है| उसके द्वारा स्वतः स्वाभाविक भगवान् का चिन्तन, स्मरण, भजन होता रहता है| ऐसे भक्त को यहाँ 'प्रिय भक्त' कहा गया है| भक्त का भगवान् में अनन्य प्रेम होता है, इसलिये वह भगवान् को प्रिय होता है|

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ।।१२-१८।।

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येनकेनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ।।१२-१९।।

रहे सम शत्रु मित्र मान अपमान शीत उष्ण जो भूजन |
आसक्ति रहित सम सुख दुःख सदा जो भक्त अर्जुन ||१२-१८||
रहे सम निन्द प्रशंसा अनिकेत संतुष्ट अल्प साधन |
हो मननशील स्थिर बुद्धि है अति प्रिय वह भक्तजन ||१२-१९||

भावार्थ: *हे अर्जुन, जो भक्त शत्रु और मित्र, मान और अपमान, शीत और उष्ण, सुख और दु:ख में सम और आसक्ति रहित है, निन्दा और प्रशंसा दोनों में ही समान रहता है, मननशील है, अल्प साधन से सन्तुष्ट रहता है, अनिकेत है, स्थिर बुद्धि वाला है, वह भक्त मुझे अति प्रिय है|*

टीका: यहाँ भगवान् ने भक्त में व्यक्तियों के प्रति होने वाली समता का वर्णन किया है| सर्वत्र भगवद् बुद्धि होने तथा राग, द्वेष से रहित होने के कारण सिद्ध भक्त का किसी के भी प्रति शत्रु, मित्र का भाव नहीं रहता| प्राणी ही उसके व्यवहार में अपने स्वभाव के अनुसार अनुकूलता या प्रतिकूलता को देखकर उसमें मित्रता या शत्रुता का आरोप कर लेते हैं, परन्तु भक्त अपने आप में सदैव पूर्णतया सम रहता है|

मान, अपमान एक परकृत क्रिया है, जो शरीर के प्रति होती है| भक्त की अपने शरीर में न तो अहंता होती है, न ममता, इसलिये शरीर का मान, अपमान होने पर भी भक्त के अन्तःकरण में कोई विकार (हर्ष या शोक) पैदा नहीं होता| वह नित्य, निरन्तर समता में स्थित रहता है|

शीत, उष्ण में समता अर्थात् इन्द्रियों का अपने अपने विषयों से संयोग होने पर अन्तःकरण में कोई विकार न होना है| सुख, दुःख में समता अर्थात् धनादि पदार्थों की प्राप्ति या अप्राप्ति होने पर अन्तःकरण में कोई विकार न होना भी है|

शीत, उष्ण शब्द का अर्थ सर्दी, गर्मी होता है| सर्दी, गर्मी त्वगिन्द्रिय के विषय हैं| भक्त केवल त्वगिन्द्रिय के विषयों में ही सम रहता हो, ऐसी बात नहीं है| वह तो समस्त इन्द्रियों के विषयों में सम रहता है| अतः यहाँ शीत, उष्ण शब्द समस्त इन्द्रियों के विषयों का वाचक है| प्रत्येक इन्द्रिय का अपने अपने विषय के साथ संयोग होने पर भक्त को उन (अनुकूल या प्रतिकूल) विषयों का ज्ञान तो होता है, पर उसके अन्तःकरण में हर्ष, शोकादि विकार नहीं होते| वह सदा सम रहता है| साधारण मनुष्य धनादि अनुकूल पदार्थों की प्राप्ति में सुख तथा प्रतिकूल पदार्थों की प्राप्ति में दुःख का अनुभव करते हैं, परन्तु उन्हीं पदार्थों के प्राप्त होने अथवा न होने पर सिद्ध भक्त के अन्तःकरण में कभी किंचित मात्र भी राग, द्वेष, हर्ष, शोकादि विकार नहीं होते| वह प्रत्येक परिस्थिति में सम रहता है| सुख, दुःख में सम रहने तथा सुख, दुःख से रहित होने, दोनों का एक ही अर्थ नहीं है| सुख, दुःख की परिस्थिति स्वाभाविक है, अतः उससे रहित होना सम्भव नहीं है| इसलिये भक्त अनुकूल तथा प्रतिकूल परिस्थितियों में सम रहता है| अनुकूल तथा प्रतिकूल परिस्थिति को लेकर अन्तःकरण में जो हर्ष, शोक होते हैं, वह उनसे रहित रहता है| इस दृष्टि से जहां प्रभु ने सुख, दुःख में सम होने की बात कही है वहां सुख, दुःख की परिस्थिति में सम समझना चाहिए| और जहां सुख, दुःख से रहित होने की बात कही है, वहां (अनुकूल तथा प्रतिकूल परिस्थिति की प्राप्ति से होने वाले) हर्ष, शोक से रहित समझना चाहिए|

आसक्ति रहित शब्द का अर्थ सांसारिक पदार्थों की आसक्ति रहित होने से समझा जा सकता है| मनुष्य के लिये प्रायः यह सम्भव नहीं है कि वह स्वरूप से सब पदार्थों का संग अर्थात् सम्बन्ध छोड़ सके क्योंकि जब तक मनुष्य जीवित रहता है, तब तक शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ उसके साथ रहती हैं| शरीर से भिन्न कुछ पदार्थों का त्याग स्वरूप से अवश्य किया जा सकता है| जैसे किसी व्यक्ति ने स्वरूप से प्राणी पदार्थों का संग छोड़ दिया, पर उसके अन्तःकरण में अगर उनके प्रति किंचित मात्र भी आसक्ति बनी हुई है तो उन प्राणी पदार्थों से दूर होते हुए भी वास्तव में उसका उनसे सम्बन्ध बना हुआ ही है| दूसरी ओर अगर अन्तःकरण में प्राणी पदार्थों की किंचित मात्र भी आसक्ति नहीं है तो पास रहते हुए भी वास्तव में उनसे सम्बन्ध नहीं है| अगर पदार्थों का स्वरूप से त्याग करने पर ही मुक्ति होती तो मरने वाला प्रत्येक व्यक्ति मुक्त हो जाता क्योंकि उसने

तो अपने शरीर का त्याग कर दिया| परन्तु ऐसी बात नहीं है| अन्तःकरण में आसक्ति रहते हुए शरीर का त्याग करने पर भी संसार का बन्धन बना रहता है| अतः मनुष्य की सांसारिक आसक्ति ही बाँधने वाली है, न कि सांसारिक प्राणी पदार्थों का स्वरूप से सम्बन्ध| आसक्ति को मिटाने के लिये पदार्थों का स्वरूप से त्याग करना भी एक साधन हो सकता है किंतु विशेष आवश्यकता आसक्ति का सर्वथा त्याग करने की है| संसार के प्रति यदि किंचित मात्र भी आसक्ति है तो उसका चिन्तन अवश्य होगा| इस कारण वह आसक्ति साधक को क्रमशः कामना, क्रोध, मूढ़ता आदि को प्राप्त कराती हुई उसे पतन के गर्त में गिराने का हेतु बन सकती है| भगवान् ने 'परं दृष्ट्वा निवर्तते' से भगवत् प्राप्ति के बाद आसक्ति की सर्वथा निवृत्ति की बात कही है| भगवत् प्राप्ति से पहले भी आसक्ति की निवृत्ति हो सकती है पर भगवत् प्राप्ति के बाद तो आसक्ति सर्वथा निवृत्त हो जाती है| भगवत् प्राप्त महापुरुष में आसक्ति का सर्वथा अभाव होता है| परन्तु भगवत् प्राप्ति से पूर्व साधनावस्था में आसक्ति का सर्वथा अभाव नहीं होता, ऐसा नियम नहीं है| साधनावस्था में भी आसक्ति का सर्वथा अभाव होकर साधक को तत्काल भगवत् प्राप्ति हो सकती है| आसक्ति न तो परमात्मा के अंश शुद्ध चेतन में रहती है और न जड़ (प्रकृति) में ही| वह जड़ और चेतन के सम्बन्ध रूप 'मैंपन' की मान्यता में रहती है| वही आसक्ति बुद्धि, मन, इन्द्रियों, और विषयों (पदार्थों) में प्रतीत होती है| अगर साधक के 'मैंपन' की मान्यता में रहने वाली आसक्ति मिट जाए तो दूसरी जगह प्रतीत होने वाली आसक्ति स्वतः मिट जाएगी| आसक्ति का कारण अविवेक है| अपने विवेक को पूर्णतया महत्व न देने से साधक में आसक्ति रहती है| भक्त में अविवेक नहीं रहता, इसलिये वह आसक्ति से सर्वथा रहित होता है| अपने अंशी भगवान् से विमुख होकर भूल से संसार को अपना मान लेने से संसार में राग हो जाता है और राग होने से संसार में आसक्ति हो जाती है| संसार से माना हुआ अपनापन सर्वथा मिट जाने से बुद्धि सम हो जाती है| बुद्धि के सम होने पर भक्त स्वयं आसक्ति रहित हो जाता है|

निन्दा और प्रशंसा मुख्यतः नाम की होती है| यह भी परकृत क्रिया है| प्राणी अपने स्वभाव के अनुसार भक्त की निन्दा या प्रशंसा किया करते हैं| भक्त में अपने कहलाने वाले नाम और शरीर में लेशमात्र भी अहंता और ममता नहीं

होती| इसलिये निन्दा या प्रशंसा का उस पर लेशमात्र भी प्रभाव नहीं पड़ता| भक्त का न तो अपनी स्तुति या प्रशंसा करने वाले के प्रति राग होता है और न निन्दा करने वाले के प्रति द्वेष ही होता है| उसकी दोनों में ही सम बुद्धि रहती है|

साधारण मनुष्यों के भीतर अपनी प्रशंसा की कामना रहती है, इसलिये वह अपनी निन्दा सुनकर दुःख और प्रशंसा सुनकर सुख का अनुभव करते हैं| इसके विपरीत (अपनी प्रशंसा न चाहने वाले) साधक पुरुष निन्दा सुनकर सावधान होते हैं, और स्तुति सुनकर लज्जित होते हैं| नाम में किंचित मात्र भी अपनापन न होने के कारण सिद्ध भक्त इन दोनों भावों से रहित होता है, अर्थात् निन्दा या प्रशंसा में सम होता है| भक्त की सर्वत्र भगवद् बुद्धि होने के कारण उसका निन्दा या प्रशंसा करने वालों में भेदभाव नहीं होता| भक्त के द्वारा अशुभ कर्म तो हो ही नहीं सकते और शुभ कर्मों के होने में वह केवल भगवान् को हेतु मानता है, इस कारण कोई उसकी निन्दा करे या प्रशंसा, उसके चित्त में कोई विकार पैदा नहीं होता|

सिद्ध भक्त के द्वारा स्वतः स्वाभाविक भगवत् स्वरुप का मनन होता रहता है, इसलिये उसको 'मननशील' कहा गया है| अन्तःकरण में आने वाली प्रत्येक वृत्ति में उसको, 'वासुदेवः सर्वम्', सब कुछ भगवान् ही हैं, यही दिखता है, इसलिये उसके द्वारा निरन्तर ही भगवान् का मनन होता रहता है|

साधारण प्राणियों को भक्त प्रारब्धानुसार शरीर निर्वाह के लिये जो कुछ मिल जाए उसी में संतुष्ट दिखता है, परन्तु वास्तव में भक्त की संतुष्टि का कारण कोई सांसारिक पदार्थ, परिस्थिति आदि नहीं होती| एक मात्र भगवान् में ही प्रेम होने के कारण वह नित्य, निरन्तर भगवान् में ही संतुष्ट रहता है| इस संतुष्टि के कारण वह संसार की प्रत्येक अनुकूल, प्रतिकूल परिस्थिति में सम रहता है, क्योंकि उसके अनुभव में प्रत्येक अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति भगवान् के मंगलमय विधान से ही आती है| इस प्रकार प्रत्येक परिस्थिति में नित्य, निरन्तर संतुष्ट रहने के कारण उसे 'संतुष्ट' कहा गया है|

यद्यपि अनिकेत का शाब्दिक अर्थ है जिनका कोई निकेत अर्थात् वास स्थान नहीं है| लेकिन यहां प्रभु ने अनिकेत शब्द का प्रयोग उनके लिए किया है जिन्हें अपने रहने के स्थान में ममता आसक्ति नहीं है| भक्त के रहने के स्थान में और शरीर (स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर) में लेशमात्र भी अपनापन एवं आसक्ति नहीं होती, इसलिये उसको 'अनिकेत' कहा गया है|

भक्त की बुद्धि में भगवत्-तत्व की सत्ता और स्वरूप के विषय में कोई संशय अथवा विपर्यय (विपरीत ज्ञान) नहीं होता| अतः उसकी बुद्धि भगवत्-तत्व के ज्ञान से कभी किसी अवस्था में विचलित नहीं होती, इसलिये उसको 'स्थिर बुद्धि' कहा गया है| भगवत्-तत्व को जानने के लिये उसको कभी किसी प्रमाण या शास्त्र विचार, स्वाध्याय आदि की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि वह स्वाभाविक रूप से भगवत्-तत्व में तल्लीन रहता है| स्थिर बुद्धि होने में कामनाएँ ही बाधक होती हैं, अतः कामनाओं के त्याग से ही स्थिर बुद्धि होना सम्भव है| अन्तःकरण में सांसारिक (संयोगजन्य) सुख की कामना रहने से संसार में आसक्ति हो जाती है| यह आसक्ति संसार को असत्य या मिथ्या जान लेने पर भी नहीं मिटती| जैसे चलचित्र में दिखने वाले दृश्य (प्राणी, पदार्थों) को मिथ्या जानते हुए भी उसमें आसक्ति हो जाती है, अथवा जैसे भूतकाल की बातों को याद करते समय मानसिक दृष्टि के सामने आने वाले दृश्य को मिथ्या जानते हुए भी उसमें आसक्ति हो जाती है| अतः जब तक भीतर में सांसारिक सुख की कामना है, तब तक संसार को मिथ्या मानने पर भी संसार की आसक्ति नहीं मिटती| आसक्ति से संसार की स्वतन्त्र सत्ता दृढ़ होती है| सांसारिक सुख की कामना मिटने पर आसक्ति स्वतः मिट जाती है|।आसक्ति मिटने पर संसार की स्वतन्त्र सत्ता का अभाव हो जाता है और एक भगवत्-तत्व में बुद्धि स्थिर हो जाती है|

स्मरण रहे कि मनुष्य में स्वाभाविक रूप से भक्ति (भगवत् प्रेम) रहती है| मनुष्य से भूल यही होती है कि वह भगवान् को छोड़कर संसार की भक्ति करने लगता है| इसलिये उसे स्वाभाविक रहने वाली भगवद भक्ति का रस नहीं मिलता और उसके जीवन में नीरसता रहती है| सिद्ध भक्त सदैव भक्ति रस में तल्लीन रहता है, इसलिये उसको 'प्रिय भक्त' कहा गया है|

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ।।१२-२०।।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो द्वादसोऽध्यायः |

जो मानें मुझे परम लक्ष्य वह श्रद्धावान भक्तगन |
हैं मेरे प्रिय करें जो यथावत धर्ममय कर्म पालन ||१२-२०||

करते हुए ओम तत सत पूर्ण भगवन्नाम उच्चारन |
ब्रह्मविद्या योगशास्त्रमय महाग्रंथ गीतबंधन ||
श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषदरूप ग्रन्थ अति पावन |
श्री कृष्णार्जुन संवाद भक्तियोग नामन ||
हुआ अत्र सम्पूर्ण द्वादस अध्याय करे कल्याण जन ||

भावार्थ: *जो श्रद्धावान भक्तगण मुझे ही परम लक्ष्य मानते हैं एवं यथोक्त धर्ममय कर्म का पालन करते हैं, वह मुझे प्रिय हैं|*

इस प्रकार उपनिषद, ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र रूप श्रीमद्भगवद्गीता के श्री कृष्ण-अर्जुन संवाद में 'भक्तियोग' नामक द्वादस अध्याय संपूर्ण हुआ|

टीका: भगवत् प्राप्ति लक्ष्य होने के कारण सिद्ध भक्तों के लक्षणों में प्रभु के प्रति श्रद्धा होती है| ऐसे श्रद्धालु भक्त भगवान् के धर्ममय उपदेश को भगवत् प्राप्ति के उद्देश्य से अपने में उतारने की चेष्टा किया करते हैं| यद्यपि भक्ति के साधन में श्रद्धा और प्रेम का, तथा ज्ञान के साधन में विवेक का महत्व होता है, तथापि इससे यह नहीं समझना चाहिए कि भक्ति के साधन में विवेक का और ज्ञान के साधन में श्रद्धा का महत्व नहीं है| वास्तव में श्रद्धा और विवेक की सभी साधनों में बड़ी आवश्यकता है| विवेक होने से ही साधना में सफलता मिलती है| शास्त्रों में तथा परमात्म-तत्व में श्रद्धा होने से ही ज्ञान साधन का पालन हो

सकता है| इसलिये भक्ति और ज्ञान दोनों ही साधनों में श्रद्धा और विवेक सहायक हैं|

साधक भक्तों का सिद्ध भक्तों में अत्यन्त पूज्य भाव होता है| उनकी सिद्ध भक्तों के गुणों में श्रेष्ठ बुद्धि होती है, अतः वह उन गुणों को आदर्श मानकर आदर पूर्वक उनका अनुसरण करने के लिये भगवान् के परायण होते हैं| इस प्रकार भगवान् का चिन्तन करने से और भगवान् पर ही निर्भर रहने से वह सब गुण उनमें स्वतः आ जाते हैं| इससे सिद्ध होता है कि भक्तियोग में भगवत् परायणता मुख्य है| भगवत् परायणता होने पर भगवत कृपा से अपने आप साधना होती है और असाधना (साधना के विघ्नों) का नाश होता है|

सिद्ध भक्तों के समस्त कर्म धर्ममय अर्थात् धर्म से ओतप्रोत होते हैं| उनमें किंचित मात्र भी अधर्म का अंश नहीं होता| जिस साधना में साधना विरोधी अंश सर्वथा नहीं होता, वह साधना उपयुक्त होती है| जब साधक का उद्देश्य किंचित मात्र भी धन, मान, आदर, सत्कार, संग्रह, सुख भोग आदि न होकर एक मात्र भगवत् प्राप्ति ही हो, तब प्रत्येक प्रकरण में सब लक्षण धर्ममय हो जाते हैं| प्रत्येक प्राणी में गुण और अवगुण दोनों ही रहते हैं| भक्त द्वारा अवगुणों का सर्वथा त्याग होता है, पर गुणों का त्याग नहीं होता| इसका कारण है कि साधना और स्वभाव के अनुसार सिद्ध पुरुष में गुणों का तारतम्य तो रहता है परन्तु उनमें गुणों की कमी रूप अवगुण किंचित मात्र भी नहीं रहता| गुणों में न्यूनाधिकता रहने से उनके अवगुण सर्वथा त्याज्य हैं| साधक सत्संग तो करता है, पर कुसंग कभी नहीं करता| वह सदैव संयमित रहता है, असंयमित कभी नहीं होता| यदि साधना में किसी कारण आंशिक रूप से कोई दोषमय वृत्ति उत्पन्न हो जाए तो उसकी अवहेलना न करके तत्परता से उसे हटाने की चेष्टा करनी चाहिए| चेष्टा करने पर भी न हटे तो व्याकुलता पूर्वक प्रभु से प्रार्थना करनी चाहिए| जितने सद्गुण, सदाचार, सद्भाव आदि हैं वह सब सत् (परमात्मा) के सम्बन्ध से होते हैं| इसी प्रकार दुर्गुण, दुराचार, दुर्भाव आदि सब असत् के सम्बन्ध से होते हैं| दुराचारी पुरुष में भी सर्वथा सद्गुण सदाचार का अभाव नहीं होता क्योंकि सत् (परमात्मा) का अंश होने के कारण जीव का सत् से नित्य सिद्ध सम्बन्ध है| परमात्मा से सम्बन्ध रहने के कारण किसी न किसी

अंश में उसमें सद्गुण सदाचार रहेंगे ही| परमात्मा की प्राप्ति होने पर असत् से सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है, और दुर्गुण, दुराचार, दुर्भाव आदि सर्वथा नष्ट हो जाते हैं| सद्गुण सदाचार सद्भाव भगवान् की सम्पत्ति है| इसलिये साधक जितना ही भगवान् के सम्मुख अथवा भगवत् परायणता होता जाएगा, उतने ही अंश में स्वतः सद्गुण, सदाचार, सद्भाव प्रकट होते जाएंगे और दुर्गुण, दुराचार, दुर्भाव नष्ट होते जाएंगे | राग-द्वेष, हर्ष-शोक, काम-क्रोध आदि अन्तःकरण के विकार हैं| धर्मी के साथ धर्म का नित्य सम्बन्ध रहता है| सूर्य रूप धर्मी के साथ उष्णता रूप धर्म का नित्य सम्बन्ध रहता है, जो कभी मिट नहीं सकता| अतः धर्मी के बिना धर्म तथा धर्म के बिना धर्मी नहीं रह सकता| काम, क्रोधादि विकार साधारण मनुष्य में भी सदैव नहीं रहते| साधना करने वाले में कम होते रहते हैं और सिद्ध पुरुष में तो सर्वथा ही नहीं रहते| यदि यह विकार अन्तःकरण के धर्म होते तो हर समय एक रूप से रहते और अन्तःकरण (धर्मी) के रहते हुए कभी नष्ट नहीं होते| अतः यह अन्तःकरण के धर्म नहीं हैं, प्रत्युत आगन्तुक (आने जाने वाले) विकार हैं| साधक जैसे जैसे अपने एक मात्र लक्ष्य भगवान् की ओर बढ़ता है, वैसे ही राग, द्वेषादि विकार मिटते जाते हैं और भगवान् को प्राप्त होने पर उन विकारों का अत्यन्त अभाव हो जाता है| असत् से सर्वथा विमुख होने से उन सिद्ध महापुरुषों में यह विकार लेशमात्र भी नहीं रहते|

साधक भक्तों की दृष्टि में भगवान् के प्रिय सिद्ध भक्त अत्यन्त श्रद्धास्पद होते हैं| भगवान् की ओर स्वाभाविक आकर्षण (प्रियता) होने के कारण उनमें दैवीय सम्पत्ति अर्थात् सद्गुण स्वाभाविक ही आ जाते हैं| साधकों का उन सिद्ध महापुरुषों के गुणों के प्रति स्वाभाविक आदर भाव होता है और वह उन गुणों को अपने में उतारने की चेष्टा करते हैं| यही साधक भक्तों द्वारा उन गुणों का अच्छी तरह से सेवन करना, उनको अपनाना है| अच्छी तरह सेवन करने का तात्पर्य यही है कि साधक में किंचित मात्र भी अवगुण नहीं रहने चाहिए| जैसे साधक में सम्पूर्ण प्राणियों के प्रति करुणा का भाव पूर्ण रूप से भले ही न हो, पर उसमें किसी प्राणी के प्रति अकरुणा (निर्दयता) का भाव बिलकुल भी नहीं रहना चाहिए| साधक में भगवत् प्राप्ति की तीव्र उत्कण्ठा और व्याकुलता होने पर उसके अवगुण अपने आप नष्ट हो जाते हैं क्योंकि उत्कण्ठा और व्याकुलता

अवगुणों का खा जाती है| उसके द्वारा प्रभु प्राप्ति के साधन भी अपने आप होने लगते हैं, इस कारण उन्हें भगवत् प्राप्ति शीघ्र और सुगमता से हो जाती है|

भक्तिमार्ग पर चलने वाले भगवदाश्रित साधकों के लिये यहाँ 'भक्त' शब्द का प्रयोग किया गया है| जो भगवान् में मन लगाकर अत्यन्त श्रद्धा पूर्वक उनकी उपासना करते हैं, वह साधक भक्त हैं| उन साधक भक्तों को भगवान् अपना अत्यन्त प्रिय बताते हैं| सिद्ध भक्तों को प्रिय और साधकों को अत्यन्त प्रिय बताने के कई कारण हैं:

(१) सिद्ध भक्तों को तो तत्व का अनुभव अर्थात् भगवत् प्राप्ति हो चुकी है किन्तु साधक भक्त भगवत् प्राप्ति न होने पर भी श्रद्धा पूर्वक भगवान् के परायण होते हैं इसलिये वह भगवान् को अत्यन्त प्रिय होते हैं|

(२) सिद्ध भक्त भगवान् के पुत्र समान हैं, अतः अति प्रिय हैं|

मोरें प्रौढ़ तनय सम ग्यानी। बालक सुत सम दास अमानी।।

छोटा बालक स्वाभाविक ही सब को प्रिय लगता है, इसलिये भगवान् को भी साधक भक्त अत्यन्त प्रिय हैं|

(३) सिद्ध भक्त को तो भगवान् अपने प्रत्यक्ष दर्शन देकर अपने को ऋण मुक्त मान लेते हैं, पर साधक भक्त तो (प्रत्यक्ष दर्शन न होने पर भी) सरल विश्वास पूर्वक एक मात्र भगवान् के आश्रित होकर उनकी भक्ति करते हैं| अतः उनको अभी तक अपने प्रत्यक्ष दर्शन न देने के कारण भगवान् अपने को उनका ऋणी मानते हैं और इसलिये उनको अपना अत्यन्त प्रिय कहते हैं|

अध्याय १३: क्षेत्र-क्षेत्रज्ञविभागयोग

अर्जुन उवाच
प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च ।
एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव ।।१३-१।।

अर्जुन उवाच
छंद:
जानना चाहूँ विषय ज्ञान और ज्ञेय बोले अर्जुन ।
दो ज्ञान मुझे प्रकृति पुरुष क्षेत्र क्षेत्रज्ञ कृश्न ।।१३-१।।

भावार्थ: *अर्जुन बोले, 'हे कृष्ण, मैं प्रकृति, पुरुष, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ तथा ज्ञान और ज्ञेय को जानना चाहता हूँ।'*

टीका: गीता की अनेक पाण्डुलिपियों में यह पद नहीं मिलता है, जबकि कुछ अन्य हस्तलिपियों में यह अर्जुन की जिज्ञासा के रूप में दिया हुआ है| भारतीय सांख्य दर्शन के प्रणेता कपिल मुनि जी ने जड़ और चेतन तत्त्वों का भावार्थ क्रमशः प्रकृति और पुरुष, इन दो शब्दों से किया है| इन दोनों के संयोग से ही सृष्टि का निर्माण होता है| क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का अर्थ इस अध्याय की प्रस्तावना में स्पष्ट किया गया है| ज्ञान शब्द से तात्पर्य उस सत्य से है जिसके द्वारा आत्म-तत्व का अनुभव किया जाता है| यह आत्मा ही ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य वस्तु है| अर्जुन की इस जिज्ञासा को इस अध्याय में भगवान् कृष्ण दूर करते हैं|

श्रीभगवानुवाच
इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ।।१३-२।।

श्रीभगवानुवाच
हे अर्जुन समझो शरीर को ही क्षेत्र बोले भगवन ।
जाने जो यह तथ्य समझो उसे तुम क्षेत्रज्ञ बुद्धिवन ।।१३-२।।

भावार्थ: *श्री भगवान् बोले, 'हे अर्जुन, इस शरीर को ही क्षेत्र कहते हैं| जो यह तथ्य जानता है वह ज्ञानी क्षेत्रज्ञ है|'*

टीका: जो शरीर (क्षेत्र) पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश, इन पाँच तत्त्वों से बना हुआ है अर्थात् जो माता, पिता के रजवीर्य से पैदा होता है, उसको स्थूल शरीर कहते हैं| इसका दूसरा नाम अन्नमयकोश भी है क्योंकि यह अन्न के विकार से पैदा होता है और अन्न से ही जीवित रहता है |अतः यह अन्नमय अन्नस्वरूप ही है| इन्द्रियों का विषय होने से यह शरीर इदम् कहा जाता है| पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण, मन और बुद्धि, इन सत्रह तत्त्वों से बने हुए शरीर को सूक्ष्म शरीर कहते हैं| इन सत्रह तत्त्वों में से प्राणों की प्रधानता को लेकर यह सूक्ष्म शरीर प्राणमय कोश, मन की प्रधानता को लेकर यह मनोमय कोश और बुद्धि की प्रधानता को लेकर यह विज्ञानमय कोश कहलाता है| ऐसा यह सूक्ष्म शरीर भी अन्तःकरण का विषय होने से इदम् कहा जाता है| अज्ञान को 'कारण शरीर' कहते हैं| मनुष्य को बुद्धि तक का तो ज्ञान होता नहीं है, फिर बुद्धि से आगे का ज्ञान कैसे होगा, इसलिये उसे अज्ञान कहते हैं| यह अज्ञान सम्पूर्ण शरीरों का कारण होने से 'कारण शरीर' कहलाता है, 'अज्ञानमेवास्य हि मूलकारणम्'| इस कारण शरीर को स्वभाव, आदत और प्रकृति भी कहा जा सकता है, अतः यह आनन्दमय कोश है| जाग्रत् अवस्था में स्थूल शरीर की प्रधानता होती है और उसमें सूक्ष्म तथा कारण शरीर भी साथ में रहता है| स्वप्न अवस्था में सूक्ष्म शरीर की प्रधानता होती है और उसमें कारण शरीर भी साथ में रहता है| सुषुप्ति अवस्था में स्थूल शरीर का ज्ञान नहीं रहता, जो कि अन्नमय कोश है और न ही सूक्ष्म शरीर का ज्ञान रहता है जो कि प्राणमय, मनोमय एवं विज्ञानमय कोश है| अर्थात् बुद्धि अविद्या (अज्ञान) में लीन हो जाती है| अतः सुषुप्ति अवस्था 'कारण शरीर' की होती है| जाग्रत् और स्वप्न अवस्था में तो सुख, दुःख का अनुभव होता है, पर सुषुप्ति अवस्था में दुःख का अनुभव नहीं होता और सुख रहता है| इसलिये कारण शरीर को आनन्दमय कोश भी कहते हैं| शरीर भी स्वयं का विषय होने से, स्वयं के द्वारा जानने वाला होने से इदम् कहा जाता है|

उपर्युक्त तीनों प्रकार के शरीरों को 'शरीर' कहने का तात्पर्य है कि इनका प्रतिक्षण नाश होता रहता है| इनको कोश कहने का तात्पर्य है कि जैसे चमड़े से बनी हुई थैली में तलवार रखने से थैली की संज्ञा म्यान हो जाती है, ऐसे ही जीवात्मा के द्वारा इन तीनों शरीरों को अपना मानने से, अपने को इन में रहने वाला मानने से इन तीनों शरीरों की संज्ञा कोश हो जाती है|

इस शरीर को क्षेत्र कहने का तात्पर्य है कि यह प्रतिक्षण नष्ट होता है, प्रतिक्षण बदलता है| यह इतना शीघ्र बदलता है कि इसको दुबारा कोई देख ही नहीं सकता| अर्थात् दृष्टि पड़ते ही जिसको देखा तो पर उसको फिर दुबारा नहीं देख सकते क्योंकि वह तो बदल गया| शरीर को क्षेत्र कहने का दूसरा भाव कृषि भूमि से है| जैसे कृषि भूमि में तरह तरह के बीज डालकर खेती की जाती है, ऐसे ही इस मनुष्य शरीर में अहंता, ममता करके जीव तरह तरह के कर्म करता है| उन कर्मों के संस्कार अन्तःकरण में पड़ते हैं| वह संस्कार जब फल के रूप में प्रकट होते हैं, तब दूसरा शरीर मिलता है| जिस प्रकार कृषि भूमि में जैसा बीज बोया जाता है, वैसा ही अनाज पैदा होता है, उसी प्रकार इस शरीर से जैसे कर्म किए जाते हैं, उनके अनुसार ही दूसरे शरीर, परिस्थिति आदि मिलते हैं| इसका तात्पर्य है कि इस शरीर में किए गए कर्मों के अनुसार ही यह जीव बार बार जन्म-मरण रूप फल भोगता है| इसी दृष्टि से इसको क्षेत्र (कृषि भूमि) कहा गया है| अपने वास्तविक स्वरूप से अलग दिखने वाला यह शरीर प्राकृत पदार्थों से, क्रियाओं से, वर्ण आश्रम आदि से इदम् (दृश्य) ही है| स्वयं प्राणी परमात्मा का अंश एवं चेतन है, अतः महान् है| परन्तु जब वह जड़ (दृश्य) पदार्थों से अपनी महत्ता मानने लगता है, जैसे मैं धनी हूँ, मैं विद्वान् हूँ, आदि, तब वास्तव में वह अपनी महत्ता घटाता है| इतना ही नहीं, अपना महान अपमान करता है| अगर धन, विद्या आदि से वह अपने को बड़ा मानता है, तो धन, विद्या आदि ही बड़े हुए, उसका अपना महत्व तो कुछ नहीं रहा| वास्तव में देखा जाए तो महत्व स्वयं का ही है, नाशवान् और जड़ धनादि पदार्थों का नहीं| क्योंकि जब प्राणी स्वयं उन पदार्थों को स्वीकार करता है, तभी वह महत्वशाली दिखता है| जीवात्मा इस शरीर को जानता है, अर्थात् यह शरीर मेरा है, इन्द्रियाँ मेरी हैं, मन मेरा है, बुद्धि मेरी है, प्राण मेरे हैं, ऐसा मानता है| यह जीवात्मा इस शरीर को कभी 'मैं' कह देता है और कभी कह देता है, 'मैं शरीर हूँ'| पहले सत, असत

के तत्व को जानने वालों को प्रभु ने तत्वदर्शी कहा है, ऐसे ही यहाँ क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ के तत्व को जानने वालों को ज्ञानी (तत्वज्ञ) कहा है| क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जिनको बोध हो चुका है, उन ज्ञानी (तत्वज्ञ) महापुरुष को क्षेत्रज्ञ कहते हैं| इसका तात्पर्य है कि क्षेत्र के साथ सम्बन्ध रहने से ही इस जीवात्मा को ज्ञानी क्षेत्रज्ञ कहते हैं| अगर यह जीवात्मा क्षेत्र के साथ सम्बन्ध न रखे, तो फिर इसकी संज्ञा क्षेत्रज्ञ नहीं रहेगी, यह परमात्म-स्वरूप हो जाएगा|

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ।।१३-३।।

समझो मुझे ही क्षेत्रज्ञ तुम सब क्षेत्र हे पृथानंदन |
है क्षेत्र क्षेत्रज्ञ ज्ञान ही सत्य ऐसा मेरा आंकलन ||१३-३||

भावार्थ: *हे अर्जुन, समस्त क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ मुझे ही जानो| क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का ज्ञान ही सत्य है, ऐसा मेरा मत है|*

टीका: प्रभु ने कहा कि क्षेत्रज्ञ की उनके (परमात्मा के) साथ एकता है, अर्थात सम्पूर्ण क्षेत्रों में प्रभु को ही क्षेत्रज्ञ समझो| मनुष्य किसी विषय को जानता है तो वह जानने वाला विषय 'ज्ञेय' कहलाता है| इस ज्ञेय को किसी करण के द्वारा ही जाना जा सकता है| करण दो प्रकार का होता है, बहिःकरण और अन्तःकरण| मनुष्य इन्द्रिय विषयों को बहिःकरण (श्रोत्र, नेत्र आदि) से जानता है और बहिःकरण को अन्तःकरण (मन, बुद्धि आदि) से जानता है| उस अन्तःकरण की चार वृत्तियाँ हैं, मन, बुद्धि, चित्त, और अहंकार| इन चारों में अहंकार सब से सूक्ष्म है, जो कि एकदेशीय है| यह अहंकार जिससे देखा जाता है, जाना जाता है, वह जानने वाला प्रकाश 'क्षेत्रज्ञ' है|

प्रभु कह रहे हैं कि हे अर्जुन, जैसे तुम अपने को शरीर में मानते हो और शरीर को अपना मानते हो, ऐसे ही तुम अपने को मुझ में जानो और मुझ को अपने में| अर्थात तुमने शरीर के साथ जो एकता मान रखी है, उसको छोड़ने के लिये मेरे साथ एकता मानना आवश्यक है| जैसे यहाँ भगवान् ने क्षेत्रज्ञ की अपने साथ

एकता बताई है, ऐसे ही पहले भगवान् ने शरीरी (आत्मा) के लिये कहा था कि यह मुझ में व्याप्त है, उसको तुम अविनाशी समझो, 'अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्' और मुझ से ही यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है, 'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना'| भगवान् ने कहा है कि शरीर तो प्रकृति का अंश है, इसलिये तुम इससे सर्वथा विमुख हो जाओ| तुम (आत्मा) मेरे अंश हो, इसलिये तुम मेरे सम्मुख हो जाओ| शरीर की संसार के साथ स्वाभाविक एकता है, परन्तु यह जीव शरीर को संसार से अलग मानकर उसके साथ ही अपनी एकता मान लेता है| परमात्मा के साथ आत्मा (क्षेत्रज्ञ) की स्वाभाविक एकता होते हुए भी शरीर के साथ मानने से यह अपने को परमात्मा से अलग मानता है| शरीर को संसार से अलग मानना और अपने को परमात्मा से अलग मानना, यह दोनों ही असत्य मान्यताएँ हैं| अतः भगवान् यहाँ कहते हैं कि आत्मा (क्षेत्रज्ञ) और मैं, एक ही हूँ, ऐसा समझो| इसका तात्पर्य है कि तुमने जहां शरीर के साथ अपनी एकता मान रखी है, वहीं मेरे साथ अपनी एकता मान लो| शास्त्रों में प्रकृति, जीव और परमात्मा, इन तीनों का अलग अलग वर्णन आता है, परन्तु यहाँ भगवान् एक विलक्षण भाव की ओर लक्ष्य कराते हैं| प्रभु कहते हैं कि शास्त्रों में परमात्मा के जिस सर्व व्यापक स्वरूप का वर्णन हुआ है, वह मैं ही हूँ| इसके साथ ही सम्पूर्ण क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ रूप से पृथक दिखने वाला भी मैं ही हूँ| अतः क्षेत्रज्ञ रूप से परमात्मा ही है, ऐसा जानकर साधक मेरे साथ अभिन्नता का अनुभव करे| स्वयं प्राणी संसार से भिन्न और परमात्मा से अभिन्न है| इसलिये यह नियम है कि संसार का ज्ञान तभी होता है, जब उससे सर्वथा भिन्नता का अनुभव किया जाए| इसका तात्पर्य है कि संसार से राग रहित होकर ही संसार के वास्तविक स्वरूप को जाना जा सकता है| परन्तु परमात्मा का ज्ञान उनसे अभिन्न होने से ही होता है| इसलिये परमात्मा का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कराने के लिये भगवान् क्षेत्रज्ञ के साथ अपनी अभिन्नता बता रहे हैं| इस अभिन्नता को यथार्थ रूप से जानने पर परमात्मा का वास्तविक ज्ञान हो जाता है| क्षेत्र (शरीर) की सम्पूर्ण संसार के साथ एकता है, और क्षेत्रज्ञ (आत्मा) की मेरे साथ एकता है, प्रभु कह रहे हैं कि ऐसा जो क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ का ज्ञान है, वही मेरे मत में यथार्थ ज्ञान है| सांसारिक व्यवहार में काम आने वाला ज्ञान संसार में फँसाने वाला होने से अज्ञान ही है| वास्तविक ज्ञान तो वही है, जिससे स्वयं का शरीर से सम्बन्ध विच्छेद हो जाए और फिर

संसार में जन्म न हो, संसार की परतन्त्रता न हो| यही ज्ञान भगवान् के मत में यथार्थ ज्ञान है|

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे श्रृणु ।।१३-४।।

क्या है क्षेत्र क्या उसके विकार और क्या कारन |
क्या डालता प्रभाव क्षेत्रज्ञ सुनो अब तुम अर्जुन ||१३-४||

भावार्थ: *हे अर्जुन, क्षेत्र क्या है, इसके विकार क्या हैं तथा इस का कारण क्या है, और क्षेत्रज्ञ क्या प्रभाव डालता है, यह अब सुनो|*

टीका: प्रभु कह रहे हैं कि हे अर्जुन, अब तुम सुनो कि यह क्षेत्र क्या है, किन विकारों वाला है और इसकी उत्पत्ति कैसे हुई? यहां क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ के विभाग का स्पष्ट रूप से विवेचन (विकार सहित क्षेत्र और निर्विकार क्षेत्रज्ञ के स्वरूप का प्रभाव सहित विवेचन) प्रभु करने जा रहे हैं| यहां भगवान् ने क्षेत्र के विषय में उसका स्वरुप, विकार और उत्पत्ति, तथा क्षेत्रज्ञ के विषय में उसका प्रभाव सुनने की आज्ञा दी है| इससे यह शंका हो सकती है कि प्रभु ने क्षेत्र का प्रभाव क्यों नहीं कहा और क्षेत्रज्ञ के स्वभाव, विकार और उत्पत्ति के विषयों पर क्यों नहीं कुछ कहा| इसका समाधान यह है कि एक क्षण भी एक रूप में स्थिर न रहने वाले क्षेत्र का प्रभाव नहीं हो सकता| प्रकृतिस्थ (संसारी) पुरुष के अन्तःकरण में धनादि जड़ पदार्थों का महत्व रहता है, इसलिये उसको संसार में क्षेत्र का (धनादि जड़ पदार्थों का) प्रभाव दिखता है| वास्तव में स्वतन्त्र रूप से क्षेत्र का कुछ भी प्रभाव नहीं है| अतः उसके प्रभाव का कोई वर्णन नहीं किया जा सकता| क्षेत्रज्ञ उत्पत्ति और विनाश रहित है, इसलिये उसका स्वभाव भी उत्पत्ति और विनाश रहित है| अतः भगवान् ने उसके स्वभाव का अलग से वर्णन न करके स्वरूप के अन्तर्गत ही उसका वर्णन कर दिया है| क्षेत्र के साथ अपना सम्बन्ध मानने के कारण ही क्षेत्रज्ञ में इच्छा, द्वेषादि विकारों की प्रतीति होती है, अन्यथा क्षेत्रज्ञ (स्वरूपतः) सर्वथा निर्विकार है| निर्विकार क्षेत्रज्ञ के विकारों का वर्णन

सम्भव नहीं| क्षेत्रज्ञ अद्वितीय, अनादि और नित्य है| अतः इसके विषय में कौन किस से पैदा हुआ, यह प्रश्न ही नहीं बनता|

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चतैः ।।१३-५।।

किए वेद ऋचाएं और ऋषि क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का वर्णन |
सम्यक् प्रकार से ब्रह्मसूत्र में भी है इसका विवरन ||१३-५||

भावार्थ: *क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ का वर्णन वेद की ऋचाएं एवं ऋषियों ने किया है| इसे सम्यक् प्रकार से ब्रह्मसूत्र में भी वर्णित किया गया है|*

टीका: वैदिक मन्त्रों और ऋषियों ने अपने अपने (शास्त्र, स्मृति आदि) ग्रन्थों में जड़-चेतन, सत-असत, शरीर-शरीरी, नित्य-अनित्य आदि शब्दों से क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ का वर्णन किया है| अनेक युक्तियों से युक्त ब्रह्मसूत्र द्वारा भी क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ के तत्व का वर्णन किया गया है| यहां भगवान् का आशय ऐसा प्रतीत होता है कि क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ का जो वर्णन मैं कर रहा हूँ, उसे अगर कोई विस्तार से देखना चाहे तो वह उपर्युक्त ग्रन्थों में देख सकता है|

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ।।१३-६।।

पञ्च महाभूत दस इन्द्रिय मद मूल-प्रकृति वयुन |
पञ्च विषय मन व् इन्द्रिय हैं चौबीस क्षेत्र अयन ||१३-६||

भावार्थ: *हे अर्जुन, पञ्च महाभूत, दस इन्द्रियाँ, अहंकार, बुद्धि, मूल-प्रकृति, मन तथा इन्द्रियों के पाँच विषय, यह क्षेत्र की चौबीस गति हैं|*

टीका: 'मूल-प्रकृति' बुद्धि का कारण होने से और स्वयं किसी का भी कार्य न होने से वास्तव में प्रकृति ही है| बुद्धि महत्वता का वाचक है| बुद्धि से अहंकार

पैदा होता है, इसलिये यह भी एक प्रकार से प्रकृति ही है और 'मूल-प्रकृति' का कार्य होने से यह विकृति है| इसका तात्पर्य है कि बुद्धि प्रकृति एवं विकृति, दोनों ही है| अहंकार अहं भाव का वाचक है| पञ्च महाभूत का कारण होने से यह अहंकार भी प्रकृति है और बुद्धि का कार्य होने से यह विकृति है| इसका तात्पर्य है कि यह अहंकार भी प्रकृति एवं विकृति दोनों ही है| पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश, यह पाँच महाभूत हैं| महाभूत दो प्रकार के होते हैं, पञ्चीकृत और अपञ्चीकृत| एक एक महाभूत के पाँच पाँच विभाग होकर जो मिश्रण होता है, उसको पञ्चीकृत महाभूत कहते हैं| इन पाँच पाँच महाभूतों के विभाग न होने पर इनको अपञ्चीकृत महाभूत कहते हैं| यहाँ इन्हीं अपञ्चीकृत महाभूतों का वाचक महाभूत है| इन महाभूतों को पञ्च तन्मात्राएँ तथा सूक्ष्म महाभूत भी कहते हैं| दस इन्द्रियाँ, एक मन और शब्दादि पाँच विषयों के कारण होने से यह महाभूत प्रकृति हैं और अहंकार के कार्य होने से यह विकृति हैं| इसका तात्पर्य है कि ये पञ्च महाभूत प्रकृति एवं विकृति दोनों ही हैं| श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण, यह पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं तथा वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ और पायु, यह पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं| यह दसों इन्द्रियाँ अपञ्चीकृत महाभूतों से पैदा होने से और स्वयं किसी का भी कारण न होने से केवल विकृति हैं| अपञ्चीकृत महाभूतों से पैदा होने से और स्वयं किसी का भी कारण न होने से मन केवल विकृति है| शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध, यह (पाँच ज्ञानेन्द्रियों के) पाँच विषय हैं| अपञ्चीकृत महाभूतों से पैदा होने से और स्वयं किसी के भी कारण न होने से ये पाँचों विषय केवल विकृति हैं| इन सब का निष्कर्ष यह निकला कि पाँच महाभूत, एक अहंकार और एक बुद्धि, यह सात प्रकृति एवं विकृति हैं| मूल-प्रकृति केवल 'प्रकृति' है, और दस इन्द्रियाँ, एक मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियों के विषय, यह सोलह केवल विकृति हैं| इस तरह इन चौबीस तत्त्वों के समुदाय का नाम क्षेत्र है|

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ।।१३-७।।

इच्छा द्वेष सुख दुःख स्थूल तन पिंड धृति और चेतन |
इन विकारों को समझो लक्षण क्षेत्र तुम हे अर्जुन ||१३-७||

भावार्थ: *हे अर्जुन, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, स्थूल देह का पिण्ड, चेतन और धृति, इन विकारों को क्षेत्र के लक्षण समझो|*

टीका: क्षेत्र के विकारों में भगवान् सबसे पहले इच्छा को महान विकार मानते हैं क्योंकि ऐसा कोई पाप और दुःख नहीं है जो सांसारिक इच्छाओं से पैदा न होता हो, अर्थात् सम्पूर्ण पाप और दुःख सांसारिक इच्छाओं से ही पैदा होते हैं| कामना और अभिमान में जब बाधा आती है तो क्रोध पैदा होता है| अन्तःकरण में उस क्रोध का जो सूक्ष्म रूप रहता है, उसको द्वेष कहते हैं| यहाँ द्वेष शब्द के अन्तर्गत क्रोध को भी समझ लेना चाहिए|

अनुकूलता के आने पर मन में जो प्रसन्नता होती है, अर्थात् अनुकूल परिस्थिति जो मन को सुहाती है उसको सुख कहते हैं| प्रतिकूलता के आने पर मन में जो हलचल होती है ,अर्थात् प्रतिकूल परिस्थिति जो मन को नहीं सुहाती है उसको दुःख कहते हैं|

चौबीस तत्त्वों से बने हुए शरीर का उत्पन्न होकर सत्ता रूप से दिखना भी एक विकार है| उसमें प्रतिक्षण परिवर्तन होते रहना भी विकार है|

चेतन नाम 'प्राण शक्ति' का है अर्थात् शरीर में जो प्राण चल रहे हैं, उसका नाम चेतन है| इस चेतन में परिवर्तन होता रहता है| सात्त्विक वृत्ति आने पर प्राण शक्ति शान्त रहती है, परन्तु चिन्ता, शोक, भय, उद्वेग आदि होने पर प्राण शक्ति वैसी शान्त नहीं रहती, क्षुब्ध हो जाती है| यह प्राण शक्ति निरन्तर नष्ट होती रहती है| अतः यह भी एक विकार रूप ही है| साधारण लोग प्राण वालों को चेतन और निष्प्राण वालों को अचेतन कहते हैं| इस दृष्टि से यहाँ प्राण शक्ति को चेतन कहा गया है|

धृति नाम धारण शक्ति का है| यह धृति भी बदलती रहती है| मनुष्य कभी धैर्य धारण करता है और कभी (प्रतिकूल परिस्थिति आने पर) धैर्य छोड़ देता है| कभी धैर्य अधिक रहता है और कभी धैर्य कम रहता है| मनुष्य कभी अच्छी बात को धारण करता है और कभी विपरीत बात को धारण करता है| अतः धृति

भी क्षेत्र का एक विकार है| पहले प्रभु ने धृति के सात्त्विकी, राजसी और तामसी, इन तीन भेदों का वर्णन किया है| परमात्मा की ओर चलने में सात्त्विकी धृति की बड़ी आवश्यकता है, 'एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्'|

प्रभु ने व्यष्टि शरीर से स्वयं को अलग देखने के लिये कहा है| ऐसे ही दृश्य (क्षेत्र और उसमें होने वाले विकार) से द्रष्टा को अलग दिखाने के लिये यहाँ प्रभु यह निर्देश दे रहे हैं| भगवान् पहले समष्टि संसार का वर्णन कर चुके हैं, यहाँ व्यष्टि शरीर के विकारों का वर्णन कर रहे हैं क्योंकि समष्टि संसार में इच्छा, द्वेषादि विकार नहीं होते| इसका तात्पर्य यह है कि व्यष्टि शरीर समष्टि संसार से और समष्टि संसार व्यष्टि शरीर से अलग नहीं है, अर्थात् यह दोनों एक हैं| भगवान् ने जैसे क्षेत्रज्ञ के साथ अपनी एकता बताई, ऐसे ही यहाँ व्यष्टि शरीर और उसमें होने वाले विकारों की समष्टि संसार के साथ एकता बताते हैं| पुरुष की स्थिति (सम्बन्ध) व्यष्टि शरीर में हो जाने से उसकी स्थिति समष्टि प्रकृति में हो जाती है क्योंकि व्यष्टि शरीर और समष्टि प्रकृति, यह दोनों एक ही हैं| वास्तव में देखा जाए तो व्यष्टि है ही नहीं, केवल समष्टि ही है| व्यष्टि केवल भूल से मानी हुई है| जैसे समुद्र की लहरों को समुद्र से अलग मानना भूल है, ऐसे ही व्यष्टि शरीर को समष्टि संसार से अलग (अपना) मानना भूल है|

अमानित्वदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ।।१३-८।।

न हो भाव साधक कभी उच्चता और दम्भाचरन |
हो हृदय में सदैव अहिंसा क्षमा और सहजपन ||
हो भाव गुरु सेवा जितेन्द्रिय स्थिर बुद्धि पावन ||१३-८||

भावार्थ: *साधक में श्रेष्ठता एवं दम्भाचरण का भाव न हो| हृदय में अहिंसा, क्षमा, सरलता का भाव हो| गुरु के प्रति सेवा भाव, पवित्र, जितेन्द्रिय एवं स्थिर बुद्धि वाला हो|*

टीका: वर्ण, आश्रम, योग्यता, विद्या, गुण आदि को लेकर अपने में श्रेष्ठता का भाव होने से प्राणी के हृदय में मान्य भाव उत्पन्न हो जाता है| यह भाव उत्पत्ति, विनाशशील शरीर के साथ तादात्म्य होने से ही होता है| अतः इसमें जड़ता की ही मुख्यता रहती है| इस मान्यपन के रहने से साधक को वास्तविक ज्ञान प्राप्त नहीं हो पाता| यह मान्यपन साधक में जितना कम रहेगा, उतना ही जड़ता का महत्व कम होगा| जड़ता का महत्व जितना कम होगा, जड़ता को लेकर अपने में मान्यपन का भाव भी उतना ही कम होगा और साधक उतना ही चिन्मयता की ओर शीघ्रता से बढ़ेगा| जब साधक स्वयं को बड़ा मानने लगता है तब उसमें मान्यपन आ जाता है| अतः साधक को चाहिए कि जो श्रेष्ठ पुरुष हैं, साधना में अपने से बड़े हैं, तत्वज्ञ (जीवन मुक्त) हैं, उनका सत्संग करे, उनके पास रहे, उनके अनुकूल बन जाए| इससे यह मान्यपन विकार दूर हो जाएगा| इतना ही नहीं, उनके सत्संग से बहुत से दोष सुगमता पूर्वक दूर हो जाते हैं| गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं:
'सबहि मानप्रद आपु अमानी|

अर्थात् संत सभी को मान देने वाले और स्वयं अमानी अर्थात मान पाने की इच्छा से रहित होते हैं|

इसी तरह साधक को भी मान्यपन दूर करने के लिये सदा दूसरों का मान, आदर, सत्कार, प्रशंसा आदि करने का स्वभाव बना लेना चाहिए| ऐसा स्वभाव तभी बन सकता है जब वह दूसरों को किसी न किसी दृष्टि से अपने से श्रेष्ठ माने| यह नियम है कि प्रत्येक मनुष्य भिन्न भिन्न स्थिति वाला होते हुए भी कोई न कोई विशेषता रखता ही है| यह विशेषता वर्ण, आश्रम, गुण, विद्या, बुद्धि, योग्यता, पद, अधिकार आदि किसी भी कारण से हो सकती है| अतः साधक को चाहिए कि वह दूसरों की विशेषता की ओर दृष्टि रखकर उनका सदा सम्मान करे| इस प्रकार दूसरों को मान देने का भीतर से स्वभाव बन जाने से स्वयं मान पाने की इच्छा का स्वतः अभाव होता चला जाता है| दूसरों को मान देते समय साधक का उद्देश्य अपने में मान्यपन मिटाने का होना चाहिए, बदले में दूसरों से मान पाने का नहीं|

भगवान् ने भक्तिमार्ग के साधक में सबसे पहले भय का अभाव बताया है, और अन्त में मान्यपन का अभाव बताया है, 'नातिमानिता'| परन्तु ज्ञानमार्ग के साधन में मान्यपन का अभाव सबसे पहले बताया है, 'अमानित्वम्', और भय का अभाव सब से अन्त में बताया है, 'तत्वज्ञानार्थदर्शनम्'| इसका तात्पर्य यह है कि जैसे बालक अपनी माँ को देखकर अभय हो जाता है, ऐसे ही भक्तिमार्ग में साधक भक्त प्रह्लाद जी की तरह आरम्भ से ही सब जगह प्रभु को ही देखता है, इसलिये वह आरम्भ में ही अभय हो जाता है| भक्त में स्वयं अमानी रहकर दूसरों को मान देने की आदत आरम्भ से ही रहती है| अन्त में उसका देहाध्यास अर्थात् शरीर से मानी हुई एकता अपने आप मिट जाती है तब वह सर्वथा अमानी हो जाता है| परन्तु ज्ञानमार्ग में साधक आरम्भ से ही शरीर के साथ अपनी एकता नहीं मानता, इसलिये वह आरम्भ में ही अमानी हो जाता है क्योंकि शरीर से एकता मानने से ही मान्यपन आता है| अन्त में वह तत्वज्ञान के अर्थ रूप परमात्मा को सब जगह देखकर अभय हो जाता है|

दम्भ दिखावटीपन का नाम है| जब प्राणी का ऐसा भाव होता है कि उनके तथाकथित गुणों के कारण लोग उन्हें आदर दें, उन्हें ऊँचे आसन पर बैठाएं, अपने में गुण कम होने पर भी बाहर से अधिक प्रकट करें, यह सब दम्भ है| दुराचारी पुरुष अच्छे लोगों के समुदाय में आने पर मान, सत्कार, कीर्ति, प्रतिष्ठा आदि की प्राप्ति की इच्छा से अपने को बाहर से धर्मात्मा, भक्त, सेवक, दानी आदि का भाव ले आते हैं, यह दम्भ है| कोई साधक यदि एकान्त में, बंद कमरे में बैठकर तो जप, ध्यान, चिन्तन कर रहा है पर साथ में आलस्य, नींद भी ले रहा है, परन्तु जब बाहर से उस पर श्रद्धा, पूज्य भाव रखने वाले प्राणी का स्वर आता है तब उस स्वर को सुनते ही सावधान होकर जप, ध्यान करने लग जाता है, उसके नींद आलस्य भाग जाते हैं, यह भी एक सूक्ष्म दम्भ है| इसमें देखा जाए तो स्वर सुनकर सावधान हो जाना कोई दोष नहीं है, पर उसमें जो दिखावटीपन का भाव आ जाता है कि यह प्राणी मुझ में अश्रद्धा न कर ले, यह भाव आना दोष है| इस भाव के स्थान पर ऐसा भाव आना चाहिए कि भगवान् ने बड़ा अच्छा किया कि मुझे सावधान करके जप, ध्यान में लगा दिया| इन सब प्रकार के दम्भों का अभाव होना अदम्भित्व है| साधक को अपना उद्देश्य एक मात्र परमात्म-तत्व की प्राप्ति का ही रखना चाहिए| लोगों को दिखाने का

किंचित मात्र भी नहीं| अगर उसमें दिखावटीपन आ जाएगा तो उस की साधना में शिथिलता आ जाएगी, जिससे उद्देश्य की सिद्धि में बाधा पड़ेगी| अतः उसको कोई अच्छा, बुरा, ऊँच, नीच जो कुछ भी समझे, इसकी ओर ध्यान न दे कर वह अपने साधना में लगा रहे| ऐसी सावधानी रखने से दम्भ मिट जाता है|

मन, वाणी और शरीर से कभी किसी को किंचित मात्र भी दुःख न देने का नाम अहिंसा है| कर्ता भेद से हिंसा तीन प्रकार की होती है, कृत (स्वयं हिंसा करना), कारित (किसी से हिंसा करवाना) और अनुमोदित (हिंसा का अनुमोदन समर्थन करना)| उपर्युक्त तीन प्रकार की हिंसा तीन भावों से होती है, क्रोध, लोभ और मोह| इसका तात्पर्य है कि क्रोध से भी कृत, कारित और अनुमोदित हिंसा होती है, लोभ से भी कृत, कारित और अनुमोदित हिंसा होती है तथा मोह से भी कृत, कारित और अनुमोदित हिंसा होती है| इस तरह हिंसा नौ प्रकार की हो जाती है| उपर्युक्त नौ प्रकार की हिंसा में तीन मात्राएं होती हैं, मृदु मात्रा, मध्य मात्रा और अधि मात्रा| किसी को थोड़ा दुःख देना मृदु मात्रा में हिंसा है, मृदु मात्रा से अधिक दुःख देना मध्य मात्रा में हिंसा है और बहुत अधिक घायल कर देना अथवा समाप्त कर देना अधि मात्रा में हिंसा है| इस तरह मृदु, मध्य और अधि मात्रा के भेद से हिंसा सत्ताईस प्रकार की हो जाती है| उपर्युक्त सत्ताईस प्रकार की हिंसा तीन करणों से होती है, शरीर, वाणी और मन| इस तरह हिंसा इक्यासी प्रकार की हो जाती है| इनमें से किसी भी प्रकार की हिंसा न करने का नाम अहिंसा है| अहिंसा भी चार प्रकार की होती है, देशगत, कालगत, समयगत, और व्यक्तिगत| अमुक तीर्थ में, अमुक मन्दिर में, अमुक स्थान में किसी को दुःख नहीं देना है, यह देशगत अहिंसा है| अमावस्या, पूर्णिमा, व्यतिपात आदि पर्वों के दिन किसी को दुःख नहीं देना है, यह कालगत अहिंसा है| सन्त के मिलने पर, पुत्र के जन्म दिन पर, पिता के निधन दिवस पर किसी को दुःख नहीं देना है, यह समयगत अहिंसा है| गाय, हरिण आदि को तथा गुरुजन, माता पिता, बालक आदि को दुःख नहीं देना है, यह व्यक्तिगत अहिंसा है| किसी भी देश, काल आदि में क्रोध, लोभ, मोह पूर्वक किसी को भी शरीर, वाणी और मन से किसी भी प्रकार से दुःख न देने से यह सार्वभौम अहिंसा महाव्रत कहलाती है| जैसे साधारण प्राणी अपने शरीर का सुख चाहता है, ऐसे ही साधक को सब के सुख में अपना सुख, सबके हित में अपना हित और सब की सेवा में अपनी

सेवा माननी चाहिए| अर्थात् सबके सुख, हित और सेवा से अपना सुख, हित और सेवा अलग नहीं माननी चाहिए| सब अपने ही स्वरूप हैं, ऐसा विवेक जाग्रत् रहने से उसके द्वारा किसी को दुःख देने की क्रिया नहीं होगी और उसमें अहिंसा भाव स्वतः आ जाएगा|

सहनशीलता का नाम क्षमा है| अपने में सामर्थ्य होते हुए भी अपराध करने वाले को कभी किसी प्रकार से किंचित मात्र भी दण्ड न मिले, ऐसा भाव रखना तथा उससे बदला लेने अथवा किसी दूसरे के द्वारा दण्ड दिलवाने का भाव न रखना ही क्षमा है| सहनशीलता अपने स्वरूप में स्वतः सिद्ध है क्योंकि अपने स्वरूप में कभी विकृति नहीं होती| अतः कभी अमुक ने दुःख दिया है, अपराध किया है, ऐसी कोई वृत्ति आ भी जाए तो उस समय यह विचार स्वतः आना चाहिए कि हमारा कोई कुछ बिगाड़ नहीं सकता, हममें कोई विकृति नहीं सकती| ऐसा विचार करने से क्षमा भाव स्वतः आ जाता है| जैसे भोजन करते समय अपने ही दाँतों से अपनी जीभ कट जाए तो हम दाँतों पर क्रोध नहीं करते, दाँतों को दण्ड नहीं देते| जीभ ठीक हो जाए यह बात तो मन में अवश्य आती है, पर दाँतों को तोड़ दें, यह भाव मन में कभी नहीं आता| इसका कारण है कि दाँतों को तोड़ेंगे तो एक नई पीड़ा और होगी अर्थात् पीड़ा दुगुनी होगी जिससे हमें अत्यंत ही दुःख होगा, हमारा ही अनिष्ट होगा| ऐसे ही बिना कारण कोई हमारा अपराध करता है, हमें दुःख देता है, उसको अगर हम दण्ड देंगे, दुःख देंगे तो वास्तव में हमारा ही अनिष्ट होगा क्योंकि वह भी तो अपना ही स्वरूप है|

साधक को शरीर, मन और वाणी से सरल और सीधा होना चाहिए| शरीर की सजावट का भाव न होना, रहन, सहन में सादगी तथा चाल ढाल में स्वाभाविक सीधापन होना, ऐंठ, अकड़ न होना , यह शरीर की सरलता है| छल, कपट, ईर्ष्या, द्वेष आदि का न होना तथा निष्कपटता, सौम्यता, दया आदि का भाव होना, यह मन की सरलता है| व्यंग्य, निन्दा, चुगली आदि न करना, चुभने वाले एवं अपमान जनक वचन न बोलना तथा सरल, प्रिय और हितकारक वचन बोलना, यह वाणी की सरलता है| अपने को एक देश में मानने से अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर के साथ सम्बन्ध रखने से अपने में दूसरों की अपेक्षा विशेषता दिखाई देती है| इससे व्यवहार में भी चलते-फिरते, उठते-बैठते आदि

क्रिया करते हुए कुछ अकड़ आ जाती है| अतः शरीर के साथ अपना सम्बन्ध न मानने से और अपने स्वरूप की ओर दृष्टि रखने से यह अकड़ मिट जाती है, और साधक में स्वतः सरलता, नम्रता आ जाती है|

विद्या और सदुपदेश देने वाले आचार्य का नाम गुरु है और उनकी सेवा से लाभ होता है| यहाँ गुरु शब्द परमात्म-तत्व प्राप्त जीवन मुक्त महापुरुष का ही वाचक है| आचार्य को दण्डवत् प्रणाम करना, उनका आदर सत्कार करना और उनके शरीर को सुख पहुँचाने की शास्त्रविहित चेष्टा करना भी उनकी उपासना है| पर वास्तव में उनके सिद्धान्तों और भावों के अनुसार अपना जीवन बनाना ही उनकी सच्ची उपासना है| इसका कारण कि देहाभिमानी की सेवा तो उसके देह की सेवा करने से ही हो जाती है, पर गुणातीत महापुरुष के केवल देह की सेवा करना उनकी पूर्ण सेवा नहीं है| भगवान् ने दैवीय सम्पत्ति के लक्षणों में गुरु शब्द न देकर ज्ञान के साधनों में दिया है| इसमें एक विशेष रहस्य की बात है कि ज्ञानमार्ग में गुरु की जितनी आवश्यकता है, उतनी आवश्यकता भक्तिमार्ग में नहीं है| इसका कारण है कि भक्तिमार्ग में साधक सर्वथा भगवान् के आश्रित रहकर ही साधना करता है, इसलिये भगवान् स्वयं उस पर कृपा करके उसके योगक्षेम का वहन करते हैं| उसकी कमियों, विघ्न, बाधाओं को दूर कर देते हैं, और उसको तत्व-ज्ञान की प्राप्ति करा देते हैं| परन्तु ज्ञानमार्ग में साधक अपनी साधना के बल पर चलता है, इसलिये उसमें कुछ सूक्ष्म कमियाँ रह सकती हैं, जैसे:

(१) शास्त्रों एवं संतों के द्वारा ज्ञान प्राप्त करके जब साधक शरीर को (अपनी धारणा से) अपने से अलग मानता है, तब उसे शान्ति मिलती है| ऐसी दशा में वह यह मान लेता है कि मुझे तत्व-ज्ञान प्राप्त हो गया| परन्तु जब मान, अपमान की स्थिति सामने आती है अथवा अपनी इच्छा के अनुकूल या प्रतिकूल घटना घटती है, तब अन्तःकरण में हर्ष, शोक पैदा हो जाते हैं| इससे सिद्ध होता है कि उसे अभी तत्व-ज्ञान नहीं मिला|

(२) किसी प्राणी के द्वारा अचानक अपना नाम सुनाई पड़ने पर अन्तःकरण में इस नाम वाला शरीर मैं हूँ, ऐसा भाव उत्पन्न हो जाता है तो समझना चाहिए कि अभी मेरी शरीर में ही स्थिति है|

(३) साधना की ऊँची स्थिति प्राप्त होने पर जाग्रत् अवस्था में तो साधक को जड़, चेतन का विवेक अच्छी तरह रहता है, पर निद्रावस्था में उसकी विस्मृति हो जाती है| इसलिये नींद से जगने पर साधक उस विवेक को पकड़ता है जब कि सिद्ध महापुरुष का विवेक स्वाभाविक रूप से रहता है|

(४) साधक में पूज्य जनों से भी मान, आदर पाने की इच्छा हो जाती है जैसे जब वह संतों या गुरुजनों की सेवा करता है, सत्संग आदि में मुख्यता से भाग लेता है, तब उसके भीतर ऐसा भाव पैदा होता है कि वह संत या गुरुजन मुझे दूसरों की अपेक्षा श्रेष्ठ मानें| यह उसकी सूक्ष्म कमी ही है| इस प्रकार साधक में कई कमियों के रहने की सम्भावना रहती है जिनकी ओर ध्यान न रहने से वह अपने अधूरे ज्ञान को भी पूर्ण मान सकता है| इसलिये भगवान् गुरु शब्द से यह कह रहे हैं कि ज्ञानमार्ग के साधक को आचार्य के पास रहकर उनकी अधीनता में ही साधन करना चाहिए| पहले भी भगवान् ने अर्जुन से कहा है कि तुम तत्वज्ञ जीवन मुक्त महापुरुषों के पास जाओ, उनको दण्डवत् प्रणाम करो, उनकी सेवा करो, वह महापुरुष तुम्हारी उन सूक्ष्म कमियों को जिनको वह स्वयं भी नहीं जानता, दूर करके तुम्हें सुगमता से परमात्म-तत्व का अनुभव करा देंगे| साधक को आरम्भ में ही सोच समझ कर आचार्य, संत, महापुरुष के पास जाना चाहिए|

आचार्य (गुरु) कैसा हो इस सम्बन्ध में यह बातें ध्यान में रखनी चाहिए:

(१) अपनी दृष्टि में जो वास्तविक बोधवान्, तत्वज्ञ दिखते हों|

(२) जो कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि साधनों को भली भांति जानने वाले हों|

(३) जिनके संग से, वचनों से हमारे हृदय में रहने वाली शंकाएं बिना पूछे ही स्वतः दूर हो जाती हों|

(४) जिनके पास में रहने से प्रसन्नता, शान्ति का अनुभव होता हो|

(५) जो हमारे साथ केवल हमारे हित के लिये ही सम्बन्ध रखते हुए दिखते हों|

(६) जो हम से किसी भी वस्तु की किंचित मात्र भी आशा न रखते हों|

(७) जिनकी सम्पूर्ण चेष्टाएँ केवल साधकों के हित के लिये ही होती हों|
(८) जिनके पास में रहने से लक्ष्य की ओर हमारी लगन स्वतः बढ़ती हो|

(९) जिनके संग, दर्शन, भाषण, स्मरण आदि से हमारे दुर्गुण, दुराचार दूर होकर स्वतः सद्गुण सदाचार रूप दैवीय सम्पत्ति आती हो|

(१०) जिनके अतिरिक्त और किसी में वैसी अलौकिकता, विलक्षणता न दिखती हो|

ऐसे आचार्य संत के पास रहना चाहिए और केवल अपने उद्धार के लिये ही उनसे सम्बन्ध रखना चाहिए| वह क्या करते हैं, क्या नहीं करते हैं, वह कैसी क्रिया करते हैं, वह किस के साथ कैसा बर्ताव करते हैं, आदि में अपनी बुद्धि नहीं लगानी चाहिए| अर्थात् उनकी क्रियाओं में तर्क नहीं लगाना चाहिए| साधक को तो उनके अधीन होकर रहना चाहिए, उनकी आज्ञा के अनुसार क्रियाएँ करनी चाहिए और श्रद्धा भाव पूर्वक उनकी सेवा करनी चाहिए| अगर वह महापुरुष न चाहते हों तो उनसे गुरु-शिष्य का व्यावहारिक सम्बन्ध भी जोड़ने की आवश्यकता नहीं है| उनको हृदय से गुरु मानकर उन पर श्रद्धा रखने में कोई आपत्ति नहीं है| अगर ऐसे महापुरुष न मिलें तो साधक को चाहिए कि वह केवल परमात्मा के परायण होकर उनके ध्यान, चिन्तन आदि में लग जाए और विश्वास रखे कि परमात्मा अवश्य गुरु की प्राप्ति करा देंगे| वास्तव में देखा जाए तो पूर्णतया परमात्मा पर निर्भर हो जाने के बाद गुरु का काम परमात्मा ही पूर्ण

कर देते हैं क्योंकि गुरु के द्वारा भी वस्तुतः परमात्मा ही साधक का मार्ग दर्शन करते हैं| जिस साधक का परमात्म-तत्व की प्राप्ति का ही उद्देश्य है, उसमें यह भाव रहना चाहिए कि आज तक जिस किसी को जो कुछ भी मिला है, वह गुरु, सन्तों की सेवा से, उनकी प्रसन्नता से, उनके अनुकूल बनने से ही मिला है, अतः मुझे भी सच्चे हृदय से सन्तों की सेवा करनी है|

शिष्य का कर्तव्य है, गुरु की सेवा करना| अगर शिष्य अपने कर्तव्य का तत्परता से पालन करे तो उसका संसार से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है, और वह गुरु-तत्व के साथ एक हो जाता है अर्थात् उसमें गुरुत्व आ जाता है| संसार से सम्बन्ध विच्छेद होने पर मुक्ति और गुरु-तत्व से एक होने पर भक्ति प्राप्त होती है| शिष्य में गुरुत्व आने से उसमें शिष्यत्व नहीं रहता| उस पर शास्त्र आदि का शासन नहीं रहता| अगर शिष्य अपने कर्तव्य का पालन न करे तो उसका नाम तो शिष्य रहेगा, पर उसमें शिष्यत्व नहीं रहेगा| शिष्यत्व न रहने से उसका संसार से सम्बन्ध विच्छेद नहीं होगा और उसमें गुरुत्व भी नहीं आएगा| अतः उसमें संसार की दासता रहेगी| गुरु केवल मेरा ही कल्याण करे, ऐसा भाव रखना भी शिष्य के लिये बन्धन है| शिष्य को चाहिए कि वह अपने लिये कुछ भी न चाहकर सर्वथा गुरु को समर्पित हो जाए, उनकी इच्छा में ही अपनी इच्छा रखे| गुरु का कर्तव्य शिष्य का कल्याण करना है| अगर गुरु अपने कर्तव्य का पालन न करे तो उसका नाम तो गुरु रहेगा, पर उसमें गुरुत्व नहीं रहेगा| गुरुत्व न रहने से उसमें शिष्य का दासत्व रहेगा| जब तक गुरु शिष्य से कुछ भी (धन, मान, प्रशंसा आदि) चाहता है, तब तक उसमें गुरुत्व न रहकर शिष्य की दासता रहती है|

शुद्धि बाहर एवं भीतर, दोनों की होनी चाहिए| जल, मिट्टी आदि से शरीर की शुद्धि होती है, और दया, क्षमा, उदारता आदि से अन्तःकरण की शुद्धि होती है| शरीर ऐसे पदार्थों से बना है कि इसको चाहे जितना शुद्ध करते रहें, यह अशुद्ध ही रहता है| इसको बार बार शुद्ध करते रहने से इसकी वास्तविक अशुद्धि का ज्ञान होता है, जिससे शरीर से अरुचि (उपरामता) हो जाती है| वर्ण, आश्रम आदि के अनुसार सच्चाई के साथ धन का उपार्जन करना, झूठ, कपट आदि न

करना, खान, पान में पवित्र वस्तुएं काम में लाना, आदि से अन्तःकरण की शुद्धि होती है|

बुद्धि की स्थिरता कभी विचलित न होने से होती है| जो विचार कर लिया है, जिसको लक्ष्य बना लिया है, उससे विचलित न होना बुद्धि की स्थिरता है| मुझे तत्व ज्ञान प्राप्त करना ही है, ऐसा दृढ़ निश्चय करना और विघ्न बाधाओं के आने पर भी उनसे विचलित न होकर अपने निश्चय के अनुसार साधन में तत्परता पूर्वक लगे रहना, इसी को यहाँ बुद्धि की स्थिरता कहा गया है| सांसारिक भोग और संग्रह में आसक्त पुरुषों की बुद्धि एक निश्चय पर दृढ़ नहीं रहती, अतः साधक को भोग और संग्रह की आसक्ति का त्याग कर देना चाहिए| साधक अगर किसी छोटे से छोटे कार्य का भी विचार कर ले, तो उस विचार की हिंसा न करे अर्थात् उस पर दृढ़ता से स्थिर रहे| ऐसा करने से उसका स्थिर रहने का स्वभाव बन जाएगा| साधक का संतों और शास्त्रों के वचनों पर जितना अधिक विश्वास होगा, उतनी ही उसमें स्थिरता आएगी|

मन को वश में कर लेना ही जितेन्द्रिय है| मन में दो प्रकार के विचार पैदा होते हैं, स्फुरणा और संकल्प| स्फुरणा अनेक प्रकार की होती है और वह आती जाती रहती है| पर जिस स्फुरणा में मन लग जाता है, जिसको मन पकड़ लेता है, वह संकल्प बन जाती है| संकल्प में राग और द्वेष आते हैं| इन दोनों को लेकर मन में चिन्तन होता है| स्फुरणा दर्पण के दृश्य की तरह होती है| दर्पण में दृश्य दिखता तो है, पर कोई भी दृश्य स्थिर नहीं रहता, अर्थात् दर्पण किसी भी दृश्य को पकड़ता नहीं| परन्तु संकल्प चलचित्र के कैमरे की तरह होता है जो दृश्य को पकड़ लेता है| अभ्यास से अर्थात् मन को बार बार ध्येय में लगाने से स्फुरणाएँ नष्ट हो जाती हैं और वैराग्य से अर्थात् किसी वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ आदि में राग, महत्व न रहने से संकल्प नष्ट हो जाते हैं| इस प्रकार अभ्यास और वैराग्य से मन वश में हो जाता है|

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ।।१३-९।।

रहे भोग आसक्ति रहित अगर्वित इह व् परलोक जन |
करे मरण जन्म वृद्धावस्था व्याधि दुःख विचिन्तन ||१३-९||

भावार्थ: *इस लोक और परलोक में भोग में आसक्ति और अहंकार रहित हो| जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था एवं व्याधि में दुःख का बार बार विचार करे|*

टीका: लोक परलोक के विषयों में इन्द्रियों का खिंचाव न होना ही इन्द्रियों के विषयों में राग रहित होना है| इन्द्रियों का विषयों के साथ सम्बन्ध होने पर तथा शास्त्र के अनुसार जीवन निर्वाह के लिये इन्द्रियों द्वारा विषयों का सेवन करते हुए भी साधक को विषयों में राग, आसक्ति, प्रियता नहीं होनी चाहिए| विषयों में राग होने से ही विषयों की महत्ता दिखती है, संसार में आकर्षण होता है, और इसी से सब पाप होते हैं| विषयों में राग होने से तत्व बोध नहीं होता, परमात्म-तत्व में स्थिति नहीं होती| अगर राग का त्याग कर दें तो परमात्मा में स्थिति हो जाएगी, ऐसा विचार करने से विषयों से वैराग्य हो जाता है| सदैव स्मरण रखें कि अनेक धनी, शूरवीर, राजा, महाराजा ने बहुत से भोगों को भोगा पर अन्त में उनकी क्या दशा हुई? उनके शरीर दुर्बल हो गए और अन्त में लोक छोड़ सब चले गए| इस प्रकार विचार करने से भी वैराग्य हो जाता है| जिन्होंने भोग नहीं भोगे हैं, जिनके पास भोग सामग्री नहीं है, जो संसार से विरक्त हैं, उनकी अपेक्षा जिन्होंने बहुत भोग भोगे हैं और भोग रहे हैं, उनमें क्या विलक्षणता, विशेषता है, इसका चिंतन करने से भी वैराग्य होता है|

प्रत्येक व्यक्ति के अनुभव में 'मैं' हूँ, इस प्रकार की एक वृत्ति होती है| यह वृत्ति ही शरीर के साथ मिलकर 'मैं शरीर हूँ', इस प्रकार एकदेशीयता, अर्थात् अहंकार उत्पन्न कर देती है| इसी कारण शरीर, नाम, क्रिया, पदार्थ, भाव, ज्ञान, त्याग, देश, काल आदि के साथ अपना सम्बन्ध मानकर जीव ऊँच, नीच योनियों में जन्म- मरण के बंधन में रहता है| यह अहंकार साधना में प्रायः साथ रहता है| वास्तव में इस अहंकार की सत्ता नहीं है, फिर भी स्वयं की मान्यता होने के कारण व्यक्तित्व के रूप में इसका भान होता रहता है| भगवान् द्वारा ज्ञान के साधनों में इस पद का प्रयोग किए जाने का तात्पर्य शरीरादि में माने हुए अहंकार का सर्वथा अभाव करने में है क्योंकि जड़ चेतन का यथार्थ बोध होने

पर इसका सर्वथा अभाव हो जाता है| मनुष्य अहंकार रहित हो सकता है, इसलिये भगवान् यहाँ 'अगर्वित' शब्द से अहंकार का त्याग करने की बात कहते हैं| अभिमान और अहंकार का प्रयोग एक साथ होने पर उनसे अलग अलग भावों का बोध होता है| सांसारिक चीजों के सम्बन्ध से अभिमान पैदा होता है| ऐसे ही त्याग, वैराग्य, विद्या, आदि को लेकर अपने में विशेषता देखने से भी अभिमान पैदा होता है| शरीर को ही अपना स्वरूप मानने से अंहकार पैदा होता है| यहाँ 'अगर्वित' शब्द से अभिमान और अहंकार, दोनों के सर्वथा अभाव का अर्थ लेना चाहिए| मनुष्य को नींद से जगने पर सबसे पहले अहम् अर्थात् 'मैं हूँ', इस वृत्ति का ज्ञान होता है| फिर 'मैं अमुक शरीर, नाम, जाति, वर्ण, आश्रम, आदि का हूँ', ऐसा अभिमान होता है| यह एक क्रम है| इसी प्रकार पारमार्थिक मार्ग में भी अहंकार के नाश का एक क्रम है| सबसे पहले स्थूल शरीर से सम्बन्धित धनादि पदार्थों का अभिमान मिटता है| फिर कर्मेन्द्रियों के सम्बन्ध से रहने वाले कर्तृत्वाभिमान का नाश होता है| उसके बाद बुद्धि की प्रधानता से रहने वाला ज्ञातापन का अहंकार मिटता है| अन्त में अहम् वृत्ति की प्रधानता से जो साक्षीपन का अहंकार है, वह भी मिट जाता है| तब सर्वत्र परिपूर्ण सच्चिदानन्द स्वरूप स्वतः रह जाता है| अपने में श्रेष्ठता की भावना से ही अभिमान पैदा होता है| अभिमान तभी होता है, जब मनुष्य दूसरों की ओर देखकर यह सोचता है कि वह मेरी अपेक्षा में तुच्छ है| अभिमान रूप दोष को मिटाने के लिये साधक को चाहिए कि वह दूसरों की कमी की ओर कभी न देखे, प्रत्युत अपनी कमियों को देखकर उनको दूर करे| एक ही आत्मा जैसे इस शरीर में व्याप्त है, ऐसे ही वह अन्य शरीरों में भी व्याप्त है, 'सर्वगतः'| परन्तु मनुष्य अज्ञान से सर्वव्यापी आत्मा को एक अपने शरीर में ही सीमित मानकर शरीर को 'मैं' मान लेता है| एक शरीर में 'मैं शरीर हूँ', ऐसी अहंता कर वह काल से सम्बन्ध मानकर, 'मैं इस समय में हूँ', देश से सम्बन्ध मानकर,' मैं यहाँ हूँ', बुद्धि से सम्बन्ध मानकर,' मैं समझदार हूँ', वाणी से सम्बन्ध मानकर, 'मैं वक्ता हूँ', आदि अहंकार कर लेता है| इस प्रकार के सम्बन्ध न मानना ही अहंकार रहित होने का उपाय है| शास्त्रों में परमात्मा का सच्चिदानन्द रूप से वर्णन आया है| सत् (सत्ता), चित् (ज्ञान), और आनन्द (अविनाशी सुख), यह तीनों परमात्मा के भिन्न भिन्न स्वरूप नहीं हैं, प्रत्युत एक ही परमात्म-तत्व के तीन नाम हैं| अतः साधक इन तीनों में से किसी एक विशेषण से भी परमात्मा

का लक्ष्य करके निर्विकल्प हो सकता है| निर्विकल्प होने से उसको परमात्म-तत्व में अपनी स्वतः सिद्ध स्थिति का अनुभव हो जाता है और अहंकार का सर्वथा नाश हो जाता है| इसको इस प्रकार समझना चाहिए:

(१) सत् - परमात्म-तत्व सदा से ही था, सदा से है और सदा ही रहेगा| वह कभी बनता बिगड़ता नहीं, कम अधिक भी नहीं होता, सदा ज्यों का त्यों रहता है, ऐसा बुद्धि के द्वारा विचार करके निर्विकल्प होकर स्थिर हो जाने से साधक का बुद्धि से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है और उस सत तत्व में अपनी वास्तविक स्थिति का अनुभव हो जाता है| ऐसा अनुभव होने पर फिर अहंकार नहीं रहता|

(२) चित् - जैसे प्रत्येक व्यक्ति के शरीरादि अहम् के अन्तर्गत दृश्य हैं, ऐसे ही अहम् भी (मैं, तू, यह और वह के रूप में) एक ज्ञान के अन्तर्गत दृश्य है| उस ज्ञान (चेतन) में निर्विकल्प होकर स्थिर हो जाने से परमात्म-तत्व में स्वतः सिद्ध स्थिति का अनुभव हो जाता है, फिर अहंकार नहीं रहता|

(३) आनन्द - साधक प्रायः बुद्धि और अहम को प्रकाशित करने वाले चेतन को भी बुद्धि के द्वारा ही जानने की चेष्टा किया करते हैं| वास्तव में बुद्धि के द्वारा जाने अर्थात् सीखे हुए विषय को ज्ञान की संज्ञा देना और उससे अपने आपको ज्ञानी मान लेना भूल है| बुद्धि को प्रकाशित करने वाला तत्व बुद्धि के द्वारा नहीं जाना जा सकता, यद्यपि साधक के पास बुद्धि के अतिरिक्त ऐसा और कोई साधन नहीं है जिससे वह तत्व को जान सके| तथापि बुद्धि के द्वारा केवल जड़ संसार की वास्तविकता को ही जाना जा सकता है| बुद्धि जिससे प्रकाशित होती है, उस तत्व को बुद्धि नहीं जान सकती| उस तत्व को जानने के लिये बुद्धि से भी सम्बन्ध विच्छेद करना आवश्यक है| बुद्धि को प्रकाशित करने वाले परमात्म-तत्व में निर्विकल्प रूप से स्थित हो जाने पर बुद्धि से सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है| फिर एक आनन्द स्वरूप (जहां दुःख का लेश भी नहीं है) परमात्म-तत्व ही शेष रह जाता है जो स्वयं ज्ञान स्वरूप और सत्-स्वरुप है| इस प्रकार तत्व में निर्विकल्प (चुप) हो जाने पर आनन्द ही आनन्द है, ऐसा अनुभव होता है| ऐसा अनुभव होने पर फिर अहंकार नहीं रहता|

जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था और रोगों के दुःख रूप दोषों को बार बार देखने का तात्पर्य है कि इस विचार को दृढ़ करना कि इसमें केवल दुःख ही दुःख है| जो जन्म लेता है, उसको मरना ही पड़ता है, यह नियम है| इससे कोई बच ही नहीं सकता| मृत्यु के समय जब प्राण शरीर से निकलते हैं तब हजारों बिच्छू शरीर में एक साथ डंक मारते हों, ऐसी पीड़ा होती है| जीवन भर कमाये हुए धन से और अपने परिवार से जब वियोग होता है और फिर उनके मिलने की सम्भावना नहीं रहती तब (ममता, आसक्ति के कारण) बड़ा भारी दुःख होता है| जिस धन को कभी किसी को दिखाना नहीं चाहता था, जिस धन को परिवार वालों से छिपा कर तिजोरी में रखा हुआ था, उसकी चाबी परिवार वालों के हाथ में पड़ी देखकर मन में असह्य वेदना होती है| इस तरह मृत्यु के दुःख रूप दोषों को बार बार देखें| वृद्धावस्था में शरीर और अवयवों की शक्ति क्षीण हो जाती है, जिससे चलने-फिरने, उठने-बैठने में कष्ट होता है| प्रत्येक प्रकार का भोजन नहीं पचता| बड़ा होने के कारण प्राणी परिवार से आदर चाहता है पर कोई प्रयोजन न रहने से घर वाले निरादर, अपमान ही करते हैं| तब मन में पहले की बातें याद आती हैं कि मैंने धन कमाया है, इनको पाला पोसा है, पर आज यह मेरा तिरस्कार कर रहे हैं, इन बातों को लेकर बड़ा दुःख होता है| इस तरह वृद्धावस्था के दुःख रूप दोषों को बार बार देखें| यह शरीर व्याधियों का, रोगों का घर है, 'शरीरं व्याधिमन्दिरम्'| शरीर में वात, कफ आदि से पैदा होने वाले अनेक प्रकार के रोग होते रहते हैं और इन रोगों से शरीर में बड़ी पीड़ा होती है| इस तरह रोगों के दुःख रूप दोषों को बार बार देखने से वैराग्य होता है| इसका तात्पर्य है कि जन्म, मृत्यु आदि के दुःख रूप दोषों को देखना भोगों से वैराग्य होने में हेतु है क्योंकि भोगों के राग से अर्थात् गुणों के संग से ही जन्म होता है, 'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'| यह जन्म लेना ही सम्पूर्ण दुःखों का कारण है| भगवान् ने पुनर्जन्म को दुःखालय बताया है, 'पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्'|

शरीर आदि जड़ पदार्थों के साथ अपना सम्बन्ध मानने से, उनको महत्व देने से, उनका आश्रय लेने से ही सम्पूर्ण दोष उत्पन्न होते हैं, 'देहाभिमानिनि सर्वे दोषाः प्रादुर्भवन्ति'| परमात्मा का स्वरूप अथवा उसका ही अंश होने के कारण

जीवात्मा स्वयं निर्दोष है| गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं, 'चेतन अमल सहज सुखरासी'|

यही कारण है कि जीवात्मा को दुःख और दोष अच्छे नहीं लगते क्योंकि वह इसके सजातीय नहीं हैं| जीव अपने द्वारा ही पैदा किए दोषों के कारण सदा दुःख पाता रहता है| अतः भगवान् जन्म, मृत्यु आदि के दुःख रूप दोषों के मूल कारण देहाभिमान को विचारपूर्वक मिटाने के लिये कह रहे हैं|

असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ।।१३-१०।।

रहे रहित आसक्ति ममता संतान पत्नी निवास धन |
हो सम अनुकूल प्रतिकूल परिस्थिति जिसका मन ||१३-१०||

भावार्थ: *संतान, स्त्री, घर, धन, ममता आदि में आसक्ति का अभाव हो| प्रिय और अप्रिय परिस्थिति में चित्त को सम रखता हो|*

टीका: उत्पन्न होने वाली (सांसारिक) वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदि में जो प्रियता है, उसको आसक्ति कहते हैं| सांसारिक वस्तुओं, व्यक्तियों आदि से सुख लेने की इच्छा से, सुख की आशा से और सुख के भोग से ही मनुष्य की उनमें आसक्ति, प्रियता होती है| इसका कारण है कि मनुष्य को संयोग के अतिरिक्त सुख नहीं दिखता, इसलिये उसको संयोगजन्य सुख प्रिय लगता है| परन्तु वास्तविक सुख संयोग के वियोग से होता है| इसलिये साधक के लिये सांसारिक आसक्ति का त्याग करना बहुत आवश्यक है| संयोगजन्य सुख आरम्भ में तो अमृत की तरह दिखता है पर परिणाम में विष की तरह होता है| संयोगजन्य सुख भोगने वाले को परिणाम में दुःख भोगना पड़ता है, यह नियम है| अतः संयोगजन्य सुख के परिणाम पर दृष्टि रखने से उसमें आसक्ति नहीं रहती| संतान, स्त्री, घर, धन, भूमि, पशु, आदि के साथ माना हुआ जो घनिष्ठ सम्बन्ध है, गाढ़ मोह है, तादात्म्य है, मानी हुई एकात्मता है, उसके कारण प्राणी भव बंधन में पड़ जाता है| जिनके साथ अपना घनिष्ठ सम्बन्ध दिखे, उनकी सेवा

करे, उनको सुख पहुँचाये, पर उनसे सुख लेने का उद्देश्य न रखें| अगर उनसे सेवा लेने का उद्देश्य रखेंगे तो उनसे तादात्म्य हो जाएगा| उनकी प्रसन्नता के लिये कभी उनसे सेवा लेनी भी पड़े तो उसमें भी इच्छा न हो, क्योंकि इच्छा होने से उनसे तादात्म्य हो जाएगा| इसका तात्पर्य है कि किसी के साथ अपने को लिप्त न करें|

इष्ट अर्थात् मन के अनुकूल वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, घटना आदि के प्राप्त होने पर चित्त में राग, हर्ष, सुख आदि विकार न हो और अनिष्ट अर्थात् मन के प्रतिकूल वस्तु, व्यक्ति आदि के प्राप्त होने पर चित्त में द्वेष, शोक, दुःख, उद्वेग आदि विकार न हो| इसका तात्पर्य है कि अनुकूल, प्रतिकूल परिस्थितियों के प्राप्त होने पर चित्त में निरन्तर समता रहे, चित्त पर उसका कोई प्रभाव न पड़े| मनुष्य को जो कुछ अनुकूल सामग्री मिली है, उसको वह अपने लिये मानकर सुख भोगता है, यह भगवद प्राप्ति में महान् बाधक है| इसका कारण है कि संसार की सामग्री केवल संसार की सेवा में लगाने के लिये ही मिली है, अपने शरीर, इन्द्रियों को सुख पहुँचाने के लिये नहीं| ऐसे ही मनुष्य को जो कुछ प्रतिकूल सामग्री मिली है, वह दुःख भोगने के लिये नहीं मिली है, प्रत्युत संयोगजन्य सुख का त्याग करने के लिये, मनुष्य को सांसारिक राग, आसक्ति, कामना, ममता, आदि से छुड़ाने के लिये मिली है| इसका तात्पर्य है कि अनुकूल और प्रतिकूल, दोनों परिस्थितियाँ, मनुष्य को सुख, दुःख से ऊँचा उठाकर (उन दोनों से अतीत) परमात्म-तत्व को प्राप्त कराने के लिये ही मिली हैं| ऐसा दृढ़ता से मान लेने से साधक का चित्त इष्ट और अनिष्ट की प्राप्ति में भी स्वतः सम रहेगा|

मयि चाननययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ।।१३-११।।

कर मन एकाग्र करे मेरी भक्ति अनन्य योग से जन |
हो न प्रीत जन समुदाय करे वरण सदा एकाकीपन ||१३-११||

भावार्थ: *अनन्य योग के द्वारा चित्त को एकाग्र कर मेरी भक्ति करे| मनुष्यों के समुदाय में प्रेम न हो और एकाकी स्वभाव का हो|*

टीका: संसार का आश्रय लेने के कारण साधक का देहाभिमान बना रहता है| यह देहाभिमान अव्यक्त के ज्ञान में प्रधान बाधा है| इसको दूर करने के लिये भगवान् यहाँ तत्व ज्ञान का उद्देश्य रखकर अनन्ययोग द्वारा अपनी भक्ति करने को भगवद प्राप्ति का साधन बता रहे हैं| इसका तात्पर्य है कि भक्ति रूप साधन से भी देहाभिमान सुगमता पूर्वक दूर हो सकता है| भगवान् के अतिरिक्त और किसी से कुछ भी पाने की इच्छा न हो अर्थात् 'भगवान् के अतिरिक्त मनुष्य, गुरु, देवता, शास्त्र आदि मुझे परमात्म-तत्व का अनुभव करा सकते हैं' तथा 'अपने बल, बुद्धि, योग्यता से मैं परमात्म-तत्व को प्राप्त कर लूँगा', इस प्रकार किसी भी वस्तु, व्यक्ति, आदि का सहारा न हो, और 'भगवान् की कृपा से ही मुझे उस परमात्म-तत्व का अनुभव होगा', इस प्रकार केवल भगवान् का ही सहारा हो, यह भगवान् में अनन्य योग होना है| अपना सम्बन्ध केवल भगवान् के साथ ही हो, दूसरे किसी के साथ किंचित मात्र भी अपना सम्बन्ध न हो, यह भगवान् में भक्ति होना है| इसका तात्पर्य है कि परमात्म-तत्व प्राप्ति का साधन (उपाय) भी भगवान् हों और साध्य (उपेय) भी भगवान् हों, यही अनन्य योग के द्वारा भगवान् में भक्ति होना है| जिस साधक में ज्ञान के साथ भक्ति के भी संस्कार हों, उसके लिये यह साध न बहुत उपयोगी है| भक्ति परायण साधक अगर तत्व ज्ञान का उद्देश्य रखकर एक मात्र भगवान् का ही आश्रय ग्रहण करता है तो केवल इसी साधन से तत्वज्ञान की प्राप्ति कर सकता है| गुणातीत होने के उपायों में भी भगवान् ने भक्ति की बात कही है| यहाँ यह शंका हो सकती है कि भगवान् ने भक्ति से तत्व ज्ञान की प्राप्ति बताई है परन्तु ज्ञान से भी भक्ति की प्राप्ति की बात कही है| इसका समाधान है कि जैसे भक्ति दो प्रकार की होती है, साधन भक्ति और साध्य भक्ति, ऐसे ही ज्ञान भी दो प्रकार का होता है, साधन ज्ञान और साध्य ज्ञान| साध्य भक्ति और साध्य ज्ञान, दोनों तत्वतः एक ही हैं| साधन भक्ति और साधन ज्ञान, यह दोनों साध्य भक्ति अथवा साध्य ज्ञान की प्राप्ति के साधन हैं| अतः जहां भक्ति से तत्व ज्ञान (साध्य ज्ञान) की प्राप्ति की बात कही है, वह भी उचित है और जहां ज्ञान से पराभक्ति (साध्य भक्ति) की प्राप्ति की बात कही है, वह भी उचित है| अतः साधक को चाहिए

कि उसमें कर्म, ज्ञान अथवा भक्ति, जिस संस्कार की प्रधानता हो, उसी के अनुरूप साधन में लग जाए| सावधानी केवल इतनी रखे कि उद्देश्य केवल परमात्मा का ही हो, प्रकृति अथवा उसके कार्य का नहीं| ऐसा उद्देश्य होने पर वह उसी साधन से परमात्मा को प्राप्त कर लेता है|

यहां एक शंका हो सकती है कि भगवान ने ज्ञान के साधनों में अपनी भक्ति को श्रेष्ठ बताया है| क्या ज्ञानयोग का साधक भगवान् की भक्ति भी करता है? इसका समाधान है कि ज्ञानयोग के साधक (जिज्ञासु) दो प्रकार के होते हैं, भाव प्रधान (भक्ति प्रधान) और विवेक प्रधान (ज्ञान प्रधान)| भाव प्रधान जिज्ञासु वह है, जो भगवान् का आश्रय लेकर तत्व को जानना चाहता है| पातञ्जलयोगदर्शन में भी परमात्म-तत्व की प्राप्ति के लिये अष्टाङ्ग योग के साधनों में सहायक रूप से ईश्वर प्रणिधान अर्थात् भक्ति रूप नियम कहा है| इससे सिद्ध होता है कि भक्ति रूप साधना अपनी एक अलग विशेषता रखती है| इस विशेषता के कारण भी ज्ञान के साधनों में भक्ति का वर्णन किया गया है| विवेक प्रधान जिज्ञासु वह है जो सत्, असत का विचार करते हुए तीव्र विवेक वैराग्य से युक्त होकर तत्व को जानना चाहता है| ऐसे साधकों के लिये भक्ति रूप साधन बहुत उपयोगी है| अतः यहाँ भक्ति का वर्णन करना युक्ति संगत प्रतीत होता है| केवल भगवान् को ही अपना मानना और भगवान् का ही आश्रय लेकर श्रद्धा विश्वास पूर्वक भगवन्नाम का जप, कीर्तन, चिन्तन, स्मरण आदि करना ही भक्ति का सुगम उपाय है|

मैं एकान्त में रहकर परमात्म-तत्व का चिन्तन करूँ, भजन, स्मरण करूँ, सत शास्त्रों का स्वाध्याय करूँ, उस तत्व को गहरा उतर कर समझूँ, मेरी वृत्तियों में और मेरे साधन में कोई भी विघ्न बाधा न पड़े, मेरे साथ कोई न रहे और मैं किसी के साथ न रहूँ, साधक की ऐसी स्वाभाविक अभिलाषा का नाम एकाग्र मन से भक्ति करना है| इसका तात्पर्य यह हुआ कि साधक की रुचि एकान्त में रहने की ही होनी चाहिए जहां मन में किंचित मात्र भी विकार नहीं आएं| उसके मन में यही विचार होना चाहिए कि संसार के संग का, संयोग का तो स्वतः ही वियोग हो रहा है और स्वरूप में असंगता स्वतः सिद्ध है| इस स्वतः सिद्ध असंगता में संसार का संग, संयोग, सम्बन्ध कभी नहीं हो सकता| यह स्मरण रहे कि केवल

निर्जन वन आदि में जाकर और अकेले पड़े रहकर यह मान लेना कि मैं एकान्त स्थान में हूँ, वास्तव में भूल है क्योंकि सम्पूर्ण संसार का बीज यह शरीर तो साथ में है| जब तक इस शरीर के साथ सम्बन्ध है, तब तक सम्पूर्ण संसार के साथ सम्बन्ध बना ही हुआ है| अतः एकान्त स्थान में जाने का लाभ तभी है जब देहाभिमान के नाश का उद्देश्य मुख्य हो| वास्तविक एकान्त वह है जिसमें एक तत्व के अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु न उत्पन्न हुई, न है और न होगी, ऐसा भाव हो, जिसमें न इन्द्रियाँ हैं, न प्राण हैं, न मन है और न अन्तःकरण है, जिसमें न स्थूल शरीर है, न सूक्ष्म शरीर है, और न कारण शरीर है, जिसमें न व्यष्टि शरीर है और न समष्टि संसार, जिसमें केवल एक तत्व ही तत्व है अर्थात् एक तत्व के अतिरिक्त और कुछ नहीं है| इसका कारण है कि एक परमात्म-तत्व के अतिरिक्त पहले भी कुछ नहीं था और अन्त में भी कुछ नहीं रहेगा| बीच में जो कुछ प्रतीत हो रहा है, वह भी प्रतीति के द्वारा ही प्रतीत हो रहा है अर्थात् जिनसे संसार प्रतीत हो रहा है, वह इन्द्रियाँ अन्तःकरण आदि भी स्वयं प्रतीति ही हैं| अतः प्रतीति के द्वारा ही प्रतीति हो रही है| हमारा (स्वरूप का) सम्बन्ध शरीर और अन्तःकरण के साथ कभी नहीं हुआ क्योंकि शरीर और अन्तःकरण प्रकृति का कार्य है और स्वरूप सदा ही प्रकृति से अतीत है| इस प्रकार अनुभव करना ही वास्तव में एकांत भाव है|

साधारण मनुष्य समुदाय में प्रीति, रुचि न हो अर्थात् कहाँ क्या हो रहा है, कब क्या होगा, कैसे होगा, आदि सांसारिक बातों को सुनने की कोई इच्छा न हो तथा समाचार सुनाने वाले लोगों से मिलें, कुछ समाचार प्राप्त करें, ऐसी किंचित मात्र भी इच्छा न हो| परन्तु हम से कोई तत्व की बात पूछना चाहता है, साधन के विषय में चर्चा करना चाहता है, उससे मिलने के लिये मन में जो इच्छा होती है, वह स्वाभाविक है| ऐसे ही जहां तत्व की बात होती हो, आपस में तत्व का विचार होता हो अथवा हमारी दृष्टि में कोई परमात्म-तत्व को जानने वाला हो, ऐसे पुरुषों के संग की जो रुचि होती है, वह जन समुदाय में रुचि नहीं कहलाती, प्रत्युत वह तो आवश्यक है, 'सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत्त्युक्तं न शक्यते'।

आसक्ति पूर्वक किसी का भी संग नहीं करना चाहिए, परन्तु श्रेष्ठ पुरुषों का संग करना चाहिए| इसका कारण है कि श्रेष्ठ पुरुषों का संग, असंगता प्राप्त करने की औषध है|

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ।।१३-१२।।

रखे जो साधक नित्य स्थिति अध्यात्म ज्ञान में अर्जुन |
देखे सदा तत्व ज्ञान के अर्थ रूप केवल श्री भगवन ||
समझो उसे ज्ञानी भक्त विपरीत इसके अज्ञानी जन ||१३-१२||

भावार्थ: *हे अर्जुन, जो साधक अध्यात्म ज्ञान में नित्य स्थिति रखे और तत्व ज्ञान के अर्थ रूप केवल परमात्मा को देखे, उसे ज्ञानी भक्त समझो (अर्थात वह भक्त सत्य ज्ञान जानता है)| जो इससे विपरीत है, वह अज्ञानी है|*

टीका: सम्पूर्ण शास्त्रों का लक्ष्य मनुष्य को परमात्मा की ओर लगाने में एवं परमात्म-तत्व की प्राप्ति कराने में है| युक्ति, प्रयुक्ति से देखा जाए तो परमात्म-तत्व भाव पहले भी था, अभी भी है और आगे भी रहेगा| परन्तु इस शरीर के जन्म से पहले प्राणी के लिए संसार पहले नहीं था, मृत्यु के बाद भी नहीं रहेगा तथा अभी भी प्रतिक्षण बदल रहा है| संसार की उत्पत्ति और विनाश तो होता है, पर उसका आधार परमात्म-तत्व नित्य निरन्तर रहता है| उस परमात्म तत्व के अतिरिक्त संसार की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है| परमात्मा की सत्ता से ही संसार सत्ता वाला दिखता है| इस प्रकार संसार की स्वतन्त्र सत्ता के अभाव का और परमात्मा की सत्ता का नित्य, निरन्तर मनन करते रहना अध्यात्म ज्ञान है| आध्यात्मिक ग्रन्थों का पठन पाठन, तत्वज्ञ महापुरुषों से तत्व ज्ञान विषयक श्रवण और प्रश्नोत्तर करना ही तत्व ज्ञान अर्थात परमात्मा प्राप्ति है| परमात्मा का ही सब जगह दर्शन करना, उनका ही सब जगह अनुभव करना, तत्व ज्ञान प्राप्ति है| परमात्मा सब देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदि में ज्यों का त्यों परिपूर्ण है| एकान्त में अथवा व्यवहार में सब समय साधक की दृष्टि, उसका लक्ष्य, केवल परमात्मा पर ही रहनी चाहिए| एक परमात्मा के

अतिरिक्त उसको दूसरी कोई सत्ता नहीं दिखनी चाहिए| सब जगह, सब समय सम-भाव से परिपूर्ण परमात्मा को ही देखने का उसका स्वभाव बन जाए यही तत्व ज्ञान की प्राप्ति है| इसके सिद्ध होने पर साधक को परमात्म-तत्व का अनुभव हो जाता है|

अमानित्व से लेकर तत्व ज्ञान तक सभी साधन देहाभिमान मिटाने वाले होने से और परमात्म-तत्व की प्राप्ति में सहायक होने से ज्ञान नाम से जाने जाते हैं| इन साधनों से विपरीत मानित्व, दम्भित्व, हिंसा आदि जितने भी दोष हैं, वह सभी देहाभिमान बढ़ाने वाले होने से और परमात्म-तत्व से विमुख करने वाले होने से अज्ञान कहे गए हैं| यदि साधक में इतना तीव्र विवेक जाग्रत् हो जाए कि वह शरीर से माने हुए सम्बन्ध का त्याग कर सके, तो उसमें यह साधन स्वतः प्रकट हो जाते हैं| फिर उसको इन साधनों का अलग अलग अनुष्ठान करने की आवश्यकता नहीं पड़ती| विनाशी शरीर को अपने अविनाशी स्वरूप से अलग देखना मूल साधन है| अतः सभी साधकों को चाहिए कि वह शरीर को अपने से अलग अनुभव करें| किसी भी साधन का अनुष्ठान करने के लिये मुख्यतः दो बातों की आवश्यकता होती है:

(१) साधक का उद्देश्य केवल परमात्मा को प्राप्त करना हो और;

(२) शास्त्रों को पढ़ते सुनते समय यदि विवेक द्वारा शरीर को अपने से अलग समझ ले तो फिर हर समय उसी विवेक पर स्थिर रहे|

इन दो बातों के दृढ़ होने से साधना के सभी साधन सुगम हो जाते हैं| 'शरीर तो बदल गया, पर मैं वही हूँ जैसा बचपन में था', ऐसा अनुभव करता रहे| अतः शरीर के साथ अपना सम्बन्ध वास्तविक न होकर केवल माना हुआ है, ऐसा निश्चय होने पर ही वास्तविक साधन आरम्भ होता है| साधक की बुद्धि जितने अंश में परमात्म-तत्व प्राप्ति के उद्देश्य को धारण करती है, उतने ही अंश में उसमें विवेक की जागृति तथा संसार से वैराग्य हो जाता है| भगवान् ने विवेक और वैराग्य को पुष्ट करने के लिये ज्ञान के आवश्यक साधनों का वर्णन किया है| जब मनुष्य का उद्देश्य परमात्म-तत्व प्राप्ति करना ही हो जाता है, तब दुर्गुणों

एवं दुराचारों की जड़ कट जाती है| यद्यपि साधक को आरम्भ में ऐसा अनुभव नहीं होता और उसको अपने में अवगुण दिखते हैं, तथापि कुछ समय के बाद उनका सर्वथा अभाव दिखने लग जाता है| साधना करते समय कभी कभी साधक को अपने में दुर्गुण दिखाई दे सकते हैं| परन्तु वास्तव में साधना में लगने से पहले उसमें जो दुर्गुण रहे थे, वह ही जाते हुए दिखाई देते हैं| यह नियम है कि द्वार से आने वाले और जाने वाले, दोनों ही दिखाई देते हैं| यदि साधना करते समय अपने में दुर्गुण बढ़ते हुए दिखते हों तो समझना चाहिए कि दुर्गुण आ रहे हैं| परन्तु यदि अपने में दुर्गुण कम होते हुए दिखते हों तो समझना चाहिए कि दुर्गुण जा रहे हैं| ऐसी अवस्था में साधक को निराश नहीं होना चाहिए| अपने उद्देश्य पर दृढ़ रहकर तत्परता पूर्वक साधना में लगे रहना चाहिए| इस प्रकार साधना में लगे रहने से दुर्गुण, दुराचारों का सर्वथा अभाव हो जाता|

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ।।१३-१३।।

समझ जिसे नर पाए अमरत्व करूँ उस ज्ञेय का वर्णन |
समझो इसे अनादि परब्रह्म है न सत न असत अर्जुन ||१३-१३||

भावार्थ: *हे अर्जुन, मैं उस ज्ञेय (ज्ञान से जानने योग्य) का वर्णन करूंगा जिसे समझ कर मनुष्य अमृतत्व को प्राप्त करता है| इसे अनादि, परब्रह्म समझो| यह न सत् है और न असत्|*

टीका: भगवान् यहाँ ज्ञेय तत्व (ज्ञान से जानने वाला तत्व) के वर्णन का उपक्रम करते हुए कहते हैं कि जिसकी प्राप्ति के लिये मनुष्य शरीर मिला है, जिसका वर्णन उपनिषदों, शास्त्रों और ग्रन्थों में किया गया है, उस ज्ञेय तत्व का मैं अब वर्णन करूँगा| स्मरण रहे कि अवश्य जानने योग्य तो केवल एक परमात्मा ही हैं| इसका कारण है कि सांसारिक विषयों को कितना ही जान लें, तो भी जानना शेष ही रहेगा| सांसारिक विषयों की जानकारी से जन्म-मरण नहीं मिटेगा| परन्तु परमात्मा को तत्व से ठीक जान लेने पर कुछ और जानना बाकी नहीं

रहेगा और जन्म-मरण भी मिट जाएगा| अतः संसार में परमात्मा के अतिरिक्त जानने योग्य दूसरा कोई नहीं है|

ज्ञेय तत्व को जानने पर अमरता का अनुभव हो जाता है, अर्थात् उस स्वतः सिद्ध तत्व की प्राप्ति हो जाती है जिसकी प्राप्ति होने पर जानना, करना, पाना आदि कुछ भी शेष नहीं रहता| वास्तव में प्राणी स्वयं पहले से ही अमर है, पर उसने मरणशील शरीरादि के साथ एकता करके अपने को जन्म-मरण वाला मान लिया है| परमात्म-तत्व को जानने से यह भूल मिट जाती है और वह अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान लेता है, अर्थात् अमरता का अनुभव कर लेता है|

यह ज्ञेय तत्व अनादि है| इसी से संसार उत्पन्न होता है, इसी में रहता है और अन्त में इसी में लीन हो जाता है, परन्तु वह ज्यों का त्यों विद्यमान रहता है|

ब्रह्म प्रकृति को भी कहते हैं, वेद को भी कहते हैं, पर परब्रह्म तो एक परमात्मा ही है| इनसे बढ़कर दूसरा कोई व्यापक, निर्विकार, सदा रहने वाला तत्व नहीं है, इसलिए इसे परब्रह्म कहा जाता है|

प्रभु कहते हैं कि इस तत्व को सत् भी नहीं कह सकते और असत् भी नहीं कह सकते| इसका तात्पर्य है कि उस परमात्म-तत्व में सत्, असत् शब्दों की अर्थात् वाणी की प्रवृत्ति नहीं होती| यह करण निरपेक्ष तत्व है| जैसे पृथ्वी पर रात और दिन, यह दोनों होते हैं| दिन के अभाव को रात और रात के अभाव को दिन कह देते हैं, परन्तु सूर्य में रात और दिन, यह दो भेद नहीं होते| इसका कारण है कि रात तो सूर्य में है ही नहीं और रात का अत्यन्त अभाव होने से सूर्य में दिन भी नहीं कह सकते क्योंकि दिन शब्द का प्रयोग रात की अपेक्षा से किया जाता है| यदि रात की सत्ता न रहे तो न दिन कह सकते हैं, न रात| ऐसे ही सत् की अपेक्षा से असत् शब्द का प्रयोग होता है और असत् की अपेक्षा से सत् शब्द का प्रयोग होता है| जहां परमात्मा को सत् कहा जाता है, वहां असत् की अपेक्षा से ही कहा जाता है| परन्तु जहां असत् का अत्यन्त अभाव है, वहां परमात्मा को सत् नहीं कह सकते और जो परमात्मा निरन्तर सत् है, उसको असत् नहीं कह

सकते| अतः परमात्मा में सत् और असत्, इन दोनों शब्दों का प्रयोग नहीं होता| जैसे सूर्य दिन, रात दोनों से विलक्षण केवल प्रकाश रूप है, ऐसे ही वह ज्ञेय तत्व सत्, असत् दोनों से विलक्षण है| स्मरण रहे कि सत्, असत का निर्णय बुद्धि करती है और ऐसा कहना भी वहीं होता है, जहां वह मन, वाणी और बुद्धि का विषय होता है। परन्तु ज्ञेय तत्व मन, वाणी और बुद्धि से सर्वथा अतीत है, अतः उसकी सत्, असत् संज्ञा नहीं हो सकती|

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ।।१३-१४।।

हैं सब ओर स्थित प्रभु के पद कर सर मुख कर्ण नयन |
कर व्यापित जग हैं स्थित परमात्म-तत्व में अर्जुन ||१३-१४||

भावार्थ: *हे अर्जुन, भगवान् के हाथ, पैर, नेत्र, शिर, मुख और कर्ण सब ओर स्थित हैं| संसार में सब को व्याप्त कर वह परमात्म-तत्व में स्थित है|*

टीका: भगवान् के सब स्थान पर हाथ और पैर हैं, अतः भक्त भक्ति से जहां कहीं जो कुछ भी भगवान् के हाथों में देना चाहता है, अर्पण करना चाहता है, उसको ग्रहण करने के लिये उसी जगह भगवान् के हाथ उपस्थित हैं| भक्त बाहर से अर्पण करना चाहे अथवा मन से, पूर्व में देना चाहे अथवा पश्चिम में, उत्तर में देना चाहे अथवा दक्षिण में, उसे ग्रहण करने के लिये वहीं भगवान् के हाथ उपस्थित हैं| ऐसे ही भक्त जल में, स्थल में, अग्नि में, जहां कहीं जिस किसी भी संकट में पड़ने पर भगवान् को पुकारता है, उसकी रक्षा करने के लिये वहां ही भगवान् के हाथ तत्पर हैं, अर्थात् भगवान् वहां ही अपने हाथों से उसकी रक्षा करते हैं| भक्त जहां कहीं भगवान् के चरणों में चन्दन लगाना चाहता है, पुष्प चढ़ाना चाहता है, नमस्कार करना चाहता है, उसी जगह भगवान् के चरण उपस्थित हैं| सहस्त्रों भक्त एक ही समय में भगवान् के चरणों की अलग अलग प्रकार से पूजा करना चाहें तो उनके भाव के अनुसार वहां ही भगवान् के चरण उपस्थित रहते हैं|

भक्त भगवान् को जहां भी दीपक दिखाता है, आरती करता है, वहां ही भगवान् के नेत्र हैं| भक्त जहां शरीर से अथवा मन से नृत्य करता है, वहां ही भगवान् उसके नृत्य को देख लेते हैं| इसका तात्पर्य है कि जो भगवान् को सब स्थान पर देखता है, भगवान् भी उसकी दृष्टि से कभी ओझल नहीं होते| भक्त जहां भगवान् के मस्तिष्क पर चन्दन लगाना चाहे, पुष्प चढ़ाने चाहे, वहां ही भगवान् का मस्तिष्क उपस्थित है| भक्त जहां भगवान् को भोग लगाना चाहे, वहां ही भगवान् का मुख उपस्थित है| अर्थात् भक्त द्वारा भक्ति पूर्वक दिये हुए पदार्थ को भगवान् वहां ही खा लेते हैं|

भक्त जहां कहीं प्रार्थना करे, वहां ही भगवान् अपने कानों से उसकी प्रार्थना को सुन लेते हैं| मनुष्यों के सब अवयव (अंग) सब जगह नहीं होते, अर्थात् जहां नेत्र हैं वहां कान नहीं होते, जहां कान हैं वहां नेत्र नहीं होते, जहां हाथ हैं वहां पैर नहीं होते और जहां पैर हैं वहां हाथ नहीं होते, इत्यादि, परन्तु भगवान् की इन्द्रियाँ, उनके अवयव, सब स्थान पर हैं| अतः भगवान् नेत्रों से सुन भी सकते हैं, बोल भी सकते हैं, ग्रहण भी कर सकते हैं, इत्यादि| इसका तात्पर्य है कि वह सभी अवयवों से सभी क्रियाएँ कर सकते हैं क्योंकि उनके सभी अवयवों में सभी अवयव उपस्थित हैं| उनके छोटे से छोटे अंश में भी सब इन्द्रियाँ हैं| भगवान् के सब स्थान पर हाथ, पैर, नेत्र, सिर, मुख और कान कहने का तात्पर्य है कि भगवान् किसी भी प्राणी से दूर नहीं हैं| इसका कारण है कि भगवान् सम्पूर्ण देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति, आदि में परिपूर्ण रूप से विद्यमान हैं| संतों ने कहा है:

'चहुँ दिसि आरति चहुँ दिसि पूजा । चहुँ दिसि राम और नहिं दूजा।।'

संसारी आदमी को जैसे बाहर-भीतर, ऊपर-नीचे सब जगह संसार ही संसार दिखता है, संसार के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं दिखता, ऐसे ही परमात्मा को तत्व से जानने वाले पुरुष को सब जगह परमात्मा ही परमात्मा दिखते हैं|

अनन्त सृष्टियाँ हैं, अनन्त ब्रह्माण्ड हैं, अनन्त ऐश्वर्य हैं और उन सब में देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, आदि भी अनन्त हैं, वह सभी परमात्मा के अन्तर्गत हैं| परमात्मा उन सब को व्याप्त करके परमात्म-तत्व में स्थित हैं|

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ।।१३-१५।।

हैं प्रभु रहित समस्त विषय इन्द्रिय हे पृथानंदन|
करते प्रकाशित विषय रहते हुए स्वयं रहित बंधन||
हैं रहित गुण और पोषक धारक गुण भोक्त भगवन||१३-१५||

भावार्थ: *हे अर्जुन, भगवान समस्त विषय इन्द्रियों से रहित हैं| स्वयं के बंधन रहित रहते हुए वह समस्त विषय (गुण) को प्रकाशित करते हैं| वह गुण रहित हैं| सब का धारण पोषण करने वाले और गुणों के भोक्त भगवन हैं|*

टीका: परमात्मा सर्व अग्रणी हैं और परमात्मा की शक्ति प्रकृति है| प्रकृति का कार्य महत्तत्त्व, महत्तत्त्व का कार्य अहंकार, अहंकार का कार्य पञ्च महाभूत, पञ्च महाभूतों का कार्य मन एवं दस इन्द्रियाँ और दस इन्द्रियों का कार्य पाँच विषय, यह सभी प्रकृति के कार्य हैं| परमात्मा प्रकृति और उसके कार्य से अतीत हैं| वह चाहे सगुण हों या निर्गुण, साकार हों या निराकार, सदा प्रकृति से अतीत ही रहते हैं| वह अवतार लेते हैं तो भी प्रकृति से अतीत ही रहते हैं| अवतार के समय वह प्रकृति को अपने वश में करके प्रकट होते हैं| जो गुणों में लिप्त, गुणों से बँधा हुआ जन्म-मरण के बंधन में है, वह बद्ध जीव भी परमात्मा को प्राप्त होने पर गुणातीत (गुणों से रहित) कहलाता है| गुणों से अतीत (रहित) होने के कारण वह प्राकृत इन्द्रियों से रहित हैं, अर्थात् संसारी जीवों की तरह हाथ, पैर, नेत्र, सिर, मुख, कान आदि इन्द्रियों से युक्त नहीं हैं किन्तु उन इन्द्रियों के विषयों को ग्रहण करने में सर्वथा समर्थ हैं| कानों से रहित होने पर भी वह भक्तों की पुकार सुन लेते हैं, त्वचा से रहित होने पर भी भक्तों का आलिंगन करते हैं, नेत्रों से रहित होने पर भी प्राणियों को निरन्तर देखते रहते हैं, रसना से रहित होने पर भी भक्तों के द्वारा लगाए हुए भोग का आस्वादन करते हैं, आदि, आदि| इस

तरह ज्ञानेन्द्रियों से रहित होने पर भी परमात्मा शब्द, स्पर्श आदि विषयों को ग्रहण करते हैं| ऐसे ही वह वाणी से रहित होने पर भी अपने प्रिय भक्तों से बातें करते हैं, चरणों से रहित होने पर भी भक्त के पुकारने पर दौड़कर चले आते हैं, हाथों से रहित होने पर भी भक्त के दिये हुए उपहार को ग्रहण करते हैं, आदि, आदि| इस तरह कर्मेन्द्रियों से रहित होने पर भी परमात्मा कर्मेन्द्रियों का सब कार्य करते हैं| यही इन्द्रियों से रहित होने पर भी भगवान् का इन्द्रियों के विषयों को प्रकाशित करना है।

भगवान् का सभी प्राणियों में अपनापन, प्रेम है पर किसी भी प्राणी में आसक्ति नहीं है| आसक्ति न होने पर भी वह ब्रह्मा से लेकर चींटी पर्यन्त सम्पूर्ण प्राणियों का पालन-पोषण करते हैं| जैसे माता-पिता अपने बालक का पालन-पोषण करते हैं, उससे कई गुना अधिक पालन-पोषण भगवान् प्राणियों का करते हैं| कौन प्राणी कहाँ है और किस प्राणी को कब किस वस्तु आदि की आवश्यकता है, इसको पूरी तरह जानते हुए भगवान् उस वस्तु को आवश्यकतानुसार यथोचित रीति से प्राणी के समीप पहुँचा देते हैं| प्राणी पृथ्वी पर हो, समुद्र में हो, आकाश में हो अथवा स्वर्ग में हो, अर्थात् त्रिलोकी में कहीं भी कोई छोटा से छोटा अथवा बड़ा से बड़ा प्राणी हो, उसका पालन-पोषण भगवान् करते हैं| प्राणियों के सुहृद् होने से वह अनुकूल, प्रतिकूल परिस्थितियों के द्वारा पाप, पुण्यों का नाश करके प्राणियों को शुद्ध, पवित्र करते रहते हैं|

परमात्मा सम्पूर्ण गुणों से रहित हो कर भी सम्पूर्ण गुणों के भोक्त हैं| इसका तात्पर्य यह है कि जैसे माता-पिता बालक की क्रियाओं को देखकर प्रसन्न होते हैं, ऐसे ही परमात्मा भक्त के द्वारा की हुई क्रियाओं को देखकर प्रसन्न होते हैं, अर्थात् भक्त जो भी क्रियाएँ करते हैं, उन सब क्रियाओं के भोक्ता भगवान् ही बनते हैं|

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ।।१३-१६।।

हैं चर अचर सूक्ष्म अविज्ञेय स्थित अंतर्बाह्य भूजन |
हैं सर्वव्यापी चाहे स्थित सुदूर या अति समीप जन ||१३-१६||

भावार्थ: *भगवान् चर, अचर हैं| प्राणियों के अन्तर्बाह्य स्थित हैं| सूक्ष्म, अविज्ञेय हैं| प्राणी सुदूर या अत्यन्त समीप स्थित हो, वह सर्वव्यापी हैं|*

टीका: जैसे हिम के बने हुए घड़ों को समुद्र में डाल दिया जाए तो उन घड़ों के बाहर भी जल है, भीतर भी जल है और वह स्वयं भी (हिम के बने होने से) जल ही हैं| ऐसे ही सम्पूर्ण चर अचर प्राणियों के बाहर भी परमात्मा हैं, भीतर भी परमात्मा हैं और वह स्वयं भी परमात्म-स्वरूप हैं| इसका तात्पर्य यह हुआ कि जैसे घड़ों में जल के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं है, अर्थात् सब कुछ जल ही जल है, ऐसे ही संसार में परमात्मा के अतिरिक्त दूसरा कोई तत्व नहीं है, अर्थात् सब कुछ परमात्मा ही परमात्मा हैं| इसी बात को भगवान् ने महात्माओं की दृष्टि से 'वासुदेवः सर्वम्' और अपनी दृष्टि से 'सदसच्चाहम्' कहा है|

किसी वस्तु का दूर अथवा समीप होना तीन दृष्टियों से कहा जाता है, देशकृत, कालकृत और वस्तुकृत| परमात्मा तीनों ही दृष्टियों से दूर से दूर, और समीप से समीप हैं| परमात्मा सर्वव्यापी हैं| उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थों के संग्रह और सुख भोग की इच्छा करने वाले के लिये परमात्मा (तत्वतः समीप होने पर भी) दूर हैं| परन्तु जो केवल परमात्मा के ही सम्मुख है, उसके लिये परमात्मा समीप हैं| इसलिये साधक को सांसारिक भोग और संग्रह की इच्छा का त्याग करके केवल परमात्म-तत्व की प्राप्ति की अभिलाषा जाग्रत् करनी चाहिए| परमात्म-तत्व की प्राप्ति की उत्कट अभिलाषा होते ही परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है, अर्थात् परमात्मा से नित्य योग का अनुभव हो जाता है|

परमात्मा अत्यन्त सूक्ष्म होने से इन्द्रियाँ और अन्तःकरण का विषय नहीं हैं, अर्थात् परमात्मा पकड़ में नहीं आते| जैसे परमाणु रूप जल सूक्ष्म होने से नेत्रों से नहीं दिखता, पर न दिखने पर भी उसका अभाव नहीं है, उसी प्रकार भगवान् न दिखाई देने पर भी उपस्थित हैं| जल परमाणु रूप से आकाश में रहता है और स्थूल होने पर बूँदें, ओले आदि के रूप में दिखने लग जाता है,

ऐसे ही परमात्मा अत्यन्त सूक्ष्म होने से इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि के द्वारा जानने में नहीं आते क्योंकि वह इनसे परे हैं, अतीत हैं, पर भक्त की भक्ति से प्रभावित हो प्रगट हो जाते हैं| जीवों के अज्ञान के कारण ही परमात्मा जानने में नहीं आते, परन्तु जिनको परमात्म-तत्व का ज्ञान हो गया है, उनको तो सब कुछ परमात्मा ही परमात्मा दिखाई देता है| उस परमात्म-तत्व को ज्ञेय भी कहा गया है और अविज्ञेय भी| इसका तात्पर्य यह है कि वह स्वयं के द्वारा ही जाना जा सकता है, इसलिये वह ज्ञेय है, और वह इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि के द्वारा भी नहीं जाना जा सकता, इसलिये वह अविज्ञेय है| सर्वत्र परिपूर्ण परमात्मा को जानने के लिये यह आवश्यक है कि साधक परमात्मा को सर्वत्र परिपूर्ण मान ले| ऐसा मानना भी जानने की तरह ही है| जैसे (बोध होने पर) ज्ञान (जानने) को कोई मिटा नहीं सकता, ऐसे ही परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण हैं, इस मान्यता (मानने) को कोई मिटा नहीं सकता| जब सांसारिक मान्यताओं, 'मैं ब्राह्मण हूँ, मैं साधु हूँ', आदि को (जो कि अवास्तविक हैं) कोई मिटा नहीं सकता, तब पारमार्थिक मान्यताओं को (जो कि वास्तविक हैं) कौन मिटा सकता है? इसका तात्पर्य यह है कि दृढ़ता पूर्वक मानना भी एक साधन है| जानने की तरह मानने की भी बहुत महिमा है| परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण हैं, ऐसा दृढ़ता पूर्वक मान लेने पर यह मान्यता, मान्यता रूप से नहीं रहेगी, प्रत्युत इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि से परे जो अत्यन्त सूक्ष्म परमात्मा हैं, उनका अनुभव करा देगी|

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ।।१३-१७।।

यद्यपि अविभक्त पर हैं स्थित विभक्त स्वरुप भगवन |
यह ज्ञेय हरि सृजक पालक संहारक ब्रह्म और जन ||१३-१७||

भावार्थ: *यद्यपि भगवान् अविभक्त है, तथापि वह विभक्त स्वरुप में स्थित है| इस ज्ञेय (जानने योग्य) हरि को ब्रह्म एवं प्राणियों का भर्ता, संहार कर्ता और उत्पत्ति कर्ता समझो|*

टीका: इस त्रिलोकी में देखने, सुनने और समझने में जितने भी स्थावर, जंगम प्राणी आते हैं, उन सब में परमात्मा स्वयं विभाग रहित होते हुए भी विभक्त की तरह प्रतीत होते हैं| विभाग केवल प्रतीति है| जिस प्रकार आकाश, घट, मठ आदि की उपाधि से घटाकाश, मठाकाश आदि के रूप अलग अलग दिखते हुए भी तत्व से एक ही हैं, उसी प्रकार परमात्मा भिन्न भिन्न प्राणियों के शरीरों की उपाधि से अलग अलग दिखते हुए भी तत्व से एक ही हैं, 'समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्', अर्थात परमात्मा को सम्पूर्ण प्राणियों में सम भाव से स्थित देखो|

परमात्मा को अविभक्त रूप से देखने को ही सात्त्विक ज्ञान कहा गया है| वस्तुतः चेतन तत्व (परमात्मा) एक ही है| वह ही परमात्मा रजोगुण की प्रधानता स्वीकार करने से ब्रह्मा रूप से सब को उत्पन्न करने वाले, सत्त्वगुण की प्रधानता स्वीकार करने से विष्णु रूप से सब का भरण पोषण करने वाले और तमोगुण की प्रधानता स्वीकार करने से रुद्र रूप से सब का संहार करने वाले हैं| इसका तात्पर्य है कि एक ही परमात्मा सृष्टि, पालन और संहार करने के कारण ब्रह्मा, विष्णु और शिव नाम धारण करते हैं| यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि परमात्मा सृष्टि रचनादि कार्यों के लिये भिन्न भिन्न गुणों को स्वीकार करने पर भी उन गुणों के वशीभूत नहीं होते| गुणों पर उनका पूर्ण आधिपत्य रहता है|

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ।।१३-१८।।

परे अज्ञान तम हैं ज्योति ज्योतियों में भगवन |
हैं ज्ञानगम्य हेतु ज्ञेय ज्ञान रहते सदा सबके मन ||१३-१८||

भावार्थ: *भगवान् अज्ञान, अन्धकार से परे, ज्योतियों में ज्योति हैं| वह ज्ञेय और ज्ञान के द्वारा ज्ञानगम्य (जानने योग्य) हैं| वह सदा सभी के हृदय में स्थित हैं|*

टीका: ज्योति नाम प्रकाश (ज्ञान) का है अर्थात् जिनसे प्रकाश मिलता है, ज्ञान प्राप्त होता है, वह सभी ज्योति हैं| चन्द्र, नक्षत्र, तारा के प्रकाश की ज्योति

(प्रकाशक) सूर्य हैं| वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक शब्दों का ज्ञान कान से होता है, अतः शब्द की ज्योति (प्रकाशक) कान है| शीत-उष्ण, कोमल-कठोर आदि के स्पर्श का ज्ञान त्वचा से होता है, अतः स्पर्श की ज्योति (प्रकाशक) त्वचा है| श्वेत, नील, पीत आदि रूपों का ज्ञान नेत्र से होता है, अतः रूप की ज्योति (प्रकाशक) नेत्र है| खट्टा, मीठा, नमकीन आदि रसों का ज्ञान जिह्वा से होता है, अतः रस की ज्योति (प्रकाशक) जिह्वा है| सुगन्ध, दुर्गन्ध का ज्ञान नाक से होता है अतः गन्ध की ज्योति (प्रकाशक) नाक है| इन पाँचों इन्द्रियों से शब्दादि पाँचों विषयों का ज्ञान तभी होता है, जब उन इन्द्रियों के साथ मन रहता है| अगर उनके साथ मन न रहे तो किसी भी विषय का ज्ञान नहीं होता| अतः इन्द्रियों की ज्योति (प्रकाशक) मन है| मन से विषयों का ज्ञान होने पर भी जब तक बुद्धि उसमें नहीं लगती, बुद्धि मन के साथ नहीं रहती, तब तक उस विषय का स्पष्ट और स्थाई ज्ञान नहीं होता| बुद्धि के साथ रहने से ही उस विषय का स्पष्ट और स्थाई ज्ञान होता है| अतः मन की ज्योति (प्रकाशक) बुद्धि है| बुद्धि से कर्तव्य-अकर्तव्य, सत-असत, नित्य-अनित्य का ज्ञान होने पर भी अगर स्वयं (कर्ता) उसको धारण नहीं करता, तो वह बौद्धिक ज्ञान ही रह जाता है| वह ज्ञान जीवन में आचरण में नहीं आता| वह बात स्वयं में स्वीकार नहीं होती| जो बात स्वयं में स्वीकार नहीं होती, उसका हटाना कठिन है| अतः बुद्धि की ज्योति (प्रकाशक) प्राणी स्वयं है| प्राणी स्वयं भी परमात्मा का अंश है| स्वयं में ज्ञान, प्रकाश परमात्मा से ही आता है| अतः स्वयं की ज्योति (प्रकाशक) परमात्मा है| उस स्वयं प्रकाश परमात्मा को कोई भी प्रकाशित नहीं कर सकता| इसका तात्पर्य यह हुआ कि परमात्मा का प्रकाश (ज्ञान) स्वयं में आता है| स्वयं का प्रकाश बुद्धि में, बुद्धि का प्रकाश मन में, मन का प्रकाश इन्द्रियों में और इन्द्रियों का प्रकाश विषयों में आता है| मूल में इन सब में प्रकाश परमात्मा से ही आता है| अतः इन सब ज्योतियों का ज्योति, प्रकाशकों का प्रकाशक परमात्मा ही है| जैसे पीछे बैठे हुए परीक्षार्थी अपने से आगे बैठे हुए को तो देख सकते हैं, पर अपने से पीछे बैठे हुए को नहीं, ऐसे ही अहम्, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि भी अपने से आगे वाले को तो देख (जान) सकते हैं, पर अपने से पीछे वाले को नहीं| जैसे सब से पीछे बैठा हुआ परीक्षार्थी अपने आगे बैठे हुए समस्त परीक्षार्थियों को देख सकता है, ऐसे ही परम प्रकाशक परमात्मा अहम्, बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ आदि सब को देखता है, प्रकाशित करता है, पर उसको कोई प्रकाशित नहीं कर

सकता| वह परमात्मा सम्पूर्ण चर, अचर जगत् का समान रूप से निरपेक्ष प्रकाशक है|

परमात्मा अज्ञान से अत्यन्त परे अर्थात् सर्वथा असम्बद्ध और निर्लिप्त है| इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहम्, इनमें तो ज्ञान और अज्ञान दोनों आते जाते हैं परन्तु जो सब का परम प्रकाशक है, उस परमात्मा में अज्ञान न तो कभी आता है, न आ सकता है अतः वह अज्ञान से अत्यन्त परे कहा गया है| वह स्वयं ज्ञान स्वरूप है और उसी से सब को प्रकाश मिलता है, अतः उस परमात्मा को ज्ञान अर्थात् ज्ञान स्वरूप कहा गया है| इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि के द्वारा भी (जानने में आने वाले) विषयों का ज्ञान होता है, पर वह अवश्य जानने योग्य नहीं हैं क्योंकि उनको जान लेने पर भी जानना शेष रह जाता है, जानना पूरा नहीं होता| वास्तव में अवश्य जानने योग्य तो एक परमात्मा ही है:

'अवसि देखि अहिं देखन जोगू।।'

उस परमात्मा को जान लेने के बाद और कुछ जानना शेष नहीं रहता| प्रभु ने पहले कहा है कि सम्पूर्ण वेदों के द्वारा जानने योग्य मैं ही हूँ, जो मुझे जान लेता है, वह सर्ववित् हो जाता है| अतः परमात्मा को ज्ञेय कहा गया है| ज्ञान के द्वारा असत् का त्याग होने पर परमात्मा को तत्व से जाना जा सकता है, अतः उस परमात्मा को ज्ञानगम्य कहा गया है|

परमात्मा सबके हृदय में नित्य, निरन्तर विराजमान है| इसका तात्पर्य है कि यद्यपि परमात्मा सब देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति, अवस्था, आदि में परिपूर्ण रूप से व्यापक है, तथापि उसका प्राप्ति स्थान तो हृदय ही है| उस परमात्मा का अपने हृदय में अनुभव करने का उपाय है:

(१) मनुष्य प्रत्येक विषय को जानता है तो उस जानकारी में सत् और असत्, यह दोनों रहते हैं| इन दोनों का विभाग करने के लिये साधक यह अनुभव करे कि मेरी जो जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और बालकपन, युवा, बुढ़ापा, आदि अवस्थाएँ तो भिन्न भिन्न हुईं, पर मैं एक हूँ| सुखदायी-दुःखदायी, अनुकूल-प्रतिकूल

परिस्थितियाँ आईं और चली गईं, पर मैं एक ही रहा| देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदि का संयोग वियोग हुआ, पर उनमें भी मैं एक ही रहा| इसका तात्पर्य यह हुआ कि अवस्थाएँ, परिस्थितियाँ, संयोग, वियोग तो भिन्न भिन्न हुए, पर उन सब में जो एक ही रहा है, भिन्न भिन्न नहीं हुआ है, वह मैं हूँ| ऐसा अनुभव करने से जो सबके हृदय में विराजमान है, उसका अनुभव हो जाएगा, क्योंकि यह स्वयं परमात्मा से अभिन्न है|

(२) जैसे अत्यन्त भूखा अन्न के बिना और अत्यन्त प्यासा जल के बिना रह नहीं सकता, ऐसे ही उस परमात्मा के बिना नहीं रह सके, बेचैन हो जाए| उसके बिना न भूख लगे, न प्यास लगे और न नींद आए| उस परमात्मा के अतिरिक्त और कहीं वृत्ति नहीं जाए| इस तरह परमात्मा को पाने के लिये व्याकुल हो जाए तो अपने हृदय में उस परमात्मा का अनुभव हो जाएगा| इस प्रकार एक बार हृदय में परमात्मा का अनुभव हो जाने पर साधक को सब जगह परमात्मा ही हैं, ऐसा अनुभव हो जाता है| यही वास्तविक अनुभव है|

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ।।१३-१९।।

किया संक्षेप वर्णन मैंने क्षेत्र ज्ञान ज्ञेय अर्जुन|
जानकर यह गूढ़ तत्व पा जाएं भक्त मेरा निरूपन ||१३-१९||

***भावार्थ**: हे अर्जुन, मैंने क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय का संक्षेप में वर्णन किया| यह गूढ़ तत्व जानकर भक्त मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है|*

टीका: प्रभु कह रहे हैं कि हे अर्जुन इस तरह मैंने क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय का संक्षेप से वर्णन किया है| मेरा भक्त क्षेत्र को, साधन समुदाय रूप ज्ञान को और ज्ञेय तत्व (परमात्मा) को तत्व से जानकर मेरे भाव को प्राप्त हो जाता है| क्षेत्र को भली भांति जान लेने पर क्षेत्र से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है| ज्ञान को, अर्थात् साधन समुदाय को भली भांति अपनाने से देहाभिमान (व्यक्तित्व) मिट जाता

है| ज्ञेय तत्व को भली भांति जान लेने पर परमात्म-तत्व की प्राप्ति हो जाती है, अर्थात् परमात्म-तत्व के साथ अभिन्नता का अनुभव हो जाता है|

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ।।१३-२०।।
कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ।।१३-२१।।

समझो प्रकृति पुरुष दोनों अनादि तुम अर्जुन |
जानो द्वार प्रकृति करे जो सब विकार गुण उत्पन्न ||१३-२०||
कार्य और कारण होते यह सब प्रकृति से निष्पन्न |
समझो पुरुष हेतु हों अनुभव सुख दुःख भूजन ||१३-२१||

भावार्थ: *हे अर्जुन, प्रकृति और पुरुष, दोनों को तुम अनादि समझो| सभी विकार और गुण के उत्पन्न होने में प्रकृति माध्यम है, यह जानो| कार्य और कारण प्रकृति से ही उत्पन्न होते हैं| प्राणियों में सुख, दुःख के अनुभव में पुरुष को हेतु समझो|*

टीका: प्रभु कह रहे हैं कि ज्ञेय तत्व (परमात्मा) और पुरुष (क्षेत्रज्ञ), यह दोनों अनादि हैं, अतः एक ही हैं| प्रकृति ही सभी विकार और गुणों के उत्पन्न होने का मूल कारण है| सात प्रकृति विकृति (पञ्चमहाभूत, अहंकार और महत्तत्त्व) तथा सोलह विकृति (दस इन्द्रियाँ, मन और पाँच विषय), यह सभी प्रकृति के कार्य हैं| पुरुष शब्द यहाँ क्षेत्रज्ञ का वाचक है| प्रकृति और पुरुष, दोनों को अनादि कहने का तात्पर्य है कि जैसे परमात्मा का अंश यह पुरुष (जीवात्मा) अनादि है, ऐसे ही यह प्रकृति भी अनादि है| इन दोनों के अनादिपन में अंतर नहीं है किन्तु दोनों के स्वरूप में अंतर अवश्य है| जैसे प्रकृति गुणों वाली है और पुरुष गुणों से सर्वथा रहित है, प्रकृति में विकार होता है, पुरुष में विकार नहीं होता, प्रकृति जगत् का कारण बनती है और पुरुष किसी का भी कारण नहीं बनता, प्रकृति में कार्य एवं कारण भाव है और पुरुष कार्य एवं कारण भाव से रहित है|

प्रभु कहते हैं कि इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतना और धृति, इन सात विकारों को तथा सत्त्व, रज और तम, इन तीन गुणों को प्रकृति से उत्पन्न हुए समझो| इसका तात्पर्य यह है कि पुरुष में विकार और गुण नहीं हैं| पहले भगवान ने गुणों को अपने से उत्पन्न बताया था और यहाँ गुणों को प्रकृति से उत्पन्न बताते हैं| इसका तात्पर्य यह है कि वहां भक्ति का प्रकरण होने से भगवान् ने गुणों को अपने से उत्पन्न बताया था और गुणमयी माया से तरने के लिये अपनी शरणागति बताई थी| परन्तु यहाँ ज्ञान का प्रकरण होने से गुणों को प्रकृति से उत्पन्न बताया है| अतः साधक गुणों से अपना सम्बन्ध न मानकर ही गुणों से छूट सकता है|

आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध, इन दस महाभूतों और विषयों का नाम कार्य है| श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना, घ्राण, वाणी, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा तथा मन, बुद्धि और अहंकार, इन तेरह (बहिःकरण और अन्तःकरण) का नाम करण है| इन सब के द्वारा जो कुछ क्रियाएँ होती हैं, उनको उत्पन्न करने में प्रकृति ही हेतु है|

जो उत्पन्न होता है, वह कार्य कहलाता है और जिसके द्वारा कार्य की सिद्धि होती है, वह करण कहलाता है| अर्थात् क्रिया करने के जितने साधन हैं, वह सब करण कहलाते हैं| करण तीन प्रकार के होते हैं, (१) कर्मेन्द्रियाँ, (२) ज्ञानेन्द्रियाँ और (३) मन, बुद्धि एवं अहंकार| कर्मेन्द्रियाँ स्थूल हैं, ज्ञानेन्द्रियाँ सूक्ष्म हैं और मन, बुद्धि एवं अहंकार अत्यन्त सूक्ष्म हैं| कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों को बहिःकरण कहते हैं तथा मन, बुद्धि और अहंकार को अन्तःकरण कहते हैं| जिनसे क्रियाएँ होती है, वह कर्मेन्द्रियाँ हैं और कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों पर जो शासन करते हैं, वह मन, बुद्धि और अहंकार हैं| इसका तात्पर्य है कि कर्मेन्द्रियों पर ज्ञानेन्द्रियों का शासन है, ज्ञानेन्द्रियों पर मन का शासन है, मन पर बुद्धि का शासन है और बुद्धि पर अहंकार का शासन है| मन, बुद्धि और अहंकार के बिना कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ काम नहीं करतीं| ज्ञानेन्द्रियों के साथ जब मन का सम्बन्ध हो जाता है, तब विषयों का ज्ञान होता है| मन से जिन विषयों का ज्ञान होता है, उन विषयों में से कौन सा विषय ग्राह्य है और कौन सा त्याज्य, कौन सा विषय उचित है और कौन सा अनुचित, इसका निर्णय बुद्धि करती है|

बुद्धि के द्वारा निर्णीत विषयों पर अहंकार शासन करता है| अहंकार दो प्रकार का होता है, (१) अहं वृत्ति और (२) अहं कर्ता| अहं वृत्ति किसी के लिये कभी दोषी नहीं होती पर उस अहं वृत्ति के साथ जब स्वयं (पुरुष) अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है, तादात्म्य कर लेता है, तब वह अहं कर्ता बन जाता है| इसका तात्पर्य है कि अहं वृत्ति से मोहित होकर, उसके परवश होकर वह स्वयं उस अहं वृत्ति में अपनी स्थिति मान लेता है और कर्ता बन जाता है, 'अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते'| प्रकृति का कार्य बुद्धि (महत्तत्त्व) है और बुद्धि का कार्य अहं वृत्ति (अहंकार) है| यह अहं वृत्ति है तो बुद्धि का कार्य, पर इसके साथ तादात्म्य करके स्वयं प्राणी बुद्धि का स्वामी बन जाता है, अर्थात् कर्ता और भोक्ता बन जाता है, 'पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्'| परन्तु जब तत्व का बोध हो जाता है, तब स्वयं न कर्ता बनता है और न भोक्ता ही बनता है, 'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते'| प्रकृति के गुणों द्वारा ही सब क्रियाएँ होती हैं| गुणों के अतिरिक्त दूसरा कोई कर्ता नहीं है| इन्द्रियाँ ही अपने अपने विषयों में रत हैं| इसका तात्पर्य है कि बहिःकरण और अन्तःकरण के द्वारा जो क्रियाएँ होती हैं, वह सब प्रकृति से ही होती हैं|

अनुकूल परिस्थिति के आने पर सुखी होना, यह सुख का भोग है और प्रतिकूल परिस्थिति के आने पर दुःखी होना, यह दुःख का भोग है| यह सुख, दुःख का भोग पुरुष (चेतन) में ही होता है, प्रकृति (जड़) में नहीं, क्योंकि जड़ प्रकृति में सुखी, दुःखी होने की सामर्थ्य नहीं है| अतः सुख, दुःख के भोक्तापन में पुरुष हेतु कहा गया है| अगर पुरुष अनुकूल, प्रतिकूल परिस्थितियों से मिलकर सुखी, दुःखी न हो तो वह सुख, दुःख का भोक्ता नहीं बन सकता| पहले भगवान् ने अपरा (जड़) और परा (चेतन) नाम से अपनी दो प्रकृतियों का वर्णन किया है| यह दोनों प्रकृतियाँ भगवान् के स्वभाव हैं, इसलिये यह दोनों स्वतः ही भगवान् की ओर जा रही हैं| परन्तु परा प्रकृति (चेतन), जो परमात्मा का अंश है और जिसकी स्वाभाविक रुचि परमात्मा की ओर जाने की ही है, तात्कालिक सुख भोग में आकर्षित होकर अपरा प्रकृति (जड़) के साथ तादात्म्य कर लेती है| इतना ही नहीं, प्रकृति के साथ तादात्म्य कर वह प्रकृतिस्थ पुरुष के रूप में अपनी एक स्वतन्त्र सत्ता का निर्माण कर लेती है, जिसको अहम् कहते हैं| इस अहम् में जड़ और चेतन दोनों हैं| सुख, दुःख रूप जो विकार होता है, वह जड़

अंश में ही होता है, पर जड़ से तादात्म्य होने के कारण उसका परिणाम ज्ञाता चेतन पर होता है| अर्थात् जड़ के सम्बन्ध से सुख, दुःख रूप विकार को चेतन अपने में मान लेता है कि मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ| सुख, दुःख का परिणाम चेतन पर होता है, तभी प्राणी सुख, दुःख से मुक्ति चाहता है| अगर वह सुखी, दुःखी न हो, तो उसमें मुक्ति की इच्छा नहीं होगी| मुक्ति की इच्छा जड़ के सम्बन्ध से ही होती है क्योंकि जड़ को स्वीकार करने से ही बन्धन हुआ है| जो अपने को सुखी, दुःखी मानता है, वही सुख, दुःख रूप विकार से अपनी मुक्ति चाहता है, और उसी की मुक्ति होती है| इसका तात्पर्य है कि तादात्म्य में मुक्ति (कल्याण) की इच्छा में चेतन की मुख्यता और भोगों की इच्छा में जड़ की मुख्यता होती है, इसलिये अन्त में कल्याण का भागी चेतन ही होता है, जड़ नहीं| विकृति जड़ में ही होती है, चेतन में नहीं| अतः वास्तव में सुखी, दुःखी होना चेतन का धर्म नहीं है, प्रत्युत जड़ के संग से अपने को सुखी, दुःखी मानना ज्ञाता चेतन का स्वभाव है| इसका तात्पर्य है कि चेतन सुखी, दुःखी नहीं होता, प्रत्युत (सुखाकार, दुःखाकार वृत्ति से मिलकर) अपने को सुखी, दुःखी मान लेता है| चेतन में एक दूसरे से विरुद्ध सुख, दुःख रूप दो भाव नहीं होते| यह दो रूप परिवर्तनशील प्रकृति में ही हो सकते हैं| जो परिवर्तनशील नहीं है, उसके दो रूप नहीं हो सकते| इसका तात्पर्य यह है कि सब विकार परिवर्तनशील में ही होते हैं| चेतन स्वयं ज्यों का त्यों रहते हुए भी परिवर्तनशील प्रकृति के संग से उसके विकारों को अपने में आरोपित करता रहता है| स्मरण रहे कि सुख और दुःख यद्यपि दोनों अलग अलग हैं, पर जड़ विचार एवं शरीर और संसार को अपना मानने के कारण, हम कभी सुखी होते हैं और कभी दुःखी होते हैं|

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ।।१३-२२।।

भोगे प्रकृति उत्पन्न गुण हो कर स्थित उसमें भूजन |
हेतु इन्हीं गुण हों शुभ अशुभ योनि में जन्म-मरन ||१३-२२||

भावार्थ: *प्रकृति में स्थित होकर पुरुष इस से उत्पन्न गुणों को भोगता है| इन्हीं गुण के कारण शुभ और अशुभ योनियों में जन्म-मरण होता है|*

टीका: वास्तव में पुरुष प्रकृति (शरीर) में स्थित नहीं है| परन्तु जब वह प्रकृति (शरीर) के साथ तादात्म्य करके शरीर को 'मैं और मेरा' मान लेता है, तब वह प्रकृति में स्थित हो जाता है| ऐसा प्रकृतिस्थ पुरुष ही (गुणों के द्वारा रचित अनुकूल, प्रतिकूल परिस्थिति को सुखदायी, दुःखदायी मानकर) अनुकूल परिस्थिति के आने पर सुखी होता है, और प्रतिकूल परिस्थिति के आने पर दुःखी होता है| यही पुरुष का प्रकृतिजन्य गुणों का भोक्ता बनना है| सांसारिक कार्यों को करने में प्रकृति और पुरुष, दोनों का हाथ रहता है| क्रियाओं के होने में शरीर की प्रधानता रहती है, पर सुख, दुःख रूप फल शरीर से अपना सम्बन्ध जोड़ने वाले पुरुष (कर्ता) को ही भोगना पड़ता है| अगर वह शरीर के साथ अपना सम्बन्ध न जोड़े और सम्पूर्ण क्रियाओं को प्रकृति के द्वारा ही होती हुई माने, तो वह उन क्रियाओं का फल भोगने वाला नहीं बनेगा|

जिन योनियों में सुख की बहुलता होती है, उनको शुभ (सत) योनि कहते हैं, और जिन योनियों में दुःख की बहुलता होती है, उनको अशुभ (असत) योनि कहते हैं| पुरुष का सत्, असत् योनियों में जन्म लेने का कारण यह गुण ही हैं| सत्त्व, रज और तम, यह तीनों गुण प्रकृति से उत्पन्न होते हैं| इन तीनों गुणों से ही सम्पूर्ण पदार्थों और क्रियाओं की उत्पत्ति होती है| प्रकृतिस्थ पुरुष जब इन गुणों के साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है, तब यह उसके ऊँच, नीच (शुभ, अशुभ) योनियों में जन्म लेने का कारण बन जाते हैं| प्रकृति में स्थित होने से ही पुरुष प्रकृतिजन्य गुणों का भोक्ता बनता है और इन गुणों का संग, आसक्ति, प्रियता ही पुरुष को इन ऊँच, नीच योनियों में जन्म-मरण का कारण बनती है| अगर यह प्रकृतिस्थ न हो, प्रकृति (शरीर) में अहंता, ममता न करे, अपने स्वरूप में स्थित रहे, तो यह पुरुष सुख, दुःख का भोक्ता नहीं बनता, प्रत्युत सुख, दुःख में सम हो जाता है| स्मरण रहे कि प्राणी प्रकृति में भी स्थित हो सकता है और अपने स्वरूप में भी| अन्तर इतना ही है कि प्रकृति में स्थित होने में तो वह परतन्त्र है और स्वरूप में स्थित होने में वह स्वाभाविक स्वतन्त्र है| प्राणी का बन्धन में पड़ना अस्वाभाविक है और मुक्त होना स्वाभाविक है| इसलिये बन्धन इसको नहीं सुहाता, मुक्त होना ही इसको सुहाता है| जहां प्रकृति और पुरुष दोनों में भेद समझने का विवेक नहीं है, वहां प्रकृति के साथ तादात्म्य करने का, सम्बन्ध जोड़ने का अज्ञान है| इस अज्ञान से यह पुरुष स्वयं प्रकृति के साथ

तादात्म्य कर लेता है| तादात्म्य कर लेने से यह पुरुष अपने को प्रकृतिस्थ अर्थात् प्रकृति (शरीर) में स्थित मान लेता है| प्रकृतिस्थ होने से शरीर में 'मैं और मेरापन' भाव जागृत हो जाता है| यही गुणों का संग है| इस गुण संग से पुरुष बँध जाता है| गुणों के द्वारा बँध जाने से ही पुरुष की गुणों के अनुसार गति होती है|

उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ।।१३-२३।।

हो भोक्ता सुख दुःख रख सम्बन्ध इस विनाशी तन |
बन जाए नर भर्ता करता हुआ इसका अनुसरन ||
पर यदि हो रहित इन गुण बन जाए तब सम भगवन ||१३-२३||

भावार्थ: *इस विनाशी शरीर से सम्बन्ध रख वह सुख ,दुःख का भोक्ता बन जाता है| उसका अनुसरण कर प्राणी भर्ता (भरण-पोषण करने वाला) बन जाता है| यदि इन गुणों से रहित हो जाए, तो वह भगवान् के समान बन जाता है|*

टीका: पुरुष स्वरूप से नित्य है, परिपूर्ण है, स्थिर है, अचल है| ऐसा होते हुए भी जब वह प्रकृति के साथ अपना सम्बन्ध बना लेता है, तब उसकी शरीर से सम्बन्ध रखने के कारण उपद्रष्टा की संज्ञा हो जाती है| वह प्रत्येक कार्य के करने में इस शरीर की अनुमति लेता है, अतः अनुमन्ता बन जाता है| इस शरीर के साथ मिलकर, उस से तादात्म्य हो, अन्न, जल आदि से शरीर का पालन पोषण करता है, अतः भर्ता बन जाता है| इस स्थिति में वह शरीर के साथ मिलकर अनुकूल परिस्थिति के आने से अपने को सुखी मानता है और प्रतिकूल परिस्थिति के आने से अपने को दुःखी मानता है| अतः इसकी संज्ञा भोक्ता हो जाती है|

लेकिन यदि वह देह में रहता हुआ भी देह के सम्बन्ध से स्वतः रहित हो जाए, तो वह सर्वोत्कृष्ट, परम आत्मा हो जाए और महेश्वर की संज्ञा प्राप्त कर ले| ऐसा महापुरुष शरीर में रहते हुए भी सांसारिक कर्मों में न रहता है और उनमें लिप्त होता है, अतः भगवद स्वरुप होता है|

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ।।१३-२४।।

सहित पुरुष और गुण जान सके जो प्रकृति जन |
निःसंदेह वह पाए निर्मोचन है यह सत्य अर्जुन ||
करे बर्ताव सर्वथा फिर भी न ले पुनर्जन्म कदाचन ||१३-२४||

भावार्थ: *हे अर्जुन, पुरुष और गुणों के सहित प्रकृति को जो प्राणी जान लेता है, वह निःसंदेह मोक्ष की प्राप्ति करता है| वह सब प्रकार का व्यवहार करता हुआ भी फिर जन्म नहीं लेता|*

टीका: जो प्राणी पुरुष को देह एवं प्रकृति से परे अर्थात् सम्बन्ध रहित जान लेता है, उसे मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है| उसी प्रकार जो यह जान जाता है कि संसार के कार्य सब प्रकृति और उसके गुणों द्वारा ही होते हैं, वह वर्ण, आश्रम, परिस्थिति आदि के अनुसार कर्तव्य कर्म अवश्य करता है, पर उसे पुनर्जन्म नहीं मिलता|

जो प्राणी अपने को देह के सम्बन्ध से रहित अनुभव करता है और गुणों के सहित प्रकृति को अपने से अलग अनुभव करता है, उसमें असत् वस्तुओं की कामना पैदा नहीं होती| कामना न होने से उसके द्वारा निषिद्ध आचरण होना असम्भव है क्योंकि निषिद्ध आचरण के होने में कामना ही हेतु है| भगवान् यहाँ साधक को अपना वास्तविक स्वरूप जानने के लिये सावधान करते हैं, जिससे वह अच्छी प्रकार जान ले कि स्वरूप में वस्तुतः कोई भी क्रिया नहीं है| अतः वह किसी भी क्रिया का कर्ता नहीं है और कर्ता न होने के कारण वह भोक्ता भी नहीं होता| साधक जब अपने आपको अकर्ता जान लेता है, तब उसका कर्तापन का अभिमान स्वतः नष्ट हो जाता है और उसमें क्रिया की फलासक्ति भी नहीं रहती| फिर उसके द्वारा शास्त्रविहित क्रियाएँ स्वतः होती रहती हैं| गुणातीत होने के कारण वह पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होता|

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ।।१३-२५।।

करते अनुभव विविध योग से परमात्म-तत्व भक्तजन |
हो ध्यान सांख्य या कर्मयोग जिसमें रूचि साधकगन ||१३-२५||

भावार्थ: *हे अर्जुन, ध्यानयोग, सांख्ययोग, कर्मयोग, जिसमें उनकी रूचि हो, विभिन्न योगों से भक्त परमात्म-तत्व का अनुभव करते हैं|*

टीका: जैसा प्रभु ने सगुण-साकार, निर्गुण-निराकार आदि के ध्यान का वर्णन किया है, उस ध्यान में जिसकी जैसी रुचि, श्रद्धा, विश्वास और योग्यता है, उसके अनुसार ध्यान करके साधक परमात्म-तत्व का अनुभव करते हैं| जो सम्बन्ध विच्छेद प्रकृति और पुरुष को अलग अलग जानने से होता है, वह सम्बन्ध विच्छेद ध्यान से भी होता है| ध्यान न तो चित्त की मूढ़ वृत्ति में होता है और न क्षिप्त वृत्ति में| ध्यान विक्षिप्त वृत्ति में आरम्भ होता है| चित्त जब स्वरूप में एकाग्र हो जाता है, तब समाधि हो जाती है| एकाग्र होने पर चित्त निरुद्ध हो जाता है| इस प्रकार जिस अवस्था में चित्त निरुद्ध हो जाता है, उस अवस्था में चित्त संसार, शरीर, वृत्ति, चिन्तन आदि से भी उपरत हो जाता है| उस समय ध्यानयोगी परमात्म-तत्व का अनुभव करके सन्तुष्ट हो जाता है|

सांख्ययोग विवेक का नाम है| उस विवेक के द्वारा सत असत का निर्णय हो जाता है| प्राणी जान जाता है कि सत् नित्य, सर्वव्यापक, स्थिर स्वभाव वाला, अचल, अव्यक्त, अचिन्त्य है और असत् चल, अनित्य, विकारी, परिवर्तनशील है| ऐसे विवेक विचार से सांख्ययोगी प्रकृति और उसके कार्य से बिलकुल अलग हो जाता है और परमात्म-तत्व का अनुभव कर लेता है|

कर्मयोग के द्वारा भी कई साधक परमात्म-तत्व का अनुभव करते हैं| जो सम्बन्ध विच्छेद प्रकृति और पुरुष को अलग अलग जानने से होता है, वह सम्बन्ध विच्छेद कर्मयोग से भी होता है| कर्मयोगी जो कुछ भी करे, वह केवल संसार के हित के लिये ही करे| यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत आदि जो कुछ भी करे, वह

सब प्राणियों के कल्याण के लिये ही हों, अपने स्वार्थ के लिये नहीं| ऐसा करने से स्वयं का उन क्रियाओं, पदार्थ, शरीर आदि से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है और परमात्म-तत्व का अनुभव हो जाता है| मनुष्य ने स्वाभाविक ही अपने में देह को स्वीकार किया है| इस मान्यता को दूर करने के लिये अपने में परमात्मा को देखना अर्थात् देह की जगह अपने में परमात्मा को मानना बहुत आवश्यक है| अपने में परमात्मा को देखना करण निरपेक्ष होता है। करण सापेक्ष ज्ञान प्रकृति के सम्बन्ध से होता है| इसलिये साधक किसी करण के द्वारा परमात्मा में स्थित नहीं होता, प्रत्युत स्वयं ही स्थित होता है| स्वयं की परमात्मा में स्थिति किसी करण के द्वारा नहीं होती|

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ।।१३-२६।।

यदि हो न स्वयं तथ्य ज्ञान जानें द्वारा आचार्यगन |
तर जाएं भवसागर वह सुभग कर महन अनुसरन ||१३-२६||

भावार्थ: *जिन्हें स्वयं इस तथ्य का ज्ञान नहीं है, वह आचार्यों के द्वारा इसे प्राप्त कर सकते हैं| वह सौभाग्यशाली महापुरुषों का अनुसरण कर भव सागर से तर जाते हैं, अर्थात मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं|*

टीका: कई ऐसे तत्व प्राप्ति की उत्कण्ठा वाले साधक हैं, जो ध्यानयोग, सांख्ययोग, कर्मयोग, हठयोग, लययोग आदि साधनों को नहीं समझते| ऐसे साधक इन तथ्यों को जानने वाले आचार्यों से सुनकर और उनका अनुसरण कर भव सागर से तर सकते हैं, अर्थात् तत्व ज्ञान को प्राप्त कर सकते हैं| जैसे धनी आदमी का अनुसरण करने से धन मिलता है, ऐसे ही तत्वज्ञ जीवन-मुक्त महापुरुषों का अनुसरण करने से तत्व ज्ञान मिलता है| शरीर के साथ सम्बन्ध रखने से जन्म-मृत्यु का बंधन प्राप्त होता है| जो मनुष्य महापुरुषों की आज्ञा के परायण हो जाते हैं, उनका शरीर से माना हुआ सम्बन्ध छूट जाता है| ऐसे श्रुति परायण साधकों की तीन श्रेणियाँ होती हैं:

(१) यदि साधक में सांसारिक सुख भोग की इच्छा नहीं है, केवल तत्व प्राप्ति की ही उत्कट अभिलाषा है तब वह इन अनुभवी महापुरुष के परायण से शीघ्र ही परमात्मा की प्राप्ति कर लेते हैं|

(२) यदि साधक में सुख भोग की इच्छा शेष है, तो महापुरुष की आज्ञा का पालन करने से उसकी उस इच्छा का नाश हो सकता है और उसको परमात्मा की प्राप्ति हो सकती है| साधक जब उन महापुरुषों की आज्ञा का पालन करता है जिनमें किंचित मात्र भी सांसारिक इच्छा नहीं है और जिनका उद्देश्य केवल परमात्मा की प्राप्ति करना है, तो उसमें भी भगवत् कृपा से सांसारिक इच्छाओं का नाश होने लगता है और परमात्म-तत्व की प्राप्ति हो जाती है| इसका कारण यह है कि महापुरुष गुण, अवगुणों से ऊँचे उठे (गुणातीत) होते हैं, अतः उनमें श्रद्धा होने पर उन जैसा बनने का मन में संकल्प आता है| ऐसा करने पर वह भी ऊंचा उठने लगता है| इस बात का स्मरण रहे कि साधक को किसी भी प्रकार से तत्वज्ञ महापुरुष की क्रियाओं पर एवं उनके आचरणों पर ध्यान नहीं देना चाहिए बल्कि तटस्थ होकर उनसे ज्ञान लेना चाहिए| संत महापुरुष से अधिक लाभ वही ले सकता है, जो उनसे किसी प्रकार के सांसारिक व्यवहार का सम्बन्ध न रखकर केवल पारमार्थिक (साधन का) सम्बन्ध रखता है| साधक इस बात की सावधानी रखे कि उसके द्वारा उन महापुरुष की कहीं भी निन्दा न हो| यदि वह उनकी निन्दा करेगा, तो उसकी कहीं भी उन्नति नहीं होगी|

यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ।।१३-२७।।

हों उत्पन्न संयोग क्षेत्र क्षेत्रज्ञ सब स्थावर जंगम जन |
है यह हरि नियम और विधि सुनो श्रेष्ठ अर्जुन ||१३-२७||

भावार्थ: *हे श्रेष्ठ अर्जुन, सुनो| स्थावर और जंगम जितने भी प्राणी हैं, वह सब क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही उत्पन्न होते हैं, ऐसा विधि और भगवान का नियम है|*

टीका: स्थिर रहने वाले वृक्ष, पर्वत आदि, जितने भी स्थावर प्राणी हैं और चलने फिरने वाले मनुष्य, देवता, पशु आदि जितने भी जंगम (थलचर, जलचर, नभचर) प्राणी हैं, यह सब क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही पैदा होते हैं| उत्पत्ति एवं विनाशशील पदार्थ क्षेत्र हैं, और जो इस क्षेत्र को जानने वाला, उत्पत्ति विनाश रहित एवं सदा एकरस रहने वाला है, वह क्षेत्रज्ञ है| क्षेत्रज्ञ (प्रकृतिस्थ पुरुष) का शरीर के साथ 'मैं और मेरेपन' का सम्बन्ध मान लेना ही क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का संयोग है| इस माने हुए संयोग के कारण ही इस जीव को स्थावर, जंगम योनियों में जन्म लेना पड़ता है| इसी क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के संयोग को पहले प्रभु ने 'गुण संग' शब्द से सम्बोधित किया है| इसका तात्पर्य यह हुआ कि निरन्तर परिवर्तनशील प्रकृति और प्रकृति के कार्य शरीरादि के साथ तादात्म्य कर लेने से स्वयं जीवात्मा भी अपने को जन्म-मरण वाला मान लेता है| जब क्षेत्रज्ञ क्षेत्र के साथ अपना सम्बन्ध मानता है, इसी से इसका जन्म-मरण होता है| परन्तु जब यह शरीर के साथ अपना सम्बन्ध नहीं मानता, तब इसको मोक्ष प्राप्ति होती है, हे श्रेष्ठ अर्जुन, इस बात को तुम भली भांति समझ लो|

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ।।१३-२८।।

देखता जो भक्त सब नश्वर भूतों में अनश्वर भगवन |
रहता स्थित समभाव सदैव करे वही जन सत दर्शन ||१३-२८||

भावार्थ: *जो भक्त समस्त नश्वर भूतों में अनश्वर परमेश्वर को देखता है और सदैव समभाव में स्थित रहता है, वही प्राणी सत (प्रभु) के दर्शन करता है|*

टीका: परमात्मा को सम्पूर्ण प्राणियों में देखने का तात्पर्य है कि जितने भी ब्रह्माण्ड में प्राणी हैं, चाहे वह स्थावर, जंगम हों, सात्त्विक, राजस, तामस गुणों से प्रभावित हों, किसी भी आकृति के हों, किसी भी वर्ण के हों, सब प्राणियों में परमात्मा को सम रूप से स्थित देखे| पहले भगवान् ने क्षेत्रज्ञ के साथ अपनी एकता बताते हुए कहा था कि तुम सम्पूर्ण प्राणियों में क्षेत्रज्ञ मुझे ही समझो|

उसी बात को यहाँ कहते हैं कि सम्पूर्ण प्राणियों में परमात्मा सम रूप से स्थित हैं|

सम्पूर्ण प्राणी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के समय तीन अवस्थाओं में जाते हैं, सर्ग प्रलय, महासर्ग महाप्रलय एवं ऊँच, नीच योनि| अर्थात् सभी प्राणी किसी भी क्षण स्थिर नहीं रहते| परन्तु परमात्मा उन सब अस्थिर प्राणियों में नित्य, निरन्तर एक रूप से स्थित रहते हैं|

साधारणतः भक्त किसी एक ईश्वर अथवा देवी, देवता को इष्ट मानते हैं| परन्तु सत्य तो यह है कि केवल परमात्मा ही सभी प्राणियों के तथा सम्पूर्ण जड़, चेतन संसार के परम ईश्वर हैं|

प्रतिक्षण विनाश की ओर जाने वाले प्राणियों में विनाश रहित, सदा एक रूप रहने वाले परमात्मा को जो निर्विकार रूप में देखता है, वही वास्तव में ईश्वर को सत्य रूप में देखता है| इसका तात्पर्य है कि जो परिवर्तनशील शरीर के साथ अपने आपको देखता है, उसका देखना सत्य नहीं है किन्तु जो सदा ज्यों के त्यों रहने वाले परमात्मा के साथ अपने आप को अभिन्न रूप से देखता है, उसका देखना ही सत्य है |पहले भगवान् ने कहा था कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का ज्ञान ही मेरे मत में सत्य ज्ञान है, उसी बात को यहाँ कहते हैं कि जो नष्ट होने वाले प्राणियों में परमात्मा को नाश रहित और सम देखता है, उसका देखना (ज्ञान) ही सत्य है| इसका तात्पर्य है कि जैसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग में क्षेत्र में तो सदैव परिवर्तन होता है, पर क्षेत्रज्ञ ज्यों का त्यों ही रहता है, ऐसे ही सम्पूर्ण प्राणी उत्पन्न और नष्ट होते हैं, पर परमात्मा सब अवस्थाओं में समान रूप से स्थित रहते हैं| जितने भी प्राणी पैदा होते हैं, वह सभी क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही पैदा होते हैं, परन्तु उन दोनों में क्षेत्र तो किसी भी क्षण स्थिर नहीं रहता और क्षेत्रज्ञ एक क्षण भी नहीं बदलता| अतः क्षेत्रज्ञ से क्षेत्र का जो निरन्तर वियोग हो रहा है, उसका अनुभव कर लो| भगवान् यहां बताते हैं कि उत्पन्न और नष्ट होने वाले सम्पूर्ण विषम प्राणियों में जो परमात्मा नाश रहित और समान रूप से स्थित रहते हैं, उनके साथ अपनी एकता का अनुभव कर लो|

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानं ततो याति परां गतिम् ।।१३-२९।।

देखे जो जन समभाव दृष्टि से समरूप स्थित भगवन |
नहीं करता स्वयं नष्ट आत्मा पाता परम गति अर्जुन ||१३-२९||

भावार्थ: *हे अर्जुन, जो भक्त समभाव दृष्टि से समरूप स्थित परमेश्वर को देखता है, वह स्वयं के द्वारा आत्मा का नाश नहीं करता| वह परम गति को प्राप्त होता है|*

टीका: जो मनुष्य स्थावर, जंगम, जड़, चेतन प्राणियों, ऊँच, नीच योनियों, तीनों लोकों आदि में समान रीति से परिपूर्ण परमात्मा को देखता है, अर्थात् परमात्मा के साथ अपनी अभिन्नता का अनुभव करता है, वह अपनी आत्मा को स्वयं नष्ट नहीं करता| जो प्राणी शरीर के साथ तादात्म्य कर लेता है, वह अपनी आत्मा की हत्या करता है, अपनी आत्मा को नष्ट कर देता है, वह जन्म-मरण के चक्र में पड़ जाता है| जिसकी दृष्टि शरीर से हटकर केवल सर्वव्यापक ईश्वर की ओर हो जाती है, वह अपनी आत्मा से हिंसा नहीं करता, अर्थात् जन्म-मरण के चक्र में नहीं जाता, स्वयं में संसार और शरीर के विकारों का वह अनुभव नहीं करता| वास्तव में अपनी आत्मा के साथ हिंसा करना संभव नहीं, नाशवान् शरीर के साथ तादात्म्य करना ही अपनी आत्मा के साथ हिंसा करना है, अपना पतन करना है, अपने आपको जन्म-मरण के चक्र में डालना है| जो भक्त शरीर के साथ तादात्म्य करके दुर्भाग्य से ऊँच, नीच योनियों में भटकता था, बार बार जन्म-मरण के चक्र में फंसता था, वह जब परमात्मा के साथ अपनी अभिन्नता का अनुभव कर लेता है, तब वह परम गति को अर्थात् नित्य प्राप्त परमात्मा को प्राप्त हो जाता है|

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्तारं स पश्यति ।।१३-३०।।

होते कर्म हेतु प्रकृति समझ सके जो यह सत्य जन |
करे कर्म युक्त भाव अकर्ता पाए वह प्रभु दर्शन ||१३-३०||

भावार्थ: *जो प्राणी ऐसा समझता है कि समस्त कर्म प्रकृति के द्वारा ही होते हैं तथा कर्म अकर्ता का भाव रख कर करता है, वही प्रभु के दर्शन पाता है|*

टीका: वास्तव में चेतन तत्व स्वतः स्वाभाविक निर्विकार, सम और शान्त रूप से स्थित है| उस चेतन तत्व (परमात्मा) की शक्ति, प्रकृति स्वतः स्वाभाविक क्रियाशील है| उसमें नित्य, निरन्तर क्रिया होती रहती है| यद्यपि प्रकृति को सक्रिय और अक्रिय, दो अवस्थाओं वाली (सर्ग अवस्था में सक्रिय और प्रलय अवस्था में अक्रिय) कहते हैं, तथापि सूक्ष्म विचार करें तो प्रलय अवस्था में भी उसकी क्रियाशीलता नहीं मिटती| इसका कारण है कि जब प्रलय का आरम्भ होता है, तब प्रकृति सर्ग अवस्था की ओर चलती है| इस प्रकार प्रकृति में सूक्ष्म क्रिया चलती ही रहती है| प्रकृति की सूक्ष्म क्रिया को ही अक्रिय अवस्था कहते हैं क्योंकि इस अवस्था में सृष्टि की रचना नहीं होती| परन्तु महासर्ग में जब सृष्टि की रचना होती है, तब सर्ग के आरम्भ से सर्ग के मध्य तक प्रकृति सर्ग की ओर चलती है और सर्ग का मध्य भाग आने पर प्रकृति प्रलय की ओर चलती है| इस प्रकार प्रकृति की स्थूल क्रिया को सक्रिय अवस्था कहते हैं| अगर प्रलय और महाप्रलय में प्रकृति को अक्रिय माना जाए तो प्रलय, महाप्रलय का आदि, मध्य और अन्त कैसे होगा क्योंकि यह तीनों तो प्रकृति में सूक्ष्म क्रिया होने से ही होती हैं| अतः सर्ग अवस्था की अपेक्षा प्रलय अवस्था में अपेक्षाकृत अक्रियता है, सर्वथा अक्रियता नहीं है| सूर्य का उदय होता है, फिर वह मध्य में आता है और फिर वह अस्त होता है, तो इससे मालूम होता है कि प्रातः सूर्योदय होने पर प्रकाश मध्याह्न तक बढ़ता है और मध्याह्न से सूर्यास्त तक प्रकाश घटता है|।सूर्यास्त होने के बाद आधी रात तक अन्धकार बढ़ता है और आधी रात से सूर्योदय तक अन्धकार घटता है| वास्तव में प्रकाश और अन्धकार की सूक्ष्म सन्धि मध्याह्न और मध्य रात ही है, पर वह दिखती है सूर्योदय और सूर्यास्त के समय| इस दृष्टि से प्रकाश और अन्धकार की क्रिया मिटती नहीं, प्रत्युत निरन्तर होती ही रहती है| ऐसे ही सर्ग और प्रलय, महासर्ग और महाप्रलय में भी प्रकृति में क्रिया निरन्तर होती ही रहती है| इस क्रियाशील प्रकृति के साथ जब यह

पुरुष सम्बन्ध जोड़ लेता है, तब शरीर द्वारा होने वाली स्वाभाविक क्रियाएँ (तादात्म्य के कारण) अपने में प्रतीत होने लगती हैं|

प्रकृति और उसके कार्य स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर में खाना-पीना, चलना-फिरना, उठना-बैठना, घटना-बढ़ना, हिलना-डुलना, सोना-जागना, चिन्तन करना, समाधिस्थ होना, आदि जो कुछ भी कर्म होते हैं, वह सभी प्रकृति के द्वारा ही होते हैं, स्वयं के द्वारा नहीं| स्वयं में कोई कर्म (क्रिया) नहीं होता| ऐसा जो अनुभव करता है, वही वास्तव में सत्य रूप को देखता है| इसका कारण है कि ऐसा देखने से अपने में अकर्तृत्व (अकर्तापन) का भाव आता है|

प्रभु ने कहीं कर्मों को प्रकृति के द्वारा होने वाले बताया है, कहीं गुणों के द्वारा होने वाले बताया है और कहीं इन्द्रियों के द्वारा होने वाले बताया है, यह तीनों सन्दर्भ एक ही हैं| प्रकृति सब का कारण है, गुण प्रकृति के कार्य हैं और गुणों का कार्य इन्द्रियाँ हैं| अतः प्रकृति, गुण और इन्द्रियाँ, इनके द्वारा होने वाली सभी कर्म प्रकृति के द्वारा होने वाली ही कही जाते हैं|

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ।।१३-३१।।

करे जन अनुभव जिस काल यद्यपि दिखते भाव भिन्न |
पर स्थित यह सभी केवल एक प्रकृति अन्तर्वर्तिन् ||
जाने हुआ विस्तार हेतु प्रभु पा जाए तुरंत भगवन ||१३-३१||

भावार्थ: *जिस समय प्राणी यह अनुभव कर लेता है कि यद्यपि भाव पृथक दिखाई देते हैं, परन्तु एक प्रकृति (परमात्मा) में स्थित हैं, तथा यह जान जाता है कि यह विस्तार परमात्मा के कारण हुआ है, तब उसे तत्काल भगवद प्राप्ति हो जाती है|*

टीका: जिस काल में साधक सम्पूर्ण प्राणियों के अलग अलग भावों को अर्थात् त्रिलोकी में जितने जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज और स्वेदज प्राणी हैं, उन प्राणियों

के स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों को एक प्रकृति में ही स्थित देखता है, उस काल में वह ब्रह्म (भगवद गति) को प्राप्त हो जाता है| त्रिलोकी के स्थावर, जंगम प्राणियों के शरीर, नाम, रूप, आकृति, मनोवृत्ति, गुण, विकार, उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय आदि सब एक प्रकृति से ही उत्पन्न हैं| सम्पूर्ण प्राणियों के शरीर प्रकृति से ही उत्पन्न होते हैं, प्रकृति में ही स्थित रहते हैं और प्रकृति में ही लीन होते हैं| इस प्रकार देखने वाला साधक ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है, अर्थात् प्रकृति से अतीत स्वतः सिद्ध अपने स्वरूप परमात्म-तत्व को प्राप्त हो जाता है| वास्तव में परमात्म-तत्व तो प्राणी को पहले से ही प्राप्त था, लेकिन प्रकृतिजन्य पदार्थों के साथ अपना सम्बन्ध मानने से उसको अपने स्वरूप का अनुभव नहीं होता| परन्तु जब वह सब को प्रकृति में ही स्थित और प्रकृति से ही उत्पन्न देखता है, तब उसको अपने स्वतः सिद्ध स्वरूप का अनुभव हो जाता है| जैसे पृथ्वी से उत्पन्न होने वाले स्थावर, जंगम जितने भी शरीर हैं तथा उन शरीरों में जो कुछ भी परिवर्तन होता है, रूपान्तर होता है, क्रियाएँ होती हैं, वह सब पृथ्वी पर ही होती हैं| ऐसे ही प्रकृति से उत्पन्न होने वाले जितने गुण, विकार हैं तथा उनमें जो कुछ परिवर्तन होता है, वह सब प्रकृति से ही होता है| इसका तात्पर्य है कि जैसे पृथ्वी से पैदा होने वाले पदार्थ पृथ्वी में ही स्थित रहने से और पृथ्वी में लीन होने से पृथ्वी रूप ही हैं, ऐसे ही प्रकृति से पैदा होने वाला सब संसार प्रकृति में ही स्थित रहने से और प्रकृति में ही लीन होने से प्रकृति रूप ही है| इसी प्रकार स्थावर, जंगम प्राणियों के रूप में जो चेतन तत्व है, वह निरन्तर परमात्मा में ही स्थित रहता है| प्रकृति के संग से उसमें कितने ही विकार क्यों न दिखें, पर वह सदा असंग ही रहता है| ऐसा स्पष्ट अनुभव हो जाने पर साधक ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है| यह नियम है कि प्रकृति के साथ अपना सम्बन्ध मानने के कारण स्वार्थ-बुद्धि, भोग-बुद्धि, सुख-बुद्धि, आदि से प्राणियों को अलग अलग भाव से देखने पर राग, द्वेष पैदा हो जाते हैं| राग होने पर उनमें गुण दिखाई देते हैं और द्वेष होने पर दोष दिखाई देते हैं| इस प्रकार दृष्टि के आगे राग, द्वेष रूप परदा आ जाने से वास्तविकता का अनुभव नहीं होता| परन्तु जब साधक अपने कहलाने वाले स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर सहित सम्पूर्ण प्राणियों के शरीरों की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश को प्रकृति में ही देखता है तथा अपने में उनका अभाव देखता है, तब उसकी दृष्टि के आगे से राग, द्वेष रूप परदा हट जाता है और उसको स्वतः सिद्ध परमात्म-तत्व का अनुभव हो जाता है|

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ।।१३-३२।।

समझो है पुरुष अव्यय अनादि और निर्गुण अर्जुन |
न करे वह कर्म न हो लिप्त फल यद्यपि है युक्त तन ||१३-३२||

भावार्थ: *हे अर्जुन, पुरुष अनादि, निर्गुण और अव्यय है, ऐसा समझो| यद्यपि वह शरीर से युक्त है (अर्थात् तनधारी हैं), पर वह न कर्म करता है और न फलों से लिप्त होता है|*

टीका: प्रभु कहते हैं कि हे अर्जुन, यह पुरुष (परमात्मा) आदि (आरम्भ) से रहित है| यहां शंका हो सकती है कि प्रभु ने प्रकृति को भी अनादि कहा है, इसलिये प्रकृति और पुरुष, दोनों में फिर अंतर क्या है? इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं कि 'निर्गुणत्वात्', अर्थात् यह पुरुष गुणों से रहित है| प्रकृति अनादि तो है, पर वह गुणों से रहित नहीं है, प्रत्युत गुणों और विकारों वाली है| उससे सात्त्विक, राजस और तामस, यह तीनों गुण तथा विकार पैदा होते हैं| परन्तु पुरुष इन तीनों गुणों और विकारों से सर्वथा रहित (निर्गुण और निर्विकार) है| ऐसा यह पुरुष साक्षात् अविनाशी परमात्म-स्वरूप ही है अर्थात् यह पुरुष विनाशरहित परम शुद्ध आत्मा है|

यह पुरुष शरीर में रहता हुआ भी न कुछ करता है और न किसी कर्म से लिप्त ही होता है| इसका तात्पर्य है कि इस पुरुष (स्वयं) ने न तो पहले किसी भी अवस्था में कुछ किया है, न वर्तमान में कुछ करता है और न आगे ही कुछ कर सकता है,अर्थात् यह पुरुष सदा से ही प्रकृति से निर्लिप्त, असंग है तथा गुणों से रहित और अविनाशी है| इसमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व नहीं है| पुरुष जिस समय अपने को शरीर में स्थित मान कर अपने को कार्य का कर्ता और सुख, दुःख का भोक्ता मानता है, उस समय भी वास्तव में यह तटस्थ, प्रकाश मात्र ही रहता है| सुख, दुःख का भान इसी से होता है अतः इसको प्रकाशक कह सकते हैं, पर इसमें प्रकाशक धर्म नहीं है| अनादि काल से अपने को शरीर में स्थित मानने वाला प्रत्येक (चींटी से ब्रह्मा पर्यन्त) प्राणी स्वरूप से सदा ही निर्लिप्त, असंग है|

उसकी शरीर के साथ एकता कभी नहीं हुई क्योंकि शरीर तो प्रकृति का कार्य होने से सदा प्रकृति में ही स्थित रहता है और स्वयं परमात्मा का अंश होने से सदा परमात्मा में ही स्थित रहता है| स्वयं परमात्मा से कभी अलग नहीं हो सकता| शरीर के साथ एकात्मता मानने पर भी, शरीर के साथ कितना ही घुल मिल जाने पर भी, शरीर को ही अपना स्वरूप मानने पर भी उसकी निर्लिप्तता कभी नष्ट नहीं होती, वह स्वरूप से सदा ही निर्लिप्त रहता है| अपनी निर्लिप्तता का अनुभव न होने पर भी उसके स्वरूप में कुछ भी विकृति नहीं होती| अतः उसने अपने स्वरूप से न कभी कुछ किया है और न करता है| वह स्वयं न कभी फल में लिप्त हुआ है और न लिप्त होता है| स्मरण रहे कि प्रकृति और उसका कार्य शरीर, दोनों एक ही हैं| अतः पुरुष को चाहे प्रकृति में स्थित कहो, चाहे शरीर में स्थित कहो, एक ही बात है| एक शरीर के साथ सम्बन्ध होने से प्रकृति के साथ सम्बन्ध हो जाता है| वास्तव में पुरुष का सम्बन्ध न तो व्यष्टि शरीर के साथ है और न समष्टि प्रकृति के साथ ही है| अपना सम्बन्ध शरीर के साथ मानने से ही वह अपने को कर्ता, भोक्ता मान लेता है| वास्तव में वह न कर्ता है और न भोक्ता है|

प्रभु कहते हैं कि यद्यपि कर्तृत्व के बाद ही भोक्तृत्व होता है, अर्थात् कर्म करने के बाद ही उस कर्म के फल का भोग होता है, तथापि मनुष्य जो कुछ भी करता है, किसी फल (सिद्धि) का उद्देश्य मन में रखकर ही करता है| अतः मन में पहले भोक्तृत्व आता है, फिर उसके अनुसार काम करता है, अर्थात् फिर कर्तृत्व आता है| इस दृष्टि से भगवान् यहाँ सबसे पहले भोक्तृत्व का निषेध करते हैं| भोक्तृत्व (लिप्तता) का त्याग होने पर कर्तृत्व का त्याग स्वतः हो जाता है, अर्थात् फलेच्छा का त्याग होने पर क्रिया करने पर भी कर्तृत्व नहीं होता|

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथाऽऽत्मा नोपलिप्यते ।।१३-३३।।

न हो जैसे लिप्त सर्वगत नभ कारण सूक्ष्म हे अर्जुन |
सादृश्य हो न लिप्त आत्मा यद्यपि स्थित सर्वत्र तन ||१३-३३||

भावार्थ: *जिस प्रकार सर्वगत आकाश सूक्ष्म होने के कारण लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार सर्वत्र देह में स्थित आत्मा लिप्त नहीं होती|*

टीका: आकाश का कार्य वायु, तेज, जल और पृथ्वी है| अतः आकाश अपने कार्य वायु आदि चारों भूतों में व्यापक है, पर यह चारों आकाश में व्यापक नहीं हैं| यह चारों आकाश के अन्तर्गत हैं, पर आकाश इन चारों के अन्तर्गत नहीं है| इसका कारण यह है कि आकाश की अपेक्षा ये चारों स्थूल हैं और आकाश इनकी अपेक्षा सूक्ष्म है| यह चारों सीमित हैं और आकाश असीम है, अनन्त है| इन चारों भूतों में विकार होते हैं, पर आकाश में विकार नहीं होते| जैसे आकाश वायु आदि चारों भूतों में रहते हुए भी उनमें लिप्त नहीं होता, ऐसे ही सर्वत्र शरीरों में रहने वाली आत्मा किसी भी शरीर में लिप्त नहीं होती| आत्मा सब में परिपूर्ण होते हुई भी किसी में घुलती मिलती नहीं| वह सदा, सर्वदा, सर्वथा निर्लिप्त रहती है क्योंकि आत्मा स्वयं नित्य, सर्वगत, स्थाणु, अचल, सनातन, अव्यक्त, अचिन्त्य और अविकारी है| इस अविनाशी आत्मा से ही यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है|

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ।।१३-३४।।

करे प्रकाशित जैसे एक रवि सब जगत हे अर्जुन |
करे प्रकाशित सम्पूर्ण क्षेत्र एक क्षेत्रज्ञ सलक्षन ||१३-३४||

भावार्थ: हे अर्जुन, जिस प्रकार एक सूर्य इस सम्पूर्ण लोक को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक क्षेत्रज्ञ सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करता है|

टीका: नेत्रों से दिखने वाले इस सम्पूर्ण संसार को, संसार के पदार्थों को एक सूर्य ही प्रकाशित करता है| संसार की सब क्रियाएँ सूर्य के प्रकाश के अन्तर्गत होती हैं, परन्तु सूर्य में 'मैं सब को प्रकाशित करता हूँ', ऐसा कर्तृत्व नहीं होता| उदाहरण के लिए जैसे सूर्य के प्रकाश में ही ब्राह्मण वेद पाठ करता है और शिकारी पशुओं को मारता है, पर सूर्य का प्रकाश वेद पाठ और शिकार रूपी

क्रियाओं को करने करवाने में कारण नहीं बनता| यहाँ जगत शब्द चौदह भुवनों का वाचक है| इसका कारण है कि संसार में जो कुछ भी (चन्द्रमा, तारे, अग्नि, मणि, जड़ी बूटी आदि में) प्रकाश है, वह सब सूर्य का ही है|

सूर्य की तरह एक ही क्षेत्रज्ञ (आत्मा) सम्पूर्ण क्षेत्रों को प्रकाशित करता है, अर्थात् सब क्षेत्रों में करना करवाना रूप सम्पूर्ण क्रियाएँ क्षेत्रज्ञ के प्रकाश में ही होती हैं, परन्तु क्षेत्रज्ञ उन क्रियाओँ को करने करवाने में कारण नहीं बनता| सूर्य तो केवल स्थूल संसार को ही प्रकाशित करता है और उसके प्रकाश में स्थूल संसार की ही क्रियाएँ होती हैं, पर क्षेत्रज्ञ केवल स्थूल क्षेत्र (संसार) को ही प्रकाशित नहीं करता, प्रत्युत वह स्थूल, सूक्ष्म और कारण, तीनों क्षेत्रों को प्रकाशित करता है| उसके प्रकाश में स्थूल, सूक्ष्म और कारण, यह तीनों शरीरों की सम्पूर्ण क्रियाएँ होती हैं| जैसे सम्पूर्ण संसार को प्रकाशित करने पर भी सूर्य में (सब को प्रकाशित करने का) अभिमान नहीं आता और तरह तरह की क्रियाओं को प्रकाशित करने पर भी सूर्य में नाना भेद नहीं आता, ऐसे ही सम्पूर्ण क्षेत्रों को प्रकाशित करने, उनको सत्ता स्फूर्ति देने पर भी क्षेत्रज्ञ में अभिमान, कर्तृत्व नहीं आता और तरह तरह की क्रियाओँ को प्रकाशित करने पर भी क्षेत्रज्ञ में नाना भेद नहीं आता| वह क्षेत्रज्ञ सदा ही ज्यों का त्यों निर्लिप्त, असंग रहता है| कोई भी क्रिया तथा वस्तु बिना आश्रय के नहीं होती और कोई भी प्रतीति बिना प्रकाश (ज्ञान) के नहीं होती| क्षेत्रज्ञ सम्पूर्ण क्रियाओं, वस्तुओं और प्रतीतियों का आश्रय और प्रकाशक है|

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ।।१३-३५।।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञविभागयोग त्रयोदसोऽध्यायः |

द्वारा ज्ञानचक्षु जानें भेद क्षेत्र क्षेत्रज्ञ जो जन |
हो पृथक विकार प्रकृति पाएं वह ब्रह्म पावन ||१३-३५||

ब्रह्मविद्या योगशास्त्रमय महाग्रंथ गीतबंधन।
श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषदरूप ग्रन्थ अति पावन॥
श्री कृष्णार्जुन संवाद क्षेत्र-क्षेत्रज्ञविभागयोग नामन।
हुआ अत्र सम्पूर्ण त्रयोदस अध्याय करे कल्याण जन॥

भावार्थ: *जो ज्ञानचक्षु के द्वारा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद को जान जाते हैं, वह प्रकृति के विकारों से पृथक हो पवित्र ब्रह्म की प्राप्ति कर लेते हैं।*

इस प्रकार उपनिषद, ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र रूप श्रीमद्भगवद्गीता के श्री कृष्ण-अर्जुन संवाद में 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञविभागयोग' नामक त्रयोदस अध्याय संपूर्ण हुआ।

टीका: सत्-असत्, नित्य-अनित्य, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ को जानने का नाम विवेक है, जो ज्ञानचक्षु से ही प्राप्त हो सकता है। इसमें क्षेत्र विकारी है, कभी एक रूप नहीं रहता, प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है। परन्तु इस क्षेत्र में रहने वाला, इसको जानने वाला क्षेत्रज्ञ सदा एक रूप रहता है। क्षेत्रज्ञ में परिवर्तन न हुआ है, न होगा और न होना सम्भव ही है। इस तरह जानना, अनुभव करना ही ज्ञानचक्षु से क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ के भेद को जानना है।

वास्तविक विवेक अर्थात् बोध होने पर भूत और प्रकृति से अर्थात् प्रकृति के कार्य से तथा प्रकृति से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। प्रकृति से सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद होने पर अर्थात् प्रकृति से अपने अलगाव का ठीक अनुभव होने पर साधक परमात्म-तत्व को प्राप्त कर लेता है। ज्ञानमार्ग में देहाभिमान ही प्रधान बाधा है। इस बाधा को दूर करने के लिये भगवान् ने पहले 'इदं शरीरम्' शब्द से शरीर (क्षेत्र) से अपनी (क्षेत्रज्ञ) पृथकता का अनुभव कराया, फिर क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ का ज्ञान दिया। क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ की पृथकता का कई प्रकार से वर्णन किया। अब उसी विषय का उपसंहार करते हुए भगवान् कहते हैं कि क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ की पृथकता को भली भांति जान लेने से क्षेत्र के साथ सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। क्षेत्रज्ञ ने ही परमात्मा से विमुख होकर परमात्मा से भिन्नता मानी है और क्षेत्र के सम्मुख होकर क्षेत्र से एकता मानी है। इसलिये परमात्मा से एकता

और क्षेत्र से सर्वथा भिन्नता, दोनों बातों को कहना आवश्यक हो गया था| अतः भगवान् ने यहां क्षेत्रज्ञ की परमात्मा से एकता बताते हुए क्षेत्र की समष्टि संसार से एकता बताई है| दोनों का तात्पर्य क्षेत्रज्ञ और परमात्मा की अभिन्नता बताने में ही है| जैसे किसी गृह में चारों ओर अँधेरा है और कोई कहे कि गृह के भीतर प्रेत रहते हैं, तो जन साधारण को उस गृह में प्रेत दिखने लग जाते हैं, अर्थात् उसमें प्रेत होने का संदेह हो जाता है| परन्तु किसी साहसी पुरुष के द्वारा गृह के भीतर जाकर प्रवेश कर देने से अँधेरा और प्रेत, दोनों ही मिट जाते हैं| अँधेरे में चलते समय मनुष्य धीरे धीरे चलता है कि कहीं ठोकर न लग जाए, कहीं गड्ढा न आ जाए| उसको गिरने का और साथ ही बिच्छू, साँप, चोर आदि का भय भी लगा रहता है| परन्तु प्रकाश होते ही सब भय मिट जाते हैं| ऐसे ही सर्वत्र परिपूर्ण प्रकाश स्वरूप परमात्मा से विमुख होने पर अन्धकार स्वरूप संसार की स्वतन्त्र सत्ता सर्वत्र दिखने लग जाती है और तरह तरह के भय सताने लग जाते हैं| परन्तु वास्तविक बोध होने पर संसार की स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती और सब भय मिट जाते हैं, एक प्रकाश स्वरूप परमात्मा ही शेष रह जाता है| अँधेरे को मिटाने के लिये प्रकाश को लाना पड़ता है, परन्तु परमात्मा को कहीं से लाना नहीं पड़ता| वह तो सब देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदि में ज्यों का त्यों परिपूर्ण है| इसलिये संसार से सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद होने पर उसका अनुभव अपने आप हो जाता है|

अध्याय १४: गुणत्रयविभागयोग

श्रीभगवानुवाच
परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ।।१४-१।।

श्रीभगवानुवाच
छंद:
कहूँ पुनः उपम ज्ञान मध्य सभी ज्ञान बोले भगवन |
पाएं परम सिद्धि हो मुक्त जगत सुन सभी ऋषिगन ||१४-१||

भावार्थ: *भगवान् बोले, 'समस्त ज्ञानों में उत्तम ज्ञान को मैं पुनः कहता हूँ, जिसको सुनकर सभी मुनिजन इस लोक से मुक्ति पाकर परम सिद्धि को प्राप्त होते हैं।'*

टीका: पहले भगवान् ने क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, प्रकृति, पुरुष का जो ज्ञान (विवेक) बताया था, उसी ज्ञान को प्रभु पुनः बताने का यहाँ संकल्प कर रहे हैं|

लौकिक और पारलौकिक जितने भी ज्ञान हैं अर्थात् जितनी भी विद्याओं, कलाओँ, भाषाओं, लिपियों आदि का ज्ञान है, उन सब से प्रकृति, पुरुष का भेद बताने वाला, प्रकृति से अतीत करने वाला, परमात्मा की प्राप्ति कराने वाला ज्ञान ही सर्वश्रेष्ठ है, सर्वोत्कृष्ट है| इसके समान दूसरा कोई ज्ञान न है, न हो सकता है, और न होना सम्भव है| इसका कारण है कि दूसरे सभी ज्ञान संसार में फँसाने वाले हैं, बन्धन में डालने वाले हैं, परन्तु यह ज्ञान मुक्ति दिलाने वाला है|

यहाँ प्रभु ने ज्ञान के लिए 'उपम' शब्द का प्रयोग किया है| इसका अर्थ है कि यह ज्ञान प्रकृति और उसके कार्य संसार, शरीर से सम्बन्ध विच्छेद कराने वाला होने से श्रेष्ठ है, और परमात्मा की प्राप्ति कराने वाला होने से सर्वोत्कृष्ट है|

जिस ज्ञान को सुनकर, अर्थात् जिसका अनुभव करके महान ऋषिगण इस संसार से मुक्त होकर परमात्मा को प्राप्त हो गए हैं, उस ज्ञान को प्रभु अर्जुन को पुनः बतला रहे हैं| इस ज्ञान को प्राप्त कर समस्त प्राणी संसार के बन्धन से, संसार की परवशता से छूट जाते हैं और परमात्मा को प्राप्त हो जाते हैं| तत्व का मनन करने वाले जिस मनुष्य का शरीर के साथ अपनापन नहीं रहता, वह 'ऋषि' कहलाता है|

सांसारिक कार्यों की जितनी सिद्धियाँ हैं अथवा योग साधन से होने वाली अणिमा, महिमा, गरिमा आदि जितनी सिद्धियाँ हैं, वह सभी वास्तव में असिद्धियाँ ही हैं| इसका कारण है कि वह सभी जन्म-मरण देने वाली, बन्धन में डालने वाली हैं, परमात्म-तत्व की प्राप्ति में बाधा डालने वाली हैं| परन्तु परमात्म-तत्व की प्राप्ति रूप जो सिद्धि है, वह सर्वोत्कृष्ट है क्योंकि उसकी प्राप्ति होने पर मनुष्य जन्म-मरण के बंधन से छूट जाता है|

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ।।१४-२।।

ले आश्रय यह ज्ञान पा मम स्वरुप पाएं निर्मोचन |
नहीं होते व्याकुल कभी काल प्रलय वह भक्तजन ||१४-२||

भावार्थ: *इस ज्ञान का आश्रय लेकर मेरे स्वरूप को प्राप्त कर पुरुष मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं एवं प्रलय काल में कभी व्याकुल नहीं होते|*

टीका: परम ज्ञान की महिमा का अनुभव करना ही उसका आश्रय लेना है| उस ज्ञान का अनुभव होने से मनुष्य के सम्पूर्ण संशय मिट जाते हैं और वह ज्ञान स्वरूप हो जाता है| प्रभु कहते हैं कि इस ज्ञान का आश्रय लेकर मनुष्य मेरी सधर्मता को प्राप्त हो जाते हैं, अर्थात् जैसे मुझ में कर्तृत्व, भोक्तृत्व नहीं है, ऐसे ही उनमें भी कर्तृत्व, भोक्तृत्व नहीं रहता| जैसे मैं सदा ही निर्लिप्त, निर्विकार रहता हूँ, ऐसे ही उनको भी अपनी निर्लिप्तता, निर्विकारता का अनुभव हो जाता है| ज्ञानी महापुरुष भगवान् के समान निर्लिप्त, निर्विकार तो हो जाते हैं, पर वह

भगवान् के समान संसार की उत्पत्ति, पालन और संहार का कार्य नहीं कर सकते| योगाभ्यास के बल से अवश्य उनमें कुछ सामर्थ्य आ सकती है, पर वह सामर्थ्य भी भगवान् के सामर्थ्य के समान नहीं होती| इसका कारण है कि यद्यपि वह योगी हो सकते हैं, अर्थात् अभ्यास करके उन्होंने कुछ सामर्थ्य प्राप्त कर ली है, परन्तु भगवान् तो युक्त योगी हैं, अर्थात् भगवान् में सामर्थ्य सदा से स्वतः सिद्ध है| भगवान् सब कुछ करने में समर्थ हैं, 'कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थः'| योगी की सामर्थ्य तो सीमित होती है, पर भगवान् की सामर्थ्य असीम होती है, 'सर्गेऽपि नोपजाएन्ते'|

इस ज्ञान को प्राप्त करने के पश्चात ज्ञानी महापुरुष महासर्ग के आरम्भ में भी उत्पन्न नहीं होते, अर्थात मोक्ष को प्राप्त होते हैं| महासर्ग के आदि में चौदह लोकों की तथा उन लोकों के अधिकारियों की उत्पत्ति होती है, पर ऐसे महापुरुष उत्पन्न नहीं होते| उनको फिर कर्म परवश होकर कभी भी शरीर धारण नहीं करना पड़ता|

महाप्रलय में संवर्तक अग्नि से चर अचर सभी प्राणी भस्म हो जाते हैं| समुद्र में बाढ़ से पृथ्वी डूब जाती है| चौदह लोकों में हलचल, हाहाकार मच जाता है| सभी प्राणी दुःखी होते हैं, नष्ट होते हैं| परन्तु महाप्रलय में भी इन ज्ञानी महापुरुषों को कोई दुःख नहीं होता, उनमें कोई हलचल नहीं होती, कोई विकार नहीं होता| वह महापुरुष जिस तत्व को प्राप्त कर चुके हैं, उस तत्व में हलचल, विकार आदि नहीं है| महासर्ग में भी उत्पन्न न होने और महाप्रलय में भी व्यथित न होने का तात्पर्य यह है कि ज्ञानी महापुरुष का प्रकृति और प्रकृतिजन्य गुणों से सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है| प्रकृति का सम्बन्ध रहने से जो जन्म-मरण होता है, दुःख होता है, हलचल होती है, प्रकृति के सम्बन्ध से रहित महापुरुष में वह जन्म-मरण, दुःख आदि नहीं होते|

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।

संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ।।१४-३।।

समझो है मेरी मूल प्रकृति करूँ त्रिलोक सृजन |
हूँ मैं ही हेतु करें सब लोक जीव गर्भ स्थापन ||
मेरे कारण होती उत्पत्ति सभी जीव हे अर्जुन ||१४-३||

भावार्थ: *हे अर्जुन, मेरी मूल प्रकृति त्रिलोक का सृजन करना है, ऐसा समझो| सभी लोको में जीवों में गर्भ स्थापन का हेतु मैं ही हूँ| मेरे कारण समस्त भूतों की उत्पत्ति होती है|*

टीका: यहाँ प्रभु ने अपनी मूल प्रकृति इस ब्रह्माण्ड का सृजन करना बतलाई है| लेकिन जीवनमुक्त महापुरुषों का इस प्रभु की मूल प्रकृति के कारण ही संसार से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है| वह महासर्ग में भी पैदा नहीं होते और महाप्रलय में भी व्यथित नहीं होते| सब का उत्पत्ति स्थान होने से इस मूल प्रकृति को योनि भी कहा गया है| इसी मूल प्रकृति से अनन्त ब्रह्माण्ड पैदा होते हैं, और इसी में लीन हो जाते हैं| इस मूल प्रकृति से ही सांसारिक अनन्त शक्तियाँ पैदा होती हैं| इस मूल प्रकृति के लिये 'मेरी' शब्द का प्रयोग करके भगवान् कहते हैं कि यह प्रकृति मेरी है, अतः इस पर आधिपत्य भी मेरा ही है| मेरी इच्छा के बिना यह प्रकृति अपनी ओर से कुछ भी नहीं कर सकती| यह जो कुछ भी करती है, वह सब मेरी अध्यक्षता में ही करती है| मैं मूल प्रकृति से भी श्रेष्ठ साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हूँ|

यहाँ गर्भ शब्द कर्म संस्कारों सहित जीव समुदाय का वाचक है| भगवान् कोई नया गर्भ स्थापन नहीं करते| अनादि काल से जो जीव जन्म-मरण के प्रवाह में पड़े हुए हैं, वह महाप्रलय के समय अपने अपने कर्म संस्कारों सहित प्रकृति में लीन हो जाते हैं| प्रकृति में लीन हुए जीवों के कर्म जब परिपक्व होकर फल देने के लिये उन्मुख हो जाते हैं, तब महासर्ग के आदि में भगवान् उन जीवों का प्रकृति के साथ पुनः विशेष सम्बन्ध (जो कि कारण शरीर रूप से पहले से ही था) स्थापित करा देते हैं, यही भगवान् के द्वारा जीव समुदाय रूप गर्भ को प्रकृति रूप योनि में स्थापन करना है|

भगवान् के द्वारा प्रकृति में गर्भ स्थापन करने के बाद सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति होती है, अर्थात् वह प्राणी सूक्ष्म और स्थूल शरीर धारण करके पुनर्जन्म प्राप्त करते हैं| महासर्ग के आदि में प्राणियों का यह उत्पन्न होना ही भगवान् का विसर्ग (त्याग) है, आदिकर्म है| जीव जब तक मुक्त नहीं होता, तब तक प्रकृति के अंश कारण शरीर से उसका सम्बन्ध बना रहता है और वह महाप्रलय में कारण शरीर सहित ही प्रकृति में लीन होता है|

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ।।१४-४।।

है माँ मूल प्रकृति हेतु तन उत्पत्ति योनि अर्जुन |
समझो मुझे जनयित्र करे जो सर्वत्र बीज स्थापन ||१४-४||

भावार्थ: *हे अर्जुन, योनियों में शरीर उत्पत्ति की माँ मूल प्रकृति है| मुझे इन में बीज की स्थापना करने वाला पिता समझो|*

टीका: जरायुज (जेर के साथ पैदा होने वाले मनुष्य, पशु आदि), अण्डज (अण्डे से उत्पन्न होने वाले पक्षी, सर्प आदि), स्वेदज (पसीने से उत्पन्न होने वाले जूँ, लीख आदि) और उद्भिज्ज (पृथ्वी से उत्पन्न होने वाले वृक्ष, लता आदि), सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति के यह चार स्थान हैं| इन चारों में से एक एक स्थान से लाखों योनियाँ पैदा होती हैं| उन लाखों योनियों में से एक एक योनि में भी जो प्राणी पैदा होते हैं, उन सब की आकृति साधारणतः अलग अलग होती है| एक योनि में, एक जाति में पैदा होने वाले प्राणियों की आकृति में भी स्थूल या सूक्ष्म भेद रहता है अर्थात् एक समान आकृति साधारणतः किसी की भी नहीं मिलती| जैसे एक मनुष्य योनि में अरबों वर्षों से अरबों शरीर पैदा होते चले आए हैं, पर साधारणतः किसी एक मनुष्य की आकृति दूसरे से नहीं मिलती|

अक्षर मिलत न एक से, देखे देश अनेक|

अर्थात् पगड़ी, भाग्य, वाणी (कण्ठ), स्वभाव, आकृति, शब्द, विचार शक्ति और लिखने के अक्षर, साधारणतः दो मनुष्यों के एक समान नहीं मिलते|

इस तरह चौरासी लाख योनियों में जितने शरीर अनादि काल से पैदा होते चले आ रहे हैं, उन सब की आकृति साधारणतः अलग अलग है| चौरासी लाख योनियों के अतिरिक्त देवता, पितर, गन्धर्व, भूत, प्रेत आदि को भी यहाँ योनि शब्द के अन्तर्गत लेना चाहिए| चौरासी लाख योनियाँ का उत्पत्ति स्थान अर्थात माँ, प्रभु की मूल प्रकृति है| उस मूल प्रकृति में जीव रूप बीज का स्थापन करने वाले पिता प्रभु हैं| भिन्न भिन्न वर्ण और आकृति वाले नाना प्रकार के शरीरों में भगवान् अपने चेतन अंश रूप बीज को स्थापित करते हैं| इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक प्राणी में स्थित परमात्मा का अंश शरीरों की भिन्नता से ही भिन्न भिन्न प्रतीत होता है, वास्तव में सम्पूर्ण प्राणियों में एक ही परमात्मा विद्यमान हैं| इसका तात्पर्य है कि स्थूल दृष्टि से तो प्रत्येक शरीर में परमात्म-तत्व अलग अलग दिखाई देता है, पर सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो सम्पूर्ण शरीरों में, सम्पूर्ण संसार में एक ही परमात्म-तत्व परिपूर्ण है|

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ।।१४-५।।

हुए उत्पन्न प्रकृति सत रजस तमस त्रिगुण युद्धिवन |
हेतु यही अव्यय आत्मा पड़े संसार और तन बंधन ||१४-५||

भावार्थ: *हे महाबाहो, सत्त्व, रजस और तमस, प्रकृति से उत्पन्न यह तीन गुण अविनाशी आत्मा को संसार और देह के बंधन में डाल देते हैं|*

टीका: प्रभु ने अपनी मूल प्रकृति को परम ब्रह्म कहा है| इसी मूल प्रकृति से सत्त्व, रजस और तमस, यह तीनों गुण उत्पन्न होते हैं| इन तीनों गुणों से अनन्त सृष्टियाँ पैदा होती हैं| यह तीनों गुण अविनाशी आत्मा को देह बंधन में बाँध देते हैं| वास्तव में देखा जाए तो यह तीनों गुण अपनी ओर से किसी को भी नहीं बाँधते, प्रत्युत यह पुरुष ही इन गुणों के साथ सम्बन्ध जोड़कर बँध जाता है|

इसका तात्पर्य है कि गुणों के कार्य पदार्थ, धन, परिवार, शरीर, स्वभाव, वृत्तियाँ, परिस्थितियाँ, क्रियाएँ आदि को अपना मान लेने से यह जीव स्वयं अविनाशी होता हुआ भी बँध जाता है, विनाशी पदार्थ, धन आदि के वश में हो जाता है| सर्वथा स्वतन्त्र होता हुआ भी पराधीन हो जाता है| जैसे मनुष्य जब धन को अपना मानता है, तब धन के घटने बढ़ने से स्वयं पर प्रभाव पड़ता है| जिन व्यक्तियों को वह अपना मानता है, उनके जन्म-मरण पर वह सुखी, दुःखी होता है, आदि| यही गुणों का अविनाशी आत्मा को बाँधना है| यह बड़े आश्चर्य की बात है कि यह आत्मा स्वयं अविनाशी रूप से ज्यों की त्यों रहती हुई भी गुणों के, गुणों की वृत्तियों के अधीन होकर स्वयं सात्त्विक, राजस और तामस बन जाती है| गोस्वामी तुलसी दास जी कहते हैं:

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी।।

जीव का यह अविनाशी स्वरूप वास्तव में कभी भी गुणों से नहीं बँधता परन्तु जब प्राणी विनाशी देह को 'मैं, मेरा और मेरे लिये' मान लेता है, तब वह अपनी मान्यता के कारण गुणों से बँध जाता है, और उसको परमात्म-तत्व की प्राप्ति में कठिनता प्रतीत होती है| देहाभिमान के कारण गुणों के द्वारा देह में बँध जाने से वह तीनों गुणों से परे अपने अविनाशी स्वरूप को नहीं जान सकता| गुणों से देह में बँध जाने पर भी जीव का जो वास्तविक अविनाशी स्वरूप है, वह ज्यों का त्यों ही रहता है| देह में तादात्म्य, ममता और कामना होने से ही तीनों गुण इस पुरुष को देह में बाँधते हैं| यदि देह में तादात्म्य, ममता और कामना न हो, तो फिर यह परमात्म-स्वरूप ही है|

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ।।१४-६।।

है सतगुण निर्मल अतः प्रकाशक निर्विकार अर्जुन |
सुख आसक्ति सतगुण बांधे आत्मा जग तन बंधन ||१४-६||

भावार्थ: *हे अर्जुन, सतगुण निर्मल होने से प्रकाशक और निर्विकार है| सतगुण में सुख आसक्ति आत्मा को संसार और शरीर में बाँध देती है|*

टीका: प्रभु कहते हैं कि तीनों गुणों (सत, राजस और तमस) में सतगुण निर्मल (मलरहित) है| इसका तात्पर्य है कि रजोगुण और तमोगुण की तरह सतगुण में मलिनता नहीं है, प्रत्युत यह रजोगुण और तमोगुण की अपेक्षा निर्मल है| निर्मल होने के कारण यह परमात्म-तत्व का ज्ञान कराने में सहायक है| सतगुण निर्मल एवं स्वच्छ होने के कारण प्रकाश करने वाला है| जैसे प्रकाश के अन्तर्गत वस्तुएँ स्पष्ट दिखती हैं, ऐसे ही सतगुण की अधिकता होने से रजोगुण और तमोगुण की वृत्तियाँ स्पष्ट दिखती हैं| रजोगुण और तमोगुण से उत्पन्न होने वाले काम, क्रोध, लोभ, मद, मात्सर्य आदि दोष स्पष्ट दिखते हैं, अर्थात् इन सब विकारों का स्पष्ट ज्ञान होता है| सतगुण की वृद्धि होने पर इन्द्रियों में प्रकाश, चेतना और निर्मलता प्रतीत होती है, जिससे प्रत्येक पारमार्थिक अथवा लौकिक विषय को अच्छी तरह समझने में बुद्धि पूरी तरह कार्य करती है| सतगुण के दो रूप हैं, (१) शुद्ध सत, जिसमें उद्देश्य परमात्मा का होता है, और (२) मलिन सत, जिसमें उद्देश्य सांसारिक भोग और संग्रह का होता है| शुद्ध सतगुण में परमात्मा का उद्देश्य होने से परमात्मा की ओर चलने में स्वाभाविक रुचि होती है| मलिन सतगुण में पदार्थों के संग्रह और सुख भोग का उद्देश्य होने से सांसारिक प्रवृत्तियों में रुचि होती है, जिससे मनुष्य बँध जाता है|

सतगुण रजस और तमस की अपेक्षा विकार रहित है| वास्तव में प्रकृति का कार्य होने से यह सर्वथा निर्विकार नहीं है| सर्वथा निर्विकार तो परमात्म-तत्व ही है, जो कि गुणातीत है| परमात्म-तत्व की प्राप्ति में सहायक होने से भगवान् ने सतगुण को भी विकार रहित कह दिया है|

जब अन्तःकरण में सात्त्विक वृत्ति होती है, कोई विकार नहीं होता, तब एक सुख मिलता है, शान्ति मिलती है| उस समय साधक के मन में यह विचार आता है कि ऐसा सुख सदैव बना रहे, ऐसी शान्ति सदैव बनी रहे, ऐसी निर्विकारता सदैव बनी रहे| परन्तु जब ऐसा सुख, शान्ति, निर्विकारता नहीं रहती, तब साधक को अच्छा नहीं लगता| यह अच्छा लगना और न लगना ही सतगुण के सुख में

आसक्ति है, जो बाँधने वाली है| जब सत, रजस और तमस, इन तीनों गुणों का, इनकी वृत्तियों का, विकारों का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है तब साधक के मन में आता है कि यह सतगुण सदैव बना रहे| यह सतगुण में आसक्ति बाँधने वाली है| ऐसा अभिमान कि मैं दूसरों की अपेक्षा अधिक (विशेष) जानता हूँ, यह अभिमान बाँधने वाला होता है| इस प्रकार सतगुण सुख साधक को संसार बंधन में बाँध देता है अर्थात् उसको गुणातीत नहीं होने देता| यदि साधक सुख का संग न करे तो सतगुण उसको बाँधता नहीं, प्रत्युत उसको गुणातीत कर देता है| इसका तात्पर्य है कि यदि सुख का संग न हो तो साधक सतगुण से भी ऊँचा उठ जाता है और अपने गुणातीत स्वरूप का अनुभव कर लेता है| सतगुण से सुख मिलने पर साधक को यह सावधानी रखनी चाहिए कि यह सुख मेरा लक्ष्य नहीं है| यह तो लक्ष्य की प्राप्ति में कारण मात्र है| मुझ को तो उस लक्ष्य को प्राप्त करना है जो इस सुख को भी प्रकाशित करने वाला है| सुख, ज्ञान आदि सभी सतगुण की वृत्तियाँ हैं| यह कभी घटती हैं, कभी बढ़ती हैं, कभी आती हैं, कभी जाती हैं, परन्तु अपना स्वरूप (परमात्म-तत्व) निरन्तर एक रस रहता है| उसमें कभी घट बढ़ नहीं होती| अतः साधक को सतगुण की वृत्तियों से सदा तटस्थ, उदासीन रहना चाहिए| उनका उपभोग नहीं करना चाहिए| इससे वह सुख की आसक्ति में नहीं फँसेगा| अगर साधक सतगुण से होने वाले सुख का संग न करे, तो उसको शीघ्र ही परमात्म-तत्व की प्राप्ति हो जाती है|

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ।।१४-७।।

रजोगुण में आसक्ति करे उत्पन्न राग तृष्णा व् मन्मन् |
बांधे यह जीव कर्म आसक्ति समझो तुम कुंतीनंदन ||१४-७||

भावार्थ: *हे कुन्तीनन्दन, रजोगुण में आसक्ति ममता, तृष्णा और इच्छा उत्पन्न करती है| वह आत्मा को कर्मों की आसक्ति से बाँध देती है, ऐसा समझो|*

टीका: प्रभु कहते हैं कि हे कुन्तीनन्दन, रजोगुण में आसक्ति ममता, तृष्णा और इच्छाओं को उत्पन्न करने वाली है| भक्त साधक परमात्म-तत्व की प्राप्ति के

लिए आसक्ति का त्याग करके कर्तव्य कर्मों का पालन करता है| निष्काम भाव से किए गए कर्म मुक्त करने वाले होते हैं| प्रवृत्ति अर्थात् क्रिया करने का भाव उत्पन्न होने पर भी गुणातीत पुरुष का उसमें राग नहीं होता| इसका तात्पर्य यह हुआ कि गुणातीत पुरुष में भी रजोगुण के प्रभाव से प्रवृत्ति तो होती है, पर वह राग पूर्वक नहीं होती| गुणातीत होने में सहायक होने पर भी सतगुण को भी सुख की आसक्ति से बाँधने वाला कहा गया है| इससे सिद्ध होता है कि आसक्ति ही बन्धन कारक है, सतगुण स्वयं नहीं| अतः भगवान् यहाँ राग को ही रजोगुण का मुख्य स्वरूप समझने के लिये कह रहे हैं| जिस प्रकार दही को बिलोने से मक्खन और छाछ अलग अलग हो जाते हैं, ऐसे ही सृष्टि रचना के इस रजोगुणी संकल्प से प्रकृति में क्षोभ पैदा होता है, जिससे सतगुण रूपी मक्खन और तमोगुण रूपी छाछ अलग अलग हो जाती है| सतगुण से अन्तःकरण और ज्ञानेन्द्रियाँ, रजोगुण से प्राण और कर्मेन्द्रियाँ तथा तमोगुण से स्थूल पदार्थ, शरीर आदि का निर्माण होता है| तीनों गुणों से संसार के अन्य पदार्थों की उत्पत्ति होती है| इस प्रकार महासर्ग के आदि में भगवान् का सृष्टि रचना रूप कर्म भी सर्वथा राग रहित होती है|

प्राप्त वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ, परिस्थिति, घटना आदि बने रहें तथा वह मिलते रहें, तो उनसे तृष्णा हो जाती है| इस तृष्णा से फिर वस्तु आदि में आसक्ति पैदा हो जाती है| जैसे बीच और वृक्ष एक दूसरे के कारण हैं, अर्थात् बीज से वृक्ष पैदा होता है और वृक्ष से फिर बहुत से बीज पैदा होते हैं, ऐसे ही राग स्वरूप रजोगुण से तृष्णा और इच्छा बढ़ती है, तथा तृष्णा और इच्छा से रजोगुण बढ़ता है| इसका तात्पर्य है कि यह दोनों ही एक दूसरे को पुष्ट करने वाले हैं|

रजोगुण कर्मों की आसक्ति मनुष्य की आत्मा को भव बंधन में बांधती है, अर्थात् रजोगुण के बढ़ने पर ज्यों ज्यों तृष्णा और इच्छा बढ़ती है, त्यों त्यों मनुष्य की कर्म करने की प्रवृत्ति बढ़ती है| कर्म करने की प्रवृत्ति बढ़ने से मनुष्य नए नए कर्म करना आरम्भ कर देता है| फिर वह रात दिन इस प्रवृत्ति में फँसा रहता है, अर्थात् मनुष्य की मनोवृत्तियाँ रात दिन नए नए कर्म आरम्भ करने के चिन्तन में लगी रहती हैं| ऐसी अवस्था में उसको अपना कल्याण, उद्धार करने का अवसर प्राप्त नहीं होता| इस तरह रजोगुण कर्मों की सुखासक्ति शरीरधारी को

भव बंधन में बाँध देती है, अर्थात् जन्म-मरण की ओर ले जाती है| अतः साधक को प्राप्त परिस्थिति के अनुसार निष्काम भाव से कर्तव्य कर्म तो करना चाहिए, पर संग्रह और सुख भोग के लिये नए नए कर्मों का आरम्भ नहीं करना चाहिए| स्मरण रहे कि देह से अपना सम्बन्ध मानने वाले पुरुष को ही यह रजोगुण कर्मों की आसक्ति से बाँधता है| सकाम भाव से कर्मों को करने में एक सुख होता है और इन कर्मों का फल भोगना पड़ता है| इस फलासक्ति में भी एक सुख होता है| इस कर्म और फल की सुखासक्ति से मनुष्य बँध जाता है| कर्मों की सुखासक्ति से छूटने के लिये साधक यह विचार करे कि यह पदार्थ, व्यक्ति, परिस्थिति, घटना आदि कितने समय तक हमारे साथ रहेंगे? इसका कारण है कि सब दृश्य प्रतिक्षण अदृश्यता में जा रहा है, जीवन प्रतिक्षण मृत्यु में जा रहा है, सर्ग प्रतिक्षण प्रलय में जा रहा है, महासर्ग प्रतिक्षण महाप्रलय में जा रहा है| जो बाल्य, युवा आदि अवस्थाएँ चली गईं, वह फिर नहीं मिल सकतीं| जो समय चला गया, वह फिर नहीं मिल सकता| राजा, महाराजाओं और धनवानों की अन्तिम दशा को याद करने से तथा राजमहलों और मकानों के खंडहर देखने से साधक को यह विचार आना चाहिए कि उन की जो दशा हुई है, वही दशा इस शरीर, धन, सम्पत्ति, मकान आदि की भी होगी| यदि साधक इनके प्रलोभन में पड़ा तो उसकी बड़ी हानि होगी, ऐसे विचारों से साधक के अन्तःकरण में सात्त्विक वृत्तियाँ आयेंगी और वह कर्म संग से ऊँचा उठ जाएगा| अतः साधक को संग्रह और सुख भोग के लिये नए नए कर्मों का आरम्भ नहीं करना है, प्रत्युत प्राप्त परिस्थिति के अनुसार अनासक्त भाव से कर्तव्य कर्म करते रहना है| ऐसे विचारों से साधक कर्मों की आसक्ति से ऊँचा उठ जाता है|

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ।।१४-८।।

हो उत्पन्न अज्ञान से मोहक तमोगुण समझो अर्जुन |
प्रमाद आलस्य निद्रा से बांधे यह जीव भव बंधन || १४-८||

भावार्थ: *हे अर्जुन, मोहक तमोगुण अज्ञान से उत्पन्न होता है| यह प्रमाद, आलस्य और निद्रा के द्वारा जीव को भव बंधन में बांधता है|*

टीका: प्रभु कहते हैं कि सतगुण और रजोगुण, इन दोनों से तमोगुण अत्यन्त निकृष्ट है| यह तमोगुण अज्ञान से अर्थात् मूर्खता से पैदा होता है और सम्पूर्ण देहधारियों को मोहित कर देता है, अर्थात् सत-असत, कर्तव्य-अकर्तव्य का ज्ञान (विवेक) नहीं होने देता| यह न तो सांसारिक सुख भोग और संग्रह में लगने देता है, और न ही सात्त्विक सुख की ओर जाने देता है| स्मरण रहे कि जिन मनुष्यों में सत-असत, कर्तव्य-अकर्तव्य का ज्ञान (विवेक) नहीं है, वह मनुष्य होते हुए भी पशु, पक्षी समान ही हैं|

यह तमोगुण प्रमाद, आलस्य और निद्रा के द्वारा सम्पूर्ण देहधारियों को भव बंधन में बाँध देता है| प्रमाद दो प्रकार का होता है, (१) करने योग्य कार्य को न करना अर्थात् जिस कार्य से अपना और जग का हित होता है, ऐसे कर्तव्य कर्मों को प्रमाद के कारण न करना, और (२) न करने योग्य कार्य को करना, अर्थात् जिस कार्य से अपना और जग का अहित होता है, ऐसे कर्मों को करना| न करने योग्य कार्य भी दो प्रकार के होते हैं, (क) व्यर्थ सामर्थ्य व्यय करना, और (ख) स्वार्थ के कारण व्यर्थ क्रियाएँ करना|

आलस्य भी दो प्रकार का होता है, (१) सोते रहना, निकम्मे बैठे रहना, आवश्यक कार्य न करना, आदि, और (२) वृत्तियों का भारी हो जाना, समझने की शक्ति न रहना, आदि| निद्रा भी दो प्रकार की होती है, (क) आवश्यक निद्रा, जो निद्रा शरीर के स्वास्थ्य के लिये नियमित रूप से ली जाती है और जिससे शरीर में हलकापन आता है, वृत्तियाँ स्वच्छ होती हैं, बुद्धि को विश्राम मिलता है| ऐसी आवश्यक निद्रा त्याज्य और दोषी नहीं है| (ख) अनावश्यक निद्रा, जो निद्रा आलस्य के कारण ली जाती है, जिससे अचेतना होती है, नींद से उठने पर भी शरीर भारी रहता है, वृत्तियाँ भारी रहती हैं, पुरानी स्मृति नहीं होती| ऐसी अनावश्यक निद्रा त्याज्य और दोषी है| इस तरह तमोगुण प्रमाद, आलस्य और निद्रा के द्वारा मनुष्य को बाँध देता है, अर्थात् उसकी सांसारिक और पारमार्थिक उन्नति नहीं होने देता|

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत ।।१४-९।।

करे आसक्त सतगुण सुख व् रजोगुण कर्म अर्जुन |
ढके तमोगुण ज्ञान बनाए जीवन युक्त प्रमाद जन ||१४-९||

भावार्थ: *हे अर्जुन, सतगुण सुख में और रजोगुण कर्म में आसक्त कर देता है| तमोगुण ज्ञान को ढककर प्राणी का जीवन प्रमाद से युक्त कर देता है|*

टीका: सतगुण साधक को सुख में आसक्त कर देता है, इसका तात्पर्य है कि जब सात्त्विक सुख आता है, तब साधक की उस सुख में आसक्ति हो जाती है| सुख में आसक्ति होने से वह सुख साधक को बाँध देता है, अर्थात् उसके साधन को आगे नहीं बढ़ने देता, जिससे साधक सतगुण से ऊँचा नहीं उठ सकता, गुणातीत नहीं हो सकता| साधक सुख की आसक्ति से बंधने के कारण ज्ञान प्राप्ति की ओर नहीं बढ़ पाता| यदि ज्ञान हो भी जाए तो साधक में एक अभिमान आ जाता है कि 'मैं विद्वान् हूँ'| इस अभिमान में भी एक सुख मिलता है, जिससे साधक बँध जाता है|

रजोगुण मनुष्य को कर्म में लगा देता है| इसका तात्पर्य है कि मनुष्य को क्रिया करना प्रिय लगता है| जैसे छोटा बालक बिस्तर पर पड़े हुए हाथ, पैर हिलाता है तो उसको अच्छा लगता है| उसका हाथ, पैर हिलाना बंद कर दिया जाए तो वह रोने लगता है| ऐसे ही मनुष्य कोई क्रिया करता है तो उसको अच्छा लगता है और उसकी उस क्रिया को बीच में कोई छुड़ा दे तो उसको बुरा लगता है| यही क्रिया के प्रति आसक्ति है, प्रियता है|

'कर्मों के फल में प्राणी का अधिकार नहीं है', वचनों से फल में आसक्ति न रखने की ओर प्रभु ने साधक का ध्यान कराया है| प्राणी का कर्म करने में अधिकार हो, कर्म न करने में उसकी आसक्ति न हो, ऐसा पहले प्रभु ने कहा है| जो योगारूढ़ होना चाहता है, उसे निष्काम भाव से कर्म करना है, यह प्रभु ने समझाया है| पर ऐसा देखा गया है कि कर्म करते करते साधक की उनमें

आसक्ति, प्रियता हो जाती है| यह कर्मों में आसक्ति साधक को भव बंधन में बाँध देती है| अतः साधक की कर्तव्य कर्म करने में तत्परता तो होनी चाहिए, पर कर्मों में आसक्ति, प्रियता कभी नहीं होना चाहिए|

जब तमोगुण आता है, तब वह सत्-असत्, कर्तव्य-अकर्तव्य, हित-अहित के ज्ञान (विवेक) को ढक देता है, आच्छादित कर देता है, अर्थात् उस ज्ञान को जाग्रत् नहीं होने देता| ज्ञान को ढककर वह मनुष्य को प्रमाद में लगा देता है, अर्थात् कर्तव्य कर्मों को करने नहीं देता और न करने योग्य कर्मों में लगा देता है|

सतगुण से ज्ञान (विवेक) और प्रकाश (स्वच्छता), यह दो वृत्तियाँ पैदा होती हैं| तमोगुण इन दोनों ही वृत्तियों का विरोधी है, इसलिये वह ज्ञान (विवेक) को ढककर मनुष्य को प्रमाद में लगाता है और प्रकाश (इन्द्रियों और अन्तःकरण की निर्मलता) को ढककर मनुष्य को आलस्य एवं निद्रा में लगाता है, जिससे ज्ञान की बातें कहने, सुनने, पढ़ने पर भी समझ में नहीं आतीं|

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ।।१४-१०।।

बढ़े सतगुण जब करो अवरुद्ध रजस और तमस गुन |
हो वृद्धि तमस गुन जब हो अवरुद्ध सत व् रजस गुन ||
बढ़े रजस गुण हो अवरुद्ध जब तमस और सतगुन ||१४-१०||

भावार्थ: *रजोगुण और तमोगुण को अभिभूत (दबाने से) करने से सतगुण की वृद्धि होती है| रजोगुण और सतगुण को दबाने से तमोगुण की वृद्धि होती है| तमोगुण और सतगुण को अभिभूत (दबाने से) करने से रजोगुण की वृद्धि होती है|*

टीका: रजोगुण की और तमोगुण की वृत्तियों को दबाकर मनुष्य में सतगुण बढ़ता है| अर्थात् रजोगुण की लोभ प्रवृत्ति, नए नए कर्मों का आरम्भ, अशान्ति,

स्पृहा, सांसारिक भोग और संग्रह में प्रियता आदि वृत्तियाँ और तमोगुण की प्रमाद, आलस्य, अनावश्यक निद्रा, मूढ़ता आदि वृत्तियाँ, इन सब को दबाने से 'सतगुण' बढ़ता है| यह अन्तःकरण में स्वच्छता, निर्मलता, वैराग्य, निःस्पृहता, उदारता, निवृत्ति आदि वृत्तियों को उत्पन्न कर देता है|

सतगुण और तमोगुण की वृत्तियों को दबाकर मनुष्य में रजोगुण बढ़ता है| अर्थात् सतगुण की ज्ञान, प्रकाश, वैराग्य, उदारता आदि वृत्तियाँ और तमोगुण की प्रमाद, आलस्य, अनावश्यक, निद्रा, मूढ़ता आदि वृत्तियाँ, इन सब को दबाने से रजोगुण प्रवृति बढ़ती है| यह अन्तःकरण में लोभ प्रवृत्ति, नए नए कार्य आरम्भ करने की प्रवृति, अशान्ति, स्पृहा आदि वृत्तियों को उत्पन्न कर देती है|

वैसे ही सतगुण और रजोगुण को दबाकर मनुष्य में तमोगुण बढ़ता है, अर्थात् सतगुण की स्वच्छता, निर्मलता, प्रकाश, उदारता आदि वृत्तियाँ और रजोगुण की चंचलता, अशान्ति, लोभ आदि वृत्तियाँ, इन सब को दबा कर तमोगुण बढ़ता है| इससे अन्तःकरण में प्रमाद, आलस्य, अतिनिद्रा, मूढ़ता आदि वृत्तियों उत्पन्न हो जाती हैं|

जिन महापुरुषों का प्रकृति से सम्बन्ध विच्छेद हो चुका है, वह महासर्ग में भी उत्पन्न नहीं होते और महाप्रलय में भी व्यथित नहीं होते| इसका कारण है कि महासर्ग और महाप्रलय दोनों प्रकृति के सम्बन्ध से ही होते हैं| परन्तु जो मनुष्य प्रकृति के साथ सम्बन्ध जोड़ लेते हैं, उनको प्रकृतिजन्य गुण बाँध देते हैं| इस पर स्वाभाविक ही यह प्रश्न उठता है कि उन गुणों का स्वरूप क्या है और वह मनुष्य को किस प्रकार बाँध देते हैं? इसके उत्तर में यहां भगवान् ने क्रमशः सत, रजस और तमस, तीनों गुणों का स्वरूप और उनके द्वारा जीव को बाँधे जाने का प्रकरण बताया है| यहां यह शंका हो सकती है कि बाँधने से पहले तीनों गुण क्या करते हैं? इसका समाधान है कि बाँधने से पहले बढ़ा हुआ गुण मनुष्य पर विजय प्राप्त करता है, फिर उसको बाँधता है| अब प्रश्न हो सकता है कि गुण मनुष्य पर विजय कैसे प्राप्त करता है? इसके उत्तर में भगवान् ने कहा है कि दो गुणों को दबाकर एक गुण मनुष्य पर विजय प्राप्त करता है|

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ।।१४-११।।

हो जब उत्पन्न प्रकाश रूप विवेक बुद्धि द्वार तन |
समझो हुआ प्रवृद्ध सतगुण जो देता तत्व-भगवन ||१४-११||

भावार्थ: *जब शरीर के द्वार (अर्थात् इन्द्रियों) से विवेक बुद्धि रूप प्रकाश उत्पन्न होता है, तब सतगुण को प्रवृद्ध हुआ समझो जो भगवद-तत्व देता है|*

टीका: जिस समय रजोगुणी और तमोगुणी वृत्तियों को दबाकर सतगुण बढ़ता है, उस समय सम्पूर्ण इन्द्रियों में तथा अन्तःकरण में स्वच्छता, निर्मलता प्रकट हो जाती है| जैसे सूर्य के प्रकाश में सब वस्तुएँ स्पष्ट दिखाई देती हैं, ऐसे ही स्वच्छ बहिःकरण और अन्तःकरण से शब्दादि पाँचों विषयों का यथार्थ रूप से ज्ञान हो जाता है| मन से तब किसी भी विषय का भली भांति मनन, चिन्तन होना संभव हो जाता है| इन्द्रियों और अन्तःकरण में स्वच्छता, निर्मलता होने से सत्-असत्' कर्तव्य-अकर्तव्य', लाभ-हानि, हित-अहित, आदि का स्पष्टतया ज्ञान (विवेक) हो जाता है|

स्मरण रहे कि सतगुण के बढ़ने का, अर्थात् बहिःकरण और अन्तःकरण में स्वच्छता, निर्मलता और विवेक शक्ति प्रकट होने का अवसर इस मनुष्य शरीर में ही मिलता है, अन्य शरीरों में नहीं| मनुष्य को चाहिए कि वह रजोगुण और तमोगुण पर विजय प्राप्त करके सतगुण से भी ऊँचा उठे| इसी में मनुष्य जीवन की सफलता है| भगवान् ने कृपापूर्वक मनुष्य शरीर देकर इन तीनों गुणों पर विजय प्राप्त करने का पूरा अवसर, अधिकार, योग्यता, सामर्थ्य, स्वतन्त्रता दी है|

इन्द्रियों और अन्तःकरण में स्वच्छता और विवेक शक्ति आने पर साधक को यह जानना चाहिए कि सतगुण की वृत्तियाँ बढ़ी हुई हैं और रजोगुण, तमोगुण की वृत्तियाँ दबी हुई हैं| अतः साधक कभी भी अपने में यह अभिमान न करे कि

'मैं विद्वान हूँ' अर्थात् वह सतगुण के कार्य प्रकाश और ज्ञान को अपना गुण न माने, प्रत्युत सतगुण का ही कार्य और लक्षण माने|

तीनों गुणों की वृत्तियों का पैदा होना, बढ़ना और एक गुण की प्रधानता होने पर दूसरे दो गुणों का दबना आदि परिवर्तन गुणों में ही होते हैं, स्वरूप में नहीं, इस बात को मनुष्य शरीर में ही भली भांति समझा जा सकता है| परन्तु मनुष्य भगवान् के दिये विवेक को महत्व न देकर गुणों के साथ सम्बन्ध जोड़ लेता है और अपने को सात्त्विक, राजस या तामस मानने लगता है| मनुष्य को चाहिए कि अपने को ऐसा न मानकर सर्वथा निर्विकार, अपरिवर्तनशील जाने|

तीनों गुणों की वृत्तियाँ अलग अलग बनती, बिगड़ती हैं| स्वयं मनुष्य परिवर्तन रहित और इन सब वृत्तियों को देखने वाला है| यदि मनुष्य स्वयं भी बदलने वाला होता तो इन वृत्तियों के बनने, बिगड़ने को वह नहीं देख सकता क्योंकि परिवर्तन को परिवर्तन रहित ही जान सकता है|

जब सात्त्विक वृत्तियों के बढ़ने से इन्द्रियों और अन्तःकरण में स्वच्छता, निर्मलता आ जाती है और विवेक जाग्रत् हो जाता है, तब संसार से राग हट जाता है और वैराग्य हो जाता है| तब अशान्ति मिट जाती है और शान्ति आ जाती है| लोभ मिट जाता है और उदारता आ जाती है| प्रवृत्ति निष्काम भाव पूर्वक होने लगती है| भोग और संग्रह के लिये नए नए कर्मों का आरम्भ नहीं होता| मन में पदार्थों, भोगों की आवश्यकता पैदा नहीं होती, प्रत्युत निर्वाह की दृष्टि रहती है| प्रत्येक विषय को समझने के लिये बुद्धि का विकास होता है| प्रत्येक कार्य सावधानी पूर्वक और सुचारु रूप से होता है| कार्यों में भूल कम होती है| कभी भूल हो भी जाती है तो उसका तुरंत सुधार होता है| 'सत्-असत्, कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेक स्पष्टतया जाग्रत् रहता है| अतः जिस समय सात्त्विक वृत्तियाँ बढ़ी हों, उस समय साधक को विशेष रूप से भजन, ध्यान आदि में लग जाना चाहिए| ऐसे समय में किए गए थोड़े से साधन से भी शीघ्र भगवद प्राप्ति हो सकती है|

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ।।१४-१२।।

बढ़े जब लोभ प्रवृत्ति जग-कर्म अशांति स्पृहा जन |
समझो हुए प्रवृद्ध रजोगुण लक्षण उनमें अर्जुन ||१४-१२||

भावार्थ: *हे अर्जुन, जब प्राणी में लोभ, प्रवृत्ति (सामान्य चेष्टा,) सांसारिक कर्म, अशांति तथा स्पृहा बढ़ें, तब उनमें रजोगुण के लक्षणों का प्रवृद्ध होना समझो|*

टीका: निर्वाह की वस्तुएं समीप होने पर भी उनको अधिक बढ़ाने की इच्छा का नाम 'लोभ' है| परन्तु स्मरण रहे कि उन वस्तुओं के स्वाभाविक बढ़ने का नाम लोभ नहीं है| जैसे कोई खेती करता है और अनाज अधिक पैदा हो गया, व्यापार करता है और लाभ अधिक हो गया, तो इस तरह पदार्थ, धन आदि के स्वाभाविक बढ़ने का नाम लोभ नहीं है, और यह बढ़ना दोष भी नहीं है|

कार्य में लग जाने का नाम 'प्रवृत्ति' है| परन्तु राग, द्वेष रहित होकर कार्य में लग जाना दोष नहीं है क्योंकि ऐसी प्रवृत्ति तो गुणातीत महापुरुष में भी होती है| राग पूर्वक अर्थात् सुख, आराम, धन आदि की इच्छा को लेकर क्रिया में प्रवृत्त हो जाना ही दोष है|

सांसारिक कार्यों के करते हुए संसार में धन, मान, आदर, प्रशंसा आदि पाने के लिये नए नए कर्म करना 'सांसारिक कर्म' कहलाता है, यह भी एक दोष है| प्रवृत्ति और सांसारिक कार्य, इन दोनों में अन्तर है| परिस्थिति के आने पर किसी कार्य में प्रवृत्ति होती है और किसी कार्य से निवृत्ति होती है, यह प्रवृत्ति है| परन्तु भोग और संग्रह के उद्देश्य से नए नए कर्म करना सांसारिक कर्म है|

मनुष्य जन्म प्राप्त होने पर केवल परमात्म-तत्व की प्राप्ति का ही उद्देश्य रहे, भोग और संग्रह का उद्देश्य बिलकुल न रहे, इसी दृष्टि से भक्तियोग और ज्ञानयोग में सम्पूर्ण सकाम कर्मों का त्याग करने के लिये प्रभु ने कहा है| कर्मयोग में कर्म तो होते हैं, पर वह सभी कामना और संकल्प से रहित होते हैं| कर्मयोग में ऐसे कर्म दोष नहीं हैं क्योंकि कर्मयोग में कर्म करने का विधान है और बिना कर्म किए कर्मयोगी योग (समता) पर आरूढ़ नहीं हो सकता| अतः आसक्ति रहित होकर प्राप्त परिस्थिति के अनुसार कर्म किए जाएं, तो वह

प्रवृत्ति ही हैं क्योंकि उनसे कर्म करने का राग मिटता है| वह कर्म निवृत्ति देने वाले होने के कारण दोष देने वाले नहीं हैं|

अन्तःकरण में हलचल रहने का नाम अशांति है| जैसी इच्छा करते हैं, वैसी वस्तुएं (धन, सम्पत्ति, यश, प्रतिष्ठा आदि) जब नहीं मिलतीं, तब अन्तःकरण में अशान्ति होती है| कामना का त्याग करने पर यह अशान्ति नहीं रहती|

स्पृहा नाम कामना का है| भूख लगने पर अन्न की, प्यास लगने पर जल की, ठण्ड लगने पर गर्म कपड़े की कामना होती है, यह स्पृहा है| वास्तव में भूख, प्यास और ठण्ड, इनका ज्ञान होना दोष नहीं है, प्रत्युत अन्न, जल आदि मिल जाए ऐसी इच्छा करना ही दोष है| साधक को इस इच्छा का त्याग करना चाहिए क्योंकि कोई भी वस्तु इच्छा के अधीन नहीं है|

जब अन्तःकरण में रजोगुण बढ़ता है, तब उपर्युक्त लोभ, प्रवृत्ति आदि वृत्तियाँ बढ़ती हैं| ऐसे समय में साधक को यह विचार करना चाहिए कि अपना जीवन निर्वाह तो हो ही रहा है, फिर अपने लिये और क्या चाहिए, ऐसा विचार करके रजोगुण की वृत्तियों को मिटा दे, उनसे उदासीन हो जाए|

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ।।१४-१३।।

होता जब प्रवृद्ध तमोगुण समझो हे कुरुनन्दन |
होते उत्पन्न अप्रकाश अप्रवृत्ति प्रमाद संयोजन ||१४-१३||

भावार्थ: *हे कुरुनन्दन, तमोगुण के प्रवृद्ध होने पर अप्रकाश, अप्रवृत्ति, प्रमाद और मोह, इनका उत्पन्न होना समझो|*

टीका: सतगुण की प्रकाश (स्वच्छता) वृत्ति को दबाकर जब तमोगुण बढ़ जाता है, तब इन्द्रियाँ और अन्तःकरण में स्वच्छता नहीं रहती| इन्द्रियाँ और अन्तःकरण में जो समझने की शक्ति है, वह तमोगुण के बढ़ने पर लुप्त हो जाती

है, अर्थात् विवेक लुप्त हो जाता है| इस वृत्ति को यहाँ प्रभु ने 'अप्रकाश' कहकर इसका सतगुण की वृत्ति प्रकाश के साथ विरोध बताया है|

रजोगुण की वृत्ति को दबाकर जब तमोगुण बढ़ जाता है, तब कार्य करने का मन नहीं करता| निरर्थक बैठे रहने अथवा पड़े रहने का मन करता है| आवश्यक कार्य करने की भी रुचि नहीं होती| यह सब 'अप्रवृत्ति' वृत्ति का काम है|

न करने योग्य कार्य में लग जाना और करने योग्य कार्य को न करना, जिन कार्यों को करने से न पारमार्थिक उन्नति होती है, न सांसारिक उन्नति, और न समाज का उत्थान होता है, ऐसे कार्यों में लग जाना 'प्रमाद' है|

तमोगुण के बढ़ने पर मोह वृत्ति आ जाती है| भीतर में विवेक विरोधी भाव पैदा होने लगते हैं| क्रिया के करने और न करने में विवेक काम नहीं करता, प्रत्युत मूढ़ता छायी रहती है, जिससे पारमार्थिक और व्यावहारिक काम करने की सामर्थ्य नहीं रहती|

अपने जीवन का समय निरर्थक नष्ट करना, धन निरर्थक नष्ट करना, आदि, जितने भी निरर्थक कार्य हैं, उन सब को करना तमोगुण का प्रवृद्ध ही है| यह अवगुण तमोगुण के लक्षण हैं| जब अप्रकाश, अप्रवृत्ति, आदि दिखाई दें, तब समझना चाहिए कि सतगुण और रजोगुण को दबाकर तमोगुण बढ़ रहा है| सत, रज और तम, यह तीनों ही गुण सूक्ष्म होने से अतीन्द्रिय हैं अर्थात् इन्द्रियाँ और अन्तःकरण के विषय नहीं हैं| इसलिये यह तीनों गुण साक्षात् दिखने में नहीं आते,अर्थात इनके स्वरूप का साक्षात् ज्ञान नहीं होता| इन गुणों का ज्ञान, इनकी पहचान तो वृत्तियों से ही होती| इसलिये भगवान् ने क्रमशः तीनों गुणों की वृत्तियों का ही वर्णन किया है जिससे अतीन्द्रिय गुणों की पहचान हो जाए और साधक सावधानी पूर्वक रजोगुण और तमोगुण का त्याग करके सतगुण की वृद्धि कर सके|

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ।।१४-१४।।

हो मरण जब नर हुआ प्रवृद्ध सतगुण हे अर्जुन |
पाए स्थान निर्मल लोक समान उत्तम बोधिजन ||१४-१४||

भावार्थ: *हे अर्जुन, जब मनुष्य सतगुण में प्रवृद्ध हुआ मृत्यु को प्राप्त होता है, तब वह उत्तम ज्ञानियों के सामान निर्मल अर्थात् स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति करता है|*

टीका: जिस काल में जिस किसी भी देहधारी मनुष्य में, चाहे वह सतगुणी, रजोगुणी अथवा तमोगुणी ही क्यों न हो, जिस किसी कारण से सतगुण तात्कालिक बढ़ जाता है, अर्थात् सतगुण के कार्य स्वच्छता, निर्मलता आदि वृत्तियाँ तात्कालिक बढ़ जाती हैं, उस समय अगर उस मनुष्य के प्राण छूट जाते हैं, तब वह उत्तम (शुभ) कर्म करने वालों के निर्मल लोकों में चला जाता है| उत्तम ज्ञानी कहने का तात्पर्य है कि जो मनुष्य उत्तम (शुभ) कर्म ही करते हैं, अशुभ कर्म कभी नहीं करते, अर्थात् सदैव उनके उत्तम भाव हैं, उत्तम ही उनके कर्म हैं और उत्तम ही उनका ज्ञान है, ऐसे पुण्यकर्मी लोगों का जिन लोकों पर अधिकार होता है, उन्हीं निर्मल लोकों में वह मनुष्य भी चला जाता है जिसका शरीर सतगुण के बढ़ने पर छूटा है| इसका तात्पर्य है कि समस्त आयु भर शुभ कर्म करने वालों को जिन ऊँचे लोकों की प्राप्ति होती है, उन्हीं लोकों में तात्कालिक बढ़े हुए सतगुण की वृत्ति में प्राण छूटने वाला जाता है| सतगुण की वृद्धि में शरीर छोड़ने वाले मनुष्य पुण्यात्माओं के प्राप्तव्य ऊँचे लोकों में जाते हैं, इससे सिद्ध होता है कि गुणों से उत्पन्न होने वाली वृत्तियाँ कर्मों की अपेक्षा निर्बल नहीं हैं| अतः सात्त्विक वृत्ति भी पुण्य कर्मों के समान ही श्रेष्ठ है| इस दृष्टि से शास्त्रविहित पुण्य कर्मों में भी भाव का ही महत्व है, पुण्य कर्म विशेष का नहीं| इसलिये सात्त्विक भाव का स्थान बहुत ऊँचा है| पदार्थ, क्रिया, भाव और उद्देश्य, यह चारों क्रमशः एक दूसरे से ऊँचे होते हैं| रजोगुण और तमोगुण की अपेक्षा सतगुण की वृत्ति सूक्ष्म और व्यापक होती है| किसी भी लोक में स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म का आहार कम होता है, जैसे देवता सूक्ष्म होने से केवल

सुगन्धि से ही तृप्त हो जाते हैं| स्मरण रहे कि स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म में शक्ति अधिक होती है| यही कारण है कि सूक्ष्म भाव की प्रधानता से अन्त समय में सतगुण की वृद्धि मनुष्य को ऊँचे लोकों में ले जाती है|

सत गुण का स्वरूप निर्मल होता है, अतः सतगुण के बढ़ने पर जो मरता है, उसको निर्मल लोकों की प्राप्ति होती है| यहाँ यह शंका हो सकती है कि आयु भर शुभ कर्म करने वालों को जिन लोकों की प्राप्ति होती है, उन लोकों में सतगुण की वृत्ति बढ़ने पर मरने वाला कैसे चला जाएगा? भगवान् की यह एक विशेष छूट है कि अन्तकाल में मनुष्य की जैसी मति होती है, वैसी ही उसकी गति होती है| अतः सतगुण की वृत्ति के बढ़ने पर शरीर छोड़ने वाला मनुष्य उत्तम लोकों में चला जाए इसमें शंका नहीं होनी चाहिए|

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ।।१४-१५।।

लेता जन्म नर योनि हों जब जन रजोगुण सम्पन्न |
पाए जन्म मूढ़ योनि करे जब तमोगुण कर्म जन ||१४-१५||

भावार्थ: *रजोगुण के प्रवृद्ध होने पर मनुष्य योनि में प्राणी जन्म लेता है| जो तमोगुण का कर्म करता है, वह प्राणी मूढ़योनि में जन्म लेता है|*

टीका: अन्त समय में जिस किसी भी मनुष्य में जिस किसी कारण से रजोगुण की लोभ, प्रवृत्ति, अशान्ति, स्पृहा आदि वृत्तियाँ बढ़ जाती हैं और उसी वृत्ति के चिन्तन में उसका शरीर छूट जाता है, वह मृतात्मा प्राणी कर्मों में आसक्ति वाली मनुष्य योनि में जन्म लेता है| जिसने आयु भर अच्छे कार्य, आचरण किए हैं, जिसके अच्छे भाव रहे हैं, वह यदि अन्त काल में रजोगुण के बढ़ने पर मर जाता है, तो मरने के बाद मनुष्य योनि में जन्म लेने पर भी उसके आचरण, भाव अच्छे ही रहेंगे, वह शुभ कर्म करने वाला ही होगा| जिसका साधारण जीवन रहा है, वह यदि अन्त समय में रजोगुण की लोभ आदि वृत्तियों के बढ़ने पर मर जाता है तो वह मनुष्य योनि में आकर पदार्थ, व्यक्ति, क्रिया आदि में आसक्ति वाला

ही होगा| जिसके जीवन में काम, क्रोध आदि की ही मुख्यता रही है, वह यदि रजोगुण के बढ़ने पर मर जाता है, तो वह मनुष्य योनि में जन्म लेने पर भी विशेष रूप से आसुरी सम्पत्ति वाला ही होगा| इसका तात्पर्य यह हुआ कि मनुष्य लोक में जन्म लेने पर भी गुणों के तारतम्य से मनुष्यों के तीन प्रकार हो जाते हैं, अर्थात् तीन प्रकार के स्वभाव वाले मनुष्य हो जाते हैं| परन्तु इसमें एक विशेष ध्यान देने की बात है कि रजोगुण की वृद्धि पर मरकर मनुष्य बनने वाले प्राणी कैसे ही आचरणों वाले क्यों न हों, उन सब में भगवत् प्रदत्त विवेक रहता है| अतः प्रत्येक मनुष्य इस विवेक को महत्व देकर सत्संग, स्वाध्याय आदि से इस विवेक को स्वच्छ करके ऊँचे उठ सकते हैं, परमात्मा को प्राप्त कर सकते हैं| इस भगवत् प्रदत्त विवेक के कारण सब मनुष्य भगवत् प्राप्ति के अधिकारी हो जाते हैं| अन्त काल में जिस किसी भी मनुष्य में किसी कारण से तात्कालिक तमोगुण बढ़ जाता है, अर्थात् तमोगुण की प्रमाद, मोह, अप्रकाश आदि वृत्तियाँ बढ़ जाती हैं और उन वृत्तियों का चिन्तन करते हुए ही वह मरता है, तो वह मनुष्य पशु, पक्षी, कीट, पतंग, वृक्ष, लता आदि मूढ़ योनियों में जन्म लेता है| इन मूढ़ योनियों में मूढ़ता तो सब में रहती है, पर वह न्यूनाधिक रूप से रहती है| जैसे वृक्ष, लता आदि योनियों में जितनी अधिक मूढ़ता होती है, उतनी मूढ़ता पशु, पक्षी आदि योनियों में नहीं होती| अच्छे कार्य करने वाला मनुष्य यदि अन्त समय में तमोगुण की तात्कालिक वृत्ति के बढ़ने पर मरकर मूढ़ योनियों में भी चला जाए तो वहां भी उसके गुण, आचरण अच्छे ही होंगे, उसका स्वभाव अच्छे कार्य करने का ही होगा| जैसे भरत मुनि का अन्त समय में तमोगुण की वृत्ति में अर्थात् हरिण के चिन्तन में शरीर छूटा, तो वह मूढ़ योनि वाले हरिण बन गए| परन्तु उनका मनुष्य जन्म में किया हुआ त्याग, तप हरिण के जन्म में भी वैसा ही बना रहा| वह हरिण योनि में भी अपनी माता के साथ नहीं रहे, हरे पत्ते न खाकर सूखे पत्ते ही खाते रहे, आदि और अंत में प्रभु को प्राप्त हुए|

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ।।१४-१६।।

होता फल शुभ कर्म सदैव सात्विक पावन हे अर्जुन |
रजोगुण देता दुःख और तमोगुण अज्ञान अबोधन ||१४-१६||

भावार्थ: *हे अर्जुन, शुभ कर्म का फल सदैव सात्विक और निर्मल, रजोगुण का दुःख और तमोगुण का अज्ञान एवं मूढ़ता होता है|*

टीका: सत गुण का स्वरूप निर्मल, स्वच्छ, निर्विकार है, अतः सतगुण वाला कर्ता जो कर्म करेगा, वह सात्त्विक ही होगा| इस सात्त्विक कर्म के फल रूप में जो परिस्थिति बनेगी, वह भी वैसे ही शुद्ध, निर्मल, सुखदायी होगी| स्मरण रहे कि फलेच्छा रहित होकर कर्म करने पर ही सतगुण के साथ कर्ता का सम्बन्ध रहता है और उसकी सात्त्विक संज्ञा होती है जिससे उसके कर्मों का फल निर्मल और सत् होता है| परन्तु जब गुणों से सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है, तब उसकी सात्त्विक संज्ञा नहीं होती और उसके द्वारा किए हुए कर्मों का फल भी सात्विक नहीं होता, प्रत्युत उसके द्वारा किए हुए कर्म अकर्म हो जाते हैं|

रजोगुण का स्वरूप रागात्मक है| अतः राग वाले कर्ता के द्वारा जो कर्म होगा, वह कर्म भी राजस ही होगा और उस राजस कर्म का फल दुःख होगा| इसका तात्पर्य है कि उस राजस कर्म से पदार्थों का, सुख आराम का, संसार में आदर सत्कार आदि का भोग होगा| यह जितने भी सम्बन्धजन्य भोग हैं, वह सब दुःखों के कारण हैं, 'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते', अर्थात् जन्म-मरण देने वाले हैं| इसी दृष्टि से भगवान् ने यहाँ राजस कर्म का फल दुःख कहा है| रजोगुण से पाप और दुःख, यह दो वृत्तियाँ पैदा होती हैं| रजोगुणी मनुष्य वर्तमान में पाप करता है और परिणाम में उन पापों का फल दुःख भोगता है| भगवान् ने रजोगुण से उत्पन्न होने वाली कामना को ही पाप कराने में हेतु बताया है|

तमोगुण का स्वरूप मोहक होता है| अतः मोह वाला तामस कर्ता हिंसा, हानि, और सामर्थ्य को न देखकर मूढ़ता पूर्वक जो कुछ कर्म करेगा, वह कर्म तामस ही होगा और उस तामस कर्म का फल अज्ञान अर्थात् अज्ञान बहुल योनियों की प्राप्ति ही होगा| उस कर्म के अनुसार उसका पशु, पक्षी, कीट, पतंगा, वृक्ष, लता, पर्वत, आदि मूढ़ योनियों में जन्म होगा, जिनमें अज्ञान (मूढ़ता) की मुख्यता रहती है| इसका निष्कर्ष यह निकला कि सात्त्विक पुरुष के सामने कैसी भी परिस्थिति आ जाए पर उसमें उसको दुःख नहीं हो सकता| राजस पुरुष के सामने कैसी ही परिस्थिति आ जाए पर उसमें उसको सुख नहीं हो सकता| तामस पुरुष के

सामने कैसी ही परिस्थिति आ जाए पर उसमें उसका विवेक जाग्रत् नहीं हो सकता, प्रत्युत उसमें उसकी मूढ़ता ही रहेगी| गुण (भाव) और परिस्थिति कर्मों के अनुसार ही बनती हैं| जब तक गुण (भाव) और कर्मों के साथ सम्बन्ध रहता है, तब तक मनुष्य किसी भी परिस्थिति में सुखी नहीं हो सकता| जब गुण और कर्मों के साथ सम्बन्ध नहीं रहता, तब मनुष्य किसी भी परिस्थिति में कभी दुःखी नहीं हो सकता और बन्धन में भी नहीं पड़ सकता| जन्म के होने में अन्त कालीन चिन्तन ही मुख्य होता है और अन्त कालीन चिन्तन के मूल में गुणों का बढ़ना होता है| गुणों का बढ़ना कर्मों के अनुसार होता है| इसका तात्पर्य है कि मनुष्य का जैसा भाव (गुण) होगा, वैसा वह कर्म करेगा और जैसा कर्म करेगा, वैसा भाव दृढ़ होगा| उस भाव के अनुसार उसका अन्तिम चिन्तन होगा| अतः पुनर्जन्म में अन्त कालीन चिन्तन ही मुख्य रहा| चिन्तन के मूल में भाव और भाव के मूल में कर्म है| इस दृष्टि से गति मिलने में अन्तिम चिन्तन, भाव (गुण) और कर्म, यह तीन कारण हैं|

सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ।।१४-१७।।

होता उत्पन्न ज्ञान सतगुण से समझो यह तुम अर्जुन |
देता रजोगुण लोभ व् तमोगुण प्रमाद मोह अबोधन ||१४-१७||

भावार्थ: *हे अर्जुन, सतगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है, यह समझो| रजोगुण लोभ तथा तमोगुण प्रमाद, मोह और अज्ञान देता है|*

टीका: प्रभु कहते हैं कि सतगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है अर्थात् सुकृत कर्मों से विवेक जाग्रत् हो जाता है| उन सुकृत कर्मों का फल सात्त्विक, निर्मल होता है|

रजोगुण से लोभ आदि पैदा होते हैं| लोभ को लेकर मनुष्य जो कर्म करता है, उन कर्मों का फल दुःख होता है| जितना मिला है, उसकी वृद्धि चाहने का नाम 'लोभ' है| लोभ के दो रूप हैं, उचित व्यय न करना और अनुचित रीति से संग्रह करना| उचित कामों में धन व्यय न करने से, उससे मन चुराने से, मनुष्य के

मन में अशान्ति रहती है, और अनुचित रीति से अर्थात् झूठ, कपट आदि से धन का संग्रह करने से पाप बनते हैं जिससे नर्कों में तथा चौरासी लाख योनियों में दुःख भोगना पड़ता है| इस दृष्टि से राजस कर्मों का फल दुःख होता है|

तमोगुण से प्रमाद, मोह और अज्ञान पैदा होता है| इन तीनों के बुद्धि में आने से विवेक विरुद्ध काम होते हैं, जिससे अज्ञान ही बढ़ता है| यहाँ प्रभु ने तमोगुण से अज्ञान का पैदा होना बताया है और पहले अज्ञान से तमोगुण का पैदा होना बताया था| इसका तात्पर्य यह है कि जैसे वृक्ष से बीज पैदा होते हैं और उन बीजों से आगे बहुत से वृक्ष पैदा होते हैं, ऐसे ही तमोगुण से अज्ञान पैदा होता है और अज्ञान से तमोगुण बढ़ता है| पहले भगवान् ने इसके प्रमाद, आलस्य और निद्रा, यह तीन कारण बताए थे| परन्तु यहाँ प्रमाद तो बताया, पर निद्रा नहीं बताई| इससे यह सिद्ध होता है कि आवश्यक निद्रा तमोगुणी में निषिद्ध नहीं है| इसका कारण है कि शरीर के लिये आवश्यक निद्रा तो सात्त्विक पुरुष को भी चाहिए और गुणातीत पुरुष को भी| वास्तव में अधिक निद्रा ही बाँधने वाली, निषिद्ध और तमोगुणी है क्योंकि अधिक निद्रा से शरीर में आलस्य बढ़ता है|

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ।।१४-१८।।

स्थित सतगुण नर जाएं अवश्य उच्च लोक पश्चात मरन |
राजस भूलोक एवं पाएं अधोगति तामस वृत्ति जन ||१४-१८||

भावार्थ: *सतगुण में स्थित पुरुष मरण पश्चात उच्च लोकों को अवश्य जाते हैं| राजस पुरुष मनुष्य लोक में एवं तमोगुण वृत्ति के प्राणी अधोगति को प्राप्त होते हैं|*

टीका: जिन्होंने जीवन में सतगुण की प्रधानता के कारण भोगों से संयम किया है, तीर्थ, व्रत, दान आदि शुभ कर्म किए हैं, वह मरण पश्चात सतगुण में आसक्ति होने से स्वर्गादि ऊँचे लोकों में चले जाते हैं|

जिन मनुष्यों के जीवन में रजोगुण की प्रधानता रही है, अर्थात धन, संपत्ति संग्रह करना और सांसारिक भोग भोगने में रूचि रही है, वह रजोगुण की प्रधानता के कारण मृत्युलोक में जन्म लेते हैं| यहाँ उनको मनुष्य (पृथ्वी-तत्व-प्रधान) शरीर की प्राप्ति होती है| वह जैसे इस मृत्युलोक में पहले थे, मरने के बाद पुनः मृत्युलोक में आकर वही स्वरुप धारण करते हैं| यद्यपि वह शास्त्र मर्यादा में ही रहे हैं, शुद्ध आचरण किए हैं, परन्तु पदार्थों, व्यक्तियों, आदि में राग, आसक्ति, ममता रहने के कारण उन्हें पुनः मृत्युलोक में ही जन्म लेना पड़ता है|

जिन मनुष्यों के जीवन में तमोगुण की प्रधानता रहती है जिसके कारण जिन्होंने प्रमाद आदि के वश में होकर निरर्थक धन और समय व्यय किया है, जो आलस्य तथा नींद में ही पड़े रहे हैं, आवश्यक कार्यों को भी जिन्होंने समय पर नहीं किया है, जो दूसरों का अहित ही सोचते आए हैं और जिन्होंने दूसरों का अहित ही किया है, दूसरों को दुःख दिया है, जिन्होंने झूठ, कपट, चोरी, डकैती आदि निन्दनीय कर्म किए हैं, ऐसे मनुष्यों को मरण पश्चात अधोगति मिलती है| अधोगति के दो भेद हैं, योनि विशेष और स्थान विशेष| पशु, पक्षी, कीट, पतंगा, साँप, बिच्छू, भूत, प्रेत आदि योनि विशेष अधिगति हैं, और वैतरिणी, असिपत्र, लालाभक्ष, कुम्भीपाक, रौरव, महारौरव आदि नर्क के कुण्ड स्थान विशेष अधोगति है| जिनके जीवन में सतगुण अथवा रजोगुण रहते हुए भी अन्त समय में तात्कालिक तमोगुण बढ़ जाता है, वह मनुष्य मरने के बाद योनि विशेष अधोगति में अर्थात् मूढ़ योनियों में चले जाते हैं| जिनके जीवन में तमोगुण की प्रधानता रही है और उसी तमोगुण की प्रधानता में जिनका शरीर छूट जाता है, वह मनुष्य मरने के बाद स्थान विशेष अधोगति में अर्थात् नर्कों में चले जाते हैं| इसका तात्पर्य यह हुआ कि सात्त्विक, राजस अथवा तामस मनुष्य का अन्तिम चिन्तन उनकी गति का निश्चय करता है| जैसे कर्म तो अच्छे किए, पर अन्तिम चिन्तन कुत्ते का हो गया, तो अन्तिम चिन्तन के अनुसार वह कुत्ता योनि में ही जन्म लेगा|

सात्त्विक गुण को बढ़ाने के लिये साधक सत शास्त्रों के पढ़ने में रूचि रखे| खाना पीना भी सात्त्विक करे, राजस तामस खान-पान न करे| सात्त्विक श्रेष्ठ मनुष्यों का ही संग करे, उन्हीं के सान्निध्य में रहे, उनके कहे अनुसार साधना

करे| शुद्ध, पवित्र तीर्थ आदि स्थानों का सेवन करे| जहां कोलाहल होता हो, ऐसे राजस स्थानों का और जहां अण्डा, माँस, जैसे तामस पदार्थों का सेवन होता हो, वहां से दूर रहे| प्रातःकाल और सायंकाल का समय सात्त्विक माना जाता है, अतः इस सात्त्विक समय का विशेषता से सदुपयोग करे, अर्थात् इस समय का सदुपयोग भजन, ध्यान आदि में करे| शास्त्रविहित शुभ कर्म ही करे, निषिद्ध कर्म कभी न करे, राजस तामस कर्म कभी न करे| जो जिस वर्ण, आश्रम में स्थित है, उसी में अपने कर्तव्य का भली भांति पालन करे| भगवान् का ही ध्यान करे| सात्त्विक मन्त्र ही जपे| इस प्रकार सब कुछ सात्त्विक करने से पुराने संस्कार मिट जाते हैं और सात्त्विक संस्कार (सतगुण) बढ़ जाते हैं|। श्रीमद्भागवत में गुणों को बढ़ाने वाले दस हेतु बताए गए हैं|

गमोऽपः प्रजा देशः कालः कर्म च जन्म च |
ध्यानं मन्त्रोऽथ संस्कारो दशैते गुणहेतवः ||

शास्त्र, खान-पान, प्रजा (सत्संग), स्थान, समय, कर्म, जन्म, ध्यान, मन्त्र और संस्कार, यह दस वस्तुएँ यदि सात्त्विक हों तो सतगुण की, राजसी हों तो रजोगुण की और तामसी हों तो तमोगुण की वृद्धि करती हैं|

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ।।१४-१९।।

जाने जब हैं त्रिगुण कर्ता व् हरि तत्व परे त्रिगुन |
पा जाए वह जन परम गति तत्काल हे पृथानंदन || १४-१९||

भावार्थ: *हे अर्जुन, जब प्राणी तीनों गुणों को ही कर्ता (अर्थात तीन गुणों के अतिरिक्त अन्य किसी को कर्ता नहीं माने) और तीनों गुणों से परे ईश्वर-तत्व को समझ जाता है, तब वह परम गति को प्राप्त होता है (अर्थात प्रभु लोक में निवास पाता है)|*

टीका: गुणों के अतिरिक्त अन्य कोई कर्ता नहीं है, अर्थात् सम्पूर्ण क्रियाएँ गुणों से ही संपन्न होती हैं| इसका तात्पर्य है कि सम्पूर्ण क्रियाओं और परिवर्तनों में गुण ही कारण हैं| गुण जिससे प्रकाशित होते हैं, वह तत्व गुणों से पर है| गुणों से पर होने से वह कभी गुणों से लिप्त नहीं होता, अर्थात् गुणों और क्रियाओँ का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता| ऐसे उस तत्व को जो जान लेता है, अर्थात् विवेक के द्वारा अपने आप को गुणों से पर, असम्बद्ध, निर्लिप्त अनुभव कर लेता है, वही भगवान् के धाम को प्राप्त करता है| प्रभु कहते हैं कि जिसने भूल से गुणों के साथ अपना सम्बन्ध बना लिया था, परन्तु मरण काल में अपनी इस मान्यता को मिटाकर मेरे साथ स्वतः सिद्ध सम्बन्ध बना लेता है, वह मेरे धाम को पाता है|

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ।।१४-२०।।

जान जाए जो विवेक से हैं त्रिगुण हेतु तन सृजन |
पाए वह निर्वाण हो मुक्त दुःख बृद्धायु जन्म-मरन ||१४-२०||

भावार्थ: *जो विवेक से यह जान जाता है कि शरीर की उत्पत्ति तीनों गुणों से ही हुई है, वह जन्म, मृत्यु, वृद्ध अवस्था के दुःखों से मुक्त हो निर्वाण को प्राप्त होता है|*

टीका: शरीर को उत्पन्न करने वाले तीन गुण ही हैं| जिस गुण के साथ मनुष्य अपना सम्बन्ध मान लेता है, उसके अनुसार उसको ऊँच, नीच योनियों में जन्म लेना पड़ता है| विवेकी साधक इन तीनों गुणों का अतिक्रमण कर देता है, अर्थात् इनके साथ अपना सम्बन्ध नहीं मानता, इनके साथ माने हुए सम्बन्ध का त्याग कर देता है| उसको यह स्पष्ट विवेक हो जाता है कि सभी गुण परिवर्तनशील हैं, उत्पन्न और नष्ट होने वाले हैं| स्वयं का स्वरूप गुणों से कभी लिप्त न हुआ है, और न ही हो सकता है| यहां ध्यान देने की बात है कि जिस प्रकृति से यह गुण उत्पन्न होते हैं, उस प्रकृति के साथ भी स्वयं का किंचित मात्र भी सम्बन्ध नहीं है |

जब इन तीनों गुणों का अतिक्रमण कर दिया जाता है, तो फिर उसको जन्म, मृत्यु और वृद्धावस्था का दुःख नहीं होता| वह जन्म, मृत्यु आदि के दुःखों से छूट जाता है क्योंकि जन्म आदि के होने में गुणों का संग ही कारण है| यह गुण आते जाते रहते हैं इनमें परिवर्तन होता रहता है| गुणों की वृत्तियाँ कभी सात्त्विकी, कभी राजसी और कभी तामसी हो जाती हैं, परन्तु स्वयं में कभी सात्त्विकपन, राजसपन और तामसपन नहीं आता| स्वयं (स्वरूप) तो स्वतः असंग रहता है| इस असंग स्वरूप का कभी जन्म नहीं होता| जब जन्म नहीं होता, तो मृत्यु भी नहीं होती| इसका कारण है कि जिसका जन्म होता है, उसी की मृत्यु होती है तथा उसी की वृद्धावस्था भी होती है| गुणों का संग रहने से ही जन्म, मृत्यु और वृद्धावस्था के दुःखों का अनुभव होता है| जो गुणों से सर्वथा निर्लिप्तता का अनुभव कर लेता है, उसको स्वतः सिद्ध अमरता का अनुभव हो जाता है| देह से तादात्म्य (एकता) मानने से ही मनुष्य अपने को मरने वाला समझता है| देह के सम्बन्ध से होने वाले सम्पूर्ण दुःखों में सबसे बड़ा दुःख मृत्यु ही माना गया है| मनुष्य स्वरूप से है तो अमर, किन्तु भोग और संग्रह में आसक्त होने से और प्रतिक्षण नष्ट होने वाले शरीर को अमर रखने की इच्छा से ही इसको अमरता का अनुभव नहीं होता| विवेकी मनुष्य देह से तादात्म्य नष्ट होने पर अमरता का अनुभव करता है|

यद्यपि शरीर में बाल्य, युवा और वृद्ध, यह तीन अवस्थाएँ होती हैं, परन्तु प्रभु ने यहां केवल वृद्ध अवस्था के दुःख का ही वर्णन किया है| इसका कारण है कि बाल्य और युवा अवस्था में मनुष्य अधिक दुःख का अनुभव नहीं करता क्योंकि इन दोनों ही अवस्थाओं में शरीर में बल रहता है| परन्तु वृद्धावस्था में शरीर में बल न रहने से मनुष्य अधिक दुःख का अनुभव करता है| ऐसे ही जब मनुष्य के प्राण छूटते हैं, तब वह भयंकर दुःख का अनुभव करता है| परन्तु जो तीनों गुणों का अतिक्रमण कर देता है, वह सदा के लिये जन्म, मृत्यु और वृद्धावस्था के दुःखों से मुक्त हो जाता है| इस मनुष्य शरीर में रहते हुए जिसको इस सत्य का बोध हो जाता है, उसका फिर कभी जन्म नहीं होता| मृत्युलोक में रहने के कारण उसे वृद्धावस्था और मृत्यु तो आएगी, पर उसको वृद्धावस्था और मृत्यु का दुःख नहीं होगा| वर्तमान में शरीर के साथ स्वयं की एकता मानने से ही पुनर्जन्म होता है और शरीर में होने वाले जरा, व्याधि आदि के दुःखों को जीव

अपने में मान लेता है| शरीर गुणों के संग से उत्पन्न होता है, अतः शरीर के उत्पादक गुणों से रहित होने के कारण गुणातीत महापुरुष देह के सम्बन्ध से होने वाले सभी दुःखों से मुक्त हो जाते हैं| प्रत्येक मनुष्य को मृत्यु से पहले अपने गुणातीत स्वरूप का अनुभव कर लेना चाहिए| गुणातीत होने से जरा (वृद्धावस्था), व्याधि, मृत्यु आदि सब प्रकार के दुःखों से मुक्ति हो जाती है और मनुष्य निर्वाण का अनुभव कर लेता है, फिर उसका पुनर्जन्म नहीं होता|

अर्जुन उवाच
कैर्लिंगैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ।।१४-२१।।

अर्जुन उवाच
कहो लक्षण प्रभु नर जो अतीत त्रिगुण पूछे अर्जुन |
हुए कैसे वह अतीत इन गुण और करें कैसे आचरन ||१४-२१||

भावार्थ: *अर्जुन ने पूछा, 'हे प्रभु, तीन गुणों से अतीत प्राणी के लक्षण कहिए| वह किस प्रकार इन गुणों से अतीत होते हैं और कैसे आचरण करते हैं?'*

टीका: अर्जुन प्रभु से पूछते हैं कि हे प्रभु, मैं यह जानना चाहता हूँ कि इन त्रिगुणों से अतीत मनुष्य के क्या लक्षण होते हैं? संसारी मनुष्य की अपेक्षा गुणातीत मनुष्य में ऐसी कौन सी विलक्षणता आ जाती है जिससे साधारण व्यक्ति समझ ले कि यह गुणातीत पुरुष है| उस गुणातीत मनुष्य के आचरण कैसे होते हैं? अर्थात् साधारण प्राणी के अपेक्षाकृत इन गुणातीत मनुष्य की दिनचर्या तथा रात्रिचर्या कैसी होती है? इनके आचरण, खान-पान आदि भी कैसे होते हैं? इन तीनों गुणों का अतिक्रमण करने का क्या उपाय है? अर्थात् कौन सा साधन करने से मनुष्य गुणातीत हो सकता है?

श्रीभगवानुवाच
प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ।।१४-२२।।

श्रीभगवानुवाच
हुए जो प्रवृत्त प्रकाश प्रवृत्ति मोह हे अर्जुन।
न करते हुए द्वेष हो जाएं निवृत्त सभी मन्मन्॥
समझो हुए वह साधक अतीत त्रिगुण बोले भगवन॥१४-२२॥

भावार्थ: *भगवान् बोले, 'हे अर्जुन, जो प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह के प्रवृत्त होने पर द्वेष नहीं करते हुए सभी इच्छाओं से निवृत्त हो गए हैं, उन्हें तुम त्रिगुण से अतीत हुआ समझो।*

टीका: इन्द्रियों और अन्तःकरण की स्वच्छता, निर्मलता का नाम प्रकाश है। इसका तात्पर्य है कि जिससे इन्द्रियों के द्वारा शब्दादि पाँचों विषयों का स्पष्टतया ज्ञान होता है, मन से मनन होता है और बुद्धि से निर्णय होता है, उसका नाम प्रकाश है।

सतगुण की दो वृत्तियाँ हैं, प्रकाश और ज्ञान। प्रभु ने यहाँ केवल प्रकाश वृत्ति का वर्णन किया है जिसका तात्पर्य है कि सतगुण में प्रकाश वृत्ति ही मुख्य है। क्योंकि जब तक इन्द्रियाँ और अन्तःकरण में प्रकाश नहीं आता, स्वच्छता, निर्मलता नहीं आती, तब तक ज्ञान (विवेक) जाग्रत् नहीं होता। प्रकाश के आने पर ही ज्ञान जाग्रत् होता है। अतः यहाँ ज्ञान वृत्ति को प्रकाश के ही अन्तर्गत लेना चाहिए।

जब तक प्राणी का गुणों के साथ सम्बन्ध रहता है, तब तक रजोगुण की लोभ, प्रवृत्ति, राग पूर्वक कर्म, अशान्ति और स्पृहा, यह वृत्तियाँ पैदा होती रहती हैं। परन्तु जब मनुष्य गुणातीत हो जाता है, तब रजोगुण के साथ तादात्म्य रखने वाली वृत्तियाँ पैदा नहीं हो सकतीं, पर आसक्ति एवं कामना से रहित प्रवृत्ति (क्रियाशीलता) रहती है। यह प्रवृत्ति दोषी नहीं है। गुणातीत मनुष्य के द्वारा भी क्रियाएँ होती हैं। इसलिये भगवान् ने यहाँ केवल प्रवृत्ति का ही विवरण किया है। रजोगुण के दो रूप हैं, राग और क्रिया। इनमें राग दुःखों का कारण है। यह राग गुणातीत प्राणी में नहीं रहता। परन्तु जब तक गुणातीत मनुष्य का शरीर रहता है, तब तक उसके द्वारा निष्काम भाव पूर्वक स्वतः क्रियाएँ होती रहती हैं। इसी क्रियाशीलता को भगवान् ने यहाँ प्रवृत्ति नाम दिया है।

मोह दो प्रकार का होता है:

(१) नित्य-अनित्य, सत-असत, कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेक न होना और;
(२) व्यवहार में भूल होना|

गुणातीत महापुरुष में पहले प्रकार का मोह (सत-असत आदि का विवेक न होना) तो कदापि नहीं होता| परन्तु व्यवहार में भूल होना, अर्थात् किसी के कहने से किसी निर्दोष व्यक्ति को दोषी मान लेना और दोषी व्यक्ति को निर्दोष मान लेना, रस्सी में साँप दिख जाना, मृग-तृष्णा में जल दिख जाना, सीपी और अभ्रक में चाँदी का भ्रम हो जाना, आदि मोह तो गुणातीत मनुष्य में भी हो सकता है|

सतगुण का कार्य प्रकाश, रजोगुण का कार्य प्रवृत्ति और तमोगुण का कार्य मोह, इन तीनों के भली भांति प्रवृत्त होने पर भी गुणातीत महापुरुष इनसे द्वेष नहीं करता और इनके निवृत्त होने पर भी इनकी इच्छा नहीं करता| गुणातीत होने के कारण गुणों की वृत्तियों के आने जाने से उसमें कुछ भी अंतर नहीं पड़ता| वह इन वृत्तियों से स्वाभाविक ही निर्लिप्त रहता है|

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ।।१४-२३।।

जो आसीन सम उदासीन न विचलित त्रिगुण जन |
समझे है कर्ता गुण हो न विचलित स्थिति कठिन ||१४-२३||

भावार्थ: *जो प्राणी उदासीन के समान आसीन होकर तीन गुण से विचलित नहीं होता, 'गुण ही कर्ता है', ऐसा समझ कर कठिन स्थित से विचलित नहीं होता|*

टीका: जब दो व्यक्ति परस्पर विवाद करते हों, उन दोनों में से किसी एक का पक्ष लेने वाला पक्षपाती कहलाता है और दोनों का न्याय करने वाला मध्यस्थ कहलाता है| परन्तु जो किसी का पक्ष नहीं लेता, वह उदासीन कहलाता है| ऐसे ही संसार और परमात्मा, दोनों को गुणातीत मनुष्य उदासीन की तरह देखता

है| वास्तव में देखा जाए तो संसार की स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं, परमात्मा की सत्ता से ही संसार सत्ता वाला दिखता है| गुणातीत मनुष्य की दृष्टि में संसार की सत्ता नहीं है, केवल एक परमात्मा की ही सत्ता है| वह इस विषय में उदासीन रहता है|

गुणातीत पुरुष के अन्तःकरण में सत, रजस, और तमस, इन तीनों गुणों की वृत्तियाँ तो आती हैं, पर वह इनसे विचलित नहीं होता| इसका तात्पर्य है कि जैसे अपने अतिरिक्त दूसरों के अन्तःकरण में गुणों की वृत्तियाँ आने पर अपने में कुछ भी अंतर नहीं पड़ता, ऐसे ही गुणातीत पुरुष के अन्तःकरण में गुणों की वृत्तियाँ आने पर उस में कुछ भी अंतर नहीं पड़ता, अर्थात् वह उन वृत्तियों के द्वारा विचलित नहीं होता| इसका कारण है कि उसके अन्तःकरण में सम्पूर्ण संसार का अत्यन्त अभाव एवं परमात्म-तत्व का भाव निरन्तर स्वतः स्वाभाविक जाग्रत् रहता है|

गुणों से ही सम्पूर्ण क्रियाएँ होती हैं, ऐसा समझकर गुणातीत पुरुष अपने स्वरूप में निर्विकार रूप से स्थित रहता है| वह किसी भी कठिन से कठिन स्थिति में विचलित नहीं होता| यहां भगवान् ने गुणातीत महापुरुष की तटस्थता तथा निर्लिप्तता का वर्णन किया है|

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ।।१४-२४।।
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ।।१४-२५।।

हो सम सुख दुःख रहे स्थित स्व-स्वरुप जो धीर जन |
समझे जम्ब शिला स्वर्ण सम और प्रिय अप्रिय सलक्षन ||१४-२४||
रहे सम मान अपमान और उदासीन मध्य मित्र द्विषन् |
ऐसा सर्वारम्भ परित्यागी नर समझो गुणातीत महन ||१४-२५||

भावार्थ: *जो धीर प्राणी सुख, दुःख में समान रहता हुआ अपने स्वरुप में स्थित रहता है, मिट्टी, पत्थर और स्वर्ण में समदृष्टि रखता है, प्रिय और अप्रिय को सम दृष्टि से देखता है, मान और अपमान में सम रहता है, शत्रु और मित्र के मध्य उदासीन रहता है (अर्थात किसी एक का पक्ष नहीं लेता), ऐसे सर्वारम्भ परित्यागी पुरुष को महान गुणातीत समझो|*

टीका: नित्य-अनित्य, सार-असार, आदि के तत्व को जानकर स्वतः सिद्ध स्वरूप में स्थित होने से गुणातीत मनुष्य धैर्यवान् कहलाता है| पूर्व कर्मों के अनुसार आने वाली अनुकूल, प्रतिकूल परिस्थिति का नाम सुख, दुःख है, अर्थात् प्रारब्ध के अनुसार शरीर, इन्द्रियों, आदि के अनुकूल परिस्थिति को सुख कहते हैं और शरीर, इन्द्रियों, आदि के प्रतिकूल परिस्थिति को दुःख कहते हैं| गुणातीत मनुष्य इन दोनों में सम रहता है| इसका तात्पर्य है कि सुख, दुःख रूप बाह्य परिस्थितियाँ उसके अन्तःकरण में विकार पैदा नहीं कर सकतीं, उसको सुखी, दुःखी नहीं कर सकतीं|

स्व-स्वरूप में स्थित होने पर सुख, दुःख नहीं होता| स्व-स्वरूप से तो सुख, दुःख प्रकाशित होते हैं| अतः गुणातीत मनुष्य आने जाने वाले सुख, दुःख का भोक्ता नहीं बनता, प्रत्युत अपने नित्य, निरन्तर रहने वाले स्व-स्वरूप में स्थिर रहता है|

उसका मिट्टी, पत्थर और स्वर्ण में न तो आकर्षण (राग) होता है, और न विकर्षण (द्वेष) होता है| परन्तु व्यवहार में वह मिट्टी को मिट्टी के स्थान पर, पत्थर को पत्थर के स्थान पर और स्वर्ण को स्वर्ण के स्थान पर ही रखता है| इसका तात्पर्य है कि यद्यपि उनकी प्राप्ति, अप्राप्ति में उसको हर्ष, शोक नहीं होते, वह सम रहता है, परन्तु उनसे व्यवहार यथायोग्य ही करता है| मिट्टी, पत्थर और स्वर्ण का ज्ञान न होना समता नहीं कहलाती| समता वही है कि इन तीनों का ज्ञान होते हुए भी इनमें राग, द्वेष न हों| ज्ञान कभी दोषी नहीं होता, विकार ही दोषी होते हैं|

कर्मों की सिद्धि, असिद्धि में अर्थात् उनके तात्कालिक फल की प्राप्ति, अप्राप्ति में वह सम रहता है| निन्दा और स्तुति में नाम की मुख्यता होती है| गुणातीत मनुष्य का नाम के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता अतः कोई निन्दा करे तो उसके चित्त में खिन्नता नहीं होती और कोई स्तुति करे तो उसके चित्त में प्रसन्नता नहीं होती| इसी प्रकार निन्दा करने वालों के प्रति उसका द्वेष नहीं होता और स्तुति करने वालों के प्रति उसका राग नहीं होता| साधारण मनुष्यों की यह एक आदत बन जाती है कि उनको अपनी निन्दा बुरी लगती है और स्तुति अच्छी लगती है| परन्तु जो गुणों से ऊँचे उठ जाते हैं, उनको निन्दा, स्तुति का ज्ञान तो होता है और वह बर्ताव भी सबके साथ यथोचित ही करते हैं, पर उनमें निन्दा, स्तुति को लेकर खिन्नता, प्रसन्नता नहीं होती| इसका कारण है कि वह जिस तत्व में स्थित हैं, वहां गुणों वाली परकृत निन्दा, स्तुति पहुँचती ही नहीं| निन्दा और स्तुति, यह दोनों ही परकृत क्रियाएँ हैं| उन क्रियाओं से सुखी, दुःखी होना त्रुटि है| इसका कारण है कि जिसका जैसा स्वभाव है, जैसी धारणा है, वह उसके अनुसार ही अनुभव करता है| वह हमारे अनुकूल ही बोले, हमारी निन्दा न करे, यह न्याय नहीं है, अर्थात् उसको बोलने में बाध्य करने का भाव न्याय नहीं, अन्याय है| कोई निन्दा करता है तो उसमें साधक को प्रसन्न होना चाहिए कि इससे मेरे पाप कट रहे हैं, मैं शुद्ध हो रहा हूँ| अगर कोई हमारी प्रशंसा करता है, तो उससे हमारे पुण्य नष्ट होते हैं| अतः प्रशंसा में प्रसन्न नहीं होना चाहिए क्योंकि प्रसन्न होने में हमारी हानि है|

मान और अपमान अनुभव करने में शरीर की मुख्यता होती है| गुणातीत मनुष्य का शरीर के साथ तादात्म्य नहीं रहता, अतः कोई उसका आदर करे या निरादर करे, इन परकृत क्रियाओं का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता| निन्दा-स्तुति और मान-अपमान, इन दोनों ही परकृत क्रियाओं में गुणातीत मनुष्य सम रहता है| इन दोनों परकृत क्रियाओं का ज्ञान होना दोष नहीं है, प्रत्युत निन्दा और अपमान में दुःखी होना तथा स्तुति और मान में हर्षित होना दोष है क्योंकि यह दोनों ही प्रकृति के विकार हैं| गुणातीत पुरुष को निन्दा, स्तुति और मान, अपमान का ज्ञान तो होता है, पर गुणों से सम्बन्ध विच्छेद होने से, नाम और शरीर के साथ तादात्म्य न रहने से वह सुखी, दुःखी नहीं होता| इसका कारण

है कि वह जिस तत्व में स्थित है, वहां यह विकार नहीं हैं| वह तत्व गुण रहित है, निर्विकार है|

वह मित्र और शत्रु के पक्ष में सम रहता है| यद्यपि गुणातीत मनुष्य की दृष्टि में कोई मित्र और शत्रु नहीं होता, तथापि दूसरे लोग अपनी भावना के अनुसार उसे अपना मित्र अथवा शत्रु मान सकते हैं| साधारण मनुष्य को भी दूसरे लोग अपनी भावना के अनुसार मित्र या शत्रु मानते हैं किन्तु इस बात का पता लगने पर उस मनुष्य पर इसका प्रभाव पड़ता है जिससे उसमें राग, द्वेष उत्पन्न होते हैं| परन्तु गुणातीत मनुष्य पर इस बात का पता लगने पर भी उस पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता| वस्तुतः मित्र और शत्रु की भावना के कारण ही व्यवहार में पक्षपात होता है| गुणातीत मनुष्य के अन्तःकरण में मित्र, शत्रु की भावना नहीं होती, अतः उसके व्यवहार में पक्षपात नहीं होता|

वह महापुरुष सम्पूर्ण कर्मों के आरम्भ का त्यागी होता है| इसका तात्पर्य है कि धन-सम्पत्ति के संग्रह और भोगों के लिये वह किसी तरह का कोई नया कर्म आरम्भ नहीं करता| स्वतः प्राप्त परिस्थिति के अनुसार ही उसकी प्रवृत्ति और निवृत्ति होती है, अर्थात क्रियाओं में उसकी प्रवृत्ति कामना, वासना, ममता से रहित होती है और निवृत्ति भी मान, सम्मान आदि की इच्छा से रहित होती है|

प्रभु के द्वारा बताए गए यह लक्षण गुणातीत मनुष्य को पहचानने के संकेत मात्र हैं| प्रकृति के कार्य गुण हैं और गुणों के कार्य शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि हैं| मन, बुद्धि आदि के द्वारा अपने कारण गुणों का पूरा वर्णन नहीं हो सकता| गुणों के कारण प्रकृति का वर्णन भी नहीं हो सकता| जो प्रकृति से भी सर्वथा अतीत (गुणातीत) है, उसका वर्णन करना मन, बुद्धि, आदि के द्वारा सम्भव नहीं है| यहाँ भगवान् ने सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय, निन्दा-स्तुति और मान-अपमान, यह आठ परस्पर विरुद्ध नाम लिये हैं, जिनमें साधारण प्राणियों की तो सदैव विषमता होती है, पर साधकों की भी कभी कभी विषमता हो जाती है| ऐसे इन आठ कठिन स्थलों में जिसकी समता हो जाती है, उसके लिये अन्य सभी अवस्थाओं में समता रखना सुगम हो जाता है|।अतः यहाँ उन्हीं आठ कठिन स्थलों का नाम लेकर भगवान् यह बताते हैं कि गुणातीत महापुरुष की इन

आठों स्थलों में स्वतः स्वाभाविक समता होती है| गुणातीत मनुष्य की जो स्वतः सिद्ध निर्विकारता है, उसकी जो स्वाभाविक स्थिति है, उसमें अनुकूल, प्रतिकूल परिस्थितियों के आने जाने का कुछ भी अंतर नहीं पड़ता| उसकी निर्विकारता, समता ज्यों की त्यों अटल रहती है| उसकी शान्ति कभी भंग नहीं होती|

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।१४-२६।।

करे जो सदाचारी साधक भक्तियोग से मेरा सेवन |
हो अतीत त्रिगुण पा सके वह भक्त धाम भगवन ||१४-२६||

भावार्थ: *जो सदाचार का अनुसरण करने वाला साधक भक्तियोग से मेरा सेवन करता है (अर्थात मेरी उपासना करता है), वह भक्त तीनों गुणों से अतीत होकर भगवद धाम की प्राप्ति कर लेता है (अर्थात मोक्ष प्राप्त कर लेता है)|*

टीका: 'सदाचारी उपासक' का भाव है कि उस साधक का आचरण सत तो हो ही, परन्तु उसे भगवान् के अतिरिक्त और कोई सहारा न हो| भगवान् ने 'भक्तियोग से मेरी उपासना करने वाला' कहकर इस की पुष्टि कर दी है| इसका तात्पर्य है कि सदाचारी साधक भक्तियोग के द्वारा भगवान् का भजन करे, उनकी उपासना करे, उनके शरण जाए उनके अनुकूल चले|

जो अनन्य भाव से केवल भगवान् के ही शरण हो जाता है, उसको गुणों का अतिक्रमण करना नहीं पड़ता, प्रत्युत भगवान् की कृपा से उसके द्वारा स्वतः गुणों का अतिक्रमण हो जाता है| वह गुणों का अतिक्रमण करके भगवद लोक का पात्र (अधिकारी) बन जाता है| शास्त्रों में कहा गया है कि भगवान् की उपासना करने वाले को ज्ञान की भूमिकाओं की सिद्धि के लिये दूसरा कोई साधन, प्रयत्न नहीं करना पड़ता, प्रत्युत उसके लिये ज्ञान की भूमिकाएँ अपने आप सिद्ध हो जाती हैं| उसी बात को लक्ष्य करके भगवान् यहाँ कह रहे हैं कि सदाचार भक्तियोग से मेरा सेवन करने वाले को भगवद लोक की प्राप्ति के लिए दूसरा कोई साधन नहीं करना पड़ता, प्रत्युत वह अपने आप भगवद लोक

प्राप्ति का पात्र हो जाता है| परन्तु वह भक्त भगवद लोक की प्राप्ति में सन्तोष नहीं करता| उसका तो यही भाव रहता है कि भगवान् की प्रसन्नता में ही मेरी प्रसन्नता है| इसका तात्पर्य यह है कि जो केवल भगवान् के ही परायण है, भगवान् में ही आकृष्ट है, उनके लिए भगवद लोक की प्राप्ति स्वतः सिद्ध है| वह भगवद लोक की प्राप्ति को महत्व दे अथवा न दे, यह बात दूसरी है, पर वह भगवद लोक की प्राप्ति का अधिकारी स्वतः हो जाता है| तीसरी बात, जिस तत्व की प्राप्ति ज्ञानयोग, कर्मयोग आदि साधनों से होती है, उसी तत्व की प्राप्ति भक्ति से सहज रूप में हो जाती है| साधनों में भेद होने पर भी उस तत्व की प्राप्ति में कोई भेद नहीं होता|

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ।।१४-२७।।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोग चतुर्दसोऽध्यायः |

हूँ मैं आश्रय ब्रह्म अविनाशी परम सुख पावन |
समझो मुझे शाश्वत धर्म एकांतिक अमर हे अर्जुन ||१४-२७||

ब्रह्मविद्या योगशास्त्रमय महाग्रंथ गीतबंधन ||
श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषदरूप ग्रन्थ अति पावन |
श्री कृष्णार्जुन संवाद गुणत्रयविभागयोग नामन ||
हुआ अत्र सम्पूर्ण चतुर्दस अध्याय करे कल्याण जन ||

भावार्थ: *हे अर्जुन, मैं ब्रह्म, अविनाशी, पवित्र, परम सुख का आश्रय हूँ| मुझे शाश्वत धर्म, ऐकान्तिक (अर्थात् पारमार्थिक सुख की प्रतिष्ठा) एवं अमर समझो|*

इस प्रकार उपनिषद, ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र रूप श्रीमद्भगवद्गीता के श्री कृष्ण-अर्जुन संवाद में 'गुणत्रयविभागयोग' नामक चतुर्दस अध्याय संपूर्ण हुआ|

टीका: प्रभु कहते हैं कि मैं ब्रह्म की प्रतिष्ठा, आश्रय हूँ| ऐसा कहने का तात्पर्य ब्रह्म से अपनी अभिन्नता बताने में है| जैसे जलती हुई अग्नि साकार है और काष्ठ आदि में रहने वाली अग्नि निराकार है, परन्तु यह अग्नि के दो रूप होते हुए भी तत्वतः अग्नि एक ही है| ऐसे ही भगवान् साकार रूप है और ब्रह्म निराकर रूप है, यह दो रूप साधकों की उपासना की दृष्टि में हैं, पर तत्वतः भगवान् और ब्रह्म एक ही हैं, दो नहीं| जैसे भोजन में एक सुगन्ध होती है और एक स्वाद होता है, नासिका की दृष्टि से सुगन्ध होती है और रसना की दृष्टि से स्वाद होता है, पर भोजन तो एक ही है| ऐसे ही ज्ञान की दृष्टि से वह ब्रह्म हैं और भक्ति की दृष्टि से वह भगवान् हैं, पर तत्वतः भगवान् और ब्रह्म एक ही हैं| भगवान् अलग हैं और ब्रह्म अलग है, यह भेद नहीं है, भगवान् ही ब्रह्म हैं और ब्रह्म ही भगवान् हैं|

पहले भी भगवान् ने अपने लिये ब्रह्म शब्द का प्रयोग किया है, 'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि', और अपने को अव्यक्तमूर्ति भी कहा है, 'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना'| इसका तात्पर्य है कि साकार और निराकार एक ही हैं, दो नहीं|

प्रभु कहते हैं कि वह अविनाशी हैं, अमर हैं| इसका तात्पर्य है कि अविनाशी और अमर, यह दो तत्व नहीं हैं, प्रत्युत एक ही हैं| इसी अविनाशी, अमर की प्राप्ति को भगवान् ने पहले 'अमृतमश्नुते' शब्द से कहा है|

सनातन (शाश्वत) धर्म का आधार भी प्रभु ही हैं| इसका तात्पर्य है कि सनातन धर्म और प्रभु, यह दो नहीं हैं, प्रत्युत एक ही हैं| सनातन धर्म प्रभु का ही स्वरूप है| पहले अर्जुन ने भगवान् को शाश्वत धर्म का गोप्ता (रक्षक) बताया है| भगवान् अवतार लेकर सनातन धर्म की रक्षा किया करते हैं|
ऐकान्तिक भी प्रभु ही हैं| एकांतिक होने से जो सुख की प्राप्ति होते है, वह प्रभु का ऐकान्तिक सुख ही है| भगवान् ने इसी ऐकान्तिक सुख को अक्षय सुख, आत्यन्तिक सुख, और अत्यन्त सुख की संज्ञा दी है|

ब्रह्म कहो, अविनाशी कहो, अमर कहो, शाश्वत धर्म कहो, ऐकान्तिक कहो, उन सब के आधार केवल प्रभु ही हैं| इसलिये भगवान् की उपासना करने से भगवद लोक (ब्रह्म) की प्राप्ति होती है, यह उचित ही है|

अध्याय १५: पुरुषोत्तमयोग

श्रीभगवानुवाच
ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ।।१५-१।।

श्रीभगवानुवाच
छंद:
मूल नभ व् शाखा निम्न है तरु अश्वत्थ रूप-भुवन |
है यह जग-वृक्ष अव्यय और हैं वेद इसके छादन ||
जो जाने यह सत्य है ज्ञाता सब वेद बोले भगवन ||१५-१||

भावार्थ: *भगवान् बोले, 'आकाश (ऊपर) की ओर मूल एवं नीचे की ओर शाखा वाला संसार-रूपी अश्वत्थ वृक्ष है| यह जग-वृक्ष अविनाशी है एवं इसके पत्ते वेद हैं| जो यह सत्य जानता है, वही सम्पूर्ण वेदों का ज्ञाता है|*

टीका: प्रभु ने नभ (ऊपर) की ओर मूल शब्द से परमात्मा का, नीचे की ओर शाखा से सम्पूर्ण जीवों के प्रतिनिधि ब्रह्मा जी का तथा अश्वत्थ वृक्ष से संसार का संकेत करके (संसार-रूप अश्वत्थ वृक्ष के मूल) सर्वशक्तिमान् परमात्मा को यथार्थ रूप से जानने वाले को वेदवित् ज्ञानी कहा है|

साधारणतः वृक्षों का मूल नीचे और शाखाएँ ऊपर की ओर होती हैं, परन्तु यह संसार-वृक्ष ऐसा विचित्र वृक्ष है कि इसका मूल ऊपर तथा शाखाएँ नीचे की ओर हैं| जहां जाने पर मनुष्य लौटकर संसार में नहीं आता, ऐसा भगवान् का परम धाम ही सम्पूर्ण भौतिक संसार से ऊपर (सर्वोपरि) है| संसार वृक्ष की प्रधान शाखा (तना) ब्रह्मा जी हैं क्योंकि संसार-वृक्ष की उत्पत्ति के समय सबसे पहले ब्रह्माजी का उद्भव होता है| इस कारण ब्रह्मा जी ही इसकी प्रधान शाखा हैं| ब्रह्मलोक भगवद्धाम की अपेक्षा नीचे है| स्थान, गुण, पद, आयु आदि सभी दृष्टियों से परम धाम की अपेक्षा निम्न श्रेणी में होने के कारण ही इन्हें नीचे की ओर कहा गया है| यह संसार रूपी वृक्ष ऊपर की ओर मूल वाला है| वृक्ष में

मूल ही प्रधान होता है| ऐसे ही इस संसार रूपी वृक्ष में परमात्मा ही प्रधान हैं| उनसे ब्रह्मा जी प्रकट होते हैं, जिनका वर्णन नीचे की ओर शाखा से हुआ है| सबके मूल प्रकाशक और आश्रय परमात्मा ही हैं| देश, काल, भाव, सिद्धान्त, गुण, रूप, विद्या आदि सभी दृष्टियों से परमात्मा ही सबसे श्रेष्ठ हैं| उनके समान दूसरा कोई नहीं है| संसार वृक्ष के मूल सर्वोपरि परमात्मा ही हैं| जैसे मूल वृक्ष का आधार होता है, ऐसे ही परमात्मा सम्पूर्ण जगत् के आधार हैं| इसलिये उस वृक्ष को ऊपर मूल का कहा गया है| मूल शब्द कारण का वाचक है| इस संसार वृक्ष की उत्पत्ति और इसका विस्तार परमात्मा से ही हुआ है| वह परमात्मा नित्य, अनन्त और सबके आधार हैं तथा सगुण रूप से सबसे ऊपर नित्य धाम में निवास करते हैं, इसलिये वह ऊपर शब्द से सम्बोधित हैं| यह संसार वृक्ष परमात्मा से उत्पन्न हुआ है, इसलिये इसको ऊपर की ओर मूल वाला कहते हैं| वृक्ष के मूल से ही तने, शाखाएँ, कोंपलें निकलती हैं| इसी प्रकार परमात्मा से ही सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है, उन्हीं से विस्तृत होता है, उन्हीं में स्थित रहता है, उन्हीं से शक्ति पाकर सम्पूर्ण जगत् चेष्टा करता है| ऐसे सर्वोपरि परमात्मा की शरण लेने से मनुष्य सदा के लिये कृतार्थ हो जाता है| सृष्टि रचना के लिये ब्रह्मा जी प्रकृति को स्वीकार करते हैं, परन्तु वास्तव में वह (प्रकृति से सम्बन्ध रहित होने के कारण) मुक्त हैं| ब्रह्मा जी के अतिरिक्त दूसरे सम्पूर्ण जीव प्रकृति और उसके कार्य शरीरादि के साथ अहंता, ममता पूर्वक जितना अपना सम्बन्ध मानते हैं, उतने ही वह बन्धन में पड़े हुए हैं और उनका बार बार पतन (जन्म-मरण) होता रहता है| सात्त्विक, राजस और तामस, यह तीनों गति याँ नीचे की ओर शाखा के अन्तर्गत हैं|

अश्वत्थ शब्द के दो अर्थ हैं, (१) अस्थाई एवं (२) पीपल का वृक्ष| पहले अर्थ के अनुसार अश्वत्थ शब्द का तात्पर्य है कि संसार अस्थाई है, अर्थात एक क्षण भी स्थिर रहने वाला नहीं है| केवल परिवर्तन के समूह का नाम ही संसार है| परिवर्तन का जो नया रूप सामने आता है, उसको उत्पत्ति कहते हैं, थोड़ा और परिवर्तन होने पर उसको स्थिति रूप से मान लेते हैं और जब उस स्थिति का स्वरूप भी परिवर्तित हो जाता है, तब उसको समाप्ति (प्रलय) कह देते हैं| इसमें प्रतिक्षण परिवर्तन होने के कारण यह (संसार) एक क्षण भी स्थिर नहीं है| यह दृश्य प्रतिक्षण अदर्शन में जा रहा है| इसी भाव से इस संसार को अश्वत्थ कहा

गया है| दूसरे अर्थ के अनुसार, यह संसार पीपल का वृक्ष है| शास्त्रों में अश्वत्थ अर्थात् पीपल के वृक्ष की बहुत महिमा गाई गई है| स्वयं भगवान् भी सब वृक्षों में अश्वत्थ को अपनी विभूति कहकर उसको श्रेष्ठ एवं पूज्य बताते हैं, 'अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्'| पीपल, आँवला और तुलसी, इनकी भगवद्भाव पूर्वक पूजा करने से वह भगवान् की पूजा हो जाती है| परमात्मा से संसार उत्पन्न होता है| वह ही संसार के अभिन्न निमित्तोपादान कारण हैं| अतः संसार रूपी पीपल का वृक्ष भी तत्वतः परमात्म-स्वरूप होने से पूजनीय है| इस संसार रूप पीपल वृक्ष की पूजा यही है कि इससे सुख लेने की इच्छा का त्याग करके केवल इसकी सेवा करना| सुख की इच्छा न रखने वाले के लिये यह संसार साक्षात् भगवत् स्वरुप है, 'वासुदेवः सर्वम्'| परन्तु संसार से सुख की इच्छा रखने वालों के लिये यह संसार दुःखों का घर ही है| इसका कारण है कि स्वयं स्वरुप अविनाशी है और यह संसार-वृक्ष प्रतिक्षण परिवर्तनशील होने के कारण नाशवान्, अनित्य और क्षण भंगुर है| अतः स्वयं की कभी इससे तृप्ति नहीं हो सकती किंतु इससे सुख की इच्छा करके यह बार बार जन्म-मरण के चक्र में रहता है| इसलिये संसार से किंचित भी स्वार्थ का सम्बन्ध न रखकर केवल उसकी सेवा करने का भाव ही रखना चाहिए|

संसार-वृक्ष को अविनाशी कहा जाता है| क्षण भंगुर अनित्य संसार का आदि और अन्त न जान सकने के कारण, प्रवाह की निरन्तरता (नित्यता) के कारण तथा इसका मूल सर्व शक्तिमान् परमेश्वर नित्य अविनाशी होने के कारण ही इसे अव्यय (अविनाशी) कहते हैं| जिस प्रकार समुद्र का जल सूर्य के ताप से भाप बनकर बादल बनता है, फिर आकाश में ठंडक पाकर वही जल बादल से पुनः जल रूप से पृथ्वी पर आ जाता है, फिर वही जल नदी नाले का रूप धारण करके समुद्र में चला जाता है, पुनः समुद्र का जल बादल बनकर बरसता है, ऐसे घूमते हुए जल के चक्र का कभी भी अन्त नहीं आता| इसी प्रकार इस संसार चक्र का भी कभी अन्त नहीं होता| यह संसार चक्र इतनी शीघ्रता से घूमता (बदलता) है कि चलचित्र के समान अस्थिर (प्रतिक्षण परिवर्तनशील) होते हुए भी स्थिर की तरह प्रतीत होता है| यह संसार-वृक्ष अव्यय कहा जाता है, पर वास्तव में यह अव्यय (अविनाशी) नहीं है| अगर यह अव्यय होता तो प्रभु यह नहीं कहते कि इस (संसार) का जैसा स्वरूप कहा जाता है, वैसा है नहीं और

न ही इस (संसार-वृक्ष) को वैराग्य रूप दृढ़ शस्त्र के द्वारा छेदन करने के लिये भगवान् प्रेरणा देते|

वेद इस संसार-वृक्ष के पत्ते हैं| यहाँ वेदों से तात्पर्य उस अंश से है जिसमें सकाम कर्मों के अनुष्ठानों का वर्णन है| इसका तात्पर्य यह है कि जिस वृक्ष में सुन्दर फूल, पत्ते तो हों, पर फल नहीं हों, वह वृक्ष अनुपयोगी है क्योंकि वास्तव में तृप्ति तो फल से ही होती है, फूल, पत्तों की सजावट से नहीं| इसी प्रकार सुख भोग चाहने वाले सकाम पुरुष को भोग ऐश्वर्य रूप फूल, पत्तों से सम्पन्न यह संसार-वृक्ष बाहर से तो सुन्दर प्रतीत होता है, पर इससे सुख चाहने के कारण उसको अक्षय सुख रूप तृप्ति अर्थात् महान् आनन्द की प्राप्ति नहीं होती| वेद-विहित पुण्य कर्मों का अनुष्ठान स्वर्गादि लोकों की कामना से किया जाए तो वह निषिद्ध कर्मों को करने की अपेक्षा श्रेष्ठ तो है, पर उन कर्मों से मुक्ति नहीं हो सकती क्योंकि फल भोग के बाद पुण्य कर्म नष्ट हो जाते हैं और पुनः संसार में आना पड़ता है| इस प्रकार सकाम कर्म और उसका फल, दोनों ही उत्पन्न और नष्ट होने वाले हैं| अतः साधक को इन (दोनों) से सर्वथा असंग होकर एक मात्र परमात्म-तत्व को ही प्राप्त करना चाहिए| पत्ते वृक्ष की शाखा से उत्पन्न होने वाले तथा वृक्ष की रक्षा और वृद्धि करने वाले होते हैं| पत्तों से वृक्ष सुन्दर दिखता है तथा दृढ़ होता है (पत्तों के हिलने से वृक्ष का मूल, तना एवं शाखाएँ दृढ़ होती हैं)| वेद भी इस संसार वृक्ष की मुख्य शाखा रूप ब्रह्मा जी से प्रकट हुए हैं और वेद-विहित कर्मों से ही संसार की वृद्धि और रक्षा होती है| इसलिये वेदों को पत्तों का स्थान दिया गया है| संसार में सकाम (काम्य) कर्मों से स्वर्गादि में देव योनियाँ प्राप्त होती हैं, यह संसार वृक्ष का बढ़ना है| स्वर्गादि में नन्दन वन, सुन्दर विमान, रमणीय अप्सराएँ आदि हैं, यह संसार वृक्ष के सौन्दर्य की प्रतीति है| सकाम कर्मों को करते रहने से बार बार जन्म-मरण होता रहता है, यह संसार-वृक्ष का दृढ़ होना है| भगवान् यह कहना चाहते हैं कि साधक को सकाम भाव, वैदिक सकाम कर्मानुष्ठान रूप पत्तों में न फँसकर संसार वृक्ष के मूल, परमात्मा का ही आश्रय लेना चाहिए| परमात्मा का आश्रय लेने से वेदों का वास्तविक तत्व भी जानने में आ जाता है| वेदों का वास्तविक तत्व संसार या स्वर्ग नहीं, प्रत्युत परमात्मा हैं|

इस संसार-वृक्ष को जो मनुष्य जानता है, वह सम्पूर्ण वेदों के यथार्थ तात्पर्य को जानने वाला है| संसार को क्षण भंगुर (अनित्य) जानकर इससे कभी किंचित मात्र भी सुख की आशा न रखना, यही संसार को यथार्थ रूप से जानना है| वास्तव में संसार को क्षण भंगुर जान लेने पर सुख भोग की कामना नहीं हो सकती| सुख भोग के समय संसार क्षण भंगुर नहीं दिखता| जब तक संसार के प्राणी पदार्थों को स्थाई मानते रहते हैं, तभी तक सुख भोग, सुख की आशा और कामना तथा संसार का आश्रय, महत्व, विश्वास बना रहता है| जिस समय यह अनुभव हो जाता है कि संसार प्रति क्षण नष्ट हो रहा है, उसी समय उससे सुख लेने की इच्छा मिट जाती है और साधक उसके वास्तविक स्वरूप को जानकर (संसार से विमुख और परमात्मा के सम्मुख होकर) परमात्मा से अपनी अभिन्नता का अनुभव कर लेता है| परमात्मा से अभिन्नता का अनुभव होने में ही वेदों का वास्तविक तात्पर्य है| जो मनुष्य संसार से विमुख होकर परमात्म-तत्व से अपनी अभिन्नता (जो कि वास्तविकता है) का अनुभव कर लेता है, वही वास्तव में वेदवित् है| वेदों के अध्ययन मात्र से मनुष्य वेदों का विद्वान् तो हो सकता है, पर यथार्थ वेदवेत्ता नहीं| वेदों का अध्ययन न होने पर भी जिसको (संसार से सम्बन्ध विच्छेद पूर्वक) परमात्म-तत्व की अनुभूति हो गई है, वही वास्तव में वेदवेत्ता (वेदों के तात्पर्य को अनुभव में लाने वाला) है| भगवान् ने स्वयं को वेदवित् कहा है| यहाँ वह संसार के तत्व को जानने वाले पुरुष को वेदवित कहकर उससे अपनी एकता प्रकट करते हैं| इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य शरीर में मिले विवेक की इतनी महिमा है कि उससे जीव संसार के यथार्थ तत्व को जानकर भगवान् के सादृश्य वेदवेत्ता बन सकता है| परमात्मा का ही अंश होने के कारण जीव का एक मात्र वास्तविक सम्बन्ध परमात्मा से है| संसार से तो इसने भूल से अपना सम्बन्ध माना है, वास्तव में है नहीं| विवेक के द्वारा इस भूल को मिटाकर, अर्थात् संसार से माने हुए सम्बन्ध का त्याग करके एक मात्र अपने अंशी परमात्मा से अपनी स्वतः सिद्ध अभिन्नता का अनुभव करने वाला ही संसार-वृक्ष के यथार्थ तत्व को जानने वाला है और उसी को भगवान् यहाँ वेदवित् कहते हैं|

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ।।१५-२।।

हुईं प्रवृद्ध त्रिगुण सत रजस तमस भुज तरु-भुवन |
फैली हुईं नभ भू हैं पञ्च विषय इनके अंकुर नूतन ||
फैली अन्य मूल निम्न करें वह अनुसरण कर्म भुवन ||१५-२||

भावार्थ: *संसार-वृक्ष की शाखाएं त्रिगुण, सत रजस और तमस, से प्रवृद्ध हुईं भूमि (नीचे) और नभ (ऊपर) पर फैली हुईं हैं| पञ्च विषय इनके नूतन अंकुर हैं| पृथ्वी में कर्मों का अनुसरण करती हुई अन्य जड़ें नीचे फैली हुईं हैं|*

टीका: संसार-वृक्ष की मुख्य शाखा ब्रह्मा जी हैं| ब्रह्मा जी से सम्पूर्ण देव, मनुष्य, तिर्यक् आदि योनियों की उत्पत्ति और विस्तार हुआ है| इसलिये ब्रह्मलोक से पाताल लोक तक जितने भी लोक तथा उनमें रहने वाले देव, मनुष्य, कीट आदि प्राणी हैं, वह सभी संसार-वृक्ष की शाखाएँ हैं| जिस प्रकार जल सींचने से वृक्ष की शाखाएँ बढ़ती हैं, उसी प्रकार गुण रूप जल के संग से इस संसार-वृक्ष की शाखाएँ बढ़ती हैं| इसलिये भगवान् ने जीवात्मा के ऊँच, मध्य और नीच योनियों में जन्म लेने का कारण गुणों का संग ही बताया है| सम्पूर्ण सृष्टि में ऐसा कोई देश, वस्तु, व्यक्ति नहीं जो प्रकृति से उत्पन्न तीनों गुणों से रहित हो| इसलिये गुणों के सम्बन्ध से ही संसार की स्थिति है| गुणों की अनुभूति गुणों से उत्पन्न वृत्तियों तथा पदार्थों के द्वारा होती है| अतः वृत्तियों तथा पदार्थों से माने हुए सम्बन्ध का त्याग कराने के लिये ही भगवान् ने यहाँ यह बताया है कि जब तक गुणों से किंचित मात्र भी सम्बन्ध है, तब तक संसार-वृक्ष की शाखाएँ बढ़ती ही रहेंगी| अतः संसार-वृक्ष का छेदन करने के लिये गुणों का संग किंचित मात्र भी नहीं रखना चाहिए क्योंकि गुणों का संग रहते हुए संसार से सम्बन्ध विच्छेद नहीं हो सकता|

जिस प्रकार शाखा से निकलने वाली नई कोमल पत्ती के डंठल से लेकर पत्ती के अग्र भाग तक को कलि कहा जाता है, उसी प्रकार गुणों की वृत्तियों से लेकर दृश्य पदार्थ मात्र को यहाँ 'पञ्च विषय' कहा गया है| वृक्ष के मूल से तना (मुख्य शाखा), तने से शाखाएँ और शाखाओँ से कोंपलें फूटती हैं, और कोंपलों से शाखाएँ आगे बढ़ती हैं| इस संसार-वृक्ष में विषय चिन्तन ही कोंपलें हैं| विषय चिन्तन तीनों गुणों से होता है| जिस प्रकार गुण रूप जल से संसार-वृक्ष की

शाखाएँ बढ़ती हैं, उसी प्रकार गुण रूप जल से विषय रूप कोंपलें भी बढ़ती हैं| जैसे कोंपलें दिखती हैं, उनमें व्याप्त जल नहीं दिखता, ऐसे ही शब्दादि विषय तो दिखते हैं, पर उनमें गुण नहीं दिखते, अतः विषयों से ही गुण जाने जाते हैं| स्मरण रहे कि विषय चिन्तन करते हुए मनुष्य का संसार से सम्बन्ध विच्छेद नहीं हो सकता| अन्त काल में मनुष्य जिस भाव का चिन्तन करते हुए शरीर का त्याग करता है, उस भाव को ही प्राप्त होता है, यही विषय रूप कोंपलों का फूटना है|

कोंपलों की तरह विषय भी देखने में बहुत सुन्दर प्रतीत होते हैं, जिससे मनुष्य उनमें आकर्षित हो जाता है| साधक अपने विवेक से परिणाम पर विचार करते हुए इनको क्षण भंगुर, नाशवान् और दुःख रूप जानकर इन विषयों का सुगमता पूर्वक त्याग कर सकता है| विषयों में सौन्दर्य और आकर्षण अपने राग के कारण ही दिखता है, वास्तव में वह सुन्दर और आकर्षक नहीं हैं| इसलिये विषयों में राग का त्याग ही वास्तविक त्याग है| जैसे कोमल कोंपलों को नष्ट करने में कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता, ऐसे ही इन विषयों के त्याग में भी साधक को कठिनता नहीं माननी चाहिए| मन से आदर देने पर ही यह विषय रूप कोंपलें सुन्दर और आकर्षक दिखती हैं, वास्तव में तो यह विष युक्त भोजन के समान ही हैं| इसलिये इस संसार-वृक्ष का छेदन करने के लिये भोग, बुद्धि पूर्वक विषय चिन्तन एवं विषय सेवन का सर्वथा त्याग करना आवश्यक है|

नभ शब्द का तात्पर्य ब्रह्मलोक आदि से है, जिसमें जाने के दो मार्ग हैं, देवयान और पितृयान| निम्न शब्द का तात्पर्य नर्कों से है, जिसके भी दो भेद हैं, योनि विशेष नर्क और स्थान विशेष नर्क| इन शब्दों से यह कहा गया है कि नभ मूल परमात्मा से नीचे, संसार वृक्ष की शाखाएँ सर्वत्र फैली हुई हैं| इसमें मनुष्य योनि रूप शाखा ही मूल शाखा है क्योंकि मनुष्य योनि में नवीन कर्मों को करने का अधिकार है| अन्य शाखाएँ भोग योनियाँ हैं, जिनमें केवल पूर्वकृत कर्मों का फल भोगने का ही अधिकार है| इस मनुष्य योनि रूप मूल शाखा से मनुष्य नीचे (नर्क लोक) तथा ऊपर (देव लोक), दोनों ओर जा सकता है और संसार-वृक्ष का छेदन करके सबसे ऊपर (परमात्मा) तक भी जा सकता है| मनुष्य शरीर में ऐसा विवेक है, जिसको महत्व देकर जीव परम धाम तक पहुँच सकता है

और अविवेक पूर्वक विषयों का सेवन करके नर्कों में भी जा सकता है| इसलिये गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है,

नर्क स्वर्ग अपबर्ग निसेनी। ग्यान बिराग भगति सुभ देनी।।

मनुष्य के अतिरिक्त सभी योनियाँ भोग योनियाँ हैं| मनुष्य योनि में किए हुए पाप, पुण्य का फल भोगने के लिये ही मनुष्य को दूसरी योनियों में जाना पड़ता है| नए पाप, पुण्य करने का अथवा पाप, पुण्य से रहित होकर मुक्त होने का अधिकार और अवसर केवल मनुष्य शरीर में ही है|

यहाँ मूल शब्द का तात्पर्य तादात्म्य, ममता और कामना रूप मूल से है, वास्तविक उच्च मूल परमात्मा से नहीं| 'मैं शरीर हूँ', ऐसा मानना तादात्म्य है| शरीरादि पदार्थों को अपना मानना ममता है| पुत्रैषणा, वित्तैषणा, और लोकैषणा, यह तीन प्रकार की मुख्य कामनाएँ हैं| पुत्र, परिवार की कामना पुत्रैषणा और धन, सम्पत्ति की कामना वित्तैषणा है| संसार में मेरा मान-आदर हो, शरीर नीरोग रहे, मैं शास्त्रों का पण्डित बन जाऊँ, आदि अनेक कामनाएँ लोकैषणा के अन्तर्गत आती हैं| इतना ही नहीं कीर्ति की कामना मरने के बाद भी इस रूप में रहती है कि लोग मेरी प्रशंसा करते रहें, मेरा स्मारक बन जाए, मेरी स्मृति में पुस्तकें लिखी जाएं, आदि आदि| यद्यपि कामनाएँ प्रायः सभी योनियों में न्यूनाधिक रूप से रहती हैं, तथापि वह मनुष्य योनि में ही बाँधने वाली होती हैं| जब कामनाओं से प्रेरित होकर मनुष्य कर्म करता है, तब उन कर्मों के संस्कार उसके अन्तःकरण में संचित होकर भावी जन्म-मरण के कारण बन जाते हैं| मनुष्य योनि में किए हुए कर्मों का फल इस जन्म में तथा मरने के बाद भी अवश्य भोगना पड़ता है| अतः तादात्म्य, ममता और कामना के रहते हुए कर्मों से सम्बन्ध नहीं छूट सकता| यह नियम है कि जहां से बन्धन होता है, वहीं से छुटकारा भी होता है| जैसे रस्सी की गाँठ जहां लगी है, वहीं से वह खुलती भी है| मनुष्य योनि में ही जीव शुभाशुभ कर्मों से बँधता है, अतः मनुष्य योनि में ही वह मुक्त हो सकता है|

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ।।१५-३।।

जैसा रुप इस संसार-वृक्ष का करते हो निरूपन |
नहीं मिलता वैसा यदि करो विचार तुम अर्जुन ||
है नहीं इसका आदि अंत नहीं इसका कोई स्थापन |
काटो इस अश्वथ वृक्ष को शस्त्र निश्चित असलंग्न ||१५-३||

भावार्थ: *हे अर्जुन, तुम यदि विचार करो तो इस संसार-वृक्ष का स्वरूप जैसा देखने में आता है, वैसा मिलता नहीं है| इसका न आदि है, न अंत और न प्रतिष्ठा| इस अश्वत्थ वृक्ष को दृढ़ असंलग्न शस्त्र से काटो|*

टीका: पहले इस संसार-वृक्ष को अव्यय (अविनाशी) कहा गया है| शास्त्रों में भी वर्णन आता है कि सकाम अनुष्ठान करने से लोक, परलोक में विशाल भोग प्राप्त होते हैं| इन तथ्यों से मनुष्य लोक तथा स्वर्ग लोक में सुख, रमणीयता और स्थाई पन प्रकट होता है| इसी कारण अज्ञानी मनुष्य काम और भोग के परायण होते हैं| जब तक संसार से तादात्म्य, ममता और कामना का सम्बन्ध है, तब तक ऐसा ही प्रतीत होता है| परन्तु भगवान् कहते हैं कि विवेक बुद्धि से संसार से अलग होकर देखने पर, अर्थात् संसार से सम्बन्ध विच्छेद करके देखने से उसका जैसा रूप हमने अभी मान रखा है, वैसा नहीं दिखाई देता, अर्थात् यह नाशवान् और दुःख रूप दिखाई देता है|

किसी वस्तु के आदि, मध्य और अन्त का ज्ञान दो प्रकार से होता है, देशकृत और कालकृत| इस संसार का कहाँ से आरम्भ है, कहाँ मध्य है और कहाँ इसका अन्त होता है, यह देशकृत है| कब आरम्भ हुआ, कब तक रहेगा और कब इसका अन्त होगा, यह कालकृत है| जैसे मनुष्य किसी विशाल प्रदर्शनी में तरह तरह की वस्तुओं को देखकर मुग्ध हुआ घूमता रहे, तो वह उस प्रदर्शनी का आदि, अन्त नहीं जान सकता| उस प्रदर्शनी से बाहर निकलने पर ही वह उसके आदि, अन्त को जान सकता है| इसी तरह संसार से सम्बन्ध मानकर भोगों की तरफ वृत्ति रखते हुए इस संसार का आदि, अन्त कभी जानने में नहीं

आ सकता| मनुष्य के पास संसार के आदि, अन्त का पता लगाने के लिये जो साधन (इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि) हैं, वह सब संसार के ही अंश हैं| यह नियम है कि कार्य अपने कारण में विलीन तो हो सकता है, पर उसको जान नहीं सकता| जैसे मिट्टी का घड़ा पृथ्वी को अपने भीतर नहीं ला सकता, ऐसे ही व्यष्टि इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि संसार और उसके कार्य को अपनी जानकारी में नहीं ला सकते| संसार से (मन, बुद्धि, इन्द्रियों से भी) अलग होने पर संसार का स्वरूप (स्वयं के द्वारा) भली भांति जाना जा सकता है| वास्तव में संसार की स्वतन्त्र सत्ता (स्थिति) नहीं है| संसार केवल उत्पत्ति और विनाश का क्रम मात्र है| संसार का यह उत्पत्ति-विनाश का प्रवाह स्थिति रूप से प्रतीत होता है| वास्तव में देखा जाए तो उत्पत्ति नहीं है, केवल नाश ही नाश है| इसका स्वरूप एक क्षण भी स्थाई नहीं रहता| संसार से अपना माना हुआ सम्बन्ध छोड़ते ही उसका अन्त हो जाता है और प्राणी अपने वास्तविक स्वरूप अथवा परमात्मा में स्थिति हो जाता है|

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यम् यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ।।१५-४।।

करो खोज उस सत्य को पाओ जिससे निर्मोचन |
करो अनुभव हूँ मैं शरण आदि हरि कर्ता सृजन ||१५-४||

भावार्थ: *उस सत्य की खोज करो जिससे मोक्ष मिले| ऐसा अनुभव करो कि मैं सृजन कर्ता आदि परमात्मा की शरण में हूँ|*

टीका: भगवान् ने संसार से सम्बन्ध विच्छेद करने को कहा है| इससे यह सिद्ध होता है कि परमात्मा की खोज करने से पहले संसार से सम्बन्ध विच्छेद करना बहुत आवश्यक है| इसका कारण है कि परमात्मा तो सम्पूर्ण देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदि में ज्यों के त्यों विद्यमान हैं, केवल संसार से अपना सम्बन्ध मानने के कारण ही नित्य प्राप्त परमात्मा के अनुभव में बाधा होती है| संसार से सम्बन्ध बना रहने से परमात्मा की खोज करने में कठिनाई होती है| ऐसी स्थिति में जप, कीर्तन, स्वाध्याय आदि सब कुछ करने पर भी

विशेष लाभ नहीं दिखाई देता| इसलिये साधक को पहले संसार से सम्बन्ध विच्छेद करने को ही मुख्यता देनी चाहिए|

जीव परमात्मा का ही अंश है| संसार से सम्बन्ध मान लेने के कारण ही वह अपने अंशी (परमात्मा) के नित्य सम्बन्ध को भूल गया है| अतः भूल मिटने पर 'मैं भगवान् का ही हूँ', इस वास्तविकता की स्मृति प्राप्त हो जाती है| इसीलिए भगवान् कहते हैं कि उस परम पद (परमात्मा) से नित्य सम्बन्ध पहले से ही विद्यमान है, केवल उसकी खोज करनी है|

संसार को अपना मानने से नित्य प्राप्त परमात्मा अप्राप्त दिखने लग जाता है और अप्राप्त संसार प्राप्त दिखने लग जाता है| इसलिये भगवान् कहते हैं कि जो परमात्मा नित्य प्राप्त है, उसी की पूरी तरह खोज करनी है| खोज उसी की होती है जिसका अस्तित्व पहले से ही होता है| परमात्मा अनादि और सर्वत्र परिपूर्ण हैं| अतः यहाँ खोज करने का अर्थ यह नहीं है कि किसी साधन विशेष के द्वारा परमात्मा को ढूँढ़ना है| जो संसार (शरीर, परिवार, धनादि) कभी अपना था नहीं, है नहीं, होगा नहीं, उसका आश्रय न लेकर, जो परमात्मा सदा से ही अपने हैं, अपने में हैं और अपने में स्थित हैं, उनका आश्रय लेना ही उनकी खोज करना है|

साधक को साधना, भजन करना तो बहुत आवश्यक है क्योंकि इसके समान कोई उत्तम काम नहीं है किंतु परमात्म-तत्व को साधना, भजन के द्वारा प्राप्त कर लेंगे, ऐसा मानना उचित नहीं क्योंकि ऐसा मानने से अभिमान बढ़ता है जो परमात्म-तत्व की प्राप्ति में बाधक है| परमात्मा कृपा से मिलते हैं| उनको किसी साधन से खरीदा नहीं जा सकता| साधन से केवल असाधन (संसार से तादात्म्य, ममता और कामना का सम्बन्ध अथवा परमात्मा से विमुखता) का नाश होता है, जो अपने द्वारा ही किया हुआ है| अतः साधन का महत्व असाधन को मिटाने में ही समझना चाहिए| असाधन को मिटाने की सच्ची लगन हो तो असाधन को मिटाने का बल भी परमात्मा की कृपा से मिल जाता है|

साधकों के अन्तःकरण में प्रायः एक दृढ़ धारणा बनी हुई है कि जैसे उद्योग करने से संसार के पदार्थ प्राप्त होते हैं, ऐसे ही साधना करते करते (अन्तःकरण शुद्ध होने पर) ही परमात्मा की प्राप्ति होती है| परन्तु वास्तव में यह बात नहीं है क्योंकि परमात्म-तत्व की प्राप्ति किसी भी कर्म (साधना, तपस्यादि) का फल नहीं है, चाहे वह कर्म कितना ही श्रेष्ठ क्यों न हो| इसका कारण है कि श्रेष्ठ कर्म का भी आरम्भ और अन्त होता है अतः उस कर्म का फल नित्य नहीं होगा अपितु आदि और अन्त वाला होगा| इसलिये नित्य परमात्म-तत्व की प्राप्ति किसी कर्म से नहीं होती| वास्तव में त्याग, तपस्या आदि से जड़ता (संसार और शरीर) से सम्बन्ध विच्छेद ही होता है, जो भूल से माना हुआ है| सम्बन्ध विच्छेद होते ही जो तत्व सर्वत्र है, सदा है, नित्य प्राप्त है, उसकी अनुभूति हो जाती है, उसकी स्मृति जाग्रत् हो जाती है|

स्मरण रहे कि संसार की स्मृति और परमात्मा की स्मृति में बहुत अन्तर है। संसार की स्मृति के बाद विस्मृति का होना सम्भव है, जैसे पक्षाघात (लकवा) होने पर पढ़ी हुई विद्या की विस्मृति होना सम्भव है| इसके विपरीत परमात्मा की स्मृति एक बार हो जाने पर फिर कभी विस्मृति नहीं होती| पक्षाघात होने पर अपनी सत्ता (मैं हूँ) की विस्मृति नहीं होती| इसका कारण यह है कि संसार के साथ कभी सम्बन्ध नहीं होता और परमात्मा से कभी सम्बन्ध नहीं छूटता| 'संसार से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है', इस तत्व का अनुभव करना ही संसार-वृक्ष का छेदन करना है, और 'मैं परमात्मा का अंश हूँ', इस वास्तविकता में सदैव स्थित रहना ही परमात्मा की खोज करना है| वास्तव में संसार से सम्बन्ध विच्छेद होते ही नित्य प्राप्त परमात्म-तत्व की अनुभूति हो जाती है|

जैसे जल की बूँदे समुद्र में मिल जाने के बाद पुनः समुद्र से अलग नहीं हो सकती, ऐसे ही परमात्मा का अंश (जीवात्मा) परमात्मा को प्राप्त हो जाने के बाद फिर परमात्मा से अलग नहीं हो सकता, अर्थात् पुनः लौटकर संसार में नहीं आ सकता| ऊँच, नीच योनियों में जन्म लेने का कारण प्रकृति अथवा उसके कार्य गुणों का संग ही है| अतः जब साधक असंग शस्त्र के द्वारा गुणों के संग का सर्वथा छेदन (असत्य के साथ सम्बन्ध का सर्वथा त्याग) कर देता है, तब उसका जन्म नहीं होता, अर्थात मोक्ष प्राप्त कर लेता है|

सम्पूर्ण सृष्टि के रचयिता एक परमात्मा ही हैं| वह ही इस संसार के आश्रय और प्रकाशक हैं| मनुष्य भ्रमवश सांसारिक पदार्थों में सुखों को देखकर संसार की ओर आकर्षित हो जाता है और संसार के रचयिता (परमात्मा) को भूल जाता है| परमात्मा का रचा हुआ संसार जब इतना प्रिय है, तब (संसार के रचयिता) परमात्मा कितने प्रिय होंगे, इसका अनुभव करना चाहिए| यद्यपि रची हुई वस्तु में आकर्षण का होना एक प्रकार से रचयिता का ही आकर्षण है, तथापि मनुष्य अज्ञानवश उस आकर्षण में परमात्मा को कारण न मानकर संसार को ही कारण मान लेता है, और उसी में फँस जाता है|

प्राणी का यह स्वभाव है कि वह उसी का आश्रय लेना चाहता है और उसी की प्राप्ति में जीवन लगा देना चाहता है जिसको वह सबसे बढ़कर मानता है, अथवा जिससे उसे कुछ प्राप्त होने की आशा रहती है| जैसे संसार में लोग धन प्राप्त करने में और संग्रह करने में बड़ी तत्परता से लगते हैं, क्योंकि उनको धन से सम्पूर्ण मनचाही वस्तुओं के मिलने की आशा रहती है| वह सोचते हैं कि शरीर के निर्वाह की वस्तुएँ धन से ही मिलती हैं| अनेक तरह के भोग, आराम के साधन भी धन से प्राप्त होते हैं| इसलिये 'धन मिलने पर मैं सुखी हो जाऊँगा तथा लोग मुझे धनी मान कर मेरा मान, आदर करेंगे,' ऐसा भाव होने पर वह धन को सर्वोपरि मान लेता है| तब लोभ के कारण अन्याय, पाप की भी परवाह नहीं करता हुआ वह धन अर्जन में लग जाता है| यहाँ तक कि वह शरीर के आराम की भी उपेक्षा करके धन कमाने तथा संग्रह करने में ही तत्पर रहता है| उसकी दृष्टि में धन से बढ़कर कुछ नहीं रहता| इसी प्रकार जब साधक को यह ज्ञात हो जाता है कि परमात्मा से बढ़कर कुछ भी नहीं है और उनकी प्राप्ति में ऐसा आनन्द है जहां संसार के सब सुख कम पड़ जाते हैं, तब वह परमात्मा को ही प्राप्त करने के लिये तत्परता से लग जाता है|

जिसका कोई आदि नहीं है, किन्तु जो सब का आदि है, उस आदि परमात्मा का ही आश्रय (सहारा) लेना चाहिए| परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कोई भी आश्रय टिकने वाला नहीं है| अन्य का आश्रय वास्तव में आश्रय नहीं है, प्रत्युत वह आश्रय लेने वाले का ही नाश (पतन) करने वाला है| जैसे समुद्र में डूबते हुए व्यक्ति के लिये मगरमच्छ का आश्रय| इस मृत्यु रूपी संसार-सागर के सभी

आश्रय मगरमच्छ के आश्रय की तरह ही हैं| अतः मनुष्य को विनाशी संसार का आश्रय न लेकर अविनाशी परमात्मा का ही आश्रय लेना चाहिए|

जब साधक अपना पूरा बल लगाने पर भी दोषों को दूर करने में सफल नहीं होता, तब वह अपने बल से स्वतः निराश हो जाता है| ठीक ऐसे समय पर यदि वह (अपने बल से सर्वथा निराश होकर) एक मात्र भगवान् का आश्रय ले लेता है, तो भगवान् की कृपा शक्ति से उसके दोष निश्चित रूप से नष्ट हो जाते हैं और भगवत् प्राप्ति हो जाती है| इसलिये साधक को भगवत् प्राप्ति से कभी निराश नहीं होना चाहिए| भगवान् की शरण लेकर निर्भय और निश्चिन्त हो जाना चाहिए| भगवान् के शरण होने पर उनकी कृपा से विघ्नों का नाश और भगवत् प्राप्ति, दोनों की सिद्धि हो जाती है|

साधक को जैसे संसार के संग का त्याग करना है, ऐसे ही 'असंगता' के संग का भी त्याग करना है| इसका कारण है कि असंग होने के बाद भी साधक में 'मैं असंग हूँ', ऐसा सूक्ष्म अहं भाव (परिच्छिन्नता) रह सकता है, जो परमात्मा के शरण होने पर ही सुगमता पूर्वक मिट सकता है| परमात्मा के शरण होने का तात्पर्य है कि अपने कहलाने वाले शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहम् (मैंपन), धन, परिवार, मकान आदि सब पदार्थों को परमात्मा के अर्पण कर देना, अर्थात् उन पदार्थों से अपनापन सर्वथा मिटा लेना|

शरणागत भक्त में दो भाव रहते हैं, 'मैं भगवान् का हूँ' या 'भगवान् मेरे हैं'| इन दोनों में भी 'मैं भगवान् का हूँ और भगवान् के लिये हूँ', यह भाव अधिक उत्तम है| इसका कारण है कि 'भगवान् मेरे हैं और मेरे लिये हैं', इस भाव में अपने लिये भगवान् से कुछ इच्छा रहती है, अतः साधक भगवान् से अपनी इच्छा पूर्ण कराने की विनती करेगा| परन्तु 'मैं भगवान् का हूँ और भगवान् के लिये हूँ', इस भाव में केवल भगवान् की इच्छा ही होगी| इस प्रकार साधक में अपने लिये कुछ भी करने और पाने का भाव न रहना ही वास्तव में अनन्य शरणागति है| इस अनन्य शरणागति से उसका भगवान् के प्रति वह अनिर्वचनीय और अलौकिक प्रेम जाग्रत् हो जाता है जो क्षति, पूर्ति और निवृत्ति से रहित है, जिसमें अपने प्रिय के मिलने पर भी तृप्ति नहीं होती और वियोग में भी अभाव नहीं

होता, जो प्रतिक्षण बढ़ता रहता है, जिसमें असीम, अपार आनन्द है, जिससे आनन्ददाता भगवान् को भी आनन्द मिलता है| तत्व-ज्ञान होने के बाद जो प्रेम प्राप्त होता है, वही प्रेम अनन्य शरणागति से भी प्राप्त हो जाता है|

सब आश्रयों का त्याग करके एक मात्र भगवान् का ही आश्रय लें| यह भाव रखें कि परमात्मा हैं और मैं उनकी परमात्म-तत्व की सत्ता में विद्यमान हूँ| जब तक स्वयं के साथ बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ, शरीर आदि का सम्बन्ध मानते हुए 'मैंपन' बना हुआ है, तब तक व्यभिचार दोष होने के कारण अनन्य शरणागति नहीं है||

परमात्मा का अंश होने के कारण जीव वास्तव में सदा परमात्मा के ही आश्रित रहता है, परन्तु परमात्मा से विमुख होने के बाद (आश्रय लेने का स्वभाव न छूटने के कारण) वह भूल से नाशवान् संसार का आश्रय लेने लगता है, जो कभी टिकता नहीं| अतः वह दुःख पाता रहता है| इसलिये साधक को चाहिए कि वह परमात्मा से अपने वास्तविक सम्बन्ध को पहचान कर एक मात्र परमात्मा के शरण हो जाए|

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ।।१५-५।।

रहित मान मोह आसक्ति जीत सकें जो दोष अर्जुन |
सम विदुर हो रहित कामना द्वंद्व सुख दुःख भूजन ||
करें ध्यान नित्य अचल हरि पाएं वह अव्यय भगवन ||१५-५||

भावार्थ: *हे अर्जुन, जिन पुरुषों ने मान, मोह, आसक्ति से रहित होकर दोषों पर विजय प्राप्त कर ली है, जो (महात्मा) विदुर के समान इच्छा, सुख, दुःख, द्वंद्व से रहित हैं, जो नित्य निरन्तर प्रभु का ध्यान करते हैं, उन्हें अविनाशी भगवान् की प्राप्ति हो जाती है|*

टीका: शरीर में मैं और मेरापन होने से ही मान, आदर की इच्छा होती है| शरीर से अपना सम्बन्ध मानने के कारण ही मनुष्य शरीर के मान, आदर को भूल से स्वयं का मान, आदर मान लेता है| जिन भक्तों का केवल भगवान् में ही अपनापन होता है, उनका शरीर से मैं और मेरापन नहीं रहता, अतः वह शरीर के मान, आदर से प्रसन्न नहीं होते| एक मात्र भगवान् के शरण होने पर उनका शरीर से मोह नहीं रहता, फिर मान, आदर की इच्छा उनमें नहीं होती| केवल भगवान् प्राप्ति का ही उद्देश्य, ध्येय होने से और केवल भगवान् के ही शरण, परायण रहने से वह भक्त संसार से विमुख हो जाते हैं| अतः उनमें संसार का मोह नहीं रहता|

संसार में आकर्षण होना आसक्ति कहलाती है| ममता, स्पृहा, वासना, आशा आदि दोष आसक्ति के कारण ही होते हैं| केवल भगवान् के ही परायण होने के कारण भक्तों की सांसारिक भोगों में आसक्ति नहीं रहती| आसक्ति न रहने के कारण भक्त आसक्ति से होने वाले ममता आदि दोषों को जीत लेते हैं| आसक्ति प्राप्त और अप्राप्त, दोनों की होती है किन्तु कामना अप्राप्त की ही होती है|

केवल भगवान् के ही शरण रहने से भक्तों की अहंता बदल जाती है| 'मैं भगवान् का हूँ और भगवान् मेरे हैं, मैं संसार का नहीं हूँ, और संसार मेरा नहीं है', इस प्रकार अहंता बदलने से उनकी स्थिति निरन्तर भगवान् में ही रहती है| इसका कारण है कि मनुष्य की जैसी अहंता होती है, उसकी स्थिति वहां ही होती है| जैसे मनुष्य जन्म के अनुसार अपने को ब्राह्मण मानता है, तो उसकी ब्राह्मणपन की मान्यता नित्य निरन्तर रहती है अर्थात् वह नित्य निरन्तर ब्राह्मणपन में स्थित रहता है| ऐसे ही जो भक्त अपन सम्बन्ध केवल भगवान् के साथ ही मानते हैं, वह नित्य निरन्तर भगवान् में ही स्थित रहते हैं|

संसार का ध्येय, लक्ष्य रहने से ही संसार की वस्तु, परिस्थिति आदि की कामना होती है, अर्थात् अमुक वस्तु, व्यक्ति आदि मुझे मिल जाए इस तरह अप्राप्त की कामना होती है| परन्तु जिन भक्तों का सांसारिक वस्तु आदि को प्राप्त करने का उद्देश्य नहीं है, वह कामनाओं से सर्वथा रहित हो जाते हैं| शरीर में ममता

होने से कामना पैदा हो जाती है, जैसे मेरा शरीर स्वस्थ्य रहे, हृष्ट-पुष्ट रहे, आदि| इसी से सांसारिक धन, पदार्थ, मकान आदि की अनके कामनाएँ पैदा होती हैं| शरीर आदि में ममता न रहने से भक्तों की कामनाएँ मिट जाती हैं| भक्तों का यह अनुभव होता है कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहम् (मैंपन), यह सभी भगवान् के ही हैं। भगवान् के अतिरिक्त उनका अपना कुछ नहीं होता| ऐसे भक्तों की सम्पूर्ण कामनाएँ विशेष और निःशेष रूप से नष्ट हो जाती हैं|

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।।१५-६।।

न कर सकें प्रकाशित सोम रवि अग्नि परम पद भगवन |
पाए जो मेरा परम धाम हो मुक्त वह जन्म-मरण बंधन ||१५-६||

भावार्थ: *हे अर्जुन, भगवान् के परम पद को सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि प्रकाशित नहीं कर सकते| मेरे (भगवान् के) परम धाम को जो पा जाता है, वह जन्म-मरण के बंधन से मुक्त हो जाता है (अर्थात मनुष्य योनि का लक्ष्य मोक्ष पा जाता है)|*

टीका: भगवान् यहां बताते हैं कि अविनाशी पद मेरा ही धाम है जो मेरे से अभिन्न है| जीव मेरा अंश होने के कारण मेरे से अभिन्न है| अतः जीव की भी उस धाम (अविनाशी पद) से अभिन्नता है, अर्थात् वह उस धाम को नित्य प्राप्त है| भगवान् ने यहां दो विशेष बातें बताई हैं, (१) उस धाम को सूर्यादि प्रकाशित नहीं कर सकते और (२) उस धाम को प्राप्त हुए जीव पुनः लौटकर संसार में नहीं आते|

दृश्य जगत् में सूर्य के समान तेजस्वी, प्रकाश स्वरूप कोई वस्तु नहीं है| वह सूर्य भी उस परम धाम को प्रकाशित करने में असमर्थ है फिर सूर्य से प्रकाशित होने वाले चन्द्र और अग्नि उसे प्रकाशित कैसे कर सकते हैं? प्रभु ने पहले कहा है कि सूर्य, चन्द्र और अग्नि में उन्हीं का तेज है| उन्हीं का प्रकाश पाकर यह भौतिक जगत् को प्रकाशित करते हैं| अतः जो उस परमात्म-तत्व से प्रकाश

पाते हैं, उनके द्वारा परमात्म-स्वरूप परम धाम कैसे प्रकाशित हो सकता? इसका तात्पर्य यह है कि परमात्म-तत्व चेतन है, और सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि जड़ (प्राकृत) हैं| यह सूर्य, चन्द्र और अग्नि क्रमशः नेत्र, मन और वाणी को प्रकाशित करते हैं| यह तीनों (नेत्र, मन और वाणी) भी जड़ ही हैं| इसलिये नेत्रों से उस परमात्म-तत्व को देखा नहीं जा सकता, मन से उसका चिन्तन नहीं किया जा सकता और वाणी से उसका वर्णन नहीं किया जा सकता क्योंकि जड़ तत्व से चेतन परमात्म-तत्व की अनुभूति नहीं हो सकती| वह चेतन (प्रकाशक) तत्व इन सभी प्रकाशित पदार्थों में सदा परिपूर्ण है| उस तत्व में अपने प्रकाश का अभिमान नहीं है| चेतन जीवात्मा भी परमात्मा का अंश होने के कारण स्वयं प्रकाश स्वरूप है अतः उसको भी जड़ पदार्थ (मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि) प्रकाशित नहीं कर सकते| मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि जड़ पदार्थों का उपयोग (भगवान् के माध्यम से दूसरों की सेवा करके) केवल जड़ता से सम्बन्ध विच्छेद करने में ही है|

यहां यह ध्यान देने योग्य है कि सूर्य को भगवान् या देव की दृष्टि से न देखकर केवल प्रकाश करने वाले पदार्थ की दृष्टि से ही देखा गया है| जिस प्रकार भगवान् ने कहा कि वृष्णिवंशियों में मैं वासुदेव हूँ, तो वहां वासुदेव का भगवान् के रूप से वर्णन नहीं, प्रत्युत वृष्णिवंश के श्रेष्ठ पुरुष के रूप से वर्णन है| उसी प्रकार यहां सूर्य, चंद्र, अग्नि आदि का केवल प्रकाश देने वाले पदार्थों के रूप में ही वर्णन है|

जीव परमात्मा का अंश है| वह जब तक अपने अंशी परमात्मा को प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक उसका आवागमन नहीं मिट सकता| जैसे नदियों के जल को अपने अंशी समुद्र से मिलने पर ही स्थिरता मिलती है, ऐसे ही जीव को अपने अंशी परमात्मा से मिलने पर ही वास्तविक, स्थाई शान्ति मिलती है| वास्तव में जीव परमात्मा से अभिन्न है, पर संसार के (माने हुए) संग के कारण उसको ऊँच, नीच योनियों में जन्म लेना पड़ता है| यहाँ परम धाम शब्द परमात्मा का धाम और परमात्मा, दोनों का ही वाचक है| यह परम धाम प्रकाश स्वरूप है| जैसे सूर्य अपने स्थान विशेष पर भी स्थित है और प्रकाश रूप से सब जगह स्थित है, अर्थात् सूर्य और उसका प्रकाश परस्पर अभिन्न हैं, ऐसे ही परम धाम

और सर्वव्यापी परमात्मा भी परस्पर अभिन्न हैं| भक्तों की भिन्न भिन्न मान्यताओं के कारण ब्रह्मलोक, साकेत धाम, गोलोक धाम, देव, देवी लोक, शिव लोक आदि सब एक ही परम धाम के भिन्न भिन्न नाम हैं| यह परम धाम चेतन, ज्ञान स्वरूप, प्रकाश स्वरूप और परमात्म स्वरूप हैं| यह अविनाशी परम पद आत्म रूप से सब में समान रूप से अनुस्यूत (व्याप्त) है| अतः स्वरूप से हम उस परम पद में स्थित हैं परन्तु जड़ता (शरीर आदि) से तादात्म्य, ममता और कामना के कारण हमें उसकी प्राप्ति अथवा उसमें अपनी स्वाभाविक स्थिति का अनुभव नहीं हो रहा है|

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ।।१५-७।।

यद्यपि है जीव जग में मेरा सनातन अंश अर्जुन |
पर स्थित प्रकृति करे आकर्षित पंचेन्द्रिय व् मन ||१५-७||

भावार्थ: *हे अर्जुन, यद्यपि जीव जग में मेरा ही सनातन अंश है, परन्तु प्रकृति में स्थित हुआ वह पाँचो इन्द्रियों तथा मन को आकर्षित करता है|*

टीका: जिन के साथ जीव की तात्त्विक अथवा स्वरूप की एकता नहीं है, ऐसे प्रकृति और प्रकृति के कार्य का नाम जग है| सम्पूर्ण लोकों को यहां जग से प्रभु ने सम्बोधित किया है| प्रभु कहते हैं कि यद्यपि जीव परमात्मा का अंश है परन्तु प्रकृति के कार्य शरीर, इन्द्रियाँ, प्राण, मन आदि के साथ अपनी एकता मानकर वह जीव हो गया है| उसका यह जीव होना कृत्रिम है, वास्तविक नहीं| जिस प्रकार नाटक में कोई पात्र बनने के कारण कलाकार वह पात्र नहीं बन जाता, उसी प्रकार जीव का १४ भुवनों, त्रिलोकों आदि में जन्म लेने से वह वास्तविकता में उस शरीर में नहीं ढल जाता, अपितु मेरा ही अंग रहता है|

भगवान् ने पहले कहा है कि इस सम्पूर्ण जगत् को मेरी जीव-भूत परा-प्रकृति ने धारण कर रखा है, अर्थात् अपरा-प्रकृति (संसार) से वास्तविक सम्बन्ध न होने पर भी जीव ने उससे अपना सम्बन्ध मान रखा है| भगवान् जीव के प्रति

अति आत्मीयता रखते हैं| वह उसको अपना ही मानते हैं, 'ममैवांशः'| उनकी यह आत्मीयता महान् हितकारी, अखण्ड रहने वाली और स्वतः सिद्ध है| यहाँ भगवान् यह वास्तविकता प्रकट करते हैं कि जीव केवल मेरा ही अंश है, इसमें प्रकृति का किंचित मात्र भी अंश नहीं है| जैसे सिंह का बच्चा भेड़ों में मिलकर अपने को भेड़ मान ले, ऐसे ही जीव शरीरादि जड़ पदार्थों के साथ मिलकर अपने सत्य चेतन स्वरूप को भूल जाता है| अतः इस भूल को मिटाकर उसे अपने को सदा सर्वथा चेतन स्वरूप का ही अनुभव करना चाहिए| जिस प्रकार सिंह का बच्चा भेड़ों के साथ मिलकर भेड़ नहीं हो जाता, उसी प्रकार भगवान् यहाँ जीव को बोध कराते हैं कि हे जीव, तू मेरा ही अंश है| प्रकृति के साथ तेरा सम्बन्ध कभी नहीं हुआ, न होगा, न हो सकता है| भगवत् प्राप्ति के सभी साधनों में अहंता (मैंपन) और ममता (मेरापन) का परिवर्तन रूप साधन बहुत सुगम और श्रेष्ठ है| अहंता और ममता, दोनों में साधक की जैसी मान्यता होती है, उसके अनुसार उसका भाव तथा क्रिया भी स्वतः होती है| साधक की अहंता होनी चाहिए कि 'मैं भगवान् का हूँ' और ममता होनी चाहिए कि 'भगवान् मेरे हैं'| ऐसा अनुभव है कि हम अपने को जिस वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदि का मानते हैं, उसी के अनुसार हमारा जीवन बनता है| पर यह मान्यता (जैसे कि मैं ब्राह्मण हूँ, मैं साधु हूँ आदि) केवल (स्वाँग की तरह) कर्तव्य पालन के लिये ही होनी चाहिए क्योंकि यह सदा रहने वाली नहीं है| 'मैं भगवान् का हूँ', यह वास्तविकता सदा रहनी चाहिए| 'मैं ब्राह्मण हूँ, मैं साधु हूँ', आदि भाव कभी हम से ऐसा नहीं कहते कि तुम ब्राह्मण हो या तुम साधु हो| इसी प्रकार मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर, धन, भूमि, गृह, मकान आदि जिन पदार्थों को हम भूल से अपना मान रहे हैं, वह हमें कभी भी ऐसा नहीं कहते कि तुम हमारे हो, पर सम्पूर्ण सृष्टि के रचयिता परमात्मा स्पष्ट घोषणा करते हैं कि जीव मेरा ही है| विचार करना चाहिए कि शरीरादि पदार्थों को हम अपने साथ नहीं लाये, न ही हम अपनी इच्छानुसार उसमें परिवर्तन कर सकते हैं, न ही अपनी इच्छानुसार उनको अपने पास स्थिर रख सकते हैं, हम कभी उनके साथ सदा नहीं रह सकते, उनको अपने साथ नहीं ले जा सकते, फिर भी हम उनको अपना मानते हैं| यह हमारी कितनी बड़ी भूल है| बचपन में हमारे मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर जैसे थे, वैसे समय के साथ अब नहीं हैं, यह बदल गए हैं, परन्तु हम स्वयं ऐसे ही हैं| इसका कारण है कि शरीरादि में परिवर्तन होने पर भी हम में परिवर्तन

नहीं हुआ| शरीरादि में अवश्य हमें स्पष्ट परिवर्तन दिखता है, परन्तु स्वयं परिवर्तन-रहित हैं| अतः संसार के पदार्थ, व्यक्ति हमारे साथी नहीं हैं| 'मैं भगवान् का हूँ', ऐसा भाव रख अपने आपको भगवान् में हमें लगाना है| साधकों से भूल यही होती है कि वह अपने आपको भगवान् में न लगाकर मन, बुद्धि को भगवान् में लगाने का प्रयास करते हैं| 'मैं भगवान् का हूँ', इस वास्तविकता को भूलकर 'मैं ब्राह्मण हूँ, मैं साधु हूँ,' आदि मानते रहें और मन, बुद्धि को भगवान् में लगाते रहें तो यह दुविधा कभी नहीं मिटेगी| बहुत प्रयत्न करने पर भी मन, बुद्धि जैसे भगवान् में लगनी चाहिए, वैसे नहीं लगेंगी| 'मैं परमात्मा के शरण हूँ', भाव से अपने आपको परमात्मा में लगा देना चाहिए| गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं कि पहले भगवान का होकर फिर नाम, जप आदि साधन करें तो अनेक जन्मों की बिगड़ी हुई स्थिति अभी आज ही सुधर सकती है:

बिगरी जनम अनेक की सुधरै अबहीं आजु|
होहि राम को नाम जपु तुलसी तजि कुसमाजु ||

इसका तात्पर्य यह है कि भगवान् में केवल मन, बुद्धि लगाने की अपेक्षा अपने आपको भगवान् में लगाना श्रेष्ठ है| अपने आपको भगवान् में लगाने से मन, बुद्धि स्वतः सुगमता पूर्वक भगवान् में लग जाते हैं| नाटक का पात्र सहस्त्रों दर्शकों के सामने यह कहता है कि मैं अमुक पात्र हूँ और उसी पात्र की तरह ही वह बाहरी सब क्रियाएँ करता है, परन्तु उसके भीतर यह भाव सदैव रहता है कि यह तो स्वाँग है, वास्तव में मैं हूँ, यह पात्र नहीं| इसी तरह साधकों को भी स्वाँग की तरह इस संसार रूपी नाट्यशाला में अपने अपने कर्तव्य का पालन करते हुए भीतर से ''मैं तो भगवान् का हूँ', ऐसा भाव सदैव जाग्रत् रखना चाहिए| जीव सदा से ही भगवान् का सनातन अंश है| भगवान् ने न तो कभी जीव का त्याग किया और न कभी उससे विमुख ही हुए| जीव भी भगवान् का त्याग नहीं कर सकता| भगवान् के द्वारा मिली हुई स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करके वह भगवान् से विमुख हुआ है| जिस प्रकार सोने का आभूषण तत्वतः सोने से अलग नहीं हो सकता, उसी प्रकार जीव भी तत्वतः परमात्मा से कभी अलग नहीं हो सकता| बुद्धिमान् कहलाने वाले मनुष्य की यह बहुत बड़ी भूल

है कि वह अपने अंशी भगवान् से विमुख हो रहा है| वह इधर ध्यान ही नहीं देता कि भगवान् इतने सुहृद् (दयालु और प्रेमी) हैं कि हमारे न चाहने पर भी वह हमें चाहते हैं, न जानने पर भी वह हमें जानते हैं| वह कितने उदार, दयालु और प्रेमी हैं, इसका वर्णन भाषा, भाव, बुद्धि आदि के द्वारा नहीं हो सकता| ऐसे सुहृद् भगवान् को छोड़कर अन्य नाशवान् जड़ पदार्थों को अपना मानना बुद्धिमानी नहीं, प्रत्युत महान् मूर्खता है| मनुष्य भगवान् के आज्ञानुसार अपने कर्तव्य का पालन करता है तब वह उसकी इतनी उन्नति कर देते हैं कि जीवन सफल हो जाता है, और जन्म-मरण रूप बन्धन सदा के लिये मिट जाता है| जब मनुष्य भूल से कोई निषिद्ध आचरण (पाप) कर बैठता है, तब वह दुःखों को भेजकर उसको चेताते हैं, पुराने पापों को नष्ट कर उसको शुद्ध करते हैं और नए पापों की प्रवृत्ति से रोकते हैं|

जीव कहीं भी क्यों न हो, नर्क में हो अथवा स्वर्ग में, मनुष्य योनि में हो अथवा पशु योनि में, भगवान् उसको अपना ही अंश मानते हैं| यह उनकी कितनी अहैतु की कृपा, उदारता और महत्ता है| जीव के पतन को देखकर भगवान् दुःखी होकर कहते हैं कि मेरे पास आने का उसका पूरा अधिकार था पर वह मुझ को प्राप्त किए बिना नर्कों में जा रहा है| मनुष्य चाहे किसी भी स्थिति में क्यों न हो, भगवान् उसे वहां स्थिर नहीं रहने देते, उसे अपनी ओर खींचते ही रहते हैं| जब हमारी सामान्य स्थिति में कुछ भी परिवर्तन (सुख-दुःख, आदर-निरादर आदि) हो, तब यह मानना चाहिए कि भगवान् हमें विशेष रूप से याद करके नई परिस्थिति पैदा कर रहे हैं, हमें अपनी ओर खींच रहे हैं| ऐसा मानकर साधक प्रत्येक परिस्थिति में विशेष भगवत् कृपा को देखकर आनंदित रहे, और भगवान् को कभी नहीं भूले| अंशी को प्राप्त करने में अंश को कठिनाई और देरी नहीं लगती| कठिनाई और देरी इसलिये लगती है कि अंश ने अपने अंशी से विमुखता मानकर उन शरीरादि को अपना मान रखा है जो अपने नहीं हैं| अतः भगवान् के सम्मुख होते ही उनकी प्राप्ति स्वतः सिद्ध है| सम्मुख होना जीव का काम है क्योंकि जीव ही भगवान् से विमुख हुआ है| भगवान् तो जीव को अपना मानते हैं, जीव भगवान् को अपना मान ले, यही सम्मुखता है| मनुष्य से यह बड़ी भूल हो रही है कि जो व्यक्ति, वस्तु, परिस्थिति अभी नहीं है अथवा जिसका मिलना निश्चित भी नहीं है और जो मिलने पर भी सदा नहीं रहेगी,

उसकी प्राप्ति में वह अपना पूर्ण पुरुषार्थ और उन्नति मानता है| यह मनुष्य का अपने साथ बड़ा भारी धोखा है| वास्तव में जो नित्य प्राप्त और अपना है, उस परमात्मा को प्राप्त करना ही मनुष्य का परम पुरुषार्थ है, शूरवीरता है| हम धन, सम्पत्ति आदि सांसारिक पदार्थ कितने ही क्यों न प्राप्त कर लें, अन्त में या तो वह नहीं रहेंगे अथवा हम नहीं रहेंगे| अन्त में 'नहीं' ही शेष रहेगा| वास्तव में जो सदा है, उस (अविनाशी परमात्मा) को प्राप्त कर लेने में ही शूरवीरता है| जो नहीं है, उसको प्राप्त करने में कोई शूरवीरता नहीं है| जीव जितना ही नाशवान् पदार्थों को महत्व देता है, उतना ही वह पतन की ओर जाता है, और जितना ही अविनाशी परमात्मा को महत्व देता है, उतना ही वह ऊँचा उठता है| इसका कारण है कि जीव परमात्मा का ही अंश है| नाशवान् सांसारिक पदार्थों को प्राप्त करके मनुष्य कभी भी बड़ा नहीं हो सकता| केवल बड़े होने का भ्रम या धोखा हो जाता है और वास्तव में सत्य बड़प्पन (परमात्म प्राप्ति) से वंचित हो जाता है| नाशवान् पदार्थों के कारण माना गया बड़प्पन कभी टिकता नहीं और परमात्मा के कारण होने वाला बड़प्पन कभी मिटता नहीं| चूंकि जीव प्रभु का अंश है, अतः उस सर्वोपरि परमात्मा को प्राप्त करने से ही वह बड़ा होता है| इतना बड़ा होता है कि देवता लोग भी उसका आदर करते हैं और कामना करते हैं कि वह हमारे लोक में आए| इतना ही नहीं, स्वयं भगवान् भी उसके अधीन हो जाते हैं, 'मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति'|

प्रभु के कहने का तात्पर्य है कि जीव सदा उन्हीं में स्थित है जबकि प्रकृति में स्थित मन तथा इन्द्रियाँ प्रकृति के अंश हैं| मन और इन्द्रियों को अपना मानना, उनसे अपना सम्बन्ध मानना ही उनको आकर्षित करना है| यहाँ बुद्धि का अन्तर्भाव मन शब्द में (जो अन्तःकरण का उपलक्षण है) और पाँच कर्मेन्द्रियों तथा पाँच प्राणों का अन्तर्भाव इन्द्रिय शब्द में मान लेना चाहिए| उपर्युक्त शब्दों से भगवान् कहते हैं कि मेरा अंश जीव में स्थित रहता हुआ भी भूल से अपनी स्थिति शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि में मान लेता है| जैसे शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि प्रकृति का अंश होने से कभी प्रकृति से पृथक् नहीं होते, ऐसे ही जीव भी मेरा अंश होने से कभी मुझ से पृथक् नहीं होता| परन्तु यह जीव मुझ से विमुख होकर मुझे भूल गया है| यहाँ मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियों का नाम लेने का तात्पर्य यह है कि इन छहों से सम्बन्ध जोड़कर ही जीव बँधता है| अतः साधक को

चाहिए कि वह शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि को संसार के अर्पण कर दे, अर्थात् संसार की सेवा में लगा दे और अपने आपको भगवान् के अर्पण कर दे|

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ।।१५-८।।

जैसे जाती गंध स्थान एक से अन्यत संग वेग पवन |
सादृश्य मरण पर ले जाए आत्मा मन को नए तन ||१५-८||

भावार्थ: *जिस प्रकार वायु के वेग से गंध एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाती है, उसी प्रकार आत्मा मरण पर मन को नए तन में ले जाती है|*

टीका: जिस प्रकार वायु गन्ध को एक स्थान से दूसरे स्थान ले जाती है, उसी प्रकार मरण पश्चात इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, स्वभाव,आदि को अपना मानने के कारण आत्मा उनको साथ लेकर दूसरी योनि में चली जाती है| यद्यपि जैसे वायु स्वयं तत्वतः गन्ध से निर्लिप्त है, ऐसे ही आत्मा भी तत्वतः मन, इन्द्रियाँ, शरीरादि से निर्लिप्त है| परन्तु इन मन, इन्द्रियाँ, शरीरादि में 'मैं और मेरेपन' की मान्यता होने के कारण वह (आत्मा) इनका आकर्षण करती है| जैसे वायु आकाश का कार्य होते हुए भी पृथ्वी के अंश गन्ध को साथ लिये घूमती है, ऐसे ही आत्मा परमात्मा का सनातन अंश होते हुए भी प्रकृति के कार्य (प्रतिक्षण बदलने वाले) शरीरों को साथ लिये भिन्न भिन्न योनियों में घूमती है| जड़ होने के कारण वायु में यह विवेक नहीं है कि वह गन्ध को ग्रहण न करे, परन्तु आत्मा को यह विवेक और सामर्थ्य मिला हुआ है कि वह जब चाहे तब शरीर से सम्बन्ध मिटा सकती है| भगवान् ने मनुष्य मात्र को यह स्वतन्त्रता दे रखी है कि वह चाहे जिससे सम्बन्ध जोड़ सकता है, और चाहे जिससे सम्बन्ध तोड़ सकता है| अपनी भूल मिटाने के लिये केवल अपनी मान्यता बदलने की आवश्यकता है कि प्रकृति के अंश इन स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों से मेरा (आत्मा का) कोई सम्बन्ध नहीं है| फिर जन्म-मरण के बन्धन से सहज ही मुक्ति मिल जाती है|

भगवान् ने यहाँ दो शब्द दृष्टान्त के रूप में दिये हैं, (१) वायु, (२) गन्ध| जिस प्रकार गन्ध को एक स्थान से वायु दूसरे स्थान पर ले जाती है, उसी प्रकार वायु रूप आत्मा गन्ध रूप सूक्ष्म और कारण शरीरों को साथ लेकर जाती है| इस आत्मा को ग्रहण कर नए तन से तीन विशेष भूलें हो रही हैं, (१) यद्यपि यह नया तन अपने को मन, बुद्धि, शरीरादि जड़ पदार्थों का स्वामी मानता है पर वास्तव में उनका दास बन जाता है | (२) नया तन अपने को उन जड़ पदार्थों का स्वामी मान लेने के कारण अपने वास्तविक स्वामी परमात्मा को भूल जाता है| (३) जड़ पदार्थों से माने हुए सम्बन्ध का त्याग करने में स्वाधीन होने पर भी उनका त्याग नहीं करता| परमात्मा ने आत्मा को शरीरादि सामग्री का सदुपयोग करने की स्वाधीनता दी है| उनका सदुपयोग करके अपना उद्धार करने के लिये यह वस्तुएँ दी हैं, उनका स्वामी बनने के लिये नहीं| परन्तु जीव से यह बहुत बड़ी भूल होती है कि वह उस सामग्री का सदुपयोग नहीं करता प्रत्युत अपने को उनका स्वामी मान लेता है, वास्तव में वह उनका दास बन जाता है| आत्मा जड़ पदार्थों से माने हुए सम्बन्ध का त्याग तभी कर सकती है, जब उसे यह मालू म हो जाए कि इनका स्वामी बनने से वह सर्वथा पराधीन हो गई है और उसका पतन हो रहा है| वह जिनका स्वामी बनती है, उनकी दासता उसमें आ जाती है| इसे केवल भ्रम होता है कि मैं इनका स्वामी हूँ| जिसे स्वामित्व या अधिकार प्रिय लगता है, वह परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकता| जो किसी व्यक्ति, वस्तु, पद आदि का स्वामी बनता है, वह अपने स्वामी को भूल जाता है, यह नियम है| उदाहरणार्थ जिस समय बालक केवल माँ को अपना मानकर उसे ही चाहता है, उस समय वह माँ के बिना नहीं रह सकता| किन्तु वही बालक जब बड़ा होकर गृहस्थ बन जाता है और अपने को स्त्री, पुत्र आदि का स्वामी मानने लगता है, तब उसी माँ का पास रहना उसे नहीं सुहाता| यह स्वामी बनने का परिणाम है, इसी प्रकार यह आत्मा भी शरीरादि जड़ पदार्थों का स्वामी बनकर अपने वास्तविक स्वामी परमात्मा को भूल जाती है, उनसे विमुख हो जाती है| जब तक यह भूल या विमुखता रहेगी, तब तक आत्मा दुःख पाती रहेगी| आत्मा में ऐसी सामर्थ्य और विवेक है कि यह जब चाहे तब माने हुए सम्बन्ध को छोड़ सकती है और परमात्मा के साथ नित्य सम्बन्ध का अनुभव कर सकती है| परन्तु संयोगजन्य सुख की लोलुपता के कारण यह संसार से माने हुए सम्बन्ध को नहीं

छोड़ती और छोड़ना चाहता भी नहीं है| जड़ता (शरीरादि) से तादात्म्य छूटने पर आत्मा (गन्ध की तरह) शरीरों को साथ नहीं ले जा सकती|

जीव को दो शक्तियाँ प्राप्त हैं, (१) प्राण शक्ति, जिससे श्वासों का आवागमन होता है और (२) इच्छा शक्ति, जिससे भोगों को पाने की इच्छा करता है| प्राण शक्ति सदैव (श्वासोच्छ्वास के द्वारा) क्षीण होती रहती है| प्राण शक्ति का समाप्त होना ही मृत्यु कहलाता है| जड़ का संग करने से कुछ करने और पाने की इच्छा बनी रहती है| प्राण शक्ति के रहते हुए इच्छा शक्ति अर्थात् कुछ करने और पाने की इच्छा मिट जाए तो मनुष्य जीवन मुक्त हो जाता है| प्राण शक्ति नष्ट हो जाए और इच्छाएँ बनी रहें, तो दूसरा जन्म लेना पड़ता है| नया शरीर मिलने पर इच्छा शक्ति तो वही (पूर्व जन्म की) रहती है, प्राण शक्ति नई मिल जाती है| प्राण शक्ति का व्यय इच्छाओं को मिटाने में होना चाहिए| निःस्वार्थ भाव से सम्पूर्ण प्राणियों के हित में रत रहने से इच्छाएँ सुगमता पूर्वक मिट जाती हैं|

जो अपने नहीं हैं, उनसे राग, ममता, प्रियता करना छोड़ देना चाहिए| जिन मन, इन्द्रियों के साथ अपनापन करके आत्मा उनको साथ लिये घूमती है, वह मन, इन्द्रियाँ कभी नहीं कहतीं कि हम तुम्हारी हैं और तुम हमारे हो| इन पर आत्मा का शासन भी नहीं चलता| आत्मा जैसा चाहे वैसा इन्हें नहीं रख सकती, और न ही इसमें परिवर्तन कर सकती है| फिर भी मनुष्य इनके साथ अपनापन रखता है, यह उसकी भूल ही है| वास्तव में यह अपनेपन का (राग, ममता युक्त) सम्बन्ध ही बाँधने वाला होता है| वस्तु हमें प्राप्त हो या न हो, उत्तम हो या निकृष्ट, हमारे काम में आए या न आए, दूर हो या पास हो, यदि उस वस्तु को हम अपनी मानते हैं तो उससे हमारा सम्बन्ध जुड़ जाता है| अपनी ओर से छोड़े बिना शरीरादि में ममता का सम्बन्ध मरने पर भी नहीं छूटता| इस माने हुए सम्बन्ध को छोड़ने में हम सर्वथा स्वतन्त्र तथा सबल हैं| यदि शरीर के रहते हुए ही हम उससे अपनापन हटा दें, तो जीवित रहते हुए ही मुक्त हो जाएं| जो अपना नहीं है, उसको अपना मानना और जो अपना है, उसको अपना न मानना, यह बहुत बड़ा दोष है जिसके कारण ही पारमार्थिक मार्ग में उन्नति नहीं होती|

वास्तव में शुद्ध चेतन (आत्मा) का किसी शरीर को प्राप्त करना और उसका त्याग करके दूसरे शरीर में जाना नहीं हो सकता क्योंकि आत्मा अचल और समान रूप से सर्वत्र व्याप्त है| शरीरों का ग्रहण और त्याग परिच्छिन्न (एकदेशीय) तत्व के द्वारा ही होना सम्भव है, जबकि आत्मा कभी किसी भी देश कालादि में परिच्छिन्न नहीं हो सकती| परन्तु जब यह आत्मा प्रकृति के कार्य शरीर से तादात्म्य कर लेती है अर्थात् प्रकृतिस्थ हो जाती है, तब स्थूल, सूक्ष्म और कारण, तीनों शरीरों में अपने को तथा अपने में तीनों शरीरों को धारण करने अर्थात् उनमें अपनापन करने से, वह प्रकृति के कार्य शरीरों का ग्रहण, त्याग करने लगती है| इसका तात्पर्य यह है कि शरीर को 'मैं और मेरा' मान लेने कारण आत्मा सूक्ष्म शरीर के आने जाने को अपना आना जाना मान लेती है| जब प्रकृति के कार्य शरीर से तादात्म्य मिट जाता है अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर से आत्मा का माना हुआ सम्बन्ध नहीं रहता तब यह शरीर अपने कारण भूत समष्टि तत्त्वों में लीन हो जाते हैं| इसका तात्पर्य यह है कि पुनर्जन्म का मूल कारण जीव का शरीर से माना हुआ तादात्म्य ही है|

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ।।१५-९।।

ले आश्रय मन आत्मा करती है सेवन श्रवण नयन |
त्वचा रसना घ्राण समस्त विषय इन्द्रिय हे अर्जुन ||१५-९||

भावार्थ: *हे अर्जुन, यह आत्मा मन का आश्रय लेकर श्रोत्र, चक्षु, स्पर्श, रसना और घ्राण, समस्त विषय इन्द्रिय आदि का सेवन करती है|*

टीका: मन में अनेक प्रकार के (अच्छे, बुरे) संकल्प विकल्प होते रहते हैं, परन्तु इनसे स्वयं की स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता क्योंकि स्वयं (चेतन तत्व, आत्मा) जड़ शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि से अत्यन्त परे और उनका आश्रय तथा प्रकाशक है| संकल्प, विकल्प आते जाते हैं और स्वयं सदा ज्यों का त्यों रहता है| मन का संयोग होने पर ही सुनने, देखने, स्पर्श करने, स्वाद लेने तथा सूँघने का ज्ञान होता है| जीवात्मा को मन के बिना इन्द्रियों से सुख, दुःख नहीं मिल

सकता| इसलिये यहाँ मन को अधिष्ठित करने की बात कही गई है| इसका तात्पर्य यह है कि जीवात्मा मन को अधिष्ठित कर अर्थात् उसका आश्रय लेकर ही इन्द्रियों के द्वारा विषयों का सेवन करती है|

कर्ण सुनने की शक्ति हैं| हमने अनेक प्रकार के अनुकल (स्तुति, मान, आशीर्वाद, मधुर गान, वाद्य आदि) और प्रतिकूल (निन्दा, अपमान, शाप, आदि) शब्द सुने हैं पर उनसे स्वयं में क्या अंतर पड़ा? किसी को पौत्र के जन्म तथा पुत्र की मृत्यु का समाचार एक साथ मिला| दोनों समाचार सुनने से एक के जन्म तथा दूसरे की मृत्यु का जो ज्ञान हुआ, उस ज्ञान में कोई अन्तर नहीं आया| जब ज्ञान में कोई अन्तर नहीं आया, तो फिर ज्ञाता में अन्तर कैसे आएगा? अतः जन्म और मृत्यु का समाचार सुनने से अन्तःकरण में (माने हुए सम्बन्ध के कारण) जो प्रभाव होता है, उसकी ओर दृष्टि न रखकर इस ज्ञान पर ही दृष्टि रखनी चाहिए| इसी तरह अन्य इन्द्रियों के विषय में भी समझ लेना चाहिए| नेत्रेन्द्रिय अर्थात् नेत्रों में देखने की शक्ति है| हमने अनेक सुन्दर, असुन्दर, मनोहर रूप या दृश्य देखे हैं पर उनसे अपने स्वरूप में क्या अंतर पड़ा? स्पर्शेन्द्रिय अर्थात् त्वचा में स्पर्श करने की शक्ति है| जीवन में हमें अनेक कोमल, कठोर, ठण्डे, गरम आदि स्पर्श प्राप्त हुए हैं, पर उनसे स्वयं की स्थिति में क्या अन्तर आया? रसनेन्द्रिय अर्थात् जीभ में स्वाद लेने की शक्ति है। कड़ुआ, तीखा, मीठा, कसैला, खट्टा और नमकीन, यह छः प्रकार के भोजन के रस हैं| हमने तरह तरह के रस युक्त भोजन किए हैं पर विचार करना चाहिए कि उनसे स्वयं को क्या प्राप्त हुआ? घ्राणेन्द्रिय अर्थात् नासिका में सूँघने की शक्ति है| जीवन में हमारी नासिका ने तरह तरह की सुगन्ध और दुर्गन्ध ग्रहण की है, पर उनसे स्वयं में क्या अंतर पड़ा?

पाँचों महाभूतों के मिले हुए सतगुण अंश से मन और बुद्धि, रजोगुण अंश से प्राण और तमोगुण अंश से शरीर बना है| जैसे व्यापारी किसी कारणवश एक स्थान से दूकान उठाकर दूसरी जगह दूकान लगाता है, ऐसे ही जीवात्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जाती है, और जैसे पहले शरीर में विषयों का राग पूर्वक सेवन करती थी, ऐसे ही दूसरे शरीर में जाने पर (वही स्वभाव होने से) विषयों का सेवन करने लगती है| इस प्रकार जीवात्मा बार बार विषयों में

आसक्ति के कारण ऊँच, नीच योनियों में भटकती रहती है| प्रभु ने यह मनुष्य शरीर अपना उद्धार करने के लिये दिया है, सुख, दुःख भोगने के लिये नहीं| जैसे ब्राह्मण को गाय दान करने पर हम उसको चारा पानी तो दे सकते हैं, पर दी हुई गाय का दूध पीने का हमें अधिकार नहीं है, ऐसे ही मिले हुए शरीर का सदुपयोग करना हमारा कर्तव्य है, पर इसे अपना मानकर सुख भोगने का हमें अधिकार नहीं है|

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ।।१५-१०।।

नहीं जानते महत्व गुण आत्मा मूढ़ नर काल मरन |
या भोग रहे इंद्रिय विषय सुख पा कर जब नया तन ||
समझ सकें इसे केवल जो युक्त ज्ञान रूपी नयन ||१५-१०||

भावार्थ: *मरण समय अथवा नए शरीर में इंद्रिय सुख में लिप्त मूढ़ पुरुष गुणवान आत्मा को नहीं समझते| इसे केवल ज्ञानचक्षु युक्त ही समझ सकते हैं|*

टीका: स्थूल शरीर को छोड़ते समय जीव सूक्ष्म और कारण शरीर को साथ लेकर प्रस्थान करता है| जब तक हृदय में धड़कन रहती है, तब तक जीव का प्रस्थान नहीं माना जाता| ऐसा देखा गया है कि हृदय की धड़कन बंद हो जाने के बाद भी जीव कुछ समय तक जीवित रह सकता है| वास्तव में अचल होने से शुद्ध चेतन तत्व का आवागमन नहीं होता, प्राणों का ही आवागमन होता है| परन्तु सूक्ष्म और कारण शरीर से सम्बन्ध रहने के कारण जीव का आवागमन कहा जाता है| जिस प्रकार कैमरे पर वस्तु का जैसा प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसका वैसा ही चित्र अंकित हो जाता है| इसी प्रकार मृत्यु के समय अन्तःकरण में जिस भाव का चिन्तन होता है, उसी आकार का सूक्ष्म शरीर बन जाता है| जैसे पुरानी तकनीकी के अनुसार कैमरे पर पड़े प्रतिबिम्ब के अनुसार चित्र के तैयार होने में समय लगता है, ऐसे ही अन्तकालीन चिन्तन के अनुसार भावी स्थूल शरीर के बनने में (शरीर के अनुसार कम या अधिक) समय लगता है| शरीर में स्थित मनुष्य जब विषयों को भोगता है, तब वह विषयी मनुष्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस,

और गन्ध, इनमें से एक एक विषय को अच्छी तरह जानता है| अपनी जानकारी से एक एक विषय को सावधानी के साथ वह भोगता है| सावधानी रखने पर भी वह मूढ़ (अज्ञानी) ही है, क्योंकि विषयों के प्रति कितनी भी सावधानी रखें, यह विषय भोग मरने पर नर्कों और नीच योनियों में ले जाने वाले हैं|

जीव, आत्मा और संसार, इन तीनों के विषय में शास्त्रों और दार्शनिकों के अनेक मत भेद हैं, परन्तु जीव संसार के सम्बन्ध से महान् दुःख पाता है और आत्मा (परमात्मा) के सम्बन्ध से महान् सुख पाता है, इसमें सभी शास्त्र और दार्शनिक एकमत हैं| संसार एक क्षण भी स्थिर नहीं रहता, यह अकाट्य नियम है| संसार क्षण भंगुर है, यह बात कहते, सुनते और पढ़ते हुए भी मूढ़ मनुष्य संसार को स्थिर मानते हैं| भोग सामग्री, भोक्ता और भोग रूप क्रिया, इन सब को स्थाई माने बिना भोग नहीं हो सकता| भोगी मनुष्य की बुद्धि इतनी मूढ़ हो जाती है कि वह इन भोगों से बढ़कर कुछ है ही नहीं, ऐसा दृढ़ निश्चय कर लेता है| इसलिये ऐसे मनुष्यों के ज्ञान नेत्र बंद ही रहते हैं| वह मृत्यु को निश्चित जानते हुए भी भोग भोगने के लिये (मरने वालों के लोक में रहते हुए भी) सदा जीवित रहने की इच्छा रखते हैं| आत्मा जिस समय एक स्थूल शरीर से निकलकर (सूक्ष्म और कारण शरीर सहित) दूसरे शरीर को प्राप्त होती है तथा विषयों का उपभोग करती है, तब गुणों में लिप्त दिखने पर भी वास्तव में वह स्वयं निर्लिप्त ही रहती है| वास्तविक स्वरूप में आत्मा में न उत्क्रमण है, न स्थिति है और न भोक्तापन है| गुणों से सम्बन्ध मानते रहने के कारण ही आत्मा में उत्क्रमण, स्थिति और भोग, यह तीनों क्रियाएँ प्रतीत होती हैं| वास्तव में आत्मा का गुणों से सम्बन्ध है ही नहीं, भूल से ही इसने अपना सम्बन्ध गुणों से मान रखा है जिसके कारण इसे बार बार ऊँच, नीच योनियों में जन्म लेना पड़ता है| गुणों से सम्बन्ध जोड़कर जीवात्मा संसार से सुख चाहता है, यह उसकी भूल है| इसी बात को भगवान् कह रहे हैं कि जीव स्वरूप से गुणातीत होते हुए भी गुणों (देश, काल, व्यक्ति, वस्तु) से सम्बन्ध जोड़कर उनसे बँध जाता है|

जैसे भिन्न भिन्न प्रकार के कार्य करने पर भी हम वही रहते हैं, ऐसे ही गुणों से युक्त होकर शरीर को छोड़ते, अन्य शरीर को प्राप्त होते तथा भोग भोगते समय भी स्वयं (आत्मा) वही रहता है| इसका तात्पर्य यह है कि परिवर्तन क्रियाओं में

होता है, स्वयं में नहीं| परन्तु जो भिन्न भिन्न क्रियाओं के साथ मिलकर स्वयं को भी भिन्न भिन्न देखने लगता है, ऐसे अज्ञानी (तत्व को न जानने वाले) मनुष्य के लिये यहाँ प्रभु ने मूढ़ शब्द का प्रयोग किया है|

मूढ़ लोग भोग और संग्रह में इतने आसक्त रहते हैं कि शरीरादि पदार्थ नित्य रहने वाले नहीं हैं, यह बात सोच ही नहीं सकते| भोग भोगने का क्या परिणाम होगा, उस ओर वह सोचते ही नहीं| भगवान् ने पहले सात्त्विक, राजस और तामस पुरुषों को प्रिय लगने वाले आहारों का वर्णन किया है, और इन आहारों को खाने वाले पुरुषों के परिणाम का वर्णन भी किया है| सात्त्विक मनुष्य कर्म करने से पहले उसके परिणाम (फल) पर दृष्टि रखता है, राजस मनुष्य पहले सहसा काम कर बैठता है, परिणाम चाहे जैसा हो, परन्तु तामस मनुष्य तो परिणाम की ओर दृष्टि ही नहीं डालता| यहां ऐसे राजस और तामस पुरुषों को मूढ़ शब्द से उच्चारण कर भगवान् मानो यह कहते हैं कि मोह ग्रस्त मनुष्य राजस और तामस ही हैं| वह विषयों का सेवन करते समय परिणाम पर विचार नहीं करते| केवल भोग भोगने और संग्रह करने में ही लगे रहते हैं| ऐसे मनुष्यों का ज्ञान रजोगुण एवं तमोगुण से ढका रहता है| इस कारण वह शरीर और आत्मा के भेद को नहीं जान सकते|

प्राणी, पदार्थ, घटना, परिस्थिति, कोई भी स्थिर नहीं है, अर्थात् दृश्य निरन्तर अदर्शन में जा रहा है, ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव होना ही ज्ञान रूप चक्षुओं से देखना है| परिवर्तन की ओर दृष्टि होने से अपरिवर्तनशील तत्व में स्थिति स्वतः होती है क्योंकि नित्य परिवर्तनशील पदार्थ का अनुभव अपरिवर्तनशील तत्व को ही होता है| ऐसा नहीं समझना चाहिए कि ज्ञानी मनुष्य का भी स्थूल शरीर से निकलकर दूसरे शरीर को प्राप्त होना तथा भोग भोगना होता है| ज्ञानी मनुष्य का स्थूल शरीर तो अवश्य छूटेगा, पर दूसरे शरीर को प्राप्त करना तथा राग बुद्धि से विषयों का सेवन करना उसके द्वारा नहीं होते| भगवान् ने पहले कहा है कि जैसे जीव की इस देह में बालकपन, युवा, और वृद्धावस्था होती है, ऐसे ही अन्य शरीर की प्राप्ति होती है, परन्तु उस विषय में ज्ञानी मनुष्य मोहित अथवा विकार को प्राप्त नहीं होता| इसका कारण यह है कि ज्ञानी मनुष्य ज्ञान रूप नेत्रों के द्वारा यह देखता है कि जन्म, मृत्यु आदि सब क्रियाएँ या विकार

परिवर्तनशील शरीर में ही हैं, अपरिवर्तनशील स्वरूप में नहीं| स्वरूप (आत्मा) इन विकारों से सब समय सर्वथा निर्लिप्त रहता है| शरीर को अपना मानने तथा उससे सुख लेने की आशा रखने से ही विमूढ़ मनुष्यों को तादात्म्य के कारण यह विकार स्वयं में होते प्रतीत होते हैं| मूढ़ मनुष्य आत्मा को गुणों से युक्त देखते हैं और ज्ञान नेत्रों वाले मनुष्य आत्मा को गुणों से रहित वास्तविक रूप से देखते हैं|

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ।।१५-११।।

करते अनुभव साधक योगी परमात्म-तत्व हे अर्जुन |
न समझ सकें अविवेकी नर जिनका अशुद्ध अंतःकरन ||१५-११||

भावार्थ: *हे अर्जुन, साधक योगी परमात्म-तत्व का अनुभव करते हैं| अशुद्ध अन्त:करण एवं अविवेकी जन इसे नहीं समझ सकते|*

टीका: यहाँ साधक योगी शब्द का प्रयोग प्रभु ने उन सांख्ययोगियों के लिए किया है जिनका एक मात्र उद्देश्य परमात्म-तत्व को प्राप्त करने का बन चुका है| जिन साधकों का एक मात्र उद्देश्य परमात्म-तत्व को प्राप्त करना है, उनमें असंगता, निर्ममता और निष्कामता स्वतः आ जाती है| उद्देश्य की पूर्ति के लिये अनन्य भाव से जो उत्कण्ठा, तत्परता, व्याकुलता, विरह युक्त चिन्तन, प्रार्थना एवं विचार साधक के हृदय में प्रकट होते हैं, उन सब को यहाँ प्रभु ने बताया है| जिसकी प्राप्ति का उद्देश्य बनाया और जिसकी विमुखता को यत्न के द्वारा दूर किया, उसी तत्व का साधक योगी अपने आप में अनुभव करते हैं| परमात्मा के पूर्ण सम्मुख हो जाने के बाद योगी की परमात्म-तत्व में सदा सहज स्थिति रहती है| जो सांख्ययोगी साधक सत, असत विचार द्वारा सत तत्व की प्राप्ति और असत् संसार की निवृत्ति करना चाहते हैं, विवेक की सर्वथा जागृति होने पर वह अपने आप में स्थित परमात्म-तत्व का अनुभव कर लेते हैं|

परमात्म-तत्व से देश काल की दूरी नहीं है| वह समान रूप से सर्वत्र एवं सदैव विद्यमान है| वही सब भूतों के हृदय में स्थित सब की आत्मा है, इसलिये योगी अपने आप में ही इस तत्व का अनुभव कर लेते हैं|

सत्ता (अस्तित्व) दो प्रकार की होती है, (१) विकारी और (२) स्वतः सिद्ध| जो सत्ता उत्पन्न होने के बाद प्रतीत होती है, वह विकारी सत्ता कहलाती है, और जो सत्ता कभी उत्पन्न नहीं होती, प्रत्युत सदा (अनादि काल से) ज्यों की त्यों रहती है, वह स्वतः सिद्ध सत्ता कहलाती है| इस दृष्टि से संसार एवं शरीर की सत्ता विकारी, और परमात्मा एवं आत्मा की सत्ता स्वतः सिद्ध है| विकारी सत्ता को स्वतः सिद्ध सत्ता में मिला देना भूल है| उत्पन्न हुई विकारी सत्ता से सम्बन्ध विच्छेद करके अनुत्पन्न स्वतः सिद्ध सत्ता में स्थित होना ही प्रभु का आदेश है| जीव (चेतन) ने भगवत् प्रदत्त विवेक का अनादर करके शरीर (जड़) को 'मैं और मेरा' मान लिया, अर्थात् शरीर से अपना सम्बन्ध मान लिया| जीव के बन्धन का कारण यह माना हुआ सम्बन्ध ही है| यह सम्बन्ध इतना दृढ़ है कि मरने पर भी नहीं छूटता परन्तु यत्न से जब चाहे, तब छोड़ा भी जा सकता है| किसी से अपना सम्बन्ध जोड़ने अथवा तोड़ने में जीव सर्वथा स्वतन्त्र है| इसी स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करके जीव शरीरादि विजातीय पदार्थों से अपना सम्बन्ध मान लेता है| अपने विवेक (शरीर से अपनी भिन्नता का ज्ञान) को महत्व न देने से विवेक दब जाता है| विवेक के दबने पर शरीर (जड़-तत्व) की प्रधानता हो जाती है और वह सत्य प्रतीत होने लगता है| सत्संग, स्वाध्याय आदि से जैसे जैसे विवेक विकसित होता है, वैसे वैसे शरीर से माना हुआ सम्बन्ध छूटता चला जाता है| विवेक जाग्रत् होने पर परमात्मा (चिन्मय तत्व) से अपने वास्तविक सम्बन्ध का, उसमें अपनी स्वाभाविक स्थिति का अनुभव हो जाता है|

विकारी सत्ता (संसार) के सम्बन्ध से अहंता (मैंपन) की उत्पत्ति होती है| यह अहंता दो प्रकार से मानी जाती है, (१) श्रवण से मानना, जैसे दूसरों से सुनकर, 'मैं अमुक नाम वाला हूँ, मैं अमुक वर्ण वाला हूँ', आदि अहंता मान लेते हैं, और (२) क्रिया से मानना, जैसे व्याख्यान देना, शिक्षा देना, चिकित्सा करना, आदि क्रियाओं से 'मैं वक्ता हूँ, मैं शिक्षक हूँ, मैं चिकित्सक हूँ', आदि अहंता मान लेते हैं| यह दोनों ही प्रकार की अहंता सदा रहने वाली नहीं है, जब कि अस्तित्व

स्वतः सिद्ध सत्ता सदा रहने वाली है| 'मैं रूप' में मानी हुई अहंता का त्याग होने पर 'हूँ रूप' विकारी सत्ता का भी स्वतः त्याग हो जाता है और योगी को अस्तित्व रूप स्वतः सिद्ध सत्ता में अपनी स्थिति का अनुभव हो जाता है| यही अपने आप में तत्व का अनुभव करना है|

जिन्होंने अपना अन्तःकरण शुद्ध नहीं किया है, उन पुरुषों को यहाँ प्रभु ने मूढ़ और अविवेकी कहा है| सत, असत ज्ञान (विवेक) को महत्व न देने के कारण ऐसे पुरुषों को मूढ़ कहा गया है| जिनके अन्तःकरण में संसार के व्यक्ति, पदार्थ आदि का महत्व बना हुआ है और जो शरीरादि को अपना मानते हुए उनसे सुख भोग की आशा रखते हैं, ऐसे सभी पुरुष अविवेकी हैं| ऐसे पुरुष तत्व की प्राप्ति तो चाहते हैं, पर वह शरीर, मन, बुद्धि, आदि जड़ (प्राकृत) पदार्थों की सहायता से चेतन परमात्म-तत्व को प्राप्त करना चाहते हैं| परमात्मा जड़ पदार्थों की सहायता से नहीं, प्रत्युत जड़ता के त्याग (सम्बन्ध विच्छेद) से मिलते हैं| स्मरण रहे कि यत्न करने में समानता होने पर भी एक (ज्ञानी) पुरुष तो तत्व का अनुभव कर लेता है, दूसरा (मूढ़) नहीं कर पाता| इससे यह सिद्ध होता है कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि के द्वारा किया गया यत्न तत्व प्राप्ति में सहायक होने पर भी अन्तःकरण के साथ सम्बन्ध बने रहने के कारण और अन्तःकरण में सांसारिक पदार्थों का महत्व रहने के कारण (यत्न करने पर भी) तत्व को प्राप्त नहीं किया जा सकता| जिनकी दृष्टि असत् (सांसारिक भोग और संग्रह) पर ही जमी हुई है, ऐसे पुरुष सत् तत्व को कैसे देख सकते हैं? अविवेकी पुरुष ध्यान, स्वाध्याय, जप आदि सब कुछ करते हैं, पर अन्तःकरण में जड़ता (सांसारिक भोग और संग्रह) का महत्व रहने के कारण उन्हें सत् तत्व का अनुभव नहीं होता| यद्यपि ऐसे पुरुषों के द्वारा किया गया यत्न निष्फल भी नहीं होता, तथापि सत् तत्व का अनुभव उन्हें वर्तमान में नहीं होता| वर्तमान में सत् तत्व का अनुभव जड़ता का सर्वथा त्याग होने पर ही होता है| जिसका आश्रय लिया जाए उसका त्याग नहीं हो सकता, यह नियम है| अतः शरीर, मन, बुद्धि, आदि जड़ पदार्थों का आश्रय लेकर साधक जड़ता का त्याग नहीं कर सकता| इसके अतिरिक्त मन, बुद्धि, आदि जड़ पदार्थों को लेकर साधन करने वाले में सूक्ष्म अहंकार बना रहता है जो जड़ता का त्याग होने पर ही निवृत्त होता है| जड़ता का त्याग करने का सुगम उपाय है, एक मात्र भगवान् का आश्रय लेना, अर्थात् 'मैं भगवान्

का हूँ, भगवान् मेरे हैं', इस वास्तविकता को स्वीकार कर लेना, इस पर अटल विश्वास कर लेना| इसके लिये यत्न या अभ्यास करने की भी आवश्यकता नहीं है| वास्तविक बात को दृढ़ता पूर्वक स्वीकार कर लेने की आवश्यकता है|

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ।।१५-१२।।

रवि तेज जो कर रहा प्रकाशित समस्त जग हे अर्जुन |
सहित इसके सोम अग्नि तेज भी हैं मुझ से ही उत्पन्न ||१५-१२||

***भावार्थ**: हे अर्जुन, सूर्य का तेज जो सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित कर रहा है, इसके सहित चन्द्रमा एवं अग्नि का तेज भी मुझ से ही उत्पन्न है|*

टीका: प्रभु कहते हैं कि सूर्य का तेज उसका न होकर मेरा ही है| सूर्य का तेज (प्रकाश) इतना महान् है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उससे प्रकाशित होता है, पर वह तेज वास्तविकता में भगवान् का है| चूंकि सूर्य का तेज प्रभु का है, इसलिए सूर्य भगवान् के परम धाम को प्रकाशित नहीं कर सकता| महर्षि पतञ्जलि कहते हैं:

'पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्|'

अर्थात ईश्वर सब के पूर्वजों के भी गुरु है| उनका काल से अवच्छेद नहीं है| सम्पूर्ण भौतिक जगत् में सूर्य के समान प्रत्यक्ष प्रभावशाली पदार्थ कोई नहीं है| चन्द्र, अग्नि, तारे, विद्युत् आदि जितने भी प्रकाशमान पदार्थ हैं, वह सभी सूर्य से ही प्रकाश पाते हैं, और सूर्य प्रभु से प्रकाश पाते हैं| भगवान् से मिले हुए तेज के कारण जब सूर्य इतना विलक्षण और प्रभावशाली हैं, तब स्वयं भगवान् कितने विलक्षण और प्रभावशाली होंगे, ऐसा विचार करने पर स्वतः मन भगवान् की ओर आकर्षित होता है| सूर्य नेत्रों के देवता हैं| अतः नेत्रों में जो प्रकाश (देखने की शक्ति) है वह भी परम्परा से भगवान् से ही समझना चाहिए|

जैसे सूर्य में स्थित प्रकाशिका शक्ति और दाहिका शक्ति, दोनों ही भगवान् से प्राप्त (आगत) हैं, ऐसे ही चन्द्रमा की प्रकाशिका शक्ति और पोषण शक्ति, दोनों (सूर्य द्वारा प्राप्त होने पर भी परम्परा से) भगवत् प्रदत्त ही हैं| जैसे भगवान् का तेज आदित्यगत है, ऐसे ही उनका तेज चन्द्रगत भी समझना चाहिए| चन्द्रमा में प्रकाश के साथ शीतलता, मधुरता, पोषणता आदि जो भी गुण हैं, वह सब भगवान् का ही प्रभाव है| यहाँ चन्द्रमा को तारे, नक्षत्र आदि का भी उपलक्षण समझना चाहिए| चन्द्रमा मन का देवता है| अतः मन में जो प्रकाश (मनन करने की शक्ति) है, वह भी परम्परा से भगवान् से ही समझना चाहिए|

उपर्युक्त शब्दों से भगवान् यह कह रहे हैं कि मनुष्य जिस जिस तेजस्वी पदार्थ की तरफ आकर्षित होता है, उस उस पदार्थ में उसको मेरा ही प्रभाव देखना चाहिए| जैसे लड्डू में जो मिठास है, वह उसकी अपनी न होकर चीनी की ही है, ऐसे ही सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि में जो तेज है, वह उनका अपना न होकर भगवान् का ही है| भगवान् के प्रकाश से ही यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित होता है, 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'| प्रभु सम्पूर्ण ज्योतियों की भी ज्योति हैं, 'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः'|

सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि, क्रमशः नेत्र, मन और वाणी के अधिष्ठाता एवं उनको प्रकाशित करने वाले हैं| मनुष्य अपने भावों को प्रकट करने और समझने के लिये नेत्र, मन (अन्तःकरण) और वाणी , इन तीन इन्द्रियों का ही उपयोग करता है| यह तीन इन्द्रियाँ जितना प्रकाश करतीं हैं, उतना प्रकाश अन्य इन्द्रियाँ नहीं करतीं| प्रकाश का तात्पर्य है, ज्ञान| ज्ञान कराने में नेत्र और वाणी बाहरी करण हैं तथा मन भीतरी करण है| यह तीनों ही करण (इन्द्रियाँ) भगवान् को प्रकाशित नहीं कर सकते क्योंकि इनमें जो तेज या प्रकाश है, वह इनका अपना न होकर भगवान् का है|

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ।।१५-१३।।

कर प्रवेश भू मैं अपने ओज से करूँ भूजन धारन |
बन रस स्वरुप सोम करता हूँ मैं ही औषध उत्पन्न ||१५-१३||

भावार्थ: *मैं ही पृथ्वी में प्रवेश करके अपने ओज से प्राणियों को धारण करता हूँ मैं ही रस स्वरूप चन्द्रमा बनकर समस्त औषधियों को उत्पन्न करता हूँ|*

टीका: भगवान् ही पृथ्वी में प्रवेश करके उस पर स्थित सम्पूर्ण स्थावर एवं जंगम प्राणियों को धारण करते हैं| इसका तात्पर्य यह है कि पृथ्वी में जो धारण शक्ति है, वह पृथ्वी की अपनी न होकर भगवान् की ही है|

यह सर्व विदित है कि पृथ्वी की अपेक्षा जल का स्तर ऊँचा है और पृथ्वी पर जल का भाग स्थल की अपेक्षा बहुत अधिक है| ऐसा होने पर भी पृथ्वी जल मग्न नहीं होती, यह भगवान् की धारण शक्ति का ही प्रभाव है| पृथ्वी के उपलक्षण से यह समझना चाहिए कि पृथ्वी के अतिरिक्त जहां भी धारण शक्ति देखने में आती है, वह सब भगवान् की ही है| पृथ्वी में अन्नादि ओषधियों को उत्पन्न करने की (उत्पादिका) शक्ति एवं गुरुत्वाकर्षण शक्ति भी भगवान् की ही समझनी चाहिए|

चन्द्रमा में दो शक्तियाँ हैं, प्रकाशिका शक्ति और पोषण शक्ति| प्रकाशिका शक्ति में अपने प्रभाव का वर्णन प्रभु पहले कर चुके हैं| यहां भगवान् चन्द्रमा की पोषण शक्ति में अपना प्रभाव बताते हैं कि चन्द्रमा के माध्यम से सम्पूर्ण वनस्पतियों को वह ही पुष्ट करते हैं| चन्द्रमा शुक्लपक्ष में पोषक और कृष्णपक्ष में शोषक होता है| शुक्लपक्ष में रसमय चन्द्रमा की मधुर किरणों से अमृत वर्षा होने के कारण ही लता वृक्षादि पुष्ट होते हैं और फलते फूलते हैं| माता के उदर में स्थित शिशु भी शुक्लपक्ष में वृद्धि को प्राप्त होता है| नेत्रों से हमें जो दिखता है, वह चन्द्रमण्डल है| चन्द्रमण्डल से भी ऊपर (आँखों से न दिखने वाला) चन्द्रलोक है| प्रभु ने यहां चन्द्रमा के लिए सोम शब्द का प्रयोग किया है, जिसका तात्पर्य है कि चन्द्रमा में प्रकाश के साथ साथ अमृत वर्षा की शक्ति भी है| वह अमृत पहले चन्द्रलोक से चन्द्रमण्डल में आता है, और फिर चन्द्रमण्डल से भूमण्डल पर आता है| यहां औषधि शब्द से गेहूँ, चना आदि सब प्रकार के अन्न

समझने चाहिए| चन्द्रमा के द्वारा पुष्ट हुए अन्न का भोजन करने से ही मनुष्य, पशु, पक्षी आदि समस्त प्राणी पुष्टि प्राप्त करते हैं| औषधियों, वनस्पतियों में शरीर को पुष्ट करने की जो शक्ति है, वह चन्द्रमा से आती है| चन्द्रमा की वह पोषण शक्ति भी उसकी अपनी न होकर भगवान् की ही है| भगवान् ही चन्द्रमा को निमित्त बनाकर सब का पोषण करते हैं|

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ।।१५-१४।।

हूँ मैं अपान जठराग्नि पचाए जो चार तंत्र अन्न |
समझो मुझे ही प्राण जो है स्थित तन सब भूजन ||१५-१४||

भावार्थ: *मैं अपान जठराग्नि हूँ जो चार प्रकार के अन्न को पचाती है| मुझे ही प्राणियों के शरीर में स्थित प्राण समझो|*

टीका: प्रभु ने पहले अग्नि की प्रकाशन शक्ति में अपने प्रभाव का वर्णन किया है| यहां वह जठराग्नि की पाचन शक्ति में अपने प्रभाव का वर्णन करते हैं| इसका तात्पर्य यह है कि अग्नि के दोनों ही कार्य (प्रकाश करना और पचाना) भगवान् की ही शक्ति से होते हैं| प्राणियों के शरीर को पुष्ट करने तथा उनके प्राणों की रक्षा करने के लिये भगवान् ही जठराग्नि के रूप से उन प्राणियों के शरीर में रहते हैं| मनुष्यों की तरह लता, वृक्ष, आदि स्थावर और पशु, पक्षी आदि जंगम प्राणियों में भी जठराग्नि की पाचन शक्ति काम करती है| लता, वृक्ष आदि जो खाद्य, जल ग्रहण करते हैं, पाचन शक्ति के द्वारा उसका पाचन होने के फल स्वरूप ही उन लता वृक्षादि की वृद्धि होती है|

शरीर में प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान, यह पाँच प्रधान वायु, एवं नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनञ्जय, यह पाँच उप-प्रधान वायु रहती हैं | यहां भगवान् दो प्रधान वायु, प्राण और अपान का ही वर्णन करते हैं क्योंकि यह दोनों वायु जठराग्नि को प्रदीप्त करती हैं| जठराग्नि से पचे हुए भोजन के सूक्ष्म अंश

या रस को शरीर के प्रत्येक अंग में पहुँचाने का सूक्ष्म कार्य भी मुख्यतः प्राण और अपान वायु का ही है|

प्राणी चार प्रकार के अन्न का भोजन करते हैं:

(१) भोज्य: जो अन्न दाँतों से चबाकर खाया जाता है, जैसे, रोटी आदि;

(२) पेय: जो भोजन निगला जाता है, जैसे दूध, रस आदि;

(३) चोष्य: दाँतों से दबाकर जिस खाद्य पदार्थ का रस चूसा जाता है और बचे हुए असार भाग को थूक दिया जाता है, जैसे, आम आदि। वृक्षादि स्थावर योनियाँ इसी प्रकार से अन्न को ग्रहण करती हैं;

(४) लेह्य: जो अन्न जिह्वा से चाटा जाता है, जैसे शहद आदि|

अन्न के उपर्युक्त चार प्रकारों में भी एक एक के अनेक भेद हैं| भगवान् कहते हैं कि उन चारों प्रकार के अन्नों को जठराग्नि रूप से मैं ही पचाता हूँ| अन्न का ऐसा कोई अंश नहीं है, जो मेरी शक्ति के बिना पच सके|

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ।।१५-१५।।

देता मैं स्मृति ज्ञान अपोहन स्थित जो हिय सब जन |
समझो मुझे ही ज्ञेय व् ज्ञाता वेद वेदांत अर्जुन ||१५-१५||

भावार्थ: *मैं समस्त प्राणियों के हृदय में स्थित स्मृति, ज्ञान और अपोहन (उनका अभाव) देता हूँ | मैं ही ज्ञेय (जानने योग्य) हूँ तथा वेद और वेदान्त के तत्व का ज्ञाता हूँ|*

टीका: पहले प्रभु ने अपनी विभूतियों का वर्णन करने के बाद यह रहस्य प्रकट किया था कि वह स्वयं सब प्राणियों के हृदय में विद्यमान हैं| यद्यपि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि सभी स्थानों में भगवान् विद्यमान हैं, तथापि हृदय में वह विशेष रूप से विद्यमान हैं| हृदय शरीर का प्रधान अंग है| सब प्रकार के भाव हृदय में ही जाग्रत होते हैं| समस्त कर्मों में भाव ही प्रधान होता है| भाव की शुद्धि से समस्त पदार्थ, क्रिया आदि की शुद्धि हो जाती है| अतः महत्व भाव का ही है, वस्तु, व्यक्ति, कर्म आदि का नहीं| वह भाव हृदय में होने से हृदय की बहुत महत्ता है| हृदय सतगुण का कार्य है, इसलिये भी भगवान् हृदय में विशेष रूप से रहते हैं| भगवान् कहते हैं कि मैं प्रत्येक मनुष्य के अत्यन्त समीप उसके हृदय में रहता हूँ, अतः किसी भी साधक को (मेरे से दूरी अथवा वियोग का अनुभव करते हुए भी) मुझे प्राप्त करने के लिए अपने हृदय में झांकना चाहिए| इसलिये पापी-पुण्यात्मा, मूर्ख-पण्डित, निर्धन-धनवान्, रोगी-निरोगी आदि कोई भी स्त्री, पुरुष किसी भी जाति, वर्ण, सम्प्रदाय, आश्रम, देश, काल, परिस्थिति आदि में क्यों न हो, भगवत् प्राप्ति का वह पूर्ण अधिकारी है| आवश्यकता केवल भगवत् प्राप्ति की ऐसी तीव्र अभिलाषा, लगन, व्याकुलता की है, जिसमें भगवत् प्राप्ति के बिना रहना असंभव हो जाए|

परमात्मा सर्वव्यापी, अर्थात् सब जगह समान रूप से परिपूर्ण होने पर भी हृदय में प्राप्त होते हैं| जैसे गाय के सम्पूर्ण शरीर में दूध व्याप्त होने पर भी वह उसके स्तनों से ही प्राप्त होता है, अथवा पृथ्वी में सर्वत्र जल रहने पर भी वह कुएँ आदि से ही प्राप्त होता है, ऐसे ही सूर्य, चन्द्र, अग्नि, पृथ्वी, जठराग्नि आदि सब में व्याप्त होने पर भी परमात्मा हृदय में प्राप्त होते हैं|

परमात्म-तत्व की प्राप्ति सम्बन्धी विशेष बात हृदय में निरन्तर स्थित रहने के कारण परमात्मा वास्तव में मनुष्य मात्र को प्राप्त हैं, परन्तु जड़ता (संसार) से माने हुए सम्बन्ध के कारण जड़ता की ओर ही दृष्टि रहने से नित्य प्राप्त परमात्मा अप्राप्त प्रतीत हो रहे हैं, अर्थात् उनकी प्राप्ति का अनुभव नहीं हो रहा है| जड़ता से सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद होते ही सर्वत्र विद्यमान (नित्य प्राप्त) परमात्म-तत्व स्वतः अनुभव में आ जाता है| परमात्म-तत्व प्राप्ति के लिये जो सत-कर्म, सत्-चर्चा और सत-चिंतन किया जाता है, उसमें जड़ता (असत्) का आश्रय रहता

है| इसका कारण है कि जड़ता (स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर) का आश्रय लिये बिना इनका होना सम्भव ही नहीं है| वास्तव में इनकी सार्थकता जड़ता से सम्बन्ध विच्छेद कराने में ही है| जड़ता से सम्बन्ध विच्छेद तभी होगा जब यह (सत-कर्म, सत्-चर्चा, सत-चिंतन) केवल संसार के हित के लिये ही किए जाएं, अपने लिये नहीं|

किसी विशेष साधन, गुण, योग्यता, लक्षण आदि के बदले में परमात्म-तत्व की प्राप्ति होगी, यह निरर्थक धारणा है| किसी मूल्य के बदले में जो वस्तु प्राप्त होती है, वह उस मूल्य से साधारणतः कम मूल्य की होती है| अतः यदि किसी विशेष साधना, योग्यता आदि के द्वारा ही परमात्म-तत्व की प्राप्ति का होना माना जाए तो परमात्मा उस साधना, योग्यता आदि से कम मूल्य के ही सिद्ध होंगे, जबकि परमात्मा किसी से कम मूल्य के नहीं हैं| इसलिये वह किसी साधना आदि से खरीदे नहीं जा सकते| इसके अतिरिक्त अगर किसी मूल्य (साधना, योग्यता आदि) के बदले में परमात्मा की प्राप्ति मानी जाए तो उनसे हमें क्या लाभ होगा? क्योंकि उनसे अधिक मूल्य की वस्तु (साधना आदि) तो हमारे पास पहले से है| सांसारिक पदार्थ कर्मों से मिलते हैं| परमात्मा की प्राप्ति कर्मों से नहीं होती क्योंकि परमात्म-तत्व की प्राप्ति किसी कर्म का फल नहीं है| प्रत्येक कर्म की उत्पत्ति अहं भाव से होती है और परमात्म-तत्व की प्राप्ति अहं भाव के मिटने पर होती है| इसका कारण है कि अहं भाव कृति (कर्म) है, और परमात्मा कृति रहित हैं| कृति रहित तत्व को किसी कृति से प्राप्त नहीं किया जा सकता, 'नास्त्यकृतः कृतेन'| इसका तात्पर्य यह हुआ कि परमात्म-तत्व की प्राप्ति मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर आदि जड़ पदार्थों के द्वारा नहीं, प्रत्युत जड़ता के त्याग से होती है| जब तक मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर, देश, काल, वस्तु आदि का आश्रय है, तब तक एक परमात्मा का आश्रय नहीं हो सकता| मन, बुद्धि आदि के आश्रय से परमात्म-तत्व की प्राप्ति होगी, यही साधक की मूल भूल है| अगर जड़ता का आश्रय और विश्वास छूट जाए तथा एक मात्र परमात्मा का ही आश्रय और विश्वास हो जाए तो परमात्म-तत्व की प्राप्ति में देरी नहीं लगती|

किसी बात की भूली हुई जानकारी का (किसी कारण से) पुनः प्राप्त होना, स्मृति कहलाता है| स्मृति और चिन्तन, दोनों में अंतर है| नई बात का चिन्तन और

पुरानी बात की स्मृति होती है| अतः चिन्तन संसार का और स्मृति परमात्मा की होती है, क्योंकि संसार पहले नहीं था और परमात्मा पहले (अनादि काल) से हैं| स्मृति में जो शक्ति है, वह चिन्तन में नहीं है| स्मृति में कर्तापन का भाव कम रहता है, जबकि चिन्तन में कर्तापन का भाव अधिक रहता है| एक स्मृति की जाती है और एक स्मृति होती है| जो स्मृति की जाती है, वह बुद्धि में, और जो होती है, वह स्वयं में होती है| होने वाली स्मृति जड़ता से तत्काल सम्बन्ध विच्छेद करा देती है| भगवान् यहाँ कहते हैं कि यह (होने वाली) स्मृति मुझ से ही होती है|

परमात्मा का अंश होते हुए भी जीव भूल से परमात्मा से विमुख हो जाता है और अपना सम्बन्ध संसार से मानने लगता है| इस भूल का नाश होने पर 'मैं भगवान् का ही हूँ, संसार का नहीं', ऐसा साक्षात् अनुभव हो जाना ही स्मृति है| स्मृति में कोई नया ज्ञान या अनुभव नहीं होता, प्रत्युत केवल विस्मृति (मोह) का नाश होता है| भगवान् से हमारा वास्तविक सम्बन्ध है, इस वास्तविकता का प्रकट होना ही स्मृति का प्राप्त होना है| जीव में निष्काम भाव (कर्मयोग), स्वरूप बोध (ज्ञानयोग) और भगवत् प्रेम (भक्तियोग), तीनों स्वतः विद्यमान हैं| जीव को (अनादि काल से) इनकी विस्मृति हो गई है| एक बार इनकी स्मृति हो जाने पर फिर विस्मृति नहीं होती| इसका कारण है कि यह स्मृति स्वयं में जाग्रत् होती है| बुद्धि में होने वाली लौकिक स्मृति (बुद्धि के क्षीण होने पर) नष्ट भी हो सकती है, पर स्वयं में होने वाली स्मृति कभी नष्ट नहीं होती| किसी विषय की जानकारी को ज्ञान कहते हैं| लौकिक और पारमार्थिक जितना भी ज्ञान है, वह सब ज्ञान परमात्मा का आभास मात्र है| अतः ज्ञान को भगवान् अपने से ही होने वाला बताते हैं| वास्तव में ज्ञान वही है जो स्वयं से जाना जाए| अनन्त, पूर्ण और नित्य होने के कारण इस ज्ञान में कोई सन्देह या भ्रम नहीं होता| यद्यपि इन्द्रिय और बुद्धिजन्य ज्ञान भी ज्ञान कहलाता है, तथापि सीमित, अलग (अपूर्ण) तथा परिवर्तनशील होने के कारण इस ज्ञान में सन्देह या भ्रम रहता है| जैसे नेत्रों से देखने पर सूर्य अत्यन्त बड़ा होते हुए भी (आकाश में) छोटा सा दिखता है, इत्यादि| बुद्धि से जिस बात को पहले उचित समझते थे, बुद्धि के विकसित अथवा शुद्ध होने पर वही बात त्रुटि पूर्ण दिखने लग जाती है| इसका तात्पर्य यह है कि इन्द्रिय और बुद्धिजन्य ज्ञान करण सापेक्ष और अल्प होता है| अल्प ज्ञान

ही अज्ञान कहलाता है| इसके विपरीत स्वयं का ज्ञान किसी करण (इन्द्रिय, बुद्धि आदि) की अपेक्षा नहीं रखता और वह सदा पूर्ण होता है| वास्तव में इन्द्रिय और बुद्धिजन्य ज्ञान भी स्वयं के ज्ञान से प्रकाशित होते हैं, अर्थात् सत्ता पाते हैं| संशय, भ्रम, विपरीत भाव, तर्क, वितर्क आदि दोषों के दूर होने का नाम अपोहन है| भगवान् कहते हैं कि यह संशय आदि दोष भी मेरी कृपा से ही दूर होते हैं|

शास्त्रों की बातें सत्य हैं या असत्य, भगवान् को किसने देखा है, संसार ही सत्य है, इत्यादि, संशय और भ्रम भगवान की कृपा से ही मिटते हैं| सांसारिक पदार्थों में अपना हित देखना, उनकी प्राप्ति में सुख देखना, प्रतिक्षण नष्ट होने वाले संसार की सत्ता में सुख देखना, आदि विपरीत भाव भी भगवान् की कृपा से ही दूर होते हैं|

सम्पूर्ण शास्त्रों का एक मात्र तात्पर्य परमात्मा का वास्तविक ज्ञान कराने अथवा उनकी प्राप्ति कराने में ही है| यहाँ भगवान् यह बात स्पष्ट करते हैं कि वेदों का वास्तविक तात्पर्य मेरी प्राप्ति कराने में ही है, सांसारिक भोगों की प्राप्ति कराने में नहीं| श्रुतियों में सकाम भाव का विशेष वर्णन आने का यह कारण भी है कि संसार में सकाम मनुष्यों की संख्या अधिक रहती है| इसलिये श्रुति (सब की माता होने से) उनका भी पालन करती है|

जानने योग्य एक मात्र परमात्मा ही हैं, जिनको जान लेने पर फिर कुछ भी जानना शेष नहीं रहता| परमात्मा को जाने बिना संसार को कितना ही क्यों न जान लें, जानकारी कभी पूरी नहीं होती, सदा अधूरी ही रहती है | अर्जुन में भगवान् को जानने की विशेष जिज्ञासा थी, इसलिये भगवान् कहते हैं कि सम्पूर्ण वेदों और शास्त्रों के द्वारा जानने योग्य मैं स्वयं तुम्हारे सामने बैठा हूँ|

भगवान् से ही वेद प्रकट हुए हैं| अतः वह ही वेदों के अन्तिम सिद्धान्त को भली भांति बताकर वेदों में प्रतीत होने वाले विरोधों का अच्छी प्रकार से समन्वय कर सकते हैं| इसलिये भगवान् कहते हैं कि (वेदों का पूर्ण वास्तविक ज्ञाता होने के कारण) मैं ही वेदों के यथार्थ तत्व का ज्ञाता हूँ| वेदों के अर्थ, भाव आदि को भगवान् ही यथार्थ रूप से जानते हैं| वेदों में कौन सी बात किस भाव या उद्देश्य

से कही गई है, वेदों का यथार्थ तात्पर्य क्या है, इत्यादि बातें भगवान् ही पूर्ण रूप से जानते हैं, क्योंकि भगवान् से ही वेद प्रकट हुए हैं|

वेदों में भिन्न भिन्न विषय होने के कारण अच्छे अच्छे विद्वान् भी एक निर्णय नहीं ले पाते| इसलिये वेदों के यथार्थ ज्ञाता भगवान् का आश्रय लेने से ही वह वेदों का तत्व जान सकते हैं| पहले भगवान् ने संसार-वृक्ष को तत्व से जानने वाले मनुष्य को वेदवित् कहा था| अब यहां भगवान् स्वयं को वेदवित् कहते हैं| इसका तात्पर्य यह है कि संसार के यथार्थ तत्व को जान लेने वाला महापुरुष भगवान् से अभिन्न हो जाता है| संसार के यथार्थ तत्व को जानने का अभिप्राय है, संसार की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, परमात्मा की ही सत्ता है, इस प्रकार जानते हुए संसार से माने हुए सम्बन्ध को छोड़कर अपना सम्बन्ध भगवान् से जोड़ना, संसार का आश्रय छोड़कर भगवान् के आश्रित हो जाना|

प्रभु कहते हैं कि उनसे बढ़कर इस जगत् का दूसरा कोई भी महान कारण नहीं है| सत् और असत्, सब कुछ मैं ही हूँ, 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते'| मैं ही सब की उत्पत्ति का कारण हूँ और मुझ से ही सब जगत् चेष्टा करता है, 'न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्'| चर और अचर कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है जो मुझ से रहित हो, अर्थात् चराचर सब प्राणी मेरे ही स्वरूप हैं| मैं सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में स्थित हूँ| इसका तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण प्राणी, पदार्थ, परमात्मा की सत्ता से ही सत्तावान् हो रहे हैं| परमात्मा से अलग किसी की भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है| प्रकाश के अभाव (अन्धकार) में कोई वस्तु दिखाई नहीं देती| आँखों से किसी वस्तु को देख पर पहले प्रकाश दिखता है, उसके बाद वस्तु दिखती है। प्रत्येक वस्तु से पहले ज्ञान (स्वयं प्रकाश परमात्म-तत्व) रहता है| अतः संसार में परमात्मा को व्याप्त कहने पर भी वस्तुतः संसार बाद में है और उसका अधिष्ठान परमात्म-तत्व पहले है, अर्थात् पहले परमात्म-तत्व दिखता है, बाद में संसार| परन्तु संसार में राग होने के कारण मनुष्य की दृष्टि उसके प्रकाशक (परमात्म-तत्व) पर नहीं जाती|

परमात्मा की सत्ता के बिना संसार की कोई सत्ता नहीं है| परन्तु परमात्म-तत्व सत्ता की ओर दृष्टि न रहने तथा सांसारिक प्राणी पदार्थों में राग या सुखासक्ति

रहने के कारण उन प्राणी पदार्थों की पृथक् (स्वतन्त्र) सत्ता प्रतीत होने लगती है, और परमात्मा की वास्तविक सत्ता (जो तत्व से है) नहीं दिखती| यदि संसार में राग या सुखासक्ति का सर्वथा अभाव हो जाए तो तत्व से एक परमात्म-तत्व सत्ता ही दिखने या अनुभव में आने लगती है| अतः विभूतियों के वर्णन का तात्पर्य यही है कि किसी भी प्राणी पदार्थ की ओर दृष्टि जाने पर साधक को एक मात्र भगवान् की स्मृति होनी चाहिए, अर्थात् उसे प्रत्येक प्राणी पदार्थ में भगवान् को ही देखना चाहिए|

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।।१५-१६।।

हैं दो पुरुष क्षर अक्षर इस जग जान लो तुम अर्जुन |
समझो तुम है आत्मा अक्षर और हैं क्षर सब भूजन ||१५-१६||

भावार्थ: *हे अर्जुन, इस जगत में क्षर (नश्वर) और अक्षर (अनश्वर) यह दो पुरुष हैं, यह जान लो| समस्त भूत क्षर हैं और आत्मा अक्षर है, यह तुम समझ लो|*

टीका: यहाँ 'जगत' शब्द से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को समझना चाहिए| इस जगत् में दो विभाग जानने में आते हैं, शरीरादि नाशवान् पदार्थ (जड़) और अविनाशी जीवात्मा (चेतन)| विचार करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि एक तो प्रत्यक्ष दिखने वाला शरीर है और एक उसमें रहने वाली आत्मा है| आत्मा के रहने से ही प्राण कार्य करते हैं और शरीर का संचालन होता है| आत्मा के प्राणों के निकलते ही शरीर का संचालन बंद हो जाता है, और शरीर मृतक हो जाता है| लोग उस शरीर को जला देते हैं| इसका कारण है कि महत्व नाशवान् शरीर का नहीं, प्रत्युत उसमें रहने वाले अविनाशी आत्मा का है| पञ्चमहाभूतों (आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी) से बने हुए शरीरादि जितने पदार्थ हैं, वह सभी जड़ और नाशवान् हैं| प्राणियों के (प्रत्यक्ष देखने में आने वाले) स्थूल शरीर स्थूल समष्टि जगत् के साथ दस इन्द्रियाँ, पाँच प्राण, मन और बुद्धि हैं| इन सत्रह तत्त्वों से युक्त सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म समष्टि जगत् के साथ एक हैं और कारण शरीर (स्वभाव,

कर्म संस्कार, अज्ञान) कारण समष्टि जगत् (मूल प्रकृति) के साथ एक हैं| यह सब क्षरण शील (नाशवान्) होने के कारण क्षर नाम से कहे गए हैं|

वास्तव में व्यष्टि नाम से कोई वस्तु नहीं है, केवल समष्टि संसार के थोड़े अंश की वस्तु को अपनी मानने के कारण उसको व्यष्टि कह देते हैं| संसार के साथ शरीर आदि वस्तुओं की भिन्नता केवल (राग, ममता आदि के कारण) मानी हुई है, वास्तव में नहीं है| पदार्थ, और क्रियाएँ प्रकृति की ही हैं| इसलिये स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर की समस्त क्रियाएँ क्रमशः स्थूल, सूक्ष्म और कारण समष्टि संसार के हित के लिये ही करनी हैं, अपने लिये नहीं|

जिस तत्व का कभी विनाश नहीं होता और जो सदा निर्विकार रहता है, उस आत्मा का वाचक यहाँ अक्षर शब्द है| प्रकृति जड़ है, और आत्मा (चेतन परमात्मा का अंश होने से) चेतन है|

यहाँ क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम शब्द क्रमशः पुल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसक लिंग हैं| इससे यह समझना चाहिए कि प्रकृति, आत्मा और परमात्मा न तो स्त्री है, न पुरुष और न नपुंसक| वास्तव में लिंग भी शब्द की दृष्टि से है, तत्व से कोई लिंग नहीं है| क्षर और अक्षर, दोनों से उत्तम पुरुषोत्तम नाम की सिद्धि के लिये यहाँ भगवान् ने क्षर और अक्षर, दोनों को पुरुष नाम से कहा है|

पहले प्रभु ने जिस संसार-वृक्ष का स्वरूप बताकर उसका छेदन करने की प्रेरणा दी थी, उसी संसार-वृक्ष को यहाँ क्षर नाम से कहा है| यहाँ भूजन शब्द प्राणियों के स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों का ही वाचक समझना चाहिए| इसका कारण है कि यहाँ भूजनों को नाशवान् बताया गया है| प्राणियों के शरीर ही नाशवान् होते हैं, प्राणी स्वयं नहीं| अतः यहाँ भूजन शब्द जड़ शरीरों के लिये ही आया है| पहले भगवान् ने जिसको अपना सनातन अंश बताया है, उसी आत्मा को यहाँ अक्षर नाम से कहा गया है|

आत्मा चाहे जितने शरीर धारण करे, चाहे जितने लोकों में जाए उसमें कभी कोई विकार उत्पन्न नहीं होता, वह सदा ज्यों का त्यों रहता है| इसलिये यहाँ

उसको अक्षर कहा गया है| परमात्मा और जीवात्मा दोनों के स्वरूप का वर्णन प्रायः समान ही मिलता है| जैसे आत्मा को यहां अक्षर कहा गया है, ऐसे ही पहले आत्मा को कूटस्थ और अक्षर, दोनों शब्दों से सम्बोधित किया गया है| आत्मा और परमात्मा, दोनों में ही परस्पर तात्त्विक एवं स्वरूपगत एकता है| स्वरूप से आत्मा सदा सर्वदा निर्विकार है, परन्तु भूल से प्रकृति और उसके कार्य शरीरादि से अपनी एकता मान लेने के कारण उसकी जीव संज्ञा हो जाती है, वास्तव में वह साक्षात् परमात्म-तत्व ही है|

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ।।१५-१७।।

विलक्षण व्यक्तित्व को कहें पुरुषोत्तम प्रथानंदन |
कर प्रवेश त्रिलोक करें अव्यय ईश्वर सब को धारन ||१५-१७||

भावार्थ: *हे अर्जुन, विलक्षण व्यक्तित्व को पुरुषोत्तम कहते हैं| अव्यय ईश्वर त्रिलोक में प्रवेश कर सब को धारण करता है|*

टीका: पहले क्षर और अक्षर दो प्रकार के पुरुषों का वर्णन करने के बाद अब भगवान् यह बताते हैं कि उन दोनों से पुरुषोत्तम विलक्षण है| यहाँ प्रभु ने विलक्षण (अन्य) शब्द से अपने को नाशवान् क्षर से अतीत और अविनाशी अक्षर से उत्तम बताया है| परमात्मा का अंश होते हुए भी आत्मा की दृष्टि या आकर्षण नाशवान् क्षर की ओर हो रहा है| इसलिये यहाँ भगवान् को उससे विलक्षण बताया गया है| इस विलक्षण पुरुष को ही पुरुषोत्तम नाम से कहा गया है| पुरुषोत्तम शब्द निर्गुण का वाचक माना जाता है, जिसका अर्थ है, परम (श्रेष्ठ) पुरुष (आत्मा)अथवा सम्पूर्ण जीवों की आत्मा| यहां पुरुषोत्तम और ईश्वर, यह दोनों शब्द आए हैं| इसका तात्पर्य है कि निर्गुण और सगुण सब एक पुरुषोत्तम ही है| वह विलक्षण पुरुष (पुरुषोत्तम) तीनों लोकों में अर्थात् सर्वत्र समान रूप से नित्य व्याप्त है|

परमात्मा ही सम्पूर्ण प्राणियों का भरण पोषण करते हैं, पर जीव संसार से अपना सम्बन्ध मान लेने के कारण भूल से सांसारिक व्यक्तियों आदि को अपना मानकर उनके भरण पोषण आदि का भार अपने ऊपर ले लेता है, इससे वह व्यर्थ ही दुःख पाता रहता है|

भगवान् को अव्यय कहने का तात्पर्य है कि सम्पूर्ण लोकों का भरण पोषण करते रहने पर भी भगवान् का कुछ व्यय नहीं होता, अर्थात् उनमें किसी प्रकार की किंचित मात्र भी कमी नहीं आती| वह सदा ज्यों के त्यों रहते हैं| ईश्वर शब्द सगुण का वाचक माना जाता है, जिसका अर्थ है, शासन करने वाला|

पालन पोषण करने में भगवान् किसी के साथ कोई पक्षपात (विषमता) नहीं करते| वह भक्त-अभक्त, पापी-पुण्यात्मा,आस्तिक-नास्तिक आदि सभी का समान रूप से पालन-पोषण करते हैं| प्रत्यक्ष देखने में आता है कि भगवान् द्वारा रचित सृष्टि में सूर्य सब को समान रूप से प्रकाश देता है, पृथ्वी सब को समान रूप से धारण करती है, जठराग्नि सब के अन्न को समान रूप से पचाती है, वायु सब को (श्वास लेने के लिये) समान रूप से प्राप्त होती है, अन्न, जल सब को समान रूप से तृप्त करते हैं, इत्यादि।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ।।१५-१८।।

हूँ मैं अतीत क्षर से और उत्तम अक्षर से हे अर्जुन |
हूँ प्रसिद्ध नाम पुरुषोत्तम चारों वेद व् त्रिभुवन ||१५-१८||

भावार्थ: *हे अर्जुन, मुझे क्षर से अतीत और अक्षर से उत्तम समझो| मैं त्रिलोक और चारों वेद में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ|*

टीका: यहां भगवान् का यह भाव है कि क्षर (प्रकृति) प्रतिक्षण परिवर्तनशील है और मैं नित्य निरन्तर निर्विकार रूप से ज्यों का त्यों रहने वाला हूँ| इसलिये मैं क्षर से सर्वथा अतीत हूँ|

शरीर से पर (व्यापक, श्रेष्ठ, प्रकाशक, सबल, सूक्ष्म) इन्द्रियाँ हैं, इन्द्रियों से पर मन है और मन से पर बुद्धि है| इस प्रकार एक दूसरे से पर होते हुए भी शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि एक ही जाति के जड़ हैं| परन्तु परमात्म-तत्व इनसे भी अत्यन्त पर है क्योंकि वह जड़ नहीं है, प्रत्युत चेतन है|

यद्यपि परमात्मा का अंश होने के कारण आत्मा (अक्षर) की परमात्मा से तात्त्विक एकता है, तथापि यहाँ भगवान् अपने को आत्मा से भी उत्तम बताते हैं| इसके कारण हैं, (१) परमात्मा का अंश होने पर भी आत्मा क्षर (जड़ प्रकृति) के साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है और प्रकृति के गुणों से मोहित हो जाता है जबकि परमात्मा (प्रकृति से अतीत होने के कारण) कभी मोहित नहीं होते| (२) परमात्मा प्रकृति को अपने अधीन करके लोक में अवतार लेते हैं जबकि आत्मा प्रकृति के वश में होकर लोक में आता है| (३) परमात्मा सदैव निर्लिप्त रहते हैं, जबकि आत्मा को निर्लिप्त होने के लिये साधना करनी पड़ती है|

भगवान् द्वारा अपने को क्षर से अतीत और अक्षर से उत्तम बताने से यह भाव भी प्रकट होता है कि क्षर और अक्षर, दोनों में भिन्नता है| यदि उन दोनों में भिन्नता न होती, तो भगवान् अपने को या तो उन दोनों से ही अतीत बताते या दोनों से ही उत्तम बताते| अतः यह सिद्ध होता है कि जैसे भगवान् क्षर से अतीत और अक्षर से उत्तम हैं, ऐसे ही अक्षर भी क्षर से अतीत और उत्तम है|

शास्त्रों में भगवान् पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हैं| शुद्ध ज्ञान का नाम वेद है, जो अनादि है| वही ज्ञान चार वेदों के रूप से प्रकट हुआ है| वेदों में भी भगवान् पुरुषोत्तम नाम से ही प्रसिद्ध हैं| पहले प्रभु ने कहा कि वह क्षर और अक्षर, दोनों से उत्तम पुरुष एवं विलक्षण हैं, यहां स्वयं को भगवान् पुरुषोत्तम भी बताते हैं|

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ।।१५-१९।।

जान सके हो रहित मोह मुझे पुरुषोत्तम जो जन |
हो कर सर्वज्ञ वह करे सम्पूर्ण भाव मेरा भजन ||१५-१९||

भावार्थ: *जो पुरुष मोह रहित होकर मुझ पुरुषोत्तम को जान जाता है, वह सर्वज्ञ होकर सम्पूर्ण भाव से (अर्थात् पूर्ण हृदय से) मेरा भजन (मेरी भक्ति) करता है|*

टीका: आत्मा परमात्मा का सनातन अंश है, अतः अपने अंशी परमात्मा के वास्तविक सम्बन्ध (जो सदा से ही है) का अनुभव करना ही उसका असम्मूढ़ (मोह से रहित) होना है| परमात्मा को तत्व से जानने में मोह (मूढ़ता) ही बाधक है| किसी वस्तु की वास्तविकता का ज्ञान तभी हो सकता है, जब उस वस्तु से राग या द्वेष पूर्वक माना गया कोई सम्बन्ध न हो| नाशवान् पदार्थों से राग, द्वेष पूर्वक सम्बन्ध मानना ही मोह है| संसार को तत्व से जानते ही परमात्मा से अपनी अभिन्नता का अनुभव हो जाता है, और परमात्मा को तत्व से जानते ही संसार से अपनी भिन्नता का अनुभव हो जाता है| इसका तात्पर्य है कि संसार को तत्व से जानने से संसार से माने हुए सम्बन्ध का विच्छेद हो जाता है और परमात्मा को तत्व से जानने से परमात्मा से वास्तविक सम्बन्ध का अनुभव हो जाता है| संसार से अपना सम्बन्ध मानना ही भक्ति में व्यभिचार दोष है| इस व्यभिचार दोष से सर्वथा रहित होने में ही कल्याण है|

जिसकी मूढ़ता सर्वथा नष्ट हो गई है, वही मनुष्य भगवान् को पुरुषोत्तम जानता है| क्षर से सर्वथा अतीत पुरुषोत्तम (परम पुरुष परमात्मा) को ही सर्वोपरि मानकर उनके सम्मुख हो जाना, केवल उन्हीं को अपना मान लेना ही भगवान् को यथार्थ रूप से पुरुषोत्तम जानना है| संसार में जो कुछ भी प्रभाव देखने, सुनने में आता है, वह सब एक भगवान् (पुरुषोत्तम) का ही है, ऐसा मान लेने से संसार का आकर्षण सर्वथा मिट जाता है| यदि संसार का थोड़ा सा भी आकर्षण रहता है तो यही समझना चाहिए कि अभी भगवान् को दृढ़ता से नहीं माना|

जो भगवान् को पुरुषोत्तम जान लेता है, और इस विषय में जिसके अन्तःकरण में कोई विकल्प, भ्रम या संशय नहीं रहता, उस मनुष्य के लिये जानने योग्य कोई तत्व शेष नहीं रहता| इसलिये भगवान् उसको सर्ववित् कहते हैं| भगवान् को जानने वाला व्यक्ति कितना ही कम पढ़ा लिखा क्यों न हो, वह सब कुछ जानने वाला है क्योंकि उसने जानने योग्य तत्व को जान लिया है| उसको कुछ और जानना शेष नहीं है| जो मनुष्य भगवान् को पुरुषोत्तम जान लेता है, उस

सर्ववित् मनुष्य की पहचान यह है कि वह सब प्रकार से स्वतः भगवान् का ही भजन करता है|

जब मनुष्य भगवान् को क्षर से अतीत जान लेता है, तब उसका मन क्षर (संसार) से हटकर भगवान् में लग जाता है और जब वह भगवान् को अक्षर से उत्तम जान लेता है, तब उसकी बुद्धि (श्रद्धा) भगवान् में लग जाती है| फिर उसकी प्रत्येक वृत्ति और क्रिया से स्वतः भगवान का भजन ही होता है| इस प्रकार सब प्रकार से भगवान् का भजन करना ही अनंत भक्ति है| शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि सांसारिक पदार्थों से जब तक मनुष्य राग पूर्वक अपना सम्बन्ध मानता है, तब तक वह सब प्रकार से भगवान् का भजन नहीं कर सकता। इसका कारण है कि जहां राग होता है, वृत्ति स्वतः वहीं जाती है| 'मैं भगवान् का हूँ और भगवान् ही मेरे हैं', इस वास्तविकता को दृढ़ता पूर्वक मान लेने से स्वतः सब प्रकार से भगवान् का भजन होता है| फिर भक्त की क्रियाएँ (सोना, जागना, बोलना, चलना, खाना, पीना आदि) भगवान् के प्रसन्नता के लिये ही होती हैं, अपने लिये नहीं|

ज्ञानमार्ग में जानना और भक्तिमार्ग में मानना मुख्य होता है| जिस बात में किंचित मात्र भी सन्देह न हो, उसे दृढ़ता पूर्वक मानना ही भक्तिमार्ग में जानना है| भगवान् को सर्वोपरि मान लेने के बाद भक्त सब प्रकार से भगवान् का ही भजन करता है| भगवान् को पुरुषोत्तम (सर्वोपरि) मानने से भी मनुष्य सर्ववित् हो जाता है|

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ।।१५-२०।।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोग पञ्चदसोऽध्यायः |

किया मैंने वर्णन गुह्यतम ज्ञान हे निष्पाप अर्जुन |
हो जाते प्रमत और कृतकृत्य जान यह भक्तगन ||१५-२०||

ब्रह्मविद्या योगशास्त्रमय महाग्रंथ गीतबंधन ||
श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषदरूप ग्रन्थ अति पावन |
श्री कृष्णार्जुन संवाद पुरुषोत्तमयोग नामन ||
हुआ अत्र सम्पूर्ण पञ्चदस अध्याय करे कल्याण जन ||

भावार्थ: *हे निष्पाप अर्जुन, गुह्यतम ज्ञान का मैंने वर्णन किया| इस (ज्ञान) को जानकर भक्तगण बुद्धिमान और कृतकृत्य हो जाते हैं|*

इस प्रकार उपनिषद, ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र रूप श्रीमद्भगवद्गीता के श्री कृष्ण-अर्जुन संवाद में 'पुरुषोत्तमयोग' नामक पञ्चदस अध्याय संपूर्ण हुआ|

टीका: प्रभु ने अर्जुन को निष्पाप इसलिये कहा गया है कि वह दोष दृष्टि (असूया) से रहित थे| दोष दृष्टि पाप है| इससे अन्तःकरण अशुद्ध होता है| जो दोष दृष्टि से रहित होता है, वही भक्ति का पात्र होता है|

गोपनीय बात दोष दृष्टि से रहित मनुष्य के सामने ही कही जाती है| यदि दोष दृष्टि वाले मनुष्य के सामने गोपनीय बात कह दी जाए तो उस मनुष्य पर उस बात का विपरीत प्रभाव पड़ सकता है, अर्थात् वह उस गोपनीय बात का विपरीत अर्थ लगाकर वक्ता में दोष देखने लग जा सकता है| वह यह समझ सकता है कि यह आत्मश्लाघी है, दूसरों को मोहित करने के लिये ही यह सब कह रहा है, इत्यादि| इससे दोष दृष्टि वाले मनुष्य की बहुत हानि होती है| दोष दृष्टि होने में विशेष कारण है, अभिमान| मनुष्य में जिस बात का अभिमान हो, उस बात की उसमें कमी होती है| उस कमी को वह दूसरों में भी देखने लगता है| अपने में अच्छाई का अभिमान होने से दूसरों में बुराई दिखती है, और दूसरों में बुराई देखने से स्वयं में अच्छाई का अभिमान आता है| यदि दोष दृष्टि वाले मनुष्य के सामने भगवान् अपने को सर्वोपरि पुरुषोत्तम कहें, तो उसको विश्वास नहीं होगा, उलटे वह यह सोचेगा कि भगवान् आत्मश्लाघी (अपने मुँह अपने बड़ाई करने वाले) हैं| गोस्वामी तुलसी दास जी कहते हैं:

'निज अग्यान राम पर धरहीं'|

भगवान् के प्रति दोष दृष्टि होने से मनुष्य की बहुत हानि होती है| इसलिये भगवान् और संतजन दोष दृष्टि वाले अश्रद्धालु मनुष्य के सामने गोपनीय बातें प्रकट नहीं करते| दोष दृष्टि वाले मनुष्य के सामने गोपनीय (रहस्य युक्त) बातें मुख से निकलनी ही नहीं चाहिए|

अर्जुन के लिये निष्पाप सम्बोधन देने में यह भाव है कि भगवान् ने जो परम गोपनीय ज्ञान दिया है, वह अर्जुन जैसे दोष दृष्टि से रहित सरल पुरुष के सम्मुख ही प्रकट किया जा सकता है| भगवान् ने क्षर (संसार) और अक्षर (आत्मा) का वर्णन करके अपना अप्रतिम प्रभाव प्रकट किया है, फिर भगवान् ने यह गोपनीय बात प्रकट की है कि जिसका यह सब प्रभाव है, वह (क्षर से अतीत और अक्षर से उत्तम) पुरुषोत्तम वही हैं|

नाटक में पात्रता धारण किए हुए मनुष्य की तरह भगवान् इस पृथ्वी पर मनुष्य का स्वाँग धारण करके अवतरित होते हैं, और ऐसा बर्ताव करते हैं कि अज्ञानी मनुष्य उनको नहीं जान पाते| स्वाँग में अपना वास्तविक परिचय नहीं दिया जाता, गुप्त रखा जाता है| परन्तु भगवान् ने अपना वास्तविक परिचय देकर अत्यन्त गोपनीय बात प्रकट कर दी है कि 'मैं ही पुरुषोत्तम हूँ'| इसलिये इस ज्ञान को गुह्यतम कहा गया है| शास्त्र में प्रायः संसार, आत्मा और परमात्मा का वर्णन किया जाता है। इन तीनों का ही वर्णन यहां प्रभु ने किया है, अतः इस ज्ञान को शास्त्र भी कहा जा सकता है| इस ज्ञान में पुरुषोत्तम का वर्णन मुख्य होने के कारण इस ज्ञान को 'गुह्यतम ज्ञान' कहा गया है| इस गुह्यतम ज्ञान में भगवान् ने अपनी प्राप्ति के छः उपायों का वर्णन किया है, (१) संसार को तत्व से जानना, (२) संसार से माने हुए सम्बन्ध का विच्छेद करके भगवान् के शरण होना, (३) अपने में स्थित परमात्म-तत्व को जानना, (४) वेदाध्ययन के द्वारा तत्व को जानना, (५) भगवान् को पुरुषोत्तम जानकर सब प्रकार से उनका भजन करना, एवं (६) प्रभु के सम्पूर्ण तत्व को जानना|

सम्पूर्ण भौतिक जगत् का प्रकाशक और अधिष्ठान, समस्त प्राणियों के हृदय में स्थित, वेदों के द्वारा जानने योग्य एवं क्षर और अक्षर दोनों से उत्तम साक्षात् पुरुषोत्तम द्वारा यह गुह्यतम ज्ञान प्रभु की अत्यंत कृपा देने वाला है|

वास्तव में स्वयं भगवान् के अतिरिक्त दूसरा कोई भी उनको पूर्ण रूप से नहीं जान सकता| अर्जुन ने स्वयं भगवान् से पहले कहा था कि आपके अतिरिक्त दूसरा कोई भी मेरे संशय का छेदन नहीं कर सकता| यहाँ भगवान् मानो यह कह रहे हैं कि मेरे द्वारा कहे हुए विषय में किसी प्रकार का संशय रहने की सम्भावना ही नहीं है| संसार की वास्तविकता, जीवात्मा के स्वरूप और अपने अप्रतिम प्रभाव एवं गोपनीयता का वर्णन जो भगवान् ने किया है, वह 'गुह्यतम ज्ञान' है| इसको जानने के पश्चात कुछ भी जानना शेष नहीं रहता, क्योंकि उसने जानने योग्य पुरुषोत्तम को जान लिया| परमात्म-तत्व को जानने से मनुष्य की मूढ़ता नष्ट हो जाती है| परमात्म-तत्व को जाने बिना लौकिक सम्पूर्ण विद्याएँ, भाषाएँ, कलाएँ, आदि क्यों न जान ली जाएं, उनसे मूढ़ता नहीं मिटती क्योंकि लौकिक सब विद्याएँ आरम्भ और समाप्त होने वाली तथा अपूर्ण हैं| जितनी लौकिक विद्याएँ हैं, वह सब परमात्मा से ही प्रकट होने वाली हैं, अतः वह परमात्मा को प्रकाशित नहीं कर सकतीं| इन सब लौकिक विद्याओं से अनजान होते हुए भी जिसने परमात्मा को जान लिया है, वही वास्तव में ज्ञानवान् है| भगवद भजन करने वाले जिस मोह रहित भक्त को प्रभु ने सर्ववित् कहा गया है, वही बुद्धिमान् है| भक्ति के समान कोई लाभ नहीं है, 'लाभु कि किछु हरि भगति समाना'| अतः जिसने भक्ति को प्राप्त कर लिया, वह प्राप्त-प्राप्तव्य हो जाता है, अर्थात् उसके लिये कुछ भी पाना शेष नहीं रहता| भगवत्-तत्व की यह विलक्षणता है कि कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग, तीनों में से किसी एक की सिद्धि से कृत-कृत्यता, ज्ञात-ज्ञातव्यता, और प्राप्त-प्राप्तव्यता, तीनों की प्राप्ति हो जाती है| इसलिये जो भगवत्-तत्व को जान लेता है, उसके लिये फिर कुछ जानना, पाना और करना शेष नहीं रहता| उसका मनुष्य जीवन सफल हो जाता है|

अध्याय १६: दैवासुरसम्पद्विभागयोग

श्रीभगवानुवाच
अभयं सत्त्वसंशुद्धिः ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ।।१६-१।।

श्रीभगवानुवाच
छंदः
पाएं जो दैवीय सम्पदा कहें उनके लक्षण अब भगवन |
जो निडर दानी ज्ञानयोगी कर सकें इन्द्रिय दमन ||
स्वाध्यायी तपी यज्ञ-कर्ता स्वभाव जिनका निरंजन ||१६-१||

भावार्थ: *अब भगवान् उन प्राणी के लक्षण बता रहे हैं जो दैवीय सम्पदा पाते हैं| जो प्राणी निडर, ज्ञानयोगी, दानी, इन्द्रियों का दमन कर सकने वाले, स्वाध्यायी, तपी, यज्ञ-कर्ता, सहज स्वभाव वाले हों|*

टीका: पहले भगवान् ने कहा है कि जो मुझे पुरुषोत्तम स्वरुप में जान लेता है, वह सब प्रकार से मेरा ही भजन करता है, अर्थात् वह मेरा अनन्य भक्त हो जाता है| इस प्रकार एक मात्र भगवान् का उद्देश्य होने पर साधक में दैवीय सम्पत्ति स्वतः प्रकट होने लग जाती है| अतः भगवान् यहां क्रमशः भाव, आचरण और प्रभाव को लेकर दैवीय सम्पत्ति का वर्णन करते हैं|

अनिष्ट की आशंका से मनुष्य के भीतर जो घबराहट होती है, उसका नाम डर है, और उस डर के सर्वथा अभाव का नाम 'निडर' है| डर दो रीति से होता है, (१) बाहर से और (२) भीतर से|

चोर, डाकू, व्याघ्र, सर्प आदि प्राणियों से जो डर होता है, वह बाहर का डर है| यह डर शरीर नाश की आशंका से होता है| परन्तु जब यह अनुभव हो जाता है कि यह शरीर नाशवान् है और जाने वाला ही है, तो फिर डर नहीं रहता| अपने वर्ण, आश्रम आदि के अनुसार कर्तव्य पालन करते हुए उसमें भगवान् की आज्ञा

के विरुद्ध कोई काम न हो जाए, हमें विद्या पढ़ाने वाले अच्छी शिक्षा देने वाले आचार्य, गुरु, सन्त, महात्मा, माता, पिता आदि के वचनों की आज्ञा की अवहेलना न हो जाए, हमारे द्वारा शास्त्र और कुल मर्यादा के विरुद्ध कोई आचरण न बन जाए, इस प्रकार का डर भी बाहरी डर कहलाता है| परन्तु यह डर वास्तव में डर नहीं है, प्रत्युत यह तो निडर बनाने वाला डर है| ऐसा डर तो साधक के जीवन में होना ही चाहिए| ऐसा डर होने से ही वह अपने मार्ग पर भली भांति चल सकता है|

मनुष्य जब पाप, अन्याय, अत्याचार आदि निषिद्ध आचरण करना चाहता है, तब (उनको करने की भावना मन में आते ही) भीतर से डर पैदा होता है| मनुष्य निषिद्ध आचरण तभी तक करता है, जब तक उसके मन में 'मेरा शरीर बना रहे, मेरा मान, सम्मान होता रहे, मुझे सांसारिक भोग पदार्थ मिलते रहें', इस प्रकार सांसारिक जड़ वस्तुओं की प्राप्ति का और उनकी रक्षा का उद्देश्य रहता है| परन्तु जब मनुष्य का एक मात्र उद्देश्य चिन्मय तत्व को प्राप्त करने का हो जाता है, तब उसके द्वारा अन्याय, दुराचार छूट जाते हैं और वह सर्वथा निडर हो जाता है| इसका कारण है कि उसके लक्ष्य परमात्म-तत्व में कभी कमी नहीं आती और वह कभी नष्ट नहीं होता| जब मनुष्य के आचरण ठीक नहीं होते और वह अन्याय, अत्याचार आदि में लगा रहता है, तब उसको डर लगता है| जैसे रावण से मनुष्य, देवता, यक्ष, राक्षस आदि सभी डरते थे, पर वही रावण जब सीता का हरण करने के लिये जाता है, तब वह डरता है| ऐसे ही कौरवों की अठारह अक्षौहिणी सेना के बाजे बजे, तो उसका पाण्डव सेना पर कुछ भी प्रभाव नहीं हुआ, पर जब पाण्डवों की सात अक्षौहिणी सेना के बाजे बजे, तब कौरव सेना के हृदय विदीर्ण हो गए| इसका तात्पर्य यह है कि अन्याय, अत्याचार करने वालों के हृदय निर्बल हो जाते है, इसलिये वह भयभीत होते हैं| जब मनुष्य अन्याय आदि को छोड़कर अपने आचरणों एवं भावों को शुद्ध बनाता है, तब उसका डर मिट जाता है| मनुष्य शरीर प्राप्त करके यह जीव जब तक करने योग्य कार्य को नहीं करता, जानने योग्य को नहीं जानता और पाने योग्य को नहीं पाता, तब तक वह सर्वथा निडर नहीं हो सकता, उसके जीवन में डर रहता है|

भगवान् की ओर चलने वाला साधक भगवान् पर जितना अधिक विश्वास करता है और उनके आश्रित होता है, उतना ही वह निडर होता चला जाता है| उसमें स्वतः यह विचार आता है कि मैं तो परमात्मा का अंश हूँ अतः कभी नष्ट होने वाला नहीं हूँ, तो फिर डर किस बात का? चूंकि संसार के अंश शरीर आदि सब पदार्थ प्रतिक्षण नष्ट हो रहे हैं, ऐसा विवेक स्पष्ट रूप से प्रकट होने पर डर स्वतः नष्ट हो जाता है| भगवान् के साथ सम्बन्ध जोड़ने पर, भगवान् को ही अपना मानने पर शरीर, कुटुम्ब आदि में ममता नहीं रहती| ममता न रहने से कोई सांसारिक डर नहीं रहता|

अन्तःकरण की शुद्धि भगवद प्राप्ति में आवश्यक है| संसार से राग रहित होकर भगवान् में अनुराग हो जाना ही अन्तःकरण की शुद्धि है| जब अपना विचार, भाव, उद्देश्य, लक्ष्य केवल एक परमात्मा की प्राप्ति का हो जाता है, तब अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है| इसका कारण है कि नाशवान् वस्तुओं की प्राप्ति का उद्देश्य होने से ही अन्तःकरण में मल, विक्षेप और आवरण, यह तीन प्रकार के दोष आते हैं| शास्त्रों में मल दोष को दूर करने के लिये निष्काम भाव से कर्म (सेवा), विक्षेप दोष को दूर करने के लिये उपासना और आवरण दोष को दूर करने के लिये ज्ञान बताया है| यह होने पर भी अन्तःकरण की शुद्धि के लिये सबसे उत्तम उपाय अन्तःकरण को अपना न मानना है|

साधक को पुराने पाप को दूर करने के लिये या किसी परिस्थिति के वशीभूत होकर किए गए नए पाप को दूर करने के लिये अन्य प्रायश्चित्त करने की आवश्यकता नहीं है। वह जो साधना कर रहा है, उसी में उत्साह और तत्परता पूर्वक लगा रहे| इसी से उसके ज्ञात, अज्ञात सब पाप दूर हो जाएंगे और अन्तःकरण स्वतः शुद्ध हो जाएगा|

साधक में कभी कभी ऐसी एक भावना बन जाती है कि साधना, भजन करना अलग काम है और व्यापार धंधा आदि करना अलग काम है, अर्थात् यह दोनों अलग अलग विभाग हैं| इसलिये व्यापार आदि व्यवहार में झूठ, कपट आदि तो करने ही पड़ते हैं| ऐसी जो छूट ली जाती है, उससे अन्तःकरण अशुद्ध होता है| साधना के साथ जो असाधना होती रहती है, उससे साधना में शीघ्र उन्नति

नहीं होती| इसलिये साधक को सदा सावधान रहना चाहिए, अर्थात् नए पाप कभी न बने, ऐसी सावधानी सदा सर्वदा बनी रहनी चाहिए|

साधक भूल से किए हुए दुष्कर्मों के अनुसार अपने को दोषी मान लेता है और अपना बुरा करने वाले व्यक्ति को भी दोषी मान लेता है, जिससे उसका अन्तःकरण अशुद्ध हो जाता है| उस अशुद्धि को मिटाने के लिये साधक को चाहिए कि वह भूल से किए हुए दुष्कर्म को पुनः कभी न करने का दृढ़ व्रत ले ले तथा अपना बुरा करने वाले व्यक्ति के अपराध को क्षमा माँगे बिना ही क्षमा कर दे और भगवान् से प्रार्थना करे कि हे नाथ, मेरा जो कुछ बुरा हुआ है, वह तो मेरे दुष्कर्मों का ही फल है| वह तो माध्यम मात्र था| उसका इसमें कोई दोष नहीं है, आप उसे क्षमा कर दें| ऐसा करने से अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है|

ज्ञान के लिये योग में स्थित होना, अर्थात् परमात्म-तत्व के ज्ञान (बोध), वह चाहे सगुण का हो या निर्गुण का, उस ज्ञान के लिये योग में स्थित होना आवश्यक है| योग का अर्थ है, सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति-अप्राप्ति, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति, रोग-नीरोगता में सम रहना, अर्थात् अन्तःकरण में हर्ष, शोकादि न होकर निर्विकार रहना|

लोक दृष्टि में जिन वस्तुओं को अपना माना जाता है, उन वस्तुओं को सत् पात्र का तथा देश, काल, परिस्थिति आदि का विचार रखते हुए आवश्यकतानुसार दूसरों को वितीर्ण कर देना दान है| दान कई प्रकार के होते हैं, जैसे भूमि दान, गो दान, स्वर्ण दान, अन्न दान, वस्त्र दान आदि| इन सब में अन्न दान प्रधान है| परन्तु इससे भी अभय दान प्रधान (श्रेष्ठ) है|

अभयदान के दो भेद होते हैं|

(१) संसार के कष्ट से, विघ्नों से, परिस्थितियों से भयभीत हुए मनुष्य को अपनी शक्ति, सामर्थ्य के अनुसार भय रहित करना, उसे आश्वासन देना, उसकी सहायता करना| यह अभयदान उसके शरीरादि सांसारिक पदार्थों को लेकर होता है|

(२) संसार में फँसे हुए व्यक्ति को जन्म-मरण से रहित करने के लिये भगवान् की कथा आदि सुनाना| गीता, रामायण, भागवत आदि सनातन ग्रन्थों को एवं उनके भावों को मुद्रण कर निःशुल्क अथवा कम मूल्य में लोगों को उपलब्ध कराना जिससे उनका कल्याण हो जाए ऐसे दान से भगवान् अति प्रसन्न होते हैं|

भगवान् ही सब में परिपूर्ण हैं, अतः जितने अधिक जीवों का कल्याण होता है, उतने ही अधिक भगवान् प्रसन्न होते हैं| यह सर्वश्रेष्ठ अभयदान है| इसमें भी भगवत् सम्बन्धी बातें दूसरों को सुनाते समय साधक वक्ता को यह सावधानी रखनी चाहिए कि वह दूसरों की अपेक्षा अपने में विशेषता न माने, प्रत्युत इसमें भगवान् की कृपा माने| भगवान् ही श्रोताओं के रूप में आकर मेरा समय सार्थक कर रहे हैं, ऐसा विचार करे|

ऊपर बताए दान से अपना सम्बन्ध न जोड़कर साधक ऐसा माने कि अपने पास वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता आदि जो कुछ भी है, वह सब भगवान् ने दूसरों की सेवा करने के लिये मुझे निमित्त बनाकर दी है| अतः भगवत् प्रेम को प्रसारित करने के लिए आवश्यकतानुसार जिस किसी को जो कुछ भी दिया जाए वह सब श्रेष्ठ दान है|

इन्द्रियों को पूरी तरह वश में करने का नाम दम है| इसका तात्पर्य यह है कि इन्द्रियाँ, अन्तःकरण और शरीर से कोई भी प्रवृत्ति शास्त्र निषिद्ध नहीं होनी चाहिए| शास्त्रविहित प्रवृत्ति भी अपने स्वार्थ और अभिमान का त्याग करके केवल दूसरों के हित के लिये ही होनी चाहिए| इस प्रकार की प्रवृत्ति से इन्द्रिय लोलुपता, आसक्ति और पराधीनता नहीं रहती एवं शरीर और इन्द्रियों के बर्ताव शुद्ध, निर्मल होते हैं|

साधक का उद्देश्य इन्द्रियों के दमन का होने से अकर्तव्य में उसकी प्रवृत्ति नहीं होती और कर्तव्य में स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है| इससे उसमें स्वार्थ, अभिमान आसक्ति, कामना आदि दोष नहीं रहते| यदि कभी किसी कार्य में स्वार्थ भाव आ भी जाता है, तो वह उसका दमन करता चला जाता है, जिससे अशुद्धि

मिटती जाती है, और शुद्धि होती चली जाती है | आगे चलकर उसका दम अर्थात् इन्द्रिय-संयम सिद्ध हो जाता है|

यज्ञ शब्द का अर्थ आहुति देना होता है| अपने वर्णाश्रम के अनुसार होम आदि करना यज्ञ है| इसके अतिरिक्त अपने वर्ण, आश्रम, परिस्थिति आदि के अनुसार जिस किसी समय जो कर्तव्य प्राप्त हो जाए उसको स्वार्थ और अभिमान का त्याग करके दूसरों के हित की भावना से या भगवद प्रयोजन से करना यज्ञ है| इसके अतिरिक्त जीविका सम्बन्धी व्यापार, खेती आदि तथा शरीर निर्वाह सम्बन्धी खाना-पीना, चलना-फिरना, सोना-जागना, देना-लेना आदि सभी क्रियाएँ भगवद प्रयोजन से करना यज्ञ है| ऐसे ही माता, पिता, आचार्य, गुरुजन आदि की आज्ञा का पालन करना, उनकी सेवा करना, उनको मन, वाणी, तन और धन से सुख पहुँचाकर उनकी प्रसन्नता प्राप्त करना और गौ, ब्राह्मण, देवता, परमात्मा आदि का पूजन करना, सत्कार करना, यह सभी यज्ञ हैं|

अपने ध्येय की सिद्धि के लिये भगवद नाम का जप, गीता, भागवत, रामायण, महाभारत आदि के पठन, पाठन का नाम स्वाध्याय है| वास्तव में तो 'स्वस्य अध्यायः स्वाध्यायः' के अनुसार अपनी वृत्तियों का, अपनी स्थिति का ठीक प्रकार से अध्ययन करना ही स्वाध्याय है| इसमें भी साधक को न तो अपनी वृत्तियों से अपनी स्थिति की कसौटी लगानी है, और न वृत्तियों के अधीन अपनी स्थिति ही माननी है| इसका कारण है कि वृत्तियाँ तो सदैव आती जाती रहती हैं, बदलती रहती हैं| साधक का कर्तव्य वृत्तियों को शुद्ध करने का ही होना चाहिए और वह शुद्धि अन्तःकरण तथा उसकी वृत्तियों को अपना न मानने से बहुत शीघ्र हो जाती है, क्योंकि उनको अपना मानना ही मूल अशुद्धि है| साक्षात् परमात्मा का अंश होने से अपना स्वरूप कभी अशुद्ध नहीं होता| केवल वृत्तियों के अशुद्ध होने से ही उसका यथार्थ अनुभव नहीं होता|

भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, वर्षा आदि सहना भी एक तप है, पर वास्तव में साधना करते हुए अथवा जीवन निर्वाह करते हुए देश, काल, परिस्थिति आदि को लेकर जो कष्ट, विघ्न आदि आते हैं, उनको प्रसन्नतापूर्वक सहना ही तप है| क्योंकि इस तप में पहले किए गए पापों का नाश होता है और सहने वाले में सहने की एक

नई शक्ति, एक नया बल आता है| साधक को सावधान रहना चाहिए कि वह उस तपोबल का प्रयोग दूसरों को वरदान देने में, शाप देने या अनिष्ट करने में तथा अपनी इच्छा पूर्ति करने में न लगाए, प्रत्युत उस बल को अपने साधन में जो बाधाएँ आती हैं, उनको प्रसन्नता से सहने की शक्ति बढ़ाने में ही लगाए|

साधक जब साधना करता है, तब वह साधना में कई तरह से विघ्न मानता है| वह समझता है कि मुझे एकान्त मिले तो मैं साधना कर सकता हूँ, वायुमण्डल अच्छा हो तो साधना कर सकता हूँ, इत्यादि| इन सब अनुकूलताओं की चाहना न करना अर्थात् उनके अधीन न होना भी तप है| साधक को स्वयं को परिस्थितियों के अधीन नहीं मानना चाहिए, प्रत्युत परिस्थिति के अनुसार साधना करनी चाहिए| यद्यपि साधक को अपनी चेष्टा एकान्त में साधना करने की करनी चाहिए, पर एकान्त न मिले तो मिली हुई परिस्थिति को भगवान् की भेजी हुई समझकर विशेष उत्साह से प्रसन्नता पूर्वक साधना में प्रवृत्ति होना चाहिए|

सहजता, सरलता, साधक का विशेष गुण है। यदि साधक यह चाहता है कि दूसरे लोग मुझे अच्छा समझें, मेरा व्यवहार ठीक नहीं होगा तो लोग मुझे श्रेष्ठ नहीं मानेंगे, इसलिये मुझे सरलता से रहना चाहिए, तो यह एक प्रकार का कपट है| इससे साधक में बनावटीपन आता है| साधक में सीधा, सरल भाव स्वतः होना चाहिए| सीधा, सरल भाव होने के कारण लोग उसको मूर्ख, बेसमझ समझ सकते हैं, पर उससे साधक की कोई हानि नहीं है| अपने उद्धार के लिये सरलता आवश्यक है|

कपट गाँठ मन में नहीं, सब सों सरल सुभाव ।
नारायन ता भक्त की लगी किनारे नाव ।।

इसलिये साधक के शरीर, वाणी और मन के व्यवहार में कोई बनावटीपन नहीं रहना चाहिए| उसमें स्वाभाविक सीधापन होना चाहिए|

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ।।१६-२।।

अहिंसा अक्रोध त्याग शान्ति दया अनिन्द सत्य-भाषन |
रहित-विषय स्वभाव सहज जिनका कोमल अन्तःकरन ||
करे नहीं अकर्तव्य कर्म हैं यह गुण दैवीय जन ||१६-२||

भावार्थ: *अहिंसा, क्रोध का अभाव, त्याग, शान्ति, दया, सत्य भाषण, अनिन्द (किसी की निन्दा न करना), विषय-रहित, सरल स्वभाव, अंतःकरण की कोमलता, अकर्तव्य कर्म न करना, यह गुण दैवीय प्राणियों के हैं|*

टीका: शरीर, मन, वाणी, भाव आदि के द्वारा किसी का भी किसी प्रकार से अनिष्ट न करने को तथा अनिष्ट न चाहने को 'अहिंसा' कहते हैं| वास्तव में सर्वथा 'अहिंसा' तब होती है जब मनष्य संसार की ओर से विमुख होकर परमात्मा की ओर ही चलता है| उसके द्वारा अहिंसा का पालन स्वतः होता है| परन्तु जो राग पूर्वक, भोग बुद्धि से भोगों का सेवन करता है वह कभी सर्वथा अहिंसक नहीं हो सकता| वह अपना पतन तो करता ही है, जिन पदार्थों आदि को वह भोगता है, उनका भी नाश करता है| जो संसार के सीमित पदार्थों को व्यक्तिगत (अपने) न होने पर भी व्यक्तिगत मानकर सुख बुद्धि से भोगता है, वह हिंसा ही करता है| इसका कारण है कि संसार से सेवा के लिये मिले हुए पदार्थ, वस्तु, व्यक्ति, आदि में से किसी को भी अपने भोग के लिये व्यक्तिगत मानना हिंसा है| यदि मनुष्य संसार से मिली हुई वस्तु, पदार्थ, व्यक्ति आदि को संसार की ही मानकर निर्ममता पूर्वक संसार की सेवा में लगा दे, तो वह हिंसा से बच सकता है,और वही अहिंसक हो सकता है|

स्मरण रहे कि जो प्राणी सुख और भोग बुद्धि से भोगों का सेवन करता है यदि उसको देखकर अभाव ग्रस्तों को दुःख संताप होता है तो यह भी एक प्रकार से हिंसा ही है| क्योंकि भोगी व्यक्ति में अपना स्वार्थ और सुख बुद्धि रहती है तथा दूसरों के दुःख की अपेक्षा रहती है| परन्तु जो संत, महापुरुष केवल दूसरों का हित करने के लिये ही जीवन निर्वाह करते हैं, उनको देखकर किसी को दुःख हो भी जाएगा तो भी उनको हिंसा नहीं लगेगी क्योंकि वह भोग बुद्धि से जीवन निर्वाह नहीं करते, 'शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्'| केवल परमात्मा की ओर चलने वाले के द्वारा हिंसा नहीं होती क्योंकि वह भोग बुद्धि से पदार्थ

आदि का सेवन नहीं करता| परमात्मा की ओर चलने वाला साधक शरीर, मन, वाणी के द्वारा कभी किसी को दुःख नहीं पहुँचाता| यदि उसकी बाह्य क्रियाओँ से किसी को दुःख होता है, तो यह दुःख उसके स्वयं के स्वभाव से ही होता है| साधक की तो भीतर से कभी किसी को किंचित मात्र भी दुःख देने की भावना नहीं होती| उसका भाव निरन्तर सब का हित करने का होना चाहिए, 'सर्वभूतहिते रताः'| साधक की साधना में यदि कोई बाधा डाल दे, तो उसे उस पर क्रोध नहीं आता, और न ही उसके मन में उसके अहित की भावना (हिंसा) पैदा होती है| परमात्मा की ओर चलने में बाधा पड़ने से उसको दुःख अवश्य हो सकता है, पर वह दुःख भी सांसारिक दुःख की तरह नहीं होता| साधक को बाधा लगती है, तो वह भगवान् को पुकारता है, 'हे नाथ, मेरी कहाँ भूल हुई, जिससे बाधा लग रही है?' ऐसा विचार कर उसे रोना आ सकता है पर बाधा डालने वाले के प्रति क्रोध, द्वेष नहीं हो सकता| बाधा लगने पर साधक में तत्परता और सावधानी आती है| यदि उसमें बाधा डालने वाले के प्रति द्वेष होता है, तो जितने अंश में द्वेष वृत्ति रहती है, उतने अंश में तत्परता की कमी है| साधक में एक तत्परता होती है और एक आग्रह होता है| तत्परता होने से साधन में रुचि रहती है और आग्रह होने से साधन में राग होता है| रुचि होने से अपनी साधना में कहाँ कमी है, उसका ज्ञान होता है, उसे दूर करने की शक्ति आती है तथा उसे दूर करने की चेष्टा भी होती है| परन्तु राग होने से साधना में विघ्न डालने वाले के साथ द्वेष होने की सम्भावना रहती है| वास्तव में देखा जाए तो साधना में हमारी रुचि कम होने से ही दूसरा कोई प्राणी हमारी साधना में बाधा डाल सकता है| अगर साधना में हमारी रुचि कम न हो तो दूसरा प्राणी हमारी साधना में बाधा नहीं डाल सकता| जैसे पुष्प से सुगन्ध स्वतः फैलती है, ऐसे ही साधक से स्वतः पारमार्थिक परमाणु फैलते हैं, और वायुमण्डल शुद्ध होता है| इससे उसके द्वारा स्वतः स्वाभाविक प्राणी का बड़ा भारी उपकार एवं हित होता रहता है| परन्तु जो अपने दुर्गुण, दुराचारों के द्वारा वायुमण्डल को अशुद्ध करता रहता है, वह प्राणी की हिंसा करने का अपराधी होता है|

अपने स्वार्थ और अभिमान का त्याग करके केवल दूसरों के हित की दृष्टि से जैसा सुना, देखा, पढ़ा, समझा और निश्चय किया है, उससे न अधिक और न कम, वैसा का वैसा प्रिय शब्दों में कह देना ही सत्य भाषण है| सत्य स्वरूप

परमात्मा को पाने और जानने का एक मात्र उद्देश्य हो जाने पर साधक के द्वारा मन, वाणी और क्रिया से असत्य व्यवहार नहीं हो सकता| उसके द्वारा सर्वहितीय सत्य व्यवहार ही होता है| जो सत्य को जानना चाहता है, वह सत्य के ही सम्मुख रहता है| इसलिये उसके मन, वाणी, शरीर से जो क्रियाएँ होती हैं, वह सभी उत्साह पूर्वक सत्य की ओर चलने के लिये ही होती हैं|।

दूसरों का अनिष्ट करने के लिये अन्तःकरण में जो जलनात्मक वृत्ति पैदा होती है, वह क्रोध है| पर जब तक अन्तःकरण में दूसरों का अनिष्ट करने की भावना पैदा नहीं होती, तब तक वह क्षोभ है, क्रोध नहीं| परमात्म-तत्व की प्राप्ति के उद्देश्य से साधना करने वाला मनुष्य अपना अपकार करने वाले का भी अनिष्ट नहीं करना चाहता| वह इस बात को समझता है कि अनिष्ट करने वाला व्यक्ति वास्तव में हमारा अनिष्ट कभी कर नहीं सकता| यह जो हमें दुःख देने के लिये आया है, यह हमने पहले कोई त्रुटि की है, उसी का फल है| अतः यह हमें शुद्ध कर रहा है, निर्मल कर रहा है| जैसे चिकित्सक किसी रुग्ण अंग को काटता है, तो उस पर रोगी क्रोध नहीं करता, प्रत्युत उसे अच्छा मानता है| ऐसे ही साधक को कोई अहित की भावना से किसी तरह से दुःख देता है, तो उसमें यह भाव पैदा होता है कि वह मुझे शुद्ध, निर्मल बनाने में निमित्त बन रहा है, अतः उस पर क्रोध करना उचित नहीं है| जो लोग साधक का हित करने वाले हैं, उसकी सेवा करने वाले हैं, वह साधक को सुख पहुँचाकर संभवतः उसके पुण्यों का नाश करते हैं, पर साधक को उन पर (उसके पुण्यों का नाश करने के कारण) भी क्रोध नहीं आता| उन पर साधक को यह विचार आता है कि वह जो मेरी सेवा करते हैं, मेरे अनुकूल आचरण करते हैं, यह तो उनकी सज्जनता है, उनका श्रेष्ठ भाव है| पुण्यों का नाश तो तब होता है, जब वह उनकी सेवा से सुख भोगता है| इस प्रकार साधक की दृष्टि सेवा करने वालों की अच्छाई, शुद्ध भाव पर ही जाती है| अतः साधक को न तो दुःख देने वालों पर क्रोध होता है, और न सुख देने वालों पर|

संसार से विमुख हो जाना ही सत्य त्याग है| साधक को सांसारिक जीवन के बाहर का और भीतर का, दोनों का त्याग करना चाहिए| बाहर से पाप, अन्याय, अत्याचार, दुराचार आदि का और बाहरी सुख आराम आदि का त्याग करना

चाहिए| भीतर से सांसारिक नाशवान् वस्तुओं की कामना का त्याग करना चाहिए| बाहर के त्याग की अपेक्षा भीतर की कामना का त्याग श्रेष्ठ माना जाता है| कामना का सर्वथा त्याग होने पर तत्काल शान्ति प्राप्त होती है, 'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'| साधक के लिये उत्पन्न और नष्ट होने वाली वस्तुओं की कामना ही वास्तव में सबसे अधिक साधना में बाधक होती है| अतः कामना का सर्वथा त्याग करना चाहिए| जब साधक का उद्देश्य एक मात्र परमात्म-तत्व की प्राप्ति का हो जाता है, तब उसकी कामनाएँ दूर होती चली जाती हैं, और उसका त्याग सिद्ध होता है| इसका कारण है कि सांसारिक भोग और संग्रह साधक का लक्ष्य नहीं होता| अतः वह सांसारिक भोग और संग्रह की कामना का त्याग करते हुए अपनी साधना में आगे बढ़ता रहता है|

अन्तःकरण में राग, द्वेष जनित हलचल का न होना शान्ति है| संसार के साथ राग, द्वेष करने से ही अन्तःकरण में अशान्ति आती है, और उनके न होने से अन्तःकरण स्वाभाविक ही शान्त रहता है| अनुकूलता से पुराने पुण्यों का नाश होता है और उसमें अपना स्वभाव सुधरने की अपेक्षा बिगड़ने की सम्भावना अधिक रहती है| परन्तु प्रतिकूलता आने पर पापों का नाश होता है और स्वभाव में भी सुधार होता है| इसको समझ कर प्रतिकूलता में भी स्वतः शान्ति बनी रहती है| किसी परिस्थिति आदि को लेकर साधक में कभी राग, द्वेष का भाव हो जाता है तो उसके मन में अशान्ति पैदा हो जाती है, और अशान्ति पैदा होते ही वह तुरंत सावधान हो जाता है| वह जानता है कि राग, द्वेष पूर्वक कर्म करना उसका उद्देश्य नहीं है| इस विचार से फिर शान्ति आ जाती है और समय पाकर स्थिर हो जाती है|

किसी के दोष को दूसरे के समक्ष प्रकट करके दूसरों में उसके प्रति दुर्भाव पैदा करना निंदा है, और इसका सर्वथा अभाव ही 'अनिन्द' है| परमात्म-तत्व की प्राप्ति का ही उद्देश्य होने से साधक कभी किसी की निंदा नहीं करता| ज्यों ज्यों उसकी साधना आगे बढ़ती है, त्यों त्यों उसकी दोष दृष्टि और द्वेष वृत्ति मिटकर दूसरों के प्रति उसका स्वतः ही अच्छा भाव होता चला जाता है| उसके मन में यह विचार भी नहीं आता कि मैं साधना करने वाला हूँ और यह दूसरे (साधना न करने वाले) साधारण मनुष्य हैं| प्रत्युत तत्परता से साधना होने पर उसे जैसी

अपनी स्थिति (जड़ता से सम्बन्ध न होना) दिखाई देती है, वैसी ही दूसरों की स्थिति भी दिखाई देती है| वास्तव में जड़ता से सम्बन्ध किसी का भी नहीं है, केवल सम्बन्ध माना हुआ है| इस तरह जब उसकी दृष्टि में किसी का भी जड़ता से सम्बन्ध नहीं है तो वह किसी का दोष किसी के प्रति क्यों प्रकट करेगा? भक्तिमार्ग वाला सर्वत्र अपने प्रभु को देखता है, ज्ञानमार्ग वाला केवल अपने स्वरूप को ही देखता है और कर्ममार्ग वाला अपने सेव्य को देखता है|

दूसरों को दुःखी देखकर उनका दुःख दूर करने की भावना को दया कहते हैं| भगवान्, संत, महात्मा, साधक और साधारण मनुष्य की दया अलग अलग होती है|

(१) भगवान् की दया सभी को शुद्ध करने के लिये होती है| भक्त लोग इस दया के दो भेद मानते हैं, कृपा और दया| मनुष्यों को पापों से शुद्ध करने के लिये उनके मन के विरुद्ध (प्रतिकूल) परिस्थिति को भेजना कृपा है, और अनुकूल परिस्थिति को भेजना दया है|

(२) संत महात्मा लोग दूसरों के दुःख से दुःखी और दूसरों के सुख से सुखी होते हैं, 'पर दुख दुख सुख सुख देखे पर'| परन्तु वास्तव में उनके भीतर न दूसरों के दुःख से दुःख होता है और न अपने दुःख से ही दुःख होता है| अपने पर प्रतिकूल परिस्थिति आने पर वह उसमें भगवान् की कृपा को देखते हैं, पर दूसरों पर दुःख आने पर उन्हें सुखी करने के लिये वह उनके दुःख को स्वयं अपने ऊपर ले लेते हैं| जैसे इन्द्र ने क्रोध पूर्वक बिना अपराध के महर्षि दधीचि का सिर काट दिया था, पर जब इन्द्र ने अपनी रक्षा के लिये उनकी अस्थियां माँगी, तब महर्षि ने सहर्ष प्राण छोड़कर उन्हें अपनी अस्थियां दे दीं| इस प्रकार संत महापुरुष दूसरे के दुःख को सह नहीं सकते, प्रत्युत उन्हें सुख पहुँचाने के लिये अपनी सुख सामग्री और प्राण तक दे देते हैं, चाहे दूसरा उनका अहित करने वाला ही क्यों न हो, इसलिये संत, महात्माओं की दया विशेष शुद्ध, निर्मल होती है|

(३) साधक अपने मन में दूसरों का दुःख दूर करने की भावना रखता है और उसके अनुसार उनका दुःख दूर करने की चेष्टा भी करता है| दूसरों को दुःखी देखकर उसका हृदय द्रवित हो जाता है क्योंकि वह अपनी ही तरह दूसरों के दुःख को समझता है| इसलिये उसका भाव सब को सुखी करने का और उनका उद्धार करने का होता है| वह सबके हित की चेष्टा करता है परन्तु उसे इसका अभिमान नहीं होता| इसका कारण है कि दूसरों का दुःख दूर करने का सहज स्वभाव बन जाने से उसे अपने इस आचरण में कोई विशेषता नहीं दिखती, इसलिये उसको अभिमान नहीं होता| जो प्राणी भगवान् की ओर नहीं चलते, दुर्गुण, दुराचारों में रत रहते हैं, दूसरों का अपराध करते हैं और अपना पतन करते हैं, ऐसे मनुष्यों पर साधक को क्रोध न आकर दया आती है| इसलिये वह सदैव ऐसी चेष्टा करता रहता है कि यह लोग दुर्गुण, दुराचारों से ऊपर उठ सकें और इनका भला हो| वह उनके दोषों को दूर करने में अपने को निर्बल मानकर भगवान् से प्रार्थना करता है कि 'हे नाथ, यह लोग इन दोषों से छूट जाएं और आपके भक्त बन जाएं'|

(४) साधारण मनुष्य की दया में थोड़ी मलिनता रहती है| वह किसी जीव के हित की चेष्टा करता है तो यह सोचता है कि मैं कितना दयालु हूँ, मैंने इस जीव को सुख पहुँचाया, मैं कितना अच्छा हूँ, प्रत्येक प्राणी मेरे जैसा दयालु नहीं है, इत्यादि| इस प्रकार की भावना से कि लोग मुझे अच्छा समझेंगे, मेरा आदर करेंगे, आदि अपने में महत्व बुद्धि रखकर जो दया की जाती है, उसमें दया का अंश तो अच्छा है, पर साथ में उपर्युक्त मलिनताएँ रहने से उस दया में अशुद्धि आ जाती है| इस प्रकार साधारण श्रेणी के मनुष्य दया तो करते हैं, पर उनकी दया उन व्यक्तियों पर ही होती है जिससे उनका कोई स्वार्थ सिद्ध होता हो| जैसे यह हमारे परिवार के हैं, हमारे मत और सिद्धान्त को मानने वाले हैं, अतः हमें इनका दुःख दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए| यह दया ममता और पक्षपात युक्त होने से अशुद्ध है| इनसे भी कम श्रेणी के वह मनुष्य हैं जो केवल अपने सुख और स्वार्थ की पूर्ति के लिये ही दूसरों के प्रति दया का बर्ताव करते हैं|

इन्द्रियों का विषयों से सर्वथा असम्बन्ध होना ही विषय रहित है| साधक के लिये विशेष सावधानी की बात है कि वह अपनी इन्द्रियों से भोगों का सम्बन्ध न रखे और मन में कभी भी ऐसा भाव, ऐसा अभिमान न आने दे कि मेरा इन्द्रियों पर अधिकार है अर्थात् इन्द्रियाँ मेरे वश में हैं| सदैव हृदय से परमात्मा की प्राप्ति चाहे, फिर कभी हृदय में विषय लोलुपता आ भी गई तो उसका पतन नहीं होगा क्योंकि परमात्मा उसे बचा लेंगे| साधक कभी भी स्त्री पुरुषों की तथा जन्तुओँ की काम विषयक चेष्ट न देखे| यदि दिख जाए तो ऐसा विचार करे कि यह तो चौरासी लाख साधारण योनियों का मार्ग है, उसका नहीं| उसे तो जन्म-मरण से ऊँचा उठना है| वह जन्म-मरण के मार्ग का पथिक नहीं है|

बिना कारण दुःख देने वालों और वैर रखने वालों के प्रति भी अन्तःकरण में कठोरता का भाव न होना तथा स्वाभाविक कोमलता का रहना अंतःकरण की कोमलता है| साधक के हृदय में सबके प्रति कोमलता का भाव होना चाहिए| यदि साधक कभी किसी बात को लेकर किसी को कठोर शब्द बोल भी दे, तो वह कठोर शब्द दूसरे के हित की दृष्टि से ही बोले गए होते हैं| बाद में साधक के मन में यह विचार अवश्य आता है कि मैंने उसके प्रति कठोरता का व्यवहार क्यों किया? मैं प्रेम से या अन्य किसी उपाय से भी उसे समझा सकता था| इस प्रकार के भाव आने से कठोरता मिटती रहती है, और कोमलता बढ़ती रहती है| यद्यपि साधकों के भावों और वाणी में कोमलता रहती है, तथापि उनकी भिन्न भिन्न प्रकृति होने से सब की वाणी में एक समान कोमलता नहीं होती| परन्तु हृदय में साधकों का सबके प्रति कोमल भाव रहता है| ऐसे ही कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग आदि का साधन करने वालों के स्वभाव में विभिन्नता होने से उनके बर्ताव सबके प्रति भिन्न भिन्न होते हैं, अतः उनके आचरणों में एक जैसी कोमलता नहीं दिखती, पर भीतर में भारी कोमलता रहती है|

साधक को शास्त्र विरुद्ध क्रिया नहीं करनी चाहिए| उसके मन में यह विचार रहना चाहिए कि 'हे प्रभु, मैं ऐसी क्रिया कैसे कर सकता हूँ क्योंकि मैं तो परमात्मा की ओर चलने वाला (साधक) हूँ| लोग भी मुझे परमात्मा की ओर चलने वाला ही समझते हैं| अतः ऐसी शास्त्र विरुद्ध क्रियाओँ को मैं एकान्त में अथवा लोगों के सामने कैसे कर सकता हूँ'? इस विचार के कारण साधक बुरे

कर्मों से बच जाता है एवं उसके आचरण ठीक होते चले जाते हैं| जब साधक अपनी अहंता बदल देता है कि मैं सेवक हूँ, मैं जिज्ञासु हूँ, मैं भक्त हूँ, तब उसे अपनी अहंता के विरुद्ध क्रिया करने में स्वाभाविक ही लज्जा आती है| इसलिये पारमार्थिक उद्देश्य रखने वाले प्रत्येक साधक को अपनी अहंता, मैं साधक हूँ, मैं सेवक हूँ, मैं जिज्ञासु हूँ, मैं भगवद्भक्त हूँ, इस प्रकार से यथा रुचि बदल लेनी चाहिए, जिससे वह शास्त्र विरोधी कर्मों से बचकर अपने उद्देश्य को शीघ्र प्राप्त कर सकता है|

साधक में सहजता होनी चाहिए, अर्थात् उसका स्वभाव सहज होना चाहिए, उसमें कोई दिखावटीपन, कपट आदि नहीं होनी चाहिए|

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ।।१६-३।।

तेज क्षमा धैर्य अवैर भावना हृदय जिन भूजन |
हैं रहित मान अपमान और तन जिनका पावन ||
हैं वह दैवीय सम्पदा युक्त जन हे पृथानंदन ||१६-३||

भावार्थ: *हे अर्जुन, जिन प्राणियों के हृदय में तेज, क्षमा, धैर्य, शरीर की शुद्धि, किसी में शत्रु भाव का अभाव, मान-अपमान से रहित, यह भावना हैं, वह दैवीय सम्पदा युक्त हैं|*

टीका: महापुरुषों का संग मिलने पर उनके प्रभाव से साधारण पुरुष भी दुर्गुण एवं दुराचारों का त्याग कर सद्गुण सदाचारों में लग जाते हैं, महापुरुषों की इस शक्ति को प्रभु ने 'तेज' कहा है| साधक में दैवीय शक्ति के गुण विद्यमान होने से साधारण लोग उनसे प्रभावित होकर स्वभाविक ही सौम्य भाव ग्रहण कर लेते हैं| यही उन दैवीय संपत्ति वाले महापुरुषों का (तेज) प्रभाव) है|

अपराध करने वाले को हर स्थिति में दंड देने की सामर्थ्य होते हुए भी उसके अपराध को सह लेना, और न तो कोई दंड देना और न ही ऐसी भावना रखना,

इसे 'क्षमा' कहते हैं| स्मरण रहे कि यदि क्षमा स्वार्थवश दी गई है, जैसे पुत्र मोह में पुत्र के अपराध क्षमा कर देना, चूंकि यह क्षमा मोह, ममता के कारण है, अतः अशुद्ध है| इस प्रकार की क्षमा का प्रभु ने यहां वर्णन नहीं किया| सत्य क्षमा तो वह है जिसमें निःस्वार्थवश अनिष्ट करने वालों का इस लोक और परलोक में किसी भी प्रकार का दंड देने अथवा दिलवाने की इच्छा न हो|

किसी भी अनुकूल अथवा प्रतिकूल परिस्थिति में विचलित न होते हुए अपनी स्व-स्थिति में रहने की शक्ति को प्रभु ने 'धैर्य' कहा है| वृत्तियाँ सात्विक होती हैं तभी धैर्य रह पाता है| यदि वृत्तियाँ राजसी अथवा तामसी हों तो धैर्य रखना कठिन हो जाता है| साधक को हर परिस्थिति में सात्विक प्रवृत्ति रखते हुए धैर्य रखना चाहिए|

बाह्य एवं अंतःशुद्धि को प्रभु ने 'तन शुद्धि' कहा है| परमात्म-तत्व का लक्ष्य रखने वाले साधक को यह दोनों ही शुद्धि अति आवश्यक हैं| महर्षि पतंजलि कहते हैं:

शौचात स्वांगजुगुप्सा परैरसंसर्ग |

अर्थात शौच से साधक की अपने शरीर में घृणा अर्थात अपवित्र बुद्धि और दूसरों से संसर्ग करने की इच्छा नहीं होती|
बाह्य शुद्धि चार प्रकार की होती है|

(१) शारीरिक शुद्धि: प्रमाद, आलस्य, भोजन में स्वाद रूचि इत्यादि से शरीर अशुद्ध होता है| इनके विपरीत कार्य जैसे तत्परता, पुरुषार्थ, उद्योग, सहजता आदि रखते हुए आवश्यक कार्य करने पर शरीर शुद्ध हो आता है|

(२) वाचिक शुद्धि: सत्य, प्रिय एवं हित कारक वचनों को ही बोलना चाहिए| इससे वाणी शुद्धि होती है| असत्य वाचन, कटु शब्द वाचन निंदिक शब्द वाचन, छिद्रांवेषण करना इत्यादि प्राणी की वाणी को अशुद्ध बनाते हैं|

(३) कौटुम्बिक शुद्धि: अपनी संतानों को अच्छे संस्कार देना, अच्छी शिक्षा देना, किसी का पक्षपात न करना, सब का सामान रूप से हित करना, कौटुम्बिक शुद्धि है|

(४) आर्थिक शुद्धि: न्याययुक्त, सत्यता पूर्वक, परहित प्रयोजन करते हुए धन का उपार्जन करना आर्थिक शुद्धि है| इस अर्जित धन को यथाशक्ति आरक्षित, अभावग्रस्त, दरिद्री, रोगी, अकाल पीड़ित, भूखे आदि आवश्यकता वालों को एवं गौ माँ, स्त्री, ब्राह्मणों की रक्षा में लगाने से आर्थिक शुद्धि होती है|

परमात्म-तत्व की प्राप्ति के लिए तप आदि प्रयोजन से स्वयं को शुद्ध करना अंतःशुद्धि है|

अनिष्ट करने वाले के प्रति भी कभी प्रतिशोध की भावना न रखना 'अवैर' है| कर्मयोगी साधक सब के हित के लिए कर्तव्य कर्म करता है, ज्ञानयोगी साधक सब को अपना स्वरुप मानता है और भक्तियोगी सब में अपने इष्ट भगवान् को देखता है, अतः यह तीनों ही योगी किसी के प्रति वैर नहीं रखते|

साधारण व्यक्तियों में समाज में मान, अपमान होने की भावना रहती है| साधक में किसी भी प्रकार की सांसारिक मान (धन, विद्या, गुण, बुद्धि योग्यता, अधिकार, पद, वर्ण, आश्रम) की इच्छा नहीं होती| इसके साथ ही यदि किसी प्रकार से पारमार्थिक मान प्राप्त होने लगे (साधना से प्रभावित हो प्राणी साधक का विशेष सम्मान करने लगें) तो उसका तुरंत त्याग कर देना चाहिए|

प्रभु कहते हैं कि जिन प्राणियों में यह उपर्युक्त पवित्र लक्षण हैं, उन्हें दैवीय संपत्ति का स्वामी समझो| यद्यपि इस गुणों के समाहित होने से साधक दैवीय संपत्ति का स्वामी हो जाता है, परन्तु उसे इन गुणों को अपना नहीं मानना चाहिए| यह परमात्मा की संपत्ति है, यही विचार रखना चाहिए|

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ।।१६-४।।

दम्भ अहंकार अभिमान क्रोध असभ्यता और अवेदन |
जिनमें यह दुर्गुण वह आसुरी सम्पदा युक्त जन ||१६-४||

भावार्थ: *दम्भ, घमण्ड, अभिमान, क्रोध, असभ्यता और अज्ञान, यह दुर्गुण आसुरी सम्पदा से युक्त प्राणी में होते हैं|*

टीका: मान, सम्मान, यश आदि प्राप्त करने के लिए आडम्बर करने को 'दम्भ' कहते हैं| दम्भ दो प्रकार का होता है|
(१) सद्गुण, सदाचार दम्भ: स्वयं में धर्मात्मा, साधक, विद्वान्, गुणवान आदि का भाव होना|

(२) दुर्गुण, दुराचार दम्भ: दुर्गणी प्राणियों को अपने स्वार्थ के लिए मान, सम्मान आदि देना|

साधक में इन दोनों में से किसी भी प्रकार का दम्भ नहीं होना चाहिए|

धन, वैभव, संपत्ति आदि सांसारिक विनाशशील पदार्थों में बड़प्पन की भावना रखने को 'अहंकार' कहते हैं|

अहंता वाली वस्तुओं से बड़प्पन का भाव होना 'अभिमान' है| जैसे 'मैं उच्च कुल का हूँ, मेरा सम्प्रदाय उच्च है, मेरी विद्वता की सब प्रशंसा करते हैं', इत्यादि|
दूसरों का अनिष्ट करने के लिए अंतःकरण में जो ईर्ष्या वृत्ति उत्पन्न होती है, उसे 'क्रोध' कहते हैं| जैसे किसी व्यक्ति ने कोई अनिष्ट किया, तो ईर्ष्यात्मक वृत्ति से तन में उत्तेजना उत्पन्न होती है, यही क्रोध है| क्षोभ और क्रोध में अंतर है| उदाहरण के लिए यदि पुत्र/ पुत्री कोई उद्दंडता करे, तो उनको ताड़ना 'क्षोभ' है चूंकि उनका अनिष्ट करना यहां लक्ष्य नहीं है, अतः यह 'क्रोध' नहीं है| क्रोध के वशीभूत हो प्राणी दूसरों का ही अहित नहीं करता स्वयं का भी अहित करता है| स्मरण रहे कि बिना स्वयं का अनिष्ट किए दूसरों का अनिष्ट नहीं किया जा सकता| क्रोध स्वयं को जलाता है| क्रोधी व्यक्ति को कभी यश नहीं मिल सकता, सदैव निंदा ही मिलती है|

'असभ्यता' भी कई प्रकार की होती है| उदाहरण के लिए शरीर से अकड़ कर चलना, शारीरिक असभ्यता है| नेत्रों से किसी को भय दिखलाना, नेत्र असभ्यता है| वाणी से कठोर बोलना, वाचन असभ्यता है| दूसरों के संकट आदि में उनकी सहायता न करना, हृदय असभ्यता है|

अविवेक को ही यहां प्रभु ने 'अवेदन' अर्थात अज्ञान कहा है| अविवेकी पुरुषों को सत-असत, सार-आसार, कर्तव्य-अकर्तव्य आदि का बोध नहीं होता| अविवेकी प्राणियों की दृष्टि नाशवान पदार्थों के भोग और संग्रह में ही लगी रहती है| पशुओं की तरह वह केवल भरण, पोषण में ही लगे रहते हैं तथा जीवन के मुख्य उद्देश्य, परमात्म-तत्व की प्राप्ति के विषय में नहीं सोचते हैं, यही 'अवेदन' अर्थात अज्ञान है|

प्रभु कहते हैं कि जिन प्राणियों में यह अवगुण हैं, वह आसुरी संपत्ति के स्वामी हैं| प्राणों में मनुष्य का जैसे जैसे मोह बढ़ता जाता है, वैसे वैसे आसुरी संपत्ति बढ़ने लगती हैं| आसुरी संपत्ति के अत्यधिक बढ़ने पर प्राणी स्वार्थवश दूसरों का अहित ही करता है| यह सब असत की संगत से होता है जो मनुष्य को परमात्मा से विमुख कर अधोगति में ले जाता है|

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायसुरी मता ।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ।।१६-५।।

देती दैवीय सम्पत्ति मोक्ष व् आसुरी सम्पति बंधन |
है दैवीय सम्पत्ति तुझ में नहीं कर शोक हे अर्जुन ||१६-५||

भावार्थ: *दैवीय सम्पत्ति मुक्ति और आसुरी सम्पत्ति बंधन देती है| हे अर्जुन, शोक मत कर, क्योंकि दैवीय सम्पत्ति तुझ में समाहित है|*

टीका: 'मैंने अपने मन को प्रभु की ओर ही लगाना है', यह दृढ संकल्प दैवीय सम्पदा है| स्मरण रहे कि संसार से विमुखता आने पर ही भगवान् की ओर जाया जा सकता है| इससे साधक को भगवान् में और भगवान् के नाम, रूप,

लीला, गुण, चरित्र आदि में रूचि हो जाती है| दैवीय सम्पदा के आते ही सद्गुण एवं सदाचार प्रगट होने लगते हैं| हृदय में जन कल्याण की भावना प्रवृत्त हो जाती है| उसे भगवान् की दी हुई विलक्षण शक्ति के द्वारा विचित्र अधिकार मिल जाते हैं जिससे वह यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत, जप, ध्यान, स्वाध्याय, सत्संग आदि का अनुष्ठान करने लगता है| उसका यह अनुष्ठान केवल अनंत ब्रह्माण्ड के अनंत जीवों के कल्याण के लिए ही होता है| इसका फल मोक्ष होता है|

जो कर्म जन्म-मरण देने वाला है, वह आसुरी संपत्ति है| शरीर में आसक्ति, मान, सम्मान, विलास भोगों में जीवन बिताना आदि सांसारिक इच्छाएं आसुरी प्रवृत्ति की हैं| आसुरी संपत्ति मुख्यतः तीन प्रकार की होती है|

(१) निबन्धायासुरी मता: जो कामनाओं से तन्मय हैं, कर्मफल हेतु ही यज्ञादि करते हैं|

(२) पतन्ति नरकेशुचौ: जो कामनाओं के वशीभूत होकर पाप, अन्याय, दुराचार आदि करते हैं|

(३)आसूरीष्वेव योनिषु: जिनके भीतर दुर्गुण एवं दुर्भाव रहते हैं और उनसे प्रेरित होकर वह दुराचार करते हैं|

ये तीनों प्रकार की आसुरी सम्पदा अधम गति में प्राणियों को धकेल देती हैं, और प्राणी जन्म-मरण के बंधन में पड़ जाता है|

दैवीय संपत्ति के समस्त गुण अर्जुन में विद्यमान हैं, इसीलिए भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन, तुम चिंता नहीं करो| तुम दैवीय संपत्ति से पूर्ण हो|

सांसारिक व्यक्तियों में आसुरी सम्पदा होना स्वाभाविक है| किसी में कम, किसी में अधिक| परन्तु जैसे जैसे प्राणी प्रभु के सम्मुख होता जाता है, आसुरी संपत्ति का विनाश होता जाता है और दैवीय सम्पदा समाहित होने लगती है| अंततः प्राणी अपने लक्ष्य, मोक्ष को प्राप्त करता है| गोस्वामी तुलसी दास जी कहते हैं:

सन्मुख होए जीव मोहि जब हीं| जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं ||

द्वौ भूतसर्गो लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे श्रृणु ।।१६-६।।

होती दोनों दैवीय व् आसुरी सम्पदा सब भूजन |
बताया मैंने अभी विषय दैवीय सम्पदा हे अर्जुन ||
सुनो अब ध्यानपूर्वक आसुरी सम्पदा के लक्षन ||१६-६||

भावार्थ: *हे अर्जुन, सभी प्राणियों में दैवीय और आसुरी सम्पदा होती है| अभी मैंने दैवीय सम्पत्ति के विषय में बताया| अब आसुरी सम्पत्ति के लक्षण ध्यानपूर्वक सुनो|*

टीका: प्रभु कहते हैं कि इस संसार में दैवीय एवं आसुरी सम्पदा प्रत्येक प्राणी में होती है| संसार के प्राणियों में मनुष्य, देवता, असुर, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, वृक्ष, लता आदि सम्पूर्ण स्थावर एवं जंगम प्राणी आते हैं| परन्तु मनुष्य में असुर स्वभाव का त्याग करने की विवेक शक्ति मुख्य रूप से होती है| इसलिए मनुष्य का शरीर पाकर, जो बड़े भाग्य से मिला है, हमें आसुरी प्रकृति का त्याग करना चाहिए और दैवीय प्रकृति को समाहित करना चाहिए|

गोस्वामी तुलसी दास जी भी यही कहते हैं|

सुमति कुमति सब के उर रहहीं | नाथ पुराण निगम अस कहहीं ||

स्मरण रहे कि क्रूर से क्रूर व्यक्ति के अंदर भी थोड़ी बहुत दया अवश्य होती है| चूंकि मनुष्य प्रभु का ही अंश है (प्रभु दैवीय सम्पदा के स्वामी हैं), इसलिए दैवीय सम्पदा से सर्वथा रहित होना संभव नहीं| वास्तविकता में दैवीय सम्पदा स्वाभाविक है और आसुरी सम्पदा हमारे द्वारा निर्मित है| यह आसुरी सम्पदा संसार एवं शरीर के साथ अहंता ममता के कारण ही होती है| यह भावना होने पर भी सद्भाव और सत का अभाव नहीं होता, 'नाभावो विद्यते सतः'| कुसंग से

दुर्भाव उत्पन होने पर दैवीय सम्पदा में कमी आ जाती है और नष्ट भी हो जाती है, 'नासतो विद्यते भावः'| अतः मनुष्य योनि में जन्म लेकर परमात्म-तत्व प्राप्ति का लक्ष्य बनाकर सद्भाव बढ़ाते रहो और दुर्भावों को कम एवं नष्ट करते रहो|

प्रभु कहते है कि दैवीय संपत्ति के लक्षण तो मैंने उपर्युक्त बताए, अब मुझ से आसुरी संपत्ति के लक्षण सुनो|

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ।।१६-७।।

नहीं जानते शुभ अशुभ आसुरी सम्पत्ति युक्त जन |
न उनमें शुद्धि न श्रेष्ठ आचरण और न सत्य भाषन ||१६-७||

भावार्थ: *आसुरी सम्पत्ति से युक्त मनुष्य शुभ,अशुभ नहीं जानते (इस कारण किस कार्य से निवृत हुआ जाए और किस कार्य में प्रवृत्त हुआ जाए, नहीं जानते)| वह शुद्ध, श्रेष्ठ आचरण वाले और सत्य भाषण वाले नहीं होते|*

टीका: आसुरी सम्पदा वाले प्राणियों में बुद्धि विवेक का अभाव होता है जिससे वह कर्मण्य अथवा अकर्मण्य में अंतर नहीं समझ पाते| यह बुद्धि विवेक गुरु, ग्रन्थ, संत पुरुष के सत्संग द्वारा ही प्राप्त होता है| केवल मनुष्य योनि में ही विवेक बुद्धि को विकसित करने की क्षमता होती है, पशु, पक्षी आदि में नहीं| मनुष्य अपनी विवेक शक्ति के द्वारा कर्तव्य कर्म करता हुआ दुर्गुण, दुराचारों को त्याग करता हुआ, सद्गुण एवं सदाचार की ओर अग्रसित हो सकता है| मनुष्य इसमें सर्वथा स्वतंत्र है, अन्य योनि नहीं|

प्रवृत्ति और निवृत्ति में अंतर न समझने के कारण आसुरी स्वभाव वाले प्राणियों में शुद्धि, अशुद्धि का विचार भी नहीं होता| उनमें सत्य नहीं होता अर्थात अपने स्वार्थ के लिए असत्य वाचन से वह नहीं हिचकते| असत्यता के कारण उनका आचरण भी असत्य ही होता है| वह लोक कल्याण हेतु शास्त्र विधिक यज्ञादि

कर्मों में कभी नहीं लगते| उनका लक्ष्य सांसारिक भोग और धनादि संग्रह ही होता है|

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ।।१६-८।।

कहते जग असत्य आश्रय-रहित बिन ईश्वर यह जन |
हो उत्पन्न संयोग नर नारी हेतु काम न अन्य कारन ||१६-८||

भावार्थ: *वह (आसुरी सम्पत्ति वाले) मनुष्य कहते हैं कि जगत आश्रय-रहित, असत्य और बिना ईश्वर वाला है| स्त्री-पुरुष के संयोग से उत्पन्न काम ही इसका हेतु है, (कोई) अन्य कारण नहीं|*

टीका: आसुरी स्वभाव वाले प्राणी कहते हैं कि यह जगत असत्य है| जितने भी शास्त्रानुसार यज्ञ, दान, तप, ध्यान, स्वाध्याय, तीर्थ, व्रत आदि शुभ कर्मों का उल्लेख है, यह सब मिथ्या है| इनको सत्य न मानकर वह भोग विलास, धन संग्रह आदि सांसारिक पदार्थों को ही सत्य समझते हैं| आस्तिक प्राणियों के विपरीत उनकी धर्म, ईश्वर, पुनर्जन्म आदि में कोई श्रद्धा नहीं होती| वह इस संसार को स्वामी रहित मानते हैं अर्थात इस संसार को रचने वाला, इस पर शासन करने वाला, पाप, पुण्य का फल देने वाला कोई ईश्वर नहीं है, वह ऐसा मानते हैं| वह कहते हैं कि इस संसार की उत्पत्ति केवल नर-नारी के संयोग मात्र से हुई है| काम, भोग, विलास ही इस संसार का हेतु है| आस्तिक प्राणी जो ईश्वर की बात कहते हैं, वह ढकोसला है|

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ।।१६-९।।

हैं वह मंद बुद्धि नास्तिक करें असत्य ज्ञान अवलम्बन |
करते अपकार हैं रिपु लक्ष्य उनका विनाश भुवन ||१६-९||

भावार्थ: *असत्य ज्ञान का अवलम्बन करने वाले वह मंद बुद्धि एवं नास्तिक हैं| वह अपकार (बुरा) करते हैं, शत्रु हैं तथा उनका लक्ष्य जगत के नाश का है|*

टीका: इस प्रकार के आसुरी स्वभाव वाले प्राणी नास्तिक हैं, अर्थात उन्हें न तो कर्तव्य, अकर्तव्य का ज्ञान है, न शौचाचार, सदाचार आदि का| वह ईश्वर, पाप, पुण्य, इहलोक, परलोक, कर्म फल आदि को नकारते हैं|
क्योंकि उनमें विवेक बुद्धि का अभाव होता है, अतः मंद बुद्धि हैं| उनकी दृष्टि केवल दृश्य पदार्थों पर ही अवलम्बित रहती है| कमाओ, खाओ, भोग विलास का आनंद लो, यहीं तक उनकी बुद्धि सीमित रहती है| भविष्य में क्या होगा, परलोक क्या है, आदि में उनकी सोच नहीं होती| वह केवल चोर, डाकू, राजकीय अधिकारी आदि अथवा अपने बलवानों से ही डरते हैं, ईश्वर से नहीं| उनका स्वभाव बद होने से वह दूसरों का अहित ही करते हैं, इसमें उन्हें बड़ा आनंद मिलता है| उनके अधिकार, ऐश्वर्य, सामर्थ्य, पद आदि शक्तियां दूसरों का अहित करने के लिए ही प्रयोग होती हैं| वह जन मात्र के शत्रु हैं| इस संसार का नाश करना ही उनका लक्ष्य है| ऐसे प्राणियों से हर संभव दूर रहना चाहिए|

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद् गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ।।१६-१०।।

ले मन अपूर्ण कामना हैं युक्त दम्भ अहंकार मद जन |
हेतु मोह दुराग्रही अशुद्ध भाव रख करें भू अटन ||१६-१०||

भावार्थ: *हृदय में अपूर्ण कामना लिए वह दम्भ, अहंकार एवं मद से युक्त मनुष्य हैं| मोह के कारण दुराग्रही, अशुद्ध भावना से वह पृथ्वी पर विचरते हैं|*

टीका: आसुरी प्रकृति वाले प्राणी कभी भी पूर्ण न होने वाली कामनाओं का आश्रय लेते हैं| इनका विश्वास होता है कि बिना कामना के जीवन पाषाण है| कामना के आश्रित हो यह भगवान् को और प्रारब्ध को नहीं मानते| यह दम्भ, मान और मद से युक्त होते हैं| इन्हीं को यह कामना पूर्ति का साधन समझते हैं|

आसुरी प्रकृति वालों के व्रत, नियम बड़े अपवित्र होते हैं| उदाहरण के रूप में अपने स्वार्थ के लिए यह किसी की भी हत्या अथवा किसी का गृह जला देने आदि के अपने अशुद्ध संकल्प से नहीं हिचकते| यह लोग वर्ण, आश्रम, आचार शुद्धि आदि को ढकोसला मानते हैं|

मूढ़ता के कारण वह अनेक दुराग्रहों को पकड़े रहते हैं| इनकी बुद्धि तामसी होती है| वह शास्त्रों, वेदों, वर्णाश्रमों, आदि की मर्यादा को नहीं मानते, प्रत्युत इसके विपरीत चलने में, इनको भ्रष्ट करने में ही अपना गौरव समझते हैं| वह अकर्तव्य को ही कर्तव्य, अहित को ही हित, अविवेक को ही विवेक मानते हैं| ऐसी अशुद्ध भावना लिए वह पृथ्वी पर विचरण करते रहते हैं|

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ।।१६-११।।

कर विषय संग्रह व् भोगते चिंतित रहें पर्यन्त मरन |
जो कुछ है सुख बस यही मानते ऐसा अभग जन ||१६-११||

भावार्थ: *विषय (पदार्थों) का संग्रह कर उनको भोगते हुए मृत्यु पर्यन्त चिंतित रहते हैं| जो कुछ सुख है, यही है, वह अभागे यही मानते हैं|*

टीका: आसुरी प्रवृत्ति वाले प्राणी सदैव चिंता में डूबे रहते हैं| चिंता दो प्रकार की होती है, पारमार्थिक एवं सांसारिक| परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति हेतु चिंतन करना पारमार्थिक चिंता है, जो श्रेष्ठ है| आसुरी व्यक्तियों को यह चिंता नहीं होती, प्रत्युत इसके विपरीत सांसारिक चिंताओं से घिरे रहते हैं| उदाहरण के रूप में, हमारा जीवन विलासता से कैसे परिपूर्ण हो, हमें मान, सम्मान, प्रतिष्ठा, प्रसिद्धि, नाम आदि कैसे प्राप्त हो, मरण पश्चात हमारी संतानें कैसे प्रसन्न रहें, हमारी धन, संपत्ति आदि का बँटवारा कैसे हो, इत्यादि| इन सब सांसारिक व्यर्थ चिंताओं में अपना अमूल्य मनुष्य शरीर गंवा देते हैं|

ऐसे आसुरी प्रवृत्ति वाले लोग धनादि पदार्थों का संग्रह एवं उनका उपभोग करने में ही सुख है, ऐसा मानते हैं| वह समझते हैं कि इस संसार में इसके अतिरिक्त कुछ और नहीं है| अतः उनकी दृष्टि में परलोक एक ढकोसला है| यही बस एक जीवन है, जितना चाहो विलासता कर लो, यही उनकी मान्यता रहती है| विषय भोग के निश्चय के समक्ष पाप, पुण्य, पुनर्जन्म आदि को वह नहीं मानते|

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ।।१६-१२।।

बंधे शत पासे आशा हो कर काम क्रोध परायन |
करें अनीति से हेतु लोकायत विषय संचय धन ||१६-१२||

भावार्थ: *आशा के सैंकड़ों पासों में बँधे काम, क्रोध के परायण होकर सांसारिक भोगों के लिए अन्यायपूर्वक धन का संग्रह करते हैं|*

टीका: आसुरी संपत्ति वाले मनुष्य आशा के सैकड़ों पाशों से बंधे रहते हैं| उदाहरण के लिए अधिक धन की आशा, अधिक सम्मान की आशा, नीरोग शरीर की आशा इत्यादि| संतों अथवा भगवान् की उपासना भी वह इसी कामना से करते हैं कि उन्हें इनसे कुछ सांसारिक लाभ हो जाए| दुर्भाग्य से ऐसे व्यक्तियों की आशाओं का कोई अंत नहीं होता और कभी पूर्ण भी नहीं होतीं|

उनका परम स्थान काम और क्रोध ही होते हैं| अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए वह क्रोध पूर्वक दूसरों को कष्ट पहुंचाने में नहीं हिचकते| वह सोचते हैं कि क्रोध से तेज बढ़ता है| क्रोध से ही शासन चलता है| कामना से ही सर्व कार्य सम्पूर्ण होते हैं|

इस प्रकार के प्राणियों का लक्ष्य धन का संग्रह करना और विषयों का भोग भोगना ही होता है| इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए वह कपट, धोखा, विश्वासघात आदि कुछ भी करने में नहीं हिचकते| यदि न्याय पथ का अनुसरण किया जाए

तो दुःख उठाना पडेगा और जीवन धारण कठिन हो जाएगा, ऐसी इनकी मान्यता होती है|

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ।।१६-१३।।

किया प्राप्त आज मैंने यह करूँ सफल अपने मन्मन् |
यद्यपि हूँ संपन्न धन होगा अधिक करूँ और यत्न ||१६-१३||

भावार्थ: *(वह ऐसा सोचते हैं) मैंने आज यह प्राप्त कर लिया है जिससे मैं अपने मनोरथ को सफल करूँ| मेरे पास इतना धन है और अधिक होगा, मैं अथक प्रयास करूँ|*

टीका: इस प्रकार के व्यक्ति लोभ के परायण हो मनोरथ करते रहते हैं| अपनी चतुरता से इतना धन संग्रह कर लिया, और अधिक प्रयास करूँ ताकि और अधिक धन हो, ऐसी उनकी प्रवृत्ति रहती है| जैसे जैसे उनके मनोरथ पूर्ण होते जाते हैं, तैसे तैसे उनका लोभ बढ़ता जाता है| उठते, बैठते, भोजन करते, मल, मूत्र त्याग करते, हर समय बस एक ही विचार मष्तिष्क में रहता है कि कैसे और अधिक धन अर्जित किया जाए| धनादि बढ़ाने के विषय में ही उनके मनोरथ होते हैं| ऐसे मनोरथ करते करते वह वृद्धावस्था को पा जाते हैं, फिर उनको चिंता रहती है कि इस धन को मृत्यु पश्चात नष्ट होने से कैसे बचाया जाए? वह यह बिलकुल भूल जाते हैं कि यदि पूत कपूत है तो धनादि को नष्ट कर देगा, और यदि सपूत है तो अपना स्वयं ही भरण-पोषण करेगा, चिंता क्यों?

पूत सपूत तो क्यों धन संचय, पूत कपूत तो क्यों धन संचय|

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानापि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलनान्सुखी ।।१६-१४।।

किया वध मैंने कुछ रिपु करूँ वध झट शेष द्विषन् |
हूँ मैं सर्व समर्थ सिद्ध सुखी भोगी व् महस्विन ||१६-१४||

भावार्थ: *कुछ शत्रुओं को तो मैंने मार दिया, शेष शत्रुओं को शीघ्र ही मार दूँगा| मैं सर्व समर्थ (ईश्वर), सिद्ध, सुखी, ऐश्वर्य को भोगने वाला एवं बलवान हूँ|*

टीका: आसुरी संपत्ति वाले प्राणी अपने शत्रुओं को मारते रहते हैं| उनका यह मनोरथ समाप्त ही नहीं होता| शेष शत्रुओं को भी वह कैसे मारें, बस यही सोचते रहते हैं| जो भी उनके धन संग्रह, भोग विलास आदि के पथ में आता है, वह उसी से शत्रुता कर उसे मार देने के विचार में रहते हैं|

वह सोचते है कि हम धन, बुद्धि, बल आदि में सब प्रकार से समर्थ हैं, हमारी समानता कोई नहीं कर सकता| हम भोग भोगने वाले हैं| हमारे पास स्त्री, संपत्ति, वाहन इत्यादि सब है| हम हर प्रकार से सिद्ध हैं| जो लोग भजन, प्रभु स्मरण, जप, ध्यान आदि करते हैं वह मूर्ख हैं, इससे उन्हें क्या प्राप्त होता है? वह पारमार्थिक लाभ की महिमा को समझ ही नहीं सकते|

आढयोऽभिजनवानस्मि कोऽन्योस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ।।१६-१५।।

हूँ धनी वृहद कुटुम्बी नहीं कोई सम मुझ भुवन |
करूँ यज्ञ दूँ दान हूँ सुखी रहें ऐसे मोहित यह जन ||१६-१५||

भावार्थ: *मैं धनी और बड़े कुटुम्ब वाला हूँ| मेरे समान इस जगत में कोई और नहीं है| मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा और सुखी रहूँगा| ऐसे यह प्राणी मोहित रहते हैं|*

टीका: आसुरी स्वभाव वाले प्राणी बस यही सोचते रहते हैं कि उनके पास कितना धन है, कितनी संपत्ति है, कौन सा बड़ा पद है, कौन अधिकारी हमारे पक्ष में है, इत्यादि| हम ऐसा यज्ञ करेंगे, ऐसा दान देंगे कि संसार में हमारी प्रसिद्धि होगी| करेंगे थोड़ा और गाएंगे अधिक, जिससे सभी को पता लग जाए कि वह कितना महान कार्य कर रहे हैं और कितने महान पुरुष हैं| इन कार्यों को करने के तुरंत पश्चात समाचार पत्रों में अपने बड़ेपन का हाल प्रकाशित

कराएंगे| धर्मशाला इत्यादि बनवाएंगे तो बड़े अक्षरों में अपना नाम खुदवाएंगे| अपने बड़े आदमी होने का अनुभव वह सब को हर प्रकार से कराएंगे|

इस प्रकार अशुद्ध मनोरथ करते रहते यह प्राणी मोहित रहते हैं, अर्थात मूढ़ता के कारण ही उनकी ऐसी मनोरथ वृत्ति रहती है|

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ।।१६-१६।।

भ्रमित चित्त हेतु कामना फंसते वह मोह जाल बंधन |
हो आसक्त विषय भोग गिरते भयंकर नर्क वह जन ||१६-१६||

भावार्थ: *कामनाओं के कारण भ्रमित चित्त हो वह मोह जाल बंधन में फँस जाते हैं| विषय भोगों में आसक्त होकर वह प्राणी महान भयंकर नर्क में गिर जाते हैं|*

टीका: आसुर मनुष्यों का एक निश्चय न होने से उनके मन में विविध कामनाएं उत्पन्न होती हैं| प्रत्येक कामना की पूर्ति के किए वह अगनित उपाय करते हैं| उन्हीं उपायों के चिंतन में उनका समय व्यर्थ जाता है| यह कामनाएं जड़ उद्देश्य से होती हैं, जिससे वह मोह जाल में फंसे रहते हैं| काम, क्रोध, अभिमान से भरे होने के कारण तथा मोह जाल में फंसे होने से उनकी बुद्धि भ्रमित रहती है| उन्हें भय सताता रहता है कि कहीं वह अपना धन अथवा संपत्ति न खो दें|

सांसारिक वस्तु आदि का संग्रह करने और उसके उपभोग करने में मान, सम्मान, सुख, सुविधा प्राप्त करने आदि में वह अत्यंत आसक्त रहते हैं| यही स्वभाव उनके लिए नर्क का कारण बन जाता है| उन्हें मरने के पश्चात कुम्भीपाक, महारौरव आदि घोर यातना वाले नर्कों में निवास करना पड़ता है|

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमान मदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ।।१६-१७।।

मान अति पूज्य स्वयं हो गर्वित चूर मान मद धन।
हो युक्त अधर्म और दम्भ करते वह असत यज्ञ यजन ॥१६-१७॥

भावार्थ: *वह अपने को अति पूज्य मानकर, अहंकार, धन और मान के मद में चूर, अधर्म और दम्भ से युक्त दिखावे के लिए वह यज्ञ यजन करते हैं।*

टीका: वह सांसारिक धन, मान, सम्मान, प्रशंसा, आदि की दृष्टि से अपने आप को समाज में अत्यंत पूज्य समझते हैं। उनका मिथ्या मानना होता है कि वह वर्ण, आश्रम, बुद्धि, पद, अधिकार, योग्यता आदि में सब से श्रेष्ठ हैं। उनमें नम्रता का अभाव होता है।

अगर स्वार्थवश किसी के आगे झुकना पड़े, तो उस झुकने में भी उनका अभिमान ही दिखाई देता है। वह धन और मान के मद से सदैव चूर रहते हैं। इस दुर्व्यसन के मन में समा जाने से वह अपने आप को सर्वश्रेष्ठ समझते हैं।

वह प्राणी दम्भ पूर्वक नाम मात्र के लिए और दिखावे के लिए यज्ञ आदि करते हैं। उनका भाव अपने आप को मिथ्या धार्मिक दिखाने का होता है ताकि जन समाज उनसे प्रभावित हो जाए। वह यह यज्ञ आदि अपने नाम का प्रचार करने हेतु ही करते हैं। वह यह सब धार्मिक अनुष्ठान शास्त्र विधि से न कर दम्भ पूर्वक अपने बनाए नियमों के अनुसार ही करते हैं। वास्तविकता में वह सदैव शास्त्र निषिद्ध कार्य ही करते हैं। बुद्धि सर्वथा विपरीत होने के कारण हर कार्य विपरीत ही करते हैं, 'सर्वथा विप्रीतांश्च'।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ।।१६-१८।।

युक्त गल्भ बल दर्प काम क्रोध करते वह द्वेष भगवन।
रखते दोष दृष्टि मेरे सदगुण में यह आसुरी जन ॥१६-१८॥

भावार्थ: *अहंकार, बल, घमण्ड, काम और क्रोध से युक्त यह भगवान् से भी द्वेष करते हैं| मेरे (भगवान्) सदगुणों में दोष दृष्टि रखने वाले यह आसुरी प्राणी हैं|*

टीका: यह आसुरी स्वभाव वाले प्राणी जो कुछ भी कार्य करेंगे वह अहंकार, हठ, घमंड, कामना और क्रोध से भरा ही होगा| वह इन्हीं दुर्गुणों पर आश्रित रहते हैं| इन्हीं को वह अपना हथियार बनाकर इस संसार में सब कार्य करते हैं|

प्रभु कहते हैं कि यह आसुरी संपत्ति वाले लोग मुझ से वैर भाव रखते हैं| 'श्रुति और स्मृति' यह मेरी दो आज्ञाएं हैं| वह इनका उल्लंघन कर अपने मन माने ढंग से व्यवहार करते हैं| मेरी आज्ञा का उल्लंघन कर वह निःसंदेह नर्क में जाते हैं|

श्रुतिस्मृति ममैवाज्ञे य उल्लङ्घ्य प्रवर्तते |
आज्ञाभंगी मम द्वेषी नरके पतति ध्रुवं ||

वह मुझ में और मेरी भक्तों में दोष ही देखते हैं| वह साधु संतों में ढूंढ ढूंढ कर उन पर राग-द्वेष, काम-क्रोध, स्वार्थ, मिथ्यापन आदि दुर्गुणों का दोषारोपण करते हैं| वह उन्हें पाखंडी कहते हैं| यदि कोई सिद्ध संत से सामना हो जाए तो उसका अपमान कर कहते हैं कि तुमने जिस सिद्धि के लिए इतना तप किया, कष्ट झेला, उसका क्या लाभ? तुम्हें दो समय की रोटी भी भिक्षा से खानी पड़ती है| वह पारमार्थिक परमात्म-तत्व को न समझते हैं और न ही समझना चाहते हैं|

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ।।१६-१९।।

होते क्रूर ईर्षालु अति नीच मलिन यह भूजन |
गिराता रहूँ मैं आसुरी योनि इन अधर्मी जन ||१६-१९||

भावार्थ: *यह प्राणी क्रूर, ईर्षालु, अत्यंत नीच एवं अपवित्र होते हैं| इन नराधमों को मैं आसुरी योनियों में गिराता रहता हूँ|*

टीका: प्रभु कहते हैं कि इस प्रकार के आसुरी स्वभाव वाले प्राणी अकारण ही सब से वैर रखते हैं और सब का अनिष्ट करने पर तुले रहते हैं| उनके कर्म बड़े क्रूर होते हैं| वह दूसरों के प्रति हिंसक होते हैं| यह महान नीच प्रवृत्ति के अशुद्ध प्राणी होते हैं| इन लोगों की संगत कभी नहीं करनी चाहिए|

बरु भल बास नर्क कर ताता | दुष्ट संग जनि देइ विधाता ||
जिनका नाम लेना, दर्शन करना, स्मरण करना आदि भी अपवित्र है, ऐसे क्रूर, निर्दयी, सब के वैरी प्राणियों को प्रभु बार बार आसुरी योनि में गिराते रहते हैं| अपने कर्मों के अनुसार वह पशु, पक्षी, कीट आदि योनियों में जन्म लेते रहते हैं|

यहां यह शंका हो सकती है कि एक स्थान पर तो भगवान् ने कहा है कि पापी से पापी प्राणी भी मेरा अंश है, फिर वह बार बार उन्हें आसुरी योनियों में क्यों गिराते रहते हैं? वास्तव में भगवान् के लिए यह क्रूर, निर्दयी प्राणी भी उनके अपने हैं| वह उन्हें ऐसी नीच योनियों में गिराते हैं जहां बुद्धि का प्रयोग केवल भरण-पोषण के लिए ही संभव है, जिससे वह कोई और पाप कर्म न कर सकें| इस प्रकार अपने आप को शुद्ध कर मनुष्य योनि में अंततः जन्म लें और अपना उद्धार करें|

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ।।१६-२०।।

कर सकें न प्राप्त कभी मुझे यह मूढ़ हे कुन्तीनन्दन |
लेते रहें जन्म जन्मांतर अधम आसुरी गति यह जन ||१६-२०||

भावार्थ: *हे कुन्तीनन्दन, यह मूढ़ मुझ (परमात्म-तत्व) को कभी प्राप्त नहीं कर सकते| यह प्राणी जन्म-जन्मांतर में अधम आसुरी गति में जन्म लेते रहते हैं|*

टीका: यहां प्रभु कह रहे हैं कि आसुरी संपत्ति के प्राणी अपने इन दुर्गुणों के कारण मुझ को प्राप्त नहीं कर सकते| वह इन आसुरी योनियों में तब तक जन्म लेते रहते हैं जब तक कि वह अपने पापों का प्रायश्चित न कर लें|

आसुरी योनि में जन्म लेने पर भी यदि उन्होंने घोर पाप किए हैं तो वह नहीं मिटते| उन्हें पूर्ण प्रायश्चित के लिए अधम गति अर्थात नर्क में भी जाना पड़ सकता है| अपने पापों का फल भोगकर उन्हें फिर एक बार मनुष्य योनि मिलती है, और अपना उद्धार करने का अवसर मिलता है|

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ।।१६-२१।।

काम क्रोध लोभ त्रिदोष हैं द्वार नर्क अर्जुन|
करो त्याग तुम यह दोष जो करें आत्मा का पतन ||१६-२१||

भावार्थ: *हे अर्जुन, काम, क्रोध तथा लोभ, यह तीन दोष (अवगुण) नर्क के द्वार हैं| इन अवगुणों का तुम त्याग करो जो आत्मा का नाश करने वाले हैं|*

टीका: भगवान् कहते हैं कि काम, क्रोध और लोभ, यह तीन दोष मेरी प्राप्ति में घोर बाधा हैं| भोग की इच्छा काम को जन्म देती है| संग्रह की इच्छा लोभ को जन्म देती है| जब इन दोनों की पूर्ति नहीं होतीं, अर्थात कामना पूर्ण नहीं होती और धनादि का संग्रह नहीं हो पाता, तब आसुरी योनि के प्राणियों को क्रोध आता है| क्रोध से सम्मोह पैदा होता है| सम्मोह हो जाने पर तमोगुण का आधिपत्य हो जाता है| यह प्राणियों को अधम गति में गिरा देता है|

यद्यपि काम, लोभ और क्रोध प्राणी का पतन करते हैं पर आसुरी संपत्ति के प्राणी उन्हें हितकारी मान लेते हैं| उनका विश्वास होता है कि काम से विषय भोगादि सुख प्राप्त होते हैं| लोभ अर्थात धनादि संग्रह से भविष्य को सुरक्षित

किया जा सकता है, और क्रोध से जन समुदाय में आक्रोश फैलाकर मान, सम्मान प्राप्त किया जा सकता है|

यह तीनों अवगुण, काम, लोभ और क्रोध, नर्क के द्वार हैं, इसीलिए भगवान् अर्जुन को आदेश देते हैं कि इनका त्याग करो| इनका त्याग करने का अर्थ है कि इनके वशीभूत न हो| इन दुर्गुणों के आश्रित होकर कभी कोई कार्य नहीं करो| स्मरण रहे कि इनके वशीभूत होने से शास्त्र, धर्म और लोक मर्यादा के विरुद्ध ही कार्य होते हैं, जो प्राणी का पतन करते हैं|

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ।।१६-२२।।

हो मुक्त इन तीन नर्क द्वार करो श्रेष्ठ आचरन |
पा सकोगे परम गति सुनो तुम हे कुन्तीनन्दन ||१६-२२||

भावार्थ: *हे अर्जुन सुनो, इन तीन नर्क के द्वार से मुक्त होकर श्रेष्ठ आचरण करो| तुम परम गति (परमात्म-तत्व) को प्राप्त कर सकोगे|*

टीका: प्रभु तीन अवगुण, काम क्रोध और लोभ, को नर्क-द्वार अर्थात तमो-द्वार बताते हैं| तम नाम अन्धकार का है जो अज्ञान से उत्पन्न होता है| इनसे रहित हो कर ही परम गति की प्राप्ति हो सकती है| यदि साधना के साथ साथ यह तीन अवगुण भी रहते हैं तो उनसे साधक का अत्यंत अहित होता है| जहां जप, ध्यान, कीर्तन, सत्संग, स्वाध्याय, तीर्थ, व्रत आदि साधक को शुद्ध बनाते हैं वहीं यह अवगुण भाव अशुद्धि की ओर धकेलते हैं| अतः जब तक इन दुराचारों से सर्वथा छुटकारा नहीं मिल जाता, तब तक भगवद प्राप्ति का लक्ष्य सफल नहीं हो सकता| इन दोषों से रहित होने पर शुद्धि स्वभावतः आ जाती है| जीव में अशुद्धि तो संसार की ओर लगने से होती है, अन्यथा परमात्मा का अंश होने से वह तो स्वतः ही शुद्ध है| गोस्वामी तुलसी दास जी कहते हैं:

ईस्वर अंश जीव अबिनासी | चेतन अमल सहज सुखरासी ||

इन अवगुणों से रहित होकर जब साधक प्रभु को पुकारता है तब प्रभु दौड़े चले आते हैं|

मम हृदय भवन प्रभु तोरा। तहँ बसे आइ बहु चोरा ॥
अति कठिन करहिं बरजोरा । मानहिं नहिं बिनय निहोरा ॥

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ।।२०-२३।।

कर त्याग शास्त्र विधि करे जो मनमाना आचरन|
न कर सके प्राप्त सिद्धि सुख परम गति वह अधम जन ||१६-२३||

भावार्थ: *जो शास्त्र विधि को त्यागकर मनमाना आचरण करता है, वह अधम प्राणी सिद्धि, परम गति, सुख को प्राप्त नहीं कर सकता|*

टीका: प्रभु कहते हैं कि शास्त्र विधि की अवहेलना करने वाले एवं अपनी मनमानी करने वाले प्राणी चाहे कितने भी यज्ञ कर लें, दान कर लें, उन्हें कभी परम गति की प्राप्ति नहीं हो सकती| मनमाने ढंग से शुभ कार्य करने का तात्पर्य है कि वह यह कार्य लोक हित के लिए न कर अपने स्वार्थ की पूर्ति, अपने यश, मान, सम्मान आदि के लिए करते हैं| बाह्य भाव से वह अवश्य शुभ कार्य कर रहे हैं, परन्तु भीतर के भावों में उनका स्वार्थ निहित है| प्रभु कहते हैं कि शुभ कार्य करने में भीतर के भावों की ही महत्ता है| इस प्रकार शुभ कार्य करने से आसुरी स्वभाव वाले प्राणियों को धन, मान, सम्मान आदि मिल सकते हैं, परन्तु अंतःकरण की शुद्धि, सिद्धि नहीं मिल सकती| जब तक अंतःकरण की शुद्धि नहीं होती, आतंरिक सुख भी प्राप्त नहीं हो सकता क्योंकि उनके भीतर तो काम क्रोधादि की ज्वाला भड़क रही है| पहले तो इस प्रकार के आसुरी स्वभाव के प्राणियों को परम गति में विश्वास ही नहीं होता, फिर इन अवगुणों के कारण वह ऐसे कुकर्म करते हैं कि भगवद प्राप्ति का प्रश्न ही नहीं उठता| उन्हें मिथ्या अभिमानवश यह भ्रम हो सकता है कि वह सुखी हैं, उन्हें सिद्धि प्राप्त हुई है इत्यादि, परन्तु वास्तविकता में वह इनसे बहुत दूर हैं|

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ।।१६-२४।।

ॐ तत्सदिति श्रीमद् भगवद् गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसंपद्विभागयोगो नाम षोडषोऽध्यायः ।

है प्रमाणिक शास्त्र में कर्म अकर्म विधि अर्जुन।
जान यह तथ्य करो सदा शास्त्र विधि कर्म भुवन ।।१६-२४।।

ब्रह्मविद्या योगशास्त्रमय महाग्रंथ गीतबंधन ।।
श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषदरूप ग्रन्थ अति पावन।
श्री कृष्णार्जुन संवाद दैवासुरसंपद्विभागयोग नामन ।।
हुआ अत्र सम्पूर्ण षोडस अध्याय करे कल्याण जन ।।

भावार्थ: *हे अर्जुन, कर्तव्य और अकर्तव्य की विधि शास्त्र में प्रमाणिक है| यह सत्य जानकर लोक में सदा शास्त्र विधि कर्म करो|*

इस प्रकार उपनिषद, ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र रूप श्रीमद्भगवद्गीता के श्री कृष्ण-अर्जुन संवाद में 'दैवासुरसंपद्विभागयोग' नामक षोडस अध्याय संपूर्ण हुआ|

टीका: सांसारिक मोह एवं अवगुण (काम, क्रोध, मोह) युक्त होने के कारण आसुरी स्वभाव वाले प्राणी शास्त्रों में प्रमाणित विधि का सम्मान नहीं करते| लोक, परलोक का आश्रय लेकर चलने वाले मनुष्यों के लिए कर्तव्य, अकर्तव्य की विधि शास्त्रों में दी गई है| जो इन विधि का सम्मान नहीं करता, उन्हें सिद्धि प्राप्त होना असंभव है| प्रभु अर्जुन को समझाते हैं कि उनको शास्त्र विधि कर्तव्य का पालन करना चाहिए|

अर्जुन के हृदय में ऐसी भावना है कि युद्ध करने से पाप लगेगा, जब कि क्षत्रियों के लिए धर्म की रक्षा हेतु युद्ध करना शास्त्र द्वारा प्रमाणित विधि है| प्रभु कहते

हैं कि हे अर्जुन, तुम अपने मनमाने ढंग से निश्चय नहीं करो कि तुम्हारे लिए क्या उचित है, क्या अनुचित| तुम केवल शास्त्रों द्वारा प्रमाणित प्रणाली का अनुसरण करो, जो तुम्हें धर्म युद्ध करने की आज्ञा देती है|

अध्याय १७: श्रद्धात्रयविभागयोग

अर्जुन उवाच
ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ।।१७-१।।

अर्जुन उवाच
छंद:
त्याग शास्त्र विधि करें जो श्रद्धा युक्त देव देवी पूजन |
हो उनकी कौन गति सत रजस या तमस पूछे अर्जुन ||१७-१||

भावार्थ: *अर्जुन ने पूछा, 'शास्त्र विधि त्याग श्रद्धा युक्त जो देवता और देवियों का पूजन करते हैं, उनकी स्थिति कैसी होती है, सत, रजस अथवा तमस?'*

टीका: अर्जुन भगवान् श्री कृष्ण से अब उन प्राणियों के भविष्य के बारे में प्रश्न करते हैं जो यद्यपि शास्त्र विधि का पालन नहीं करते परन्तु अपने इष्ट देवी, देवताओं का बड़ी श्रद्धा से पूजन करते हैं| यह प्रश्न कलियुग में विशेष चरितार्थ है क्योंकि इस युग में सांसारिक कामनाएं अधिक होती हैं, और इन कामनाओं की पूर्ति के लिए प्राणी अपने इष्ट देवी, देवताओं की बड़े लगन से स्तुति करते हैं| कलियुग में शास्त्र के ज्ञाता भी कम ही हैं| सत्संग मिलना भी कठिन है क्योंकि सत साधु संतों का अभाव है| छल कपट वाले गुरु और साधु संतों की अधिकता है| अतः शास्त्र विधि जाने बिना, सत संतों के सत्संग के बिना, प्राणी अपने मनोरथ पूर्ण करने के लिए अपने इष्ट देवी, देवताओं का पूजन करने को विवश हैं| ऐसे प्राणियों की क्या गति होगी? वह सतगुणी अथवा रजोगुणी अथवा तमोगुणी कहे जाएंगे|

स्मरण रहे कि सात्विक भाव, आचरण एवं विचार दैवीय संपत्ति के प्रतीक हैं, और राजसी अथवा तामसी भाव, आचरण एवं विचार आसुरी संपत्ति के प्रतीक हैं| संपत्ति के अनुसार ही निष्ठा होती है, अर्थात मनुष्य के जैसे भाव, आचरण और विचार होते हैं, उन्हीं के अनुसार उनकी स्थिति (निष्ठा) होती है| स्थिति के

अनुसार ही भविष्य में गति होती है| प्रभु कहते हैं कि शास्त्र विधि का त्याग कर मनमाने ढंग से आचरण करने पर सिद्धि, सुख और परम गति प्राप्त नहीं होती| लेकिन जिन प्राणियों की अपने इष्ट पर परम श्रद्धा है, यद्यपि वह अज्ञानवश शास्त्र विधि नहीं जानते, ऐसे प्राणियों की क्या गति होगी? वह सात्विक गति में जाएंगे अथवा राजसी अथवा तामसी|

श्रीभगवानुवाच
त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां श्रृणु ।।१७-२।।

श्रीभगवानुवाच
हुई श्रद्धा जो उत्पन्न स्वभाववश बोले श्री भगवन |
देती त्रिप्रकार फल सत रजस तमस सुनो अर्जुन ||१७-२||

भावार्थ: *श्री भगवान बोले, 'स्वभाववश उत्पन्न हुई श्रद्धा, तीन प्रकार, सत, रजस और तमस, के फल देती है, अर्जुन सुनो|'*

टीका: अर्जुन को उत्तर देते हुए भगवान् श्री कृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन, स्वाभाविक श्रद्धा तीन प्रकार, सत, रजस और तमस, की होती है| चूंकि यह श्रद्धा न तो शास्त्र से उत्पन्न है न सत साधुओं के सत्संग से, अतः स्वतः सिद्ध है| इस स्वतः सिद्ध श्रद्धा के कारण ही प्राणी अपने इष्ट देवी, देवताओं का पूजन करते हैं| सात्विक श्रद्धा परम गति दे सकती है लेकिन राजसिक और तामसिक श्रद्धा तो केवल भव बंधन ही देती है|

सत्त्वानुरुपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत |
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः || ३ ||

होती श्रद्धा अनुरूप अंतःकरण सभी जन अर्जुन |
हो जैसी जिसकी श्रद्धा होता उसका वैसा वर्पन् ||१७-३||

भावार्थ: *हे अर्जुन, सभी मनुष्यों की श्रद्धा उनके अन्तःकरण के अनुरूप होती है| जिसकी जैसी श्रद्धा होती है उसका वही स्वरुप होता है (अर्थात वही उसकी स्थिति है)|*

टीका: प्रभु कह रहे हैं कि प्राणियों की श्रद्धा उनके अंतःकरण के अनुरूप ही होती है| जैसे जिसमें संस्कार होंगे वैसे ही उसकी श्रद्धा होगी| सत संस्कार से सात्विक श्रद्धा, भोग विलास संस्कार से राजसी श्रद्धा और क्रूर संस्कार से तामसी श्रद्धा होती है| शास्त्र विधि को जानें या न जानें, अनुष्ठान करें या न करें, किसी वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदि को मानें अथवा नहीं मानें, स्वतः श्रद्धा उनके संस्कार पर ही निर्भर है| मनुष्य श्रद्धा प्रधान है| जैसी उसकी श्रद्धा होगी, वैसा ही उसका स्वरुप होगा| जैसी श्रद्धा होगी वैसी ही निष्ठा होगी और उस निष्ठा के अनुसार ही उसकी गति होगी|

सात्विकता परमात्म-तत्व का प्रतीक है| अतः सात्विक श्रद्धा पारमार्थिक हुई और यह दैवीय संपत्ति देने वाली हुई| राजसी एवं तामसी श्रद्धा सांसारिक हैं, अतः यह आसुरी संपत्ति देने वाली हुईं| स्वयं का कल्याण चाहने वाले प्राणी के लिए सात्विक श्रद्धा ग्राह्य है, राजसी और तामसी श्रद्धा त्याज्य है|

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ।।१७-४।।

करते सत पुरुष देव देवी व् रजस यक्ष असुर पूजन |
तमस भाव जन करते केवल प्रेत भूतगण अन्वासन ||१७-४||

भावार्थ: *सात्त्विक पुरुष देवता और देवियों का, रजस पुरुष यक्ष और राक्षसों का तथा तमस भाव के प्राणी केवल प्रेत और भूतगणों का पूजन करते हैं|*

टीका: प्रभु कहते हैं कि सत पुरुष देवी, देवताओं का पूजन करते हैं| देव, देवी शब्द यहां ईश्वरीय शक्ति का वाचक है जिनमें मुक्ति देने की सामर्थ्य है, 'दैवीयसम्पद्विमोक्षाय'| अतः इस देव, देवी शब्द को भगवान् विष्णु, उनके

अवतार (श्री राम, श्री कृष्ण आदि), भगवान् शंकर, भगवान् गणेश, माता लक्ष्मी, माता पार्वती के लिए समझना चाहिए| शास्त्रों में १२ आदित्य, ८ वसु, ११ रूद्र और २ अश्विनी कुमार, इन ३३ कोटि देवताओं को भी इसी श्रेणी में रखा है| इनका निष्काम भाव से पूजन करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है, 'यजन्ते सात्विका देवान'|

आगे प्रभु कहते हैं कि राजस व्यक्ति यक्ष और राक्षसों का पूजन करते हैं| यह दोनों सांसारिकता के प्रतीक हैं| यक्षों में धन संग्रह की प्रमुखता होती है, और राक्षसों में दूसरों का नाश करने की| अपनी कामना पूर्ति के लिए एवं दूसरों का नाश करने के लिए राजस प्राणियों में यक्ष और राक्षस का पूजन करने की प्रवृत्ति होती है|

तामस प्राणी भूत प्रेतों का पूजन करते हैं| जो मृत्यु को प्राप्त हो गए उन्हें प्रेत कहा जाता है, और जिन्होंने भूत योनि में जन्म लिया है, उन्हें भूत कहा जाता है| स्मरण रहे कि यह प्रेत शब्द 'पितर' का वाचक नहीं है| जो निष्काम भाव से पितरों का पूजन करते हैं, वह तामस नहीं हैं, प्रत्युत सात्विक कहे जाते हैं| अपने अपने पितरों का पूजन करना प्रभु ने निषेध नहीं किया, 'पितृन्यान्ति पितृव्रताः'| पितृ लोक में वही जाते हैं जो पितृव्रता हैं, अर्थात जो पितरों को सर्वोपरि और अपना इष्ट मानते हैं तथा पितरों पर निष्ठा रखते हैं| यह स्थिति देव श्रेणी के समान समझी जाती है|

जब हम शास्त्रविहित यज्ञ आदि शुभ कर्म करते हैं तब हम प्रथम पूज्य गणेश, नवग्रह, षोडस मातृ, आदि का पूजन निष्काम भाव से करते हैं| इसको शास्त्र विधि अनुसार देव, देवी पूजन ही समझना चाहिए|

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ।।१७-५।।
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्धयासुरनिश्चयान् ।।१७-६।।

युक्त अहम् दम्भ करें जो रहित शास्त्र विधि तप गहन।
है आसक्ति भोग अभिमान बल जिनके अंतःकरन ||१७-५||
देते हुए कष्ट तन स्थित पंचभूत व् आत्मा करते मनन।
हैं वह आसुरी प्रकृति मूढ़ मनुष मानुषी जन ||१७-६||

भावार्थ: *जो मनुष्य दम्भ और अहंकार से युक्त शास्त्र विधि से रहित घोर तप करते हैं, जिन प्राणियों के अंतःकरण में भोग आसक्ति और बल का अभिमान है, जो शरीर में स्थित पंचभूत एवं आत्मा को कष्ट देकर साधना करते हैं, वह अज्ञानी नर, नारी आसुर-स्वभाव वाले हैं।*

टीका: शास्त्रों में निषेध तपादि कर्म करने में जिनकी रूचि रहती है, वह वास्तव में तामसी प्रवृत्ति के होते हैं। दम्भ और अहंकार से भरे ऐसे मनुष्य केवल दिखावे के लिए ही शुभ कर्म करते हैं ताकि उनका समाज में मान, सम्मान, यश बढ़े। वास्तव में वह इन्द्रिय भोग आसक्ति में लिप्त होते हैं। वह ऐसा मानते हैं कि यदि इन्द्रिय भोगों का सेवन नहीं किया तो मनुष्य तन पशु समान है। ऐसी समझ से वह भोग सामग्री को भोगने में और उन्हें प्राप्त करने में हठ पूर्वक लगे रहते हैं, अर्थात हठ से तप आदि करते हैं। वह शरीर में स्थित पांच भूतों (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) को कष्ट देते हैं। शरीर को कष्ट देकर ही तप होता है, ऐसी उनकी स्वाभाविक धारणा होती है। प्रभु कहते हैं कि इस प्रकार के मनुष्यों को आसुरी संपत्ति का समझो। वह अत्यंत नीच नास्तिक श्रेणी में आते हैं।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं श्रृणु ।।१७-७।।

होता प्रिय भोजन त्रिप्रकार स्व-प्रकृति पृथक जन।
सादृश्य हैं दान यज्ञ तप भी त्रिप्रकार सुन भेद अर्जुन ||१७-७||

भावार्थ: *तीन प्रकार का भोजन पृथक प्राणियों को अपने स्वभाव से प्रिय होता है। वैसे ही यज्ञ, तप और दान भी तीन प्रकार के होते हैं, यह भेद अब सुनो।*

टीका: अलग अलग मनुष्यों को अपने स्वभाव के अनुसार तीन प्रकार, सात्विक, राजस या तामस भोजन में रूचि होती है| वास्तव में यहां प्रभु आहार का वर्णन न कर केवल रूचि की ओर ध्यान दे रहे हैं| आहारी की श्रद्धा किस प्रकार के भोजन में होती है, यही यहां दिखाया गया है| क्रमशः जिसकी सात्विक, राजस अथवा तामस भोजन में रूचि होती है, वह सात्विक, राजस और तामस स्वभाव वाले होते हैं| उसी प्रकार शास्त्रीय यज्ञ, तप आदि भी तीन प्रकार के होते हैं| इन त्रिप्रकार के शास्त्रीय विधानों का प्रभु अब विवरण करना चाहते हैं|

इसका तात्पर्य यह है सात्विक मनुष्यों की रूचि सात्विक खान-पान, रहन-सहन, कार्य, समाज, व्यक्ति आदि में होती है और उनका संग उन्हें अच्छा लगता है| राजस मनुष्यों की रूचि राजस खान-पान, रहन-सहन, कार्य, समाज, व्यक्ति आदि में होती है, और उनका संग उन्हें अच्छा लगता है| तामस मनुष्यों की रूचि तामस खान-पान, रहन-सहन, कार्य, समाज, व्यक्ति आदि में होती है, और उनका संग उन्हें अच्छा लगता है| जैसी रूचि होती है, उसी प्रकार के आचरणों में प्रवृत्ति होती है|

आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्या स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ।।१७-८।।

बढ़ाए सत् भोज आयु स्वास्थ्य बल सुख प्रेम वयुन |
यह रस युक्त तैलीय भोजन देता शक्ति हृदय जन ||१७-८||

भावार्थ: *सात्विक भोजन आयु, बुद्धि, बल, स्वास्थ्य, सुख और प्रीति को बढ़ाता है| यह रस युक्त, तैलीय भोजन प्राणियों के हृदय को शक्ति देता है|*

टीका: प्रभु यहां स्वात्विक भोजन के गुण बता रहे हैं| यह सात्विक आहार शरीर, मन, बुद्धि आदि में बल एवं उत्साह बढ़ाता है| यह आयु बढ़ाने वाला एवं तन को नीरोग रखने वाला होता है| यह रस से युक्त अर्थात फल, दुग्ध आदि प्रकार का होता है| तैलीय अर्थात घी माखन, बादाम, काजू आदि सात्विक पदार्थों से

निकले हुए तेल से बनाया जाता है| जिन पुरुषों को ऐसा भोजन प्रिय हो, उन्हें सात्विक पुरुष समझो|

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ।।१७-९।।

अति तिक्त खट्टा नमकीन गरम तीखा रूखा दाहन |
दे दुःख शोक रोग है अति प्रिय आहार राजस जन ||१७-९||

भावार्थ: *अति कड़वा, अति खट्टा, अति नमकीन, अति गरम, अति तीखा, रूखा, दाह वाला आहार जो दुःख, शोक तथा रोग देता है, वह राजसी प्राणियों का प्रिय आहार है|*

टीका: प्रभु कहते हैं कि अति कड़ुवा जैसे करेला, अति खट्टा जैसे इमली, अति नमकीन, अति गर्म, तीखा जैसे अधिक मिर्च युक्त, रूखा जिसमें घी आदि चिकनाई न हो, दाह देने वाला जैसे खमीर इत्यादि, भोजन राजस प्राणियों को प्रिय है| यह भोजन दुःख, शोक और रोग देने वाला है| इसे खाते समय तो प्रसन्नता का अनुभव हो सकता है, परन्तु बाद में तन और हृदय में प्रसन्नता नहीं होती| सात्विक प्राणियों के लिए यह भोजन ताज्य है|

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ।।१७-१०।।

अधपका रसहीन गंधित बासी उच्छिष्ट अशुद्ध भोजन |
युक्त मांसादि अनाद्य आहार समझो प्रिय तामस जन ||१७-१०||

भावार्थ: *अधपका, रस रहित, गंधित, बासी, उच्छिष्ट एवं अशुद्ध भोजन जो मांसादि से बना है और खाने योग्य नहीं है, वह तामस प्राणियों का प्रिय समझो|*

टीका: आगे प्रभु तामस प्रकार के भोजन का विवरण करते हैं| जो अधपका हो, रस हीन हो जैसे धूप अथवा अन्य किसी कारण से उसका स्वाभाविक रस सूख गया हो, सड़ने से तैयार किया गया गंधित हो जैसे मदिरा, बासी जैसे एक दिन अथवा उससे पहले पकाया हुआ हो, जूठन जैसे किसी अन्य मनुष्य, पशु, पक्षी आदि ने सूंघ लिया हो अथवा उसी पात्र में खाया हो, अपवित्र जैसे मांस, मछली युक्त हो, ऐसा भोजन तामस प्राणियों को प्रिय है|

स्मरण रहे कि स्वात्विक भोजन भी यदि रागपूर्वक अथवा लोलुपतावश अधिक खाया आए (जिससे अजीर्ण हो जाए), तो वह भी तामस हो जाता है| ऐसे ही भिक्षुक को भिक्षा में रूखा, सूखा, तीखा और बासी भोजन प्राप्त हो जाए जो कि राजस या तामस हो सकता है, तो वह उसको भगवान् का भोग लगाकर भगवन्नाम लेते हुए स्वल्प मात्रा में खाए तो वह भोजन भी भाव और त्याग की दृष्टि से सात्विक हो जाता है|

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ।।१७-११।।

करें सदा यज्ञ शास्त्र विधि है यह कर्म परम सत जन |
हो यज्ञ सत हेतु जनहित रहित-फल तृप्त करे वह मन ||१७-११||

भावार्थ: *शास्त्र विधि से यज्ञ करना सत्पुरुषों का परम कर्तव्य है| यज्ञ सात्विक, लोकहित के लिए और फल-रहित हो| यह मन को संतुष्ट करता है|*

टीका: बड़े भाग्य से मनुष्य का शरीर मिलता है| इस शरीर में कर्तव्य पालन करते हुए शास्त्र विधि से यज्ञ करना हमारा कर्म है| यह यज्ञ फल की आशा से रहित होना चाहिए, जैसे 'लोक, परलोक में मुझे इस यज्ञ करने का क्या लाभ मिलने वाला है', यह भाव बिलकुल नहीं होना चाहिए|

प्रभु ने इस यज्ञ के लिए सत (सात्विक) शब्द का प्रयोग किया है| इसका तात्पर्य है कि साधक को कर्तव्य मात्र समझकर ही यज्ञ कर्म करना चाहिए, मान-

सम्मान, यश, मरण पश्चात स्वर्ग प्राप्ति, धनादि प्राप्ति, आदि इच्छाओं के साथ नहीं| ऐसा भाव होने से कर्ता फलांकाक्षी नहीं होगा और यज्ञ कर्म का फल कर्ता को भव बंधन में नहीं डालेगा| इस प्रकार यज्ञ की क्रिया और यज्ञ के फल के साथ कर्ता का सम्बन्ध नहीं होगा, 'कायें मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रयैरपि', अर्थात करण (शरीर, इन्द्रियाँ आदि), उपकरण (यज्ञ करने में उपयुक्त सामग्री) और अधिकरण (स्थान आदि) किसी के साथ भी साधक का सम्बन्ध नहीं होगा| वह केवल लोकहित के लिए ही होगा|

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ।।१७-१२।।

हेतु दंभाचरण युक्त फलेच्छा किए यदि यज्ञ अर्जुन |
समझो वह यज्ञ राजस है विरुद्ध शास्त्र और मलिन ||१७-१२||

भावार्थ: *हे अर्जुन, यदि दम्भाचरण युक्त एवं फल की इच्छा लिए हुए यज्ञ किया जाता है, तो उस यज्ञ को शास्त्र के विरुद्ध, अशुद्ध और राजस समझो|*

टीका: फल की इच्छा अर्थात इष्ट की प्राप्ति के लिए और अनिष्ट की निवृत्ति की कामना से जो यज्ञ किया जाता है, वह राजस हो जाता है| इच्छाएं जैसे धन प्राप्ति, स्त्री, पुत्र आदि का हित, नीरोग शरीर, मान, सम्मान, यश, प्रसिद्धि, मरण पश्चात स्वर्ग प्राप्ति आदि ही इष्ट की प्राप्ति की कामनाएं हैं| यज्ञ करते समय इनका सर्वथा त्याग होना चाहिए|

यज्ञ कर्ता में यज्ञ करते समय दम्भ (दिखावटीपन) बिलकुल नहीं होना चाहिए| यज्ञ इसलिए किया गया है कि जन साधारण यज्ञ कर्ता को सद्गुणी, सदाचारी, संयमी, तपस्वी, दानी, धर्मात्मा, याज्ञिक समझे, यह यज्ञ कर्ता का भाव ही दम्भ आचरण कहलाता है| इस प्रकार फलेच्छा एवं दम्भ युक्त जो यज्ञ किया जाता है, वह सात्विक नहीं अपितु राजस है| वह शास्त्र के विरुद्ध एवं अपवित्र है|

विधिहीनमसृष्टान्नं मंत्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ।।१७-१३।।

हीन शास्त्र विधि बिन अन्नदान मंत्र और वित्तदन |
हो बिन श्रद्धा जो यज्ञ समझो उसे तामस हे अर्जुन ||१७-१३||

भावार्थ: *हे अर्जुन, शास्त्र विधि से हीन, बिना अन्नदान, मंत्र, दक्षिणा और श्रद्धा से किए जाने वाले यज्ञ को तामस समझो|*

टीका: पृथक पृथक यज्ञों की शास्त्रों में पृथक पृथक विधियां होती हैं| इन विधियों के अनुसार ही यज्ञकुंड, पात्र, बैठने की दिशा, आसान आदि का निश्चय लिया जाता है| उदाहरण के लिए देवी यज्ञ में लाल वस्त्र और लाल सामग्री आवश्यक है| यदि इन विधियों का पालन यज्ञ कर्ता ने यज्ञ करते समय नहीं किया तब वह यज्ञ तामस होता है|

यदि यज्ञ में उचित प्रकार से ब्राह्मणादि को अन्न दान नहीं दिया, मन्त्रों का उचित उच्चारण नहीं किया, निर्धनों को दान नहीं दिया, तब उस यज्ञ को तामस समझो|

जिन यज्ञ कर्ताओं को यज्ञ की क्रिया और उसके पारलौकिक फल पर श्रद्धा नहीं है, यज्ञ केवल मान, सम्मान, यश आदि सांसारिक इच्छाओं की पूर्ति के लिए किया गया है, वह यज्ञ कर्ता तामस स्वभाव वाले होते हैं और यज्ञ तामस होता है| इन्हें यज्ञ के किसी शुभ कर्म फल मिलने के स्थान पर अशुभ कर्मों का फल मिलता है, 'अधो गच्छन्ति तामसाः', उन्हें अधोगति मिलती है|

इस वृतांत से स्पष्ट है कि यदि यज्ञों में कर्ता, ज्ञान, क्रिया, धृति, बुद्धि, संग, शास्त्र, खान-पान, आदि सभी सात्विक हैं, तभी वह यज्ञ सात्विक है| यदि यह भाव राजस हैं, तो वह यज्ञ भी राजस हैं, और यदि तामस हैं, तो उस यज्ञ को तामस समझो|

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शरीरं तप उच्यते ।।१७-१४।।

शुद्ध सहज अहिंसक ब्रह्मचारी करें जब देव पूजन |
हो आदर ब्राह्मण गुरु ज्ञानी वह तप विषयक तन ||१७-१४||

भावार्थ: *पवित्र, सरल, अहिंसक और ब्रह्मचारी जब देवों का पूजन करते हैं, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानियों का आदर होता है, इसे शरीर सम्बन्धी तप कहा जाता है|*

टीका: प्रभु यहां शारीरिक तप की व्याख्या करते हैं| कुछ लोगों का ऐसा मानना हो सकता है कि शरीर को कष्ट देना ही तप है| परन्तु वास्तव में समस्त सांसारिक विषयों में अनासक्त होकर जो संयम, त्याग के साथ देवता, ब्राह्मण, गुरुजन और महान सिद्ध पुरुषों का यथायोग्य पूजन कर तप किया जाता है, वही सत तप है| पारमार्थिक कर्मों में यही कर्म उच्च श्रेणी में है, 'त्यागाच्छान्तिरनन्तरं '| इसी से परमात्म-तत्व की प्राप्ति होती है|

जैसा उपर्युक्त वर्णन किया जा चुका है, यहां भी देव शब्द ईश्वरीय शक्ति का वाचक है जिनमें मुक्ति देने की सामर्थ्य है, 'दैवीयसम्पद्विमोक्षाय'| अतः इस देव शब्द को भगवान् विष्णु, उनके अवतार (श्री राम, श्री कृष्ण आदि), भगवान् शंकर, भगवान् गणेश, माता लक्ष्मी, माता पार्वती के लिए समझना चाहिए| इन में जो भी इष्ट हों, जिन पर भी अधिक श्रद्धा हो, उनका निष्काम भाव से पूजन करना चाहिए| शास्त्रों में १२ आदित्य, ८ वसु, ११ रूद्र और २ अश्विनी कुमार, इन ३३ कोटि देवताओं को भी इसी श्रेणी में रखा है| इनका निष्काम भाव से पूजन करने से भी मोक्ष की प्राप्ति होती है, 'यजन्ते सात्विका देवान'|

यद्यपि ब्राह्मण (ब्रह्म ज्ञान प्राप्त किया मनुष्य) शब्द तीनों ही वर्ण, ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य, का वाचक है, परन्तु चूंकि प्रभु ने यहां इनका पूजन करने का आदेश दिया है, इसलिए इसे ब्राह्मण का ही वाचक समझना चाहिए| ब्राह्मण की

परिभाषा भली भांति समझनी चाहिए| जिन्हें ब्रह्म ज्ञान हो चुका है, वह ही ब्राह्मण हैं|

प्रभु गुरु की पूजा करने का भी आदेश देते हैं| जिनसे हमें शिक्षा प्राप्त होती है, ऐसे हमारे माता-पिता, कुल आचार्य, अध्यापक, आश्रम, अवस्था, विद्या आदि में अपने से अधिक ज्ञान वाले, इन सभी को गुरु समझना चाहिए|

प्रभु ने ज्ञानियों का पूजन करने को भी आदेश दिया है| जो जीवन मुक्त महापुरुष हैं, जिनका स्थान वर्ण और आश्रम में ऊंचा है, जो गुरु और ब्राह्मण दोनों ही श्रेणी में रखे जा सकते हैं, वह ज्ञानी हैं| वास्तव में देखा जाए तो ब्राह्मण और गुरु तो सांसारिक दृष्टि से आदरणीय और पूज्य हैं, परन्तु ज्ञानी महापुरुष तो आध्यात्मिक दृष्टि से आदरणीय एवं पूज्य हैं, अतः जीवन मुक्त ज्ञानी महापुरुष का हृदय से आदर करना चाहिए|

साधक को तप करने में जल, मृतिका आदि से शरीर को पवित्र करना चाहिए| शरीर की ऐंठ, अकड़ का त्याग कर उठने, बैठने आदि शारीरिक क्रियाओं में सहज होना चाहिए| अभिमान का नाम मात्र भी नहीं होना चाहिए| निरभिमान होने से शरीर में और शरीर की क्रियाओं में स्वाभाविक ही सरलता आ जाती है|

साधक को ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना चाहिए| स्मरण रहे कि यह ८ क्रियाएं ब्रह्मचर्य व्रत को भंग करने वाली होती हैं, अतः इनसे दूर रहना चाहिए|

(१) पहले कभी स्त्री संग किया हो, तो उसको स्मरण करना;
(२) स्त्रियों से राग पूर्वक बातें करना;
(३) स्त्रियों के साथ उपहास करना;
(४) स्त्रियों की ओर राग पूर्वक देखना;
(५) स्त्रियों के साथ एकांत में बातें करना;
(६) मन में स्त्री संग का संकल्प करना;
(७) स्त्री संग का दृढ़ निश्चय करना;

(८) साक्षात स्त्री संग करना|

साधक को पूर्णतः अहिंसक होना चाहिए| स्मरण रहे कि हिंसा स्वार्थ, काम, क्रोध, लोभ, और मूढ़ता से होती है| जैसे स्वार्थ के लिए किसी के धन को हड़पना, यह स्वार्थवश हिंसा है| क्रोध में किसी को चोट पहुंचाना, यह क्रोधवश हिंसा है| किसी पशु को उसके चमड़े के लिए मार देना, यह लोभवश हिंसा है| रास्ते में चलते चलते बिना बात के ही कुत्ते को लाठी मार देना, यह मूढ़वश हिंसा है| यह सब प्रकार की हिंसा त्याज्य है|
प्रभु ने स्पष्ट कहा है कि देव आदि का पूजन, शुद्धता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा और सहजता से युक्त होकर जब किया जाता है तो यह तप 'शारीरिक तप' कहलाता है| इस प्रकार के तप में कोई शारीरिक कष्ट नहीं होता प्रत्युत शरीर, इन्द्रिय, मन आदि का संयम होता है जो परमात्म-तत्व की प्राप्ति करा देता है|

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ।।१७-१५।।

जो यज्ञ सत प्रिय युक्त यथार्थ भाषण करे न उद्वेग मन |
हो जहां नाम हरि जपन और वेद शास्त्र पठन-पाठन ||
हेतु लोकहित समझो उस यज्ञ को वाणी तप अर्जुन ||१७-१५||

भावार्थ: *हे अर्जुन, जो यज्ञ सत्य, प्रिय, यथार्थ भाषण से युक्त, मन को उद्वेग न करने वाला, वेद और शास्त्रों के पठन-पाठन एवं परमेश्वर के नाम जपन के साथ लोक हित के उद्देश्य से किया जाता है, उसे 'वाणी तप' समझो|*

टीका: जो वचन वर्तमान और भविष्य में कभी किसी में उद्वेग, विक्षेप, हलचल पैदा करने वाला न हो, वह वचन 'उद्वेग न करने वाला' कहा जाता है| जैसा पढ़ा, सुना, देखा और निश्चय किया गया हो, उसको वैसा ही स्वार्थ और अभिमान को त्याग कर दूसरों के समक्ष प्रकट करना 'सत' है| जो वचन क्रूरता, रूखेपन, तीखेपन, ताने, निंदा और अपमानजनक शब्दों से रहित हों एवं प्रेमयुक्त, मृदुल, सरल और शांत हों, वह वचन 'प्रिय' कहलाते हैं| जो वचन हिंसा, डाह, द्वेष, वैर

आदि से सर्वथा रहित हों और प्रेम, दया, क्षमा, उदारता, मंगल आदि से परिपूर्ण हों, जो वर्तमान अथवा भविष्य में अपना और दूसरों का कभी अनिष्ट करने वाले न हों, वह वचन 'लोक हित कारक' कहलाते हैं|

साधक को पारमार्थिक उन्नति में सहायक शास्त्र और ग्रन्थ जैसे गीता, रामायण, भागवत आदि को स्वयं पढ़ना एवं दूसरों को पढ़ाना चाहिए| साथ में सदैव भगवन्नाम का जप करना, उनकी स्तुति करने आदि का अभ्यास करते रहना चाहिए| इस प्रकार वचनों में संयम बरतने को 'वचन तप' कहते हैं|

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ।।१७-१६।।

हो मन प्रसन्न शांत पावन मौनी व् भाव हरि चिंतन |
हो स्थिर चित्त करे यज्ञ कहें इसे तब तप विषयक मन ||१७-१६||

भावार्थ: *मन प्रसन्न, शांत, पवित्र, मौनी हो, भगवद् चिन्तन करने का भाव हो, चित्त स्थिर हो, इसे 'मन सम्बन्धी तप' कहते हैं|*

टीका: प्रभु कहते हैं कि यज्ञ करने वाले साधक के हृदय में प्रसन्नता होनी चाहिए| यह प्रसन्नता कोई सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति वाली अस्थाई नहीं, बल्कि संसार एवं दुर्गुण दुराचारों से सम्बन्ध विच्छेद कर स्वाभाविक स्थाई प्रसन्नता होनी चाहिए| मन की वास्तविक प्रसन्नता पाने के निम्न उपाय हैं|

(१) सांसारिक वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, देश, काल, घटना आदि को लेकर मन में राग और द्वेष न हो;
(२) अपने स्वार्थ और अभिमान को लेकर किसी से पक्षपात न करे;
(३) मन को सदा दया, क्षमा, उदारता आदि भावों से परिपूर्ण रखे;
(५) शरीर के लिए सात्विक, हितकारक एवं नियमित भोजन ही करे|
(६) यथा संभव एकांतवास करे|
(७) आवश्यकता पड़ने पर ही बोले और कम बोले|

(८) नियमित और शास्त्र निर्धारित समय के लिए शयन करे|

हितपरिमितभोजी नित्यमेकांतसेवी सकृदुचितहितोक्तिः स्वल्पनिद्राविहारः |
अनुनियमनशीलो यो भजत्युक्तकाले स लभत इव शीघ्रम साधूचित्तप्रसादम ||

साधक हृदय में हिंसा, क्रूरता, कुटिलता, असहिष्णुता, द्वेष आदि भावों को न रखे| भगवान् के गुण, प्रभाव, दयालुता, सर्वव्यापकता, आदि पर अटल विश्वास रखे| इस से साधक के हृदय में सौम्य भाव आता है|

साधक अनुकूलता-प्रतिकूलता, संयोग-वियोग, राग-द्वेष, सुख-दुःख आदि द्वंदों में स्थिर चित्त रखे, अर्थात सम रहे| इस प्रकार जिस तप में मन की मुख्यता होती है, उसको 'मन विषयक तप' कहते हैं|

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ।।१७-१७।।

युक्त श्रद्धा रहित-फलेच्छा कर अर्पित वचन तन मन |
किया जाए जो यज्ञ कहते उसे सात्विक तप अर्जुन ||१७-१७||

भावार्थ: *हे अर्जुन, श्रद्धायुक्त एवं फल की इच्छा से रहित जो वाणी, शरीर और मन से को अर्पित कर यज्ञ किया जाता है, उसे सात्त्विक कहते हैं|*

टीका: तन, मन और वचन को शुद्ध रखकर जो यज्ञ किया जाता है, वही सात्विक तप है| साधक सद्गुण एवं सदाचारों का सांगोपांग करे और दुर्गुण, दुराचार, कामना, मूढ़ता आदि दोषों को सर्वथा मिटा दे| फल की इच्छा न रखते हुए निष्काम भाव से अनुष्ठान करे| यह गुण साधक को दैवीय संपत्ति प्रदान कर उसे तत्व बोध करा देते हैं| साधक सात्विक हो जाता है|

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ।।१७-१८।।

किया यज्ञ यदि हेतु स्वार्थवश हों पूर्ण मन्मन |
हो हिय भाव पाखण्ड यह राजस तप दे फल क्षणिन् ||१७-१८||

भावार्थ: *यदि स्वार्थ के लिए हृदय में पाखण्ड भाव से इच्छाओं की पूर्ति के लिए यज्ञ किया गया है, तो यह राजस तप है जो क्षणिक फल देता है|*

टीका: राजस प्राणी मान, सम्मान एवं अपने स्वार्थ सिद्धि के लिए ही तप करता है| भीतर से उसके अंदर श्रद्धा और प्रभु भक्ति भाव नहीं होता, वह केवल दिखावे के लिए यह तप आदि करता है जिससे लोग उसे धार्मिक समझ उसका मान करें| राजस तप का फल चल और अध्रुव होता है, अर्थात इसका फल नाशवान और अनिश्चित होता है| इसे इसी भूलोक में भोगना पड़ता है| परलोक में इसका कोई महत्व नहीं| यह न स्वर्गगामी फल देता है, न नर्कगामी| इसी भूलोक में इसकी महिमा समाप्त हो जाती है|

स्मरण रहे कि फलेच्छा होने से शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक सात्विकता नष्ट हो जाती है| ब्रह्मचर्य का पालन करना कठिन होता है| अहिंसा के सिद्धांत पर चलना भी कठिन होता है| उसका मन सदैव प्रसन्न नहीं रह सकता, जिससे सौम्य भाव होना असंभव है| कामना के कारण मन में संकल्प, विकल्प आते रहते हैं| इन कारणों से राजस मनुष्य के भाव शुद्ध नहीं होते| सात्विक प्राणियों के लिए इस प्रकार का राजस तप करना त्याज्य है|

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तमसमुदाहृतम् ।।१८-१९।।

करे जो तप युक्त-हठ वश मूढ़ दे कष्ट वचन तन मन |
हेतु जिसका अनिष्ट अन्य है वह तामस तप हे अर्जुन ||१७-१९||

भावार्थ: *हे अर्जुन, जो तप मूढ़ता पूर्वक हठ से, मन, वाणी और शरीर की पीड़ा देकर, दूसरे का अनिष्ट करने के लिए किया जाता है, वह तप तामस है|*

टीका: तामस तप मूढ़ता पूर्वक आग्रह होने से स्वयं को कष्ट देकर किया जाता है| इस तप में चूंकि मूढ़ता की प्रधानता रहती है, अतः तन, मन, वचन को कष्ट होता है| साधारणतः स्वार्थ पूर्ति के लिए यह दूसरों को दुःख देने के लिए ही किया जाता है| यहां तामस साधक का भाव कोई विशेष शक्ति की प्राप्ति करने का होता है जिससे वह अपना स्वार्थ सिद्ध कर सके| इस प्रकार के प्राणी पशु, पक्षियों आदि से भी नीच हैं| उनका संग करना सर्वथा त्याज्य है|

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ।।१७-२०।।

है दान कर्तव्य इस भाव दे दान उचित पात्र जो जन |
निष्काम भाव दे किसी काल थल वह सत वित्तदन ||१७-२०||

भावार्थ: *दान देना ही कर्तव्य है, ऐसे भाव से जो दान किसी भी थल तथा काल में उचित पात्र को निष्काम भाव से दिया जाता है, वह सत (सात्विक) दान है|*

टीका: साधक के हृदय में जब यह भाव आता है कि दान देना मेरा कर्तव्य है चूंकि मैंने प्रभु एवं प्रकृति द्वारा दी गई वस्तुओं को स्वीकार कर अपना जीवन निर्वाह किया है, अतः उन्हें कुछ अंश में समाज को लौटाना मेरा धर्म है, वह सात्विक भाव का दान ही सत दान है|

दान सुपात्र को ही दिया जाना चाहिए| ऐसा प्राणी जिससे साधक का कोई सम्बन्ध न रहा हो, जिसने साधक पर कभी कोई उपकार न किया हो, जो स्वयं संत हृदय का हो, ज्ञानी हो, लोक कल्याणी हो, हर प्रकार से सात्विक हो, निर्धन हो, ऐसे अनुपकारी को सुपात्र कहा गया है| उसे निष्काम भाव से दान देना ही सुपात्र को दान देना है|

इस प्रकार से दिया हुआ दान ही सात्विक है| इस प्रकार के दान देने से साधक का सांसारिकता से मोह भंग होता है और वह परमात्म-तत्व की प्राप्ति की ओर अग्रसित होता है|

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ।।१७-२१।।

दें दान युक्त क्लेश प्रत्युपकार पूर्ति मन्मन् ।
हो लक्ष्य स्वार्थ है वह दान राजस हे प्रथानन्दन ।।१७-२१।।

भावार्थ: *हे अर्जुन, जो दान क्लेश पूर्वक, प्रत्युपकार, इच्छाओं की पूर्ति अथवा किसी स्वार्थ के लिए दिया जाता है, वह दान राजस है।*

टीका: जो प्रत्युपकार के लिए दान दिया जाता है, वह राजस श्रेणी में आता है| दान पात्र इसमें किसी प्रकार साधक से सम्बंधित होता है, जैसे वह कोई सम्बन्धी हो, कुल पुरोहित हो, आदि| इसमें प्रतिफल की भावना होती है| उदाहरण के लिए सम्बन्धी जिस को दान दिया गया है, वह समय आने पर हमारी मदद करेगा, कुल पुरोहित हमें हमारी इच्छाओं की पूर्ति के लिए पूजन कराएंगे, आदि| फल की कामना से दान देने पर वह राजस श्रेणी में आ जाता है|

राजस दान साधारणतः क्लेश पूर्वक ही दिया जाता है| यहां साधक की 'देना पड़ रहा है', ऐसी भावना होती है| साधक अपने स्वार्थवश अपने भविष्य को सुनिश्चित करने के लिए इस प्रकार का दान देता है, निष्काम भावना से नहीं| सात्विक साधक के लिए यह त्याज्य है|

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ।।१७-२२।।

दें बिन सत्कार युक्त तिरस्कार दान कुपात्र जन ।
हो काल देश अनुचित समझो उसे तामस वित्तदन ।।१७-२२।।

भावार्थ: *बिना सत्कार तथा तिरस्कार पूर्वक अयोग्य देश, काल में कुपात्र के प्रति दिया गया दान तामस कहलाता है|*

टीका: जो दान बिना किसी आदर भावना के अवज्ञा पूर्वक कुपात्र को दिया जाता है, वह तामस दान है| उदाहरण के रूप में यदि कोई भिक्षुक गृह में आ गया तो अनादर पूर्वक उसकी झोली में अभिमान सहित कुछ डाल देना तामस दान है|

इस तामस दान में तामस प्राणी न तो उचित परिस्थिति और न उचित समय का ही विचार करता है| वह साधारणतः उसी पात्र को दान देता है जिससे उसका कोई स्वार्थ सिद्ध होता हो|

यहां एक शंका हो सकती है| गोस्वामी तुलसी दास जी कहते हैं:

जेन केन बिधि दीन्हें दान करइ कल्याण |

अर्थात किसी भी प्रकार से दिया गया दान कल्याण ही करता है|

इसका समाधान है कि कलियुग में प्रभु ने दान देने पर विशेष छूट दे दी है| प्राणी को दान तो देने दो, चाहे भाव कोई हो| इससे मनुष्य का संभवतः दान देने का स्वभाव बन जाए| यदि दान देना निषेध ही कर दिया तो फिर दान देने के स्वभाव बनने की कोई आशा नहीं रहती| शास्त्रों में वर्णित है कि आवश्यकतानुसार अन्न, जल, वस्त्र और औषध के दान में सुपात्र अथवा कुपात्र का विचार नहीं करना चाहिए| कुपात्र को यह दान अवश्य उतना ही देना चाहिए जिससे वह अपना और अपने परिवार का निर्वाह कर सके और पुनः हिंसा, आदि पापों में प्रवृत्त न हो जाए| यदि कोई हिंसक प्राणी बिना अन्न, जल के प्राण त्याग रहा है तो उसे उसका जीवन बचाने के लिए अन्न, जल का दान देना निषेध नहीं है|

प्रभु का भक्त दान देने में पात्र नहीं देखता| उसका जीवन तो सबके कल्याण के लिए ही है, फिर वह सुपात्र और कुपात्र में भेद कैसे कर सकता है? वह तो दोनों का ही कल्याण चाहता है| उसके लिए यह दान नहीं, बल्कि कर्तव्य पालन

है, 'स्वकर्मणा तमभ्यचर्य'| भक्त की तो सम्पूर्ण क्रियाओं का सम्बन्ध प्रभु के साथ है|

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ।।१७-२३।।

ॐ तत सत नाम है त्रिप्रकार निर्देश श्री भगवन |
की उत्पत्ति आदि सृष्टि इन हरि वेद यज्ञ ब्राह्मन ||१७-२३||

भावार्थ: *ॐ, तत्, सत्, तीन प्रकार के नाम भगवान् का निर्देश है| इन भगवान् ने ही सृष्टि के आदि काल में ब्राह्मण, वेद तथा यज्ञ की रचना की|*

टीका: ॐ, तत् और सत्, यह परमात्मा के तीन नाम हैं| परमात्मा ने पहले (सृष्टि के आरम्भ में) वेदों, ब्राह्मणों और यज्ञों की उत्पत्ति की, 'ब्राह्मणास्तेन वहदाश्च यज्ञाश्च विहिता: पुरा',| वेदों ने कर्तव्य कर्म की विधि बताई| अनुष्ठान करने के लिए ब्राह्मण की उत्पत्ति की और क्रिया करने के लिये यज्ञ की व्यवस्था की|

यज्ञ, तप, दान आदि की क्रियाओं में यदि कोई कमी रह जाए तो परमात्मा का नाम लेने से उस कमी की पूर्ति हो जाती है| उदाहरण के लिए यदि निष्काम भाव से यज्ञ, दान आदि शुभ कर्म करने पर यदि अंग-वैगुण्य रह जाए तो भगवान् का नाम लेने से वह अंग-वैगुण्य ठीक हो जाता है, उसकी पूर्ति हो जाती है|

ॐ तत्सदिति मन्त्रेण यो यत्कर्म समाचरेत् ।
गृहस्थो वाप्युदासीनस्तस्याभीष्टाय तद् भवहत् ॥
जपो होम: प्रतिष्ठा च संस्काराद्यखिला: क्रिया: ।
ॐ तत्सन्मन्त्रनिष्पन्ना: सम्पूर्णा : स्युर्न संशय :॥

ॐ तत् सत्', इस मन्त्र से गृहस्थ अथवा उदासीन (साधु) जो भी कर्म आरम्भ करता है, उसको इससे अभीष्ट फल की प्राप्ति होती है| जप, होम, प्रतिष्ठा, संस्कार आदि सम्पूर्ण क्रियाएँ 'ॐ तत् सत्', इस मन्त्र से सफल हो जाती हैं|

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ।।१७-२४।।

श्रेष्ठ जन करें नियत रूप तप क्रिया यज्ञ वित्तदन |
करें कार्य आरम्भ ॐ से करते हुए वेद अनुसरन ||१७-२४||

भावार्थ: *श्रेष्ठ पुरुष नियत यज्ञ, दान और तपरूप क्रियाएँ करें| 'ॐ' से कार्य आरम्भ करते हुए वेद का अनुसरण करें|*

टीका: वैदिक सम्प्रदाय में 'ॐ' का उच्चारण विशेष है| 'ॐ' शब्द के उच्चारण के पश्चात ही वेद पाठ, यज्ञ, दान, तप आदि शास्त्र विहित क्रियाएं आरम्भ होती हैं| वेद की समस्त ऋचाएं, श्रुतियाँ आदि 'ॐ' के उच्चारण के बिना फलीभूत नहीं होतीं| स्मरण रहे कि सृष्टि में सबसे पहले 'ॐ' प्रणव प्रकट हुआ था| उस प्रणव की तीन मात्राएं हैं| उन मात्राओं से त्रिपदा गायत्री प्रकट हुई थीं और त्रिपदा गायत्री से ऋक, साम, और यजु, यह वेदत्रयी प्रकट हुई थीं| इस दृष्टि से 'ॐ' सबका मूल है, अतः सभी वैदिक क्रियाएं इसी शब्द के उच्चारण के साथ आरम्भ की जाती हैं|

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपः क्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ।।१७-२५।।

समझ ईश्वर को तत हो निष्काम भाव रहित मन्मन् |
करें यज्ञ तप दान आदि शुभ कर्म हेतु निर्मोचन ||१७-२५||

भावार्थ: *ईश्वर को 'तत' समझते हुए मोक्ष के लिए निष्काम भाव से इच्छा रहित हो कर यज्ञ, तप, दान आदि शुभ कर्म करें|*

टीका: शास्त्रीय यज्ञ, तप, दान आदि शुभ कर्म केवल परमात्मा की प्रसन्नता के उद्देश्य से ही किए जाएं न कि किंचित मात्र भी फल की इच्छा से| विहित-निषिद्ध, शुभ-अशुभ आदि क्रिया का आरम्भ भी होता है और समाप्ति भी होती है| इनका फल भी यथायोग्य मिलता है| परन्तु परमात्मा तो उस क्रिया और फल भोग के आरम्भ होने से पहले भी थे तथा क्रिया और फल भोग की समाप्ति के बाद भी रहेंगे| वह क्रिया और फल भोग के समय यथावत रहते हैं| परमात्मा की सत्ता नित्य, निरन्तर है| 'तत्' शब्द नित्य, निरन्तर रहने वाली इस सत्ता की ओर ध्यान दिलाता है| यह स्मरण दिलाता है कि नित्य, निरन्तर रहने वाले तत्व की स्मृति रहनी चाहिए और नाशवान् फल की इच्छा बिलकुल नहीं रहनी चाहिए| नित्य, निरन्तर वियुक्त होने वाले, प्रतिक्षण अभाव में जाने वाले इस संसार में जो कुछ देखने, सुनने और जानने में आता है, उसी को हम सत्य मान लेते हैं और उसी की प्राप्ति में हम अपनी बुद्धिमानी और बल को सफल मानते हैं| इस परिवर्तनशील संसार को सत्य मानने के कारण ही सदा सर्वदा सर्वत्र परिपूर्ण रहता हुआ भी वह परमात्मा हमें प्रत्यक्ष नहीं दिखता| इसलिये एक परमात्म-तत्व की प्राप्ति का ही उद्देश्य रखकर उस संसार का अर्थात् अहंता, ममता का त्याग कर उन्हीं की दी हुई शक्ति से यज्ञ आदि को उन्हीं का मानकर निष्काम भाव पूर्वक उन्हीं के लिये यज्ञ आदि शुभ कर्म करने चाहिए| इसी में ही मनुष्य की वास्तविक बुद्धिमानी और बल (पुरुषार्थ) की सफलता है| इसका तात्पर्य यह है कि जो संसार प्रत्यक्ष प्रतीत हो रहा है, उसका निराकरण करना है और जिसको अप्रत्यक्ष मानते हैं, उस 'तत्' नाम से कहे जाने वाले परमात्मा का अनुभव करना है| भगवान् के भक्त (भगवान् का उद्देश्य रखकर) 'तत्' के बोधक राम, कृष्ण, गोविन्द, नारायण, वासुदेव, शिव आदि नामों का उच्चारण करके सब क्रियाएँ आरम्भ करते हैं| अपना कल्याण चाहने वाले मनुष्य यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत, जप, स्वाध्याय, ध्यान, समाधि आदि जो भी क्रियाएँ करें वह सब केवल भगवान् के लिये एवं उनकी प्रसन्नता के लिये उनके आज्ञानुसार 'तत' शब्द के उच्चारण से ही करें|

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ।।१७-२६।।

है नाम सत हरि अतः रख भाव सत्य श्रेष्ठ मन अर्जुन।
करें आरम्भ उत्तम कर्म सदा कर शब्द सत उच्चारन ||१७-२६||

भावार्थ: *हे अर्जुन, सत भगवान् का नाम है| अतः मन में सत्य एवं श्रेष्ठ भाव से सभी उत्तम कार्य 'सत' शब्द के उच्चारण से आरम्भ करें|*

टीका: परमात्मा की सत्ता का नाम ही सत्य भाव (सद्भाव) है| परमात्मा के सगुण, निर्गुण, साकार, निराकार आदि जितने रूप हैं तथा सगुण में जितने भी रूप हैं, जैसे विष्णु, राम, कृष्ण, शिव, शक्ति, गणेश, सूर्य आदि, वह सब सद्भाव के प्रतीक हैं| इस प्रकार जिन प्रभु का किसी देश, काल, वस्तु आदि में कभी अभाव नहीं होता, वह सद्भाव के अन्तर्गत हैं| परमात्म-तत्व की प्राप्ति के लिये पृथक सम्प्रदायों में जितने साधन बताए गए हैं, उनमें हृदय के दया, क्षमा आदि श्रेष्ठ उत्तम भाव हैं, वह सब साधु भाव के अन्तर्गत ही आते हैं|

प्रभु की सत्ता और श्रेष्ठता में 'सत्' शब्द का प्रयोग किया जाता है| इसका अर्थ है कि प्रभु सदैव हैं, अविनाशी हैं, उनमें किंचित मात्र भी कमी और अभाव नहीं है| ऐसे परमात्मा के लिये और उनकी प्राप्ति के लिये सत्य, क्षमा, उदारता, त्याग आदि श्रेष्ठ गुणों को भी 'सत्' शब्द से उच्चारित किया जाता है| अतः सभी उत्तम कार्य 'सत' शब्द के उच्चारण से आरम्भ करें|

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ।।१७-२७।।

स्थिति यज्ञ तप दान की कही जाती है सत अर्जुन।
करें सत उच्चारण सदा जब करें निमित्त कर्म भगवन ||१७-२७||

भावार्थ: *हे अर्जुन, यज्ञ, तप और दान की स्थिति 'सत्' कही जाती है| जब परमात्मा के लिए कर्म करें तब 'सत्' शब्द का उच्चारण करें|*

टीका: यज्ञ, तप और दान क्रियाओं में जो स्थिति (निष्ठा) होती है, वह 'सत्' कही जाती है|

कर्मों के दो स्वरूप होते हैं, लौकिक (संसार सम्बन्धी) और पारमार्थिक (भगवत् सम्बन्धी)| वर्ण और आश्रम के अनुसार जीविका के लिये यज्ञ, अध्यापन, व्यापार, खेती आदि व्यावहारिक कर्तव्य कर्म और खाना-पीना, उठना-बैठना, चलना-फिरना, सोना-जगना आदि शारीरिक कर्म, यह सभी लौकिक हैं| जप-ध्यान, पाठ-पूजा, कथा-कीर्तन, श्रवण-मनन, चिन्तन-ध्यान आदि कर्म पारमार्थिक हैं| इन दोनों प्रकार के कर्मों को अपने सुख आराम आदि का उद्देश्य न रखकर निष्काम भाव एवं श्रद्धा विश्वास से केवल भगवान के लिये किए जाएं तो वह सब तदर्थ कर्म हो जाते हैं| भगवदर्थ होने के कारण उनका फल सत् हो जाता है, अर्थात् सत स्वरूप परमात्मा के साथ सम्बन्ध होने से वह सभी दैवीय सम्पत्ति हो जाते हैं जो मुक्ति देने वाली है|

जो उच्च विषयी भोगों एवं स्वर्ग आदि लोकों की चाह न कर केवल परमात्मा को ही चाहता है, अपना कल्याण चाहता है, मुक्ति चाहता है, ऐसे साधक का पारमार्थिक साधन सत् हो जाता है| भगवान् ने स्वयं कहा है कि कल्याणकारी कार्य करने वाले किसी प्राणी की दुर्गति नहीं होती| जो योग (समता अथवा परमात्म-तत्व) का जिज्ञासु होता है, वह भी वेदों में स्वर्ग आदि की प्राप्ति के लिये बताए हुए सकाम कर्मों से ऊँचा उठ जाता है| इसका कारण है कि परमात्मा के लिये किया कर्म नष्ट नहीं होता, प्रत्युत सत् हो जाता है|

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ।।१७-२८।।

ॐ तत्सदिति श्रीमद् भगवद् गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः |

बिन श्रद्धा किए गए शुभ कर्म जैसे दान तप हवन |
हैं असत दें अशुभ फल इह और परलोक हे अर्जुन ||१७-२८||

ब्रह्मविद्या योगशास्त्रमय महाग्रंथ गीतबंधन ||
श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषदरूप ग्रन्थ अति पावन |
श्री कृष्णार्जुन संवाद श्रद्धात्रयविभागयोग नामन ||
हुआ अत्र सम्पूर्ण सप्तदश अध्याय करे कल्याण जन ||

भावार्थ: *हे अर्जुन, बिना श्रद्धा के किए शुभ कर्म जैसे हवन, दान और तप, 'असत्' हैं| वह इहलोक (भूलोक) एवं परलोक (मरणोपरांत स्वर्ग आदि लोक) में अशुभ फल देते हैं|*

इस प्रकार उपनिषद, ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र रूप श्रीमद् भगवद् गीता के श्रीकृष्ण-अर्जुन संवाद में श्रद्धात्रयविभागयोग नामक सत्रहवाँ अध्याय संपूर्ण हुआ|

टीका: जो कर्म श्रद्धा के अभाव में किया जाता है, वह असत् कहा जाता है| प्रभु पहले कह चुके हैं कि आसुर प्राणी परलोक, पुनर्जन्म, धर्म, ईश्वर आदि में श्रद्धा नहीं रखते| गोस्वामी तुलसी दास जी कहते हैं:

बरन धर्म नहिं आश्रम चारी। श्रुति बिरोध रत सब उर नारी।।

आसुरी प्रवृत्ति के प्राणी अश्रद्धा से यज्ञ, दान आदि क्रियाएँ करते हैं ताकि समाज में लोग उनका आदर करें, उन्हें श्रेष्ठ समझें| सकाम भाव से श्रद्धा एवं विधि पूर्वक शास्त्रीय कर्मों को करने से इहलोक में धन, वैभव, स्त्री, पुत्र आदि की प्राप्ति संभव है और मरण पश्चात स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति भी हो सकती है, पर यही कर्म यदि निष्काम भाव से, श्रद्धा एवं विधि पूर्वक किए जाएं तो अन्तःकरण की शुद्धि होकर परमात्म-तत्व की प्राप्ति हो जाती है| मनुष्य भोग भोगने तथा संग्रह करने की इच्छा से अन्याय, अत्याचार, झूठ, कपट, धोखेबाजी आदि जितने भी पाप कर्म करता है, उन कर्मों का फल दण्ड स्वरूप अवश्य मिलता है| स्मरण रहे कि कर्मों का यह नियम है कि रागी पुरुष राग पूर्वक जो कुछ भी कर्म करता है, उसका फल कर्ता के न चाहने पर भी कर्ता के कर्म के अनुरूप मिलता ही है| इसलिये आसुरी सम्पदा वाले प्राणी को बन्धन और आसुरी

योनियों तथा नर्क की प्राप्ति होती है| इसके विपरीत यदि साधारण कर्म भी परमात्मा के उद्देश्य से निष्काम भाव पूर्वक किया जाए तो वह कर्म सत् हो जाता है, अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति कराने वाला हो जाता है| परन्तु विशेष यज्ञादि कर्म भी यदि श्रद्धा पूर्वक और शास्त्रीय विधि विधान से सकाम भाव से किए जाएं तो वह कर्म भी फल देकर नष्ट हो जाते हैं, परमात्मा की प्राप्ति कराने वाले नहीं होते| वह यज्ञादि कर्म यदि अश्रद्धा पूर्वक किए जाएं, तो वह असत् हो जाते हैं, अर्थात् सत् फल देने वाले नहीं होते| इसका तात्पर्य यह है कि परमात्मा की प्राप्ति में क्रिया की प्रधानता नहीं है, प्रत्युत श्रद्धा भाव की प्रधानता है|

सद्भाव कर्म, साधु भाव कर्म, प्रशस्त कर्म, सत् स्थिति कर्म, और तदर्थ कर्म, यह परमात्मा की प्राप्ति कराने वाले होने से सत् कर्म हैं| भगवान् और शास्त्रों ने कृपा करके मनुष्यों के कल्याण के लिये ही इन सत कर्मों का प्रावधान किया है| परन्तु जो मनुष्य इन पर अश्रद्धा करके शुभ कर्म करते हैं, उनके यह सब कर्म असत् हो जाते हैं| इन पर की हुई अश्रद्धा के कारण उनको नर्क आदि दण्ड मिलते हैं| इसलिए मनुष्य को उचित है कि वह यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत आदि शास्त्र विहित कर्मों को श्रद्धा पूर्वक और निष्काम भाव से करे| ऐसे श्रेष्ठ कर्तव्य कर्म श्रद्धा पूर्वक और भगवान् की प्रसन्नता के लिये ही करे|

अध्याय १८: मोक्षसंन्यासयोग

अर्जुन उवाच
संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ।।१८-१।।

अर्जुन उवाच
छंद:
हे महाबाहो हे ऋषिकेश हे अन्तर्यामी बोले अर्जुन |
दो मुझे ज्ञान पृथक भाव तत्व संन्यास और यजन ||१८-१||

भावार्थ: *अर्जुन बोले, 'हे महाबाहो, हे ऋषिकेश, हे अन्तर्यामी, मुझे संन्यास और त्याग के तत्व का पृथक ज्ञान दीजिए|'*

टीका: प्रभु को अर्जुन यहां महाबाहो कह कर सम्बोधित कर रहे हैं, यह सम्बोधन सामर्थ्य का सूचक है| अर्जुन द्वारा इस सम्बोधन का प्रयोग करने का भाव है कि आप सम्पूर्ण विषयों को कहने में समर्थ हैं, अतः मेरी जिज्ञासा का समाधान करें| अर्जुन ने फिर प्रभु को ऋषिकेश एवं अन्तर्यामी कह कर सम्बोधित किया है, यह सम्बोधन विघ्न हर्ता एवं अंदर की बात जानने वाले भगवान् का वाचक है| इसके प्रयोग में अर्जुन का भाव है कि मैं संन्यास और त्याग का तत्व जानना चाहता हूँ, अतः इस विषय में जो आवश्यक बातें हों, हे विघ्न कर्ता, हे अन्तर्यामी, उनको आप मुझे बताएं|

जिज्ञासा प्रायः दो प्रकार से प्रकट की जाती है, (१) अपने आचरण में लाने के लिये और (२) सिद्धान्त को समझने के लिये| जो केवल पठन हेतु सिद्धान्त को समझते हैं, वह केवल पुस्तकों के विद्वान् बन सकते हैं और नई पुस्तक भी लिख सकते हैं, पर अपना कल्याण नहीं कर सकते| अपना कल्याण तो वह ही कर सकते हैं, जो सिद्धान्त को समझकर उसके अनुसार अपना जीवन बिताने के लिये तत्पर हो जाते हैं| यहाँ अर्जुन की जिज्ञासा भी केवल सिद्धान्त को जानने

के लिये ही नहीं है, प्रत्युत सिद्धान्त को जानकर उसके अनुसार अपना जीवन बिताने के लिये है|

भगवान् ने सांख्य और संन्यास को पर्यायवाची माना है| उसी प्रकार योग (कर्मयोग) और त्याग को भी पर्यायवाची माना है| कर्मयोग ही त्याग है| प्रकृति की वस्तुओं का सर्वथा त्याग करना और विवेक द्वारा प्रकृति से अपना सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद कर लेना ही संन्यास है, 'सम्यक् न्यासः संन्यासः'| कर्म और फल की आसक्ति को छोड़ने का नाम त्याग है| जो कर्म और फल में आसक्त नहीं होता, वह योगारूढ़ हो जाता है।

श्रीभगवानुवाच
काम्यानां कर्मणां न्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ।।१८-२।।
त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ।।१८-३।।

श्रीभगवानुवाच
कुछ पण्डित कहें है संन्यास नाम त्याग काम्यकरन |
समझें कुछ कर्मफल त्याग ही है त्याग बोले भगवन ||१८-२||
कहें कुछ है कर्म दोषयुक्त अतः त्यागो इसे अर्जुन |
समझें कुछ है नहीं त्याज्य कर्म यज्ञ तप व् वित्तदन ||१८-३||

भावार्थ: *भगवान् बोले, 'कुछ पण्डित काम्य-कर्मों के त्याग को संन्यास कहते हैं| कुछ कर्मों के फल के त्याग को त्याग समझते हैं| हे अर्जुन, कुछ ऐसा कहते हैं कि कर्म दोषयुक्त है, अतः इसका त्याग करो| कुछ समझते हैं कि यज्ञ, दान और तप कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं|*

टीका: दार्शनिक विद्वानों के चार मत हैं:

(१) काम्य-कर्मों के त्याग का नाम संन्यास है, अर्थात् इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट की निवृत्ति के लिये जो कर्म किए जाते हैं, उनका त्याग करने का नाम संन्यास है|

(२) सम्पूर्ण कर्मों के फल की इच्छा का त्याग करने का नाम त्याग है, अर्थात् फल न चाहकर कर्तव्य कर्मों को करते रहने का नाम ही त्याग है|

(३) सम्पूर्ण कर्मों को दोष मान कर उनको त्यागना ही त्याग है|

(४) यज्ञ, दान और तप रूप कर्मों का त्याग न करते हुए अन्य सांसारिक कर्मों का त्याग करना त्याग है|

यह चारों मत दो विभागों में विभक्त दिखाई देते हैं| पहला और तीसरा मत संन्यास (सांख्ययोग) विभाग का है, तथा दूसरा और चौथा मत त्याग (कर्मयोग) विभाग का है| इन दो विभागों में भी थोड़ा अन्तर है| पहले मत में केवल काम्य-कर्मों का त्याग है और तीसरे मत में कर्म का त्याग है| ऐसे ही दूसरे मत में कर्मों के फल का त्याग है और चौथे मत में यज्ञ, दान और तप रूप कर्मों के त्याग का निषेध है| दार्शनिकों के उपर्युक्त चार मतों में कई कमियाँ हैं और उनकी अपेक्षा भगवान् के मत पूर्ण हैं| दार्शनिकों द्वारा यहां संन्यास के पहले मत में केवल काम्य-कर्मों का त्याग ही बताया है| इसके अतिरिक्त भी नित्य, नैमित्तिक आदि आवश्यक कर्तव्य कर्म शेष रह जाते हैं| अतः यह मत पूर्ण नहीं है क्योंकि इसमें न तो कर्तृत्व का त्याग बताया है और न स्वरूप में स्थिति ही बताई है| परन्तु भगवान् के मत में सात्विक साधक के कर्मों में कर्तृत्वाभिमान नहीं रहता, जिससे स्वरूप में स्थिति हो जाती है| प्रभु का मत है कि जिसमें अहंकृत भाव नहीं है और जिसकी बुद्धि कर्म फल में लिप्त नहीं है, अगर वह धर्म युद्ध में सम्पूर्ण प्राणियों को भी मार दे, तो भी न तो वह मारता है, न किसी पाप में बँधता है, ऐसा कहकर उन्होंने साधक की स्वरूप में स्थिति बताई है| दार्शनिकों द्वारा संन्यास के दूसरे मत में सब कर्मों को दोष मान उनका त्याग करने को कहा है| परन्तु सम्पूर्ण कर्मों का त्याग कोई नहीं कर सकता| सम्पूर्ण कर्मों का त्याग करने से जीवन निर्वाह नहीं हो सकता| इसलिये भगवान् ने नित्य कर्मों का

स्वरूप से त्याग करने को राजस एवं तामस त्याग बताया है| त्याग के इस पहले मत में केवल फल का त्याग बताया है, यहाँ फल त्याग के अन्तर्गत केवल कामना के त्याग की ही बात कही गई है| भगवान् के मत में कर्म फल की आसक्ति ही त्याज्य है|

कर्मयोग के दूसरे मत में यज्ञ, दान और तप रूप कर्मों का त्याग न करने की बात कही गई है| परन्तु इन तीनों के अतिरिक्त वर्ण, आश्रम, परिस्थिति आदि को लेकर जितने कर्म आते हैं, उनको करने अथवा न करने के विषय में कुछ भी नहीं कहा गया है| यह पूर्ण नहीं है| भगवान् के मत में इन कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिए, प्रत्युत इनको अवश्य करना चाहिए| इनके अतिरिक्त तीर्थ, व्रत आदि कर्मों को भी फल एवं आसक्ति का त्याग करते हुए करना चाहिए|

निश्चयं श्रृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः ।।१८-४।।

कहूँ विषय त्याग प्रथम मध्य त्याग व् सन्यास अर्जुन |
होता त्याग त्रिप्रकार सत रजस तमस अनुरूप मन ||१८-४||

भावार्थ: *हे अर्जुन, संन्यास और त्याग, इन दोनों में से पहले त्याग के विषय में कहता हूँ| त्याग सात्त्विक, राजस और तामस, मन के भाव के अनुसार तीन प्रकार का होता है|*

टीका: जिस प्रकार शरीर और शरीरी (आत्मा) का विवेक सभी योगियों के लिए परम आवश्यक है, उसी प्रकार फल की कामना और कर्म की आसक्ति का त्याग सभी योगियों के लिए अत्यंत आवश्यक होने के कारण यहां प्रभु 'त्याग' का वर्णन सर्व प्रथम आरम्भ करते हैं| प्रभु कहते हैं कि त्याग तीन प्रकार का कहा गया है, सात्त्विक, राजस और तामस| वास्तव में भगवान् के मत में सात्त्विक त्याग ही त्याग है, परन्तु उसके साथ राजस और तामस त्याग का भी वर्णन करने का तात्पर्य है कि उसके बिना भगवान् के अभीष्ट सात्त्विक त्याग की श्रेष्ठता स्पष्ट नहीं होती| स्मरण रहे कि परीक्षा या तुलना करके किसी भी

वस्तु की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिये दूसरी वस्तु के गुण, अवगुण समक्ष होने आवश्यक हैं| तीन प्रकार का त्याग बताने का तात्पर्य यह भी है कि साधक सात्त्विक त्याग को ग्रहण करे और राजस तथा तामस त्याग का त्याग करे|

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ।।१८-५।।

तप यज्ञ दान हैं अति आवश्यक तीन कर्तव्य हेतु जन |
नहीं त्यागो यह त्रिकर्म करते यह हिय अति पावन ||१८-५||

भावार्थ: *यज्ञ, दान और तप प्राणियों के अति आवश्यक कर्तव्य हैं| इन तीनों कर्मों का त्याग नहीं करो| यह हृदय को पवित्र करने वाले हैं|*

टीका: भगवान् कहते हैं कि नित्य, नैमित्तिक, जीविका सम्बन्धी, शरीर सम्बन्धी आदि जितने भी कर्तव्य कर्म हैं, उनको अवश्य करना चाहिए क्योंकि यह प्राणियों को पवित्र करने वाले हैं| जो मनुष्य समत्व बुद्धि से युक्त होकर कर्मजन्य फल का त्याग कर देते हैं, वह सात्विक प्राणी हैं| ऐसे प्राणियों को यह यज्ञादि कर्म पवित्र करते हैं| परन्तु जो सात्विक प्राणी नहीं हैं, जिनकी इन्द्रियाँ वश में नहीं हैं अर्थात् अपने सुख भोग के लिये जो यज्ञ, दानादि कर्म करते हैं, उनको यह कर्म पवित्र नहीं करते, प्रत्युत वह कर्म बन्धन कारक होते हैं| भगवान् यहां विशेष रूप से कह रहे हैं कि यज्ञ, दान और तप का त्याग नहीं करना चाहिए, प्रत्युत इनको अवश्य करना चाहिए|

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चतं मतमुत्तमम् ।।१८-६।।

करो यह त्रिकर्म व् अन्य कर्म रहित आसक्ति अर्जुन |
करो त्याग इच्छा है यह मेरा निश्चित उत्तम दर्शन ||१८-६||

भावार्थ: *हे अर्जुन, इन त्रिकर्मों (यज्ञ, दान और तप) एवं अन्य (शुभ) कर्मों को आसक्ति त्याग कर करो| फल की इच्छा न करो| यह मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है|*

टीका: प्रभु कह रहे हैं कि कर्तव्य कर्म जो यज्ञ, दान और तप रूप हैं, जो शास्त्रविहित पठन-पाठन, खेती-व्यापार आदि जीविका सम्बन्धी शास्त्र की मर्यादा के अनुसार हैं, खाना-पीना, उठना-बैठना, सोना-जागना आदि शारीरिक हैं, इन्हें परिस्थिति के अनुसार अवश्य करना चाहिए| इन समस्त कर्मों को आसक्ति और फलेच्छा का त्याग करके करना चाहिए| अपनी कामना, ममता और आसक्ति का त्याग कर इन कर्मों को केवल लोक हित के लिये करने से कर्मों का प्रवाह संसार के लिये और योग स्वयं के लिये हो जाता है| परन्तु यदि कर्म अपने लिये लिए किए जाएं तो यही कर्म बन्धन कारक हो जाते हैं|

अर्जुन ने त्याग के तत्व को जानने की इच्छा की है, अतः भगवान् ने त्याग का यह तत्व बताया है कि आसक्ति और फल, दोनों का ही त्याग करना चाहिए| साधक की आसक्ति न तो कर्म में रहनी चाहिए और न फल में ही| आसक्ति न रहने से मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर आदि कर्म करने के करण में तथा प्राप्त वस्तुओँ में ममता नहीं रहती| स्मरण रहे कि आसक्ति सूक्ष्म है और फलेच्छा स्थूल| आसक्ति की सूक्ष्मता वहां तक है जहां चेतन स्वरूप ने नाशवान के साथ सम्बन्ध जोड़ा है| वहीं से आसक्ति पैदा होती है, जिससे जन्म-मरण आदि होते हैं, 'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'| आसक्ति का त्याग करने से नाशवान के साथ जोड़े हुए सम्बन्ध का विच्छेद हो जाता है और स्वतः स्वाभाविक रहने वाली असंगता का अनुभव हो जाता है| कई दार्शनिक इस नाशवान संसार को असत् मानते हैं क्योंकि यह पहले भी नहीं था और बाद में भी नहीं रहेगा| केवल स्वप्न स्वरुप यह वर्तमान में ही है| कई दार्शनिकों का मत है कि संसार परिवर्तनशील है, सदैव बदलता रहता है, कभी एक रूप नहीं रहता, जैसे अपना शरीर| कई दार्शनिक यह मानते हैं कि परिवर्तनशील होने पर भी संसार का कभी अभाव नहीं होता, प्रत्युत तत्व से सदा रहता है, जैसे जल (जल ही हिम, बादल, भाप और परमाणु रूप से है, स्वरूप से वह मिटता

नहीं है)| इस प्रकार अनेक मत भेद हैं किन्तु नाशवान जड़ का अपने अविनाशी चेतन स्वरूप के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, इसमें किसी भी दार्शनिक का मतभेद नहीं है|

प्रभु कहते हैं कि साधक को इस प्रकृति से तथा प्रकृति के कार्य शरीर संसार से अपना सम्बन्ध विच्छेद करना चाहिए जो कि स्वतः ही हो रहा है| स्वतः होने वाले सम्बन्ध विच्छेद का केवल अनुभव करना है कि शरीर तो प्रतिक्षण बदलता रहता है और स्वयं निर्विकार रूप से सदा ज्यों का त्यों रहता है| प्रारब्ध कर्म के अनुसार हमें जो परिस्थिति, वस्तु, देश, काल आदि प्राप्त हैं, वह सब कर्मों का प्राप्त फल है| भविष्य में जो परिस्थिति, वस्तु, आदि प्राप्त होने वाली है, वह सब कर्मों का अप्राप्त फल है| प्राप्त तथा अप्राप्त फल में आसक्ति नहीं होनी चाहिए क्योंकि कर्म फल हमारे साथ रहने वाला नहीं है| इसका कारण है कि जिन कर्मों से फल बनता है, उन कर्मों का आरम्भ और अन्त होता है, अतः उनका फल भी प्राप्त और नष्ट होने वाला ही होता है| इसलिये सात्विक साधक को कर्म फल का त्याग करना आवश्यक है| फल के त्याग में वस्तुतः फल की आसक्ति का और कामना का ही त्याग करना है| वास्तव में आसक्ति हमारे स्वरूप में है ही नहीं, केवल मानी हुई है| अपने स्वरूप का कभी त्याग नहीं होता| संसार में अनेक वस्तुएँ पड़ी हैं, उन सब का हम त्याग करें, ऐसा कहना उचित नहीं है| क्योंकि यह वस्तुएँ हमारी नहीं हैं| जब हमारी हैं ही नहीं तो उनका त्याग कैसा? त्याग उसी वस्तु का होता है जो वास्तव में अपनी नहीं है, पर जिसको अपना मान लिया गया है| ऐसे ही प्रकृति और प्रकृति के कार्य शरीर आदि हमारे नहीं हैं, फिर भी उनको हम अपना मानते हैं| इस अपनेपन की मान्यता का ही त्याग करना है| मनुष्य के सामने कर्तव्य रूप से जो कर्म आ जाएं, उनको फल और आसक्ति का त्याग कर सावधानी के साथ तत्परता पूर्वक करना चाहिए, 'कर्तव्यानि'| कर्मयोग में विधि, निषेध को लेकर अमुक काम करना है और अमुक काम नहीं करना है, ऐसा विचार तो करना ही है, परन्तु अमुक काम बड़ा है और अमुक काम छोटा है, ऐसा विचार नहीं करना चाहिए| इसका कारण है कि जहां कर्म और उसके फल से अपना कोई सम्बन्ध नहीं है, वहां यह कर्म बड़ा है, ऐसा दिखता अवश्य है, वास्तव में ऐसा कुछ भी नहीं है| कर्मयोग में फलेच्छा का त्याग होता है| कर्म करना राग पूर्ति के लिये भी

होता है और राग निवृत्ति के लिये भी| कर्मयोगी राग निवृत्ति के लिये अर्थात् राग मिटाने के लिये ही सम्पूर्ण कर्तव्य कर्म करता है|

अपने लिये कर्म करने से कर्म करने का राग बढ़ता है, इसलिये कर्मयोगी कोई भी कर्म अपने लिये नहीं करता, प्रत्युत केवल दूसरों के हित के लिये ही करता है| उसके स्थूल शरीर में होने वाली क्रिया, सूक्ष्म शरीर में होने वाला परहित चिन्तन तथा कारण शरीर में होने वाली स्थिरता, तीनों ही दूसरों के हित के लिये होती हैं, अपने लिये नहीं| इसलिये उसका कर्म करने का राग सुगमता से मिट जाता है| परमात्म-तत्व की प्राप्ति में संसार का राग ही बाधक है| अतः राग मिटने पर कर्मयोगी को परमात्म-तत्व की प्राप्ति अपने आप हो जाती है|

कर्तव्य शब्द का अर्थ होता है, जिसको हम कर सकते हैं तथा जिसको अवश्य करना चाहिए, जिसको करने से उद्देश्य की सिद्धि होती है| उद्देश्य वही कहलाता है जो नित्य सिद्ध और अनुत्पन्न है, अर्थात् जो अनादि है और जिसका कभी विनाश नहीं होता| उस उद्देश्य की सिद्धि मनुष्य जन्म में ही होती है और उसकी सिद्धि के लिये ही मनुष्य शरीर मिला है, न कि कर्मजन्य परिस्थिति रूप सुख, दुःख भोगने के लिये| कर्मजन्य परिस्थिति वह होती है, जो उत्पन्न और नष्ट नहीं होती| वह परिस्थिति तो मनुष्य के अलावा पशु, पक्षी, कीट, वृक्ष, नारकीय, स्वर्गीय आदि योनियों के प्राणियों को भी मिलती है, जहां कर्तव्य कर्म का कोई प्रश्न नहीं है और जहां उद्देश्य की पूर्ति का अधिकार भी नहीं है|

भगवान् के द्वारा अपने मत को निश्चित कहने का तात्पर्य है कि इस मत में कोई सन्देह नहीं है| यह मत अटल है| इसे उत्तम कहने का तात्पर्य है कि इस मत में शास्त्रीय दृष्टि से कोई कमी नहीं है, प्रत्युत यह पूर्णता को प्राप्त कराने वाला है|

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ।।१८-७।।

नहीं उचित करो त्याग तुम नियत कर्म हे अर्जुन|
करो त्याग यदि मोहवश इनको समझो तामस लक्षन ||१८-७||

भावार्थ: *हे अर्जुन, नियत कर्म का त्याग करना उचित नहीं है| मोह के कारण इनका त्याग करना तामस प्रकृति का समझो|*

टीका: प्रभु कह रहे हैं कि साधक द्वारा नियत कार्यों का स्वरुप से त्याग करना मुझे स्वीकार नहीं है| त्याग केवल कर्म फल का करो जो संसार से सम्बन्ध विच्छेद कर परमात्म-तत्व की प्राप्ति करा देता है| नियत कार्य जैसे निष्कपट रूप से जीविका अर्जित कर अपना और अपने परिवार का निर्वाह करना, श्रद्धा पूर्वक यज्ञ करना, अतिथि सत्कार करना, पितरों को तर्पण करना, ब्राह्मणों को भोजन कराना, सुपात्र को दान देना,आदि शुभ कार्य अति आवश्यक हैं| ऐसे नियत कार्यों को न करना मूढ़ता है, और तामसी है|

कभी कभी शंका होती है कि विहित कर्म और नियत कर्म में अंतर क्या है? शास्त्रों ने तो विहित कर्म करने की आज्ञा दी है, फिर प्रभु नियत कर्म करने पर क्यों इतना अधिक बल दे रहे हैं? निःसंदेह शास्त्रों ने जिन कर्मों के करने की आज्ञा दी है, वह विहित कर्म हैं| शास्त्रों द्वारा निर्देशित विहित कर्म करना एक व्यक्ति के लिए संभव नहीं है| उदाहरण के रूप में शास्त्रों में लगभग प्रत्येक तिथि में किसी न किसी कारण उपवास का प्रावधान किया गया है| अब प्रत्येक दिन तो उपवास करना एक व्यक्ति के लिए संभव नहीं है| अतः जब विहित कर्मों में वर्ण, आश्रम, और परिस्थिति के अनुसार बदलाव कर उनका पालन किया जाता है तब वह नियत कर्म हो जाते हैं| उदाहरण के लिए विहित कर्मों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र वर्णों के पृथक कर्म का ध्यान रखते हुए जब सामान्य विहित कर्मों में वर्ण के अनुसार परिवर्तन कर दिया जाता है, तो वह नियत कर्म बन जाते हैं|

स्वयं के नियत कर्म का त्याग कर दूसरे वर्ण के नियत कर्मों का अनुसरण करना 'तामस' हो जाता है| सुखेच्छा, फलेच्छा, तथा आसक्ति का त्याग कर जब नियत कर्म किए जाते हैं तब वह सात्विक कहलाते हैं| मोहवश इन नियत कर्मों को करने से राजस और तामस प्रवृत्ति आती है|

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ।।१८-८।।

करो यदि त्याग नियत कर्म समझ भय दुःख कष्ट तन |
समझो इसे राजस त्याग जो देता नहीं फल पावन ||१८-८||

भावार्थ: *शारीरिक कष्ट, भय या दुःख के कारण यदि नियत कर्मों का त्याग करोगे तो इसे राजस त्याग समझो| इसका फल शुभ नहीं होता|*

टीका: यज्ञ, दान आदि शास्त्रीय नियत कर्मों को करने में नियमों में बंधने के कारण निःसंदेह साधारण प्राणियों को दुःख भोगना पड़ता है| उनमें दुःख दिखने का कारण है कि उनका परलोक, शास्त्रों, शास्त्रविहित कर्मों, और उन कर्मों के परिणाम पर श्रद्धा नहीं है| राजस एवं तामस मनुष्य को अपने वर्ण, आश्रम आदि के धर्म का पालन करने में, माता, पिता, गुरु, स्वामी आदि की आज्ञा का पालन करने में पराधीनता का अनुभव होता है| वह स्वतन्त्रता चाहता है| अतः राजस और तामस प्राणी नियत नियमों के त्याग में ही अपना सुख ढूंढता है|

यहाँ शंका हो सकती है कि प्रभु ने ज्ञान प्राप्ति के साधनों में दुःख और दोष को नहीं देखने की बात कही है, अब यहाँ कर्मों में दुःख का त्याग करने को कहा है, अर्थात् कर्मों के त्याग का निषेध किया है, इन दोनों बातों में परस्पर विरोध प्रतीत होता है| इसका समाधान है कि वास्तव में इन दोनों में विरोध नहीं है, प्रत्युत इन दोनों का विषय पृथक पृथक है| पहले प्रभु ने भोगों में दुःख और दोष को नहीं देखने की बात कही है और यहाँ नियत कर्तव्य कर्मों में दुःख न देखने की बात कही है| वहां भोगों का त्याग करना विषय था, यहाँ कर्तव्य कर्मों का त्याग करना विषय है| भोगों का तो त्याग करना चाहिए, पर कर्तव्य कर्मों का त्याग कभी नहीं करना चाहिए| इसका कारण है कि नियत कर्तव्य कर्मों में दुःख देखकर उन कर्मों का त्याग करने से सदा पराधीनता और दुःख भोगना पड़ेगा| भोगों में दुःख और दोष देखने से भोगासक्ति छूटेगी, जिससे कल्याण होगा| कर्तव्य में दुःख देखने से कर्तव्य छूटेगा, जिससे पतन होगा| कर्तव्य कर्मों का त्याग करने में तो राजस और तामस, यह दो भेद होते हैं, पर परिणाम (आलस्य,

प्रमाद, अतिनिद्रा आदि) में दोनों एक हो जाते हैं, अर्थात् परिणाम में दोनों ही तामस हो जाते हैं जिसका फल अधोगति होता है, 'अधो गच्छन्ति तामसाः'|

एक शंका यह भी हो सकती है कि सत्संग, भगवत् कथा, भक्त चरित्र सुनने से किसी को वैराग्य हो जाए तो वह प्रभु को पाने के लिये आवश्यक कर्तव्य कर्मों को छोड़ यदि केवल भगवान् के भजन में ही लग जाए तो क्या उसका नियत कर्म का त्याग भी राजस अथवा तामस होगा? यह सत्य नहीं है| सांसारिक कर्मों को छोड़कर जो भजन में लग जाता है, उसका त्याग राजस या तामस नहीं होता| इसका कारण है कि भगवान् को प्राप्त करना मनुष्य जन्म का ध्येय है, अतः उस ध्येय की सिद्धि के लिये कर्तव्य कर्मों का त्याग करना वास्तव में कर्तव्य का त्याग करना नहीं है, प्रत्युत सत्य कर्तव्य को करना है| उस सत्य कर्तव्य को करते हुए आलस्य, प्रमाद आदि दोष नहीं आते क्योंकि उसकी रुचि भगवान् में रहती है| परन्तु राजस और तामस त्याग करने वालों में आलस्य, प्रमाद आदि दोष आ जाते हैं क्योंकि उनकी रुचि भोगों में रहती है|

यद्यपि त्याग का फल निःसंदेह शान्ति है, परन्तु राजस त्याग करने से त्याग का फल, शान्ति नहीं मिलती| इसका कारण है कि उसने जो त्याग किया है, वह भोग भोगने के लिये किया है| ऐसा त्याग तो पशु, पक्षी आदि भी करते हैं| अपने सुख के लिये शुभ कर्मों का त्याग करने से राजस मनुष्य को शान्ति नहीं मिलती, पर शुभ कर्मों के त्याग का फल दण्ड रूप से अवश्य भोगना पड़ता है|

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गंत्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ।।१८-९।।

कर्तव्य भाव से करो नियत कर्म तुम रहित फल मन्मन्।
किया रहित आसक्ति कर्म है त्याग सात्विक अर्जुन ||१८-९||

भावार्थ: *हे अर्जुन, नियत (शास्त्रविहित) कर्म कर्तव्य भाव से आसक्ति और इच्छा के फल से रहित होकर करो| इसे सात्त्विक त्याग समझो|*

टीका: प्रभु कहते हैं कि कर्म कर्तव्य हेतु ही करना चाहिए, उसमें कोई फलासक्ति, स्वार्थ, और कोई क्रियाजन्य सुखभोग नहीं होना चाहिए| इस प्रकार कर्तव्य के लिए कर्म करने से कर्ता का उस कर्म से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है| ऐसा होने से वह कर्म बन्धन कारक नहीं होता अर्थात् संसार के साथ सम्बन्ध नहीं जुड़ता| कर्म तथा उसके फल में आसक्त होने से ही बन्धन होता है, 'फले सक्तो निबध्यते'| शास्त्रविहित कर्मों में देश, काल, वर्ण, आश्रम, परिस्थिति के अनुसार जिस कर्म में जिस की नियुक्ति की जाती है, वह सब नियत कर्म कहलाते हैं| साधु, गृहस्थ, ब्राह्मण, क्षत्रिय, इत्यादि के लिए पृथक पृथक नियत कर्तव्य कर्म विधान हैं| उन कर्मों को प्रमाद, आलस्य, उपेक्षा, उदासीनता आदि दोषों से रहित होकर तत्परता और उत्साह पूर्वक करना चाहिए||

कर्म करने में आसक्ति, प्रियता, ममता आदि नहीं होनी चाहिए| फल के त्याग का तात्पर्य है कि कर्म के परिणाम के साथ सम्बन्ध न हो, अर्थात् फल की इच्छा न हो| इन दोनों का तात्पर्य है कि कर्म और फल में आसक्ति तथा इच्छा का त्याग हो, 'स त्यागः सात्त्विको मतः'| कर्म और फल में आसक्ति तथा कामना का त्याग करके कर्तव्य समझकर कर्म करने से वह त्याग सात्त्विक हो जाता है| राजस त्याग में तन क्लेश के भय से और तामस त्याग में मोह पूर्वक कर्मों का स्वरुप से त्याग किया जाता है| परन्तु सात्त्विक त्याग में कर्मों का स्वरूप से त्याग नहीं किया जाता, प्रत्युत कर्मों को सावधानी एवं तत्परता से विधिपूर्वक, निष्काम भाव से किया जाता है| सात्त्विक त्याग से कर्म और कर्म फल रूप संसार से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है| राजस और तामस त्याग में कर्मों का स्वरूप से त्याग करने से केवल बाहर से कर्मों से सम्बन्ध विच्छेद दिखता है परन्तु वास्तव में (भीतर से) सम्बन्ध विच्छेद नहीं होता| इसका कारण है कि शरीर के कष्ट के भय से कर्मों का त्याग करने से कर्म तो छूट जाते हैं, पर सुख और आराम के साथ सम्बन्ध जुड़ा ही रहता है| ऐसे ही मोह पूर्वक कर्मों का त्याग करने से कर्म तो छूट जाते हैं, पर मोह के साथ सम्बन्ध जुड़ा रहता है| इसका तात्पर्य यह है कि कर्मों का स्वरूप से त्याग करने पर बन्धन होता है और कर्मों को तत्परता से विधि पूर्वक करने पर मुक्ति (सम्बन्ध विच्छेद) होती है|

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ।।१८-१०।।

नहीं करे द्वेष कर्म अकुशल नहीं हो आसक्त पुण्यवन |
है वह त्यागी निःसंदेह स्थित स्वरुप प्रमत भूजन ||१८-१०||

भावार्थ: *जो अकुशल कर्म से द्वेष नहीं करता और पुण्य में आसक्त नहीं होता, वह प्राणी संशय-रहित, बुद्धिमान, त्यागी है एवं स्व-स्वरुप में स्थित है|*

टीका: जो शास्त्रविहित शुभ कर्म फल की कामना से किए जाते हैं, उनके परिणाम से भूलोक पर पुनर्जन्म होता है| जो शास्त्र निषिद्ध पाप कर्म हैं, उनके परिणाम से नीच योनियों और नर्क में जन्म लेना पड़ता है| यह दोनों ही कर्म अकुशल कर्म हैं| सात्विक साधक ऐसे अकुशल कर्मों का त्याग तो अवश्य करता है, परन्तु द्वेष पूर्वक नहीं| इसका कारण है कि द्वेष पूर्वक त्याग करने से कर्मों से तो सम्बन्ध छूट जाता है, पर द्वेष के साथ सम्बन्ध जुड़ जाता है| द्वेष के साथ सम्बन्ध का परिणाम शास्त्र निषिद्ध पाप कर्मों के करने से भी अधिक भयंकर होता है|

शास्त्रविहित कर्म जो वर्ण, आश्रम, परिस्थिति आदि के अनुसार नियत हैं, उन्हें आसक्ति तथा फलेच्छा का त्याग कर करने से मुक्ति मिलती है| ऐसे कर्मों को कुशल या पुण्य कर्म कहते हैं| सात्विक साधक ऐसे पुण्य कर्मों को करते हुए भी उनमें आसक्त नहीं होता|

पुण्य कर्मों के करने में जिस साधक का राग नहीं होता और अकुशल कर्मों के करने से द्वेष नहीं होता, वही सच्चा त्यागी है| ऐसा करने से साधक योगारूढ़ हो जाता है|

जिसके सम्पूर्ण कार्य सांगोपांग होते हैं, संकल्प और कामना से रहित होते हैं, ज्ञान रूप अग्नि से जिसने सम्पूर्ण कर्मों को भस्म कर दिया है, वह प्रमत (बुद्धिमान) है| कर्मों को करते हुए उनमें लिप्त न होना ही बुद्धिमता है| इस

प्रकार का सात्विक त्यागी स्वरूप में स्थित रहता है, इसमें कोई संदेह नहीं है| आसक्ति आदि का त्याग करने से उसकी स्व-स्वरुप में, चिन्मयता में, स्वतः स्थिति हो जाती है|

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ।।१८-११।।

नहीं संभव कर सके त्याग सब कर्म तन धारी जन |
अतः करे त्याग कर्म फल है वह त्यागी सत्यात्मन् ||१८-११||

भावार्थ: *शरीर धारी मनुष्य के लिए सब कर्मों का त्याग किया जाना संभव नहीं है, अतः जो कर्म फल का त्याग करे, उसे ही सच्चा त्यागी समझो|*

टीका: देहधारी अर्थात् देह के साथ तादात्म्य रखने वाले मनुष्यों के द्वारा कर्मों का सर्वथा त्याग होना सम्भव नहीं है क्योंकि शरीर प्रकृति का कार्य है और प्रकृति स्वतः क्रियाशील है| अतः शरीर के साथ तादात्म्य (एकता) रखने वाला क्रिया से रहित नहीं हो सकता| यह अवश्य संभव है कि मनुष्य यज्ञ, दान, तप, तीर्थ आदि कर्मों को छोड़ दे परन्तु वह खाना-पीना, चलना-फिरना, आना-जाना, उठना-बैठना, सोना-जागना आदि आवश्यक शारीरिक क्रियाओं को नहीं छोड़ सकता| अंतःकरण से कर्मों का सम्बन्ध छोड़ना ही वास्तव में कर्मों को छोड़ना है| बाहर से सम्बन्ध नहीं छोड़े जा सकते| बाहर से सम्बन्ध छोड़ना अधिक देर तक संभव नहीं है| जैसे कोई साधक समाधि लगा ले तो उस समय बाहर की क्रियाओं का उससे सम्बन्ध छूट जाता है, परन्तु समाधि भी एक क्रिया है, एक कर्म है| इसमें भी प्रकृतिजन्य कारण शरीर का सम्बन्ध रहता है| इसलिये समाधि से भी व्युत्थान होता है| कोई भी देहधारी मनुष्य कर्मों का स्वरूप से सम्बन्ध विच्छेद नहीं कर सकता| कर्मों का आरम्भ किए बिना निष्कर्मता (योग निष्ठा) प्राप्त नहीं होती और कर्मों का त्याग करने से सिद्धि (सांख्य निष्ठा) प्राप्त नहीं होती| पुरुष (चेतन) सदा निर्विकार और एक रस रहने वाला है, परन्तु प्रकृति विकारी और सदा परिवर्तनशील है| जिसमें अच्छी रीति से क्रियाशीलता हो, उसको प्रकृति कहते हैं, 'प्रकर्षेण करणं इति प्रकृतिः'| उस प्रकृति के कार्य

शरीर के साथ जब तक पुरुष अपना सम्बन्ध (तादात्म्य) मानता रहेगा, तब तक वह कर्मों का सर्वथा त्याग नहीं कर सकता| इसका कारण है कि शरीर में अहंता, ममता होने के कारण मनुष्य शरीर से होने वाली प्रत्येक क्रिया को अपनी क्रिया मानता है, इसलिये वह कभी किसी अवस्था में भी क्रिया रहित नहीं हो सकता| इसके अतिरिक्त केवल पुरुष ने ही प्रकृति के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ा है, प्रकृति ने पुरुष के साथ सम्बन्ध नहीं जोड़ा है| जहां विवेक रहता है, वहां पुरुष ने विवेक की उपेक्षा करके प्रकृति से सम्बन्ध की सद्भावना कर ली अर्थात् सम्बन्ध को सत्य मान लिया| सम्बन्ध को सत्य मानने से ही बन्धन हुआ है| वह सम्बन्ध दो प्रकार का होता है, अपने को शरीर मानना और शरीर को अपना मानना| अपने को शरीर मानने से अहंता और शरीर को अपना मानने से ममता होती है| इस अहंता, ममता रूप सम्बन्ध का घनिष्ठ होना ही देहधारी का स्वरूप है| ऐसा देहधारी मनुष्य कर्मों को सर्वथा नहीं छोड़ सकता|

जो किसी भी कर्म और फल के साथ अपना सम्बन्ध नहीं रखता, वही त्यागी है| जब तक मनुष्य कुशल, अकुशल, अच्छे, बुरे के साथ अपना सम्बन्ध रखता है, तब तक वह त्यागी नहीं है| यह पुरुष जिस प्राकृत क्रिया और पदार्थ को अपना मानता है, उसमें उसकी प्रियता हो जाती है| उसी प्रियता का नाम आसक्ति है| यह आसक्ति ही वर्तमान के कर्मों को लेकर कर्मासक्ति और भविष्य में मिलने वाले फल की इच्छा को लेकर फलासक्ति कहलाती है| जब मनुष्य फल त्याग का उद्देश्य बना लेता है, तब उसके सब कर्म संसार के हित के लिये होने लगते हैं, अपने लिये नहीं| इसका कारण है कि उसको यह बात अच्छी तरह से समझ में आ जाती है कि कर्म करने की सब सामग्री संसार से मिली है और संसार की ही है, अपनी नहीं| इन कर्मों का भी आदि और अन्त होता है तथा उनका फल भी उत्पन्न और नष्ट होने वाला होता है परन्तु स्वयं प्राणी सदा निर्विकार रहता है, न उत्पन्न होता है, न नष्ट होता है, न कभी विकृत होता है| ऐसा विवेक होने पर फलेच्छा का त्याग सुगमता से हो जाता है| फल का त्याग करने में उस विवेकी मनुष्य में कभी अभिमान नहीं आता| इसलिये भगवान् कहते हैं कि जो कर्म फल का त्यागी है, वही सच्चा त्यागी है| स्मरण रहे कि निर्विकार का विकारी कर्म फल के साथ कभी सम्बन्ध नहीं है, हो भी नहीं सकता और होने की

सम्भावना भी नहीं है| केवल अविवेक के कारण सम्बन्ध माना हुआ है| उस अविवेक के मिटने से मनुष्य त्यागी हो जाता है|

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ।।१८-१२।।

पाएं फल त्रिप्रकार करें न त्याग जो कर्म फल जन |
मिले फल उन्हें इष्ट अनिष्ट मिश्रित पश्चात मरन ||
पर न मिले कोई फल करें जो कर्म फल त्याग अर्जुन ||१८-१२||

भावार्थ: *हे अर्जुन, कर्म फल का त्याग न करने वाले मनुष्यों को मरण पश्चात अच्छा, बुरा और मिश्रित, तीन प्रकार का फल मिलता है, किन्तु कर्म फल का त्याग कर देने वाले मनुष्यों को कर्मों का कोई फल नहीं मिलता|*

टीका: प्रभु कहते हैं कि कर्म का फल तीन प्रकार का होता है, इष्ट, अनिष्ट और मिश्र| जिस फल की इच्छा है, अनुकूल है, वह इष्ट कर्म फल है| जिस फल की इच्छा नहीं है, प्रतिकूल है, वह अनिष्ट कर्म फल है| जिस फल में कुछ भाग इष्ट का तथा कुछ भाग अनिष्ट का है, वह मिश्र कर्म फल है| वास्तव में देखा जाए तो संसार में प्रायः मिश्रित ही फल मिलते हैं| जैसे धन होने से अनुकूल (इष्ट) और प्रतिकूल (अनिष्ट), दोनों ही परिस्थितियाँ आती हैं| धन से निर्वाह होता है, यह अनुकूलता है और धन नष्ट हो जाता है, छिन जाता है, यह प्रतिकूलता है| इसका तात्पर्य है कि इष्ट में भी आंशिक अनिष्ट और अनिष्ट में भी आंशिक इष्ट रहता ही है| इसका कारण है कि सम्पूर्ण संसार त्रिगुणात्मक है| वास्तव में यह जन्म ही दुःख से भरा हुआ और सुख रहित है| अतः चाहे इष्ट (अनुकूल) परिस्थिति हो, चाहे अनिष्ट (प्रतिकूल) परिस्थिति, वह सर्वथा अनुकूल या प्रतिकूल नहीं होती| यहाँ इष्ट और अनिष्ट कहने का तात्पर्य है कि इष्ट में अनुकूलता की और अनिष्ट में प्रतिकूलता की प्रधानता होती है| कर्मों का फल मिश्रित ही होता है क्योंकि कोई भी कर्म सर्वथा निर्दोष नहीं होता|

स्मरण रहे कि फल अत्यागियों को अर्थात् फल की इच्छा रखकर कर्म करने वालों को ही मिलते हैं, त्यागियों को नहीं| इसका कारण है कि जितने भी कर्म होते हैं, वह सब प्रकृति के द्वारा अर्थात् प्रकृति के कार्य शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि के द्वारा ही होते हैं| फल रूप परिस्थिति भी प्रकृति के द्वारा ही बनती है| इसलिये कर्मों का और उनके फलों का सम्बन्ध केवल प्रकृति के साथ है, स्वयं (चेतन स्वरूप) के साथ नहीं| परन्तु जब स्वयं उनसे सम्बन्ध तोड़ लेता है, तो फिर वह त्यागी हो जाता है| अत्यागी मनुष्यों के सामने इष्ट, अनिष्ट और मिश्र, यह तीनों कर्म फल अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति के रूप में आते रहते हैं, जिनसे वह सुखी या दुःखी होते रहते हैं| उनका सुखी या दुःखी होना वास्तव में भव बन्धन है| अनुकूलता में सुखी होना ही प्रतिकूलता में दुःखी होने का कारण है क्योंकि परिस्थितिजन्य सुख भोगने वाला कभी दुःख से बच नहीं सकता| जब तक वह सुख भोगता रहेगा, तब तक वह प्रतिकूल परिस्थितियों में दुःखी होता रहेगा| चिन्ता, शोक, भय, उद्वेग आदि दुर्गुणों को वह नहीं छोड़ पाएगा| ऐसे कर्म फल के अत्यागी प्राणों को उनके इष्ट, अनिष्ट और मिश्र, यह तीनों कर्म फल मरने के बाद अवश्य मिलते हैं| परन्तु जो कर्मफल के त्यागी हैं, उनको कहीं भी, अर्थात् यहाँ (इहलोक) और मरने के बाद (परलोक में) कर्म फल नहीं मिलता| पूर्वजन्म में किए हुए कर्मों के अनुसार इस जन्म में उनके सामने अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति आ सकती हैं, पर वह अपने विवेक के बल से उन परिस्थितियों के भोगी नहीं बनते| इन परिस्थितियों के कारण सुखी या दुःखी नहीं होते, अर्थात् सर्वथा निर्लिप्त रहते हैं| त्यागियों को कर्म फल न मिलने का कारण है कि वह अपने लिये कुछ नहीं करते| वह संसार के हित को अपने हित से अलग नहीं मानते| उनके स्थूल शरीर से होने वाली क्रियाएँ, सूक्ष्म शरीर से होने वाला परहित चिन्तन और कारण शरीर से होने वाली स्थिरता, यह तीनों ही संसार प्राणियों के हित के लिये होती हैं|

पंचैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ।।१८-१३।।

हैं पञ्च उपाय हेतु सिद्धि कर्म अनुरूप सांख्य मनन |
करें यह कैसे अंत कर्म कहूँ मैं विस्तार से युद्धिवन ||१८-१३||

भावार्थ: *हे महाबाहो, कर्मों की सिद्धि के लिए सांख्य चिंतन (शास्त्र) के अनुसार पाँच उपाय हैं| यह कर्मों का अन्त कैसे करते हैं, यह मैं विस्तारपूर्वक कहता हूँ|*

टीका: सम्पूर्ण कर्मों का अन्त करने के लिए सांख्य सिद्धान्त में पाँच उपाय बताए गए हैं| स्वयं (स्वरूप) उन कर्मों में कारण नहीं है| कर्म चाहे शास्त्रविहित, शास्त्रनिषिद्ध, शारीरिक, मानसिक, वाचिक, स्थूल, सूक्ष्म हो, इन सम्पूर्ण कर्मों की सिद्धि के लिये पाँच उपाय कहे गए हैं| जब पुरुष का इन कर्मों में कर्तृत्व रहता है, तब कर्म सिद्धि और कर्म संग्रह दोनों होते हैं, और जब पुरुष का इन कर्मों के होने में कर्तृत्व नहीं रहता, तब कर्म सिद्धि तो होती है, पर कर्म संग्रह नहीं होता| प्रत्युत क्रिया ही होती है| जैसे संसार में जब परिवर्तन होता है अर्थात् नदियाँ बहती हैं, वायु चलती है, वृक्ष बढ़ते हैं, यह सब क्रियाएँ तो होती रहती हैं, परन्तु इन क्रियाओँ से कर्म संग्रह नहीं होता| अर्थात् यह क्रियाएँ पाप, पुण्य जनक अथवा बन्धन कारक नहीं होतीं| इसका तात्पर्य यह हुआ कि कर्तृत्वाभिमान से ही कर्म सिद्धि और कर्म संग्रह होता है|। कर्तृत्वाभिमान मिटने पर क्रिया में अधिष्ठान, करण, चेष्टा और दैव, यह चार हेतु होते हैं| प्रभु यहाँ सांख्य सिद्धान्त का वर्णन कर रहे हैं| सांख्य सिद्धान्त में विवेक विचार की प्रधानता होती है| यहां भगवान् अर्जुन को कर्मों की प्रधानता बताते हुए उनके समक्ष युद्ध का प्रसंग ले आते हैं| अर्जुन ने सांख्य का तत्व पूछा है, इसलिये भगवान् सांख्य सिद्धान्त से कर्म करने की बात कहना आरम्भ करते हैं| अर्जुन स्वरूप से कर्मों का त्याग करना चाहते थे, अतः उनको यह समझाना था कि कर्मों का ग्रहण और त्याग, दोनों ही कल्याण में हेतु नहीं हैं| कल्याण में हेतु तो परिवर्तनशील नाशवान् प्रकृति से सम्बन्ध विच्छेद ही है| उस सम्बन्ध विच्छेद की दो प्रक्रियाएँ हैं, कर्मयोग और सांख्ययोग| कर्मयोग में फल का अर्थात् ममता का त्याग मुख्य है और सांख्ययोग में अहंता का त्याग मुख्य है| परन्तु ममता के त्याग से अहंता का और अहंता के त्याग से ममता का त्याग स्वतः हो जाता है| इसका कारण है कि अहंता में भी ममता होती है| जैसे प्राणी सोचता है कि मेरी बात सब मानें, मेरी बात कोई न काटे, यह 'मैंपन' है। इस मैंपन को छोड़ने से अहंता छूट जाती है| साधारणतः पहले अहंता होती है, तब ममता होती है| जब अहंता का त्याग कर दिया, तब ममता (मेरापन) स्वतः ही छूट जाती है|

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम् ।।१८-१४।।

अधिष्ठान कर्ता दैव चेष्टा और करण हे अर्जुन |
समझो इन्हें ही हेतु सिद्धि जन कर्म इस भुवन ||१८-१४||

भावार्थ: *हे अर्जुन, इस लोक में प्राणियों के कर्म की सिद्धि के लिए अधिष्ठान, कर्ता, दैव, करण एवं चेष्टा, यह पांच कारण समझो|*

टीका: शरीर और देश जिस में यह शरीर स्थित है, यह दोनों अधिष्ठान हैं| सम्पूर्ण क्रियाएँ प्रकृति और प्रकृति के कार्यों के द्वारा ही होती हैं| यह क्रियाएँ चाहे समष्टि हों या व्यष्टि, इन क्रियाओँ का कर्ता वास्तव में प्राणी स्वयं नहीं है| केवल अहंकार से मोहित होने पर अविवेकी पुरुष प्रकृति से होने वाली इन क्रियाओं को अपने द्वारा किया हुआ मान लेता है, तब वह कर्ता बन जाता है| ऐसा कर्ता ही कर्मों की सिद्धि में हेतु बनता है|

कुल तेरह प्रकार के करण हैं| पाणि, पाद, वाक्, उपस्थ, और पायु, यह पाँच कर्मेन्द्रियाँ और श्रोत्र, चक्षु, त्वक्, रसना, और घ्राण, यह पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, इस प्रकार दस बहिःकरण हैं| मन, बुद्धि और अहंकार, यह तीन अन्तःकरण हैं| १३ करणों द्वारा पृथक पृथक चेष्टाएँ होती हैं| जैसे पाणि (हाथ) द्वारा आदान-प्रदान करना, पाद (पैर) द्वारा आना-जाना, चलना-फिरना, वाक् द्वारा बोलना, उपस्थ द्वारा मूत्र का त्याग करना, पायु (गुदा) द्वारा मल का त्याग करना, श्रोत्र द्वारा सुनना, चक्षु द्वारा देखना, त्वक् द्वारा स्पर्श करना, रसना द्वारा चखना, घ्राण द्वारा सूँघना, मन द्वारा मनन करना, बुद्धि द्वारा निश्चय करना और अहंकार द्वारा अभिमान करना|

कर्मों की सिद्धि में पाँचवें हेतु का नाम दैव है| यहाँ दैव नाम संस्कारों का है| मनुष्य जैसा कर्म करता है, वैसा ही संस्कार उसके अन्तःकरण पर पड़ता है| शुभ कर्म का शुभ संस्कार पड़ता है, और अशुभ कर्म का अशुभ संस्कार पड़ता है| यह संस्कार आगे कर्म करने की स्फुरणा पैदा करते हैं| जिसमें जिस कर्म

का संस्कार जितना अधिक होता है, उस कर्म में वह उतनी ही सुगमता से लगता है और जिस कर्म का विशेष संस्कार नहीं है, उसको करने में उसे परिश्रम करना पड़ता है| मनुष्य सुनता है, पुस्तकें पढ़ता है और विचार करता है, यह सब वह अपने संस्कारों के अनुसार ही करता है| इसका तात्पर्य है कि मनुष्य के अन्तःकरण में शुभ और अशुभ जैसे संस्कार होते हैं, उन्हीं के अनुसार उसकी कर्म करने की स्फुरणा होती है|

यहां प्रभु ने कर्मों की सिद्धि में पाँच हेतु बताए हैं, अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टा और दैव| अधिष्ठान आधार है| कर्ता के बिना क्रिया नहीं हो सकती, अतः कर्ता हेतु है| क्रिया करने के साधन (करण) होने से ही कर्ता क्रिया करेगा, इसलिये करण भी हेतु है| क्रिया करने के साधन होने पर भी क्रिया नहीं की जाएगी तो कर्म सिद्धि कैसे होगी, इसलिये चेष्टा मुख्य है| कर्ता अपने संस्कारों के अनुसार ही क्रिया करेगा, संस्कारों के विरुद्ध अथवा संस्कारों के बिना क्रिया नहीं कर सकेगा, इसलिये दैव हेतु है| इस प्रकार इन पाँचों के होने से ही कर्म सिद्धि होती है|

शरीरवाङ् मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पंचैते तस्य हेतवः ।।१८-१५।।

करें कर्म शास्त्रविधि या विपरीत निरत तन मन वचन |
बनें यह पञ्च कारण ही हेतु फल कर्म नर पृथानंदन ||१८-१५||

भावार्थ: हे अर्जुन, मन, वाणी और शरीर के द्वारा शास्त्रानुकूल अथवा विपरीत जो कर्म किए जाते हैं, उनमें यह पाँच कारण ही प्राणी के कर्म फल के हेतु बनते हैं|

टीका: प्रभु ने कर्मों में जो अधिष्ठान आदि पाँच कारण बताए हैं, यही प्राणी के कर्म फल का कारण बनते हैं| इन पांच कारणों में शरीर शब्द अधिष्ठान के लिए प्रयोग किया गया है, वाक् शब्द बहिःकरण और मन अन्तःकरण के लिए प्रयोग किया गया है| नर शब्द में कर्ता है, और इन कर्मों के आरम्भ करने में सम्पूर्ण

इन्द्रियों की चेष्टा है| दैव अर्थात् संस्कार अन्तःकरण में ही रहता है, परन्तु उसका स्पष्ट रीति से प्राणी को भान नहीं होता| उसका भान तो उससे उत्पन्न हुई वृत्तियों से और उसके अनुसार किए हुए कर्मों से ही होता है| मनुष्य शरीर, वाणी, मन की प्रधानता से जो कर्म करता है वह चाहे शास्त्रविहित हों या शास्त्रविरुद्ध हों, यही पांच कारण कर्म फल के हेतु हैं| शरीर, वाणी और मन के द्वारा किए गए कर्मों को कायिक, वाचिक और मानसिक कर्म की संज्ञा दी जाती है| इन तीनों में अशुद्धि आने से ही बन्धन होता है| इसलिये इन तीनों (शरीर, वाणी और मन) की शुद्धि के लिये प्रभु ने क्रमशः कायिक, वाचिक और मानसिक तप का वर्णन किया है| इसका तात्पर्य यह है कि शरीर, वाणी और मन से कोई भी शास्त्रनिषिद्ध कर्म न किया जाए, केवल शास्त्रविहित कर्म ही किए जाएं| ऐसा करने से यह कर्म तप हो जाते हैं| कर्म को निष्काम भाव से करने पर वह सात्त्विक तप हो जाता है| सात्त्विक तप बाँधने वाला नहीं होता, प्रत्युत मुक्ति देने वाला होता है| परन्तु राजस और तामस तप बाँधने वाले होते हैं| शरीर, वाणी आदि को अपना समझकर अपने लिये कर्म करने से इनमें अशुद्धि आती है, इसलिये इनको शुद्ध किए बिना केवल विचार से बुद्धि के द्वारा सांख्य सिद्धान्त को समझ लेने से कर्मों के साथ सम्बन्ध समाप्त नहीं होता| कर्मों के साथ सम्बन्ध विच्छेद करने के लिए यह आवश्यक है कि साधक शरीर आदि को अपना न समझे और अपने लिये कोई कर्म न करे, तब शरीरादि बहुत शीघ्र शुद्ध हो जाएंगे| अतः चाहे कर्मयोग की दृष्टि से इनको शुद्ध करके इनसे सम्बन्ध तोड़ ले, चाहे सांख्ययोग की दृष्टि से प्रबल विवेक के द्वारा इनसे सम्बन्ध तोड़ ले, दोनों ही साधनों से प्रकृति और प्रकृति के कार्य के साथ अपने माने हुए सम्बन्ध का विच्छेद हो जाता है और वास्तविक तत्व का अनुभव हो जाता है| जिस समष्टि शक्ति से संसार की क्रियाएँ होती हैं, उसी समष्टि शक्ति से व्यष्टि शरीर की क्रियाएँ भी स्वाभाविक होती हैं| विवेक को महत्व न देने के कारण इन क्रियाओं, जैसे खाना-पीना, उठना-बैठना, सोना-जगना आदि, का साधक स्वयं को कर्ता मान लेता है| यहां कर्म संग्रह होता है, अर्थात् यह क्रियाएँ बाँधने वाली हो जाती हैं| परन्तु जब साधक स्वयं को कर्ता नहीं मानता, तब कर्म संग्रह नहीं होता| वहां केवल क्रिया होती है| इसलिये वह क्रियाएँ फलोत्पादक, अर्थात् बाँधने वाली नहीं होतीं| जैसे बालक से युवा होना, श्वास का आना-जाना, भोजन का पाचन होना तथा रस आदि बन जाना आदि क्रियाएँ बिना कर्तृत्वाभिमान के

प्रकृति के द्वारा स्वतः स्वाभाविक होती हैं| उनका कोई कर्म संग्रह अर्थात् पाप, पुण्य नहीं होता| ऐसे ही कर्तृत्वाभिमान न रहने पर सभी क्रियाएँ प्रकृति के द्वारा ही होती हैं|

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ।।१८-१६।।

हेतु अशुद्ध बुद्धि जो प्राणी समझे कर्ता चेतन |
है वह मूढ़ मलिन नहीं हुआ उसे तत्व अवबोधन ||१८-१६||

भावार्थ: *जो मनुष्य अशुद्ध बुद्धि होने के कारण आत्मा को कर्ता समझता है, वह मूढ़ मलिन है, उसे यथार्थ तत्व का ज्ञान नहीं हुआ|*

टीका: जितने भी कर्म होते हैं, वह सब अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टा और दैव, इन पाँच हेतुओं से ही होते हैं, अपने स्वरूप से नहीं| परन्तु ऐसा होने पर भी जो पुरुष अपने स्वरूप (चेतन) को कर्ता मान लेता है, उसकी बुद्धि शुद्ध नहीं है, अर्थात् उसने विवेक विचार को महत्व नहीं दिया है| जड़ और चेतन का, प्रकृति और पुरुष का जो वास्तविक विवेक है, उसकी ओर उसने ध्यान नहीं दिया है| इसलिये उसकी बुद्धि में दोष आ गया है| उस दोष के कारण वह अपने को कर्ता मान लेता है| कर्ता के दुर्मति होने में अकृत बुद्धि इसका हेतु हो जाती है| इसका तात्पर्य है कि बुद्धि को शुद्ध न करने से, अर्थात् बुद्धि में विवेक जाग्रत् न करने से ही यह दुर्मति है| अगर साधक विवेक को जाग्रत् कर ले तब यह दुर्मति नहीं होती| स्मरण रहे कि आत्मा कुछ नहीं करती, 'न करोति न लिप्यते'| परन्तु 'मैं' के साथ तादात्म्य के कारण साधक 'मैं ही करता हूँ', ऐसा बोध करता है| ऐसा बोध होने में अकृत बुद्धि ही कारण है, अर्थात् जिसने बुद्धि को शुद्ध नहीं किया है, वह दुर्मति ही अपने को कर्ता मान लेने का हेतु बनती है जब कि शुद्ध आत्मा में कर्तृत्व नहीं है|

प्रकृति और पुरुष के विवेक से ही कर्मयोग और सांख्ययोग की परिभाषा है| कर्मयोग में सब क्रियाएँ शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों के द्वारा होती अवश्य हैं,

पर उनके साथ सम्बन्ध नहीं जुड़ता, अर्थात् उनमें ममता नहीं होती| ममता न होने से शरीर, मन आदि का संसार के साथ जो एकता है, उस एकता का अनुभव हो जाता है| एकता का अनुभव होते ही स्वरूप में स्वतः सिद्ध स्थिति का अनुभव हो जाता है| इसलिये कर्मयोग में शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों के साथ निष्काम कर्म किया जाता है| सांख्ययोग में विवेक विचार की प्रधानता के कारण ममता नहीं होती| इस कारण जितने भी कर्म होते हैं, वह सब पाँच हेतुओं से ही होते हैं, अपने स्वरूप से नहीं| अहंकार से मोहित अन्तःकरण वाला प्राणी ही अपने को कर्ता मानता है| विवेक से मोह मिट जाता है, मोह मिटने से उसे ज्ञान हो जाता है और वह अपने आप को कर्ता नहीं मानता| अर्थात् उसे अपने शुद्ध स्वरूप का अनुभव हो जाता है|

इसका स्मरण रहे कि कर्मयोग में केवल शब्द शरीर, मन आदि के साथ रहने से शरीर, मन, बुद्धि आदि के साथ अहम् भी संसार की सेवा में लग जाता है, और स्वरूप यथावत रहता है| सांख्ययोग में स्वरूप के साथ रहते हुए भी 'मैं निर्लेप हूँ', 'मैं शुद्ध बुद्ध हूँ', इस प्रकार सूक्ष्म रीति से स्थिति रहने पर अहम् का नाश हो जाता है|

यस्य नांहकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ।।१८-१७।।

नहीं हो लिप्त बुद्धि जिसकी लौकिक कर्म अर्जुन|
रहता है भाव अकर्ता सदैव हृदय जिस भूजन||
न मरे न बंधे कर अघ सम वध रण विपक्ष जन युद्धवन ||१८-१७||

भावार्थ: *हे अर्जुन, जिस पुरुष में अकर्ता का भाव सदैव रहता है तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थों और कर्मों में लेपायमान नहीं है, वह न तो स्वयं मरता है, न युद्ध में प्रतिपक्ष योद्धाओं को मारकर पाप से बंधता है|*

टीका: जिस प्राणी में अहंकृत भाव नहीं है, जिसकी बुद्धि में ममता नहीं हैं, स्वार्थ भाव नहीं है, वह विवेक बुद्धि द्वारा शास्त्रविहित और शास्त्रनिषिद्ध कर्मों

को भली भांति समझता है| उसे ही साक्षात् अनुभव होता है कि मैं कर्ता नहीं हूँ| प्रकृति का कार्य स्वतः स्वाभाविक ही चल रहा है, परिवर्तित हो रहा है और अपना स्वरूप केवल उसका प्रकाशक है, ऐसा समझकर वह अपने स्वरूप में स्थित रहता है| उसमें अहंकृत भाव नहीं होता क्योंकि अंहकृत भाव प्रकृति के कार्य शरीर को स्वीकार करने से ही होता है| अहंकृत भाव सर्वथा मिटने पर उसको फल की कामना नहीं होती| इस प्रकार का प्राणी यदि धर्म युद्ध में सम्पूर्ण विपक्षियों का वध कर दे तो भी वह न तो मरता है, और न कर्तृत्व कर्म से बँधता है क्योंकि उसमें भोक्तृत्व नहीं है| इसका तात्पर्य यह है कि उसका न क्रियाओं के साथ सम्बन्ध है और न फल के साथ सम्बन्ध है| वास्तव में प्रकृति ही क्रिया और फल में परिणत होती है| परन्तु इस वास्तविकता का अनुभव न होने से ही पुरुष (चेतन) कर्ता और भोक्ता बनता है| इसका कारण है कि जब अहंकार पूर्वक क्रिया होती है, तब कर्ता, करण और कर्म, यह तीनों मिलते हैं और तभी कर्म संग्रह होता है| परन्तु जिसमें अहंकृत भाव नहीं है, वह केवल प्रकाशक, आश्रय, सामान्य चेतन ही है, कर्तव्य कर्म कर रहा है, तब वह न मरता है, न किसी को मारता है, न मारने के पाप बंधन में फंसता है| मनुष्य का कर्तृत्व कर्म करते समय शरीर जिस वर्ण और आश्रम में रहता है, उसके अनुसार उसके सामने जो परिस्थिति आ जाती है, उसमें प्रवृत्त होने पर उसे पाप नहीं लगता| एक जीवन मुक्त क्षत्रिय के लिये स्वतः युद्ध की परिस्थिति आ जाए तो वह उसके अनुसार सब को मारकर भी न तो मरता है और न शत्रुओं को मारने के पाप में बँधता है| इसका कारण है कि उसमें अभिमान और स्वार्थ भाव नहीं है| यहाँ अर्जुन के समक्ष भी धर्म युद्ध का प्रसंग है| इसलिये भगवान् उन्हें युद्ध के लिये प्रेरणा दे रहे हैं|

इस प्रकार का प्राणी शरीर में स्थित होने पर भी न कर्ता है और न कार्य में लिप्त होता है| इसका तात्पर्य यह है कि कर्मों में सांगोपांग प्रवृत्त होने के समय और जिस समय कर्मों में प्रवृत्त नहीं है, उस समय भी स्वरूप की निर्विकल्पता यथावत रहती है, अर्थात् क्रिया करने से या क्रिया न करने से स्वरूप में कोई अंतर नहीं पड़ता| इसका कारण है कि क्रिया प्रकृति में है, स्वरूप में नहीं| वास्तव में अहं भाव (व्यक्तित्व) ही मनुष्य में भिन्नता करने वाला है| अहं भाव न रहने से परमात्मा के साथ भिन्नता का कोई कारण ही नहीं है| वह न तो क्रिया

का कर्ता बनता है, और न फल का भोक्ता ही बनता है| क्रियाओं का कर्ता और फल का भोक्ता तो वह पहले भी नहीं था, लेकिन नाशवान् शरीर के साथ सम्बन्ध मानकर जिस अहं भाव को स्वीकार किया है, उसी अहं भाव से उसमें कर्तापन और भोक्तापन आया है|

अहम् दो प्रकार का होता है, अहं स्फूर्ति और अहं कृति| गाढ़ नींद से उठते ही सबसे पहले मनुष्य को अपने होनेपन (सत्ता) का भान होता है, इसको अहं स्फूर्ति कहते हैं| इसके बाद वह अपने में 'मैं अमुक नाम, वर्ण, आश्रम आदि का हूँ', ऐसा भान करता है, यही असत्य का सम्बन्ध है| असत्य के सम्बन्ध से अर्थात् शरीर के साथ तादात्म्य मानने से शरीर की क्रिया को 'मैं करता हूँ', ऐसा भाव उत्पन्न होता है, इसको अहं कृति कहते हैं| अहम् को लेकर ही अपने में परिच्छिन्नता आती है| अहं स्फूर्ति में किंचित परिच्छिन्नता (व्यक्तित्व) रह सकती है, परन्तु शुभ एवं अशुभ कर्म करने का भान होता है| विवेक बुद्धि से अहं स्फूर्ति में जो परिच्छिन्नता है, वह नष्ट हो जाती है, और स्फूर्ति रह जाती है| ऐसी स्थिति में मनुष्य न मरता है, न मारता है और न मारने के पाप में बँधता है|
यह मरना, मारना एक निर्विकल्प अवस्था होती है और एक निर्विकल्प बोध होता है| निर्विकल्प अवस्था साधन साध्य है और उसका उत्थान भी होता है, अर्थात् वह एक रस नहीं रहती| इस निर्विकल्प अवस्था से असंगता होने पर स्वतः सिद्ध निर्विकल्प बोध का अनुभव होता है| निर्विकल्प बोध साधन साध्य नहीं है और उसमें निर्विकल्पता किसी भी अवस्था में किंचित मात्र भी भंग नहीं होती| निर्विकल्प बोध में न कभी परिवर्तन हुआ, न होगा, और न होना ही सम्भव है| इसका तात्पर्य यह है कि उस निर्विकल्प बोध में कभी हलचल आदि नहीं होती| अहंकृत भाव और बुद्धि में लिप्त न रहने का उपाय यही है कि इसका अनुभव करें कि क्रिया रूप से परिवर्तन केवल प्रकृति में ही होता है| इन क्रियाओं का आरम्भ और अन्त होता है तथा उन कर्मों के फल रूप से जो पदार्थ मिलते हैं, उनका भी संयोग, वियोग होता है| इस प्रकार क्रिया और पदार्थ, दोनों के साथ संयोग, वियोग होने पर भी स्वयं प्रकाशक रूप यथावत बना रहता है| विवेक विचार से ऐसा अनुभव होने पर अहंकृत भाव और बुद्धि में लिप्तता नहीं रहती|

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मकंग्रहः ।।१८-१८।।

समझो ज्ञान ज्ञेय और ज्ञाता भली भांति चित्तिन् ।
हैं यह निमित्त जो करें प्रेरणा कर्म हे अर्जुन ।।
समझो कर्ता करण क्रिया निमित्त कर्म संकलन ।।१८-१८।।

भावार्थ: *हे अर्जुन, ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता को भली भांति समझो| यह कर्म प्रेरणा करने वाले हैं| कर्ता, करण तथा क्रिया, यह कर्म संग्रह का कारण हैं|*

टीका: प्रभु पहले बता चुके हैं कि अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टा और दैव (संस्कार), इन पाँचों में कर्म फल का मूल हेतु कर्ता है। इसी मूल हेतु को मिटाने के लिये भगवान् ने कर्म करते हुए कर्तृत्व भाव की भावना न रखने का निर्देश दिया है| यहां प्रभु इसको आगे स्पष्ट करते हैं|

प्रभु कहते हैं कि ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता, इन तीनों से ही कर्म करने की प्रेरणा मिलती है| मनुष्य की प्रवृत्ति में ज्ञान का हाथ होता है| जैसे जल पीने की प्रवृत्ति से पहले प्यास का ज्ञान होता है, फिर वह जल से प्यास बुझाता है| जल आदि जिस विषय का ज्ञान होता है, वह ज्ञेय कहलाता है और जिसको ज्ञान होता है, वह ज्ञाता कहलाता है| ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता, यदि इन तीनों में से कोई एक न हो तो कर्म करने की प्रेरणा नहीं मिलती|

करण, कर्म तथा कर्ता कर्म संग्रह के हेतु हैं| इन तीनों के सहयोग से कर्म पूरा होता है| जिन साधनों से कर्ता कर्म करता है, उन क्रिया करने के साधनों (इन्द्रियों आदि) को करण कहते हैं| खाना-पीना, उठना-बैठना, चलना-फिरना, आना-जाना आदि जो चेष्टाएँ की जाती हैं, उनको कर्म कहते हैं| करण और क्रिया से अपना सम्बन्ध जोड़कर कर्म करने वाले को कर्ता कहते हैं| इस प्रकार इन तीनों के मिलने से कर्म बनता है| भगवान् का लक्ष्य यहां मूल हेतु कर्ता को सचेत करने का है, क्योंकि कर्म संग्रह का विशेष सम्बन्ध कर्ता से ही है| यदि कर्तापन न हो तो कर्म संग्रह नहीं होता, केवल क्रिया होती है| कर्म संग्रह में

करण हेतु नहीं है क्योंकि करण कर्ता के अधीन होता है| कर्ता जैसा कर्म करना चाहता है, वैसा ही कर्म होता है, इसलिये कर्म भी कर्म संग्रह में हेतु नहीं है| सांख्य सिद्धान्त के अनुसार अहंकृत भाव ही बाँधने वाला है, और इसी से कर्म संग्रह होता है| अहंकृत भाव न रहने से कर्म संग्रह नहीं होता अर्थात् कर्म फल जनक नहीं होता| इस मूल का ज्ञान देने के लिये ही भगवान् ने करण और कर्म को पहले रखकर कर्ता को कर्म संग्रह के समीप रखा है जिससे यह विचार में आ जाए कि बाँधने वाला कर्ता ही है|

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ।।१८-१९।।

ज्ञान कर्म कर्ता त्रिप्रकार गुण भेद कहे सब सूरिन् ।
है वर्णित जो तत्व सुनो मुझ से तुम अब अर्जुन ।।१८-१९।।

भावार्थ: *ज्ञान, कर्म और कर्ता, यह तीन प्रकार के गुण सब विद्वानों के द्वारा कहे गए हैं| जैसा तत्व वर्णित हैं, वह अब अर्जुन, तुम मुझ से सुनो|*

टीका: प्रभु कहते हैं कि हे अर्जुन, मैं तुम्हें अब शास्त्र के अनुसार कर्म तथा कर्ता के भेद बताता हूँ| कर्म की प्रेरणा में ज्ञान होता है| ज्ञान के बाद ही कार्य का आरम्भ होता है| कर्म संग्रह में कर्म और कर्ता दोनों होते हैं| यद्यपि कर्म के होने में कर्ता मुख्य है, तथापि साथ में कर्म को भी कर्म संग्रह का हेतु बनाने का कारण है कि कर्ता जब कर्म करता है, तभी कर्म संग्रह होता है| अगर कर्ता कर्म न करे तो कर्म संग्रह नहीं होगा| इसका तात्पर्य यह है कि कर्म प्रेरणा में ज्ञान तथा कर्म संग्रह में कर्म और कर्ता मुख्य हैं| इन तीनों (ज्ञान, कर्म और कर्ता) के सात्त्विक होने से ही मनुष्य निर्लिप्त हो सकता है, राजस और तामस होने से नहीं| यहाँ कर्म प्रेरक ज्ञाता और ज्ञेय है, कर्म संग्रह में करण हेतु नहीं है| जिसे जाना जाए, उस विषय को ज्ञेय कहते हैं| जानने योग्य सब विषयों का एक मात्र लक्ष्य सुख प्राप्त करना होता है| जैसे कोई विद्या पढ़ता है, कोई धन कमाता है, कोई अधिकार पाने की चेष्टा करता है, तो इन सब विषयों को जानने, पाने की चेष्टा का लक्ष्य एक मात्र सुख प्राप्ति करना ही रहता है| विद्या पढ़ने में यही

भाव रहता है कि अधिक पढ़कर अधिक धन कमाऊँगा, मान पाऊँगा और उनसे मैं सुखी हो जाऊँगा| ऐसे ही प्रत्येक कर्म का लक्ष्य परम्परा से सुख की प्राप्ति की चेष्टा करना ही होता है| इसलिये भगवान् ने ज्ञेय के तीन भेद सात्त्विक, राजस और तामस, सुख प्राप्ति की चेष्टा करने के लिए ही बताए हैं| भगवान् ने करण के तीन भेद नहीं बताए क्योंकि इन्द्रियाँ आदि जितने भी करण हैं, वह सब साधन मात्र हैं| साधन सात्विक राजस या तामस नहीं होते| परन्तु इन सभी करणों में बुद्धि की प्रधानता है क्योंकि मनुष्य करणों से जो कुछ भी काम करता है, उसको वह बुद्धि पूर्वक (विचार पूर्वक) ही करता है| बुद्धि को दृढ़ता से रखने में धृति बुद्धि की सहायक बनती है| ज्ञानयोग की साधना में भगवान् ने दो स्थान पर बुद्धि के साथ धृति शब्द का प्रयोग किया है| इससे यह सिद्ध होता है कि ज्ञानमार्ग में बुद्धि के साथ धृति की विशेष आवश्यकता है| भगवान् ने धृति के भी तीन भेद बताए हैं| यह भेद तीन (सात्त्विक, राजस और तामस) ही होते हैं| इसका कारण है कि सत्त्व, रजस और तमस, यह तीन गुण ही प्रकृति से उत्पन्न हैं, 'सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः'| इसलिये इन तीनों गुणों से सम्बंधित ही तीन भेद होते हैं।

प्रभु कहते हैं कि इन गुणों के तत्व का जैसा विद्वानों द्वारा वर्णन किया गया है, वैसा ही मुझ से सुनो| शास्त्रों में भी यह स्पष्ट रूप से वर्णित है कि सात्त्विक वस्तुएं कर्मों से सम्बन्ध विच्छेद करके परमात्म-तत्व का बोध कराने वाली होती हैं, राजस वस्तुएं जन्म-मरण देने वाली होती हैं, और तामस वस्तुएं पतन करने वाली अर्थात् नर्कों और नीच योनियों में ले जाने वाली होती हैं| इसलिये इनका वर्णन सुनकर सात्त्विक वस्तुओं को ग्रहण तथा राजस एवं तामस वस्तुओं का त्याग करना चाहिए| प्रभु यह भी कहते हैं की इस ज्ञान आदि का अर्जुन, तुम्हारे स्वरूप के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है| तुम्हारा स्वरूप तो सदा निर्लिप्त है| इन भेदों को जानने की आवश्यकता इसलिए है कि तुम सात्विक, राजस और तामस वस्तुओं को स्पष्ट रूप से समझ लो|

सर्वभूतेष येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ।।१८-२०।।

है अविनाशी परमात्म-तत्व भाव का बोध जिन जन |
करें अनुभव समभाव सदा वह सत ज्ञानी अर्जुन ||१८-२०||

भावार्थ: *हे अर्जुन, जिन प्राणियों को अविनाशी परमात्म-तत्व भाव का ज्ञान है, वह सत ज्ञानी सदैव समभाव का अनुभव करते हैं|*

टीका: सांसारिक लोगों को व्यक्ति, वस्तु आदि में जो अपनापन दिखता है, वास्तव में वह उनका नहीं है, प्रत्युत सब परमात्मा का है| उन व्यक्ति, वस्तु आदि की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है क्योंकि उनमें प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है| कोई भी व्यक्ति, वस्तु आदि ऐसी नहीं है जिसमें परिवर्तन न होता हो, परन्तु अपनी अज्ञानतावश उनमें उनकी सत्ता दिखती है| जब अज्ञान मिटता है, ज्ञान होता है, तब साधक की दृष्टि उस अविनाशी तत्व की ओर जाती है जिसकी सत्ता से वह सत्तावान् हो रहा था| ज्ञान होने पर साधक की दृष्टि परिवर्तनशील वस्तुओं को भेदकर परिवर्तन रहित तत्व की ओर जाती है| फिर वह विभक्त वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, घटना आदि में विभाग रहित एक ही तत्व को देखता है| इसका तात्पर्य यह है कि ज्ञान होने पर वह पृथक वस्तु, व्यक्ति आदि में स्वतः सिद्ध निर्विकार एक तत्व को देखता है| उसके अन्तःकरण में राग, द्वेष नहीं होते| यही ज्ञान सात्त्विक है| परिवर्तनशील वस्तुओं, वृत्तियों के सम्बन्ध में ज्ञान होने से ही इसे सात्त्विक ज्ञान कहते हैं| सम्बन्ध रहित होने पर यही ज्ञान वास्तविक बोध कहलाता है, जिसको भगवान् ने सब साधनों से जानने योग्य ज्ञेय तत्व बताया है, 'ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते'|

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ।।१८-२१।।

कर प्राप्त जिस ज्ञान करे अनुभव हैं भिन्न सब जन |
समझो देता यह ज्ञान राजस प्रवृत्ति साधक के मन ||१८-२१||

भावार्थ: *जिस ज्ञान की प्राप्ति से सम्पूर्ण प्राणियों में भिन्नता का अनुभव हो, वह साधक के मन में राजस प्रवृत्ति देता हैं, ऐसा समझो|*

टीका: राजस ज्ञान में राग की मुख्यता होती है, 'रजो रागात्मकं विद्धि'| राग का यह नियम है कि वह जिस में आ जाता है, उसमें किसी के प्रति आसक्ति, प्रियता पैदा कर देता है और किसी के प्रति द्वेष पैदा कर देता है| इस राग के कारण ही मनुष्य, देवता, यक्ष, राक्षस, पशु, पक्षी, कीट, वृक्ष, लता आदि जितने भी चर एवं अचर प्राणी हैं, उन प्राणियों की विभिन्न आकृति, स्वभाव, नाम, रूप, गुण आदि को लेकर राजस ज्ञान वाला मनुष्य उनमें रहने वाली एक ही अविनाशी आत्मा को तत्व से पृथक पृथक समझता है| जिस ज्ञान से मनुष्य अलग अलग शरीरों में अन्तःकरण, स्वभाव, इन्द्रियाँ, प्राण आदि के सम्बन्ध से प्राणियों को भी अलग अलग मानता है, वह ज्ञान राजस कहलाता है| राजस ज्ञान में जड़ चेतन का विवेक नहीं होता|

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ।।१८-२२।।

है जो ज्ञान मिथ्या तुच्छ युक्ति रहित दे आसक्ति तन |
समझो है वह ज्ञान त्याज्य दे तामस प्रवृत्ति जन ||१८-२२||

भावार्थ: *जो ज्ञान बिना युक्ति वाला, अवास्तविक और तुच्छ है, शरीर के प्रति आसक्ति देता है, उसे त्यागने योग्य समझो| वह प्राणियों में तामस प्रवृत्ति देता है|*

टीका: तामस मनुष्य एक ही शरीर में सम्पूर्णता से आसक्त रहता है, अर्थात् उत्पन्न और नष्ट होने वाले इस भौतिक शरीर को ही अपना स्वरूप मानता है| वह मानता है कि मैं ही बालक था, मैं ही युवा हूँ और मैं ही बूढ़ा हो जाऊँगा| मैं ही भोगी, बलवान् और सुखी हूँ| मैं ही धनी और बड़े कुटुम्ब वाला हूँ| मेरे समान दूसरा कोई नहीं है, इत्यादि| ऐसी मान्यता मूढ़ता के कारण ही होती है, 'इत्यज्ञानविमोहिताः'|

तामस मनुष्य की मान्यता युक्ति और शास्त्र प्रमाण के विरुद्ध होती है| वास्तव में यह शरीर प्रत्येक क्षण बदल रहा है, शरीरादि वस्तु अभाव में परिवर्तित हो

रहे हैं, दृश्य अदृश्य हो रहा है, और इनमें स्वयं सदा ज्यों का त्यों रहता है अतः यह शरीर और वह स्वयं एक कैसे हो सकते हैं, इस प्रकार की युक्तियों को वह स्वीकार नहीं करता| यह शरीर और मैं, दोनों अलग अलग हैं, इस वास्तविक ज्ञान (विवेक) से वह रहित है| उसकी समझ अत्यन्त तुच्छ है| इस ज्ञान में मूढ़ की प्रधानता होती है| यद्यपि यह ज्ञान नहीं है फिर भी भगवान् ने इसे एक प्रकार से ज्ञान (जो वास्तव में अज्ञान है) का रूप दिया है ताकि साधक इस अज्ञान को समझकर इसका त्याग कर दे|

नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ।।१८-२३।।

है जो कर्म नियत शास्त्रविधि युक्त भाव अकर्तापन |
रहित मद फलेच्छा राग द्वेष है वह सात्विक अर्जुन ||१८-२३||

भावार्थ: *हे अर्जुन, जो कर्म शास्त्रविधि से नियत किया हुआ है तथा जिसमें कर्तापन का भाव नहीं है, अभिमान, फल इच्छा एवं राग द्वेष से रहित है, वह सात्त्विक है|*

टीका: जिस व्यक्ति के लिये वर्ण और आश्रम के अनुसार जिस परिस्थिति में और जिस समय शास्त्रों ने जैसा करने का निर्देश दिया है, वह कर्म नियत हो जाता है| यहाँ प्रभु ने नियत कर्म करने के लिए एवं शास्त्रनिषिद्ध कर्म न करने का निर्देश दिया है| नियत कर्म को कर्तृत्वाभिमान से रहित होकर करना चाहिए| कर्तृत्वाभिमान से रहित होने का तात्पर्य है कि जैसे वृक्ष आदि में मूढ़ता होने के कारण उनको कर्तृत्व का भान नहीं होता, पर उनकी भी ऋतु आने पर पत्तों का झड़ना, नए पत्तों का निकलना, शाखाओं का बढ़ना, फल फूल का लगना, आदि सभी क्रियाएँ होती हैं, ऐसे ही साधक को भी यही भान रहना चाहिए कि सभी क्रियाएँ प्रकृति द्वारा अपने आप ही हो रही हैं| इन क्रियाओँ के साथ मेरा कोई सम्बन्ध न है, न था और न रहेगा| यही कर्म कर्तृत्वाभिमान रहित होता है| राग, द्वेष से रहित हो कर कर्म किया जाए अर्थात् कर्म का ग्रहण राग पूर्वक न हो और कर्म का त्याग द्वेष पूर्वक न हो| कर्म करने के जितने साधन

(शरीर, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण आदि) हैं, उनमें भी राग, द्वेष न हो| सभी कर्म भविष्य में मिलने वाले किसी फल की इच्छा से रहित हों| तब वह कर्म सात्त्विक कहा जाता है| इस सात्त्विक कर्म में कर्मता तभी तक है, जब तक अत्यन्त सूक्ष्म रूप से भी प्रकृति के साथ कोई सम्बन्ध है| जब प्रकृति से सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है, तब यह कर्म अकर्म हो जाता है|

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्रजासमुदाहृतम् ।।१८-२४।।

इच्छा भोग युक्त मद और श्रम करता जो कर्म जन |
देता वह प्रवृत्ति राजस समझो भली भांति अर्जुन ||१८-२४||

भावार्थ: *हे अर्जुन, जो कर्म भोगों की इच्छा हेतु अहंकार एवं परिश्रम से किया जाता है, वह राजस प्रवृत्ति देता है, इसे भली भांति समझो|*

टीका: प्रभु कहते हैं कि विषय भोगों को फल स्वरुप प्राप्त करने की इच्छा के साथ अहंकार एवं परिश्रम के साथ करते हुए जो कर्म किया जाता है, वह राजस प्रवृत्ति का होता है| ऐसे कर्म जो लोगों से प्रशंसा हेतु किए जाते हैं, उनमें अभिमान आना स्वाभाविक है| ऐसे कर्म लोगों के समक्ष नहीं भी किए जाएं, चाहे एकान्त में किए जाएं, परन्तु भाव दूसरों की अपेक्षा अपने में विलक्षणता, विशेषता आदि दिखाने के कारण उनमें भी अभिमान का अंश होता है| उदाहरण के रूप में ऐसा भाव कि दूसरे लोग हमारी तरह सुचारु रूप से कार्य नहीं कर सकते, हम में जो काम करने की योग्यता, विद्या, चतुरता आदि है, वह दूसरों में कदापि नहीं है, इस प्रकार अहंकार पूर्वक किया गया कर्म राजस कहलाता है|

भविष्य में मिलने वाले फल को लेकर फलेच्छा पूर्वक जो कर्म किया जाए अथवा वर्तमान में अपनी विशेषता को लेकर (अहंकार पूर्वक) जो कर्म किया जाए यह दोनों ही राजस भाव से किए गए कर्म हैं| कर्म करते समय प्रत्येक व्यक्ति को परिश्रम तो करना ही पड़ता है, पर जिस व्यक्ति में शरीर के सुख, आराम की

इच्छा मुख्य होती है, उसको कर्म करते समय अधिक परिश्रम करना पड़ता है| जिस व्यक्ति में कर्म फल की इच्छा तो मुख्य है, पर शारीरिक सुख, आराम की इच्छा मुख्य नहीं है, अर्थात् सुख, आराम लेने की स्वाभाविक प्रकृति नहीं है, उसको कर्म करते हुए शरीर में परिश्रम का अनुभव नहीं होता| इसका कारण है कि भीतर में भोग और संग्रह की कामना होने से उसकी वृत्ति कामना पूर्ति की ओर लग जाती है, शरीर की ओर नहीं| इसका तात्पर्य है कि शरीर के सुख, आराम की मुख्यता होने से फलेच्छा की अवहेलना हो जाती है, और फलेच्छा की मुख्यता होने से शरीर के सुख, आराम की अवहेलना हो जाती है| लोगों के समक्ष कर्म करते समय अहंकारजन्य सुख की अनुभूति मिलने से और शरीर के सुख, आराम की मुख्यता न होने से राजस मनुष्य को कर्म करने में परिश्रम का अनुभव नहीं होता| फल की इच्छा वाले मनुष्य के द्वारा अहंकार और परिश्रमपूर्वक किया हुआ जो कर्म है, वह राजस कहा गया है|

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ।।१८-२५।।

दे वह कर्म प्रवृत्ति तामस जो किया गया मूढ़ मन्|
युक्त फलेच्छा कपट हिंसा मोहवश और बिन चिंतन ||१८-२५||

भावार्थ: *जो कर्म मूढ़ मन (बुद्धि), मोहवश, हिंसा, कपट, फलेच्छा और बिना सोच विचार के किया जाता है, वह तामस प्रवृत्ति देता है|*

टीका: जिस प्राणी को फल की कामना होती है, वह फल प्राप्ति के लिये विचार पूर्वक कर्म करता है, परन्तु तामस मनुष्य में मूढ़ता की प्रधानता होने से वह कर्म करने में विचार नहीं करता| वह कर्म के परिणाम का विचार किए बिना ही कर्म कर देता है| वह इस बात का भी विचार नहीं करता कि इस कार्य को करने से अपने और दूसरों की कितनी हानि हो सकती है, इसमें धन और समय कितना व्यय हो सकता है, इससे संसार में मेरा कितना अपमान, निन्दा, तिरस्कार आदि हो सकता है, मेरा लोक, परलोक बिगड़ सकता है, आदि|

वह मूढ़ तामसी व्यक्ति यह विचार भी नहीं करता कि इस कर्म से कितने जीवों की, कितने श्रेष्ठ व्यक्तियों के सिद्धान्तों और मान्यताओं की, मनुष्यता की, वर्तमान और भावी जीवों के शुद्ध भाव, आचरण, वेशभूषा, खानपान आदि की कितनी भारी हिंसा हो सकती है| इससे मेरा और संसार का कितना अधःपतन हो सकता है, आदि| इस प्रकार की एवं अन्य हिंसा होने की सम्भावनाओं को विचार न करते हुए वह कार्य कर देता है|

तामस मनुष्य कर्म करते समय उसके परिणाम, उससे होने वाली हानि, हिंसा आदि का कुछ भी विचार न करते हुए अपने मनानुसार जैसा भाव आया, उसी समय बिना विवेक विचार के वैसा ही कर्म कर देते हैं| प्रभु कहते हैं कि इस प्रकार किया गया कर्म तामस कहलाता है|

मुक्तंसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्धयसिद्धयोर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ।।१८-२६।।

रहित राग मद युक्त धैर्य उत्साह करे कर्म जो जन |
हो सम सिद्धि असिद्धि समझो उसे सात्विक अर्जुन ||१८-२६||

भावार्थ: *हे अर्जुन, जो प्राणी राग एवं अहंकार से रहित तथा धैर्य और उत्साह से युक्त कर्म करता है, सफल और असफल होने पर सम भाव रखता है, उसे सात्विक समझो|*

टीका: प्रभु कहते हैं कि सांख्ययोगी एवं कर्मयोगी का कर्मों के साथ राग नहीं होता| कामना, वासना, आसक्ति, स्पृहा, ममता आदि से अपना सम्बन्ध जोड़ने के कारण ही वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ, परिस्थिति, घटना आदि में लिप्तता होती है| सात्त्विक कर्ता इस लिप्तता से सर्वथा रहित होता है|

पदार्थ, वस्तु, परिस्थिति आदि को लेकर स्वयं में जो एक विशेषता का अनुभव करने से अहं भाव का अनुभव होता है, वह आसुरी सम्पत्ति को जन्म देता है| यह अत्यन्त निकृष्ट है| सात्त्विक कर्ता में यह अहं भाव, अभिमान आदि नहीं

होता, प्रत्युत वह इन वस्तुओं का त्यागी होता है| वह अभिमान रहित, निर्विकार, सम, सर्वथा निष्काम, संसार के सम्बन्ध से रहित होता है|

अगर साधक ऐसा अनुभव करे कि कर्तव्य कर्म करते हुए उसे विघ्न बाधाएँ का सामना करने में कोई कठिनाई नहीं हो रही, उसके प्रति लोगों में मान, आदर, महिमा आदि भावनाएं बढ़ रही हैं, ऐसी स्थिति में निश्चय ही साधक का कर्म की सफलता के प्रति उत्साह बढ़ जाता है| लेकिन यदि इसके विपरीत परिस्थिति का अनुभव हो, और उसमें भी साधक इन की चिंता न करते हुए धैर्य के साथ अपना नियत कर्म करता रहे, वह सात्त्विक कर्ता है|

सिद्धि और असिद्धि में साधक के मन में कोई विकार न आए, उसके अन्तःकरण में प्रसन्नता और खिन्नता, हर्ष और शोक न हो, यही सिद्धि, असिद्धि में निर्विकार रहना है| ऐसा आसक्ति तथा अहंकार से रहित, धैर्य तथा उत्साह से युक्त और सिद्धि, असिद्धि में निर्विकार कर्ता सात्त्विक कहा जाता है|

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ।।१८-२७।।

युक्त आसक्ति लोलुपता करे कर्म हेतु फल जो जन |
हो भाव अशुद्ध दे कष्ट अन्य है वह राजस कर्म अर्जुन ||
देता दुःखदायी फल करे यह लिप्त हर्ष शोक मन ||१८-२७||

भावार्थ: *हे अर्जुन, जो प्राणी आसक्ति, लोभ और फल की चाह हेतु, अपवित्र भाव से दूसरों को कष्ट दे कर कर्म करता है, वह राजस कर्म है| यह दुःखदायी फल देता है जिससे मन हर्ष, शोक से लिप्त रहता है|*

टीका: राग का स्वरूप रजोगुण होने के कारण भगवान् ने राजस कर्ता के लक्षणों में उसे राग युक्त बताया है| राग का अर्थ है, कर्म, कर्म फल, वस्तु, पदार्थ आदि में मन का आकर्षण होना, मन की प्रियता होना| इन वस्तुओं पर जिसकी ममता होती है, वह राग युक्त होता है|

राजस मनुष्य कोई भी कार्य करेगा तो वह फल की चाहना से ही करेगा| उदाहरण के लिए यदि वह अनुष्ठान करेगा, दान आदि देगा, तो उसके मन में इहलोक में धन, मान, प्रशंसा, आदि की इच्छा होगी और परलोक में स्वर्गादि के भोग, सुख आदि की इच्छा होगी| राजस मनुष्य को जितना जो कुछ मिलता है, वह उससे कभी संतुष्ट नहीं होता, प्रत्युत उसका लोभ बढ़ता रहता है| वह हिंसा के स्वभाव वाला होता है| अपने स्वार्थ के लिये वह दूसरों की हानि की चिंता नहीं करता| वह अधिक भोग सामग्री इकट्ठी कर स्वयं तो हर प्रकार से भोग भोगता है, परन्तु अभावग्रस्त लोगों की कोई मदद नहीं करता| तामस मनुष्य की क्रियाएँ तो मूढ़ता के कारण विवेक पूर्वक नहीं होतीं, परन्तु राजस मनुष्य मूढ़ता के कारण नहीं बल्कि अपने सुख भोग के लिये यह सब करता है|

राग युक्त पुरुष भोग बुद्धि से जिन वस्तुओं, पदार्थों आदि का संग्रह करता है, वह सब वस्तुएं एक प्रकार से अपवित्र हो जाती हैं| वहां का वायु मण्डल अपवित्र हो जाता है| वह जिन कपड़ों को पहनता है, उन कपड़ों में भी अपवित्रता आ जाती है| यही कारण है कि आसक्ति, ममता वाले मनुष्य के मरने पर उसके कपड़े आदि को कोई रखना नहीं चाहता| जिस स्थान पर उसके शव को जलाया जाता है, वहां कोई भजन, ध्यान नहीं करना चाहता| उस स्थान पर भूल से कोई सो जाए तो दुःस्वप्न दिखते हैं| इसका तात्पर्य यह है कि उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थों की ओर आकृष्ट होते ही आसक्ति, ममता रूप मलिनता आने लगती है, जिससे मनुष्य का शरीर अपवित्र हो जाता है| उस प्राणी के समक्ष सफलता-विफलता, अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति, घटना आदि होते रहते हैं| उनको लेकर वह हर्ष-शोक, राग-द्वेष, सुख-दुःख आदि में ही उलझा रहता है| प्रभु कहते हैं कि जिसमें यह लक्षण हैं, उसे राजस समझो|

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ।। (१८-२८)

अयुक्त धूर्त रहित ज्ञान करे जो नष्ट अन्य आजीवन |
गल्भी आलसी अविवेकी दे शोक अन्य वह तामस जन ||१८-२८||

भावार्थ: *जो अयुक्त (असावधान), अज्ञानी, धूर्त, दूसरों की जीविका को नष्ट करने वाला, घमंडी, आलसी, अविवेकी और दूसरों को शोक देने वाला है, वह प्राणी तामस है|*

टीका: तमोगुण मनुष्य को मूढ़ बना देता है, उसमें धैर्य नहीं रहता, सावधानी का अभाव हो जाता है, इसे अयुक्त कहते हैं| जिसने शास्त्र, सत्संग, शिक्षा, उपदेश आदि से अपने जीवन को नहीं संवारा, न अपने जीवन के लक्ष्य पर कुछ विचार किया, ऐसा मनुष्य ज्ञान रहित अर्थात् अशिक्षित कहलाता है|

तमोगुण की प्रधानता के कारण उसके मन, वाणी और शरीर में अभिमान रहता है, अतः वह गल्भी (अभिमानी) होता है| वह मन, वाणी और शरीर से कभी सरलता और नम्रता का व्यवहार नहीं करता, प्रत्युत कठोर व्यवहार करता है| तामस मनुष्य दूसरों से उपकार पा कर भी उनका उपकार नहीं करता, प्रत्युत उनका अपकार ही करता है| अपने वर्ण आश्रम के अनुसार आवश्यक कर्तव्य कर्म जानने के पश्चात भी अपनी मूढ़ता के कारण वह कर्म नहीं करता, प्रत्युत सांसारिक निरर्थक कर्म में पड़ा रहता है| उसे नींद अति प्रिय होती है, अतः उसे आलसी कहा गया है| वह किसी काम को विवेक पूर्वक नहीं करता|

प्रभु कहते हैं कि इन लक्षणों वाला कर्ता तामस कहलाता है| कर्ता के जैसे लक्षण होते हैं, उन्हीं के अनुसार कर्म होते हैं| कर्ता जिन गुणों को स्वीकार करता है, उन गुणों के अनुसार ही कर्मों का रूप होता है| कर्ता जिस साधना को करता है, वह साधना कर्ता का रूप हो जाता है| कर्ता के समक्ष जो करण होते हैं, वह भी कर्ता के अनुरूप होते हैं| इसका तात्पर्य यह है कि जैसा कर्ता होता है, वैसे ही कर्म, करण आदि होते हैं| कर्ता सात्त्विक, राजस अथवा तामस होगा तो कर्म आदि भी क्रमशः सात्त्विक, राजस अथवा तामस होंगे| सात्त्विक कर्ता अपने कर्म, बुद्धि आदि को सात्त्विक बनाकर सात्त्विक सुख का अनुभव करते हुए असंगतापूर्वक परमात्म-तत्व से अभिन्न हो जाता है, 'दुःखान्तं च निगच्छति'| इसका कारण है कि सात्त्विक कर्ता का ध्येय परमात्मा होता है, इसलिये वह कर्तृत्व भोक्तृत्व से रहित होकर चिन्मय तत्व से अभिन्न हो जाता है| परन्तु राजस एवं तामस कर्ता राजस एवं तामस कर्म, बुद्धि आदि के साथ तन्मय होकर राजस

एवं तामस सुख में लिप्त होता है| इसलिये वह परमात्म-तत्व से अभिन्न नहीं हो सकता| इसका कारण है कि राजस एवं तामस कर्ता का उद्देश्य परमात्मा नहीं होता| उसमें जड़ता का बन्धन होता है| अब यहाँ एक शंका हो सकती है कि कर्ता का सात्त्विक होना तो ठीक है, पर कर्म सात्त्विक कैसे होते हैं? इसका समाधान यह है कि जिस कर्म के साथ कर्ता का राग नहीं है, कर्तृत्वाभिमान नहीं है, फलेच्छा नहीं है, वह कर्म सात्त्विक हो जाता है| ऐसे सात्त्विक कर्म से अपना और संसार का हित होता है| उस सात्त्विक कर्म का जिन वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ, वायु मण्डल आदि के साथ सम्बन्ध होता है, उन सब में निर्मलता आ जाती है| निर्मलता सत्त्व गुण का स्वभाव है, 'तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्'| वास्तव में देखा जाए तो राग ही बाँधने वाला है, क्रिया नहीं| भगवान् ने कर्म तीन प्रकार के बताए हैं, सात्त्विक, राजस और तामस| कर्म करने वाले का भाव सात्त्विक होगा तो वह कर्म सात्त्विक हो जाएंगे, भाव राजस होगा तो वह कर्म राजस हो जाएंगे और भाव तामस होगा तो वह कर्म तामस हो जाएंगे |

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं श्रृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ।।१८-२९।।

गुण बुद्धि और धृति के हैं तीन भेद पृथानंदन |
करूँ मैं विवरण पृथक पृथक सुनो अब युद्धिवन ||१८-२९||

भावार्थ: *हे अर्जुन, बुद्धि एवं धृति के गुणों के तीन भेद हैं| हे योद्धा, मैं उनका अब पृथक पृथक विवरण करता हूँ, सुनो|*

टीका: कर्म संग्रह के प्रभु ने तीन हेतु बताए हैं, करण, कर्म और कर्ता| इनमें कर्ता के ही सात्त्विक, राजस और तामस, यह तीन भेद होते हैं| करण इन्द्रियों में बुद्धि की ही प्रधानता रहती है और सभी इन्द्रियाँ बुद्धि के अनुसार ही काम करती हैं| बुद्धि के निश्चय एवं विचार को दृढ़ता से उचित स्थिर करने वाली और अपने लक्ष्य से विचलित न होने देने वाली धारण शक्ति का नाम धृति है| धारण शक्ति अर्थात् धृति के बिना बुद्धि अपने निश्चय पर दृढ़ नहीं रह सकती| इसलिये बुद्धि के साथ धृति के भी तीन भेद हैं| मनुष्य जो कुछ भी करता है, बुद्धि से ही

करता है अर्थात् उचित सोच समझ कर ही किसी कार्य में प्रवृत्त होता है| उस कार्य में प्रवृत्त होने के लिए उसको धैर्य की आवश्यकता होती है| उसकी बुद्धि में विचार शक्ति तीव्र रहती है और उसे धारण करने वाली शक्ति, धृति, उसकी बुद्धि को अपने निश्चित किए हुए लक्ष्य से विचलित नहीं होने देती| जब बुद्धि अपने लक्ष्य पर दृढ़ रहती है, तब मनुष्य का कार्य सिद्ध हो जाता है| साधकों के लिये कर्म प्रेरक और कर्म संग्रह का जो प्रकरण है, उसमें ज्ञान, कर्म और कर्ता की ही विशेष आवश्यकता है| साधक अपनी साधना में दृढ़ता पूर्वक लगा रहे, इसके लिये बुद्धि और धृति के भेद को जानने की विशेष आवश्यकता है, क्योंकि उनके भेद को ठीक से जानकर ही वह संसार से ऊँचा उठ सकता है| किस प्रकार की बुद्धि और धृति को धारण करके साधक संसार से ऊँचा उठ सकता है और किस प्रकार की बुद्धि और धृति के रहने से उसे ऊँचा उठने में बाधा हो सकती है, यह जानना साधक के लिये बहुत आवश्यक है| इसलिये भगवान् ने उन दोनों के भेद बताए हैं| भेद बताने में भगवान् का भाव है कि सात्त्विक बुद्धि और धृति से ही साधक ऊँचा उठ सकता है, राजसी एवं तामसी बुद्धि और धृति से नहीं|

भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि अपनी साधना में सात्त्विक बुद्धि और धृति को ग्रहण करके गुणातीत तत्व की प्राप्ति करना ही वास्तविक धन है| इसलिये तुम इस वास्तविक धन को धारण करो| इसी में तुम्हारे नाम की सार्थकता है|

भगवान् आगे कहते हैं कि बुद्धि भी एक है और धृति भी एक, परन्तु गुणों की प्रधानता से बुद्धि और धृति के भी सात्त्विक, राजस और तामस, यह तीन भेद हो जाते हैं| उनका मैं अब भली भांति विवेचन करूँगा| साधारण दृष्टि से देखने पर तो धृति भी बुद्धि का ही एक गुण दिखाई देती है| बुद्धि का एक गुण होते हुए भी धृति बुद्धि से अलग और विलक्षण है क्योंकि धृति स्वयं अर्थात् कर्ता में रहती है| उस धृति के कारण ही मनुष्य बुद्धि का उचित उपयोग कर सकता है| धृति जितनी श्रेष्ठ अर्थात् सात्त्विक होगी, साधक की बुद्धि उतनी ही स्थिर रहेगी| साधना में बुद्धि की जितनी आवश्यकता है, उतनी आवश्यकता मन की स्थिरता की नहीं है| अणिमा आदि सिद्धियों की प्राप्ति में मन की स्थिरता की आवश्यकता है परन्तु पारमार्थिक उन्नति में बुद्धि के अपने उद्देश्य पर स्थिर रहने की अधिक आवश्यकता है| साधक की बुद्धि भी सात्त्विक हो और धृति

भी सात्त्विक हो, तभी साधक अपनी साधना में दृढ़ता से लगा रहेगा| इसलिये इन दोनों के भेद जानने की आवश्यकता है|

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ।।१८-३०।।

देती ज्ञान जो बुद्धि प्रवृत्ति निवृत्ति पथ मोक्ष बंधन |
भय अभय कर्म अकर्म समझो उसे तुम सत पावन ||१८-३०||

भावार्थ: *जो बुद्धि प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग, बन्धन, मोक्ष, भय, अभय, कर्तव्य और अकर्तव्य का ज्ञान देती है, वह बुद्धि सात्त्विक एवं पवित्र है|*

टीका: साधक की प्रवृत्ति और निवृत्ति, यह दो अवस्थाएँ होती हैं| संसार का काम करना प्रवृत्ति अवस्था है| संसार का काम छोड़कर एकान्त में भजन, ध्यान करना निवृत्ति अवस्था है| इन दोनों में ही सांसारिक कामना सहित प्रवृत्ति और वासना सहित निवृत्ति, यह दोनों ही अवस्थाएँ प्रवृत्ति हैं अर्थात् संसार में लगाने वाली हैं| सांसारिक कामना रहित प्रवृत्ति और वासना रहित निवृत्ति, यह दोनों अवस्थाएँ निवृत्ति हैं अर्थात् परमात्मा की ओर ले जाने वाली हैं| इसलिये साधक इनको उचित प्रकार से समझ कर, कामना, वासना रहित प्रवृत्ति और निवृत्ति को ही ग्रहण करें| वास्तव में गहन दृष्टि से देखा जाए तो कामना, वासना रहित प्रवृत्ति और निवृत्ति भी यदि अपने सुख, आराम आदि के लिये की जाएं तो वह दोनों ही प्रवृत्ति हैं| वह दोनों ही संसार में बाँधने वाली हैं, उनसे अपना व्यक्तित्व नहीं मिटता| परन्तु यदि कामना, वासना रहित प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों केवल दूसरों के सुख, आराम और हित के लिये ही की जाएं तो वह दोनों ही निवृत्ति हैं, क्योंकि उन दोनों से ही अपना व्यक्तित्व नहीं रहता| प्रवृत्ति लोक हित के लिये और निवृत्ति परम विश्राम अर्थात् स्वरूप स्थिति को प्राप्त करने के लिए की जानी चाहिए|

शास्त्र, वर्ण, आश्रम की मर्यादा के अनुसार जो काम किया जाता है, वह नियत कार्य है| शास्त्र आदि की मर्यादा के विरुद्ध जो काम किया जाता है वह अकार्य

है| जिसको हम कर सकते हैं, अवश्य करना चाहिए और जिस के करने से जीव का कल्याण होता है, वह नियत कार्य अर्थात् कर्तव्य कहलाता है| जिसको हमें नहीं करना चाहिए तथा जिससे जीव का बन्धन होता है, वह अकार्य अर्थात् अकर्तव्य कहलाता है| जिसको हम नहीं कर सकते, वह अकर्तव्य नहीं कहलाता, वह असामर्थ्य कार्य कहलाता है|

साधक को भय और अभय के कारण को समझना चाहिए| जिस कर्म से परिणाम में अपना और संसार का अनिष्ट होने की सम्भावना है, वह कर्म भय अर्थात् भयदायक है| जिस कर्म से परिणाम में अपना और संसार का हित होने की सद्भावना है, वह कर्म अभय अर्थात् सब को अभय करने वाला है| मनुष्य जब करने योग्य कार्य से च्युत होकर अकार्य में प्रवृत्त होता है, तब उसके मन में अपनी हानि और निन्दा, अपमान आदि होने की आशंका से भय पैदा होता है| परन्तु जो अपनी मर्यादा से कभी विचलित नहीं होता, अपने मन से किसी का भी अनिष्ट नहीं चाहता और केवल परमात्मा में ही लगा रहता है, उसके मन में सदा अभय बना रहता है| यह अभय ही मनुष्य को सर्वथा अभयपद परमात्मा को प्राप्त करा देता है|

जो बाहर से तो यज्ञ, दान, तीर्थ, व्रत आदि उत्तम कार्य करता है परन्तु भीतर से असत्, जड़, नाशवान् पदार्थों को और स्वर्ग आदि लोकों की इच्छा रखता है, उसके लिये सभी कर्म 'बन्ध' अर्थात् बन्धन कारक होते हैं| केवल परमात्मा से ही सम्बन्ध रखना, परमात्मा के अतिरिक्त कभी किसी अवस्था में असत् संसार के साथ लेशमात्र भी सम्बन्ध न रखना, मोक्ष अर्थात् मोक्ष दायक है| जो वस्तुएँ साधक को नहीं मिली हैं, उनकी कामना होने से उनके अभाव का अनुभव होता है| यह साधक को उन वस्तुओं के परतन्त्र बना देता है| उन वस्तुओं के मिलने पर वह अपने को स्वतन्त्र मानता है| वह समझता तो यह है कि मेरे पास वस्तुएँ होने से मैं स्वतन्त्र हो गया हूँ, पर होता इसके विपरीत है| अभाव की परतन्त्रता प्रकट विष है और भाव की परतन्त्रता छिपा हुआ मीठा विष है, पर यह दोनों विष ही हैं| इसका निष्कर्ष है कि सांसारिक वस्तुओं की कामना से बन्धन होता है और परमात्मा के अतिरिक्त किसी वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति, देश, काल आदि की कामना न होने से मुक्ति होती है| यदि मन में

कामना है, तब वस्तु पास में हो तो बन्धन, और पास में न हो तो भी बन्धन| यदि मन में कामना नहीं है तब वस्तु पास में हो तो मुक्त और पास में न हो तो भी मुक्त| इस प्रकार जो प्रवृत्ति-निवृत्ति, कार्य-अकार्य, भय-अभय और बन्धन-मोक्ष के वास्तविक तत्व को जानता है, उसकी बुद्धि सात्त्विक है| जिसके साथ वास्तव में हमारा सम्बन्ध नहीं है, उस संसार के साथ सम्बन्ध न मानना और जिसके साथ हमारा स्वतः सिद्ध सम्बन्ध है, ऐसे (प्रवृत्ति, निवृत्ति आदि के आश्रय तथा प्रकाशक) परमात्मा को तत्व से उचित प्रकार से जानना, यही सात्त्विक बुद्धि के द्वारा वास्तविक तत्व को उचित प्रकार से जानना है|

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ।।१८-३१।।

नहीं समझे बुद्धि जो धर्म अधर्म कर्म अकर्म अर्जुन |
समझो है वह बुद्धि राजस दे आसक्ति भोग लौक्यन ||१८-३१||

भावार्थ: *हे अर्जुन, जो बुद्धि धर्म, अधर्म, कर्म, अकर्म को नहीं समझती, उसे राजस बुद्धि समझो| यह सांसारिक भोगों में आसक्ति देती है|*

टीका: शास्त्रों में जो कार्य करने का विधान है, वह धर्म है| शास्त्रों की आज्ञा का अनुसरण कर हमें इहलोक में शांति और परलोक में सद्गति मिलती है| इसके विपरीत शास्त्रों ने जिस कार्य का निषेध किया है, वह अधर्म है| शास्त्रों की अवज्ञा करने से इहलोक में दुःख एवं परलोक में दुर्गति मिलती है| उदाहरण के रूप में अपने माता, पिता, बड़े, बूढ़ों की सेवा करना, दूसरों को सुख पहुँचाना, दूसरों का हित करने की चेष्टा करना, अपने तन, मन, धन, योग्यता, पद, अधिकार, सामर्थ्य आदि का सदुपयोग करना, धर्म है| ऐसे ही कुआँ, बावड़ी खुदवाना, धर्मशाला, औषधालय बनवाना, देश, ग्राम के अनाथ तथा गरीब बालक, बालिकाओं और समाज की उन्नति के लिये अपनी वस्तुओं को आवश्यकतानुसार उनकी ही समझकर निष्काम भाव से उदारतापूर्वक व्यय करना, धर्म है| इसके विपरीत अपने स्वार्थ, सुख, आराम के लिये दूसरों की धन, सम्पत्ति, अधिकार, पद आदि छीनना, दूसरों का अपकार, अहित, हत्या आदि

करना, अपने तन, मन, धन, योग्यता, पद, अधिकार आदि के द्वारा दूसरों को दुःख पहुंचाना, अधर्म है| वास्तव में धर्म वह है जो जीव का कल्याण करे, और अधर्म वह है जो जीव को बन्धन में डाल दे|

वर्ण, आश्रम, देश, काल, लोक मर्यादा, परिस्थिति आदि के अनुसार शास्त्रों ने जिन कर्म को करने की आज्ञा दी है, वह कर्म हमारे लिये कर्तव्य हैं| इन नियत कर्तव्य का पालन न करना तथा न करने योग्य काम करना, अकर्तव्य है| जैसे भिक्षा माँगना, यज्ञ, विवाह कराना, दान दक्षिणा लेना, यह ब्राह्मण के लिये नियत कर्तव्य हैं पर क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के लिये अकर्तव्य हैं| इसी प्रकार शास्त्रों ने जिन वर्ण और आश्रमों के लिये जो कर्म निर्धारित किए हैं, वह सब उनके लिये कर्तव्य हैं, और जिनके लिये निषेध किया है, वह उनके लिये अकर्तव्य हैं| उदाहरण के लिए जहां आप जीविका हेतु कार्य करते हैं, वहां ईमानदारी से अपना पूरा समय देना, कार्य को सुचारु रूप से करना, मालिक का हित ही करना, यह सब कर्मकर के कर्तव्य हैं| अपने स्वार्थ, सुख और आराम में फँसकर कार्य को पूरा समय न देना, कार्य को तत्परता से न करना, मालिक को हानि पहुंचाना, यह सब कर्मकर के अकर्तव्य हैं| अगर आप राजकीय कर्मकर हैं, तो अभिमान का त्याग कर लोगों का हित करना, सबके सुख, आराम, शान्ति की व्यवस्था करना, आपका कर्तव्य है| अपने तुच्छ स्वार्थ में आकर राज्य को हानि पहुंचाना, लोगों को उनके अधिकार के लिए प्रताड़ित करना, दुःख देना आदि, अकर्तव्य हैं| कर्तव्य कर्म करते रहना ही सात्त्विक बुद्धि है|

राग होने से राजसी बुद्धि में स्वार्थ, पक्षपात, विषमता आदि दोष आ जाते हैं| इन दोषों के रहते हुए बुद्धि धर्म-अधर्म, कार्य-अकार्य, भय-अभय, बन्धन-मोक्ष आदि के वास्तविक तत्व को उचित प्रकार से नहीं समझ सकती| अतः किसी वर्ण, आश्रम के लिये एक परिस्थिति में जो धर्म है, वह उनके लिए कर्तव्य हो जाता है, और दूसरे वर्ण, आश्रम आदि के लिए अकर्तव्य हो जाता है| इसका ज्ञान जिस बुद्धि को उचित प्रकार से नहीं है, वह बुद्धि राजसी है| जब सांसारिक वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति, क्रिया, पदार्थ आदि में राग (आसक्ति) हो जाता है, तो वह राग दूसरों के प्रति द्वेष पैदा करने वाला हो जाता है| फिर जिसमें राग

हो जाता है उसके दोषों को और जिस में द्वेष हो जाता है, उसके गुणों को मनुष्य नहीं देख पाता| राग और द्वेष, इन दोनों से ही प्राणी संसार के साथ सम्बन्ध जुड़ता है| संसार के साथ सम्बन्ध जुड़ने पर मनुष्य संसार को नहीं समझ पाता| ऐसे ही परमात्मा से अलग रहने पर मनुष्य परमात्मा को नहीं समझ सकता| संसार से अलग होकर ही संसार को समझा जा सकता है, और परमात्मा से अभिन्न होकर ही परमात्मा को समझा जा सकता है| वह अभिन्नता चाहे प्रेमवश हो, चाहे ज्ञानवश| परमात्मा से अभिन्न होने में सात्त्विक बुद्धि ही काम करती है क्योंकि सात्त्विक बुद्धि में विवेक शक्ति जाग्रत् रहती है| परन्तु राजसी बुद्धि में वह विवेक शक्ति राग के कारण धुँधली रहती है| जैसे जल में मिट्टी घुल जाने से जल में स्वच्छता, निर्मलता नहीं रहती, ऐसे ही बुद्धि में रजोगुण आ जाने से बुद्धि में स्वच्छता, निर्मलता नहीं रहती, इसलिये धर्म, अधर्म आदि को समझने में कठिनता होती है| राजसी बुद्धि होने पर मनुष्य जिस विषय में प्रवेश करता है, उसको उस विषय को समझने में कठिनता होती है| उस विषय के गुण, दोषों को भली भांति समझे बिना वह ग्रहण और त्याग को अपने आचरण में नहीं ला सकता, अर्थात् वह ग्राह्य वस्तु को ग्रहण नहीं कर सकता और त्याज्य वस्तु का त्याग नहीं कर सकता|

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ।।१८-३२।।

अधर्म को धर्म समझ जो बुद्धि करे विपरीत करन |
है वह तामस बुद्धि घिरी हुई अवगुण हे अर्जुन ||१८-३२||

भावार्थ: *हे अर्जुन, जो बुद्धि अधर्म को धर्म समझकर (शास्त्रों के) विपरीत कर्म करती है, वह अवगुणों से घिरी बुद्धि तामसी है|*

टीका: प्रभु की निन्दा करना, शास्त्र, वर्ण, आश्रम और लोक मर्यादा के विपरीत काम करना, माता, पिता के साथ अच्छा बर्ताव न करना, सन्त, महात्मा, गुरु, आचार्य आदि का अपमान करना, झूठ, कपट, बेईमानी, अभक्ष्य भोजन, पर-स्त्री-गमन आदि शास्त्र निषिद्ध पाप कर्मों को धर्म मानना, यह सब अधर्म को

धर्म मानना है| अपने शास्त्र, वर्ण, आश्रम की मर्यादा में चलना, माता, पिता की आज्ञा का पालन करना तथा उनकी तन, मन, धन से सेवा करना, संत, महात्माओं के उपदेशों के अनुसार अपना जीवन बिताना, धार्मिक ग्रन्थों का पठन, पाठन करना, दूसरों की सेवा, उपकार करना, शुद्ध, पवित्र भोजन करना, शास्त्रविहित कर्मों को उचित मानना, यह धर्म है| तामसी बुद्धि वाले मनुष्यों के इसके विपरीत अधार्मिक विचार होते हैं| उनकी सोच होती है कि शास्त्रकारों ने, ब्राह्मणों ने अपने को महान बता कर, अनेक प्रकार के नियम बनाकर लोगों को बाँध दिया है, जिससे वह परतन्त्र हो गए हैं| जब तक शास्त्र रहेंगे, धार्मिक पुस्तकें रहेंगी, तब तक समाज का उत्थान नहीं हो सकता, अतः वह इन्हें नष्ट करने का प्रयास करते रहते हैं| वह मर्यादाओं को तोड़ने को ही धर्म मानते हैं|

आत्मा को स्वरूप न मान कर शरीर को ही स्वरूप मानना, ईश्वर को न मानकर दृश्य जगत् को ही सत्य मानना, दूसरों को तुच्छ समझ कर अपने को ही सबसे महान मानना, दूसरों को मूर्ख समझ कर अपने को ही विद्वान् मानना, संत, महात्मा द्वारा दी गईं मान्यताओं से अपनी मान्यताओं को श्रेष्ठ मानना, सात्विक सुख की ओर ध्यान न देकर वर्तमान में मिलने वाले संयोगजन्य सुख को ही सत्य मानना, न करने योग्य कार्य को ही अपना कर्तव्य समझना, अपवित्र वस्तुओं को ही पवित्र मानना, यह सम्पूर्ण वस्तुएं शास्त्र के विपरीत हैं, इन्हें ही कर्म मानना तामसी बुद्धि है| यह तामसी बुद्धि मनुष्य को अधोगति में ले जाने वाली होती है, 'अधो गच्छन्ति तामसाः'| इसलिये अपना उद्धार चाहने वाले साधक को इसका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए|

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ।।१८-३३।।

युक्त समता अव्यभिचारणी धृति धारित करे जो जन |
रखे संयमित मन इन्द्रिय क्रिया वह सत धृति अर्जुन ||१८-३३||

***भावार्थ**: हे अर्जुन, जो प्राणी समता से युक्त अव्यभिचारिणी धृति को धारण करता है, मन, इन्द्रियों एवं क्रियाओं को संयमित रखता है, वह धृति सात्त्विकी है|*

टीका: सांसारिक लाभ-हानि, जय-पराजय, सुख-दुःख, आदर-निरादर, सिद्धि-असिद्धि में सम रहने का नाम 'समता' है| परमात्मा को चाहने के साथ इस लोक में सिद्धि, असिद्धि, वस्तु, पदार्थ, सत्कार, पूजा आदि और परलोक में सुख भोग को चाहना 'व्यभिचार' है| इस लोक तथा परलोक के सुख, भोग, वस्तु, पदार्थ आदि की किंचित मात्र भी इच्छा न रखकर केवल परमात्मा को चाहना 'अव्यभिचार' है| यह अव्यभिचार जिसमें होता है, उसकी धृति 'अव्यभिचारिणी' कहलाती है| अपनी मान्यता, सिद्धान्त, लक्ष्य, भाव, क्रिया, वृत्ति, विचार आदि को दृढ़, अटल रखने की शक्ति का नाम धृति है| योग अर्थात् समता से युक्त इस अव्यभिचारिणी धृति के द्वारा मनुष्य मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओँ को धारण करता है| मन में राग, द्वेष को लेकर होने वाले चिन्तन से रहित होना, मन प्रभु को समर्पित करना, आदि मन की क्रियाओं को सात्विक धृति के द्वारा धारण किया जाता है| शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध, इन विषय इन्द्रियों को नियंत्रित करना, प्रभु सम्बन्धी विषय में प्रवृत्त होना, अकर्तव्य कर्मों से निवृत्त होना, आदि सत धृति के लक्षण हैं| प्रभु कहते हैं कि जिस धृति से मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओँ पर आधिपत्य हो जाता है, हे पार्थ वह धृति सात्त्विक है|

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसंगेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ।।१८-३४।।

फलेच्छा कर्म और आसक्ति काम धर्म धन जिन जन |
समझो उस धृति को राजसी धृति हे पृथानंदन ||१८-३४||

***भावार्थ**: हे अर्जुन, जिन प्राणियों की कर्म फल की इच्छा हो, धर्म, अर्थ और काम में आसक्ति हो, उस प्राणी की धृति को राजसी धृति समझो|*

टीका: राजसी धृति से मनुष्य अपनी कामना पूर्ति के लिये धर्म का अनुष्ठान करता है, काम अर्थात् भोग पदार्थों को भोगता है, धन का संग्रह करता है| स्वार्थ पूर्ति हेतु अमावस्या, पूर्णिमा आदि अवसरों पर दान करना, तीर्थों में अन्नदान करना, तीर्थ यात्रा करना, धार्मिक संस्थाओं में चन्दा देना, कथा आदि करवाना, यह सब राजसी धृति के लक्षण हैं| ऐसा विचार रखना कि सांसारिक भोग पदार्थ तो प्राप्त होने ही चाहिए क्योंकि भोग पदार्थों से ही सुख मिलता है, संसार में कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है जो भोग पदार्थों की कामना न करता हो, यदि मनुष्य भोगों की कामना न करे तो उसका जीवन व्यर्थ है, राजसी धृति है| राजसी धृति वाले प्राणी सोचते हैं कि यदि पास में धन न हो तो वह महान व्यक्ति नहीं है क्योंकि धन होने से ही लोग आदर, सम्मान करते हैं| अतः धन का संग्रह करना चाहिए| संसार में अत्यन्त राग (आसक्ति) होने के कारण राजस पुरुष शास्त्र की मर्यादा के अनुसार जो कुछ भी शुभ काम करता है, उसमें उसकी यही कामना रहती है कि इस कर्म का फल मुझे इस लोक में सुख, आराम, मान, सत्कार आदि के रूप में मिले और परलोक में सुख, भोग मिले| ऐसे फल की कामना वाले तथा संसार में अत्यन्त आसक्त मनुष्य की धारण शक्ति (धृति) राजसी होती है|

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुंचति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ।।१८-३५।।

न करे त्याग हेतु जिस धृति मद चिंता भय शयन |
देती वह दुःख समझो उसे तामसी धृति अर्जुन ||१८-३५||

भावार्थ: *हे अर्जुन, जिस धारण शक्ति के द्वारा मनुष्य निद्रा, भय, चिन्ता, और उन्मत्तता का त्याग न करे, वह दुःख देती है /उसे तामसी धृति (धारण शक्ति) समझो|*

टीका: तामसी धारण शक्ति (धृति)के कारण मनुष्य अधिक निद्रा, बाहर और भीतर का भय, चिन्ता और घमण्ड, इनका त्याग नहीं करता, प्रत्युत इन सब में

मग्न रहता है| वह कभी अधिक नींद में पड़ा रहता है, कभी मृत्यु, बीमारी, अपयश, अपमान, स्वास्थ्य, धन आदि के भय से भयभीत होता रहता है, कभी शोक, चिन्ता में डूबा रहता है, कभी अनुकूल पदार्थों के मिलने से घमण्ड में चूर रहता है, इत्यादि| निद्रा, भय, शोक आदि के अतिरिक्त प्रमाद, अभिमान, दम्भ, द्वेष, ईर्ष्या आदि दुर्गुणों को तथा हिंसा, दूसरों का अपकार करना, उनको कष्ट देना, उनके धन का किसी तरह से अपहरण करना आदि दुर्गुणों को वह धारण करता है| यह धृति तामसी होती है|

सात्त्विक, राजस और तामस, इन तीनों धृतियों के वर्णन में राजस और तामस धृति में तो फल आकांक्षा का उल्लेख करते हुए कर्ता का उल्लेख किया है, पर सात्त्विक धृति में कर्ता का उल्लेख नहीं किया| इसका कारण है कि सात्त्विक धृति में कर्ता निर्लिप्त रहता है, अर्थात् उसमें कर्तृत्व का लेप नहीं होता, परन्तु राजस और तामस धृति में कर्ता लिप्त होता है| सात्त्विक मनुष्य की धृति (धारण शक्ति) में विवेक स्पष्ट प्रकट होता है कि उसे तो केवल परमात्मा की ओर ही जाना है| राजस मनुष्य की धृति में संसार के पदार्थों और भोगों में राग की प्रधानता होने के कारण विवेक वैसा स्पष्ट नहीं होता| उसे इस लोक में सुख, आराम, मान, आदर मिले और परलोक में अच्छी गति मिले, भोग मिले, यही कामना होती है और उसी के अनुसार आचरण करता है| परन्तु तामस मनुष्य की धृति में विवेक बिलकुल नहीं होता| तामस भावों में उसकी इतनी दृढ़ता हो जाती है कि उसे उन भावों को धारण करने की आवश्यकता ही नहीं रहती| वह तो निद्रा, भय आदि तामस भावों में ही रहता है| पारमार्थिक मार्ग क्रिया करने का उसका उद्देश्य नहीं होता| भगवान् अर्जुन को यहां चेताते हुए कहते हैं कि हे पृथानन्दन, लौकिक वस्तुओं और व्यक्तियों के लिये चिन्ता न कर| अपने लक्ष्य को दृढ़ता से धारण किए रह| राजस एवं तामस भाव न आने पायें, इसके लिये निरन्तर सजग रह|

सुखं त्विदानीं त्रिविधं श्रृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यसाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ।।१८-३६।।
यत्तदग्रे विषमिद परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ।।१८-३७।।

कैसे मिले त्रिप्रकार सुख सुनो मेरे मुख भरत महन।
करके अभ्यास जिन हो अंत दुःख नाचे हृदय रमन ||१८-३६||
यद्यपि लगे सम विष प्रथम पर दे फल सम सुधा पावन।
है यह सत सुख प्रसाद जो करे उत्पन्न तत्व-भगवन ||१८-३७||

भावार्थ: *हे श्रेष्ठ भरत, मेरे मुख से सुनो कि तीन प्रकार के सुख कैसे प्राप्त हों जिनके अभ्यास करने से दुःख का अंत होता है और हृदय रमण करता है| आरम्भ में यद्यपि यह विष के तुल्य प्रतीत होते हैं, परंतु परिणाम में पावन अमृत के तुल्य हैं| यह परमात्म-तत्व को उत्पन्न करने वाला सुख सात्त्विक प्रसाद है|*

टीका: प्रभु द्वारा अर्जुन को श्रेष्ठ भरत कहने का भाव है कि भरतवंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन तुम राजस, तामस सुखों में लुब्ध या मोहित होने वाले नहीं हो| तुमने राजस और तामस, दोनों ही प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त कर ली है|

प्रभु कहते हैं कि जिस प्रकार ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि और धृति के तीन भेद होते हैं, उसी प्रकार सुख के भी तीन भेद होते हैं| सुख के भेद जानने से पहले यह भी जानना आवश्यक है कि पारमार्थिक मार्ग पर चलने वाले साधक के लिए सुख की इच्छा ही परमात्म-तत्व का अनुभव न होने में सबसे बड़ी बाधा है| सात्त्विक सुख भी आसक्ति के कारण बन्धन कारक होता है| इसका तात्पर्य है कि साधनाजन्य ध्यान और एकाग्रता का सुख भी बन्धन कारक होता है| यहां तक कि समाधि का सुख भी परमात्म-तत्व की प्राप्ति में बाधक होता है, 'सुखसङ्गेन बध्नाति'| साधक जब सुख का भोग नहीं करता तब वह अक्षय स्वतः स्वाभाविक स्थिति की प्राप्ति कर लेता है|

प्रायः प्राणी रात दिन राजस और तामस सुख की इच्छा और उसके भोग में ही में लगे रहते हैं| वह इसी को वास्तविक सुख मानते हैं| इस का कारण है कि वह यह समझ ही नहीं पाते कि सांसारिक भोगों से ऊँचा उठकर भी कोई सुख है, प्राणों के मोह से ऊँचा उठकर भी कोई सुख है, राजस और तामस सुख से आगे भी एक सात्त्विक सुख है| इसलिये भगवान् कहते हैं कि सुख भी तीन प्रकार का होता है, इसे भली भांति समझो| उसमें सात्त्विक सुख को ग्रहण करो

और राजस एवं तामस सुखों का त्याग करो| इसका कारण है कि सात्त्विक सुख परमात्मा की ओर मन लगाने में सहायता करने वाला होता है, और राजस एवं तामस सुख संसार में फँसाकर पतन कराने वाले होते हैं|

सात्त्विक सुख में अभ्यास से हृदय में प्रसन्नता रहती है| अभ्यास के बिना इस सात्विक सुख का अनुभव नहीं होता| राजस और तामस सुख में अभ्यास नहीं करना पड़ता, उसमें तो प्राणी का स्वतः स्वाभाविक आकर्षण होता है| राजस एवं तामस सुख में इन्द्रियों का विषयों की ओर, मन बुद्धि का भोग संग्रह की ओर तथा थकावट होने पर निद्रा आदि की ओर स्वतः आकर्षण होता है| विषयजन्य, अभिमानजन्य, प्रशंसाजन्य और निद्राजन्य सुख सभी प्राणियों को स्वतः ही अच्छे लगते हैं| राजस और तामस सुख में अभ्यास की आवश्यकता नहीं है क्योंकि इस सुख को तो सभी प्राणी सभी योनियों में भोग लेते हैं| सात्त्विक सुख का अभ्यास उसी प्रकार आवश्यक है जैसे श्रवण, मनन में, शास्त्रों को समझने में, राजसी एवं तामसी वृत्तियों को हटाने में अभ्यास आवश्यक है| जिस राजस और तामस सुख में प्राणी की स्वतः स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, उससे भिन्न नई प्रवृत्ति करने का नाम अभ्यास है| सात्त्विक सुख में अभ्यास करना तो आवश्यक है, पर रमण करना बाधक है| प्रभु का तात्पर्य यहां सात्विक सुख के भोग से नहीं है, प्रत्युत सात्त्विक सुख में अभ्यास करने से है|

सात्त्विक सुख के अभ्यास में ज्यों ज्यों रुचि, प्रियता बढ़ती जाती है, उससे परमात्म-तत्व में रुचि, प्रियता, प्रवृत्ति बढ़ती जाती है| इसके परिणाम से दुःखों का नाश होता है और प्रसन्नता, सुख तथा आनन्द बढ़ते जाते हैं|

जो उत्पन्न होता है, वह नष्ट भी अवश्य होता है| उसी प्रकार सुख भी यदि परमात्म-तत्व की प्राप्ति के अतिरिक्त किसी और ध्येय से किसी प्रकार उत्पन्न हुआ है, तो उससे दुःखों का अन्त नहीं हो सकता| इसलिये सात्त्विक सुख में भी आसक्ति नहीं होनी चाहिए| परमात्म-तत्व में ही सात्त्विक सुख देखने से मनुष्य दुःखों के अन्त को प्राप्त हो जाता है, गुणातीत हो जाता है|

जिस बुद्धि में सांसारिक मान, सम्मान, धन संग्रह, विषयजन्य सुख आदि का महत्व नहीं रहता, केवल परमात्म-तत्व विषय का विचार ही रहता है, उस बुद्धि की प्रसन्नता अर्थात् स्वच्छता से यह सात्त्विक सुख उत्पन्न होता है| इसका तात्पर्य है कि सांसारिक संयोगजन्य सुख से सर्वथा उपरत होकर परमात्मा में बुद्धि के विलीन होने पर जो सुख होता है, वह सुख सात्त्विक है|

आरम्भ में सात्त्विक सुख परोक्ष होता है अर्थात् उसका अनुभव नहीं होता| आरम्भ में सात्त्विक सुख का केवल उद्देश्य बनाया जाता है| राजस और तामस सुख का सदैव सांसारिक सुख रूप में अनुभव होता रहता है, इसलिये अनुभवजन्य राजस और तामस सुख का त्याग करने में कठिनता आती है, और लक्ष्य रूप में जो सात्त्विक सुख है, उसकी प्राप्ति के लिये अभ्यास की आवश्यकता होती है| आरम्भ में यह विष की भांति लगता है| स्मरण रहे कि राजस और तामस सुख को प्राणी अनेक योनियों में भोगता आया है, और इस जन्म में भी भोग रहा है, अतः उस भोगे हुए सुख की स्मृति आने से राजस और तामस सुख में स्वाभाविक ही मन लग जाता है| परन्तु सात्त्विक सुख भोगा हुआ नहीं है इसलिये इसमें शीघ्र मन नहीं लगता| इस कारण सात्त्विक सुख आरम्भ में विष की भांति लगता है, पर वास्तव में सात्त्विक सुख विष की भांति नहीं है, प्रत्युत राजस और तामस सुख का त्याग विष की भांति होता है| जैसे बालक को खेल कूद छोड़ कर पढ़ाई में लगाया जाए तो उसको पढ़ाई में बंदी की भांति अभ्यास करना पड़ता है| उसको पढ़ाई विष की भांति लगती है| परन्तु वही बालक जब निरंतर पढ़ता रहे और परीक्षाओं में अच्छे अंकों से उत्तीर्ण हो, तो उसका पढ़ाई में मन लग जाता है अर्थात् उसको पढ़ाई अच्छी लगने लग जाती है, उसको पढ़ाई के अभ्यास में रुचि, प्रियता लगने लगती है| वास्तव में देखा जाए तो सात्त्विक सुख आरम्भ में विष की भांति उन्हीं लोगों को लगता है जिनका राजस और तामस सुख में राग है| परन्तु जिनका सांसारिक भोगों से स्वाभाविक वैराग्य है, जिनकी पारमार्थिक शास्त्राध्ययन, सत्संग, भगवद-कथा, कीर्तन, साधन, भजन आदि में स्वाभाविक रुचि है और जिनके ज्ञान, कर्म, बुद्धि और धृति सात्त्विक हैं, उन साधकों को यह सात्त्विक सुख आरम्भ से ही अमृत की भांति आनन्द देने वाला होता है| उनको इसमें कष्ट, परिश्रम, कठिनता आदि का अनुभव नहीं होता|

साधन करने से साधक में सत्त्वगुण आता है| सत्त्वगुण के आने पर इन्द्रियों और अन्तःकरण में स्वच्छता, निर्मलता, ज्ञान दीप्ति, शान्ति, निर्विकारता आदि सद्भाव सद्गुण प्रकट हो जाते हैं| इन सद्गुणों का प्रकट होना ही सात्त्विक सुख के परिणाम में अमृत की भांति होना है| इसका उपभोग न करने से अर्थात् इसमें रस न लेने से वास्तविक अक्षय सुख की प्राप्ति हो जाती है| इस प्रकार परिणाम में सात्त्विक सुख राजस और तामस सुख से ऊँचा उठाकर जड़ता से सम्बन्ध विच्छेद करा देता है और इसमें आसक्ति न होने से यह अन्त में परमात्मा की प्राप्ति करा देता है, इसलिये यह परिणाम में अमृत की भांति है| सत्संग, स्वाध्याय, संकीर्तन, जप, ध्यान, चिन्तन आदि से जो सुख प्राप्त होता है, वह न तो मान, सम्मान, धन भोग आदि विषयेन्द्रिय के भोग से होता है और न ही प्रमाद, आलस्य, निद्रा से सम्बंधित होता है| वह तो परमात्मा के सम्बन्ध का ही होता है, इसलिये वह सुख सात्त्विक कहा गया है|

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ।।१८-३८।।

हो उत्पन्न जो सुख हेतु विषय इन्द्रिय भोग भूजन |
दे प्रथम फल सम सुधा पर अंत सम राजस गरलिन् ||१८-३८||

भावार्थ: *जो सुख प्राणियों में विषय और इन्द्रियों के संयोग से उत्पन्न होता है, वह पहले अमृत के तुल्य प्रतीत होता है, पर उसका अंत विष तुल्य राजस है|*

टीका: प्रभु ने कहा है कि विषयों और इन्द्रियों के संयोग से होने वाला जो सुख है, उसमें अभ्यास नहीं करना पड़ता| इसका कारण है कि प्राणी को प्रत्येक योनि में विषयों और इन्द्रियों के संयोग से होने वाले सुख का पहले से ही अनुभव होता है| शब्द, स्पर्श आदि पाँचों विषयों का सुख पशु, पक्षी, कीट, पतंगा आदि सभी प्राणियों को मिलता है| अतः उस सुख में प्राणी का स्वाभाविक अभ्यास रहता है| मनुष्य का बचपन से ही अनुकूलता में प्रसन्नता और प्रतिकूलता में दुःखी होना स्वाभाविक होता है| इसलिये इस राजस सुख में अभ्यास की आवश्यकता नहीं है|

राजस सुख को आरम्भ में अमृत की भाँति कहने का भाव है कि सांसारिक विषयों की प्राप्ति की सम्भावना के समय मन में जितना सुख होता है, उतना सुख विषयों के मिलने पर नहीं रहता| विषयों के मिलने पर भी आरम्भ में (संयोग होते ही) जैसा सुख होता है, थोड़े समय के बाद वैसा सुख नहीं रहता और उस विषय को भोगते भोगते जब भोगने की शक्ति क्षीण हो जाती है, उस समय सुख नहीं होता प्रत्युत विषय भोग से अरुचि हो जाती है| भोग भोगने की शक्ति क्षीण होने के बाद भी अगर विषयों को भोगा जाए तो दुःख होता है| इसलिये यह राजस सुख आरम्भ में अमृत की भाँति दिखता है| अमृत की भाँति कहने का दूसरा भाव यह है कि जब मन विषयों में प्राणी आकर्षित होता है, तब मन को यह विषय बड़े प्रिय लगते हैं| विषयों और भोगों की बातें सुनने में जितना रस आता है, उतना भोगों में भी नहीं आता| राजस पुरुष स्वर्ग के भोगों का सुख सुनते हैं तो उनको वह सुख बड़ा प्रिय लगता है और वह उसके लिये ललचा उठते हैं| इसका तात्पर्य है कि उन्हें स्वर्ग के सुख दूर से सुनकर तो बड़े प्रिय लगते हैं, परन्तु स्वर्ग में जाकर सुख भोगने से उनको उतना सुख नहीं मिलता| वह उतना प्रिय नहीं लगता|

राजस पुरुषों को आरम्भ में विषय निःसंदेह प्रिय लगते हैं, परन्तु उनको भोगते भोगते परिणाम में जब वह सुख नीरसता में परिणत हो जाता है तब उस सुख में अरुचि हो जाती है| तब वही सुख विष की भांति प्रतीत होता है| संसार में जितने प्राणी चौरासी लाख योनियों और नर्कों में पड़े हुए हैं, उसका कारण कुछ और नहीं अपितु उनके विषय भोग के प्रति रूचि रही है| स्मरण रहे कि पदार्थों के संयोग से जितना अधिक सुख मिलता है, उतना ही उनके अभाव से दुःख होता है| जिस पदार्थ की कामना होती है, उसकी प्राप्ति के लिये मनुष्य परिश्रम करते हैं| परिश्रम करने पर भी वस्तु मिलेगी या नहीं, इसमें संदेह रहता है| वस्तु न मिले तो उसके अभाव का दुःख होता है| वस्तु मिल जाए तो उस वस्तु को और भी अधिक प्राप्त करने की इच्छा हो जाती है| इस प्रकार इच्छा पूर्ति नई इच्छा का कारण बन जाती है, और इच्छा पूर्ति तथा फिर इच्छा की उत्पत्ति, यह क्रम चलता ही रहता है| इसका कभी अन्त नहीं होता| इसका तात्पर्य यह है कि इच्छा कभी मिटती नहीं और इच्छा के रहते हुए अभाव में मन दुःखी रहता है| साधारणतः सुख भोगने के पश्चात सुख की इच्छा समाप्त हो जानी चाहिए, परन्तु राजस सुख विष की तरह समाप्त नहीं होता| राजस सुख विष की भाँति कई

जन्मों तक दुःख देता रहता है| राजस सुख लेने वाले रागी पुरुष शुभ कर्म करके यदि स्वर्ग में भी चला जाएं, तो वहां भी उनको सुख, शान्ति नहीं मिलती| स्वर्ग में भी अपने से ऊँची श्रेणी वालों को देखकर उन्हें ईर्ष्या होती है, समान पद वालों को देख कर दुःख होता है कि यह हमारे समान पद पर कैसे बैठे हैं, और नीची श्रेणी वालों को देखकर अभिमान होता है| इस प्रकार उनके मन में ईर्ष्या, दुःख और अभिमान के कारण उन्हें सुख और शान्ति नहीं मलती| पुण्यों के क्षीण हो जाने पर उनको पुनः मृत्युलोक में आना पड़ता है, 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'| यहाँ आकर फिर शुभ कर्म करता है तब फिर स्वर्ग का वास पाता है, इस प्रकार जन्म-मरण के व्यूह में पड़ा ही रहता है, 'गतागतं कामकामा लभन्ते'| चूँकि वह राग के कारण पाप कर्मों में लग जाता है, अतः परिणाम में चौरासी लाख योनियों और नर्कों में पड़ता हुआ न जाने कितने जन्मों तक जन्म-मरण के चक्र में रहता है| इसलिये इस सुख को विष की भाँति कहा गया है|।

स्मरण रहे कि पहली योनियों में भी मनुष्य ने राजस सुख के फल रूप में दुःख पाया है, परन्तु राग के कारण वह संयोग की ओर पुनः ललचा उठता है| इसका कारण है कि संयोग का प्रभाव उस पर अभी भी है और परिणाम के प्रभाव को उसने स्वीकारा नहीं है| जिसकी वृत्ति जितनी सात्त्विक होती है, वह उतना ही प्रत्येक विषय के परिणाम की ओर देखता है| वह तात्कालिक सुख की ओर नहीं जाता| इसलिये साधक को संसार से विरक्त हो जाना चाहिए, राजस सुख में नहीं फँसना चाहिए|

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ।।१८-३९।।

हुआ उत्पन्न जो सुख हेतु निंद्रा आलस्य प्रमाद जन |
करे मोहित प्रथम पर दे फल वह तामस हे अर्जुन ||१८-३९||

भावार्थ: *हे अर्जुन, जो सुख प्राणियों में निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न होता है, वह आरम्भ में मोहित करता है, पर वह तामस फल देता है|*

टीका: जब मनुष्य में राग अत्यधिक बढ़ जाता है, तब वह तमोगुण का रूप धारण कर लेता है| इसी को मोह कहते हैं| इस मोह के कारण मनुष्य को अधिक सोना अच्छा लगता है| तन्द्रा में तामस मनुष्य का बहुत समय व्यर्थ जाता है| परन्तु तामस मनुष्य को इसी से ही सुख मिलता है, इसलिये इस सुख को निद्रा से उत्पन्न बताया है| जब तमोगुण अधिक बढ़ जाता है, तब मनुष्य की वृत्तियाँ आलस्य में लिप्त हो जाती हैं| आलस्य अवस्था में उसको सुख प्रतीत होता है| परन्तु आलस्य के कारण वह निकम्मा हो जाता है जिससे उसकी इन्द्रियों और अन्तःकरण में शिथिलता आ जाती है| मन में संसार का व्यर्थ चिन्तन होता रहता है| मन में अशान्ति, शोक, विषाद, चिन्ता, दुःख आदि का अनुभव होता रहता है| जब इससे भी अधिक तमोगुण बढ़ जाता है, तब मनुष्य प्रमाद करने लग जाता है| वह प्रमाद दो प्रकार का होता है, अक्रिय प्रमाद और सक्रिय प्रमाद| घर, परिवार, शरीर आदि के आवश्यक कार्यों को न करना और व्यर्थ बैठे रहना, अक्रिय प्रमाद है| व्यर्थ क्रियाएँ (देखना, सुनना, सोचना आदि) करना, धूम्रपान, मदिरा, भाँग, तम्बाकू, आदि दुर्व्यसनों में लग जाना, चोरी, डकैती, झूठ, कपट, बेईमानी, व्यभिचार, अभक्ष्य भक्षण आदि दुराचारों में लग जाना, सक्रिय प्रमाद है| प्रमाद के कारण तामस पुरुषों को निरर्थक समय व्यर्थ करने में तथा झूठ, कपट, बेईमानी आदि करने में सुख मिलता है| पाप रूप प्रमाद से उनको घोर नर्कों की प्राप्ति होती है| जब तमोगुणी प्रमाद वृत्ति आती है, तब वह सत्त्वगुण के विवेक ज्ञान को ढक देती है| जब तमोगुणी निद्रा, आलस्य वृत्ति आती है, तब वह सत्त्वगुण के प्रकाश को ढक देती है| विवेक ज्ञान के ढकने पर प्रमाद होता है तथा प्रकाश के ढकने पर आलस्य और निद्रा आती है| तामस पुरुष को निद्रा, आलस्य और प्रमाद, इन तीनों वृत्तियों से सुख मिलता है| इसलिये तामस सुख को इन तीनों से उत्पन्न बताया गया है| चूंकि तामस पुरुष को इन्हीं में सुख प्रतीत होता है, इसलिये यह तामस सुख आदि और अन्त में मोहित करने वाला होता है|

स्मरण रहे कि जब प्राणी असत् वस्तु की इच्छा करता है तब उस इच्छा से स्वतः स्वाभाविक आनन्द, सुख ढक जाता है| जब असत् वस्तु की इच्छा मिट जाती है, तब उस इच्छा के मिटते ही स्वतः स्वाभाविक सुख प्रकट हो जाता है| नित्य, निरन्तर रहने वाला जो सुख रूप तत्व है, उसमें जब सात्त्विक बुद्धि तल्लीन हो

जाती है, तब बुद्धि में स्वच्छता, निर्मलता आ जाती है| उस स्वच्छ और निर्मल बुद्धि से अनुभव में आने वाला यह स्वाभाविक सुख ही सात्त्विक कहलाता है| बुद्धि से भी जब सम्बन्ध छूट जाता है, तब वास्तविक सुख रह जाता है| सात्त्विक बुद्धि के सम्बन्ध से ही उस सुख की सात्त्विक संज्ञा होती है| बुद्धि से सम्बन्ध छूटते ही उसकी सात्त्विक संज्ञा नहीं रहती| मन में जब मनोवांछित वस्तु मिल जाती है, तब वह वस्तु मन से निकल जाती है अर्थात् वस्तु का मन में जो आकर्षण था, वह समाप्त हो जाता है| उसके निकलते ही, अर्थात् वस्तु से सम्बन्ध विच्छेद होते ही वस्तु के अभाव का जो दुःख था, वह निवृत्त हो जाता है और नित्य रहने वाले स्वतः सिद्ध सुख का तात्कालिक अनुभव हो जाता है| वास्तव में यह सुख वस्तु के मिलने से नहीं हुआ है, प्रत्युत राग के तात्कालिक मिटने से हुआ है| पर राजस पुरुष भूल से उस सुख को वस्तु के मिलने से होने वाला मान लेता है| वास्तव में देखा जाए तो वस्तु का संयोग बाहर से होता है और प्रसन्नता भीतर से होती है| भीतर से जो प्रसन्नता होती है, वह बाहर के संयोग से पैदा नहीं होती, प्रत्युत भीतर (मन में) बसी हुई वस्तु के साथ जो सम्बन्ध था, उस वस्तु से सम्बन्ध विच्छेद होने पर पैदा होती है| इसका तात्पर्य यह है कि वस्तु के मिलते ही, अर्थात् बाहर से वस्तु का संयोग होते ही भीतर से उस वस्तु से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है और सम्बन्ध विच्छेद होते ही नित्य रहने वाले स्वाभाविक सुख का आभास हो जाता है| जब नींद में बुद्धि तमोगुण में लीन हो जाती है, तब बुद्धि की स्थिरता को लेकर वह सुख प्रकट हो जाता है| इसका कारण है कि तमोगुण के प्रभाव से नींद में जाग्रत् और स्वप्न के पदार्थों की विस्मृति हो जाती है| पदार्थों की स्मृति दुःखों का कारण है| पदार्थों की विस्मृति होने से निद्रावस्था में पदार्थों का वियोग हो जाता है तो उस वियोग के कारण स्वाभाविक सुख का आभास होता है, इसी को निद्रा का सुख कहते हैं| परन्तु बुद्धि की मलिनता से वह स्वाभाविक सुख जैसा है, वैसा अनुभव में नहीं आता| इसका तात्पर्य है कि बुद्धि के तमोगुणी होने से बुद्धि में स्वच्छता नहीं रहती और स्वच्छता न रहने से वह सुख स्पष्ट अनुभव में नहीं आता| इसलिये निद्रा के सुख को तामस कहा गया है| इन सब का तात्पर्य यह है कि सात्त्विक मनुष्य को संसार से विमुख होकर तत्व में बुद्धि के तल्लीन होने से सुख होता है, राजस मनुष्य को राग के कारण अन्तःकरण में बसी हुई वस्तु के बाहर निकलने से सुख होता है, और तामस मनुष्य को वस्तुओं के लिये किए जाने

वाले कर्तव्य कर्मों की विस्मृति से और निरर्थक क्रियाओं में लगने से सुख होता है| इससे यह सिद्ध हुआ कि जो नित्य, निरन्तर रहने वाला सुख रूप तत्व है, वह असत्य के सम्बन्ध से आच्छादित रहता है| विवेक पूर्वक असत्य से सम्बन्ध विच्छेद हो जाने पर, राग वाली वस्तुओं के मन से निकल जाने पर और बुद्धि के तमोगुण में लीन हो जाने पर जो सुख होता है, वह उसी सुख का आभास है| इसका तात्पर्य यह हुआ कि संसार से विवेक पूर्वक विमुख होने पर सात्त्विक सुख, भीतर से वस्तुओं के निकलने पर राजस सुख और मूढ़ता से निद्रा, आलस्य में संसार को भूलने पर तामस सुख होता है| परन्तु वास्तविक सुख तो प्रकृतिजन्य पदार्थों से सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद से ही होता है| इन सुखों में जो प्रियता, आकर्षण और (सुख का) भोग है, वही पारमार्थिक उन्नति में बाधा देने वाला और पतन करने वाला है| इसलिये पारमार्थिक उन्नति चाहने वाले साधकों को इन तीनों सुखों से सम्बन्ध विच्छेद करना अत्यन्त आवश्यक है|

न तदस्ति पृथिव्यां व दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिःस्यात्त्रिभिर्गुणैः ।।१८-४०।।

है नहीं कोई सत्व भू नभ देवलोक या अन्य अध्यासन |
हो उत्पन्न प्रकृति रहित त्रिगुण जानो यह प्रचोदन ||१८-४०||

भावार्थ: *पृथ्वी, आकाश, देवलोक या किसी भी स्थान (लोक) में ऐसा कोई भी सत्त्व नहीं है, जो प्रकृति से उत्पन्न इन तीनों गुणों से रहित हो, यह विधि नियम जानो|*

टीका: भगवान् ने कहा है कि जो त्यागी नहीं हैं, उन्हें अनिष्ट, इष्ट और मिश्र, यह तीन प्रकार का कर्मों का फल मिलता है| जो त्यागी हैं, संन्यासी हैं, उन्हें कोई कर्म फल नहीं मिलता| उन्होंने सांख्ययोग के प्रकरण में कर्मों के होने में अधिष्ठान आदि पाँच हेतु बताए हैं| फिर उन्होंने कर्तृत्व और कर्तृत्व के त्याग के विषय में बताया है| तद्पश्चात कर्म प्रेरणा और कर्म संग्रह का वर्णन किया है| साथ में यह भी बताया है कि जो वास्तविक तत्व है, वह न कर्म प्रेरक है और न कर्म संग्रहक| कर्म प्रेरणा और कर्म संग्रह तो प्रकृति के गुणों के साथ सम्बन्ध

रखने से होते हैं| प्रभु ने गुणों के अनुसार ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि, धृति और सुख के तीन भेदों का वर्णन भी किया है| सुख का वर्णन करते हुए यह बताया है कि प्रकृति के साथ किंचित सम्बन्ध न रखते हुए जो सुख मिलता है, वह सात्त्विक होता है| जो स्वरूप का वास्तविक सुख है, वह गुणातीत, विलक्षण, अलौकिक है| सात्त्विक सुख को आत्म बुद्धि प्रसाद कहकर भगवान् ने उसको जन्य (उत्पन्न होने वाला) बताया है| साधारणतः जन्य वस्तु नित्य नहीं होती, यहां प्रभु द्वारा जन्य बताने का तात्पर्य है कि उस जन्य सुख से भी ऊपर उठना है, अर्थात् प्रकृति और प्रकृति के तीनों गुणों से रहित होकर उस परमात्म-तत्व को प्राप्त करना है जो सब का अपना स्वाभाविक स्वरूप है| इसलिये प्रभु कहते हैं कि मृत्युलोक, आकाशलोक, देवलोक अथवा अन्य लोक, उन स्थानों में रहने वाले मनुष्य, देवता, असुर, राक्षस, नाग, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, वृक्ष आदि सभी चर, अचर प्राणियों में रहने वाली कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो प्रकृति से उत्पन्न तीन गुणों से रहित हो, अर्थात् सब त्रिगुणात्मक हैं| प्रकृति और प्रकृति का कार्य, यह सब त्रिगुणात्मक और परिवर्तनशील है| इनसे सम्बन्ध जोड़ने से ही बन्धन होता है और इनसे सम्बन्ध विच्छेद करने से ही मुक्ति प्राप्त होती है| स्वरूप 'स्व' है और प्रकृति 'पर' है| प्रकृति से सम्बन्ध जुड़ते ही अहंकार पैदा हो जाता है, जो पराधीनता देने वाला है| यह एक विचित्र बात है कि अहंकार में स्वाधीनता प्रतीत होती है| वास्तव में पराधीनता अहंकार से प्रकृतिजन्य पदार्थों में आसक्ति, कामना आदि के कारण होती है| इसलिये साधक को प्रकृतिजन्य गुणों से रहित होना आवश्यक है| प्रकृतिजन्य गुणों में रजोगुण और तमोगुण का त्याग करके सत्त्वगुण बढ़ाने की आवश्यकता है| सत्त्वगुण में भी प्रसन्नता और विवेक तो आवश्यक है परन्तु सात्त्विक सुख और ज्ञान की आसक्ति नहीं होनी चाहिए क्योंकि सुख और ज्ञान की आसक्ति बाँधने वाली होती है| इसलिये इनकी आसक्ति का त्याग करके सत्त्वगुण से प्राणी को ऊँचा उठना चाहिए| साधक को सात्त्विक ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि, धृति और सुख, इन पर ध्यान देकर इनके अनुरूप अपना जीवन बनाना चाहिए और सावधानी से राजस एवं तामस वृत्ति का त्याग करना चाहिए| इनका त्याग करने में सावधानी ही साधन है| सावधानी से सब साधन स्वतः प्रकट होते हैं| प्रकृति से सम्बन्ध विच्छेद करने में सात्त्विकता बहुत आवश्यक है| इसका कारण है कि इसमें प्रकाश अर्थात् विवेक जाग्रत् रहता है, जिससे प्रकृति से मुक्त होने में बड़ी सहायता मिलती है|

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ।।१८-४१।।

ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र हुए स्व-कर्म उत्पन्न |
इन त्रिगुणों से किए शास्त्र विभक्त उनके जीवन ||१८-४१||

भावार्थ: *ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कर्मों के अनुसार उत्पन्न हुए| इन तीन गुणों से शास्त्रों ने उनका जीवन विभक्त किया है|*

टीका: मनुष्य जो कुछ भी कर्म करता है, उसके अन्तःकरण में उस कर्म के संस्कार पड़ते हैं और उन संस्कारों के अनुसार उसका स्वभाव बनता है| इस प्रकार कर्मों के संस्कारों के अनुसार मनुष्य का जैसा स्वभाव होता है, उसी के अनुसार उसमें सत्त्व, रजस और तमस, इन तीनों गुणों की वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं| इन गुण वृत्तियों के तारतम्य के अनुसार ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के कर्मों का शास्त्रों द्वारा विभाग किया गया है|

कर्म दो प्रकार के होते हैं, (१) जन्मारम्भक कर्म और (२) भोगदायक कर्म| जिन कर्मों से ऊँच, नीच योनियों में जन्म होता है, वह जन्मारम्भक कर्म कहलाते हैं और जिन कर्मों से सुख, दुःख का भोग होता है, वह भोगदायक कर्म कहलाते हैं| भोगदायक कर्म अनुकूल, प्रतिकूल परिस्थिति को पैदा करते हैं, जिन्हें प्रभु ने अनिष्ट, इष्ट और मिश्र नाम से सम्बोधित किया है| गहन दृष्टि से देखा जाए तो कर्म भोगदायक होते हैं, अर्थात् जन्मारम्भक कर्मों से भी भोग होता है और भोगदायक कर्मों से भी भोग होता है| जैसे जिसका उत्तम कुल में जन्म होता है, उसका आदर होता है, सत्कार होता है और जिसका नीच कुल में जन्म होता है, उसका निरादर होता है, तिरस्कार होता है| ऐसे ही अनुकूल परिस्थिति वाले का आदर होता है और प्रतिकूल परिस्थिति वाले का निरादर होता है| इसका तात्पर्य है कि आदर और निरादर रूप से भोग तो जन्मारम्भक और भोगदायक, दोनों कर्मों से होता है| परन्तु जन्मारम्भक कर्मों से जो जन्म होता है, उसमें आदर, निरादर रूप भोग गौण होता है क्योंकि आदर, निरादर कभी कभी होता है, सदैव नहीं| भोगदायक कर्मों से जो अनुकूल, प्रतिकूल परिस्थिति आती है, उसमें परिस्थिति का भोग मुख्य होता है क्योंकि कोई न कोई परिस्थिति सदैव

रहती है| भोगदायक कर्मों का सदुपयोग या दुरुपयोग करने में मनुष्य स्वतन्त्र है, अर्थात् वह अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति से सुखी या दुःखी हो सकता है और उसको साधन सामग्री भी बना सकता है| जो अनुकूल, प्रतिकूल परिस्थिति से सुखी, दुःखी होते हैं, वह मूर्ख होते हैं, और जो उसको साधन सामग्री बनाते हैं, वह बुद्धिमान् साधक होते हैं| इसका कारण है कि मनुष्य जन्म परमात्मा की प्राप्ति के लिये ही मिला है अतः इसमें जो भी अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति आती है, वह सब साधन सामग्री ही है| अनुकूल, प्रतिकूल परिस्थिति को साधन सामग्री बनाने का तात्पर्य है कि यदि अनुकूल परिस्थिति आए तो उसको दूसरों की सेवा में, दूसरों के सुख, आराम में लगा दें, और यदि प्रतिकूल परिस्थिति आए तो सुख की इच्छा का त्याग कर दें| दूसरों की सेवा करना और सुखेच्छा का त्याग करना, यह दोनों साधन मुक्ति के द्वार हैं| शास्त्रों में कहा गया है कि पुण्यों की अधिकता होने से जीव स्वर्ग में जाता है और पापों की अधिकता होने से नर्कों में जाता है तथा पुण्य, पाप समान होने से मनुष्य योनि में जन्म मिलता है| इस दृष्टि से किसी भी वर्ण, आश्रम, देश, वेश आदि का कोई भी मनुष्य सर्वथा पुण्यात्मा या पापात्मा नहीं हो सकता| पुण्य, पाप समान होने पर जो मनुष्य योनि में जन्म मिलता है, उसमें भी अगर देखा जाए तो पुण्य और पाप का तारतम्य रहता है| इसी प्रकार शास्त्रों ने गुणों का विभाग किया है| सत्त्वगुण की प्रधानता वाले ऊर्ध्वलोक में जाते हैं, रजोगुण की प्रधानता वाले मध्यलोक अर्थात् मनुष्यलोक में आते हैं, और तमोगुण की प्रधानता वाले अधोगति में जाते हैं| इन तीनों में भी गुणों के तारतम्य से अनेक प्रकार के भेद होते हैं| सत्त्वगुण की प्रधानता से ब्राह्मण, रजोगुण की प्रधानता और सत्त्वगुण की गौणता से क्षत्रिय, रजोगुण की प्रधानता और तमोगुण की गौणता से वैश्य, तथा तमोगुण की प्रधानता से शूद्र योनि मिलती है| इन वर्णों में भी कर्मों के स्वभाव से ऊँच, नीच कुल में जन्म मिलता है| उदाहरण के लिए सभी ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों की एक समान अनुकूल, प्रतिकूल परिस्थिति नहीं होती| इसलिये प्रभु ने कहा है कि तीनों लोकों में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जो तीनों गुणों से रहित हो| इसका तात्पर्य है कि ऊर्ध्वगति, मध्यगति और अधोगति वालों में भी कई प्रकार के जाति भेद और परिस्थिति भेद होते हैं|

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ।।१८-४२।।

सुनो अब ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म पृथानंदन।
हों जिसके वश विषय इन्द्रियाँ कर सके निग्रह मन ॥
हो शुद्ध बाह्य भीतर धर्मशील सहे कष्ट धर्म पालन ॥
करे क्षमा अपराध अन्य सदा और रखे सहज तन मन ॥
हो ज्ञान वेद शास्त्र यज्ञविधि आस्तिक भाव भगवन ॥
यह ब्राह्मण कर्म स्वाभाविक देते भगवद दर्शन ॥१८-४२॥

भावार्थ: *हे अर्जुन, अब ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म सुनो| जिसके वश में विषय इन्द्रियाँ हों, मन को निग्रह कर सके, बाहर भीतर शुद्ध हो, धर्मशील हो एवं धर्म पालन के लिए कष्ट सहे, दूसरे प्राणियों के अपराधों को सदैव क्षमा करे, शरीर और मन में सहजता हो, वेद, शास्त्र, यज्ञविधि का ज्ञान हो, ईश्वर में श्रद्धा हो, यह ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं जो प्रभु के दर्शन देते हैं (अर्थात परमात्म-तत्व की प्राप्ति कराते हैं)|*

टीका: मन को जहां लगाना चाहें वहां लग जाए और जहां से हटाना चाहें, वहां से हट जाए इसे मन का निग्रह कहते हैं| जिस इन्द्रिय से जब जो काम करना चाहें, तब वह काम कर लें और जिस इन्द्रिय को जब जहां से हटाना चाहें, तब वहां से हटा लें, इसे इन्द्रियों को वश में करना कहते हैं|

साधक को अपने धर्म का पालन करते हुए जो कष्ट हो अथवा कष्ट आए, उसको प्रसन्नता पूर्वक सहना चाहिए, अर्थात् कष्ट के आने पर भी चित्त में प्रसन्नता का भाव रखना चाहिए| अपने मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर आदि को पवित्र रखना चाहिए| साधक को खान-पान व्यवहार आदि की पवित्रता रखना भी आवश्यक है|

कोई कितना भी अपमान करे, निन्दा करे, दुःख दे, स्वयं में उसको दण्ड देने की योग्यता, बल, अधिकार होने के पश्चात भी उसको दण्ड न देकर उसे क्षमा कर दे, यह ब्राह्मण का स्वाभाविक कर्म है|

शरीर, वाणी आदि के व्यवहार में सरलता हो, मन में छल, कपट, छिपाव आदि दुर्भाव न हों अर्थात् सीधा सादापन हो, यह ब्राह्मण के गुण हैं|

वेद, शास्त्र, पुराण,आदि का अच्छा अध्ययन हो, और इस कारण कर्तव्य, अकर्तव्य का बोध हो, यह ज्ञान है, जो ब्राह्मणों का गुण है|

यज्ञविधि, अनुष्ठान आदि की विधि का शास्त्रानुसार अच्छा ज्ञान भी ब्राह्मण को आवश्यक है| परमात्मा, वेदादि शास्त्र, परलोक आदि का हृदय में आदर हो, श्रद्धा हो और उनकी सत्यता में कभी सन्देह न हो तथा उनके अनुसार ही आचरण हो, यह ब्राह्मण का स्वाभाविक कर्म है|

यही उपर्युक्त शम, दम आदि ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म (गुण) हैं, अर्थात् इन कर्मों (गुणों) को धारण करने में ब्राह्मण को परिश्रम नहीं करना पड़ता| जिन ब्राह्मणों में सत्त्वगुण की प्रधानता है, जिनकी वंश परम्परा परम शुद्ध है और जिनके पूर्व जन्मकृत कर्म भी शुद्ध हैं, ऐसे ब्राह्मणों के लिये ही शम, दम आदि गुण स्वाभाविक होते हैं और उनमें किसी गुण के न होने पर अथवा किसी गुण में कमी होने पर भी उसकी पूर्ति करना उन ब्राह्मणों के लिये सहज होता है| चारों वर्णों की रचना गुणों के तारतम्य से की गई है, इसलिये गुणों के अनुसार उस वर्ण में वही कर्म स्वाभाविक प्रकट हो जाते हैं और दूसरे कर्म गौण हो जाते हैं| जैसे ब्राह्मण में सत्त्वगुण की प्रधानता होने से उसमें शम, दम आदि कर्म (गुण) स्वाभाविक आते हैं तथा जीविका के कर्म गौण हो जाते हैं, और दूसरे वर्णों में रजोगुण तथा तमोगुण की प्रधानता होने से उन वर्णों के जीविका के कर्म भी स्वाभाविक कर्मों में सम्मिलित हो जाते हैं| इसी दृष्टि से प्रभु ने ब्राह्मण के स्व-भावज कर्मों में जीविका के कर्म न कह कर शम, दम आदि कर्म (गुण) ही बताए हैं|

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ।।१८-४३।।

जो शूरवीर युक्त तेज धैर्य शासन दक्ष्य दानी जन।
हो आस्तिक न करे पलायन रण हैं कर्म क्षत्रिय लक्षन ।।१८-४३।।

भावार्थ: *जो प्राणी शूरवीर हो, तेज, धैर्य, एवं शासन में दक्ष्य हो, दानी हो, युद्ध से पलायन न करे, आस्तिक हो, यह क्षत्रियों के स्वाभाविक कर्म हैं।*

टीका: मन में अपने धर्म का पालन करने की तत्परता, धर्ममय युद्ध में प्रवृत्त होने में निर्भीकता, शौर्यवान, धैर्य, शासन करने में दक्ष्यता, प्रभु में श्रद्धा, यह सब क्षत्रिय प्राणी के लक्षण हैं। क्षत्रिय के व्यक्तित्व में एक तेज की अनुभूति होती है। प्रतिकूल अवस्था में भी वह अपने धर्म से कभी विचलित नहीं होता। शत्रुओं के द्वारा धर्म तथा नीति से विरुद्ध अनुचित व्यवहार से सताये जाने पर भी धर्म तथा नीति विरुद्ध कार्य न करके धैर्य पूर्वक मर्यादा में रहकर वह हर समस्या का समाधान निकाल लेता है। प्रजा पर शासन करने की, प्रजा को यथायोग्य व्यवस्थित रखने की और उसका संचालन करने की उसमें विशेष योग्यता होती है। युद्ध से वह कभी पलायन नहीं करता। मन में कभी अपनी हार स्वीकार नहीं करता। क्षत्रिय प्राणी दानी होते हैं। वह बड़ी उदारतापूर्वक दान देते हैं। क्षत्रियों में स्वाभाविक ही ईश्वर प्रेम होता है। ईश्वर भाव में उन्हें कभी अभिमान नहीं होता। वह नम्र, सरल, एवं दयावान होते हैं। जिस प्राणी में यह गुण हों, जिसका जीवन प्रजा को दुःखों से रक्षित करने में ही लगा हो, वह क्षत्रिय है, 'क्षतात् त्रायत इति क्षत्रियः'। यह क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म, क्षात्रकर्म कहलाते हैं।

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ।।१८-४४।।

है वैश्य कर्म करे कृषि सत क्रय विक्रय गौ पालन।
है स्वाभाविक कर्म शूद्र करे वह सेवा सभी भूजन ।।१८-४४।।

भावार्थ: *खेती, गौ-पालन और सत्य स्वरुप से क्रय-विक्रय, यह वैश्य कर्म हैं तथा सब प्राणियों की सेवा करना शूद्र का स्वाभाविक कर्म है|*

टीका: खेती करना, गायों की रक्षा करना और शुद्ध रूप से व्यापार करना, यह वैश्य वर्ण के स्वाभाविक कर्म हैं| शुद्ध रूप से व्यापार करने का तात्पर्य है कि जिस देश में, जिस समय, जिस वस्तु की आवश्यकता हो, लोगों के हित की भावना से उस वस्तु को (जहां वह वस्तु मिलती हो, वहां से ला कर) उसी देश में पहुँचाना, प्रजा की आवश्यक वस्तुओं के अभाव की पूर्ति करना, वस्तुओं के अभाव में प्रजा को कोई कष्ट न हो, इसका ध्यान रखना, उचित शास्त्रानुसार लाभ लेते हुए सच्चाई के साथ उन वस्तुओं का प्रजा में वितरण करना| खेती और गौ पालन करना भी वैश्य का स्वाभाविक कर्म है| गाय से अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष, इन चारों पुरुषार्थों की सिद्धि होती है| गौ पालन से दूध, घी, गोबर आदि पदार्थ मिलते हैं जो प्राणियों के जीवन आधार हैं| खेती के लिए इससे बैल मिलते हैं| गाय के घी से ही यज्ञ किया जाता है| स्थान शुद्धि के लिये गोबर का ही चौका लगाया जाता है| श्राद्ध कर्म में गाय के दूध की खीर बनाई जाती है| परलोक सुधारने के लिए गोदान किया जाता है| धार्मिक कृत्यों में पञ्चगव्य काम में लाया जाता है, जो गाय के दूध, दही, घी, गोबर और गोमूत्र, इन पाँच पदार्थों से बनता है| इस प्रकार उपयोगी गौ माता का पालन कर वैश्य प्रजा पर अत्यंत उपकार करते हैं|

सभी प्राणियों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र) की सेवा करना, सेवा की सामग्री तैयार करना और सभी प्राणियों के कार्यों में कोई बाधा, अड़चन न आए, इस भाव से अपनी बुद्धि, योग्यता, बल का उपयोग करना, शूद्र का स्वाभाविक कर्म है| यहाँ एक शंका हो सकती है कि भगवान् ने चारों वर्णों की उत्पत्ति में सत्त्व, रज और तम, इन तीन गुणों को कारण बताया है| उसमें तमोगुण की प्रधानता से शूद्र की उत्पत्ति बताई है| तमोगुण का वर्णन अज्ञान, प्रमाद, आलस्य, निद्रा, अप्रकाश, अप्रवृत्ति और मोह, इन सात अवगुणों से किया है| अतः ऐसे तमोगुण की प्रधानता वाला शूद्र अपने आलस्य, प्रमाद आदि के कारण सेवा कैसे कर सकेगा? सेवा एक ऊँचे स्तर का कर्म है| ऐसे ऊँचे कर्म का भगवान् ने शूद्र के लिये विधान कैसे कर दिया? स्मरण रहे कि भगवान् ने कहा है कि मृत्यु पश्चात

सत्त्वगुण वाले ऊँचे लोकों में जाते हैं, रजोगुण वाले मृत्यु पश्चात मध्यलोक अर्थात् मृत्युलोक में जाते हैं, और तमोगुण वाले मृत्यु पश्चात अधोगति में जाते हैं| वास्तव में रजोगुण के बढ़ने पर जो मृत्यु को प्राप्त करता है, वह कर्म प्रधान मनुष्य योनि में जन्म लेता है, 'रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जाएते'| अतः मनुष्य ही रजस प्रधान (रजोगुण की प्रधानता वाला) है| रजस प्रधान वालों में जो सात्त्विक, राजस और तामस, तीन गुण होते हैं, उन तीनों गुणों के आधार से ही चारों वर्णों की रचना की गई है| इसलिये कर्म करना सब से मुख्य होता है, और इसी कारण मनुष्य योनि को कर्म योनि कहा गया है| प्रभु ने चारों वर्णों के कर्मों के लिये स्वभावज कर्म, स्वभाव नियत कर्म आदि कर्मों का विवरण किया है| अतः शूद्र का परिचर्या अर्थात् सेवा करना स्वभावज कर्म है, जिसमें उसे परिश्रम नहीं होता| मनुष्य कर्म योनि में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य में विवेक विचार का विशेष तारतम्य रहता है और शुद्धि भी रहती है, परन्तु शूद्र में मोह की प्रधानता रहने से उसका विवेक दबा हुआ होता है| इस दृष्टि से शूद्र के सेवा कर्म में विवेक की प्रधानता न होकर आज्ञा पालन की प्रधानता रहती है, 'अज्ञा सम न सुसाहिब सेवा'| इसलिये चारों वर्णों की आज्ञा के अनुसार सेवा करना, उनके हित के लिए सुख सुविधा जुटाना, शूद्र के लिये स्वाभाविक कर्म होता है| शुद्रों के कर्म परिचर्यात्मक अर्थात् सेवा स्वरूप होते हैं| उनके शारीरिक, सामाजिक, नागरिक, आदि सब कर्म जब उचित प्रकार से सम्पन्न होते हैं, तब चारों ही वर्णों के जीवन निर्वाह के लिये सुख, सुविधा, अनुकूलता और आवश्यकता की पूर्ति होती है| स्वाभाविक कर्मों का तात्पर्य है कि चेतन जीवात्मा और जड़ प्रकृति, दोनों का स्वभाव भिन्न है| चेतन स्वाभाविक ही निर्विकार अर्थात् परिवर्तन रहित है, और प्रकृति स्वाभाविक ही विकारी अर्थात् परिवर्तनशील है| अतः इन दोनों का स्वभाव भिन्न होने से इनका सम्बन्ध स्वाभाविक नहीं है किंतु चेतन ने प्रकृति के साथ अपना सम्बन्ध मानकर उस सम्बन्ध की सद्भावना कर ली है, अर्थात् सम्बन्ध है, ऐसा मान लिया है| इसी को गुणों का संग कहते हैं जो जीवात्मा की अच्छी बुरी योनियों में जन्म लेने का कारण बनता है, 'कारणं गुणसङ्गोस्य सदसद्योनिजन्मसु'| इस संग के कारण, गुणों के तारतम्य से जीव का ब्राह्मणादि वर्ण में जन्म होता है| गुणों के तारतम्य से जिस वर्ण में जन्म होता है, उन गुणों के अनुसार ही उस वर्ण के कर्म स्वाभाविक, सहज होते हैं| जैसे ब्राह्मण के लिये शम, दम आदि, क्षत्रिय के लिये शौर्य, तेज आदि, वैश्य के लिये खेती, गौरक्षा

आदि और शूद्र के लिये सेवा, यह कर्म स्वतः स्वाभाविक होते हैं| इन्हीं स्वाभाविक कर्म करने से मनुष्य अधोगति से मुक्ति पाता है| स्मरण रहे कि मनुष्य जब इन स्वाभाविक कर्मों को अपने लिये, अर्थात् अपने स्वार्थ, भोग और आराम के लिये करता है, तब वह उन कर्मों से बँध जाता है| जब उन्हीं कर्मों को स्वार्थ और अभिमान का त्याग करके निष्काम भाव पूर्वक संसार के हित के लिये करता है, वही कर्मयोग है| कर्मयोग से वह संसार में व्यापक परमात्मा का परायण होकर केवल भगवत् सम्बन्धी कर्म (जप, ध्यान, सत्संग, स्वाध्याय आदि) करता है| तब प्रकृति के गुणों का सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद हो जाने पर वह परमात्म-तत्व का ज्ञान पा जाता है| अतः पूर्व जन्म में तमोगुणी प्रवृत्ति के कारण शूद्र योनि में जन्म लेने से अपना निष्काम भाव से स्वाभाविक कर्म करते हुए मनुष्य तमोगुणी प्रवृत्ति से निवृत्त हो प्रभु को प्राप्त करने में सफल होता है|

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ।।१८-४५।।

हो तत्पर स्वाभाविक कर्म पा सकें जन परम भगवन |
सुनो विधि पाएं कैसे परम सिद्धि चारों वर्ण जन ||१८-४५||

भावार्थ: *अपने स्वाभाविक कर्मों में तत्पर होने से परम प्रभु (परमात्म-तत्व) की प्राप्ति होती है| परम सिद्धि को चारों वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, विषय और शूद्र) के प्राणी कैसे प्राप्त करें, यह विधि सुनो|*

टीका: प्रभु कहते हैं कि मनुष्य की जैसी स्वतः सिद्ध स्वाभाविक प्रकृति (स्वभाव) है, उसमें राग, द्वेष न करते हुए उसे पूर्ण करे तो प्रकृति उसका स्वतः ही कल्याण कर देती है| इसका तात्पर्य यह कि साधक प्रकृति के द्वारा प्रवाह रूप स्वयं होने वाले स्वाभाविक कर्म को स्वार्थ रहित, प्रीति और तत्परता से करे| इन कर्मों के प्रवाह के साथ न राग हो, न द्वेष हो और न फलेच्छा हो| राग, द्वेष और फलेच्छा से रहित होकर क्रिया करने से क्रिया का वेग शान्त हो जाता है और कर्म में आसक्ति न होने से नया वेग पैदा नहीं होता| इससे प्रकृति के पदार्थों और क्रियाओं के साथ निर्लिप्तता (असंगता) आ जाती है| निर्लिप्तता

होने से प्रकृति की क्रियाओं का प्रवाह स्वाभाविक ही चलता रहता है और उनके साथ अपना कोई सम्बन्ध न रहने से साधक की अपने स्वरूप में स्थिति हो जाती है, जो प्राणी की स्वतः स्वाभाविक स्थिति है| अपने स्वरूप में स्थिति होने पर उसका परमात्मा की ओर स्वतः आकर्षण हो जाता है| परन्तु यह सब कर्मों में अभिरति होने से होता है, आसक्ति से नहीं| अपने स्वाभाविक कर्मों को केवल दूसरों के हित के लिये तत्परता और उत्साहपूर्वक करने से मन में जो प्रसन्नता होती है, उसका नाम अभिरति है| फल की इच्छा से कुछ करना अर्थात् कुछ पाने के लिये कर्म करना आसक्ति है| कर्मों में अभिरति से कल्याण होता है, और आसक्ति से बन्धन होता है|

मनुष्य प्रीति और तत्परता पूर्वक से चाहे एक कर्म करे, अथवा अनेक कर्म, उसका उद्देश्य केवल परमात्म-तत्व की प्राप्ति होने से उसकी कर्तव्य निष्ठा एक हो जाती है| परमात्म-तत्व की प्राप्ति हेतु मनुष्य जितने भी कर्म करता है, वह सब कर्म अन्त में उसी उद्देश्य में लीन हो जाते हैं, अर्थात् उसी उद्देश्य की पूर्ति करने वाले हो जाते हैं| जैसे माँ गंगा हिमालय से निकलकर गंगा सागर तक जाती हैं, तो नद, नदियाँ, झरने, सरोवर,वर्षा-जल, यह सभी उनकी धारा में मिल कर गंगा से एक हो जाते हैं| ऐसे ही उद्देश्य वाले साधक के सभी कर्म उसके उद्देश्य में मिल जाते हैं| परन्तु जिसकी कर्मों में आसक्ति है, वह साधक एक कर्म में अनेक फल चाहे या अनेक कर्म में एक फल चाहे, उसका उद्देश्य एक परमात्मा की प्राप्ति का न होने से उसकी कर्तव्यनिष्ठा एक नहीं होती|

प्रभु अर्जुन से कहते हैं कि साधक का स्वाभाविक कर्म करना ही परमात्म-तत्व की प्राप्ति का साधन है| यह चारों वर्णों के पुरुषों को कैसे प्राप्त हो सकता है, अब यह सुनो और ठीक तरह से समझो|

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।।१८-४६।।

है व्याप्त सब विश्व हरि की जिन्होंने उत्पत्ति जन |
करें प्राप्त परम पद कर स्व-कर्म व् इनका पूजन ||१८-४६||

भावार्थ: *जिन परमेश्वर से सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति हुई है और जिनमें यह समस्त जगत व्याप्त है, अपने स्व-कर्म करते हुए उनका पूजन करने से परम सिद्धि की प्राप्ति होती है|*

टीका: जिस परमात्मा से संसार उत्पन्न हुआ है, जिससे सम्पूर्ण संसार का संचालन होता है, जो सब का उत्पादक, आधार और प्रकाशक है, जो सब में परिपूर्ण है अर्थात् जो परमात्मा अनन्त ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति से पहले भी था, उनके लीन होने पर भी रहेगा और उनके रहते हुए भी जो सदैव रहता है, जो अनन्त ब्रह्माण्डों में व्याप्त है, उसी परमात्मा का अपने स्व-भावज (वर्णोचित स्वाभाविक) कर्मों को करते हुए पूजन करना चाहिए|

मनुस्मृति में ब्राह्मणों के लिये छः कर्म बताए गए हैं, स्वयं पढ़ना, दूसरों को पढ़ाना, स्वयं यज्ञ करना, दूसरों से यज्ञ कराना, स्वयं दान लेना और दूसरों को दान देना| ऐसे ही क्षत्रियों के लिये पाँच कर्म बताए गए हैं, प्रजा की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, अध्ययन करना और विषयों में आसक्त न होना| वैश्यों के लिए यज्ञ करना, अध्ययन करना, दान देना, कृषि, गौरक्ष्य और वाणिज्य, इन शास्त्र नियत और स्वभावज कर्मों को करना| शूद्र के लिए चारों वर्णों की सेवा करना शास्त्रविहित तथा स्वभावज कर्म है| यदि साधक अपने कर्मों को करता हुआ परमात्मा का पूजन करता है, तो उसकी क्रियाएँ परमात्मा की पूजा हो जाती हैं| लौकिक और पारमार्थिक कर्मों के द्वारा परमात्मा का पूजन तो करना चाहिए, पर उन कर्मों में और उनको करने के करणों (उपकरणों) में ममता नहीं रखनी चाहिए|

अपने स्वाभाविक कर्म करता हुआ मनुष्य परम पद को प्राप्त होता है| इसका तात्पर्य है कि अपने कर्म करता हुआ परमात्मा का पूजन करने वाला मनुष्य प्रकृति के सम्बन्ध से रहित होकर स्वतः अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है| स्वरूप में स्थित होने पर पहले जो परमात्मा को समर्पण किया था, उस संस्कार के कारण उसका प्रभु में अनन्य प्रेम जाग्रत् हो जाता है| फिर उसके लिये कुछ भी पाना शेष नहीं रहता| यह सिद्धांत चारों वर्ण, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के लिए मान्य है चाहे वह ब्रह्मचारी, गृहस्थी, वानप्रस्थी अथवा सन्यासी हों| प्रभु

के पूजन में जाति, सम्प्रदाय आदि बाधक नहीं हैं| सब परमात्मा के पूजन के अधिकारी हैं| स्मरण रहे कि भगवान् के सम्मुख हुए मनुष्यों की सभी क्रियाओँ को भगवान् अपना पूजन मान लेते हैं और प्रसन्न होते हैं|

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ।।१८-४७।।

है स्व-धर्म श्रेष्ठ यद्यपि हो गुण रहित हे अर्जुन|
निषेध करना परधर्म चाहे युक्त अति शुद्ध आचरन ||
नहीं पाता नर अघ कभी करे कर्म स्व-धर्म पालन ||१८-४७||

भावार्थ: *हे अर्जुन, गुण रहित होते हुए भी अपना धर्म श्रेष्ठ है| चाहे अधिक शुद्ध आचरण वाला दूसरा धर्म हो, वह निषेध है| स्व-धर्म कर्म का पालन करने से मनुष्य कभी पाप को नहीं प्राप्त होता|*

टीका: प्रभु ने यहाँ स्व-धर्म शब्द से वर्ण धर्म का उल्लेख किया है| मनुष्य जन्म और कर्म के अनुसार अपने को जिस वर्ण और आश्रम का मानता है, उसके लिये उसी वर्ण और आश्रम का धर्म स्व-धर्म है| उदाहरण के लिए ब्राह्मण वर्ण में उत्पन्न हुए मनुष्य को उपर्युक्त ब्राह्मण के ६ कर्म करना चाहिए| उसी प्रकार अन्य वर्ण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र को अपने अपने स्व-कर्मों का पालन करना चाहिए| दूसरे वर्ण का धर्म चाहे अधिक गुणों से परिपूर्ण हो, उसको करना निषेध है| यहां शास्त्रों में आपात काल स्थिति के लिए अवश्य छूट दी है| आपात काल में अर्थात् आपत्ति के समय वैश्य के खेती, व्यापार आदि जीविका सम्बन्धी कर्म ब्राह्मण के लिये भी स्व-धर्म हो जाते हैं| उसी प्रकार ब्राह्मण के शम, दम आदि जितने भी स्वभावज कर्म हैं, वह सामान्य धर्म होने से चारों वर्णों के लिये स्व-धर्म हो जाते हैं| मनुष्य शरीर केवल परमात्म-तत्व की प्राप्ति के लिये ही मिला है, इस दृष्टि से सभी मनुष्य साधक हैं| अतः दैवीय सम्पत्ति के जितने भी सद्गुण एवं सदाचार हैं, वह सभी के अपने होने से सभी मनुष्यों के लिये स्व-धर्म हैं| परन्तु आसुरी सम्पत्ति के जितने भी दुर्गुण एवं दुराचार हैं, वह सभी मनुष्यों के लिये न तो स्व-धर्म हैं और न परधर्म हैं| वह सभी के लिये निषिद्ध हैं, त्याज्य हैं

क्योंकि वह अधर्म हैं| दैवीय सम्पत्ति के गुणों को धारण करने में और आसुरी सम्पत्ति के पाप कर्मों का त्याग करने में सभी स्वतन्त्र हैं, सबल हैं, अधिकारी हैं| कोई भी परतन्त्र, निर्बल तथा अनधिकारी नहीं है|

शास्त्रों में विहित और निषिद्ध, दो प्रकार के कर्म हैं| उनमें विहित कर्म करने की आज्ञा है और निषिद्ध कर्म करने का निषेध है| उन विहित कर्मों में भी शास्त्रों ने जिस वर्ण, आश्रम, देश, काल, घटना, परिस्थिति, वस्तु, संयोग, वियोग आदि को लेकर जो कर्म नियुक्त किए हैं, उस वर्ण, आश्रम आदि के लिये वह नियत कर्म कहलाते हैं| सत्त्व, रजस और तमस, इन तीनों गुणों को लेकर जो स्वभाव बनता है, उस स्वभाव के अनुसार कर्म नियत किए गए हैं, वह स्वभाव-नियत कर्म हैं| उन्हीं को स्वभाव-प्रभव, स्वभावज, स्व-धर्म, स्व-कर्म और सहज कर्म कहा गया है|

भगवान् राम ने शबरी को नवविधा भक्ति का ज्ञान देते हुए कहा था:

नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं। सावधान सुनु धरु मन माहीं।।
फिर अन्त में भगवान् ने कहा, 'सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें'|

इसका तात्पर्य यह है कि भक्ति नौ प्रकार की होती है, यद्यपि शबरी को इसका ज्ञान नहीं था परन्तु भगवद भक्त होने के कारण शबरी में सब प्रकार की भक्ति कूट कूट कर भरी हुई थी| अतः भगवद प्रेम से स्वतः ही सब ज्ञान आ जाता है| सत्संग, भजन, ध्यान आदि करने से जिन गुणों का हमें ज्ञान नहीं है, वह गुण भी आ जाते हैं| इसलिये मनुष्य को अपना स्वभाव और अपने कर्म शुद्ध, निर्मल बनाने चाहिए| इसमें कोई परतन्त्र नहीं है, कोई निर्बल नहीं है, कोई अयोग्य नहीं है, कोई अपात्र नहीं है|

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ।।१८-४८।।

न त्यागो कदापि सहज कर्म यदि दोष युक्त अर्जुन |
होते दोष युक्त सभी कर्म जैसे धूम अनल सलंग्न ||१८-४८||

भावार्थ: *हे अर्जुन, दोष युक्त होने पर भी सहज कर्म को नहीं त्यागना चाहिए| जैसे अग्नि से धुंआ युक्त है, वैसे ही सभी कर्म दोष से युक्त होते हैं|*

टीका: प्रभु ने बताया है कि स्वभाव के अनुसार शास्त्रों ने जो कर्म नियत किए हैं, उन कर्मों को करता हुआ मनुष्य पाप को प्राप्त नहीं होता| इससे सिद्ध होता है कि स्वभाव-नियत कर्मों में भी पाप क्रिया होती है| अगर पाप क्रिया न होती तो 'पाप को प्राप्त नहीं होता', प्रभु यह नहीं कहते| यहाँ भगवान् कहते हैं कि जो सहज कर्म हैं, उनमें कोई दोष भी हो तो भी उनका त्याग नहीं करना चाहिए| क्योंकि सब कर्म धुएँ से अग्नि की तरह दोष से आवृत हैं|

स्वभाव-नियत कर्म सहज कर्म कहलाते हैं, जैसे ब्राह्मण के शम, दम आदि, क्षत्रिय के शौर्य, तेज आदि, वैश्य के कृषि, गौरक्ष्य आदि, और शूद्र के सेवा कर्म| जन्म के बाद शास्त्रों ने पूर्व गुण और कर्मों के अनुसार जिस वर्ण के लिये जिन कर्मों की आज्ञा दी है, वह शास्त्रनियत कर्म भी सहज कर्म कहलाते हैं, जैसे ब्राह्मण के लिये यज्ञ करना और कराना, पढ़ना और पढ़ाना आदि, क्षत्रिय के लिये यज्ञ करना, दान करना आदि, वैश्य के लिये खेती, गौ रक्षा आदि और शूद्र के लिये सेवा|

सहज कर्म में यह दोष हो सकते हैं:

(१) परमात्मा और परमात्मा का अंश, यह दोनों ही 'स्व' हैं तथा प्रकृति और प्रकृति का कार्य शरीर आदि यह दोनों 'पर' हैं| परन्तु परमात्मा का अंश स्वयं प्रकृति के वश होकर परतन्त्र हो जाता है अर्थात् क्रिया प्रकृति में होती है और उस क्रिया को वह अपने में मान लेता है तो परतन्त्र हो जाता है| यह प्रकृति के परतन्त्र होना ही दोष है|

(२) प्रत्येक कर्म में कुछ न कुछ आनुषंगिक अनिवार्य हिंसा आदि दोष होते ही हैं|

(३) कोई भी कर्म किया जाए वह कर्म किसी के अनुकूल और किसी के प्रतिकूल होता ही है| किसी के प्रतिकूल होना भी दोष है|

(४) प्रमाद आदि दोषों के कारण कर्म के करने में कमी रह जाना अथवा करने की विधि में भूल हो जाना भी दोष है|

प्रभु कहते हैं कि अपने सहज कर्म में दोष भी हो, तो भी उसको नहीं छोड़ना चाहिए| इसका तात्पर्य है कि जैसे ब्राह्मण के कर्म जितने सौम्य हैं, उतने ब्राह्मणेतर वर्णों के कर्म सौम्य नहीं हो सकते, परन्तु सौम्य न होने पर भी वह कर्म दोषी नहीं हैं| उदाहरण के लिए क्षत्रिय के लिये न्याययुक्त युद्ध नियत कर्म है यद्यपि इसमें हिंसा है| परन्तु यह हिंसक कर्म करने पर भी क्षत्रिय को पाप नहीं लगता|

सहज कर्मों को करने में यद्यपि दोष (पाप) नहीं लगता, यह उचित है, परन्तु यहां एक शंका हो सकती है कि इन साधारण सहज कर्मों से मुक्ति कैसे मिल जाएगी? वास्तव में मुक्ति प्राप्त करने में सहज कर्म बाधक नहीं हैं| कामना, आसक्ति, स्वार्थ, अभिमान आदि से ही बन्धन होता है और पाप भी इन कामना आदि के कारण से ही होते हैं| इसलिये मनुष्य को निष्कामभाव पूर्वक भगवद भजन करते हुए सहज कर्मों को करना चाहिए| तब बन्धन छूटेगा और मुक्ति मिलेगी|

जितने भी कर्म हैं, वह सब सदोष ही हैं, जैसे आग के साथ धुआँ| कर्म करने में देश, काल, घटना, परिस्थिति आदि की परतन्त्रता और दूसरों की प्रतिकूलता भी दोष है, परन्तु स्वभाव के अनुसार शास्त्रों ने जो आज्ञा दी है, उस आज्ञा का निष्कामभाव पूर्वक कर्म करता हुआ मनुष्य पाप का भागी नहीं होता| इसीलिए भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं कि हे अर्जुन, यह युद्ध रूप क्रिया जिसको तुम घोर अधर्म मान रहे हो, वह ही तुम्हारा धर्म है, क्योंकि न्याय से प्राप्त हुए युद्ध को करना क्षत्रियों का धर्म है, इसके अतिरिक्त क्षत्रिय के लिये दूसरा कोई श्रेय का साधन नहीं है|

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ।।१८-४९।।

अनासक्ति और निरीह बुद्धि से करे वश जो तन |
करे प्राप्त नैष्कर्म्यसिद्धि सांख्ययोग से वह जन ||१८-४९||

भावार्थ: *आसक्ति एवं स्पृहा से रहित बुद्धि से जिसने शरीर को वश में कर लिया है, वह पुरुष सांख्ययोग से नैष्कर्म्यसिद्धि को प्राप्त करता है|*

टीका: प्रभु कहते हैं कि प्राणियों को संन्यास (सांख्य) योग का अधिकारी होने से सिद्धि प्राप्त हो सकती है जब वह आसक्ति एवं स्पृहा रहित बुद्धि से अपने शरीर (इन्द्रियों) को नियंत्रित कर ले| आसक्ति रहित अर्थात देश, काल, घटना, परिस्थिति, वस्तु, व्यक्ति, क्रिया, पदार्थ आदि किसी में भी बुद्धि लिप्त न हो| स्पृहा रहित अर्थात जीवन धारण के लिये जिन वस्तुओं की विशेष आवश्यकता है, उन की सूक्ष्म इच्छा भी न करे| जीवन निर्वाह सम्बन्धी आवश्यकताओं की चिंता नहीं करे| इसका तात्पर्य यह है कि जड़ता का पूर्णतः त्याग कर दे| इस प्रकार इन्द्रियों को वश में कर सांख्ययोग का साधक नैष्कर्म्यरूप परमात्म-तत्व को प्राप्त कर लेता है| इसका कारण है कि क्रिया प्रकृति में होती है और जब स्वयं का उस क्रिया के साथ लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं रहता, तब कोई भी क्रिया और उसका फल उस पर किंचित मात्र भी असर नहीं डालता| अतः उसमें जो स्वाभाविक, स्वतः सिद्ध निष्कर्मता, निर्लिप्तता है, वह प्रकट हो जाती है|

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ।।१८-५०।।

पाई सिद्धि जिस जन है वह ज्ञान परा निष्ठा अर्जुन |
समझो कैसे कर सके प्राप्त ब्रह्म ज्ञान वह भूजन ||१८-५०||

भावार्थ: *हे अर्जुन, जिस प्राणी ने सिद्धि प्राप्त कर ली, वह ज्ञान की परा निष्ठा है| वह ब्रह्म ज्ञान को कैसे प्राप्त कर सकता है, यह समझो|*

टीका: प्रभु ने यहाँ सिद्धि नाम अन्तःकरण की शुद्धि के लिए दिया है| जिसका अन्तःकरण इतना शुद्ध हो गया है कि उसमें किंचित मात्र भी किसी प्रकार की कामना, ममता और आसक्ति नहीं रही, उसके लिये किसी भी वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदि की आवश्यकता नहीं होती, अर्थात् उसके लिये कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता| साधारणतः मनचाही वस्तु के मिल जाने को सिद्धि कहा जाता है, पर वास्तव में यह सिद्धि नहीं है क्योंकि इसमें पराधीनता होती है, इसे प्राप्त करने में किसी वस्तु, परिस्थिति आदि की आवश्यकता पड़ती है| जिस सिद्धि में कामना पैदा न हो, वही वास्तव में सिद्धि है| अन्तःकरण की शुद्धि रूप सिद्धि को प्राप्त हुआ साधक ही ब्रह्म ज्ञान को प्राप्त कर सकता है| प्रभु कहते हैं कि वह जिस क्रम से ब्रह्म ज्ञान को प्राप्त होता है, उसको मुझ से समझ|

बुद्धया विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ।।१८-५१।।
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ।।१८-५२।।
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।१८-५३।।

तजे विषय शुद्ध बुद्धि से करे धैर्य पूर्ण जो नियमन |
कर त्याग शब्दादि विषय हो रहित राग द्वेष जन ||१८-५१||
एकांतिक नियमित भोजक जिसके वश तन मन वचन |
वैरागी आश्रित हरि हो निरंतर ध्यानयोग परायन ||१८-५२||
रहित अहंकार बल दर्प काम क्रोध परिग्रह जो जन |
रहित राग हो स्वभाव शांत पा सके वह ब्रह्म अर्जुन ||१८-५३||

भावार्थ: *हे अर्जुन, शुद्ध बुद्धि से युक्त, धैर्य पूर्वक विषय को त्याग कर नियमन करने वाला, शब्दादि विषयों का त्याग कर राग, द्वेष से रहित, एकांत वासी,*

नियमित भोजन करने वाला, शरीर, मन और वाणी को वश में रखने वाला, वैरागी, प्रभु के आश्रय में रहने वाला, निरंतर ध्यानयोग से परायण, अहंकार, बल, घमण्ड, काम, क्रोध और परिग्रह का त्याग करने वाला, ममता रहित और शान्ति युक्त पुरुष ब्रह्म की प्राप्ति कर सकता है|

टीका: जो सांख्ययोग का साधक परमात्म-तत्व को प्राप्त करना चाहता है, उसकी बुद्धि शुद्ध अर्थात् सात्त्विक हो, एवं विवेक स्पष्ट हो| सांख्ययोगी के लिये जिस विवेक की आवश्यकता है, वह विवेक शुद्ध बुद्धि से ही प्रकट होता है| उस विवेक से वह जड़ता का त्याग करता है|

जैसे संसारी लोग राग पूर्वक वस्तु, व्यक्ति आदि के आश्रित रहते हैं, उनको अपना आश्रय मानते हैं, ऐसे ही सांख्ययोग का साधक वैराग्य के आश्रित रहता है, अर्थात् जन समुदाय, भीड़ वाले स्थान आदि से उसकी स्वाभाविक ही निर्लिप्तता बनी रहती है| लौकिक और पारलौकिक सम्पूर्ण भोगों में उसका दृढ़ वैराग्य होता है| सांख्ययोग के साधक का स्वभाव, उसकी रुचि स्वतः स्वाभाविक एकान्त में रहने की होती है| एकान्त सेवन की रुचि होना तो उत्तम है, पर उसका आग्रह नहीं होना चाहिए, अर्थात् एकान्त न मिलने पर मन में विक्षेप नहीं होना चाहिए| आग्रह न होने से रुचि होने पर भी एकान्त न मिले, प्रत्युत समुदाय मिले, तो भी साधक सिद्धि, असिद्धि में सम रहेगा| परन्तु आग्रह होगा तो वह समुदाय को नहीं सह पाएगा| मन जब भगवान् में भली भांति लग जाएगा, तब अन्तःकरण स्वतः ही निर्मल हो जाएगा|

साधक का स्वभाव स्वल्प अर्थात् नियमित और सात्त्विक भोजन करने का होना चाहिए| भोजन के विषय में हित, मित और मेध्य, यह तीन बातें बताई गई हैं| हित का तात्पर्य है, भोजन शरीर के अनुकूल हो| मित का तात्पर्य है, भोजन न तो अधिक करे और न कम करे प्रत्युत जितने भोजन से शरीर निर्वाह हो सके उतना ही भोजन करे| भोजन से शरीर पुष्ट हो जाएगा, ऐसे भाव से भोजन न करे प्रत्युत केवल औषध की तरह क्षुधा निवृत्ति के लिये ही भोजन करे, जिससे साधन में विघ्न न पड़े| मेध्य का तात्पर्य है, भोजन पवित्र हो|

साधक को कितने ही सांसारिक प्रलोभन आएं, उसका ध्येय केवल परमात्म-तत्व की प्राप्ति हो| ऐसी दृढ़ सात्त्विक धृति के द्वारा इन्द्रियों को नियमित रखे अर्थात नियमन करे| शरीर, वाणी और मन को संयत (वश में) करना भी साधक के लिये अत्यंत आवश्यक है| अतः वह शरीर से वृथा भ्रमण न करे, वाणी से वृथा न बोले, असत्य न बोले, निन्दा न करे| मन से राग पूर्वक संसार का चिन्तन न करे, प्रत्युत परमात्मा का चिन्तन करे|

ध्यान के समय बाहर के जितने सम्बन्ध, जो कि विषय रूप से आते हैं और जिनसे संयोगजन्य सुख होता है, उन शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध, इन पाँचों विषयों का स्वरूप से त्याग कर दे| इसका कारण है कि विषयों का राग पूर्वक सेवन करने वाला ध्यानयोग की साधना नहीं कर सकता| अगर विषयों का राग पूर्वक सेवन करेगा तो ध्यान में वृत्तियाँ (बहिर्मुख होने से) नहीं लगेंगी और विषयों का चिन्तन होगा|

ऐसा भाव कभी न करे कि सांसारिक वस्तु महत्वशाली हैं, उपयोगी हैं| इस भाव को ही राग कहते हैं, जो परमात्म-तत्व प्राप्त करने में बाधक है| इसका तात्पर्य है कि अन्तःकरण में असत् वस्तु का रंग, जो राग है, वह परमात्म-तत्व की प्राप्ति में बाधा डालता है| उसके प्रति द्वेष पैदा करता है| असत् संसार के किसी अंश में राग हो जाए तो दूसरे अंश में द्वेष हो जाता है, यह नियम है| जैसे शरीर में राग हो जाए तो शरीर के अनुकूल वस्तु में राग हो जाता है और प्रतिकूल वस्तु में द्वेष हो जाता है| स्मरण रहे कि संसार के साथ राग से भी सम्बन्ध जुड़ता है, और द्वेष से भी सम्बन्ध जुड़ता है|

साधक नित्य ही ध्यानयोग के परायण रहे, अर्थात् ध्यान के अतिरिक्त दूसरा कोई साधन न करे| ध्यान के समय तो ध्यान करे ही, व्यवहार के समय, अर्थात् चलते-फिरते, खाते-पीते, काम करते समय भी यह ध्यान (भाव) सदा बना रहे कि वास्तव में एक परमात्मा के अतिरिक्त संसार की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है|

गुणों को लेकर अपने में जो एक विशेषता दिखती है, उसे अहंकार कहते हैं| हठ से जो आग्रह होता है, उसे बल कहते हैं| भूमि आदि बाह्य वस्तुओं की

विशेषता को लेकर जो अहंकार होता है, उसे दर्प कहते हैं| भोग, पदार्थ तथा अनुकूल परिस्थिति मिल जाए, इस इच्छा का नाम काम है| अपने स्वार्थ और अभिमान में ठेस लगने पर दूसरों का अनिष्ट करने के लिये जो जलनात्मक वृत्ति पैदा होती है, उसको क्रोध कहते हैं| भोग बुद्धि से वस्तुओं का जो संग्रह किया जाता है, उसे परिग्रह कहते हैं| साधक को उपर्युक्त अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह, इन सब का त्याग कर देना चाहिए|

अपने पास निर्वाह की जो वस्तुएँ हैं और कर्म करने के शरीर, इन्द्रियाँ आदि जो साधन हैं, उनमें ममता अर्थात् अपनापन न हो| अपना शरीर, वस्तु आदि जो हमें प्रिय लगते हैं, उनके बने रहने की इच्छा न होना निर्मम होना है| जिन व्यक्तियों और वस्तुओं को हम अपनी मानते हैं, वह पहले से अपनी नहीं थीं और मृत्यु के पश्चात अपनी नहीं रहेंगी| अतः जो अपनी न थीं, न रहेंगी, उनका केवल परमात्म-तत्व की प्राप्ति के लिए उपयोग करना चाहिए|

असत् संसार के साथ सम्बन्ध रखने से ही अन्तःकरण में अशान्ति पैदा होती है| जड़ता से सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद होने पर अशान्ति समाप्त हो जाती है| फिर राग, द्वेष न रहने से साधक सदैव शान्त रहता है| ममता रहित और शान्त मनुष्य (सांख्ययोग का साधक) परमात्म-तत्व की प्राप्ति का अधिकारी बन जाता है, अर्थात् असत का सर्वथा सम्बन्ध छूटते ही उसमें ब्रह्म प्राप्ति की योग्यता, सामर्थ्य आ जाती है| इसका कारण है कि जब तक असत् पदार्थों के साथ सम्बन्ध रहता है, तब तक परमात्म-तत्व की प्राप्ति की सामर्थ्य नहीं आती|

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ।।१८-५४।।

रहे प्रसन्न स्थित ब्रह्म रूप रहित शोक इच्छा अर्जुन |
रखे सदैव सम भाव पा सके वह पराभक्ति भगवन ||१८-५४||

भावार्थ: *हे अर्जुन, ब्रह्म रूप में स्थित और प्रसन्न रहे| न शोक करे न इच्छा| समस्त प्राणियों में सम भाव रखे| वह भगवान् की पराभक्ति को प्राप्त कर सकता है|*

टीका: जब अन्तःकरण में विनाशशील वस्तुओं का महत्व मिट जाता है तब अन्तःकरण की अहंकार आदि वृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं, अर्थात् उनका त्याग हो जाता है| फिर साधक के पास जो वस्तुएँ हैं, उनमें ममता नहीं रहती| ममता न रहने से सुख और भोग बुद्धि से वस्तुओं का संग्रह नहीं होता| जब सुख और भोग बुद्धि मिट जाती है, तब अन्तःकरण में स्वतः स्वाभाविक ही शान्ति आ जाती है| इस प्रकार साधक जब असत्य का त्याग कर देता है, तब वह ब्रह्म प्राप्ति का पात्र बन जाता है| ब्रह्म प्राप्ति का पात्र बनने पर उसकी ब्रह्म भूत अवस्था स्वयं हो जाती है| इसके लिये उसे कुछ परिश्रम नहीं करना पड़ता|

जब अन्तःकरण में असत् वस्तुओं का महत्व बढ़ जाता है, तब उन वस्तुओं को प्राप्त करने की कामना पैदा हो जाती है| इसी कारण हृदय में अशान्ति पैदा हो जाती है| परन्तु जब साधक असत् वस्तुओं का त्याग कर देता है तब उसके चित्त में स्वाभाविक ही प्रसन्नता आ जाती है| अप्रसन्नता का कारण मिट जाने से फिर कभी अप्रसन्नता नहीं होती| इसका कारण है कि सांख्ययोगी साधक के अन्तःकरण में संसार का अभाव और परमात्म-तत्व का भाव अटल रहता है| उस प्रसन्नता के कारण वह शोक और चिन्ता नहीं करता| इसका तात्पर्य है कि उत्पन्न और नष्ट होने वाली तथा परिवर्तनशील परिस्थिति, वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ आदि का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता| वह परमात्मा में अटल रूप से स्थित हो जाता है|

जब तक साधक में किंचित मात्र भी हर्ष, शोक, राग, द्वेष आदि द्वन्द्व रहते हैं, तब तक वह सर्वत्र व्याप्त परमात्मा के साथ अभिन्नता का अनुभव नहीं कर सकता| अभिन्नता का अनुभव न होने से वह अपने को सम्पूर्ण भूतों में सम नहीं देख सकता| परन्तु जब साधक हर्ष, शोकादि द्वन्द्वों से सर्वथा रहित हो जाता है, तब परमात्मा के साथ स्वतः स्वाभाविक अभिन्नता का अनुभव हो जाता है| परमात्मा के साथ अभिन्नता होने से एवं अपनी कोई अलग सत्ता का अनुभव न

करने से, वह सम्पूर्ण प्राणियों में समता देखता है, 'समोऽहं सर्वभूतेषु'| समरूप परमात्मा के साथ अभिन्नता का अनुभव होते ही साधक का सर्वत्र समभाव हो जाता है, तब उसका परमात्मा में प्रतिक्षण वर्धमान एक विलक्षण आकर्षण, अनुराग हो जाता है| इसी को प्रभु ने पराभक्ति कहा है|

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ।।१८-५५।।

करें प्राप्त मेरा ज्ञान तत्व पराभक्ति से योगिगन |
जो सुभग जान सकें मेरा परम तत्व हे पृथानंदन ||
हों तत्काल प्रविष्ट मुझ में वह मेरे भक्त पावन ||१८-५५||

भावार्थ: *हे अर्जुन, पराभक्ति से योगीगण मेरा तत्व ज्ञान प्राप्त करें| जो सौभाग्यशाली पवित्र भक्त मेरे परम तत्व को जान सकें, वह मुझ में तत्काल प्रविष्ट हो जाते हैं|*

टीका: जब परमात्म-तत्व में आकर्षण, अनुराग हो जाता है, तब साधक स्वयं परमात्मा के सर्वथा समर्पित हो जाता है| वह परमात्म-तत्व से अभिन्न हो जाता है, फिर उसका पृथक कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रहता अर्थात् उसके अहं भाव का अति सूक्ष्म अंश भी शेष नहीं रहता| उसको प्रभु की प्रेम भक्ति प्राप्त हो जाती है| उस भक्ति से परमात्म-तत्व का वास्तविक बोध हो जाता है| ब्रह्म भूत अवस्था हो जाने पर संसार के साथ सम्बन्ध का सर्वथा त्याग हो जाता है| यह अवश्य संभव है कि सूक्ष्म अहं भाव, जैसे 'मैं ब्रह्म हूँ, मैं शान्त हूँ, मैं निर्विकार हूँ', अभी भी रह सकता है| यह अहं भाव जब तक रहता है, तब तक परिच्छिन्नता और पराधीनता रहती है| इसका कारण है कि यह अहं भाव प्रकृति का कार्य है और प्रकृति 'पर' है इसलिये पराधीनता रहती है| परमात्मा की ओर आकृष्ट होने से, पराभक्ति होने से ही यह अहं भाव मिट जाता है| इस अहं भाव के सर्वथा मिटने से ही परमात्म-तत्व का वास्तविक बोध होता है|

प्रभु ने पहले कहा है कि जिसका मन मुझ में आसक्त हो गया है, जिसको मेरा ही आश्रय है, वह अनन्य भाव से मेरे साथ दृढ़ता पूर्वक सम्बन्ध रखते हुए मेरे समग्र रूप को जान लेता है| वह ब्रह्म, सम्पूर्ण अध्यात्म और सम्पूर्ण कर्म को अर्थात् सम्पूर्ण निर्गुण विषय को, और अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ के सहित मुझ को अर्थात् सम्पूर्ण सगुण विषय को भी जान लेता है| इस प्रकार निर्गुण और सगुण के अतिरिक्त राम, कृष्ण, शिव, गणेश, शक्ति, सूर्य आदि अनेक रूपों में प्रकट होकर जो मैं लीला करता हूँ, उसको भी जान जाता है| यही पराभक्ति से मेरे समग्र रूप को जानना है|

स्मरण रहे कि परमात्मा अनेक रूपों में, अनेक आकृतियों में, अनेक शक्तियों को साथ लेकर, अनेक कार्य करने के लिये बार बार अवतार लेते हैं| यही परमात्मा अनेक सम्प्रदायों में उनकी भावना के अनुसार उनके इष्ट देवों के रूप में पूजित हैं| वास्तव में परमात्मा एक ही हैं, इस प्रकार प्रभु के रूप को तत्व से जान लो, 'ततो मां तत्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्'| ऐसा प्रभु को तत्व से जानकर तत्काल साधक प्रभु में प्रविष्ट हो जाता है, अर्थात् प्रभु के साथ भिन्नता का भाव सर्वथा मिट जाता है| यही पूर्णता है और इसी में मनुष्य जन्म की सार्थकता है|

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद् व्यापाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ।।१८-५६।।

ले आश्रय मेरा और करता हुआ सहज कर्म भूजन |
करे प्राप्त शाश्वत अव्यय पद मेरी कृपा से अर्जुन ||१८-५६||

भावार्थ: *हे अर्जुन, मेरे परायण हुआ प्राणी स्वाभाविक कर्म करता हुआ, मेरी कृपा से सनातन अविनाशी पद को प्राप्त हो जाता है|*

टीका: प्रभु कहते हैं कि साधक को कर्मों का, कर्मों के फल का, कर्मों के पूर्ण होने का अथवा न होने का, किसी घटना, परिस्थिति, वस्तु, व्यक्ति आदि का आश्रय न हो कर केवल मेरा ही आश्रय (सहारा) होना चाहिए|। इस तरह जो

सर्वथा मेरे ही परायण हो जाता है, अपना स्वतन्त्र कुछ नहीं समझता, किसी भी वस्तु को अपनी नहीं मानता, सर्वथा मेरे आश्रित रहता है, ऐसे भक्त को अपने उद्धार के लिये कुछ नहीं करना पड़ता| उसका उद्धार मैं कर देता हूँ| उसको अपने जीवन निर्वाह या साधन सम्बन्धी किसी की कमी नहीं रहती, सब की पूर्ति मैं कर देता हूँ| यह मेरा विधान है जो मेरे सर्वथा शरण हो जाने वाले प्रत्येक प्राणी को प्राप्त है|

जिस ध्यान परायण सांख्ययोगी ने शरीर, वाणी और मन का संयमन कर लिया है, अर्थात् जिसने शरीर आदि की क्रियाओं को संकुचित कर लिया है और एकान्त में रहकर सदा ध्यानयोग में लगा रहता है, वह सभी लौकिक, पार-लौकिक, सामाजिक, शारीरिक आदि सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मों को सदैव करते हुए मेरी कृपा प्राप्त कर लेता है| इसका तात्पर्य है कि जिस साधक ने प्रभु का आश्रय ले लिया है, उसका कल्याण उनकी कृपा से निश्चित है| मनुष्य जब तक असत् संसार का आश्रय लेकर भगवान् से विमुख रहता है, तब तक भगवत् कृपा उसके लिये फलीभूत नहीं होती| परन्तु जब मनुष्य भगवान् का आश्रय लेकर दूसरे आश्रय छोड़ देता है, वैसे ही भगवान् का आश्रय दृढ़ होता चला जाता है, और वह भगवत् कृपा का अनुभव करने लगता है|

स्मरण रहे कि स्वतः सिद्ध परम पद की प्राप्ति अपने कर्मों से, अपने पुरुषार्थ से अथवा अपने साधन से कभी नहीं होती| यह तो केवल भगवत् कृपा से ही होती है|

शाश्वत, अव्यय पद सर्वोत्कृष्ट है| इसी परम पद को भक्तिमार्ग में परम-धाम, सत्य-लोक, वैकुण्ठ-लोक, गो-लोक, साकेत-लोक आदि कहते हैं, और ज्ञानमार्ग में विदेह, कैवल्य, मुक्ति, स्वरूप स्थिति आदि कहते हैं| यह परम पद तत्व से एक होते हुए भी मार्गों और उपासनाओं का भेद होने से उपासकों की दृष्टि में भिन्न भिन्न नामों से जाना जाता है| भगवान् का चिन्मय लोक एक विशेष लोक में होते हुए भी वह सब स्थान पर व्यापक रूप से परिपूर्ण है| जहां भगवान् हैं वहीं उनका लोक है क्योंकि भगवान् और उनका लोक, तत्व से एक ही हैं| भगवान् सर्वत्र विराजमान हैं अतः उनका लोक भी सर्वत्र विराजमान (सर्वव्यापी)

है| जब भक्त की अनन्य निष्ठा सिद्ध हो जाती है, तब परिच्छिन्नता का अत्यन्त अभाव हो जाता है और वही लोक उसके सामने प्रकट हो जाता है| अर्थात् उसे इस जन्म में ही उस लोक की दिव्य लीलाओं का अनुभव होने लगता है|

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चितः सततं भव ।।१८-५७।।

ले आश्रय समता का कर सब कर्म मुझ में अर्पन |
कर रमण चित्त मुझ में हो मेरे समर्पण पूर्ण अर्जुन ||१८-५७||

भावार्थ: *हे अर्जुन, सब कर्मों का मन से मुझ को अर्पण कर, समता का आश्रय लेकर, अपने चित्त को निरंतर मुझ में रमण कर, मुझ में पूर्ण समर्पित हो जा|*

टीका: प्रभु कहते हैं कि हे अर्जुन, समस्त कर्मों को मुझे अर्पित कर दे| इसका तात्पर्य है कि भगवान् ही सबके स्वामी हैं| संसार में कोई भी वस्तु किसी की भी व्यक्तिगत नहीं है| केवल इन वस्तुओं का सदुपयोग करने के लिये ही भगवान् ने मनुष्य को व्यक्तिगत अधिकार दिया है| उनकी कृपा प्राप्त करने के लिए इस भगवान् द्वारा दिए हुए अधिकार को भगवान् को ही अर्पण कर देना चाहिए| शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि से जो कुछ शास्त्रविहित सांसारिक या पारमार्थिक क्रियाएँ होती हैं, वह सब भगवान् की इच्छा से ही होती हैं| मनुष्य तो केवल अहंकार के कारण उनको अपनी की हुई क्रिया मान लेता है| जब मनुष्य को ऐसा अनुभव हो जाता है कि किसी भी देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदि से मेरा कोई प्रयोजन नहीं है, तब वह भगवान् के परायण हो जाता है|

प्रभु ने समता की महिमा का प्रत्येक स्थान पर गुणगान किया है| मनुष्य में समता आने पर वह ज्ञानी, ध्यानी, योगी, भक्त आदि सब कुछ बन जाता है| परन्तु यदि उसमें समता नहीं है, तो अच्छे लक्षण होने पर भी भगवान् उसको पूर्ण नहीं मानते| वास्तव में यह समता मनुष्य में स्वाभाविक रूप से रहती है| केवल परिवर्तनशील परिस्थितियों एवं भगवान् का आश्रित न होने के कारण, उसमें समता भाव का अनुभव नहीं होता और वह सदा सुखी, दुःखी रहता है|

मनुष्य को अनुकूल परिस्थिति में सुख एवं प्रतिकूल परिस्थिति में दुःख नहीं मनाना चाहिए| सुख-दुःख, अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति, हानि-लाभ में सदैव समान रहना चाहिए| स्वयं में स्थित रहने से सुख, दुःख आदि में समता आ जाती है| यह समता ही भगवान् की आराधना है, 'समत्वमाराधनमच्युतस्य'|

जो स्वयं को सर्वथा भगवान् के समर्पित कर देता है, उसका चित्त भी सर्वथा भगवान् के चरणों में समर्पित हो जाता है, फिर उस पर भगवान् का जो स्वतः स्वाभाविक अधिकार है, वह प्रकट हो जाता है| तब उसके चित्त में स्वयं भगवान् आकर विराजमान हो जाते हैं| स्मरण रहे कि भगवान् का निरन्तर चिन्तन तभी होगा, जब 'मैं भगवान् का हूँ', इस प्रकार अहंता भगवान् में लग जाएगी| अहंता भगवान् में लग जाने पर चित्त स्वतः स्वाभाविक ही भगवान् में लग जाता है| केवल संसार के साथ सम्बन्ध जोड़ने से ही नित्य सम्बन्ध की विस्मृति हुई है| उस विस्मृति को मिटाने के लिये भगवान् कहते हैं कि निरन्तर मुझ में ही चित्त लगा| भगवान् का जप, कीर्तन, भगवत् कथा आदि भगवत् सम्बन्धी कार्यों में लगने से प्रभु में चित्त लग जाएगा| सब कर्म भगवान् को अर्पण करने से संसार से नित्य वियोग हो जाता है और भगवान् के परायण होने से नित्य योग (प्रेम) हो जाता है|

भगवान् पूर्ण हैं और उनका प्रेम भी पूर्ण है| परमात्मा का अंश होने से जीव स्वयं भी पूर्ण है, अपूर्णता तो केवल संसार के सम्बन्ध से ही आती है| इसलिये भगवान् के साथ जब प्रेम हो जाता है तो पूर्णता स्वयं आ जाती है| विभिन्न प्रकार की प्रभु में आस्था होने से इस प्रेम को विभिन्न नाम दिए गए हैं| दास्य प्रेम में भक्त का भगवान् के प्रति स्वामी भाव होता है, सख्य भाव में भक्त का भगवान् के प्रति सखा भाव होता है, वात्सल्य भाव में भक्त का अपने में स्वामी भाव रहता है, जैसे कि 'मैं भगवान् की माता हूँ, या उनका पिता हूँ, अथवा उनका गुरु हूँ' , आदि| माधुर्य भाव में भगवान् के ऐश्वर्य की विस्मृति होने के कारण वह प्रभु के साथ अभिन्नता (घनिष्ठ अपनापन) का भाव रखता है| कोई भी भाव हो, भगवान् के साथ प्रेम होना चाहिए| प्रेम रस अलौकिक है, चिन्मय है| इसका आस्वादन करने वाले केवल भगवान् ही हैं| प्रेम में प्रेमी और प्रेमास्पद दोनों ही चिन्मय तत्व होते हैं| कभी प्रेमी प्रेमास्पद बन जाता है, तो कभी प्रेमास्पद प्रेमी बन जाता है| अतः एक चिन्मय तत्व ही प्रेम का आस्वादन करने के लिये दो रूपों में हो

जाता है| प्रेम के तत्व को न समझने के कारण कुछ लोग लौकिक सम्बन्धों को ही प्रेम समझ लेते हैं| वास्तव में प्रेम तो प्रभु के साथ ही हो सकता है| स्मरण रहे कि इन्द्रियों को तृप्त करने में सुख भोगने का भाव रहता है और प्रेम में अपने प्रेमास्पद को सुख पहुँचाने तथा सेवा परायण रहने का भाव रहता है| राग केवल शरीर को लेकर ही होता है और प्रेम स्थूल दृष्टि से शरीर में दिखते हुए भी वास्तव में चिन्मय तत्व से ही होता है| राग में मोह (मूढ़ भाव) रहता है, प्रेम में मोह की गन्ध भी नहीं होती| राग में संसार तथा संसार का दुःख भरा रहता है, और प्रेम में मुक्ति तथा मुक्ति से भी विलक्षण आनन्द रहता है| राग में जड़ता (शरीर, इन्द्रियाँ, आदि) की मुख्यता रहती है, और प्रेम में चिन्मयता (चेतन स्वरूप) की मुख्यता रहती है| राग में ममता होती है और प्रेम में त्याग होता है| राग में परतन्त्रता होती है, और प्रेम में परतन्त्रता का लेशमात्र अंश भी नहीं होता, अर्थात् सर्वथा स्वतन्त्रता होती है| राग में स्वार्थ भावना होती है, और प्रेम निःस्वार्थ होता है| राग में कामी भोग्य वस्तु का दास बन जाता है और प्रेम में स्वयं भगवान् प्रेमी के दास बन जाते हैं| राग का रस नीरसता में बदलता है और प्रेम का रस आनन्द रूप से प्रतिक्षण बढ़ता ही रहता है| राग खिन्नता से पैदा होता है, और प्रेम प्रेमास्पद की प्रसन्नता से प्रकट होता है| राग में अपनी प्रसन्नता का ही उद्देश्य रहता है, और प्रेम में प्रेमास्पद की प्रसन्नता का उद्देश्य रहता है| राग मार्ग नर्कों की ओर ले जाता है, और प्रेम मार्ग भगवान् की ओर ले जाता है| राग में दो हो कर दो ही रहते हैं, अर्थात् द्वैधी भाव (भिन्नता या भेद) कभी नहीं मिटता, और प्रेम में एक हो कर दो होते हैं, अर्थात् अभिन्नता कभी नहीं मिटती|

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ।।१८-५८।।

जब हो चित्त समर्पित मुझ में हेतु मेरे आशीर्वचन |
हो जाते दूर सब विघ्न अन्यथा होता मदवश पतन ||१८-५८||

भावार्थ: *जब मुझ में चित्त समर्पित होता है तब मेरी कृपा से समस्त संकट दूर हो जाते हैं| अन्यथा अहंकार के वश होकर पतन होता है|*

टीका: भगवान् कहते हैं कि मेरी कृपा से मुझ को समर्पित प्राणी के सम्पूर्ण विघ्न, बाधा, शोक, दुःख आदि दूर हो जाते हैं| जब भगवद्भक्त अपने सब कर्म भगवान् को अर्पण कर, समता के आश्रय से संसार की संयोगजन्य लोलुपता से सर्वथा विमुख हो जाता है, तब भगवान् के साथ उसका अटल सम्बन्ध जुड़ जाता है| उसकी विघ्न बाधाओं को दूर करने का पूर्ण दायित्व भगवान् का हो जाता है| इस प्रकार की भगवत् कृपा प्राप्त करने के लिए साधक को संसार के साथ सम्बन्ध विच्छेद करना आवश्यक है| भगवान् का आश्रय लेने वाले प्राणियों की सम्पूर्ण विघ्न बाधाओं तो दूर होती ही हैं, भगवद कृपा से उन्हें मुक्ति भी मिल जाती है|

भगवान् अत्यधिक कृपालुता के कारण आत्मीयता पूर्वक अर्जुन से कह रहे हैं कि मैंने जो कुछ कहा है, उसे न मानकर अगर अहंकार के कारण कोई इसके विपरीत आचरण करता है, तो उसका पतन निश्चित है| यहां यह विशेष है कि यदि कोई साधक प्रभु को समर्पित हो भूल के कारण कोई त्रुटि कर दे, तो वह क्षम्य है| परन्तु यदि अहंकार से कोई प्रभु के आदेश का पालन नहीं करेगा, तो उसका पतन ही होगा| अभिमान ही सम्पूर्ण आसुरी सम्पत्ति का मूल है|

स्मरण रहे कि भगवान् की कृपा में जो शक्ति है, वह शक्ति किसी साधना में नहीं है| इसका अर्थ यह नहीं कि साधना न करें, प्रत्युत परमात्म-तत्व की प्राप्ति के लिये साधना करना मनुष्य का स्वाभाविक धर्म होना चाहिए| मनुष्य जन्म केवल परमात्म-तत्व की प्राप्ति के लिये ही मिला है| मनुष्य जन्म को प्राप्त करके भी जो परमात्म-तत्व को प्राप्त नहीं करता, वह यदि किसी उच्च लोक में भी चला जाए तो भी उसे लौटकर संसार (जन्म-मरण) में ही आना पड़ेगा| अतः मनुष्य को इसी लोक में भगवत् प्राप्ति कर लेनी चाहिए और जन्म-मरण से रहित हो जाना चाहिए| कर्मयोगी के लिये भगवान् ने कहा है कि समता युक्त पुरुष इस जीवित अवस्था में ही पुण्य और पाप, दोनों से रहित हो जाता है| इसका तात्पर्य यह हुआ कि कर्म बन्धन से सर्वथा रहित होना अर्थात् जन्म-मरण से रहित होना मनुष्य का परम ध्येय है| पहले भगवान् ने कहा है कि मैं अपनी कृपा से भक्तों के अन्तःकरण में ज्ञान प्रकाशित कर देता हूँ, मेरी कृपा से ही परम पद की प्राप्ति होती है, अब यहां कह रहे हैं कि उनकी कृपा से ही प्राणी

सम्पूर्ण विघ्नों से तर जाता है| परम पद को प्राप्त होने पर किसी प्रकार की विघ्न, बाधा सामने आने की सम्भावना ही नहीं रहती| फिर भी सम्पूर्ण विघ्न, बाधाओं को तरने की बात कहने का तात्पर्य यह है कि अर्जुन के मन में यह भय बैठा हुआ था कि युद्ध करने से उन्हें पाप लगेगा| युद्ध के कारण कुल परम्परा के नष्ट होने से पितरों का पतन हो जाएगा, और इस प्रकार अनर्थ परम्परा बढ़ती ही जाएगी| हम राज्य के लोभ में इस महान् पाप को करने के लिये तैयार हो गए हैं, इसलिये मैं शस्त्र छोड़कर बैठता हूँ| धृतराष्ट्र के पक्ष के लोग मुझे मार भी दें, तो भी मेरा कल्याण ही होगा| इसका समाधान देते हुए भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन, तुम चिंता न करो, मेरी कृपा से तुम सब विघ्न एवं पाप से तर जाओगे| मेरी कृपा से तुम्हें किंचित मात्र भी न पाप लगेगा और न कोई बन्धन ही रहेगा| मेरी कृपा से सर्वथा शुद्ध होकर तुम परम पद को प्राप्त करोगे|

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ।।१८-५९।।

ले आश्रय अहंकार तुम जो कर रहे निश्चय न करें रन |
है यह निश्चय मिथ्य हो क्षत्रिय तुम रण तुम्हारा कर्मन ||१८-५९||

भावार्थ: *अहंकार का आश्रय लेकर जो तुम यह युद्ध न लड़ने का निश्चय कर रहे हो, वह निश्चय अनुचित है| तुम क्षत्रिय हो और युद्ध तुम्हारा धर्म है|*

टीका: अपने शरीर को कर्ता मानना अहंकार का एक विकृत अंश है| इस विकृत अहंकार का आश्रय लेने वाला पुरुष कभी भी क्रिया रहित नहीं हो सकता| इसका कारण है कि प्रकृति सदैव क्रियाशील है, परिवर्तनशील है, इसलिये उसके आश्रित रहने वाला कोई भी मनुष्य कर्म किए बिना नहीं रह सकता| जब मनुष्य अहंकार पूर्वक क्रियाशील प्रकृति के वश में हो जाता है, तो कर्म करना और न करना, इन दोनों भावनाओं से वह नहीं छूटता| परन्तु जब मनुष्य प्रकृति के परवश नहीं रहता, उससे निर्लिप्त हो जाता है, तो फिर उसके लिये करना और न करना, यह दोनों ही निरर्थक हो जाते है| इसका तात्पर्य यह है कि प्राणी प्रकृति के साथ सम्बन्ध भी रखे और कर्म न करे, ऐसा सम्भव नहीं

है| परन्तु जिसने प्रकृति से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया है, जो सर्वथा भगवान् के शरण आ गया है, उसको कर्म करने के लिये बाध्य नहीं होना पड़ता|

भगवान् यहाँ अर्जुन को समझा रहे हैं कि तुम अहंकार के आधीन होकर ऐसा निर्णय ले रहे हो कि युद्ध नहीं करो, यह मिथ्या है| क्षत्रिय होने के कारण यह तुम्हारा धर्म है कि युद्ध करो| तुम मेरे शरण आओ, न कि अहंकार के| अहंकार का शरण प्राणी को संसार की ओर ले जाता है, 'निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि'| क्षात्र प्रकृति के परवश होकर तुम्हें युद्ध करना ही पड़ेगा|

प्रभु कह रहे हैं कि अर्जुन, तुम्हारा युद्ध न लड़ना मिथ्या निर्णय है| प्रकृति के साथ मिलकर प्राकृत पदार्थों का निश्चय करना मिथ्या है| केवल परमात्मा की शरण में जाकर जो निर्णय लिया जाता है, वही वास्तविक अथवा सत्य है| आश्रय परमात्मा का ही होना चाहिए, प्रकृति और प्रकृति के सांसारिक कार्य का नहीं| यदि प्राणी यह निश्चय कर लेता है कि 'मैं परमात्मा का ही हूँ और मुझे केवल परमात्मा की ओर ही चलना है', यही निश्चय वास्तविक अर्थात् सत्य है, नित्य है|

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ।।१८-६०।।

प्रकृतिवश हो बंधे हुए तुम क्षत्रिय धर्म बंधन|
पर हो मोहवश सोच रहे तुम रण मध्य कुछ भिन्न ||
परवश हो स्वभाव क्षात्र करना पड़ेगा रण अर्जुन ||१८-६०||

भावार्थ: *हे अर्जुन, प्रकृतिवश तुम क्षत्रिय धर्म बंधन में बंधे हुए हो| लेकिन मोहवश युद्ध के मध्य में तुम पृथक सोच रहे हो| क्षात्र स्वभाव से परवश हो तुम्हें युद्ध करना पड़ेगा|*

टीका: पूर्व जन्म में जैसे कर्म और गुणों की वृत्तियाँ रही हैं, इस जन्म में जैसे परिवार से संस्कार मिले हैं, जैसी शिक्षा प्राप्त हुई है, जैसे कर्म किए हैं, उन सबके मिलने से जो कर्म करने की एक आदत बन जाती है, उसका नाम स्वभाव है| इसी को स्व-धर्म भी कहते हैं, 'स्वधर्ममपि चावहक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि'|

भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं कि स्वभावजन्य तुम क्षात्र प्रकृति से बंधे हुए हो, लेकिन मोह के कारण तुम पृथक सोच रहे हो| स्वभाव के अनुसार ही शास्त्रों ने कर्तव्य पालन की आज्ञा दी है| इस स्वभावज कर्म (क्षात्र धर्म) के अनुसार तुम युद्ध करने के लिये परवश हो| युद्ध रूप कर्तव्य को न करने का तुम्हारा विचार मूढ़ता है|

ईश्वरः सर्वभूतानां हृदेशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानिं यंत्रारूढानि मायया ।।१८-६१।।

रहता ईश्वर सब के हृदय पर माया से भ्रमित जन |
करता रहता भ्रमण विभिन्न लोक योनि विभिन्न ||
भोगता रहता फल तदनुसार कर्म कुन्तीनन्दन ||१८-६१||

भावार्थ: *हे कुन्तीनन्दन, ईश्वर सभी के हृदय में रहता है, परन्तु प्राणी माया से भ्रमित होकर विभिन्न योनियों में विभिन्न लोकों में अपने कर्मों के फल के अनुसार भ्रमण करता रहता है|*

टीका: ईश्वर सब का शासक, नियामक, भरण, पोषण करने वाला और निरपेक्ष रूप से संचालक है| वह अपनी शक्ति से सभी प्राणियों को उनके कर्म के अनुसार स्व-माया में स्थित हो घुमाता रहता है| स्मरण रहे कि जब तक मनुष्य शरीर रूपी यन्त्र के साथ अपनत्व का सम्बन्ध रखता है, तब तक ईश्वर उसको उसके स्वभाव के अनुसार कई लोकों में संचालित करता रहता है| वह मनुष्य जन्म-मरण रूप संसार के चक्र में घूमता रहता है| शरीर के साथ अपनत्व होने से राग, द्वेष पैदा होते हैं जिससे स्वभाव अशुद्ध हो जाता है| स्वभाव के अशुद्ध होने पर मनुष्य प्रकृति अर्थात् स्वभाव के परवश हो जाता है| परन्तु शरीर से सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद होने पर जब स्वभाव राग, द्वेष से रहित, अर्थात् शुद्ध हो जाता है, तब प्रकृति की परवशता नहीं रहती| प्रकृति (स्वभाव) की परवशता न रहने से ईश्वर की माया उसको संचालित नहीं करती| अब यहाँ यह शंका हो सकती कि जब ईश्वर ही हमें भ्रमण कराते रहते हैं, वही क्रिया करवाते हैं, फिर स्वतंत्रता कहाँ रही? उदाहरण के लिए जब हम किसी विशेष यन्त्रारूढ़ हो जाते

हैं तब हम उस यंत्र की प्रकृति और उसके यन्त्र के संचालक के अधीन हो जाते हैं, परतन्त्र हो जाते हैं, फिर यन्त्र की प्रकृति और उसका संचालक (प्रेरक) जैसा करायेगा, वैसा ही होगा| उदाहरण के लिए विद्युत् से संचालित होने वाले यन्त्र अनेक प्रकार के होते हैं| एक यन्त्र से हिम जमती है और दूसरे यन्त्र से अग्नि प्रज्ज्वलित होती है, अर्थात् उनमें एक दूसरे से बिलकुल विरुद्ध काम होता है| परन्तु संचालक तो विद्युत् ही है| यह यन्त्र की प्रकृति पर निर्भर करता है कि हिम जमे या अग्नि प्रज्ज्वलित हो| ऐसे ही मनुष्य, पशु, पक्षी, देवता, यक्ष राक्षस आदि जितने भी प्राणी हैं, वह सब शरीर रूपी यन्त्रों पर चढ़े हुए हैं और उन सभी यन्त्रों को ईश्वर संचालित करता है| उन पृथक पृथक शरीर में जिस शरीर का जैसा स्वभाव होगा, उस स्वभाव के अनुसार ही वह ईश्वर से प्रेरणा पाएगा और कार्य करेगा| इसका तात्पर्य यह है कि शरीर से अपनत्व का सम्बन्ध मानने वाले का जैसा (अच्छा या बुरा) स्वभाव होता है, उससे वैसी ही क्रियाएँ होती हैं| अच्छे स्वभाव वाले (सज्जन) मनुष्य के द्वारा श्रेष्ठ क्रियाएँ होती हैं और बुरा स्वभाव वाले (दुष्ट) मनुष्य के द्वारा निकृष्ट क्रियाएँ होती हैं| इसलिये श्रेष्ठ या निकृष्ट क्रियाओं को कराने में ईश्वर का हाथ नहीं है, प्रत्युत स्वयं के बनाए हुए श्रेष्ठ या निकृष्ट स्वभाव का ही हाथ है| जैसे विद्युत् यन्त्र के स्वभाव के अनुसार ही उसका संचालन करती है, ऐसे ही ईश्वर प्राणी के (शरीर में स्थित) स्वभाव के अनुसार उसका संचालन करते हैं| जैसा स्वभाव होगा, वैसे ही कर्म होंगे| स्वभाव को सुधारने में और बिगाड़ने में सभी मनुष्य स्वतन्त्र हैं, कोई भी परतन्त्र नहीं है| परन्तु पशु, पक्षी, आदि जितने भी मनुष्येतर प्राणी हैं, उनमें अपने स्वभाव को सुधारने का न अधिकार है और न स्वतन्त्रता ही है| मनुष्य शरीर अपना उद्धार करने के लिये ही मिला है, इसलिये इसमें अपने स्वभाव को सुधारने का पूर्ण अधिकार, पूर्ण स्वतन्त्रता है| उस स्वतन्त्रता का सदुपयोग कर स्वभाव सुधारने में और स्वतन्त्रता का दुरुपयोग कर स्वभाव बिगाड़ने में मनुष्य स्वयं ही हेतु है|

ईश्वर सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में वास करते हैं| यह कहने का तात्पर्य है कि जैसे पृथ्वी में सब जगह जल रहने पर भी जहां कुआँ होता है, वहीं से जल प्राप्त होता है, ऐसे ही परमात्मा सब स्थान पर समान रीति से परिपूर्ण होते हुए भी

हृदय में ही प्राप्त होते हैं, अर्थात् हृदय सर्वव्यापी परमात्मा की प्राप्ति का विशेष स्थान है, 'तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्'|

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वत ।।१८-६२।।

आओ शरण ईश्वर सर्व भाव भरतवंशी अर्जुन|
उनकी कृपा से पाओगे शाश्वत शांति पद पावन ||१८-६२||

भावार्थ: *हे भारतवंशी अर्जुन, सब भाव से परमेश्वर की शरण में आओ| उनकी कृपा से पवित्र सनातन परम धाम को प्राप्त कर लोगे|*

टीका: अर्जुन को समझाते हुए भगवान् कहते हैं कि शरणागत भक्त मेरी कृपा से शाश्वत पद को प्राप्त हो जाता है, अतः मुझ में चित्त रमण कर मेरी कृपा से तुम भी सम्पूर्ण विघ्नों से तर जाओ| जो सर्वव्यापक ईश्वर सबके हृदय में विराजमान है और सब का संचालक है, तुम उन्हीं की शरण में आओ| इसका तात्पर्य है कि सांसारिक उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थ, वस्तु, व्यक्ति, घटना परिस्थिति आदि किसी का आश्रय न लेकर केवल अविनाशी परमात्मा का ही आश्रय लो|

सर्वभाव से शरण में जाने का तात्पर्य है कि मन से परमात्मा का चिन्तन हो, शारीरिक क्रियाओं से उन्हीं का पूजन हो, उन्हीं का प्रेम पूर्वक भजन हो और उनके प्रत्येक विधान में परम प्रसन्नता हो| वह विधान चाहे शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि के अनुकूल हों या प्रतिकूल, भगवान् का प्रसाद समझ सभी परिस्थितियों को ग्रहण कर प्रसन्न रहें| सदैव यही भाव रहे कि प्रभु ने केवल मेरे हित की भावना से, मेरा परम कल्याण करने के लिये ही ऐसा विधान बनाया है, 'हैतत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्'|

अविनाशी परम पद को परा-शान्ति नाम से भी कहा गया है| परा-शान्ति का अर्थ संसार से सर्वथा उपरति और शाश्वत स्थान का अर्थ परम-पद है|

भगवान् ने पहले भी कहा है कि मैं अजन्मा, अविनाशी और सम्पूर्ण प्राणियों का ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृति को अधीन करके अपनी योग माया से प्रकट होता हूँ| मैं सम्पूर्ण यज्ञों और तपों का भोक्ता हूँ, सम्पूर्ण लोकों का ईश्वर हूँ और सम्पूर्ण प्राणियों का सुहृद हूँ| ऐसा मुझे मानने से शान्ति की प्राप्ति होती है| परन्तु जो मुझे सम्पूर्ण यज्ञों का भोक्ता और सब का स्वामी नहीं मानते, उनका पतन होता है|

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ।।१८-६३।।

है यह गुह्यतम ज्ञान जो मैंने दिया तुम्हें अर्जुन|
कर विचार यह भली भांति फिर करो तुम जो मन्मन् ||१८-६३||

भावार्थ: *हे अर्जुन, यह अत्यंत गोपनीय ज्ञान मैंने तुम्हें दिया है| इस को भली भाँति विचारकर, फिर जैसा तुम चाहते हो वैसा करो|*

टीका: भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि यह अत्यंत गोपनीय शरणागति रूप ज्ञान मैंने तुम्हें दे दिया है| कर्मयोग गुह्य है और अन्तर्यामी निराकार परमात्मा की शरणागति गुह्यतर (अत्यंत गोपनीय) है| तुम इस पर अच्छी तरह से विचार कर लो, फिर जो तुम्हें उचित लगे, वह करो|

भगवान् ने अर्जुन को अपना ज्ञान थोपा नहीं, प्रत्युत उस पर भली भांति विचार कर उचित क्षात्र धर्म का पालन करने को कहा| इसमें भगवान् की आत्मीयता, कृपालुता और हितैषिता प्रत्यक्ष दिख रही है|

सर्वगुह्यतमं भूयः श्रृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ।।१८-६४।।

सुनो मेरे अति गुह्यतम परम वचन हे कुन्तीनन्दन|
हो तुम मेरे परम मित्र कहूँ यह विशेष सुहित वचन ||१८-६४||

भावार्थ: *हे कुन्तीनन्दन, मेरे अत्यंत परम रहस्य युक्त वचन को सुनो| तुम मेरे परम मित्र हो, इसलिए यह विशेष हितकारक वचन कह रहा हूँ|*

टीका: पहले भगवान् ने गुह्य (कर्मयोग की) और गुह्यतर (अन्तर्यामी निराकार की शरणागति की) बात कही और अब परम गुह्य (गुह्यतम) शब्द का प्रयोग कर रहे हैं| यहां भगवान् यह कह रहे हैं कि यह ज्ञान प्रत्येक को देने वाला नहीं है, अतः परम गोपनीय है| इस ज्ञान को असहिष्णु और अभक्त को कभी नहीं देना चाहिए| भगवान् यहाँ कहते हैं कि हे अर्जुन, धर्म के निर्णय का भार तुम अपने ऊपर मत लो, वह भार मुझ पर छोड़ दो| सभी कर्म, निर्णय मुझे अर्पण कर दो और अनन्य भाव से केवल मेरी शरण में आ जाओ, फिर तुम्हें कोई पाप नहीं लगेगा|

भगवान् ने कहा है कि मेरे गुह्यतम ज्ञान पर विचार कर फिर जैसी तुम्हारी इच्छा हो, वह करो| यहाँ कहते हैं कि तुम मेरे अत्यन्त प्रिय मित्र हो| भगवान् अर्जुन को अपने शरणागत भक्त के समान अपना परम मित्र मानते हैं| भगवान् अर्जुन को अपना परम मित्र क्यों कह रहे हैं, इस विषय में उनका स्पष्ट विधान है, 'भक्त जैसे मेरी शरण में आते हैं, मैं उनको वैसे ही आश्रय देता हूँ'| अर्जुन के हृदय में प्रभु के लिए साख्य भाव है, इसलिए प्रभु भी उन्हें अपना सखा ही मानते हैं|

भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन, तुम मेरे परम मित्र हो, इसलिये अपने हृदय की अत्यन्त गोपनीय और अपने विधान की श्रेष्ठ बात तुम्हें बता रहा हूँ| मेरे मित्र का हित ही मेरा लक्ष्य है| सबसे हितकर यही है कि तुम मेरे शरण में आ जाओ|

यही शिक्षा हम सब के लिए भी है| केवल भगवान् की ही शरण लो| भगवान् की शरण लेने के अतिरिक्त हम सभी जीव का कुछ और हितकर नहीं हो सकता| इसका कारण है कि जीव साक्षात् परमात्मा का ही अंश है| इसलिये वह परमात्मा को छोड़कर किसी अन्य का सहारा लेगा तो वह सहारा टिकेगा नहीं| जब संसार की सभी वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति, अवस्था आदि स्थिर नहीं है, तो फिर संसार का सहारा स्थिर कैसे हो सकता है? इनके सहारा लेने से

दुःख ही होगा| जैसे अग्नि से अंगार दूर हो जाता है तो वह काला कोयला बन जाता है:

'कोयला होय नहीं उजला, सौ मन साबुन लगाय।'

पर वही कोयला जब पुनः अग्नि से मिल जाता है, तब वह अंगार (अग्नि रूप) बन जाता है, और चमक उठता है| ऐसे ही यह जीव जब भगवान् से विमुख हो जाता है तो जन्म-मरण के चक्र में पड़ता हुआ दुःख पाता रहता है, पर जब यह भगवान् के सम्मुख हो जाता है, अर्थात् अनन्य भाव से भगवान् की शरण में आ जाता है, तब यह भगवत् स्वरुप बन जाता है और चमक उठता है| वह संसार का कल्याण करने वाला बन जाता है|

मन्मना भव मद् भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ।।१८-६५।।

बन भक्त मेरा कर चित्त अर्पण करो मेरा ही भजन |
कहूँ सत्य हे अति प्रिय पाओ मुझे कर मेरा नमन ||१८-६५||

भावार्थ: *मेरा भक्त होकर अपने मन को मुझे समर्पण कर मेरा ही पूजन करो| तुम मुझे अति प्रिय हो, अतः सत्य कहता हूँ कि मुझे नमन (प्रणिपात) कर तुम मुझे पाओ|*

टीका: साधक को सबसे पहले 'मैं भगवान् का हूँ' इस प्रकार का भाव रखते हुए अपनी अहंता (मैंपन) को बदल देना चाहिए| इसका कारण है कि अहंता के बदलने पर ममता भी अपने आप बदल जाती है| स्वयं को भगवान् का मान लेने पर भगवान् में स्वाभाविक ही मन लगने लगता है| इसका कारण है कि जो अपना होता है, वह स्वाभाविक ही प्रिय लगता है, और जहां प्रियता होती है, वहां स्वाभाविक ही मन लगता है| अतः भगवान् को अपना मानने से भगवान् स्वाभाविक ही प्रिय लगने लगते हैं| फिर मन से स्वाभाविक ही भगवान् के नाम,

गुण, प्रभाव, लीला आदि का चिन्तन होता है| भगवान् के नाम का जप और स्वरूप का ध्यान बड़ी तत्परता से और लगन पूर्वक होता है|

अहंता बदल जाने पर, अर्थात् स्वयं को भगवान् का मान लेने पर संसार का सब काम भगवान् की सेवा के रूप में ही होता है| ऐसा मन में भाव रहने पर प्रत्येक अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति में भगवान् की इच्छा ही लगती है, और साधक प्रसन्न रहता है| उसका भाव रहता है कि जो कुछ होता है, वह भगवान् की कृपा से मेरे हित के लिये ही हो रहा है| इसका कारण है कि भगवान् प्राणी के परम सुहृद होने से जो कुछ विधान करते हैं, वह जीवों के कल्याण के लिये ही करते हैं| इसलिये भगवान् अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति भेजकर प्राणियों के पुण्य, पापों का नाश करके उन्हें परम शुद्ध बनाकर अपने चरणों की ओर खींच लेते हैं| इस प्रकार दृढ़ता से भाव होना ही भगवान् के चरणों में नमस्कार करना है|

भगवान् कहते हैं कि इस प्रकार मेरा भक्त होने से, मुझ में चित्त लगाने से, मेरा पूजन करने से और मुझे नमस्कार करने से तुम मुझे ही प्राप्त करोगे, अर्थात् मुझ में ही निवास करोगे| यही सत्य है| भगवान् का जीवों पर अत्यधिक स्नेह है| अपना ही अंश होने से कोई भी जीव भगवान् को अप्रिय नहीं है| भगवान् जीवों को चाहे चौरासी लाख योनियों में भेजें, चाहे नर्कों में, उनका उद्देश्य जीवों को पवित्र करने का ही होता है| जीवों के प्रति भगवान् का जो यह कृपा पूर्ण विधान है, यह भगवान् के प्रेम का ही द्योतक है| इसी को प्रकट करने के लिये भगवान् अर्जुन को जीव का प्रतिनिधि बनाकर सब को 'प्रिय' वचन से सम्बोधित कर रहे हैं| भगवान् को तो सभी जीव अत्यन्त प्रिय है, केवल जीव ही भगवान् से विमुख होकर प्रतिक्षण वियुक्त होने वाले संसार (धन-सम्पत्ति, कुटुम्बी, शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण आदि) को अपना मानने लगता है, जब कि संसार ने जीव को कभी अपना नहीं माना| जीव ही अपनी ओर से संसार से सम्बन्ध जोड़ता है| संसार प्रतिक्षण परिवर्तनशील है और जीव नित्य अपरिवर्तनशील है| जीव से यही त्रुटि होती है कि वह प्रतिक्षण बदलने वाले संसार के सम्बन्ध को नित्य मान लेता है| यही कारण है कि सम्बन्ध के न रहने पर भी उससे माना हुआ सम्बन्ध रहता है| यह माना हुआ सम्बन्ध ही अनर्थ का हेतु है| इस सम्बन्ध

को मानने अथवा न मानने में सभी स्वतन्त्र हैं, अतः इस माने हुए सम्बन्ध का त्याग कर, जिनसे हमारा वास्तविक और नित्य सम्बन्ध है, उन भगवान् की शरण में चले जाना चाहिए|

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।।१८-६६।।

कर त्याग आश्रय सभी धर्म आओ तुम मेरी शरन |
मत करो चिंता करूं मैं मुक्त तुम्हें सब पाप अर्जुन ||१८-६६||

भावार्थ: *हे अर्जुन, सम्पूर्ण धर्मों के आश्रय का त्याग कर तुम केवल मेरी शरण में आ जाओ| चिंता नहीं करो, मैं तुम्हें सब पापों से मुक्त कर दूंगा|*

टीका: भगवान् कहते हैं कि सम्पूर्ण धर्मों का आश्रय, धर्म के निर्णय का विचार छोड़कर, केवल एक मेरी ही शरण में आ जाओ| शरणागत भक्त को अपने लिये कुछ भी करना शेष नहीं रहता| इसमें सम्पूर्ण धर्मों के आश्रय का त्याग करने का अर्थ है, केवल भगवान् का आश्रय लेना| विभिन्न धर्मों का आश्रय लेने वाले को भी बार बार जन्म-मरण के चक्र में फंसना पड़ता है| इसलिये सम्पूर्ण धर्मों का आश्रय छोड़कर भगवान् का ही आश्रय लेने पर फिर अपने धर्म का निर्णय करने की आवश्यकता नहीं रहती| अर्जुन के मन में सन्देह था कि हम लोगों के लिये युद्ध करना धर्म है अथवा युद्ध न करना| यदि हम युद्ध करते हैं तो अपने कुटुम्ब का नाश होता है और अपने कुटुम्ब का नाश करना भारी पाप है| इससे तो अनर्थ परम्परा ही बढ़ेगी| दूसरी ओर क्षत्रिय के लिये युद्ध से बढ़कर धर्म कोई नहीं है|।अतः भगवान् कहते हैं कि क्या करना है और क्या नहीं करना है, क्या धर्म है और क्या अधर्म है, इस विचार में तुम न पड़ कर, इस धर्म के निर्णय का भार मुझ पर छोड़ दो| यही सर्व धर्म का त्याग करना है|

भगवान् यहाँ यह बताना चाहते हैं कि सांख्ययोग, कर्मयोग आदि जितने भी भगवत् प्राप्ति के साधन हैं, उन सम्पूर्ण साधनों में मुख्य साधन एक अनन्य शरणागति ही है| सम्पूर्ण साधनों का सार और शिरोमणि साधन भगवान् के

अनन्य शरण होना ही है| भगवान् पहले यह कह चुके हैं कि दुस्तर माया को सुगमता से तरने का उपाय अनन्य शरणागति ही है| अनन्य चेता प्राणी के लिये मैं सुलभ हूँ| परमात्मा की प्राप्ति अनन्य भक्ति से ही होती है, अनन्य भक्तों का योगक्षेम मैं वहन करता हूँ, अनन्य भक्ति से ही मुझे समझा तथा प्राप्त किया जा सकता है, अनन्य भक्तों का मैं शीघ्र उद्धार करता हूँ, गुणातीत होने का उपाय अनन्य भक्ति ही है| इस प्रकार अनन्य भक्ति की महिमा गाकर भगवान् यहाँ अपने कथन का सार बताते हैं, 'सभी धर्मों का त्याग कर मेरी शरण में आ जाओ'| इसका तात्पर्य है कि उपाय और उपेय, साधन और साध्य, मैं ही हूँ| मन बुद्धि के द्वारा शरणागति को स्वीकार करो|

प्रभु कहते हैं कि मेरी शरण आने पर मैं तुम्हें सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा, इसका भाव यह है कि जब प्राणी सम्पूर्ण धर्मों का आश्रय छोड़कर प्रभु की शरण में आ जाता है, तो प्राणी पूर्णता को प्राप्त हो जाता है| प्रभु उसकी सभी त्रुटियों को दूर कर देते हैं, वह पवित्र हो जाता है| शरणागत होने के बाद भक्त को लोक-परलोक, सद्गति-दुर्गति आदि किसी की चिन्ता नहीं रहती| उसका भाव हो जाता है:

दिवि वा भुवि वा ममास्तु वासो नरके वा नरकान्तक प्रकामम् ।
अवधीरितशारदारविन्दौ चरणौ ते मरणेऽपि चिन्तयामि ।।

अर्थात हे नरकासुर का अन्त करने वाले प्रभु, आप मुझे स्वर्ग में रखें, भू मण्डल पर रखें, नर्क में रखें, आप जहां रखना चाहें, वहां रखें| जो कुछ करना चाहें, वह करें| इस विषय में मेरा कुछ भी कहना नहीं है| मेरी तो एक यही माँग है कि शरद् ऋतु के कमल की शोभा को तिरस्कृत करने वाले आपके अति सुन्दर चरणों का मृत्यु जैसी भयंकर अवस्था में भी मैं चिन्तन करता रहूँ| आपके चरणों को नहीं भूलूँ|

जब शरणागत भक्त 'मैं भगवान् का हूँ और भगवान् मेरे हैं' इस भाव को दृढ़ता से स्वीकार कर लेता है, तब उसके भय, शोक, चिन्ता, शंका, आदि दोषों की जड़ कट जाती है, अर्थात् दोषों का आधार मिट जाता है| इसका कारण है कि

भक्ति की दृष्टि से सभी दोष भगवान् की विमुखता के कारण ही होते हैं| उनके मिटने पर सब दोष भी मिट जाते हैं|

जब साधक में भय, शोक, चिन्ता, शंका आदि भावना न हों, उसे परमात्म-तत्व में सम्बन्ध का दृढ़ होना कहा जाता है| परमात्म-तत्व में मृत्यु तक का भय भी सर्वथा मिट जाता है| साधक पूर्णतः निःशोक हो जाता है| प्रभु ने कहा कि शोक करना मनुष्य की सबसे बड़ी भूल है, क्योंकि जो हुआ है वह होना था, जो नहीं होने वाला है, वह कभी नहीं हो सकता, तथा अभी जो हो रहा है, वह उचित ही हो रहा है, फिर शोक किस बात का? प्रभु के मंगलमय विधान को जानकर शरणागत भक्त सदा निःशोक रहता है| जब भक्त अपनी मानी हुई वस्तुओं सहित स्वयं को भगवान् के समर्पित कर देता है, तब उसको लौकिक एवं पारलौकिक चिन्ता नहीं रहती| वह निश्चिन्त होकर मन से भगवान् पर आश्रित हो जाता है|

शरणागत होने पर भक्त के हृदय में भगवान् के स्वामित्व के प्रति कोई शंका नहीं होती| भगवान् का और उसका परस्पर सम्बन्ध अटूट, अखण्ड और नित्य होता है| वास्तव में भगवान् से सम्बन्ध की दृढ़ता हेतु वह संसार से माने हुए सम्बन्धों का त्याग कर देता है|

स्मरण रहे कि भगवान् भक्त के अपनेपन को ही देखते हैं, गुणों और अवगुणों को नहीं| अर्थात् भगवान् को भक्त के दोष दिखाई नहीं देते| इसका कारण है कि स्वरूप से भक्त सदा से ही भगवान् का अपना है| दोष परिवर्तनशील होने से आते जाते रहते हैं, पर वह नित्य, निरन्तर प्रभु की कृपा से सम रहता है| भगवान् के साथ अपनापन होने में दो भाव रहते हैं, (१) भगवान् मेरे हैं, और (२) मैं भगवान् का हूँ| इन दोनों में भगवान् का सम्बन्ध समान रीति से रहते हुए भी 'भगवान् मेरे हैं', इस भाव में भगवान् से अपनी अनुकूलता की इच्छा रहती है| भगवान् मेरे हैं तो मेरी इच्छा की पूर्ति करेंगे| परन्तु 'मैं भगवान् का हूँ' इस भाव में भगवान् से अपनी अनुकूलता की इच्छा नहीं होती, क्योंकि मैं भगवान् का हूँ अतः वह ही मेरे लिये जैसा उचित समझें, वैसा करें| इसलिये साधक को चाहिए कि वह भगवान् की ही इच्छा में अपनी इच्छा मान ले| भगवान् पर अपना

आधिपत्य बिलकुल न माने, प्रत्युत अपने पर उनका पूरा आधिपत्य माने| शरणागत भक्त को अपने लिये कभी भी कुछ करना शेष नहीं रहता क्योंकि उसने सम्पूर्ण ममता वाली वस्तुओं सहित अपने आप को भगवान् के समर्पित कर दिया है, जो वास्तव में प्रभु का ही था| ऐसी अवस्था में वह कठिन परिस्थिति में भी अपने पर प्रभु की महान् कृपा मानकर सदा प्रसन्न रहता है|

भगवान् सम्पूर्ण जीवों को अपना प्रिय मानते हैं, 'सब मम प्रिय सब मम उपजाए'|

दुर्भाग्य से यह जीव परिवर्तनशील संसार और शरीर को भूल से अपना मान कर अपने प्रिय प्रभु से विमुख हो जाता है| उसके विमुख होने पर भी प्रभु उससे विमुख कभी नहीं होते, न ही कभी उसका त्याग करते हैं| प्रत्येक प्राणी साक्षात् भगवान् का ही अंश है| इसलिये सम्पूर्ण जीवों के साथ भगवान् की आत्मीयता स्वाभाविक ही बनी रहती है| इसी कारण वह जीवों पर कृपा कर उनकी रक्षा करने के लिए, दुष्टों का विनाश करने के लिए एवं धर्म की स्थापना करने के लिए समय समय पर अवतार लेते रहते हैं| इससे प्रभु की प्राणियों के लिए उनकी स्वाभाविक आत्मीयता, कृपालुता, प्रियता, हितैषिता, सुहृत्ता और निरपेक्ष उदारता ही सिद्ध होती है| वह चाहते हैं कि सम्पूर्ण जीव असत् पदार्थों से विमुख हो जाएं, क्योंकि दुःख, संताप, जन्म-मरण, आदि विपत्ति में मुख्य हेतु भगवान् से विमुख हो असत की ओर जाना ही है| भगवान् का विधान संसार के सम्पूर्ण जीवों के कल्याण के लिये ही है| इसलिये भगवान् 'सभी धर्मों को त्याग कर मेरी शरण में आओ', जैसी अत्यन्त गोपनीय बात कहते हैं| इसका कारण है कि भगवान् समस्त जीवों को अपना मित्र मानते हैं, 'सुहृदं सर्वभूतानाम्'| उन्हें यह स्वतन्त्रता देते हैं कि वह कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि जितने भी साधन हैं, उनमें से किसी भी साधन के द्वारा सुगमता पूर्वक उनकी प्राप्ति कर लें, और दुःख, संताप आदि को सदा के लिये समूल नष्ट कर लें| वास्तव में जीव का उद्धार तो केवल भगवत् कृपा से ही होता है| कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, अष्टाङ्गयोग, लययोग, हठयोग, राजयोग, मन्त्रयोग आदि जितने भी साधन हैं, वह सब भगवान् के द्वारा और भगवत्-तत्व को जानने वाले महापुरुषों के द्वारा ही प्रकट किए गए हैं| अतः इन सब साधनों में भगवत् कृपा ही ओतप्रोत है|

साधना करने में तो साधक निमित्त मात्र होता है, पर साधना की सिद्धि में भगवत् कृपा ही मुख्य है|

जो जीव मायापति भगवान् के चरणों की शरण में आ जाते हैं, वह माया से तर जाते हैं, 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते'| भगवान् का भाव जीवों को माया से निकाल कर उन्हें मुक्त करने का होता है|

इदं ते नातपस्काय नाभाक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ।।१८-६७।।

नहीं कहो कभी यह सर्वगुह्यतम वचन ऐसे भूजन |
जो हो तपहीन नास्तिक अशुद्ध और न चाहे श्रवन ||
अभक्त जो रखे दोष दृष्टि मुझ में हे पृथानंदन ||१८-६७||

भावार्थ: *हे अर्जुन, इस अति गोपनीय वचन को तप से हीन, नास्तिक, अशुद्ध, अभक्त प्राणी जो सुनना न चाहे तथा मुझ में दोष दृष्टि रखता हो, उससे कभी नहीं कहो|*

टीका: अपने कर्तव्य का पालन करते हुए यदि स्वाभाविक कष्ट अथवा विपरीत परिस्थिति आ जाए, उसको प्रसन्नतापूर्वक सहने का नाम तप है| तप के बिना अन्तःकरण में पवित्रता नहीं आती, और पवित्रता आए बिना सुवचन धारण नहीं होते| इसलिये भगवान् कहते हैं कि जो तपस्वी नहीं है, उसको यह सर्वगुह्यतम रहस्य नहीं बताना चाहिए| जो सहिष्णु अर्थात् सहनशील नहीं है, वह भी अतपस्वी है| अतः उसको भी यह सर्वगुह्यतम रहस्य नहीं कहना चाहिए|

सहिष्णुता चार प्रकार की होती है:

(१) द्वन्द्व सहिष्णुता, जैसे राग-द्वेष, हर्ष-शोक, सुख-दुःख, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति आदि द्वन्द्वों से रहित हो जाना, 'ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः' एवं 'द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैः'|

(२) वेग सहिष्णुता, जैसे काम, क्रोध, लोभ, द्वेष आदि वेगों को उत्पन्न न होने देना, 'कामक्रोधोद्भवं वेगम्'|

(३) परमत सहिष्णुता, जैसे दूसरों के मत की महिमा सुनकर अपने मत में सन्देह न होना और उनके मत से उद्विग्न न होना, 'एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति'|

(४) परोत्कर्ष सहिष्णुता, जैसे अपने में योग्यता, अधिकार, पद, त्याग, तपस्या आदि की कमी हो, तो भी दूसरों की योग्यता, अधिकार आदि की प्रशंसा सुनकर अपने में कुछ विकार न होना, 'विमत्सरः' एवं 'हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तः'|

यह चारों सहिष्णुताएँ सिद्धों के लिए हैं| इन सहिष्णुताएँ की प्राप्ति जिसका लक्ष्य हो, वह तपस्वी है, और जिसका यह लक्ष्य न हो, वह अतपस्वी है| ऐसे अतपस्वी अर्थात् असहिष्णु को सर्वगुह्यतम रहस्य न सुनाने का कारण है कि जो प्रभु के आदेश, 'सम्पूर्ण धर्मों को मुझ में अर्पण कर अनन्य भाव से मेरी शरण में आओ', सुनकर विपरीत भावना या दोष रखे, उसमें इस सर्वगुह्यतम सत्य को सहने की शक्ति नहीं होगी| वह इस तथ्य का निरादर करेगा जिससे उसका पतन होगा| दूसरा भाव यह है कि जिसका अपनी वृत्ति, आचरण, भाव आदि को शुद्ध करने का उद्देश्य नहीं है, वह प्रभु के वचन 'मेरी शरण में आओ, मैं सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा', का दुरुपयोग करेगा| वह अपने पापों का प्रभु पर दोषारोपण कर इस तथ्य की सच्चाई न समझते हुए दुर्गण एवं दुराचारों में लग जाएगा और अपना अहित करेगा| भगवान् पर विश्वास, श्रद्धा, और भक्ति न होने से ऐसे प्राणियों में यह विपरीत धारणा हो सकती है कि भगवान् तो आत्मश्लाघी हैं, स्वार्थी हैं और दूसरों को वश में करना चाहते हैं| अतः जो भगवान् दूसरों को अपनी आज्ञा में चलाना चाहते हैं, वह मेरा क्या भला करेंगे? इस प्रकार हृदय में दुर्भाव रख वह अपना पतन कर लेगा| इसलिये ऐसे अभक्त को यह गुह्यतम तथ्य कभी मत कहना|

जो इस रहस्य को सुनना नहीं चाहता, इसकी उपेक्षा करता है, उसको भी कभी मत सुनाना| क्योंकि बिना रुचि के हठ से सुनाने से वह इस तथ्य का तिरस्कार

करेगा| उसको यह सुनना अच्छा नहीं लगेगा| यह भी उसके द्वारा एक अपराध होगा| अपराध करने वाले का हित नहीं होता| अतः जो सुनना नहीं चाहता, उसको मत सुनाना|

जो प्रभु के गुणों में दोष देखता है, उसको भी यह गुह्यतम तथ्य नहीं सुनाना चाहिए| दोष दृष्टि रखने से मनुष्य महान् लाभ से वंचित हो जाता है और अपना पतन कर लेता है| अतः दोष दृष्टि रखना भारी दोष है| साधक को सावधान होकर इस भयंकर दोष से बचते रहना चाहिए| श्रद्धा युक्त और दोष दृष्टि से रहित मनुष्य ही कर्म एवं उसके फल से छूटता है|

इस गोपनीय रहस्य को दूसरों से नहीं कहने का तात्पर्य दूसरों को इस गोपनीय तत्व से वंचित रखना नहीं है, प्रत्युत जिसकी भगवान् और उनके वचनों पर श्रद्धा एवं भक्ति नहीं है, वह भगवान् को साधारण मनुष्य के समान स्वार्थी समझकर भगवान् पर दोषारोपण कर महान् पतन की ओर न चला जाए, इसलिये उसको इस तथ्य को कहने का निषेध किया है|

य इमं परमं गुह्यं मद् भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ।।१८-६८।।

कर पराभक्ति कहे भक्त जो यह सर्वगुह्यतम वचन |
पाएगा वह मुझे करो नहीं संदेह इसमें युद्धिवन ||१८-६८||

भावार्थ: *हे योद्धा, जो भक्त परम भक्ति से इस परम गोपनीय वचनों को कहेगा, वह मुझ को ही प्राप्त होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है|*

टीका: प्रभु कहते हैं कि जो भक्त पराभक्ति कर इस गुह्यतम तथ्य को सुनाएगा, उसे मेरी प्राप्ति होगी, इसमें संदेह नहीं करो| पराभक्ति कहने का प्रभु का अर्थ है कि इस तथ्य को धन, मान-सम्मान, आदर-सत्कार आदि जैसी लौकिक वस्तुओं की प्राप्ति के लिए नहीं, प्रत्युत भक्ति एवं भगवद्भावों का मनन करने की भावनाओं से सुनाना चाहिए जिन के सुनने से लोगों का दुःख, सन्ताप आदि

दूर हो जाते हैं, उनका कल्याण हो जाता है| सांसारिक मान-सम्मान आदि की किंचित मात्र कामना न रखकर केवल भगवद भक्ति, भगवत् प्रेम की अभिलाषा रखना पराभक्ति है|

जिसकी भगवान् और उनके वचनों में पूज्य बुद्धि है, आदर बुद्धि है, श्रद्धा एवं विश्वास है और जो इस तथ्य को सुनना एवं सुनाना चाहता है, वह भक्त है|

प्रभु कहते हैं कि जिस भक्त का गुह्यतम तथ्य सुनाने में केवल मेरी प्राप्ति ही उद्देश्य होगा, वह मुझे ही प्राप्त करेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है| प्रभु पहले भी कह चुके हैं कि मनुष्य अपने स्वाभाविक कर्मों से परमात्मा का निष्काम भाव पूर्वक पूजन करता हुआ परमात्मा को प्राप्त कर लेता है| जो समस्त लौकिक कर्म जैसे खाना-पीना, शौच-स्नान आदि शारीरिक कार्यों को भी भगवान् के अर्पण कर देता है, वह भी शुभ, अशुभ फल रूप कर्म बन्धन से मुक्त होकर भगवान् को प्राप्त कर लेता है|

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ।।१८-६९।।

नहीं कोई प्रिय नर सम करे जो यह कार्य अर्जुन |
न होगा भविष्य भी प्रियतर कोई भू सम इस जन ||१८-६९||

भावार्थ: *हे अर्जुन, जो मेरा यह कार्य करेगा, उसके समान प्रिय मुझे कोई नहीं है| पृथ्वी में उससे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई भविष्य में भी नहीं होगा|*

टीका: जो अपने में लौकिक-पारलौकिक प्राकृत पदार्थों की महत्ता, लिप्सा, आवश्यकता रखता है अथवा रखना चाहता है, वह पराभक्ति की श्रेणी में नहीं आता| जिसका प्राकृत पदार्थों को प्राप्त करने का किंचित मात्र भी उद्देश्य नहीं है और जो भगवत् प्राप्ति, भगवद् दर्शन, भगवत् प्रेम आदि पारमार्थिक उद्देश्य रखकर ही अपना जीवन बिताना चाहता है, ऐसा पुरुष ही इस गुह्यतम तथ्य (गीता) के प्रचार का अधिकारी होता है| भगवान् के भक्तों में इस गुह्यतम तथ्य (गीता) का प्रचार करने वाले उपयुक्त अधिकारी मनुष्य प्रभु का अत्यन्त प्रिय

कार्य करने वाला है और वह प्रभु को अति प्रिय है| इस गुह्यतम तथ्य (गीता) के प्रचार करने के अतिरिक्त कोई और दूसरा कार्य प्रभु को प्रिय नहीं है|

इस गुह्यतम तथ्य (गीता) का प्रचार करने में भक्त का अपना कोई स्वार्थ नहीं होना चाहिए| उसे मान-सम्मान, आदर-सत्कार आदि की कोई कामना नहीं होनी चाहिए| ऐसा भक्त केवल भगवत् प्राप्ति के लक्ष्य से ही गीता के भावों का प्रचार करता है, वह प्रभु को अत्यंत प्रिय है| जिसमें मान-सम्मान की इच्छा नहीं है, कोई स्वार्थ नहीं है, जिसका अपना उद्धार करने का तथा गीता के अनुसार जीवन बिताने का उद्देश्य है, उसके समान पृथ्वी मण्डल पर प्रभु का दूसरा कोई प्रियतम न है और न होगा| अपने धर्म, सम्प्रदाय, सिद्धान्त आदि का प्रचार करने वाला व्यक्ति भगवान् का प्रिय तो हो सकता है, पर प्रियतम नहीं| इसका तात्पर्य यह है कि जो गीता का आदर करता है, ऐसा मनुष्य हिंदू, मुसलमान, ईसाई, यहूदी, पारसी, बौद्ध आदि किसी भी धर्म को मानने वाला हो, किसी भी देश, वेश, वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदि का हो, अपनी रुचि के अनुसार किसी भी शैली, उपाय, सिद्धान्त, साधन को मानने वाला हो, वह यदि अपना किसी प्रकार का आग्रह न रखकर, पक्षपात, विषमता को छोड़कर, किसी भी प्राणी को दुःख पहुँचाने वाली चेष्टा का त्याग कर, मन में किसी भी लौकिक, पारलौकिक उत्पन्न और नष्ट होने वाली वस्तु की कामना न रखकर, अपनी सम्प्रदाय का उद्देश्य न रखकर, केवल अपने कल्याण का उद्देश्य रखकर गीता के अनुसार चलता है और गीता का प्रसार करता है, वह परमात्मा की प्राप्ति कर लेता है| वह परमात्म-तत्व जैसे महान् आनन्द, महान् सुख को प्राप्त कर लेता है| गीता वेश, आश्रम, अवस्था, क्रिया आदि का परिवर्तन करने के लिये नहीं कहती, प्रत्युत परिमार्जन करने के लिये कहती है, अर्थात् केवल अपने भाव और उद्देश्य को शुद्ध बनाने के लिये कहती है| गीता की ऐसी युक्तियों को जो भगवान् की ओर चलने वाले भक्तों में कहेगा, उन भक्तों को पारमार्थिक मार्ग में बढ़ने की युक्तियाँ मिलेंगी, शंकाओं का समाधान होगा, साधन की उलझनें सुलझेंगी, पारमार्थिक मार्ग की बाधाएँ दूर होंगी, जिससे वह उत्साह से सुगमता पूर्वक बहुत ही शीघ्र अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकेगा| इसलिये वह भगवान् को सबसे अधिक प्रिय होगा क्योंकि भगवान् जीव के उद्धार से प्रसन्न होते हैं|

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ।।१८-७०।।

हुआ मध्य हमारे धर्म संवाद करे जो इसका अध्ययन |
है मेरा मत करेगा वह भक्त ज्ञानयज्ञ से मेरा पूजन ||१८-७०||

भावार्थ: *जो हमारे मध्य इस धर्ममय संवाद का अध्ययन (पठन-पाठन) करेगा, वह भक्त ज्ञानयज्ञ से मेरी पूजा करेगा, ऐसा मेरा मत है।*

टीका: प्रभु कहते हैं कि तुम्हारे और मेरे मध्य हुए सिद्धान्तों के सार रूप धर्म से युक्त इस ज्ञान का जो अध्ययन करेगा, वह ज्ञानयोग से मेरा पूजन करेगा, ऐसा मेरा मत है| जब अर्जुन ने जिज्ञासा पूर्वक मोह होने के कारण कुरुक्षेत्र रण भूमि में प्रभु से मार्ग दर्शन मांगा, तब इस ग्रन्थ श्रीमद्भगवदगीता का जन्म हुआ| वहीं से उन दोनों का प्रश्नोत्तर रूप से संवाद आरम्भ हुआ| इस संवाद में वेदों तथा उपनिषदों का सार और भगवान् के हृदय का सत्य भाव है, जिसको धारण करने से मनुष्य भयंकर परिस्थिति में भी अपने मनुष्य जन्म के ध्येय को सुगमता पूर्वक सिद्ध कर सकता है| प्रतिकूल परिस्थिति आने पर भी घबराये नहीं, प्रत्युत प्रतिकूल परिस्थिति का आदर करते हुए उसका सदुपयोग करे क्योंकि प्रतिकूलता पहले किए पापों का नाश करने और आगे अनुकूलता की इच्छा का त्याग करने के लिये ही आती है| अनुकूलता की इच्छा जितनी अधिक होगी, उतनी ही प्रतिकूल अवस्था भयंकर होगी| अनुकूलता की इच्छा का जैसे जैसे त्याग होता जाएगा, तैसे तैसे अनुकूलता का राग और प्रतिकूलता का भय मिटता जाएगा| राग और भय, दोनों के मिटने से समता आ जाएगी| समता परमात्मा का साक्षात् स्वरूप है| गीता में समता की बात विशेषता से प्रभु ने बताई है| इसी को योग कहा है| इस प्रकार कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग, प्राणायाम आदि के विलक्षण ज्ञान का इसमें वर्णन हुआ है|

साधक इस संवाद को जैसे जैसे पढ़ेगा, पाठ करेगा, स्मरण करेगा, प्रभु के भावों को समझने का प्रयास करेगा, तैसे तैसे उसके हृदय में उत्कण्ठा बढ़ेगी जिससे उसकी शंका का समाधान होगा। ज्यों ज्यों शंका का समाधान होगा, त्यों त्यों

इसमें अधिक रुचि पैदा होगी| ज्यों ज्यों रुचि अधिक पैदा होगी, त्यों त्यों गीता के गहन भाव उसकी समझ में आयेंगे| गीता के गहन भाव समझ में आने के पश्चात साधक इन भावों को अपने आचरणों, क्रियाओं, बर्ताव में लाने लगेगा| आदरपूर्वक आचरण करने से वह गीता की मूर्ति बन जाएगा, उसका जीवन गीता रूपी साँचे में ढल जाएगा|

प्रभु ने यहां यज्ञ (योग) की बात कही है| यज्ञ दो प्रकार के होते हैं, द्रव्य यज्ञ और ज्ञान यज्ञ| जो यज्ञ पदार्थों और क्रियाओं की प्रधानता से किया जाता है, वह द्रव्य यज्ञ कहलाता है| उत्कण्ठा से केवल अपनी आवश्यक वास्तविकता को जानने के लिये जो प्रश्न विज्ञ पुरुषों से किए जाते हैं, तथा जिस ज्ञान से अपनी वास्तविक स्थिति का अनुभव हो जाता है, वह ज्ञान यज्ञ कहलाता है| यहाँ भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि तुम्हारे और हमारे मध्य हुए संवाद का जो पाठ करेगा, मैं उसके द्वारा ज्ञान यज्ञ से पूजित होऊँगा| इसका कारण यह है कि जब कोई गीता का पाठ, अभ्यास करता है, तो भगवान् को अपने अनन्य भक्त की, उसकी उत्कण्ठा पूर्वक जिज्ञासा की और उसे दिये हुए उपदेश की याद आ जाती है| प्रभु तब अति प्रसन्न होते हैं एवं उस पाठ, अभ्यास आदि को ज्ञान यज्ञ मानकर उससे पूजित होते हैं| इसका कारण है कि पाठ, अभ्यास आदि करने वाले के हृदय में उसके भावों के अनुसार भगवान् का नित्य ज्ञान विशेषता से स्फुरित होने लगता है|

जब कोई गीता का पाठ करता है तो प्रभु उसको सुनते हैं| उस पाठ को सुनते ही प्रभु के हृदय में ज्ञान, प्रेम, दया,आदि का समुद्र लहराने लगता है| साधक तो पाठ करता है, परन्तु प्रभु उससे पूजित हो जाते हैं, अर्थात् उसको ज्ञान यज्ञ का फल मिल जाता है|

श्रद्धावाननसूयश्च श्रृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तःशुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ।।१८-७१।।

युक्त श्रद्धा रहित दोष दृष्टि सुने जो नर यह वचन।
हो मुक्त अघ पाए शुभ लोक मरण सम पुण्यकर्मी जन ।।१८-७१।।

भावार्थ: *जो मनुष्य श्रद्धा युक्त और दोष दृष्टि से रहित होकर इस वचन को श्रवण करेगा, वह पापों से मुक्त होकर उत्तम कर्म करने वालों के श्रेष्ठ शुभ लोकों को प्राप्त होगा|*

टीका: श्रद्धावान् और दोष दृष्टि से रहित मनुष्य यदि गीता का श्रवण करे तो उसे सम्पूर्ण पापों से मुक्त मिल जाती है, और वह पुण्यकारियों के शुभ लोकों को प्राप्त कर लेता है| यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि गीता का प्रचार अथवा अध्ययन करना आवश्यक नहीं है, केवल इनके सुनने मात्र से ही मुक्ति मिल जाती है|

मनुष्य की वाणी में प्रायः भ्रम, प्रमाद, लिप्सा आदि दोष होते हैं, अतः मनुष्य की वाणी सर्वथा निर्दोष नहीं होती| परन्तु भगवान् की दिव्य वाणी में कोई भी दोष नहीं है क्योंकि भगवान् निर्दोषता की परावधि हैं, अर्थात् भगवान् से बढ़कर निर्दोषता किसी में नहीं है| इसलिये भगवान् के वचनों में किसी प्रकार के संशय की सम्भावना नहीं है| अतः गीता सुनने वाले को यदि कोई विषय समझ में नहीं आ रहा है, उसके अपने विचार द्वारा उसे कोई बात उचित नहीं लग रही है, उस विषय को समझने में उसकी बुद्धि समर्थ नहीं हो पा रही है, तो इसमें प्रभु का कोई दोष नहीं है| जब साधक इस भाव को दृढ़ता से धारण कर लेता है, तो प्रभु के प्रति दोष दृष्टि मिट जाती है|

प्रभु ने यहाँ कहा है कि गीता को सुनने वाले पुण्यकर्मियों समान उच्च लोक को प्राप्त होते हैं| यहाँ पुण्यकर्मी शब्द से सकाम भाव पूर्वक यज्ञ, अनुष्ठान आदि पुण्यकर्म करने वालों को नहीं समझना चाहिए क्योंकि भगवान् उनको ऊँचा पद नहीं देते, प्रत्युत वह तो बार बार आवागमन को प्राप्त होते हैं| यहाँ उन भक्तों को पुण्यकर्मी समझना चाहिए, जिनको भगवान् के प्रेम दर्शन की प्राप्ति हो चुकी है| ऐसे पुण्यकर्मी भक्तों को अपने इष्ट के अनुसार वैकुण्ठ, साकेत, गोलोक, कैलास आदि जिन दिव्य लोकों की प्राप्ति होती है, श्रद्धावान् पुरुष को गीता सुनने मात्र से उन लोकों की प्राप्ति हो जाती है|

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ।।१८-७२।।

सुने क्या तुम यह मेरे वचन हो एकाग्र मन अर्जुन |
हो गया क्या नष्ट मोह था हेतु जो अज्ञान उत्पन्न ||१८-७२||

भावार्थ: *हे पार्थ, क्या मेरे इन वचनों को तुमने एकाग्र चित्त से श्रवण किया? क्या अज्ञान जनित मोह नष्ट हो गया?*

टीका: भगवान् अर्जुन से पूछ रहे हैं कि गीता में जिस अत्यन्त गोपनीय रहस्य को मैंने परम वचन स्वरुप में तुमसे कहा, क्या तुमने उसे ध्यानपूर्वक सुना? क्या तुम्हारा अज्ञान से उत्पन्न हुआ मोह नष्ट हुआ? यदि अभी भी मोह नष्ट नहीं हुआ, तो अवश्य तुमने मेरे यह रहस्यमय उपदेश एकाग्रता से नहीं सुने क्योंकि जो दोष दृष्टि से रहित होकर श्रद्धा पूर्वक गीता के उपदेश को सुनता है, उसका मोह नष्ट होना निश्चित है|

प्रभु ने आरम्भ में अर्जुन को युद्ध के लिये एकत्रित हुए कुटुम्बियों को देखने के लिए कहा था, जिससे अर्जुन के अन्तःकरण में छिपा हुआ कौटुम्बिक मोह जाग्रत् हो जाए और वह उस मोह से छूटने के लिये उतावले हो जाएं, ताकि प्रभु यह अति गोपनीय गीता का ज्ञान अर्जुन को लक्ष्य बनाकर सभी प्राणियों को दें|

अर्जुन उवाच
नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रासादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ।।१८-७३।।

अर्जुन उवाच
हो गया नष्ट मोह कृपा आपकी हरि बोले अर्जुन |
प्राप्त स्मृति हो संदेह रहित करूँ आज्ञा पालन ||१८-७३||

भावार्थ: *अर्जुन बोले, 'हे भगवन आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया| स्मृति प्राप्त कर संशय रहित हो मैं आज्ञा का पालन करने को तत्पर हूँ|*

टीका: इस उच्चतम गोपनीय गीता ज्ञान को प्रभु के मुख से सुनकर अर्जुन बोले, 'हे भगवन, आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया और मुझे तत्व की अनादि स्मृति प्राप्त हो गई|'

यहां यह ध्यान देने योग्य है कि अन्तःकरण की स्मृति और तत्व की स्मृति में अन्तर है| प्रमाण से प्रमेय का ज्ञान होता है| परन्तु परमात्म-तत्व अप्रमेय है| अतः परमात्मा प्रमाण से व्याप्य नहीं है, अर्थात् परमात्मा प्रमाण के अन्तर्गत आने वाला तत्व नहीं है| परन्तु संसार प्रमाण के अन्तर्गत आता है, और प्रमाण प्रमाता के अन्तर्गत आता है| प्रमाता एक होता है और प्रमाण अनेक होते हैं| विद्वान् प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, यह तीन मुख्य प्रमाण मानते हैं| कई विद्वान् प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द, इन चार को प्रमाण मानते हैं| कुछ विद्वान इन चारों के अतिरिक्त अर्थापत्ति, अनुपलब्धि और ऐतिह्य, इन तीन प्रमाणों को और जोड़ देते हैं| इस प्रकार प्रमाणों के मानने में अनेक मतभेद हैं, परन्तु प्रमाता के विषय में ऐसा कोई मतभेद नहीं है| प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाण वृत्तिरूप होते हैं परन्तु प्रमाता वृत्तिरूप नहीं होता| वह तो स्वयं अनुभव रूप होता है| अनुभूत विषय का प्रकट हो जाना स्मृति है| संस्कार से जन्य ज्ञान को स्मृति कहते हैं| यह स्मृति अन्तःकरण की एक वृति है| यह वृत्ति प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति, पाँच प्रकार की होती है| हर प्रकार की वृत्ति के दो भेद होते हैं, क्लिष्ट और अक्लिष्ट| संसार की वृत्तिरूप स्मृति क्लिष्ट होती है अर्थात् बाँधने वाली होती है, और भगवत् सम्बन्धी वृत्तिरूप स्मृति अक्लिष्ट होती है, अर्थात् क्लेश को दूर करने वाली होती है| इन सब वृत्तियों का कारण अविद्या है| परमात्मा अविद्या से रहित हैं, इसलिये परमात्मा की स्मृति स्वयं से ही होती है, वृत्ति या करण से नहीं| जब परमात्मा की स्मृति जाग्रत् होती है तो फिर उसकी कभी विस्मृति नहीं होती| परमात्म-तत्व की विस्मृति या भूल तो असत् संसार को सत्ता और महत्ता देने से ही होती है| यह विस्मृति अनादि काल से है, और इसका अन्त होता है| जब इसका अन्त होता है और अपने स्वरूप की स्मृति जाग्रत् होती है, तब इसको 'असत के सम्बन्ध के कारण जो स्मृति सुषुप्ति रूप से थी, वह जाग्रत् हो गई', ऐसा कहते हैं| साधकों की रुचि के अनुसार स्मृति के तीन भेद हो जाते हैं, (१) कर्मयोग, अर्थात् निष्काम भाव की स्मृति, (२) ज्ञानयोग, अर्थात् अपने स्वरूप की स्मृति, और (३) भक्तियोग, अर्थात् भगवान् के सम्बन्ध की स्मृति| इस प्रकार इन तीनों योगों की स्मृति जाग्रत् हो जाती है,

क्योंकि यह तीनों योग स्वतः सिद्ध और नित्य हैं| यह तीनों योग जब वृत्ति के विषय होते हैं, तब यह साधना कहलाते हैं परन्तु स्वरूप से यह तीनों नित्य हैं| इसलिये नित्य की प्राप्ति को स्मृति कहते हैं| इसका तात्पर्य यह हुआ कि साधना की विस्मृति हुई है, अभाव नहीं हुआ है| असत् संसार के पदार्थों को आदर देने से अर्थात् उनकी सत्ता को महत्व देने से राग पैदा होता है, यह कर्मयोग की विस्मृति (आवरण) है| असत् पदार्थों के सम्बन्ध से अपने स्वरूप की विमुखता हुई अर्थात् अज्ञान हुआ, यह ज्ञानयोग की विस्मृति है| अपना स्वरूप साक्षात् परमात्मा का अंश है, इस परमात्मा से विमुख होकर संसार के सम्मुख होने से संसार में आसक्ति हो गई, उस आसक्ति से प्रेम ढक गया, यह भक्तियोग की विस्मृति है| स्वरूप की विस्मृति अर्थात् विमुखता का नाश होना यहां स्मृति शब्द से सम्बोधित है| उस स्मृति का प्राप्त होना, अप्राप्त का प्राप्त होना नहीं है, प्रत्युत नित्य प्राप्त का प्राप्त होना है| नित्य स्वरूप की प्राप्ति होने पर फिर उसकी विस्मृति होना सम्भव नहीं है क्योंकि स्वरूप में कभी परिवर्तन हुआ ही नहीं है| वह सदा निर्विकार और एक रस रहता है| परन्तु वृत्तिरूप स्मृति की विस्मृति हो सकती है क्योंकि वह प्रकृति का कार्य होने से परिवर्तनशील है| इन सब का तात्पर्य यह हुआ कि संसार तथा शरीर के साथ अपने स्वरूप को मिला हुआ समझना विस्मृति है और संसार तथा शरीर से अलग होकर अपने स्वरूप का अनुभव करना स्मृति है| अपने स्वरूप की स्मृति स्वयं से होती है| इसमें करण आदि की अपेक्षा नहीं होती, जैसे मनुष्य को अपने होने का जो ज्ञान होता है, उसमें किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती| जिसमें करण आदि की अपेक्षा होती है, वह स्मृति अन्तःकरण की एक वृत्ति ही है| स्मृति तत्काल प्राप्त होती है| इसकी प्राप्ति में देरी अथवा परिश्रम नहीं करना पड़ता| उदाहरण के लिए कर्ण कुन्ती के पुत्र थे| परन्तु जन्म के बाद जब कुन्ती ने उनका त्याग कर दिया, तब अधिरथ नामक सूत की पत्नी राधा ने उनका पालन-पोषण किया| इससे वह राधा को ही अपनी माँ मानने लगे| जब सूर्यदेव से उनको यह पता लगा कि वास्तव में मेरी माँ कुन्ती हैं, तब उनको स्मृति प्राप्त हो गई कि मैं कुन्ती का पुत्र हूँ| ऐसी स्मृति प्राप्त होने में न समय लगा, न परिश्रम या अभ्यास ही करना पड़ा| जैसे ही उधर लक्ष्य हुआ, स्मृति आ गई|

स्वरूप निष्काम, शुद्ध, बद्ध-मुक्त और भगवद रूप है| स्वरूप की विस्मृति अर्थात् विमुखता से ही जीव सकाम, बद्ध और सांसारिक होता है| ऐसे स्वरूप

की स्मृति वृत्ति की अपेक्षा नहीं रखती अर्थात् अन्तःकरण की वृत्ति से स्वरूप की स्मृति जाग्रत् होना सम्भव नहीं है| स्मृति तभी जाग्रत् होगी, जब अन्तःकरण से सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद होगा| स्मृति अपने ही द्वारा स्वयं में जाग्रत् होती है| अतः स्मृति की प्राप्ति के लिए किसी के सहयोग की या अभ्यास की आवश्यकता नहीं है| इसका कारण है कि जड़ता की सहायता के बिना अभ्यास नहीं होता, जबकि स्वरूप के साथ जड़ता का लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है| स्मृति अनुभव सिद्ध है, अभ्यास साध्य नहीं है| इसलिये एक बार स्मृति जाग्रत् होने पर फिर उसकी पुनरावृत्ति नहीं करनी पड़ती| स्मृति भगवान् की कृपा से जाग्रत् होती है| ऐसी कृपा होती है भगवान् के सम्मुख होने पर| भगवान् की सम्मुखता होती है, संसार से विमुख होने पर|

अर्जुन कहते हैं कि मेरा मोह अब भंग हो गया, अब मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगा| ऐसे ही संसार का आश्रय छोड़कर केवल भगवान् के शरण होकर प्राणी को उनकी आज्ञा का पालन करना चाहिए| इसी में प्राणी का हित है| प्रभु के परायण होने से बुद्धि स्थिर हो जाती है, और विषयों का चिन्तन नहीं होता| इस प्रकार भगवान् के सम्मुख होने से मोह नष्ट हो जाता है क्योंकि यह दैवीय सम्पत्ति है| भगवत् कृपा से जो काम होता है, वह श्रवण, मनन, निदिध्यासन, ध्यान, समाधि आदि साधनों से नहीं होता| इसका कारण है कि अपना पुरुषार्थ मानकर जो भी साधना की जाती है, उस साधना में अपना सूक्ष्म व्यक्तित्व अर्थात् अहं भाव रहता है| व्यक्तित्व साधना में अपना पुरुषार्थ न मानकर केवल हरि कृपा मानने से ही यह अहं भाव मिटता है|

संजय उवाच
इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ।।१८-७४।।

संजय उवाच
बोले संजय सुना यह धर्म संवाद मैंने हे राजन |
है अद्भुत रोम हर्षण वाद मध्य कृष्ण और अर्जुन ||१८-७४||

भावार्थ: *संजय बोले, 'हे राजन, इस प्रकार मैंने भगवान् कृष्ण और अर्जुन के मध्य हुआ यह अद्भुत और रोमांचकारी धर्म संवाद सुना|'*

टीका: संजय कहते हैं कि, 'हे राजन (धृतराष्ट्र), इस तरह मैंने भगवान् वासुदेव और अर्जुन के मध्य हुआ यह धर्म संवाद सुना, जो अत्यन्त अद्भुत, विलक्षण और रोम हर्षण है'|

प्राणी प्रायः ऐसी सोचता है कि घर, कुटुम्ब आदि को छोड़कर साधु, संन्यासी बन जाने से ही कल्याण होता है| परन्तु गीता कहती है कि कोई भी परिस्थिति, अवस्था, घटना, काल आदि क्यों न हो, उसी के सदुपयोग से मनुष्य का कल्याण हो सकता है| इतना ही नहीं, वह परिस्थिति अनुकूल हो या प्रतिकूल, सौम्य हो या विहित, मनुष्य यदि गीता का अनुसरण करे तो उसका कल्याण निश्चित है, उसे मुक्ति मिल सकती है| इसका कारण है कि जन्म-मरण रूप बन्धन में संसार का राग ही कारण है| उस राग को मिटाने में परिस्थिति का सदुपयोग करना ही हेतु है, अर्थात् जो पुरुष परिस्थिति में राग, द्वेष न रख अपने कर्तव्य का पालन करता है, वह सुख पूर्वक मुक्त हो जाता है| यही इस संवाद में अद्भुतपन है| भगवान् का स्वयं अवतार लेकर मनुष्य समान व्यवहार करते हुए स्वयं को प्रकट कर देना और मेरी शरण में आ, यह अत्यन्त गोपनीय रहस्य बतलाना, रोम हर्षण करने वाला, प्रसन्न करने वाला, आनन्द देने वाला संवाद है|

व्यासप्रासादाच्छ्रुतवानेतद् गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ।।१८-७५।।

कृपा महर्षि व्यास सुना यह परम गुह्य आबोधन |
सुना रहे थे स्वयं जिसे साक्षात योगेश्वर हरि कृश्न ||१८-७५||

भावार्थ: *महर्षि व्यास की कृपा से यह परम गोपनीय ज्ञान सुना जिसे साक्षात योगेश्वर भगवान कृष्ण स्वयं सुना रहे थे|*

टीका: संजय यह भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन के मध्य संवाद सुनकर अति प्रसन्न थे| उन्होंने भगवान वेद व्यास जी के प्रति कृतज्ञता जताई जिनकी कृपा से वह यह धर्म संवाद सुन सके| समस्त योगों के ईश्वर के श्री मुख से वर्णित यह गीता एक योग शास्त्र है| यह गीता अत्यन्त श्रेष्ठ और गोपनीय है| इसके समान श्रेष्ठ और गोपनीय दूसरा कोई संवाद उन्होंने नहीं सुना| जीव का भगवान् के साथ जो नित्य सम्बन्ध है, उसका नाम योग है| उस नित्य योग की पहचान कराने के लिये कर्मयोग, ज्ञानयोग आदि योग कहे गए हैं| उन योगों के समुदाय का वर्णन गीता में होने से गीता भी योग अर्थात् योग शास्त्र है|

संजय कहते हैं कि इस महान ग्रन्थ के सुनने से उनके आनंद की कोई सीमा नहीं है| हर्षोल्लास में भरकर वह कह रहे हैं कि इस योग को मैंने समस्त योगों के ईश्वर साक्षात् भगवान् श्री कृष्ण के मुख से सुना है| वह यह कहना चाहते हैं कि मैंने यह संवाद परम्परा में न तो पहले कभी सुना है, और किसी ने मुझे सुनाया ही है|

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद् भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ।।१८-७६।।

कर स्मरण पुनः पुनः संवाद हो रहा हर्षित मेरा मन |
मध्य कृष्ण और अर्जुन हुआ जो संवाद दिव्य पावन ||१८-७६||

भावार्थ: *कृष्ण और अर्जुन के मध्य इस अद्भुत और पवित्र संवाद को बार बार याद कर मेरा मन हर्षित होता है|*

टीका: संजय कहते हैं कि भगवान् श्री कृष्ण और अर्जुन का यह अलौकिक, विलक्षण संवाद स्मरण कर मेरा मन बार बार हर्ष से भर जाता है| श्री भगवान् और अर्जुन के इस अद्भुत संवाद की महिमा बहुत विलक्षण है| युद्ध के समय अर्जुन को कुटुंब मोह हो गया था जब कि क्षात्र धर्म की दृष्टि से युद्ध करना उनका कर्तव्य है| उनकी मनः स्थिति अस्थिर थी| युद्ध करना श्रेष्ठ है या युद्ध न करना, इन दोनों में से एक निश्चित निर्णय नहीं ले पा रहे थे| इसी व्याकुलता के कारण अर्जुन भगवान् की ओर आकर्षित हुए और उनकी कृपा से उन्हें यह

विशेष ज्ञान मिला| अर्जुन की अनन्य भावना, उत्कण्ठा के कारण भगवान् योग में स्थित हो गए, अर्थात् ऐश्वर्य में स्थित न रहकर केवल अपने प्रेम तत्व में डूब गए| उस स्थिति में भगवान् ने अर्जुन को समझाया, उन्हें उनका कर्म कर्तव्य बतलाया| इस संवाद की महिमा को कहने में वास्तव में कोई भी समर्थ नहीं है|

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ।।१८-७७।।

हूँ मैं आश्चर्य चकित और अति प्रसन्न कर स्मरन |
पुनः पुनः अति अद्भुत विराट रूप कृष्ण भगवन ||१८-७७||

भावार्थ: *भगवान् कृष्ण के अत्यन्त विलक्षण विराट रूप को पुनः पुनः स्मरण कर मेरे चित्त में महान आश्चर्य और हर्ष हो रहा है|*

टीका: संजय यहाँ भगवान् के विराट् रूप को अत्यन्त अद्भुत बताते हैं| इसका तात्पर्य यह है कि संवाद पर तो पुनः विचार किया जा सकता है, पर विराट् रूप के दर्शन अब नहीं हो सकते| अतः वह रूप अत्यन्त अद्भुत है| भगवान् ही महायोगेश्वर हैं जिन्होंने अपनी कृपा से द्रवित हो अपना विश्वरूप दिखाया| यह विराट रूप मुझे भी भगवान् वेद व्यास जी की कृपा से देखने को मिल गया| यद्यपि भगवान् ने रामावतार में कौसल्या माँ को, कृष्णावतार में यशोदा मैया को तथा कौरव सभा में दुर्योधन आदि को विराट् रूप दिखाया था, तथापि वह रूप ऐसा अद्भुत नहीं था| इस विराट रूप में मैंने प्रभु की दाढ़ों में महान योद्धाओं को फँसे हुए देखा| दोनों सेनाओं का महान् संहार हो रहा है, यह देखा| बड़ा ही अद्भुत और आश्चर्यचकित करने वाला यह रूप था|

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ।।१८-७८।।

ॐ तत्सदिति श्रीमद् भगवद् गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो नाम अष्टादशोऽध्यायः ।।

जहां योगेश्वर कृष्ण और गांडीवधारी अर्जुन।
वहीं श्री जय विभूति और अचल नीति कहे मेरा मन ||१८-७८||

ब्रह्मविद्या योगशास्त्रमय महाग्रंथ गीतबंधन||
श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषदरूप ग्रन्थ अति पावन।
श्री कृष्णार्जुन संवाद मोक्षसंन्यासयोग नामन||
हुआ अत्र सम्पूर्ण अष्टादश अध्याय करे कल्याण जन||

भावार्थ: *जहां योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण और गाण्डीवधारी अर्जुन हैं, वहीं पर श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है, ऐसा मेरा हृदय कहता है (अर्थात मेरा मत है)।*

इस प्रकार उपनिषद, ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र रूप श्रीमद्भगवद्गीता के श्री कृष्ण-अर्जुन संवाद में मोक्षसंन्यासयोग नामक अठारहवाँ अध्याय संपूर्ण हुआ।

टीका: संजय कहते हैं कि जहां अर्जुन का संरक्षण करने वाले, उनको सम्मति देने वाले, सम्पूर्ण योगों के ईश्वर, महान् बलशाली, महान् ऐश्वर्यवान्, महान् विद्यावान्, महान् चतुर भगवान् श्रीकृष्ण हैं, और जहां भगवान् की आज्ञा का पालन करने वाले भगवान् के प्रिय सखा तथा भक्त गाण्डीव धनुर्धारी अर्जुन हैं, उसी पक्ष में श्री, विजय, विभूति और अचल नीति, सभी हैं। ऐसा मेरा मानना है।

भगवान् ने जब अर्जुन को विराट रूप दिखाने के लिए दिव्य दृष्टि दी, उस समय संजय ने भगवान् को महायोगेश्वर कहा था, अब उन्हीं महायोगेश्वर का वह एक बार फिर स्मरण कर रहे हैं। सम्पूर्ण योगों के ईश्वर भगवान् कृष्ण प्रेरक हैं और उनकी आज्ञा का पालन करने वाले धनुर्धारी अर्जुन हैं। भगवान् को महायोगेश्वर कहने का तात्पर्य हैं कि वह सब योगियों के गुरु हैं। उन्हें योग स्वतः सिद्ध है। सर्वज्ञता, ऐश्वर्य, सौन्दर्य, माधुर्य आदि जितने भी वैभवशाली गुण हैं, वह सब भगवान् में स्वतः स्थित हैं। वह सभी गुण भगवान् में नित्य रहते हैं। यद्यपि युद्ध के आरम्भ में युद्ध की घोषणा करते हुए कौरव पक्ष में सबसे पहले सेनापति पितामह भीष्म ने शंख बजाया, परन्तु पांडवों की ओर से सर्व प्रथम भगवान् श्री कृष्ण ने शंख बजाया। श्री कृष्ण तो केवल पाण्डव सेना में अर्जुन के सारथी थे।

लौकिक दृष्टि से देखा जाए तो सबसे पहले शंख बजाने का उन्हें अधिकार नहीं था| इसका तात्पर्य यह हुआ कि भगवान् चाहे सारथी हों या किसी और पद पर, वही प्रमुख हैं|

अन्त में गीता का उपसंहार करते हुए संजय ने स्पष्ट रूप से कहा है कि जहां श्री पति भगवान् कृष्ण हैं, श्री वहीं होगी| शूरवीरता और विजय का दूसरा नाम अर्जुन है| जहां विजय रूप अर्जुन होंगे, वहां शूरवीरता, उत्साह आदि क्षात्र धर्म ऐश्वर्य होंगे| ऐसे ही जहां योगेश्वर भगवान् श्री कृष्ण होंगे, वहां विभूति, ऐश्वर्य, महत्ता, प्रभाव, सामर्थ्य आदि सब भगवद् गुण रहेंगे| जहां धर्मात्मा अर्जुन होंगे, वहां ध्रुव नीति (अटल नीति), न्याय, धर्म आदि रहेंगे| वास्तव में श्री, विजय, विभूति और ध्रुव नीति, यह सब गुण भगवान् और अर्जुन में विद्यमान थे, अतः उनकी विजय होना तो सुनिश्चित है|

आरती श्रीमद्भवद्गीता

जय भगवद्गीते। जय माँ भगवद्गीते।
हरि-हिय-कमल-विहारिणि सुन्दर सुपुनीते॥
जय भगवद्गीते। जय माँ भगवद्गीते।

कर्म-सुमर्म-प्रकाशिनि कामासक्तिहरा।
तत्वज्ञान-विकाशिनि विद्या ब्रह्म परा॥
जय भगवद्गीते। जय माँ भगवद्गीते।

निश्चल-भक्ति-विधायिनि निर्मल मलहारी।
शरण-सहस्य-प्रदायिनि सब विधि सुखकारी॥
जय भगवद्गीते। जय माँ भगवद्गीते।

राग-द्वेष-विदारिणि कारिणि मोद सदा।
भव-भय-हारिणि तारिणि परमानन्दप्रदा॥
जय भगवद्गीते। जय माँ भगवद्गीते।

आसुर-भाव-विनाशिनि नाशिनि तम-रजनी।
दैवीय सद् गुणदायिनि हरि-रसिका सजनी॥
जय भगवद्गीते। जय माँ भगवद्गीते।

समता त्याग सिखावनि हरि-मुख की बानी।
सकल शास्त्र की स्वामिनी श्रुतियों की रानी॥
जय भगवद्गीते। जय माँ भगवद्गीते।

दया सुधा बरसावनि मातु कृपा कीजै।
हरि-पद- प्रेम दान कर अपनो कर लीजै॥
जय भगवद्गीते। जय माँ भगवद्गीते।

जय भगवद्गीते। जय माँ भगवद्गीते।
हरि हिय कमल विहारिणि सुन्दर सुपुनीते॥
जय भगवद्गीते। जय माँ भगवद्गीते।

श्री राम कथा संस्थान उद्देश्य

- श्री राम कथा संस्थान भगवान् स्वामी श्री रामानंद जी महाराज (१४वीं शताब्दी) की शिक्षाओं पर आधारित एक सनातन वैष्णव धार्मिक संस्था है।
- श्री संस्थान का सिद्धांत धर्म, जाति, लिंग एवं नैतिक पृष्ठभूमि के आधार पर भेदभाव रहित है। 'हरि को भजे सो हरि को होई' संस्थान का मूल मन्त्र है।
- श्री संस्थान का मानना है कि शुद्ध हृदय एवं निःस्वार्थ भाव भक्ति ईश्वर को अति प्रिय है। सभी प्रभु-भक्त एक दूसरे के भाई बहन हैं।
- ब्रह्म मनोभाव: भगवान् श्री राम, माता सीता एवं उनके विविध अवतार ही सर्वोच्च ब्रह्म हैं। वह सर्व-व्याप्त एवं विश्व के सरंक्षक हैं।
- आत्मा मनोभाव: आत्मा का अस्तित्व सर्वोच्च ब्रह्म के परमानंद पर निर्भर है। आत्मा को सर्वोच्च ब्रह्म ही निर्देशित एवं प्रबुद्ध करते हैं। श्री राम, माता सीता एवं उनके अवतार ही जीवन का अंतिम उद्देश्य मोक्ष दिलाने में समर्थ हैं।
- माया मनोभाव: माया प्रकृति के तीन गुण - सत, रज और तमस, के प्रभाव से प्राकट्य होती है। माया को सर्वोच्च ब्रह्म ही नियंत्रित करने में समर्थ हैं। सर्वोच्च ब्रह्म पर ध्यान केंद्र करने से माया का विनाश होता है, और जन्म-मृत्यु के चक्र से छुटकारा मिल मोक्ष की प्राप्ति होती है।
- श्री संस्थान इन उद्देश्यों की पूर्ति हेतु निरंतर सनातन धार्मिक पत्रिकाएं, पुस्तकें, पुस्तिकाएं, काव्य ग्रन्थ आदि की रचनाएं एवं प्रकाशन करता है। साथ ही, समय समय पर श्री राम एवं अन्य धार्मिक कथाओं के संयोजन का भी प्रयास करता रहता है।

श्री राम कथा संस्थान
३५, मायना रिट्रीट, हिलरीज़, ऑस्ट्रेलिया – ६०२५
Web https://shriramkatha.org
Email: srkperth@outlook.com

कवि: डॉ यतेंद्र शर्मा

एक हिन्दू सनातन परिवार में जन्मे डॉ यतेंद्र शर्मा की रूचि बचपन से ही सनातन धर्म ग्रंथों का पठन पाठन एवं श्रवण में रही है। संस्कृत की प्रारम्भिक शिक्षा उन्होंने अपने पितामह श्री भगवान् दास जी एवं नरवर संस्कृत महाविद्यालय के प्राचार्य श्री सालिग्राम अग्निहोत्री जी से प्राप्त की और पांच वर्ष की आयु में महर्षि पाणिनि रचित संस्कृत व्याकरण कौमुदी को कंठस्थ किया। उन्होंने तकनीकी विश्वविद्यालय ग्राज़ ऑस्ट्रिया से रसायन तकनीकी में पी.अच्.डी की उपाधी विशिष्टता के साथ प्राप्त की। सन १९८९ से डॉ यतेंद्र शर्मा अपने परिवार सहित पर्थ ऑस्ट्रेलिया में निवास कर रहें हैं, तथा पश्चिमी ऑस्ट्रेलिया के खनन उद्योग में कार्य रत हैं।

सन २०१६ में उन्होंने अपने कुछ धार्मिक मित्रों के साथ एक धार्मिक संस्था 'श्री राम कथा संस्थान पर्थ' की स्थापना की। यह संस्था श्री भगवान् स्वामी रामानंद जी महाराज (१४वीं- १५वीं शताब्दी) की शिक्षाओं से प्रभावित है तथा समय समय पर गोस्वामी तुलसी दास जी रचित श्री राम चरित मानस एवं अन्य धार्मिक कथाओं का प्रवचन, सनातन धर्म के महान संतों, ऋषियों, माताओं का चरित्र वर्णन एवं धार्मिक कथाओं के संकलन में अपना योगदान करने का प्रयास करती है।

श्री राम कथा संस्थान पर्थ
३५ मायना रिट्रीट, हिलरीज़, ऑस्ट्रेलिया – ६०२५
Web https://shriramkatha.org
Email: srkperth@outlook.com

भारत
विश्व गुरू